अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(INTERNATIONAL RELATIONS SINCE 1945)

डॉ० मथुरालाल शर्मा

एम. ए., डी. लिट्.

भूतपूर्व प्रोफेसर (ऐमेरिटस) एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर



कॉलेज बुक डिपो (रजिस्टर्ड)

874, त्रिपोलिया (प्रातिश दरवाजे के पास)

जयपुर-2 (राज.)

आभार-प्रदर्शन

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के 32 वर्ष बाद भी हिन्दी भाषा में छपी सुरुचिपूर्ण और श्रेष्ठ पुस्तकों को अंग्रेजी के माहौल में, उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया और यहाँ तक कि कई पुस्तकालयों में एक प्रति का भी बिक पाना टेढी खीर रही। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रस्तुत पुस्तक ने अपना नाम और स्थान कमाया, यह सभी हिन्दी-प्रेमी पाठकों के लिए उत्साहवर्द्धक है।

हिन्दी भाषी पाठकों की माँग पर 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' के नवीन संस्करण ने जो रूप धारण किया है उसमें हमें सर्वश्री डॉ ए अवस्थी, डॉ. आर. के. अवस्थी, डॉ. पी. एन. मसलदान, प्रो. ए बी. लाल, डॉ. के. वी. राव, डॉ. वी. एस. बुद्धराज, डॉ वी. पी. वर्मा, डॉ. हरद्वार राय, डॉ. आर. एन. त्रिवेदी, डॉ. आर. सी. प्रसाद, डॉ. सुभाष काश्यप, डॉ. बी. आर. पुरोहित, डॉ. एम. डी. मिश्रा, डॉ. एल. पी. सिन्हा, डॉ. वीरकेश्वर प्रसाद सिंह, डॉ. वी. एन. श्रीवास्तव, डॉ. एम. एम. पुरी, डॉ. ए. डी. पन्त, डॉ. जे. एस. बेन्स, डॉ. रघुवीर सिंह, डॉ. डी. एन. पाठक, डॉ. आर. पी. श्रीवास्तव, डॉ. एन. आर. देशपाण्डे एवं अन्य महानुभावों का सक्रिय सहयोग मिला है, हम उनके हृदय से आभारी हैं।

प्रकाशक

Published by College Book Depot, Tripolia (Near Atish Gate), Jaipur-2
Printed at Hema Printers, Jaipur

प्रस्तावना

प्रस्तुत रचना मे महायुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का—बदलती हुई दुनिया का—राष्ट्रों के बदलते हुए नए परिवेश का चित्रण है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में हुए नवीनतम परिवर्तनों और घटनाक्रमों का इसमें यथास्थान विवेचन है। विषय-वस्तु के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही धरातल स्पष्ट किए गए है। युद्धोत्तर विश्व के राजनीतिक मानचित्र में क्या परिवर्तन हुए हैं; संयुक्त राष्ट्रसंघ का क्या नया स्वरूप बनता जा रहा है; अमेरिका, रूस और चीन मे परस्पर विरोध और सहयोग की जो शतरंजी चालें खेली जा रही है; उपनिवेशवाद की क्रमशः अन्त्येष्टि किस प्रकार हुई है, एशिया और अफ्रीका के मानचित्र पर किन नए राज्यों का उदय हुआ है और इन महाद्वीपों की ज्वलन्त और विस्फोटक समस्याएँ कौन-सी हैं, शीत-युद्ध क्रमशः शिथिल होकर नए रूप में फिर कैसे उभर आया, अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप और ईरान-इराक युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को कितना विस्फोटक बना दिया है, तेल राजनीति क्या नए-नए गुल खिला रही है, गुट-निरपेक्षता आन्दोलन आज कितना प्रभावशाली बन गया है और विभिन्न गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर क्या छाप छोड़ी है, कार्टर प्रशासन के समय अमेरिकन विदेश नीति की क्या छवि रही है और नए राष्ट्रपति रीगन के समय अमेरिकन विदेश-नीति के मोड़ लेने की क्या सम्भावनाएँ हैं, सोवियत विदेश-नीति में क्या नए मोड़ परिलक्षित हो रहे हैं, पर्दे के पीछे तृतीय विश्वयुद्ध चल रहा है, इस पर रिचर्ड निक्सन के क्या विचार हैं, दक्षिण-पूर्व एशिया में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा का क्या रूप है, भारत में जनता पार्टी की सरकार के पतन के बाद नई सरकार ने विदेश-नीति को पुनः किस प्रकार साजा-सवारा और प्रभावशील बनाया है और भारत, चीन तथा पाकिस्तान के आपसी सम्बन्धों मे क्या नई प्रवृत्तियाँ उभरी हैं—इन सबका पुस्तक के नवीन संस्करण मे समावेश है। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर एक पृथक् अध्याय है जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् की उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं और समस्याओं का उल्लेख है जो अन्य अध्यायों मे स्थान नहीं पा सकी हैं। संक्षेप में, आज तक की सभी सम्बन्धित विवेच्य सामग्री के समावेश से पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाया गया है।

यह कृति कुछ 'अभाव' की पूर्ति कर सकेगी—ऐसा विश्वास है। रचना के प्रणयन में जिन विभिन्न स्रोतों से प्रभूत सहायता ली गई है उसके प्रति आभारी हूँ। सुझावों के लिए अनुगृहीत होऊँगा।

मथुरालाल शर्मा

अनुक्रमणिका

APPENDIX

1 द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सम्पन्न शान्ति सन्धियाँ

(Peace Settlements After World War II)

"अटलांटिक चार्टर, 'चार स्वतन्त्रताओं' तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के विषय में उज्ज्वल आशाएँ, विजेताओं के झगड़े एवं एशिया के विद्रोह के कारण अपूर्ण रह गई।"

—शूमैन

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति 1918–19 में हुई और इसके ठीक बीस वर्ष बाद द्वितीय महायुद्ध 1 सितम्बर, 1939 से प्रारम्भ हुआ जो 14 अगस्त, 1945 तक अर्थात् जापान के आत्म-समर्पण तक चलता रहा। प्रथम महायुद्ध के बाद शान्ति के जो भी प्रयत्न किए गए वे असफल सिद्ध हुए। वर्साय की सन्धि, तुष्टिकरण की नीति, हिटलर की घोर विस्तारवादी और सैन्यवादी नीति, मुसोलिनी तथा जापान का साम्राज्यवादी प्रसार, शस्त्रीकरण की भयंकर प्रतियोगिता आदि ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं कि द्वितीय महायुद्ध का विस्फोट होकर रहा। यह युद्ध इतना व्यापक, प्रभावकारी और प्रलयंकारी था कि इसके अन्त के साथ ही विश्व इतिहास के एक युग का अन्त हो गया।

जर्मनी और जापान के आत्मसमर्पण में सैनिक संघर्ष का अन्त अवश्य हो गया, किन्तु वास्तविक शान्ति की स्थापना अभी बाकी थी। युद्धोत्तर शान्ति-स्थापना का यह कार्य प्रथम महायुद्ध के उपरान्त शान्ति-स्थापना के कार्य से कहीं अधिक सरल प्रतीक होता था क्योंकि विजेता राष्ट्र महायुद्ध-काल में ही विभिन्न सम्मेलनों और वार्ताओं द्वारा शान्ति-स्थापना के मार्ग की काफी दूरी तय कर चुके थे। परन्तु वास्तव में द्वितीय महायुद्ध के बाद यह स्थिति थी नहीं। द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के डेढ़ वर्ष बाद तक भी शान्ति-सन्धियों के प्रारूप तैयार नहीं हो सके। 10 फरवरी, 1947 तक केवल इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी और फिनलैण्ड के साथ शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न की जा सकीं। जापान के साथ तो शान्ति-सन्धि युद्ध-समाप्ति के

लगभग साढ़े छ: वर्ष बाद 28 अप्रेल, 1951 को की गई, और उस समय भी यह एक अधूरी शान्ति-सन्धि ही थी क्योंकि रूस ने उस पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। रूस और जापान के बीच युद्ध-व्यवस्था की औपचारिक समाप्ति तो अक्तूबर, 1956 में हुई जब दोनों राष्ट्रों द्वारा एक संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई। आस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि युद्ध समाप्ति के लगभग 10 वर्ष बाद 27 जुलाई, 1955 को कार्यान्वित की गई और जर्मनी के साथ स्थायी शान्ति-सन्धि अभी तक संपन्न नहीं की जा सकी है। बर्लिन का प्रश्न शान्त होने के बावजूद आज भी जीवन्त है और जर्मनी आज भी दो भागों में विभक्त है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इसी ओर संकेत कर रही है कि यह विभाजन निकट भविष्य में समाप्त नहीं हो सकेगा और बहुत सम्भव है कि यह लम्बे समय के लिए स्थायी बन जाए।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत अध्याय में क्रमशः निम्नलिखित बातों पर विचार करना होगा—

(क) द्वितीय महायुद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन;
(ख) महायुद्ध के उपरान्त शान्ति-निर्माण में कठिनाइयाँ;
(ग) शान्ति-प्रयास और पाँच शान्ति सम्मेलन;
(घ) युद्धोत्तर विश्व।

द्वितीय महायुद्ध कालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन

अटलांटिक चार्टर (Atlantic Charter)

अगस्त, 1941 में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल और संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अटलांटिक महासागर में एक युद्धपोत पर भेंट की और उन्होंने मित्रराष्ट्रों के युद्ध-उद्देश्यों (War Aims) का एक अष्टसूत्री घोषणापत्र तैयार किया जिसे 'अटलांटिक चार्टर' कहा जाता है। चार्टर का उद्देश्य उस समय तक हिटलर द्वारा पराजित और उसके आक्रमण के शिकार राज्य पोलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्जियम, फ्रांस, रूस तथा बल्कान प्रदेशों की जनता में नाजियों के विरुद्ध लड़ने का उत्साह पैदा करना और हिटलर द्वारा बार-बार उपस्थित की जाने वाली नवीन यूरोपीय व्यवस्था की तुलना में अपने उद्देश्यों का स्पष्टीकरण करना था। 14 अगस्त को चार्टर द्वारा रूजवेल्ट और चर्चिल ने घोषणा की कि—

1. उनके देश प्रादेशिक अथवा अन्य प्रकार की शक्ति-वृद्धि नहीं चाहते।

2. वे ऐसा कोई भी प्रादेशिक परिवर्तन नहीं देखना चाहते जो उससे सम्बन्धित लोगों की स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट की गई इच्छाओं के अनुकूल न हो।

3. वे प्रत्येक राष्ट्र के अपनी सरकार के, जिसके अन्तर्गत वे रहेंगे, स्वरूप को चुनने के अधिकार का सम्मान करते हैं तथा यह देखना चाहते हैं कि जिन राज्यों की सत्ता और स्वशासन को बलपूर्वक छीन लिया गया है, वे उन्हें पुनः प्राप्त हो जाए।

4. वे अपने वर्तमान कर्त्तव्यों का पूर्ण ध्यान रखते हुए सभी राज्यों के लिए चाहे वे छोटे हों अथवा बड़े, विजेता हों अथवा विजित, इस बात की चेष्टा करेंगे कि

उन्हें समान रूप से संसार के व्यापार एवं कच्चे माल की प्राप्ति के साधन प्राप्त हो सकें जो उनकी आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक हों।

5. वे सभी के लिए मजदूरी के स्तरों, आर्थिक उन्नति एवं सामाजिक सुरक्षा की प्राप्ति की दृष्टि से आर्थिक क्षेत्र में सभी राष्ट्रों के बीच पूर्ण सहयोग प्राप्त कराना चाहते है।

6. नाजी अत्याचार को अन्तिम रूप से नष्ट करने के उपरान्त वे एक ऐसी शान्ति-स्थापना करने की इच्छा करते हैं जो सभी राष्ट्रों को अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर सुरक्षित रहने के साधन प्रदान कर सके तथा जो यह आश्वासन दे सके कि सभी देशों के मनुष्य भय तथा युद्ध से मुक्त रहकर अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

7. इस प्रकार की शान्ति बाह्य सागरों एवं महासागरों को निर्बाध पार करने का अधिकार प्रदान कर सकेगी।

8. उनका विश्वास है कि संसार के सभी राष्ट्रों को वास्तविक एवं आध्यात्मिक कारणों की दृष्टि से बल प्रयोग त्याग देना चाहिए क्योंकि यदि राज्य स्थल, जल अथवा वायु सम्बन्धी सैन्य शस्त्रों का प्रयोग करते रहेंगे, जो उनकी सीमाओं के बाहर आक्रमण की धमकी का काम करते हों अथवा जिनसे ऐसी सम्भावना हो, तो शान्ति स्थायी नही रह सकती। अतएव उनका विश्वास है कि सामान्य सुरक्षा की एक विस्तृत एवं स्थायी व्यवस्था की स्थापना के समय तक ऐसे राज्यों का निःशस्त्रीकरण आवश्यक है।

स्मरणीय है कि इस समय तक संयुक्तराज्य अमेरिका प्रत्यक्ष रूप से महायुद्ध में सम्मिलित नही हुआ था। ऐसा तो 7 दिसम्बर, 1941 को पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण के बाद ही सम्भव हुआ। अटलांटिक चार्टर की यह घोषणा अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा 6 जून, 1941 को अंग्रेजों को भेजे गए उस सन्देश के अनुरूप थी जिसमें अमेरिका का उद्देश्य चार स्वतन्त्रताओं (Four Freedoms) की प्राप्ति घोषित किया गया था। ये चार स्वतन्त्रताएँ थीं—(1) भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, (2) निजी विश्वास के अनुसार ईश्वरोपासना की स्वतन्त्रता, (3) अभाव और दरिद्रता को समाप्त कर गरीबी तथा बेकारी को दूर करना, एवं (4) निःशस्त्रीकरण द्वारा आक्रमण के भय से मुक्ति तथा निर्बल राष्ट्रों को अभयदान।

संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा (The United Nations' Declaration)

हिटलर के विरुद्ध सुदृढ संगठन और शक्ति का निर्माण करने के लिए संयुक्त राष्ट्रों की यह घोषणा 1 जनवरी, 1942 को की गई। जर्मनी, इटली और अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जापान के विरुद्ध संघर्ष करने वाली शक्तियों के गुट का नामकरण 'संयुक्त राष्ट्र' (United Nations) किया। इस समय तक इन राष्ट्रों की संख्या 21 हो चुकी थी। ये 21 राष्ट्र निम्नलिखित थे—अमेरिका, इंगलैण्ड, रूस, चीन, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, कनाडा, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, डोमीनिकन रिपब्लिक, एल सेलवेडर, यूनान, ग्वाटेमाला, हैटी, होण्डूरस, भारत, लग्जमबर्ग, हालैण्ड, न्यूजीलैण्ड, निकारगुआ, नार्वे, पनामा, पोलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका और यूगोस्लाविया। इन सभी

राष्ट्रों ने एक घोषणापत्र द्वारा अटलांटिक चार्टर के सिद्धान्तों का समर्थन किया। उन्होने यह प्रतिज्ञा की कि वे धुरी राष्ट्रों के साथ कभी भी पृथक् सन्धि नहीं करेंगे और उनके विरुद्ध संघर्ष मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देंगे।

कासा ब्लाका सम्मेलन (14–24 जनवरी, 1943)

20 मई, 1942 से जनवरी, 1943 तक संयुक्त राष्ट्रों के अनेक सम्मेलन हुए। 14 से 24 जनवरी, 1973 तक मोरक्को के कासा ब्लाका स्थान पर चर्चिल, रूजवेल्ट तथा जनरल डिगॉल का एक सम्मेलन हुआ जिसमें यह घोषणा की गई कि उत्तरी अफ्रीका पर आक्रमण करने से पूर्व इटली पर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया जाए।

मई-जून, 1943 में 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने खाद्य एवं कृषि सम्मेलन मे लाखों विस्थापित लोगों के भोजन की समस्या पर विचार किया और इस प्रकार आगामी खाद्य एवं कृषि संगठन की नींव डाली।

मास्को सम्मेलन (19–30 अक्तूबर, 1943)

19 अक्तूबर, 1943 को मास्को में मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुआ जो 30 अक्तूबर तक चालू रहा। इस सम्मेलन से पहली बार युद्ध के सम्बन्ध में एक समझौता सम्पन्न हुआ। पहली बार ही मित्रराष्ट्रों ने धुरी-राष्ट्र—आस्ट्रिया, जर्मनी, इटली के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की और पहली बार सामान्य सुरक्षा के महत्त्वपूर्ण तथ्यों के सम्बन्ध में कुछ निर्णय लिए। इस सम्मेलन में संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन और रूस सम्मिलित हुए।

सम्मेलन में तीनों सरकारों में सामञ्जस्य स्थापित करने तथा यूरोप की समस्याओं पर विचार करने के लिए लन्दन में यूरोपीय परामर्शदाता आयोग स्थापित करने का निर्णय लिया गया। यह व्यवस्था भी की गई कि युद्धोपरान्त आस्ट्रिया को पुन: जर्मनी से पृथक् कर दिया जाएगा। इटली के बारे में यह निश्चय किया गया कि फासिस्टवाद को जड-मूल से समाप्त कर दिया जाए। जर्मनी के भविष्य के बारे में यह व्यवस्था की गई कि महायुद्ध के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को कठोर दण्ड दिया जाए।

इसी सम्मेलन मे सुरक्षा और शान्ति कायम रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की स्थापना का निश्चय हुआ। यही संगठन बाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप मे विकसित हुआ।

काहिरा सम्मेलन (22-25 नवम्बर, 1943)

22-25 नवम्बर, 1943 मे मिस्र की राजधानी काहिरा मे रूजवेल्ट, चर्चिल और च्यांग काई शेक का एक सम्मेलन हुआ जिसमे ये निश्चय किए गए—(1) जापान के विरुद्ध जल, थल और वायु सेनाओं द्वारा पूरी कार्यवाही की जाएगी, (2) चीन को यह आश्वासन दिया गया कि सन् 1914 से तब तक जापान ने उसके जो प्रदेश अर्थात् मंचूरिया, फारमोसा तथा पेस्काडोरेज के 48 टापू बलपूर्वक छीने थे, वे सब उसे वापस दिला दिए जाएँगे, (3) 'तीनों महान् शक्तियों' को कोरिया

की जनता की दासता का ध्यान है। उनका यह संकल्प है कि कोरिया को स्वतन्त्र राष्ट्र बनाया जाएगा।

काहिरा सम्मेलन में सोवियत रूस ने भाग नहीं लिया था।

तेहरान सम्मेलन (28 नवम्बर—1 दिसम्बर, 1943)

इस सम्मेलन में चर्चिल, रूजवेल्ट और स्टालिन ईरान की राजधानी तेहरान में एकत्र हुए। यहाँ तीनों मित्रदेशों के सेनाध्यक्षों ने जर्मन सेनाओं के विनाश की योजनाएँ तैयार कीं। तेहरान सम्मेलन के निर्णयों को तीन भागों में विभाजित किया गया। प्रमुख निर्णय ये थे--

प्रथम भाग में जर्मनी के विरुद्ध लड़ने का दृढ़ निश्चय किया गया और अपनी विजय पर विश्वास व्यक्त किया गया।

दूसरे भाग में 'तीन बड़ों' (Big Three) ने ईरान की स्वतन्त्रता, सर्वो-च सत्ता और प्रादेशिक अखण्डता कायम रखने की इच्छा व्यक्त की।

तृतीय भाग एक गुप्त समझौते जैसा था जिसमें यह व्यवस्था की गई कि मित्रराष्ट्रों द्वारा दूसरा मोर्चा खोलते ही सोवियत सघ जर्मनी पर भीषण आक्रमण कर देगा।

इस सम्मेलन ने यह भी निर्णय किया कि छोटे और बड़े सभी राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाएगा।

ब्रिटेन वुड्स सम्मेलन (21 जुलाई, 1944)

संयुक्त राष्ट्रों के इस सम्मेलन में पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष स्थापित करने का भी निश्चय किया गया।

डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन (अगस्त–दिसम्बर, 1944)

21 अगस्त से 7 दिसम्बर, 1944 तक संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत रूस, ग्रेट-ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधियों ने वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय भावी संगठन 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' की रूपरेखा के सम्बन्ध में विचार विमर्श किया। इस सम्मेलन के निर्णय अन्तिम नही थे, परन्तु सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर का बहुत कुछ आधार यही सम्मेलन बना। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य अंगों/महासभा, सुरक्षा-परिषद, सचिवालय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्बन्ध मे विचार किया गया और चार्टर का प्रथम प्रारूप तैयार किया गया। सम्मेलन में संघ-सचिवालय द्वारा कार्यों को अधिक क्षमतापूर्वक सम्पन्नता के लिए एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् बनाने एवं शान्ति स्थापित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र-सेनाओं की व्यवस्था के लिए सैनिक स्टाफ समिति के निर्णय के भी सुझाव दिए गए। इस सम्मेलन मे इस संस्था के सम्बन्ध मे पश्चिमी राष्ट्रों और रूस के बीच कुछ मतभेद प्रकट हुए।

सम्मेलन का सर्वाधिक विवादास्पद विषय था सुरक्षा-परिषद् के सदस्यों को निषेधाधिकार (Veto Power) प्रदान करना। काफी वाद-विवाद के बाद भी कोई

ठोस परिणाम नही निकला। यह निर्णय लिया गया कि तीनो राज्यों के शासनाध्यक्ष स्वय इस प्रश्न का समाधान करेंगे।

क्रीमिया (याल्टा) सम्मेलन (4-11 फरवरी, 1945)

महायुद्धकालीन अन्तिम महत्त्वपूर्ण सम्मेलन याल्टा नामक स्थान पर 4 फरवरी, 1945 को हुआ। यह 11 फरवरी, 1945 तक चालू रहा। इस सम्मेलन मे अनेक नेताओ ने भाग लिया जिनमे रूजवेल्ट, चर्चिल, स्टालिन, ईडन, मोलोटोव मार्शल ब्रुक, एण्टोनोव, हार्फकिंस, केडोगन विशिस्की आदि प्रमुख थे।

सुरक्षा परिषद् मे मतदान की क्या पद्धति हो, इस सम्बन्ध में इस सम्मेलन में महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया गया जो 'याल्टा वोटिंग फार्मूला' के नाम से जाना जाता है। सम्मेलन मे रूजवेल्ट और स्टालिन ने यह समझौता किया कि सुरक्षा परिषद् प्रक्रिया सम्बन्धी मामलो मे 11 सदस्यो मे से 7 के बहुमत से तथा अन्य आवश्यक विषयो मे 7 स्वीकारात्मक मतो से निर्णय ले। इसमें सुरक्षा परिषद् के पाँचों सदस्य सयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन, सोवियत सघ, फ्रांस और चीन की सहमति अवश्य होनी चाहिए।

इस सम्मेलन मे सयुक्त राष्ट्रसघ के अतिरिक्त यूरोप के नवीन मानचित्र तथा सुदूरपूर्व, मध्यपूर्व आदि के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण विचार-विमर्श हुआ। इस सम्मेलन ने जिन समस्याओ को जन्म दिया उनका युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सम्मेलन ने जहाँ एक तरफ अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की आधारशिला रखी वहाँ दूसरी तरफ मित्रराष्ट्रो मे आपसी मतभेदो को भी उत्पन्न किया।

याल्टा सम्मेलन के कुछ निर्णय उस समय गुप्त रखे गए और पूरा विवरण सन् 1955 मे सयुक्तराज्य अमेरिका के स्टेट डिपार्टमेंट द्वारा प्रकाशित किया गया। इस सम्मेलन के महत्त्वपूर्ण निर्णय इस प्रकार थे—

1. विश्व-संगठन के सम्बन्ध मे 25 अप्रेल, 1945 को सान-फ्रांसिसको (अमेरिका) मे सयुक्तराष्ट्रो का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया जाए। 5 राज्यो—संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन, सोवियत रूस, चीन और फ्रांस को इस सघ की सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बनाया जाए।

2. यूरोप मे नाजी और फासिस्ट दासता से मुक्त देशो मे अटलांटिक चार्टर के अनुसार प्रजातान्त्रिक सरकारें स्थापित की जाएँ तथा आक्रमणकारी देशों द्वारा छीने हुए प्रदेश उन राज्यो को वापस लौटा दिए जाएँ जिनसे उन्हें छीना गया था।

3. यूरोप में शान्ति और सुरक्षा के लिए जर्मनी का निःशस्त्रीकरण किया जाए तथा उससे क्षतिपूर्ति वसूल की जाए। क्षतिपूर्ति की राशि 20 अरब डॉलर निश्चित की गई और यह निर्णय हुआ कि इसका आधा भाग सोवियत सघ को दिया जाएगा।

4. पोलैण्ड की पूर्वी सीमा 'कर्जन रेखा' को कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ स्वीकार किया जाए तथा पोलैण्ड मे यथाशीघ्र स्वतन्त्र सरकार की स्थापना हो।

5. यूगोस्लाविया मे यथाशीघ्र मार्शल टीटो और सुबासिच (Subasitch) के मध्य सम्पन्न समझौते के आधार पर नई सरकार की स्थापना की जाए।

6. यूरोप में युद्ध की समाप्ति के आगामी 3 महीनों में रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने तथा मित्रराष्ट्रों को सहयोग देने का आश्वासन दिया।

7. जापान के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का वचन देने के बदले मे स्टालिन ने चर्चिल और रूजवेल्ट से सुदूरपूर्व के सम्बन्ध में विशेष महत्वपूर्ण सुविधाएँ प्राप्त की। इन दोनों ने बाह्य मंगोलिया मे यथापूर्व स्थिति (Status-quo) स्वीकार की। सन् 1904 में जापान के आक्रमण के फलस्वरूप जापान द्वारा हस्तगत कुछ प्रदेश भी रूस को देने का निश्चय किया गया।

बाह्य मंगोलिया तथा रेल सम्बन्धी समझौते के सम्बन्ध में चीन की स्वीकृति नहीं ली गई थी, अतः यह निश्चय किया कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट चीन की स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे और जापान की पराजय के बाद ही रूस को दी गई सुविधाओं को कार्यान्वित किया जाएगा। रूस चीन के साथ मैत्री सन्धि करेगा ताकि चीन को रूस की तरफ से किसी प्रकार का भय न रहे।

सान-फ्रांसिसको सम्मेलन (25 अप्रेल—26 जून, 1945)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को अन्तिम रूप देने के लिए सान-फ्रांसिसको (अमेरिका) में विश्व के 50 राष्ट्रों के 850 प्रतिनिधि एक सम्मेलन में एकत्रित हुए और उन्होंने पूर्ण विचार विनिमय के बाद विश्व-संगठन का एक चार्टर तैयार किया। 26 जून, 1945 को सान-फ्रांसिसको के वेटरन मेमोरियल हाल में 50 राष्ट्रों के 850 प्रतिनिधियों ने उस चार्टर पर हस्ताक्षर किए और इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ। इस चार्टर में संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य, सिद्धान्त और उसका विधान समाविष्ट था। ऐसा माना जाता है कि विश्व मे ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन पहले कभी नहीं हुआ था। अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन मे भाषण देते हुए कहा, "संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर जिस पर आपने अभी हस्ताक्षर किए हैं, एक ऐसी सुदृढ़ नींव है जिस पर हम एक सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकते है। इसके लिए इतिहास आपका सम्मान करेगा।"

24 अक्तूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ का यह चार्टर लागू हुआ। अतः यही दिन विश्व में 'संयुक्तराष्ट्र दिवस' के नाम से मनाया जाता है। 10 फरवरी, 1946 को लन्दन के वैस्टमिनिस्टर हाल में संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रथम बैठक हुई। 15 फरवरी, 1946 को इस संघ का प्रथम अधिवेशन समाप्त हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रधान कार्यालय पहले लेकसक्सेस (अमेरिका) में रखा गया। इसके लिए न्यूयॉर्क मे एक भव्य विशाल भवन तैयार किया गया जो 14 अक्तूबर, 1952 को बनकर पूरा हुआ और तब से ही संघ का कार्यालय न्यूयॉर्क में इसी भवन में है।

पोट्सडम (बर्लिन) सम्मेलन (17 जुलाई–2 अगस्त, 1945)

7 मई, 1945 को जर्मनी द्वारा बिना शर्त आत्म-समर्पण और युद्ध विराम सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया। अब यूरोप का नवीन मानचित्र तैयार करने तथा शत्रुराष्ट्रों के साथ की जाने वाली सन्धियों की

रूपरेखा तैयार करने की दृष्टि से बर्लिन के निकट पोट्सडम नामक स्थान पर 'तीन बड़ों' का सम्मेलन हुआ।

इस सम्मेलन में संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत संघ और ग्रेट-ब्रिटेन ने निम्नलिखित निर्णय लिए—

1. शान्ति समझौते की आवश्यक आरम्भिक तैयारी करने के लिए एक परिषद् की स्थापना की जाए। इस परिषद् का तात्कालिक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रस्तुत किए जाने के लिए इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी तथा फिनलैण्ड की सन्धियाँ, प्रादेशिक प्रश्नों का निपटारा तथा जर्मनी के साथ की जाने वाली सन्धि की तैयारी हो।

2. जर्मनी को अमेरिकी, ब्रिटिश, रूसी और फ्रेंच—इन चारों अधिकार-क्षेत्र में बाँट लिया जाए। जहाँ तक सम्भव हो सम्पूर्ण जर्मनी की जनता के साथ समान व्यवहार किया जाए। जर्मनी को सैनिक शक्ति तथा शस्त्रास्त्रों से रहित कर दिया जाए तथा नाजी दल को अवैध घोषित कर वहाँ प्रजातान्त्रिक शासन की स्थापना की जाए।

3. जर्मनी की युद्ध-क्षमता को नष्ट करने के लिए शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद के उत्पादन और हर प्रकार के वायुयानों व युद्ध पोतों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाए। जर्मन अर्थव्यवस्था को पुनः सगठित करने के लिए कृषि और शान्तिपूर्ण गृह-उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया जाए।

4. जर्मनी अपने औद्योगिक कल-कारखानों को समाप्त करके युद्ध की क्षति-पूर्ति करे। रूस इस क्षतिपूर्ति का भाग अपने अधीन जर्मन प्रदेश तथा अपने विदेशी संस्थानों से प्राप्त करे। अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य देश जिनको क्षतिपूर्ति लेने का अधिकार है, जर्मना के पश्चिमी भाग तथा उससे सम्बन्धित विदेशी संस्थानो से क्षति-पूर्ति प्राप्त करें।

5. जर्मनी की सम्पूर्ण जल-शक्ति को ब्रिटेन, अमेरिका और रूस में विभक्त कर दिया जाए तथा उसकी अधिकांश पनडुब्बियो को जल में डूबो कर नष्ट कर दिया जाए। जर्मन व्यापारिक जल-साधनों को रूस, अमेरिका और ब्रिटेन में बाँट लिया जाए।

6. सम्मेलन में पोलैण्ड के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चय किए गए। यह तय हुआ कि जर्मनी के साथ अन्तिम शान्ति समझौता होने तक तीन क्षेत्रों—ओडर तथा नायसी नदियों के पूर्व स्थित जर्मन विस्तृत प्रदेश, भूतपूर्व स्वाधीन नगर डेंजिग का क्षेत्र तथा पूर्वी प्रशा के दक्षिणी प्रदेश को पोलिश-प्रशासन के अन्तर्गत रखा जाए। पोलैण्ड की अन्तरिम सरकार सार्वजनिक मताधिकार के आधार पर शीघ्रातिशीघ्र पोलैण्ड मे स्वतन्त्र चुनाव कराए।

7. *इटली, हंगरी, फिनलैण्ड तथा बल्गेरिया* के सम्बन्ध में यह निर्णय लिया गया कि इनके साथ यथाशीघ्र शान्ति-सन्धियाँ की जाए और इन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया जाए।

8. ईरान से मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ फौरन हटा ली जाए।

9. टैंजियर का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय रहे।

10. सम्मेलन मे जापान द्वारा आत्म-समर्पण की भी निम्नलिखित शर्तें निश्चित की गई—

(अ) जापान के उन सैनिक तत्त्वों को समूल नष्ट कर दिया जाए जिन्होंने उसे युद्ध द्वारा विश्व-विजय के लिए बाध्य किया।

(आ) इन सैनिक तत्त्वों के पूर्णत: नष्ट होने तक जापानी प्रदेश पर मित्र-राष्ट्रों का सैनिक अधिकार स्थापित रहे।

(इ) काहिरा सम्मेलन के निर्णयानुसार जापान की सर्वोच्च प्रभुता केवल होंशू (Honshu), होकाइदो (Hokkaido), क्यूशू, शिकोकू (Shikoku) तथा तीन शक्तियों द्वारा निश्चित अन्य छोटे टापुओं तक ही मर्यादित रहेगी।

(ई) जापानी सेनाओं को नि:शस्त्र कर दिया जाए।

(उ) युद्ध अपराधियों को दण्डित किया जाए।

(ऊ) जापानी सरकार का संगठन लोकतान्त्रिक होगा और जापानियों को भाषण, लेखन, धर्म और विचार की स्वतन्त्रता तथा मौलिक अधिकार प्रदान किए जाएँगे।

(ए) जापान में स्वतन्त्र चुनावों के बाद जापानी जनता की इच्छा से उत्तरदायी सरकार स्थापित हो जाने के उपरान्त ही मित्रराष्ट्रीय सेनाओं द्वारा प्रदेश खाली किए जाएँगे।

(ऐ) यह चेतावनी भी दी गई कि यदि जापान शीघ्र ही बिना शर्त आत्म-समर्पण नहीं करेगा तो उसको पूर्णत: ध्वस्त कर दिया जाएगा।

जापान द्वारा मित्रराष्ट्रों को चेतावनी की उपेक्षा करने पर संयुक्तराज्य अमेरिका ने उसे नष्ट करने के लिए अणुबम गिराए। अन्त में भयभीत होकर 14 अगस्त को जापान ने आत्म-समर्पण कर दिया।

महायुद्ध के उपरान्त शान्ति-निर्माण में कठिनाइयाँ

महायुद्ध के उपरान्त शान्ति-व्यवस्था का कार्य बहुत ही कठिन सिद्ध हुआ। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

1. विजेता राष्ट्रों के बीच पारस्परिक मतभेदों ने उग्र रूप धारण कर लिया। साम्यवादी और पूँजीवादी आदर्शों के बीच टक्कर शुरू हो गई। दोनों शिविरों में पारस्परिक सन्देह और अविश्वास का वातावरण उत्पन्न हो गया जिससे शान्ति-सन्धियों का मार्ग दुष्कर बन गया।

2. दोनों शिविरों मे 'शीत युद्ध' का सूत्रपात हो गया। पूँजीवादी और साम्यवादी शिविर एक दूसरे पर कीचड़ उछालने लगे तथा एक दूसरे के विरुद्ध कूटनीतिक दाँवपेंच चलाने लगे जिसके फलस्वरूप एक दूसरे के प्रति शत्रुता और घृणा की भावनाएँ उग्र होती गईं।

3. रूस और अमेरिका दोनों ही महाशक्तियों में संसार पर अपना प्रभुत्व

स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई। दोनों ही राष्ट्र इस मूल लक्ष्य से विमुख हो गए कि पराजित देशों को यथाशीघ्र आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाए। स्पर्द्धा-प्रतिस्पर्द्धा, क्रिया-प्रतिक्रिया के झमेले में शान्ति-सन्धियों का मार्ग कंटकाकीर्ण हो गया।

4. इस बार सन् 1919 की भाँति कोई शान्ति-सम्मेलन आयोजित नहीं किया गया, बल्कि अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, फ्रांस और चीन के विदेश मन्त्रियों की एक परिषद् बनाई गई और यह निश्चय किया गया कि परिषद् शान्ति-सन्धियों के बारे में सर्वसम्मति से निर्णय करे। सर्वसम्मति से निर्णय करने का निश्चय दुर्भाग्यपूर्ण था क्योंकि इसके द्वारा दोनों ही पक्षों का एक दूसरे के प्रस्तावों पर 'निषेधाधिकार' (Veto Power) प्राप्त हो गया। परिषद् का कोई भी सदस्य-राष्ट्र किसी भी निर्णय को रोक सकता था। इस व्यवस्था के फलस्वरूप शान्ति-रचना के मार्ग में भारी बाधा पहुँची।

5. व्यक्तित्व सम्बन्धी तत्त्व ने भी शान्ति-निर्माण की समस्या को बहुत प्रभावित किया। मित्रराष्ट्रों के विदेश मन्त्री उतने अनुभवी नहीं थे जितने रूस के स्टालिन और मोलोटोव। इसके अतिरिक्त मित्रराष्ट्र स्वयं पारस्परिक मतभेद के भी शिकार थे। विभिन्न व्यक्तियों और उनके विभिन्न दृष्टिकोणों ने सन् 1945 के बाद की शान्ति-रचना में उसी तरह विकट समस्याएँ खड़ी कर दीं जिस तरह सन् 1919 के शान्ति-सम्मेलन में विलसन, लॉयड जॉर्ज तथा क्लेमेंसो के पारस्परिक विरोधी दृष्टिकोणों से उत्पन्न हुई थी।

6. विदेश मन्त्री परिषद् में फ्रांस और चीन के विदेश मन्त्रियों को सम्मिलित तो कर लिया गया, लेकिन उन्हें यह अधिकार नहीं दिया गया कि वे पाँच पराजित देशों के साथ की जाने वाली सन्धियों का प्रारूप तैयार करने में भाग लें। उन्हें यह अधिकार भी नहीं दिया गया कि वे सन्धि सम्बन्धी निर्णयों में भाग लें। यद्यपि इस समस्या का बाद में निराकरण हो गया, किन्तु यह व्यवस्था फिर भी रखी गई कि वे निर्णय के समय मतदान में भाग नहीं ले सकेंगे।

इन सब कारणों से सन्देह, अविश्वास, वैमनस्य और शत्रुता का ऐसा वातावरण बन गया कि शान्ति-सन्धियों के मार्ग में एक के बाद एक विरोध उत्पन्न होते गए। शान्ति-समझौते के प्रयत्नों का वही हाल हुआ जो एक ऐसी गाड़ी का होता है जिसके दोनों ओर घोड़े जुते हुए हों और ये घोड़े उस गाड़ी को विपरीत दिशाओं में खींच रहे हों तथा उनमें से अधिक शक्तिशाली घोड़ा गाड़ी को थोड़ा-थोड़ा करके आगे की दिशा में खींच सका हो।

शान्ति-प्रयास और पाँच सन्धियाँ

शान्ति-स्थापना के प्रयास में विदेश मन्त्रियों की परिषद् की प्रथम बैठक लन्दन में सितम्बर-अक्तूबर, 1945 में हुई। इसके बाद इस परिषद् के सितम्बर, 1945 से दिसम्बर, 1947 तक पेरिस, न्यूयार्क, मास्को, लन्दन आदि स्थानों पर विभिन्न सम्मेलन हुए। इनमें इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी, फिनलैण्ड आदि

देशों के साथ शान्ति-सन्धियाँ करने के प्रश्नों पर विचार किया गया। यह व्यवस्था की गई कि फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका तथा रूस मिलकर इटली के साथ की जाने वाली सन्धि का प्रारूप (ड्राफ्ट) तैयार करेंगे; रूस, अमेरिका और ब्रिटेन द्वारा बल्कान क्षेत्रों के लिए सन्धि का प्रारूप तैयार किया जाएगा; फिनलैण्ड के लिए प्रारूप तैयार करने का कार्य ब्रिटेन तथा रूस करेंगे। तत्पश्चात् इन सभी प्रारूपों पर मित्रराष्ट्रों और उनके समर्थक राष्ट्रों के एक सामान्य सम्मेलन में विचार किया जाएगा। इस सम्मेलन की सिफारिशों को ध्यान में रखकर सन्धियों को अन्तिम रूप देने का कार्य विदेश मन्त्रियों की परिषद् द्वारा होगा।

लन्दन की विदेश मन्त्रियों की परिषद् के निर्णय के अनुसार पेरिस में जनवरी, 1946 में शान्ति-सन्धियों के प्रारूपों को तैयार करने के लिए उप-विदेश मन्त्रियों की बैठकें आरम्भ हुईं। जुलाई के मध्य तक पाँच शान्ति-सन्धियों के प्रारूप तैयार कर लिए गए। पराजित राष्ट्रों के साथ शान्ति स्थापित करने के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन महायुद्धकाल के विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में पहले ही किया जा चुका था। अतः प्रारम्भिक अवरोधों के निवारण के उपरान्त पेरिस में 29 जुलाई, 1946 से 15 अक्तूबर, 1946 तक 21 राष्ट्रों का एक सामान्य सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। काफी विचार-विमर्श के पश्चात् 10 फरवरी, 1947 को पेरिस में 21 संयुक्त अथवा मित्रराष्ट्रों तथा 5 पराजित राष्ट्रों द्वारा इन सन्धियों पर हस्ताक्षर कर दिए गए। शान्ति-सन्धियों के अनुसमर्थन के लिए 15 सितम्बर, 1947 अन्तिम तिथि निश्चित की गई। इस तरह यूरोप के अधिकांश भू-भाग पर शान्ति की पुनरावृत्ति सम्भव हुई। फिर भी पराजित राष्ट्र ने शान्ति-सन्धियों को सन्तोषजनक, न्याय-संगत और अच्छा नहीं माना तथा 'संशोधन आन्दोलन' का यथाशीघ्र सूत्रपात हो गया। आस्ट्रिया, जर्मनी और जापान के साथ शान्ति-सन्धियों के बारे में पारस्परिक मतभेदों की उग्रता बनी रही और गतिरोध कायम रहा। आस्ट्रिया के साथ 15 जुलाई, 1955 को शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर किए, लेकिन सोवियत रूस और उसके साथ ही पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया हस्ताक्षरकर्ताओं में सम्मिलित नहीं हुए। जापान के साथ अक्तूबर, 1956 में रूस द्वारा एक समझौता सम्पन्न हुआ और तब दोनों देशों के बीच युद्ध-स्थिति का अन्त हुआ।

जिन 5 शान्ति-सन्धियों पर 21 संयुक्तराष्ट्रों और 5 पराजित राष्ट्रों ने पेरिस में हस्ताक्षर किए वे निम्नलिखित थीं—

इटली के साथ सन्धि (Peace Treaty with Italy)

इटली के साथ हुई सन्धि के अनुसार इटली के अधिकांश उपनिवेश उससे ले लिए गए। इटली के जो प्रदेश फ्रांस से संलग्न थे, उनमें से कुछ फ्रांस को दे दिए गए। लगभग 3 हजार वर्गमील का क्षेत्र और एड्रियाटिक सागर में कुछ द्वीप ... लेकर यूगोस्लाविया को दे दिए गए। यूनान के समीप स्थित इटली के ... यूनान को प्राप्त हुए। ट्रीस्ट को स्वतन्त्र प्रदेश बना दिया गया।

इटली को अफ्रीका में लीबिया, इरिट्रिया (Eritrea) और ... उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा।

इटली पर 36 करोड़ डॉलर का हर्जाना लादा गया जो सात वर्षों में अदा किया जा सकता था। इस धन को यूनान, रूस, एबीसीनिया, अल्बानिया और यूगोस्लाविया को दिए जाने का निश्चय किया गया।

सन्धि द्वारा इटली की सैनिक शक्ति पर पर्याप्त प्रतिबन्ध लगा दिए गए : इसके अतिरिक्त फ्रेंच और यूगोस्लाव सीमान्तों पर इटली की किलेबन्दी को नष्ट कर दिया गया। इसी प्रकार सिसली और सार्डीनिया के समुद्रतटों पर भी इटली ने जो किले बना रखे थे उन्हें नष्ट कर दिया गया। परमाणु शस्त्रों, पनडुब्बियों, तारपीडों, विमानवाहक जहाजों आदि के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। इस सन्धि का कुल मिलाकर परिणाम यह निकला कि न केवल इटली के सम्पूर्ण औपनिवेशिक साम्राज्य का अन्त हो गया बल्कि इटली एक तृतीय श्रेणी की शक्ति रह गया।

रूमानिया के साथ सन्धि (Peace Treaty with Rumania)

रूमानिया से बेसरबिया और उत्तरी बकाविना छीन कर रूस को दे दिए गए। दोबुर्जा का प्रदेश बल्गेरिया को मिला। हंगरी से ट्रांसिलवानिया लेकर रूमानिया को लौटा दिया गया। यह भी कहा गया कि रूमानिया हर्जाने के रूप में रूस को आठ साल में 30 करोड़ डॉलर का सामान दे। इसके अतिरिक्त रूमानिया का काफी निःशस्त्रीकरण भी कर दिया गया।

बल्गेरिया के साथ सन्धि (Peace Treaty with Hungary)

बल्गेरिया की जनवरी, 1941 की सीमाओं का पुनर्गठन हुआ। संधि द्वारा इसका कोई प्रदेश नहीं छीना गया अपितु उसे रूमानिया से दक्षिणी दोबुर्जा का प्रदेश प्राप्त हुआ, किन्तु उस पर इटली और रूमानिया की भाँति विभिन्न सैनिक प्रतिबन्ध लगा दिए गए। यह भी निश्चित हुआ कि बल्गेरिया अपने यूनानी सीमान्त पर किसी प्रकार की स्थायी किलेबन्दी नहीं कर सकेगा और 8 वर्षों की अवधि में 45 करोड़ डॉलर यूनान को और 25 करोड़ डॉलर यूगोस्लाविया को क्षतिपूर्ति के रूप में देगा।

हंगरी के साथ संधि (Peace Treaty with Bulgariy)

हंगरी का ट्रांसिलवानिया प्रदेश रूमानिया को और स्लोवाकिया प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को लौटा दिया गया। हंगरी पर 20 करोड़ डॉलर का हर्जाना भी लगाया गया तथा निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी कुछ प्रावधान भी किए गए।

फिनलैण्ड के साथ सन्धि (Peace Treaty with Finland)

रूस और फिनलैण्ड के बीच सन् 1940 की सन्धि की पुष्टि कर दी गई। इस सन्धि के अनुसार रूस ने अपनी सीमा से लगे हुए फिनलैण्ड के सारे प्रदेश ले लिए थे। अब इन प्रदेशों पर रूस का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। फिनलैण्ड द्वारा 8 साल में रूस को 100 करोड़ रुपये चुकाना निश्चित किया गया। फिनलैण्ड पर सैनिक प्रतिबन्ध भी लगाए गए। क्षतिपूर्ति के रूप मे फिनलैण्ड द्वारा 8 वर्षों में सोवियत संघ को 30 करोड़ डॉलर वस्तुओं के रूप में भुगतान करना निश्चित हुआ।

युद्धोत्तर शान्ति-प्रयासों के फलस्वरूप इस प्रकार पाँच शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न की गईं। इनके द्वारा पराजित राष्ट्रों को अपने आक्रमणकारी कार्यों के लिए समुचित

दण्ड मिला और विजयी राष्ट्रों को क्षतिपूर्ति के रूप में धन एवं प्रदेश दिलाने का प्रबन्ध किया गया। शान्ति-सन्धियों ने यूगोस्लाविया को बल्कान प्रायद्वीप में सर्व-शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया जिसके परिणामस्वरूप वह इटली का प्रतिस्पर्द्धी बन गया। आर्थिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक लाभ रूस को हुआ क्योंकि उसको पाँचों राष्ट्रों पर लगायी गई क्षतिपूर्ति का 70 प्रतिशत भाग अर्थात् 90 करोड डॉलर वसूल करने का अधिकार मिला। राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से भी पूर्वी यूरोप में रूस का अधिकार स्थापित हो गया। 29 जून, 1945 की सन्धि के अनुसार उसे चेकोस्लोवाकिया से 'सबकारपेथियन रूथेनिया' मिला और पोलैण्ड से 16 अगस्त, 1945 की संधि द्वारा पूर्वी पोलैण्ड का एक बडा भाग प्राप्त हुआ। इन शान्ति-संधियो से पश्चिमी राष्ट्रों को आर्थिक तथा प्रादेशिक दृष्टि से किसी प्रकार का लाभ नही हुआ इसके विपरीत, भावी समझौतों में रूस की माँगें उत्तरोत्तर बढती गई जिनके परिणामस्वरूप मित्रराष्ट्र जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ सामूहिक रूप से शान्ति-संधियाँ करने में असफल रहे।

इटली, हंगरी, बल्गेरिया, रूमानिया और फिनलैण्ड के साथ सम्पन्न की गई शान्ति-संधियाँ यद्यपि 15 सितम्बर, 1947 से अन्तिम रूप में लागू करदी गई तथापि इन संधियों का पूरी तरह पालन नही किया गया और इनके अनेक प्रावधानों का उल्लंघन हुआ अथवा उनकी उपेक्षा की गई।

जर्मनी, आस्ट्रिया और जापान की नई व्यवस्था

मुख्य पराजित शत्रु-देश जर्मनी, आस्ट्रिया और जापान में नई व्यवस्थाएँ स्थापित की गईं।

आत्म-समर्पण करते समय जर्मनी में एडमिरल डायनिट्ज की अन्तर्कालीन सरकार सत्तारूढ़ थी। मित्रराष्ट्रो ने इस सरकार का मान्यता न देकर जर्मनी का शासन-भार स्वयं सम्भाल लेने का निश्चय किया।

जर्मनी को चार भागों में बाँट कर एक-एक भाग का शासन अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस को सौंपा गया। इस व्यवस्था के अनुसार पूर्वी जर्मनी पर रूस का, पश्चिमी जर्मनी पर अमेरिका का, फ्रांस से संलग्न भाग पर फ्रांस का और बेल्जियम हॉलैण्ड की सीमा से संलग्न जर्मन प्रदेशों पर इंग्लैण्ड का अधिकार हो गया। पूर्वी जर्मनी पर रूस का कब्जा हो जाने से बर्लिन के चारों ओर का प्रदेश रूसी अधिकार में आ गया। पर खास बर्लिन को भी चार भागों में विभक्त कर अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस का पृथक्-पृथक् शासन स्थापित किया गया।

इस तरह सम्पूर्ण जर्मनी मे मित्रराष्ट्रो का सैनिक शासन स्थापित हो गया। हर्जाने के रूप मे जर्मनी पर एक भारी रकम लाद दी गई। इस सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया कि केवल कुछ ही मशीनें जर्मनी में रहने दी जाएँ। शेष सब मशीनें, कारखाने, युद्ध-सामग्री, जहाज आदि जर्मनी से हटा कर रूस, फ्रांस, पोलैण्ड, बेल्जियम, आदि देशों में विभक्त कर दिए जाएँ।

जर्मनी मे लागू की गई इस व्यवस्था का निर्णय पोट्सडम सम्मेलन मे ही कर लिया गया था जो 17 जुलाई, 1945 को हुआ था। इसका उल्लेख आगे यथास्थान किया गया है। वैसे जर्मनी के प्रश्न पर इतने व्यापक मतभेद प्रकट होते रहे हैं कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद अभी तक इस सम्बन्ध मे कोई विधिवत् सन्धि सम्पन्न नही हो सकी है।

आस्ट्रिया की व्यवस्था

जर्मनी की भांति ही आस्ट्रिया मे भी सैनिक शासन की स्थापना की गई। आस्ट्रिया की राजधानी विएना को चार भागो में विभाजित कर दिया गया। प्रत्येक भाग पर एक-एक मित्रराष्ट्र का अधिकार स्थापित हुआ। सन् 1955 के प्रारम्भ तक आस्ट्रिया का प्रश्न अधर लटका रहा। बाद मे काफी विचार-विमर्श के उपरान्त 15 जुलाई, 1955 को आस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर हो पाए। इस सन्धि द्वारा 12 मार्च, 1938 के बाद 17 वर्ष तक पराधीन रहने के पश्चात् आस्ट्रिया को स्वाधीनता एव सर्वोच्च प्रभुता प्राप्त हुई। आस्ट्रिया राज्य की सन्धि पर संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत रूस, ग्रेट-ब्रिटेन और आस्ट्रिया ने हस्ताक्षर किए। सन्धि द्वारा आस्ट्रिया यद्यपि एक 'प्रभुत्व-सम्पन्न, स्वतन्त्र और प्रजातन्त्रात्मक राज्य' (A Sovereign, Independent and Democratic State) के रूप में उदित हुआ, तथापि उसके द्वारा यह वचन दिया गया कि वह जर्मनी के साथ किसी प्रकार का राजनीतिक या आर्थिक सघ नही बनाएगा।

जापान की व्यवस्था

जुलाई-अगस्त, 1945 के पोट्सडम सम्मेलन मे जापान के भविष्य के सम्बन्ध मे कुछ व्यापक निश्चय किए गए थे। एक निश्चय यह भी था कि जापान के सैनिक तत्वो का पूर्ण विनाश होने तक मित्रराष्ट्रो का जापानी प्रदेश पर सैनिक अधिकार बना रहेगा। इस निश्चय के अनुरूप दिसम्बर, 1945 मे मास्को मे संयुक्तराज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत सघ तथा चीन के प्रतिनिधियों की एक मित्र-राष्ट्रीय संयुक्त परिषद् का निर्माण कर दिया गया जिसका अध्यक्ष जनरल मैकार्थर को बनाया गया। वास्तव मे जापान पूर्ण रूप से अमेरिका के नियन्त्रण में आ गया क्योंकि यह अमेरिका ही था जिसने अणु बम गिराकर जापान को परास्त किया था। प्रारम्भ में जापान की भूमि पर ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड की सेनाएँ थी, परन्तु 1947 के बाद वहाँ केवल अमेरिकी सेना ही रह गई और जनरल मैकार्थर जापान का एक प्रकार से सर्वेसर्वा बन गया।

विजेता राष्ट्रो मे जापान के भविष्य के बारे मे गहरे मतभेद होने से एक लम्बे समय तक उसके साथ (जापान के साथ) सन्धि-वार्ता आरम्भ नही की जा सकी। अन्त मे जनवरी, 1951 मे अमेरिका के तत्कालीन विदेशमन्त्री ने विभिन्न राष्ट्रो से परामर्श करने के उपरान्त सन्धि का एक प्रारूप तैयार किया जिसके अनुसार—

1. जापान की सर्वोच्च-सत्ता और प्रभुता केवल 4 बड़े और कुछ छोटे द्वीपो के एक लाख पचास हजार वर्गमील के क्षेत्र तक सीमित करदी गई।

2. जापान ने कोरिया की स्वतन्त्रता स्वीकार की, फारमोसा और क्यूराइल, सखालीन टापुओं पर अपने अधिकार का परित्याग किया और प्रशान्त महासागर में बोनिन व रयूकू टापुओं पर 2 अप्रेल, 1947 से अमेरिका की ट्रस्टीशिप स्वीकार की।

3. जापान ने चीन में अपने सब अधिकारों को छोड़ना और मित्रराष्ट्रों के युद्ध-अपराध न्यायालय के निर्णयों को मानना स्वीकार किया।

4. जापान ने युद्ध पूर्व के ऋणों के भुगतान का दायित्व भी स्वीकार किया।

सन्धि में और भी अनेक बातें सविस्तार दी गई है। डलेस के प्रयत्नों से अन्त में 8 दिसम्बर, 1951 को इस प्रस्तावित जापानी सन्धि पर 48 राज्यों ने हस्ताक्षर कर दिए। सोवियत रूस, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया अलग रहे। जापान के साथ होने वाली यह शान्ति-सन्धि 28 अप्रेल, 1952 से क्रियान्वित हुई। अक्तूबर, 1956 में रूस और जापान के बीच एक समझौता हुआ जिसके द्वारा दोनों देशों के बीच युद्ध-स्थिति का अन्त हो गया। फिर भी दोनों के बीच कोई औपचारिक शान्ति-सन्धि अभी तक सम्पन्न नहीं हो सकी है।

स्पष्ट है कि व्यापक अग्रिम तैयारियों के बावजूद सन् 1945 के बाद शान्ति समझौते का कार्य सन् 1919 की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन सिद्ध हुआ। द्वितीय महायुद्ध के साथ ही विजेता राष्ट्रों में युद्ध के उपरान्त मतभेद अधिकाधिक व्यापक और उग्रतर हो गए तथा पूर्व और पश्चिम के मध्य विश्व-शान्ति के लिए दुर्भाग्यपूर्ण शीत-युद्ध का श्रीगणेश हो गया।

युद्धोत्तर विश्व
(The Post-War World)

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर जिस नवीन युग का सूत्रपात हुआ उसमें अनेक 'नूतन क्षितिज' उभरे, नवीन प्रमुत्व उभरे, क्षेत्र बदले, नवीन प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत को नवीन समस्याओं का सामना करना पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की अनेक प्राचीन और परम्परागत मान्यताएँ नष्ट हो गईं। युद्धोत्तर युग में अनेक विरोधी प्रवृत्तियाँ एक साथ क्रियाशील हुईं और विभिन्न 'वाद' विश्व को प्रभावित करने लगे। यूरोपीय राष्ट्रों में राष्ट्रवाद की दुर्बलताओं का भान हुआ। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्र राष्ट्रीय सम्प्रभुता की पवित्रता का प्रतिपादन करने लगे। ये प्रवृत्तियाँ समाप्त नहीं हुईं, वरन् आज भी अस्तित्व में हैं।

यहाँ हमारा मन्तव्य द्वितीय महायुद्ध से अब तक के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विश्लेषण करना नहीं है वरन् महायुद्ध से तुरन्त बाद जो नया मानचित्र निर्मित हुआ, जो प्रवृत्तियाँ उभरीं और विश्व जिस नई दिशा में अग्रसर हुआ उसका चित्रण मात्र करना है। युद्धोत्तर युग की इन घटनाओं, प्रवृत्तियों, नवीनताओं और विशेषताओं को संक्षेप में हम निम्नानुसार व्यक्त कर सकते हैं—

यूरोपीय प्रभुत्व का अन्त और एशिया व अफ्रीका का जागरण—जैसा कि पिछले शीर्षक में बताया जा चुका है, युद्धोत्तर नवीन युग की पहली महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति

यह थी कि विश्व इतिहास का निर्माता यूरोप पंगु बन गया और सोता हुआ एशिया व अफ्रीका तेजी से जाग्रत होने लगा। प्राचीन काल से विश्व को अनुशासित करने वाला यूरोप (World Dominating Europe) महायुद्ध के बाद नवीन 'समस्या-प्रधान यूरोप' (Problem Europe) बन गया। एशिया और अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद का उन्मूलन होने लगा। यूरोपीय साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक व्यवस्था को कितना भारी आघात पहुँचा, इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि जहाँ पहले ससार की जनसख्या का लगभग 33 प्रतिशत भाग साम्राज्यवाद के शिकजे मे था वह अब एक प्रतिशत के आस-पास रह गया है।

सिद्धान्तों का संघर्ष—द्वितीय महायुद्ध के बाद सिद्धान्तो व आदर्शों पर बल देने की प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की एक प्रमुख विशेषता बन गई। विभिन्न सिद्धान्तों, आदर्शों और विचारधाराओं का उदय हुआ जिनमे से कुछ मे साम्य था तो अधिकांश मे परस्पर विरोध। ये विभिन्न विचारधाराएँ विकसित होती रही और अपनी शाखाओ-प्रशाखाओ का विस्तार करती रही। अमेरिकी उदारवाद, साम्यवाद, तटस्थतावाद, राष्ट्रवाद, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद आदि सिद्धान्तों अथवा आदर्शों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमच को प्रभावित किया और आज भी इनसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध व्यापक रूप से प्रभावित हैं।

द्वि-ध्रुवीयता का विकास और शीतयुद्ध का प्रारम्भ—युद्धोत्तर विश्व ने प्राचीन *शक्ति सन्तुलन को छिन्न-भिन्न कर दिया और द्वि-ध्रुवीयता को जन्म दिया।* युद्धोत्तर विश्व दो प्रमुख शक्ति-केन्द्रो या शक्ति-ध्रुवों में बँट गया—सोवियत सघ और संयुक्त राज्य अमेरिका। दोनो ही के नेतृत्व में दो विरोधी, शक्तिशाली गुटो का निर्माण होने लगा। जहाँ महायुद्ध काल में अमेरिका, रूस और ब्रिटेन आदि ने परस्पर कंधे से कधा मिलाकर 'धुरीराष्ट्रो' (जर्मनी, जापान व इटली) के विरुद्ध सघर्ष किया था और उनके राजनीतिज्ञो तथा कूटनीतिज्ञों ने सम्मेलन और पत्र-व्यवहार आदि में एक दूसरे को सहयोग दिया था, वहाँ युद्ध के बाद इन राष्ट्रों में सहयाग के सभी आधार समाप्त हो गए। युद्ध के समय के दोस्तो में युद्ध के बाद, तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गए। शीघ्र ही इन मतभेदों ने तनाव, वैमनस्य और मनोमालिन्य की ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि पश्चिमी और पूर्वी शिविरो के राज्यों में बारूद के गोले-गोलियों से लड़े जाने वाले सशस्त्र संघर्षों के न होते हुए भी कागज के गोले तथा अखबारों से लड़ा जाने वाला परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार का तुमुल संग्राम छिड़ गया। इसी संग्राम को 'शीत-युद्ध' (Cold War) की संज्ञा दी गई।

प्रादेशिक संगठनों का निर्माण—युद्धोपरान्त विश्व में रूस और अमेरिका दोनों ही शक्ति-केन्द्र अपनी भावी सुरक्षा के लिए प्रादेशिक संगठनो और सन्धियो के निर्माण की ओर अग्रसर हुए। साम्यवादियों का प्रसार एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका में स्थापित पूँजीवादी राष्ट्रों के साम्राज्य और उपनिवेशों में घुन का काम कर रहा था। अतः जहाँ-कही भी साम्राज्यवादी शक्तियों को चुनौती मिली, वहीं पूँजीवादी राष्ट्रो ने इस चुनौती का डटकर मुकाबला करने की चेष्टा की। फलस्वरूप

अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर अनेक ऐसी सन्धियों और संगठनों का विकास होने लगा जिनका मुख्य लक्ष्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। रूस व उसके साथी राष्ट्रों में पश्चिमी शक्तियों के इन प्रयासों के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। इस तरह की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम यह हुआ कि एक ओर अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी शक्तियों ने साम्यवादी राष्ट्रों के चारों ओर सुरक्षा-संगठनों का एक घेरा-सा डालकर साम्यवाद पर अंकुश लगाने की चेष्टा की, दूसरी ओर रूस ने अपने व पश्चिमी राष्ट्रों के बीच के देशों में साम्यवादी सरकारों की स्थापना कर अपनी सुरक्षा-व्यवस्था को अधिकाधिक सुदृढ बनाया। पश्चिमी शक्तियों ने नाटो, सीटो, बगदाद पैक्ट आदि का निर्माण किया तो साम्यवादी सुरक्षा संगठनों में वारसा पैक्ट आदि सम्पन्न हुए। इसके अतिरिक्त कुछ अर्द्धसंघीय प्रादेशिक संगठनों का विकास भी होने लगा, जैसे यूरोपीय साझा बाजार।

मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व की महत्ता में वृद्धि—द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त एशिया के दो क्षेत्र मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में निरन्तर महत्त्वपूर्ण होते गए और यह स्थिति आज भी है। तेल के बहुल भण्डारों की खोज के फलस्वरूप मध्यपूर्व न केवल अन्तर्राष्ट्रीय नीति का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र वरन् विश्व का एक प्रधान संकट-स्थल भी बन गया है। दूसरी ओर एक महत्त्वपूर्ण तटस्थ राष्ट्र के रूप में अगस्त, 1947 ई. में स्वतन्त्र भारत के उदय ने तथा एक महान् शक्ति के रूप में लाल चीन के विकास ने सुदूरपूर्वीय क्षेत्र को विश्व के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रदेशों की श्रेणी में ला दिया है। इस क्षेत्र में चीन विशेष रूप से अमेरिका का घोर प्रतिद्वन्द्वी बन गया है।

विश्व-सरकार अथवा एक विश्व की भावना का विकास—युद्धोपरान्त युग में जिस महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का उदय हुआ, वह अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, एक विश्व का स्वप्न अथवा विश्व सरकार की भावना है। यह कहा जाने लगा है कि "यदि आप विश्व में स्थायी रूप से शान्ति चाहते हैं और तृतीय विश्व-युद्ध में अणु-शक्ति के प्रकोप से मानवता की रक्षा करना चाहते हैं तो विश्व के सभी राष्ट्रों को मिलाकर एक विश्व संघ का निर्माण किया जाना चाहिए जिसमें शान्ति और व्यवस्था का काम विश्व-सरकार को सौंप दिया जाए।" 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' की स्थापना इस दिशा में एक प्रभावशाली कदम माना जा सकता है, तथापि आज भी बहुलता ऐसे ही विचारकों की है जो विश्व-सरकार के विचार को अव्यावहारिक मानते हैं।

निष्कर्ष रूप में सन् 1945 के बाद का विश्व विभिन्न सिद्धान्तों, रूपों, विचारों और आदर्शों की संघर्ष-स्थली बना है। आणविक आयुधों की भयानकता ने विश्व की महाशक्तियों को सन्तुलन और विवेक से काम लेने को बाध्य कर दिया है। साथ ही शक्ति के नए केन्द्र विकसित होते जा रहे हैं जिनसे विश्व का द्वि-ध्रुवीय (Bipolar) चित्र धूमिल पड़ रहा है और विश्व बहुकेन्द्रवाद (Polycentricism) की ओर बढ़ता प्रतीत हो रहा है। समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की मुख्य प्रवृत्तियों पर आगे अध्याय 8 में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

2 संयुक्त राष्ट्रसंघ, इसका विधान और कार्य

(The United Nations, Its Structure and Work)

"संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर जिस पर आपने भी हस्ताक्षर किए हैं, एक ऐसी शक्तिशाली नींव है जिस पर एक सुन्दर विश्व का निर्माण किया जा सकता है। इसके लिए इतिहास आपका सम्मान करेगा।" —राष्ट्रपति ट्रूमैन

प्रथम महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए राष्ट्रसंघ अस्तित्व में आया। अनेक दुर्बलताओं और महाशक्तियों के असहयोग के कारण यह अपने उद्देश्यों में असफल रहा। सन् 1939 में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया और मित्रराष्ट्र एक नई प्रभावशाली विश्व-संस्था स्थापित करने की योजना बनाने लगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना

महायुद्धकाल में एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की दिशा में अनेक कदम उठाए गए जिनमें ये थे[1]—

14 अगस्त, 1941—संयुक्तराज्य अमेरिका और ब्रिटेन शान्ति के आधारभूत सिद्धान्तों पर सहमत हो गए जिन्हें बाद में अटलांटिक चार्टर का नाम दिया गया।

1 जनवरी, 1942—26 राष्ट्रों ने धुरी शक्तियों को पराजित करने और अटलांटिक चार्टर को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की। इस घोषणा में, 'संयुक्त राष्ट्रों' (United Nations) शब्दों का पहली बार प्रयोग हुआ। बाद में 21 और राष्ट्रों ने भी घोषणा से सहमति प्रकट की।

30 अक्तूबर, 1943—मास्को घोषणा में चीन, सोवियत संघ, ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका इस बात पर सहमत हो गए कि शान्ति स्थापित रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जाए।

1 United Nations & Maintenance of Peace and Security, pp. 2-3.

अगस्त-अक्तूबर, 1944—डम्बरटन-ओक्स सम्मेलन में, जिसमे चीन, सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन शामिल हुए थे एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के लिए प्रारम्भिक प्रस्तावों की रूपरेखा तैयार की गई।

अप्रेल-जून, 1945—सान-फ्रांसिसको सम्मेलन में 51 राष्ट्र सम्मिलित हुए। उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का प्रारूप तैयार किया और उसे स्वीकार किया। इस प्रारूप पर 26 जून, 1945 को हस्ताक्षर कर दिए गए। पोलैण्ड ने, जो कि सम्मेलन में उपस्थित होने मे असमर्थ रहा, चार्टर पर बाद में हस्ताक्षर किए और इस प्रकार वह भी संघ के प्रारम्भिक सदस्यों (Original Members) मे गिना गया।

24 अक्तूबर, 1945—चीन, फ्रांस, सोवियत संघ, ब्रिटेन, संयुक्तराज्य *अमेरिका और बहुत से दूसरे हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों ने चार्टर का अनुसमर्थन कर दिया।* इस तारीख को सयुक्त राष्ट्रसंघ विधिवत् रूप मे अस्तित्व में आ गया और इसलिए यह दिन (24 अक्तूबर) विश्व में 'संयुक्त राष्ट्र दिवस' (United Nations Day) के रूप मे मनाया जाता है।

8 अप्रेल, 1946 को राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) ने एक प्रस्ताव पास कर अपनी समाप्ति की घोषणा कर दी। उसके उत्तरदायित्वों, कार्यक्रमों, सम्पत्ति तथा भवनो आदि को संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सम्भाल लिया।

चार्टर की प्रस्तावना

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान को घोषणापत्र (Charter) कहते हैं। चार्टर की प्रस्तावना (Preamble) बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें उन लोगों के आदर्शों और सामान्य उद्देश्यों की अभिव्यक्ति है जिनकी सरकारों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण करने के लिए कदम उठाए। यह सुन्दर प्रस्तावना इस प्रकार है[1]—

"संयुक्त राष्ट्रों के हम लोगों ने यह पक्का निश्चय किया है कि हम आने वाली पीढियों को उस युद्ध की विभीषिकाओं से बचाएँगे जिसने हमारे जीवन-काल में ही दो बार मनुष्य मात्र पर अकथनीय दुःख ढाए हैं, और

कि हम मानवता के मूल अधिकारों में, मानव की गरिमा और महत्त्व मे, और छोटे-बड़े सभी राष्ट्रो के नर-नारियों के समान अधिकार में फिर आस्था पैदा करेंगे, और

कि हम ऐसी स्थिति पैदा करेंगे जिससे न्याय और उन दायित्वों का सम्मान कायम रहे जो सन्धियो और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दूसरे स्रोतों से हम पर पड़ते हैं, और

कि हम अधिक व्यापक स्वतन्त्रता द्वारा अपने जीवन का स्तर ऊँचा उठाएँगे और समाज को प्रगतिशील बनाएँगे।

1 International Law (Hindi Ed.) *by S. B. Varma*—A Govt. of India cation, p. 375.

इन उद्देश्यों के लिए

हम सहनशील बनेंगे और अच्छे पड़ोसियों की तरह साथ मिलकर शान्ति से रहेंगे, और

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए अपनी शक्तियों का संगठन करेंगे, और

उन नियमों का पालन करेंगे और ऐसे साधनो से काम लेंगे जिनसे इस बात का विश्वास हो जाए कि अपने सामान्य हितों की रक्षा के अलावा हथियार बन्द सेनाओ का प्रयोग नहीं किया जाएगा, और

सभी लोगो के सामाजिक और आर्थिक उत्थान को बढ़ावा देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय साधनों का प्रयोग करेंगे।

इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए हमने मिलकर प्रयत्न करने का निश्चय किया है

इसलिए हमारी सरकारें अपने प्रतिनिधियों के रूप मे सान-फ्रांसिसको नगर में एकत्र हुई हैं। इन प्रतिनिधियो ने अपने अधिकार-पत्र दिखाए जिनको ठीक और उचित रूप में पाया गया है और इन्होंने संयुक्त राष्ट्रो के इस चार्टर को स्वीकार कर लिया है और इसके आधार पर वे अब एक अन्तर्राष्ट्रीय सघ की स्थापना करते हैं जिसका नाम 'सयुक्त राष्ट्रसघ' होगा।"

प्रयोजन और सिद्धान्त

चार्टर के अनुच्छेद 1 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयोजनों (Purposes) का और अनुच्छेद 2 में सिद्धान्तो (Principles) का उल्लेख किया गया है।

(क) संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयोजन (Purposes) सक्षेप में ये हैं—

1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना और सामूहिक तथा प्रभावपूर्ण प्रयत्नों से आने वाले खतरो का उन्मूलन करना, शान्ति भंग करने वाली चेष्टाओं को दबाना तथा न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के आधार पर शान्तिपूर्ण साधनो मे उन अन्तर्राष्ट्रीय विवादो और समस्याओं को सुलझाना जिससे शान्ति भंग होने की आशंका हो।

2. सब राष्ट्रो के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करना।

3. अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना और बिना किसी भेद-भाव के मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओ के सम्मान को प्रोत्साहन देना।

4. संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक ऐसा केन्द्र बनाना जहाँ इन सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिए राष्ट्रों के अलग-अलग प्रयासों में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सके।

(ख) उपर्युक्त प्रयोजनों को पूरा करने के लिए संघ और उसके सदस्य जो भी काम करें, उनमें इन सिद्धान्तो (Principles) का ध्यान रखा जाना आवश्यक है—

1. संयुक्त राष्ट्रसघ का आधार सब सदस्यों की सम्प्रभुता की समानता (Sovereign Equality) का सिद्धान्त है।

2. सभी सदस्य अपने उन दायित्वों को ईमानदारी के साथ निभाएँगे जो उन्होंने चार्टर द्वारा अंगीकार किए हैं।

3. सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण साधनों से इस प्रकार तय करेंगे कि विश्व की सुरक्षा, शान्ति और न्याय खतरे में न पड़ें।

4. सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में किसी राज्य की अखण्डता तथा राजनीतिक स्वाधीनता के विरुद्ध न तो धमकी देंगे और न बल-प्रयोग करेंगे। वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेंगे जो संयुक्त-राष्ट्र के प्रयोजन से मेल न खाता हो।

5. सभी सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ को ऐसी हर कार्यवाही में सब तरह की सहायता देंगे जो चार्टर के अनुसार हो। वे ऐसे किसी भी राज्य की सहायता नहीं करेंगे जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ रोकथाम की कोई कार्यवाही कर रहा हो।

6. संघ इस बात का विश्वास दिलाएगा कि जो राज्य इसके सदस्य नहीं हैं वे भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए इन्हीं सिद्धान्तों का पालन करेंगे।

7. चार्टर में जो कुछ कहा गया है उससे संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी भी राज्य के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप का अधिकारी नहीं होगा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयोजन और सिद्धान्त वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग के महान् आदर्श प्रस्तुत करते हैं। यदि सदस्य-राज्य ईमानदारी से इनका अनुसरण करें तो अन्तर्राष्ट्रीय जगत् विनाशकारी संघर्षों से बच जाए और विश्व के सभी देश सुख तथा समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर होने लगें। पर दुर्भाग्य की बात यह है कि सदस्य-राष्ट्र चार्टर की भावना का पालन नहीं करते, बल्कि चार्टर की धाराओं का प्रयोग इस ढंग से करते हैं कि उनके राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति हो। सिद्धान्त रूप में चार्टर के शब्दों में विश्वास व्यक्त किया जाता है लेकिन व्यवहार में चार्टर की भावना का उल्लंघन होता है। इसी कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ इतना प्रभावकारी सिद्ध नहीं हो सका जितना होना चाहिए था। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि यह विश्व-संस्था वास्तव में पूरी तरह महाशक्तियों के हाथ का खिलौना बन गई है जिसमें छोटे राष्ट्रों की कोई परवाह नहीं की जाती। फिर भी इस बात से कुछ सन्तोष होता है कि भूतपूर्व राष्ट्रसंघ की तुलना में संयुक्त राष्ट्रसंघ अभी तक काफी सफल रहा है और इस संस्था के सदस्य-राष्ट्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई है। मानवता के लिए वह दिन सौभाग्य का सूचक होगा जब संयुक्त राष्ट्रसंघ सही अर्थों में सभी राष्ट्रों के हितों की ईमानदारी से रक्षा करेगा और बड़े राष्ट्र अपनी अड़ंगेबाजी की राजनीति से इस संस्था को दूषित करना छोड़ देंगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता

चार्टर में तीन से लेकर छः तक सदस्यता सम्बन्धी अनुच्छेद हैं। संघ की सदस्यता दो प्रकार की है। कुछ देश प्रारम्भिक सदस्य हैं और कुछ को बाद में सदस्यता प्रदान की गई। प्रारम्भिक सदस्य (Original Members) वे 51 राज्य हैं जिन्होंने सान-फ्रांसिसको सम्मेलन में भाग लिया था और चार्टर को स्वीकार किया था। दूसरे सदस्य वे हैं जिन्होंने संघ में बाद में प्रवेश किया। संघ की सदस्यता सभी राज्यों के लिए खुली है जो शान्तिप्रिय हों और चार्टर में विश्वास करने

अनुच्छेद 4 के अनुसार नए सदस्य बनाने के लिए अनिवार्य शर्तें ये हैं— (1) वह शान्तिप्रिय राज्य हो, (2) चार्टर द्वारा प्रस्तावित कर्त्तव्यों को स्वीकार करता हो, (3) सघ के निर्णय के अनुसार उन कर्त्तव्यों को पूरा करने मे समर्थ हो, एवं (4) संघ के निर्णयानुसार उन कर्त्तव्यों को पूरा करने की इच्छा रखता हो। सदस्य बनना तभी सम्भव है जब महासभा को दो-तिहाई बहुमत और सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति प्राप्त हो जाए। सुरक्षा परिषद् के वर्तमान पन्द्रह मे से नौ सदस्यों का बहुमत तथा स्थायी सदस्यों का निर्णयात्मक मत इसके पक्ष में होना चाहिए। महासभा मे निर्णय लेने से पूर्व सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति आवश्यक है।

संयुक्त राष्ट्रसघ सदस्यता की दृष्टि से आज एक विश्वव्यापी संगठन बन चुका है। सन् 1945 मे इसके प्रारम्भिक सदस्य केवल 51 थे जबकि सितम्बर, 1974 मे इसकी कुल सदस्य संख्या 138 और सन् 1975 के मध्य तक 140 हो गई। सन् 1977 के अन्त मे इनकी सदस्य सख्या 148 थी। नए सदस्य राज्यो मे बंगलादेश, पूर्वी जर्मनी, पश्चिमी जर्मनी, बहामा, वियतनाम आदि उल्लेखनीय हैं। दोनों जर्मन राष्ट्रों के संघ की सदस्यता प्रदान करना एक क्रान्तिकारी घटना थी क्योंकि अधिकारिक रूप से इसे द्वितीय महायुद्ध का अग माना जा सकता है। 1 मई, 1975 को वियतनाम युद्ध समाप्त हो जाने से और राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे द्वारा दक्षिण वियतनाम मे सत्ता सम्भाल लेने से इस बात की सम्भावना प्रबल हो गई कि सम्पूर्ण वियतनाम एक ही झण्डे के नीचे आ जाएगा और एक राष्ट्र के रूप में सयुक्त राष्ट्रसघ मे प्रवेश कर सकेगा। यह स्वप्न साकार हुआ और सितम्बर, 1977 मे विश्व समुदाय ने समाजवादी वियतनाम गणतन्त्र को अपनी बिरादरी मे शामिल कर लिया। वह विश्व-संस्था का 148वाँ सदस्य था। 1979 के फरवरी माह तक संयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्य सख्या 150 थी। स्विट्ज़रलैण्ड संयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य नहीं है लेकिन वह स्वेच्छा से सदस्य नहीं बना। वैसे, सघ के कार्य-कलापों में वह पूरी तरह सहयोग करता है। उसका आचरण ऐसा है जैसे वह सघ का ईमानदार सदस्य हो। साम्यवादी चीन की सदस्यता का प्रश्न सयुक्त राष्ट्रसघ में महाशक्तियों के आपसी तनाव का एक बड़ा कारण रहा था। यह शीतयुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण अग बन गया था। लेकिन 26 अक्तूबर, 1971 को ताइवान को निष्कासित कर उसके स्थान पर साम्यवादी चीन को सघ का सदस्य बनाकर शीतयुद्ध की एक विकट समस्या को सुलझा दिया गया। लगभग 70 करोड़ की जनसख्या वाले राष्ट्र को सदस्यता प्रदान कर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सच्चे अर्थों मे एक सार्वभौमिक सगठन का रूप ले लिया है।

चार्टर में किसी राष्ट्र की सदस्यता समाप्त करने की भी व्यवस्था है। ऐसे किसी सदस्य-राज्य को जो चार्टर के सिद्धान्तों का लगातार उल्लघन करे, चार्टर के छठी धारा के अन्तर्गत सघ से निष्कासित किया जा सकता है। यह सुरक्षा परिषद् की अनुशसा पर महासभा के निर्णय से होता है।

चार्टर में सदस्य के निलम्बन की भी व्यवस्था है। ऐसे किसी भी सदस्य-राज्य को, जिस पर निरोधात्मक या दण्डात्मक कार्यवाही की गई हो, निलम्बित किया

जा सकता है। लेकिन उपयुक्त समझे जाने पर उसे पुनः सदस्यता प्रदान की जा सकती है। इन दोनों ही बातों के लिए सुरक्षा परिषद् की सिफारिश आवश्यक है। निलम्बन महासभा के निर्णय से होता है।

चार्टर में संघ की सदस्यता परित्याग करने की कोई व्यवस्था नहीं है। लेकिन सदस्य-राज्य सम्प्रभु होते हैं अतः वे सदस्यता जब चाहें तब छोड़ सकते हैं। अपनी सार्वभौमिकता के इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए इण्डोनेशिया ने जनवरी, 1965 में संघ से पृथक् होने की सूचना दी थी। सितम्बर, 1965 मे पाकिस्तान ने भी संघ छोड़ने की धमकी दी थी, पर वह ऐसा साहस नहीं कर सका। इण्डोनेशिया में जब नई सरकार का निर्माण हुआ तो उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता पुनः प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की और 28 दिसम्बर, 1966 को उसे फिर से संघ में शामिल कर लिया गया।

चार्टर में संशोधन की व्यवस्था

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में संशोधन की व्यवस्था अध्याय 18 में अनुच्छेद 108 और 109 के अन्तर्गत दी गई है। यह अनुच्छेद इस प्रकार हैं—

अनुच्छेद 108—वर्तमान चार्टर में जो भी संशोधन होंगे वे राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों पर तभी लागू हो सकेंगे जब उनको महासभा दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार कर ले और सुरक्षा परिषद् के सभी स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से उनकी पुष्टि कर दें।

अनुच्छेद 109—1. जब कभी चार्टर के पुनरावलोकन की बात हो तो उसके लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का एक सामान्य सम्मेलन किया जा सकता है जिसकी तारीख, समय और स्थान महासभा दो-तिहाई बहुमत से और सुरक्षा परिषद् अपने किन्हीं सात सदस्यों के मत से तय करेगी। उस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हर सदस्य का एक वोट रहेगा।

2. यदि सम्मेलन में वर्तमान चार्टर का कोई परिवर्तन दो-तिहाई बहुमत में स्वीकार कर लिया जाता है तो वह तभी लागू हो सकेगा जब सुरक्षा परिषद् के सदस्य अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो तिहाई बहुमत से उनकी पुष्टि कर दें।

3. चार्टर के क्रियान्वयन के बाद महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन के पहले अगर ऐसा सम्मेलन नहीं होता तो ऐसा सम्मेलन करने का प्रस्ताव महासभा के उसी अधिवेशन के एजेण्डा पर रखा जाएगा और अगर महासभा मे बहुमत से और सुरक्षा परिषद् में किन्हीं सात सदस्यों के मत से यह स्वीकार कर लिया जाता है तो ऐसा सम्मेलन बुलाया जा सकेगा।

चार्टर की कुछ अन्य व्यवस्थाएँ

संघ के चार्टर की कुछ अन्य उल्लेखनीय व्यवस्थाएँ ये हैं—

गुप्त सन्धियों और गुप्त राजनयिक प्रणाली के विरुद्ध व्यवस्था—इस सम्बन्ध मे अनुच्छेद 102 के अन्तर्गत व्यवस्था की गई है कि संघ के सदस्य जो सन्धियाँ या

अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करेंगे (चार्टर के पास होने के बाद) उन्हें यथाशीघ्र संघ के सचिवालय में पंजीकृत कराया जाएगा और उसके बाद सचिवालय उन्हें यथाशीघ्र प्रकाशित करेगा। जिन सन्धियों और समझौतों को पंजीकृत नहीं किया गया उनकी शर्तों की दुहाई संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी अंग के समक्ष नहीं दी जा सकेगी।

चार्टर के दायित्वों को प्राथमिकता—इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 103 में उल्लेख है कि—"यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य के वर्तमान चार्टर के दायित्व किसी दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के दायित्व के विरुद्ध पड़ते हों, तो उस स्थिति में वर्तमान चार्टर के दायित्वों को माना जाएगा।"

सदस्यों के आवश्यक कानूनी अधिकार, विशेषाधिकार आदि की व्यवस्था—अनुच्छेद 104 और 105 के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में मुख्य व्यवस्थाएँ ये हैं—

(क) संघ को अपने हर सदस्य-देश मे अपने कार्यों और प्रयोजनों की पूर्ति के लिए आवश्यक कानूनी अधिकार प्राप्त होंगे।

(ख) संघ को अपने हर सदस्य-देश मे अपने प्रयोजनों की पूर्ति के लिए आवश्यक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्राप्त होंगी।

(ग) उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के प्रतिनिधियों और संघ के अधिकारियों और संघ के कार्यों को स्वतन्त्र रूप से पूरा करने के लिए आवश्यक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्राप्त होंगी।

भाषाएँ—अनुच्छेद 111 के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाषाएँ चीनी, फ्रांसीसी, रूसी, अंग्रेजी और स्पेनी हैं। अधिकांश काम अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं मे होता है।

आय—संयुक्त राष्ट्रसंघ की आय राष्ट्रसंघ की भाँति ही सदस्य-राज्यों के चन्दे पर आश्रित है। विभिन्न सदस्य एक निश्चित अनुदान सूची के अनुसार संघ के वार्षिक बजट मे वार्षिक चन्दे के रूप में अपना अनुदान देते हैं। अनुदान की राशि राष्ट्र की देय शक्ति के अनुपात मे निर्धारित की गई है। उदाहरणार्थ सन् 1947 में निर्धारित राशि के अनुसार अमेरिका संघ के बजट का 39·9%, ब्रिटेन 11·84%, रूस 7·40%, फ्रांस 6%, चीन 6%, भारत 3·95% अनुदान देते थे। सदस्य-राज्य अपने अनुदान में नियमित नहीं रहे हैं और उनकी टालमटोल की नीति के कारण कई अवसरों पर संघ को वित्तीय संकट का सामना करना पड़ा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग

चार्टर के अनुच्छेद सात में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंगों (Organs) का उल्लेख है, तदनुसार प्रमुख अंग छः हैं—

1. महासभा (General Assembly)
3. सुरक्षा परिषद् (Security Council)
3. आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council)
4. न्यास परिषद् (Trusteeship Council)
5. न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
6. सचिवालय (Secretariat)

Committees) हैं—(क) विशेषज्ञ समिति, जो कार्यविधि की नियमावली का काम देखती है, एवं (ख) नवीन सदस्यों के प्रवेश का काम देखने वाली समिति। इनके अतिरिक्त परिषद् समय-समय पर तदर्थ समितियों और आयोगों की नियुक्ति भी करती रहती है। सैनिक आवश्यकताओं, शस्त्रों के नियन्त्रण आदि पर स्वतन्त्र परामर्श और सहायता के लिए एक सैन्य स्टॉफ समिति (Military Staff Committee) भी है। परिषद् के अधीन एक निःशस्त्रीकरण आयोग भी है जिसकी स्थापना जनवरी, 1952 में की गई थी।

परिषद् का सभापतित्व परिषद् के सदस्यों में से अंग्रेजी वर्णमाला के अनुसार सदस्य राष्ट्रों के नाम के क्रम से प्रतिमास बदलता रहता है। परिषद् के प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को एक मत प्राप्त होता है। परिषद् के निर्णय दो प्रकार के होते हैं।

सुरक्षा परिषद् के कार्य और अधिकार

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से सुरक्षा परिषद् को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। चार्टर के अनुच्छेद 24 में स्पष्ट उल्लिखित है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का प्रधान उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् का है और उसे यह देखना है कि संघ की ओर से प्रत्येक कार्यवाही जल्दी और प्रभावपूर्ण ढंग से हो। अनुच्छेद 25 के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का कर्त्तव्य है कि वे चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को मानें और उन पर अमल करें। सुरक्षा परिषद् को अधिकार व शक्तियों का उल्लेख चार्टर के 6, 7, 8 और 12 वें अध्याय में किया गया है। इन अध्यायों के अनुसार शान्ति व सुरक्षा की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से परिषद् की शक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

प्रथम, अनुच्छेद 24 के अनुसार सुरक्षा परिषद् का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित रखना है। परिषद् उन विवादों और परिस्थितियों पर तत्काल विचार करती है जो शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न कर रही हों अथवा इस प्रकार की सम्भावना हो गई हो। सुरक्षा परिषद् अपने कर्त्तव्यों को संघ के प्रयोजनों और सिद्धान्तों के अनुसार ही पूरा करती है। अनुच्छेद 24 में ही यह व्यवस्था दी गई है कि सुरक्षा परिषद् महासभा के विचार के लिए वार्षिक रिपोर्ट या जरूरत पड़ने पर विशेष रिपोर्ट प्रस्तुत करेगी।

दूसरे, सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए आवश्यक कार्यवाही करती है। चार्टर के अनुच्छेद 33 से 38 तक विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे से सम्बन्धित है।

तीसरे, सुरक्षा परिषद् शान्ति के लिए खतरनाक, शान्ति भंग और आक्रमणात्मक कार्यों के बारे में कार्यवाही करती है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 39 से 51 मे आवश्यक व्यवस्थाएँ दी गई हैं। सुरक्षा परिषद् ही यह निर्णय करती है कि कौनसी चेष्टाएँ शान्ति को खतरे में डालने वाली, शान्ति भंग करने वाली और आक्रामक समझी जा सकती हैं। वह सिफारिश करती है अथवा यह तय करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने अथवा उसे फिर से स्थापित करने के लिए इनमें से

कौनसी कार्यवाहियाँ करे—(क) ऐसी कार्यवाहियाँ जिनमें हथियारबन्द सेना का प्रयोग न हो। परिषद् संघ के सदस्यों से पूर्ण या आंशिक रूप से आर्थिक सम्बन्ध समाप्त करने की माँग कर सकती है। इस कार्यवाही के अनुसार समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्य साधनों पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं या राजनीतिक सम्बन्ध तोड़े जा सकते हैं। (ख) यदि सुरक्षा परिषद् इस कार्यवाही को अपर्याप्त समझे तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने या पुनः स्थापित करने के लिए जल, थल और वायु सेनाओं का प्रयोग कर सकती है। इस कार्यवाही में संयुक्त राष्ट्रों के सदस्य देशों की जल, थल वायु सेना विरोध प्रदर्शन कर सकती है, घेरा डाल सकती है या कोई अन्य कार्यवाही कर सकती है।

चौथे, अनुच्छेद 43 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राज्य वचनबद्ध हैं कि "सुरक्षा परिषद् के माँगने पर और विशेष समझौते या समझौतों के अनुसार वे अपनी सशस्त्र सैनिक सहायता तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान करेंगे जिनमे मार्ग-अधिकार भी शामिल होगा।"

पाँचवें, अनुच्छेद के अनुसार सुरक्षा परिषद् हथियारबन्द या सशस्त्र सेनाओं को उपयोग मे लाने की योजनाएँ सैनिक स्टॉफ समिति (Military Staff Committee) की सलाह और सहायता से तैयार करेगी। अनुच्छेद 47 मे उल्लेख है कि सुरक्षा परिषद् के उपयोग के लिए जो सशस्त्र सेनाएँ दी जाएँगी उनका युद्ध सम्बन्धी निर्देशन सैनिक स्टॉफ समिति के हाथ मे रहेगा और यह समिति सुरक्षा परिषद् के अधीन रहेगी। परिषद् द्वारा अधिकृत किए जाने पर सैनिक स्टॉफ समिति अपनी प्रादेशिक उप-समितियाँ भी बना सकती है। अनुच्छेद 47 ही व्यवस्था देता है कि सैनिक स्टॉफ समिति काम सुरक्षा परिषद् को इन प्रश्नों पर सलाह और सहायता देना होगा—(i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा परिषद् की सैनिक आवश्यकताएँ, (ii) उसके अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान, (iii) शस्त्रों पर नियन्त्रण, और (iv) सम्भावित निःशस्त्रीकरण। सैनिक स्टॉफ समिति के सदस्य सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के मुख्य सैनिक अधिपति (Chief of Staff) या उसके प्रतिनिधि होंगे।

छठे, अनुच्छेद 48 के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णयों पर जो कार्यवाही की जाएगी परिषद् के निर्णय के अनुसार संघ के सब सदस्यों को या उनमें से कुछेक को करनी होगी। अनुच्छेद 49 की व्यवस्था के अनुसार सुरक्षा परिषद् जो भी कार्यवाही निश्चित करेगी उसको पूरा करने मे संयुक्तराष्ट्र के सब सदस्य सामूहिक रूप से एक दूसरे को सहयोग देंगे।

सातवाँ, अनुच्छेद 51 मे उल्लेख है कि—"यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य पर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा करने का अधिकारी होगा। चार्टर के अनुसार उस पर उस समय तक कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा जब तक सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के

लिए स्वयं कोई कार्यवाही न करे। सदस्य राज्य आत्मरक्षा के लिए जो भी कार्यवाही करेंगे, उसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षा परिषद् को देंगे, पर चार्टर के अनुसार इसमे सुरक्षा परिषद् के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना या पुनर्स्थापना के लिए जब कभी और जो कार्यवाही आवश्यक समझे, कर सकती है।"

आठवें, जब सुरक्षा परिषद् किसी राष्ट्र के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर रही हो उस समय हो सकता है कि किसी दूसरे राष्ट्र के सामने कुछ विशेष आर्थिक समस्याएँ उठ खड़ी हों। ऐसी स्थिति मे उस राष्ट्र को, चाहे वह संघ का सदस्य हो या नहीं, अपनी समस्याओं को हल करने के लिए सुरक्षा परिषद् से परामर्श करने का अधिकार होगा। (अनुच्छेद 50)

नवें, स्थानीय विवादों के समाधान के लिए सुरक्षा परिषद् प्रादेशिक संगठनों और अभिकरणों का माध्यम के रूप में प्रयोग कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक संगठन या अभिकरण अपने क्षेत्रों में शान्ति और सुरक्षा के लिए जो कदम उठाते हैं, उनकी सूचना उन्हें नियमित रूप से सुरक्षा परिषद् को देनी पड़ती है।

दसवें, सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने दायित्व ग्रहण किया है, उसे निभाने का भार भी सुरक्षा परिषद् पर ही है। संरक्षित प्रदेशों को किसी भी राष्ट्र के संरक्षण में देते समय संरक्षण सम्बन्धी शर्तें सुरक्षा परिषद् द्वारा ही तय की जाती हैं। वही इन शर्तों में संशोधन कर सकती है। यदि ऐसे कुछ क्षेत्र सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हों जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के संरक्षण में हों, तो इन क्षेत्रों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगति के लिए सुरक्षा परिषद् आवश्यक कार्यवाही कर सकती है।

सुरक्षा परिषद् को अपेक्षाकृत कुछ कम महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ भी सौंपी गई हैं जिनमें से अधिकांश का प्रयोग वह महासभा के साथ मिलकर करती है। ये कार्य निर्वाचनात्मक (Elective), प्रारम्भिक (Initiatory) और निरीक्षणात्मक (Supervisory) है। निर्माताओं द्वारा परिषद् को ये कार्य इस दृष्टि से सौंपे गए है कि महाशक्तियाँ महत्त्वपूर्ण संगठनात्मक मामलों पर अपना कुछ नियन्त्रण रख सकें। महासचिव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश के चुनाव में भी परिषद् का मुख्य हाथ रहता है।

निषेधाधिकार की समस्या
(Problem of Veto-Power)

चार्टर के अनुच्छेद 27 मे सुरक्षा परिषद् की मतदान-प्रणाली का उल्लेख है जिसमें असाधारण अथवा सारभूत (Substantive) मामलों में परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों सहित 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मत आवश्यक हैं। इन 5 स्थायी सदस्यो मे से कोई भी सदस्य अपनी असहमति प्रकट करे अथवा प्रस्ताव के विरोध में मतदान करे तो प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं समझा जाता। चार्टर में परिषद् पर साधारण और असाधारण कार्यविधि में अन्तर करने वाली कोई व्यवस्था नहीं है। अतः जब यह

प्रश्न उठता है कि अमुक मामला साधारण माना जाए या प्रक्रियात्मक (Procedural) अथवा असाधारण (Substantive), तब दोहरे निषेधाधिकार (Double Veto) का प्रयोग होता है, अर्थात् पहले तो निषेधात्मक मतदान द्वारा किसी प्रश्न को असाधारण विषय बनने से रोका जाता है और तत्पश्चात् प्रस्ताव के दायित्वों (Obligations) के विरोध में पुन: मतदान होता है।

आलोचकों का आरोप है कि निषेधाधिकार की व्यवस्था के कारण सुरक्षा परिषद् अपने सामूहिक सुरक्षा के दायित्व में असफल हो गई है। आर्नोल्ड फोस्टर के अनुसार, "निषेधाधिकार का आतंक सम्पूर्ण व्यवस्था पर छाया हुआ है। ऐसी व्यवस्था के रक्त में ही पक्षाघात है। वह उस कार के समान है जिसका स्टार्टर (Starter) किसी भी समय उसकी यन्त्र-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर उसके एंजिन को रोक सकता हो।"

निषेधाधिकार के विपक्ष में तर्क

1. पाँच महान् राष्ट्रों को निषेधाधिकार प्रदान कर सभी सदस्यों के समानता सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रसंघीय सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है। निषेधाधिकार छोटे राष्ट्रों पर जबर्दस्ती लादा गया। उन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ-चार्टर के निषेधाधिकार अनुच्छेद को महाशक्तियों के दबाव के कारण स्वीकार करना पड़ा था। न्यूजीलैण्ड के एक प्रतिनिधि के अनुसार, "पाँचों महान् शक्तियों ने सान-फ्रांसिसको में निषेधाधिकार पर बल दिया, अन्य शक्तियों को विवश होकर उसे स्वीकार करना पड़ा। निषेधाधिकार की तुलना ऐसी शादी से की जा सकती है जो बन्दूक की नोक पर की गई हो।"

2 निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद् शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था के अपने दायित्वों का समुचित रूप से पालन करने में असमर्थ हो गई है। यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में सबसे अधिक बाधक है। राष्ट्रसंघ के एक भूतपूर्व महासचिव ट्रिग्वेली ने स्पष्ट कहा था कि "विश्व-संस्था निषेधाधिकार के कारण नपुंसक है। यह महाशक्तियों के संघर्ष द्वारा पक्षाघातग्रस्त हो गई है।"

3. निषेधाधिकार पक्षपोषक राज्यों (Client States) की एक खुली राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दे सकता है। यह सम्भव है कि प्रत्येक स्थायी सदस्य अपने मित्रराष्ट्रों को निषेधाधिकार द्वारा संरक्षण प्रदान करे। इस प्रकार यह भय उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य स्थायी सदस्यों के नेतृत्व में अनेक गुटों में विभक्त हो जाएँगे। यह भय निराधार नहीं है क्योंकि अमेरिका और रूस के नेतृत्व में दो शक्तिशाली गुट पहले ही अस्तित्व में आ चुके हैं। लाल चीन का संघ में प्रवेश और सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यता प्राप्त होने से वह भी अपने नेतृत्व में एक तीसरे गुट की स्थापना कर लेगा।

4. निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद् में जो गतिरोध उत्पन्न होते रहे हैं उनसे विश्व-राज्यों की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में आस्था बुरी तरह डगमगा गई है।

चार्टर के अनुसार आवश्यकतानुसार अन्य सहायक अंग भी स्थापित किए जा सकते हैं। अनुच्छेद 8 में उल्लेख है कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने प्रमुख या सहायक अंगों मे समानता की दशा मे किसी भी हैसियत से काम करने के लिए किसी भी नर-नारी की पात्रता पर कोई पाबन्दी नहीं लगाएगा।"

महासभा
(The General Assembly)

चार्टर के अध्याय चार में अनुच्छेद 9 से 22 तक महासभा की रचना, कार्यों तथा शक्तियों से सम्बन्धित हैं। महासभा को संघ की व्यवस्थापिका सभा कहा जा सकता है, तथापि इसके प्रस्ताव बाध्यकारी नहीं हैं। संघ के सभी सदस्य महासभा के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य-राज्य को महासभा में पाँच प्रतिनिधि तथा पाँच वैकल्पिक प्रतिनिधि (Alternative Delegates) भेजने का अधिकार है, किन्तु उसका मत एक ही होता है। महासभा का एक अध्यक्ष और सात उपाध्यक्ष होते है। महासभा प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति चुनती है।

महासभा का अधिवेशन

महासभा का अधिवेशन वर्ष में एक बार होना अनिवार्य है, सुरक्षा परिषद् अथवा संघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर महासचिव द्वारा विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। ऐसे विशेष अधिवेशन कई अवसरों पर बुलाए जा चुके हैं, जैसे—फिलस्तीन की समस्या पर 28 अप्रेल से 15 मई, 1947 और 16 अप्रेल से 14 मई, 1948 तक; मध्यपूर्व की स्थिति पर 1 से 10 नवम्बर, 1956 तक; हंगरी की स्थिति पर 4 से 10 नवम्बर, 1956 तक; लेबनान की समस्या पर 8 से 21 अगस्त, 1958 तक; कांगो की समस्या पर 17 से 20 सितम्बर, 1960 तक विशेष अधिवेशन बुलाए गए थे। जून, 1967 मे अरब-इजरायल संघर्ष पर विचार-विमर्श के लिए भी महासभा का विशेष अधिवेशन हुआ था। सन् 1971 में भारत-पाक युद्ध के समय भी महासभा का विशेष अधिवेशन आमन्त्रित किया गया था।

महासभा में महत्त्वपूर्ण निर्णय उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से और साधारण प्रश्नों के निर्णय साधारण बहुमत से लिए जाते हैं। उस सदस्य को, जिसने संघ का पूरा चन्दा न दिया हो, मताधिकार से वंचित किया जा सकता है।

महासभा की समितियाँ

महासभा का कार्य मुख्यतः सात समितियों में विभक्त है। प्रत्येक सदस्य इसमें अपना एक प्रतिनिधि भेज सकता है। ये सात समितियाँ हैं—(1) राजनीतिक और सुरक्षा समिति, (2) आर्थिक तथा वित्तीय समिति, (3) सामाजिक-मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति, (4) न्याय समिति, (5) प्रशासकीय एवं बजट समिति, (6) कानूनी समिति, एवं (7) विशेष राजनीतिक समिति।[1] इनके अतिरिक्त दो

1 Political and Security Committee; Economic and Financial Committee; Social, Humanitarian and Cultural Committee; Trusteeship Committee; Administrative and Budgetary Committee; Special Political Committee.

अन्य प्रक्रियात्मक (Procedural) समितियाँ भी होती हैं जैसे सामान्य समिति जो उपर्युक्त समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करती है एवं प्रमाण-पत्र समिति (Credential Committee) जो प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों की जाँच करती है।

महासभा में संयोग एवं समूह

महासभा एक संसदीय निकाय की भाँति है क्योंकि वहाँ एक प्रकार की अपरिपक्व दलीय व्यवस्था (Embroying Party System) प्रभावी रहती है। संघ मे सदस्य-राज्य निरन्तर एक दूसरे से मिलते हैं। उनमें पर्दे के पीछे और खुले रूप में विभिन्न समस्याओं और प्रश्नों पर निरन्तर परामर्श होता रहता है। महासभा में राज्यों के समूह (Groups), सयोग अथवा गठबन्धन (Coalitions), गुट (Blocks) आदि निरन्तर सक्रिय रहते हैं। आलोचकों के अनुसार इन सयोगो, समूहों और गुटों की गतिविधियों के फलस्वरूप महासभा द्वारा किसी निष्पक्ष निर्णय पर पहुँचने की सम्भावना कम हो जाती है। यह आरोप एक हद तक सही है, तथापि हमें यह नही भूलना चाहिए कि महासभा कोई दार्शनिकों या वैज्ञानिकों का निकाय नही है और न ही न्याय की खोज करने वाला कोई न्यायिक संस्थान ही है। यह तो एक राजनीतिक निकाय (Political Body) है जो विभिन्न समस्याओं का सम्भावित समाधान खोजने का प्रयास करता है और देखता है कि किस प्रकार समस्या के समाधान मे सदस्यों का बहुमत प्राप्त किया जाए।

महासभा के प्रस्तावों मे राज्यो के प्रायः निम्नलिखित चार वर्गों का उल्लेख होता है—(1) लेटिन अमेरिकी राज्य (Latin American States), (2) अफ्रीकी एव एशियाई राज्य (African and Asian States), (3) पूर्वी यूरोप के राज्य (Eastern European States), (4) पश्चिमी यूरोप एवं दूसरे राज्य (Western European and Other States)। राज्य के इन वर्गों के अलग-अलग अथवा एक दूसरे से मिलकर समय-समय पर विभिन्न समूह (Groups) विकसित होते रहते हैं।

महासभा के कार्य और उसकी शक्तियाँ

मोटे रूप में महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के क्षेत्र मे निहित सभी प्रश्नों पर विचार कर सकती है। इसके प्रमुख कार्यों और शक्तियों का उल्लेख संक्षेप मे निम्नानुसार किया जा सकता है[1]—

प्रथम, शान्ति और सुरक्षा कायम रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों के अनुसार सिफारिशें करना। इसमे निःशस्त्रीकरण और शस्त्रों के नियमन की सिफारिशें भी सम्मिलित हैं।

दूसरे, शान्ति और सुरक्षा को प्रभावित करने वाली समस्याओं पर विचार-विमर्श करना तथा तत्सम्बन्धी सिफारिशें करना, बशर्ते कि उन पर तब सुरक्षा परिषद् मे विवाद न चल रहा हो।

1 United Nations at Work by Research Publications, p 56.

तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास और संहिताकरण, मानव अधिकारों और मूलभूत स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति तथा सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में आवश्यक अध्ययन को प्रेरित करना तथा इन सब बातों के विकास के लिए समुचित अभिगमा करना।

चौथे, सुरक्षा परिषद् और संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंगों से रिपोर्ट प्राप्त करना और उन पर विचार करना।

पाँचवें, राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को आघात पहुँचाने वाले किसी भी मामले के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए सिफारिशें करना।

छठे, न्यास-परिषद् के माध्यम से न्याय-समझौतों के अनुपालन का निरीक्षण करना।

सातवें, सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थाई सदस्यों, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के 27 सदस्यों और न्यास-परिषद् के निर्वाचित होने वाले सदस्यों को चुनना, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशो के निर्वाचन में सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासचिव की नियुक्ति करना।

आठवें, संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट पर विचार करना और उसे स्वीकार करना राष्ट्रों के लिए चन्दे की राशि नियत करना और विशिष्ट अभिकरणों के बजटों की जाँच करना।

शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव

3 नवम्बर, 1950 के 'शान्ति के लिए एकता' (Uniting for Peace) प्रस्ताव पारित होने के बाद से महासभा की शक्तियो मे उल्लेखनीय वृद्धि हो गई है। इस प्रस्ताव के अनुसार—शान्ति को खतरा, शान्ति-भंग अथवा आक्रमण के भय के सम्बन्ध में स्थायी सदस्यों के एकमत न होने के कारण यदि सुरक्षा-परिषद् अपने कार्य संचालन मे असफल रहे, तो महासभा तुरन्त ही उस मामले पर विचार कर सकती है और सामूहिक कार्यवाही के लिए उचित सिफारिशें कर सकती है। शान्ति-भग होने तथा आक्रमण होने की दशा में शक्ति-प्रयोग की सिफारिश कर सकती है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रहे। प्रस्ताव के अनुसार सुरक्षा परिषद् 9 सदस्यों के साधारण मत से अथवा संघ के सदस्यों के बहुमत से 24 घण्टे का नोटिस देकर महासभा का संकटकालीन अधिवेशन बुला सकती है।

'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' ने महासभा की स्थिति को काफी महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इस बात की आशंका घट गई है कि महाशक्तियाँ बार-बार निषेधाधिकार के प्रयोग से सुरक्षा परिषद् को एकदम निष्क्रिय बनाकर अपना उल्लू सीधा करती रहेंगी। नवम्बर, 1956 को मिस्र पर इजरायल, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के संयुक्त आक्रमण होने पर महासभा के अधिवेशन ने इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य करते हुए सफलतापूर्वक शान्ति स्थापित की थी।

महासभा के महत्त्व में वृद्धि के कारण

महासभा निरन्तर प्रभावशाली होती जा रही है और उसकी वृद्धि हुई है। इसके कुछ विशेष कारण ये हैं—

1. संघ के सभी सदस्य महासभा के भी सदस्य हैं, अतः यह एक प्रभावशाली सार्वजनिक रंगमंच है।

2. निषेधाधिकार के दुरुपयोग के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् की स्थिति पहले के समान लाभकारी नही रही है और राज्य विश्व-जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए महासभा को अधिक उपयुक्त स्थान समझते हैं।

3. 'शान्ति के लिए एकता-प्रस्ताव' ने महासभा की शक्ति-वृद्धि में बहुत योग दिया है।

4. आपात्कालीन सेना की नियुक्ति से भी महासभा की शक्ति और महत्ता में वृद्धि हुई है।

5. सुरक्षा परिषद् के साथ-साथ महासभा को भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के प्रश्नो पर विचार करने का अधिकार है। इस अधिकार के समुचित प्रयोग ने महासभा के प्रभाव में वृद्धि की है।

6. महासभा का अन्वेषणात्मक और निरीक्षणात्मक अधिकार इसे संघ के अन्य अंगों की अपेक्षा कुछ अधिक अच्छी स्थिति प्रदान करता है।

अपने अधिकारो के समुचित प्रयोग के फलस्वरूप महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नो के समाधान में अनेक संकटपूर्ण अवसरों पर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

सुरक्षा परिषद्
(Security Council)

संगठन व कार्यप्रणाली

सुरक्षा परिषद् 'संयुक्त राष्ट्रसंघ की कुंजी' (Key-organ of the U.N.) है। इसकी रचना संघ के कार्यकारी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में की गई है तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा का मुख्य दायित्व इसी पर है। चार्टर की मूल व्यवस्था के अनुसार परिषद में पहले 11 सदस्य थे—5 स्थायी और 6 अस्थायी, किन्तु दिसम्बर, 1965 मे चार्टर में एक सशोधन के अनुसार सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 15 कर दी गई है—5 स्थायी और 10 अस्थायी। स्थायी सदस्य है—अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन। परिषद् द्वारा निर्णयों के न्यूनतम आवश्यक मतों की संख्या भी बढाकर 7 से 9 कर दी गई है। अस्थायी सदस्य 2 वर्ष के लिए चुने जाते हैं। अवधि की समाप्ति पर कोई भी सदस्य तुरन्त पुनः चुनाव में खडा नही हो सकता।

परिषद् का सगठन इस प्रकार का है कि वे लगातार काम कर सकें। इसलिए संघ मुख्यालय पर परिषद् के प्रत्येक सदस्य का प्रतिनिधि हर समय रहना आवश्यक है। कार्यविधि के नियमों के अनुसार परिषद् की बैठकों के बीच 14 दिन से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए। परिषद् मुख्यालय के अलावा इच्छानुसार अन्यत्र भी अपनी बैठक कर सकती है। अपने कार्यों के समुचित निर्वाह के लिए वह सहायक अंगों की स्थापना भी कर सकती है। परिषद् की दो स्थायी समितियाँ (Standing

हुआ है । जब कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् में ब्रिटेन व अमेरिका ने खुलकर पाकिस्तान का समर्थन किया और निर्लज्जतापूर्वक न्याय का गला घोंटा तब सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग ने स्थिति को सम्भालने और न्याय की रक्षा करने में सहायता प्रदान की थी ।

4. वास्तव में निषेधाधिकार संघ के विभिन्न पक्षों में सन्तुलन कायम रखने में सहायक सिद्ध हुआ है । यदि निषेध-व्यवस्था न होती तो संयुक्त राष्ट्रसंघ पूरी तरह एक गुट विशेष का शस्त्र बन जाता जिसे अपनी मनमानी करने की पूरी छूट मिल जाती ।

5. निषेधाधिकार को अनेक स्वस्थ परम्पराओं के विकास और व्यावहारिक कदमों ने पूर्वापेक्षा कुछ कम प्रभावशाली बना दिया है । शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव पारित होने के बाद से अब न तो यह अधिकार कोई नया अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न करता है और न उसे आगे बढ़ाता है । इसके होते हुए भी महासभा द्वारा अनेक कार्य सम्पादित किए जाते हैं । शान्ति निरीक्षण आयोग, सामूहिक उपाय समिति आदि की स्थापना द्वारा महासभा ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को निषेध के दुष्प्रभाव से मुक्त कराने का कारगर प्रयास किया है ।

निष्कर्ष रूप में, उपयोगी यह होगा कि नई सदस्यता और शान्तिपूर्ण समझौतों के सम्बन्ध में तो निषेधाधिकार समाप्त होना चाहिए, परन्तु शान्ति भग और आक्रमण की स्थिति में सैनिक कार्यवाही के लिए इस अधिकार का प्रयोग बनाए रखना चाहिए, अन्यथा अनेक गम्भीर और नवीन समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी । निषेधाधिकार के प्रयोग की समस्या के सम्बन्ध में गुडरीच एवं हैम्बरो का मूल्यांकन उचित ही है । उन्होंने लिखा है–"राष्ट्रों में जो समझौता नहीं हो रहा है उसके कारण निषेधाधिकार का प्रयोग हो रहा है । उसके लिए किसको उत्तरदायी ठहराया जाए, यह निर्णय करना कठिन है । वास्तव में यह एक राजनीतिक प्रश्न है । रूस ने इस अधिकार का अधिकतर प्रयोग किया है । परन्तु उसका तर्क है कि विरोधी बहुमत से बचने के लिए ही वह इस अधिकार का प्रयोग करता है । यह स्वीकार करना चाहिए कि महाशक्तियों की सर्वसम्मति और उनकी समान प्रभुता का ही यह अर्थ है कि उनमें मतभेद और सह-सम्मति सम्भव है । स्थायी सदस्यों में जो आशा से अधिक मतभेद रहे हैं, उनका मूल कारण नीतियों सम्बन्धी मतभेद है जिसने शान्ति-सन्धियों के मार्ग में बाधा डाली है तथा क्षतिग्रस्त देशों के युद्धोत्तर पुनर्विकास को अवरुद्ध किया है ।"

आर्थिक और सामाजिक परिषद्
(Economic and Social Council)

चार्टर के अध्याय 10 में अनुच्छेद 61 से 72 आर्थिक एव सामाजिक परिषद् से सम्बन्धित हैं । यह परिषद् विश्व में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एव स्वास्थ्य सम्बन्धी विभिन्न कार्य करती है । अपने सहायक अंगों द्वारा यह मानव-जीवन के व्यापक क्षेत्रों का अध्ययन करती है और उस आधार पर आवश्यक कार्यवाही की सिफारिशें करती है ।

संगठन और मतदान

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् में पहले महासभा द्वारा चुने हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के 18 सदस्य होते थे किन्तु सन् 1965 में चार्टर में एक संशोधन के फलस्वरूप अब 27 सदस्य होते हैं। इनमें से 9 सदस्य प्रति तीन वर्ष के लिए चुने जाते हैं अर्थात् एक तिहाई सदस्य हर तीसरे वर्ष पदत्याग कर देते हैं। पद-निवृत्त सदस्य तुरन्त पुनः चुनाव में खड़े हो सकते हैं। परिषद् में प्रत्येक सदस्य-राज्य का एक प्रतिनिधि होता है। इसमें न तो किसी राष्ट्र को निषेधाधिकार प्राप्त है और न ही स्थायी सदस्यता। महासभा अपनी इच्छानुसार किसी भी सदस्य-राज्य को इस परिषद् में चुन सकती है। सन् 1965 के संशोधन के अनुसार जो 9 सीटों की वृद्धि हुई उसके वितरण की व्यवस्था इस प्रकार की गई है—सात सीटें अफ्रीकी-एशियाई देशों को, एक लेटिन अमेरिकी देशों को तथा एक पश्चिमी यूरोप के देशों को।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के सभी निर्णय उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा किए जाते हैं। परिषद् के हर सदस्य का एक मत होता है। किसी गैर-सदस्य राज्य को भी, यदि वह परिषद् में प्रस्तुत मामले से सम्बन्धित है, विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए बुलाया जा सकता है, पर उसे मतदान का अधिकार नहीं होता।

क्रियाविधि एवं सहायक अंग

परिषद् आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में मानव अधिकारों को प्रोत्साहन देने के लिए और अपने कार्यों की पूर्ति के लिए आयोगों तथा समितियों की स्थापना करती है। अभी तक अनेक कार्यकारी आयोगों की स्थापना की जा चुकी है जिनमें उल्लेखनीय ये हैं—यातायात तथा संचार आयोग, परिगणना आयोग, जनसंख्या आयोग, सामाजिक आयोग, मानव अधिकार आयोग, नारी-अधिकार आयोग, मादक पदार्थ आयोग, अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु-व्यापार आयोग। आयोगों के सदस्य परिषद् द्वारा चुने जाते हैं। मादक पदार्थ आयोग के प्रतिनिधि सीधे उनकी सरकारों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। परिषद् ने एक उप-आयोग भी स्थापित किया है जिसका मुख्य कार्य भेद-भाव की रोकथाम करना है। इसी प्रकार एक अल्पसंख्यक सुरक्षा सम्बन्धी आयोग है। तीन प्रादेशिक आयोग भी स्थापित किए गए हैं—यूरोपीय आर्थिक आयोग, एशिया एवं सुदूर-पूर्व आर्थिक आयोग तथा लेटिन अमेरिकी आर्थिक आयोग। परिषद् की कुछ विशेष संस्थाएँ भी हैं—उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय बाल-कल्याण निधि (U. N. International Children Emergency Fund) जिसके [illegible] बाल-कल्याण के विभिन्न कार्यक्रमों में सहायता देता है। स्थायी केन्द्रीय [illegible] भी परिषद् की एक विशेष संस्था है।

आर्थिक एवं सामाजिक [illegible] करती है। अपना अध्यक्ष चुनती है [illegible] के अधिवेशन आवश्यकतानुसार [illegible] अन्तर्गत यह व्यवस्था की है [illegible] का अधिवेशन बुलाया जा सकता है।

समितियाँ

अपने कार्यों में सहायता के लिए परिषद् स्थायी समितियाँ गठित करती है जिनमें से मुख्य ये हैं—प्राविधिक सहायता समिति, अन्तर्राष्ट्रीय संस्था वार्तालाप समिति, गैर-सरकारी सगठन परामर्श व्यवस्था समिति, कार्य-सूची समिति और बैठकों के कार्यक्रमों की प्रान्तरिक समिति। इन समितियों मे प्राविधिक सहायता समिति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कार्य एवं शक्तियाँ

चार्टर के अनुच्छेद 62 से 66 मे आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के कार्यों एवं शक्तियों का उल्लेख है। तदनुसार इसके प्रमुख कार्य और अधिकार निम्नलिखित हैं–

प्रथम, यह परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी मामलो का अध्ययन करती है। इन मामलों पर वह अपनी रिपोर्ट देती है और महासभा, सयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों तथा विशिष्ट संस्थाओं से सिफारिशें कर सकती है। परिषद् मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओ के प्रति आस्था बढाने अथवा उनके अनुपालन के लिए भी सिफारिशें कर सकती है।

दूसरे, परिषद् अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले मामलो के सम्बन्ध में महासभा को प्रस्तुत करने के लिए प्रस्तावो के प्रारूप तैयार कर सकती है। संघ के नियमो के अनुसार अपने अधिकार-क्षेत्र मे आने वाले मामलों पर वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन करा सकती है।

तीसरे, परिषद् उन विशिष्ट सस्थाओं के साथ, जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक सहयोग से सम्बन्धित हो, समझौते कर सकती है। वह उन शर्तों को भी निश्चित करती है जिनके आधार पर सस्था का संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध स्थापित होता है। इन समझौतों पर महासभा का अनुमोदन आवश्यक होता है। परिषद् विशेष कार्य करने वाली संस्थाओं से परामर्श करके या उनसे अपनी सिफारिशें करके उनकी कार्यवाहियों में तालमेल बैठाती है। यह इन संस्थाओं से विधिवत् रिपोर्ट प्राप्त करने के लिए उचित कदम उठा सकती है। इन रिपोर्टों पर परिषद् के जो विचार होते हैं उन्हें वह महासभा तक पहुँचाती है।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के लक्ष्य बहुत ऊँचे आदर्शों से परिपूर्ण हैं। यह संसार से गरीबी और हीनता को मिटाकर एक स्वस्थ और सुन्दर विश्व के निर्माण के लिए प्रयत्नशील है। विभिन्न राष्ट्रो के बीच सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों मे विवादों को मिटाने का प्रयत्न करके यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देती है। पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास के लिए परिषद् ने अनेक आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता-योजनाएँ सचालित की हैं। परिषद् की प्राविधिक सहायता समिति का मुख्य उद्देश्य ही मानव-जाति को कष्ट और दरिद्रता से छुटकारा दिलाना है। यह अर्द्ध-विकसित देशों को विशेषज्ञ भेजती है और उन्हे मशीनो, उपकरणों आदि की पूर्ति के लिए आर्थिक सहायता देती है। यह भवनों, सड़कों, बन्दरगाहों आदि के विकास में और उद्योग तथा कृषि के उत्पादन को बढ़ाने में सहायोग देती है। परिषद्

ने जो प्राविधिक सहायता बोर्ड (Technical Assistance Bo.
है वह महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

परिषद् का मुख्य लक्ष्य मानव-अधिकारों को प्रोत्साहन
दायित्व की पूर्ति के लिए परिषद् द्वारा विभिन्न आयोग स्थापि ...ए गए हैं। परिषद् के एक आयोग की सिफारिश पर ही महासभा ने 10 सितम्बर, 1948 को मानव-अधिकारों का घोषणा-पत्र (Declaration of Human Rights) स्वीकार किया था जिसमे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों का विस्तार से उल्लेख है। इन मानव अधिकारों का महत्त्व प्रकट करने के लिए ही प्रतिवर्ष 10 सितम्बर को 'मानव-अधिकार दिवस' मनाया जाता है। परिषद् ने शरणार्थियों तथा राज्यहीन व्यक्तियों के लिए भी नियम निर्धारित किए हैं तथा ट्रेड यूनियनों के अधिकारों–दासता और बेगार की स्थिति का अध्ययन किया है। स्त्रियों की स्थिति की सूचना एवं व्यावसायिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी आयोग स्थापित किया है और इन विषयों में विभिन्न समझौतों के प्रारूप तैयार किए हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, विभिन्न विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करना आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् का उत्तरदायित्व है। अभी तक जिन प्रमुख संस्थाओं के साथ संयुक्त राष्ट्रसंघ का सम्बन्ध है, वे है—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन, यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण विकास बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन, विश्व डाक संघ, अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार व्यवस्था संघ एवं विश्व ऋतु-विज्ञान संगठन।

न्यास परिषद्

(Trusteeship Council)

चार्टर के अध्याय 12 मे अनुच्छेद 75 से 85 तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था (International Trusteeship System) का और अध्याय 13 मे अनुच्छेद 86 से 91 तक न्यास परिषद् की रचना, शक्तियो, क्रिया-विधियो आदि का उल्लेख है। पहले राष्ट्रसंघ मे संरक्षण-व्यवस्था (Mandate System) थी और अब इसके स्थान पर इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती न्यास व्यवस्था अपनाई गई है जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि विश्व मे अनेक पिछड़े हुए तथा अविकसित प्रदेश हैं जिनका विकास तभी सम्भव है जब सभ्य और उन्नत देश उन्हें सहयोग प्रदान करें। अतः उन्नत देशो का यह कर्त्तव्य है कि स्वयं को न्यासी (Trustee) समझकर अविकसित प्रदेशो के हितों की देख-भाल करें तथा उनके विकास मे हर सम्भव सहयोग दें। राष्ट्रसंघ की संरक्षण-व्यवस्था केवल जर्मनी, टर्की आदि से पीड़ित प्रदेशो के लिए थी, वहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाए गए सभी क्षेत्रो के लिए है। न्यास पद्धति के मूल उद्देश्य हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा में वृद्धि करना, (ख) न्यास प्रदेशों के निवासियों का स्वशासन की दिशा में विकास करना, (ग) मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं

प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देना तथा यह भाव जाग्रत करना कि संसार के सभी लोग अन्योन्याश्रित हैं, एवं (घ) सामाजिक, आर्थिक, वाणिज्यिक मामलों मे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यो और उनके नागरिकों के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना।

न्यास पद्धति के अन्तर्गत समाविष्ट प्रदेश दो भागों मे विभाजित हैं—अस्वशासित प्रदेश (Non-Self Governing Territories), एवं न्यास या सरक्षित प्रदेश (Trust Territories)। प्रथम प्रकार के अस्वशासित प्रदेश मे वे पराधीन प्रदेश तथा उपनिवेश हैं जो संरक्षित प्रदेश न बने हो। ये ब्रिटेन, फ्रांस आदि पश्चिमी देशो के साम्राज्याधीन प्रदेश है। दूसरे प्रकार के अर्थात् न्यास प्रदेश वे है जो न्यास-समझौतो द्वारा, जो सम्बन्धित राज्यो के मध्य होते हैं और जिन पर महासभा की स्वीकृति अनिवार्य है, न्यास प्रदेश बना दिए जाते है।

कुछ वर्ष पूर्व न्यास पद्धति के अन्तर्गत न्यूगिनी, रुआण्डाउरुण्डी, फ्रेंच कैमरुन, फ्रेंच टोगोलैण्ड, पश्चिमी समोआ, टांगानिका, ब्रिटिश कैमरुन, पीरू, प्रशान्त महासागर द्वीप, सुमालीलैण्ड, टोगोलैण्ड नामक 11 देश थे जिनमे से बाद मे केवल दो प्रदेश ही न्यास प्रदेश रह गए—न्यूगिनी तथा पपुआ, परन्तु सन् 1975 मे ये भी स्वतन्त्र हो गए।

सगठन एवं कार्य-प्रणाली

न्यास परिषद् का कार्य मार्च, 1947 से प्रारम्भ हुआ था। इस परिषद् में सघ के निम्नलिखित सदस्य शामिल हो सकते हैं—

(i) सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य, चाहे वे न्यास प्रदेश पर प्रशासन करते हैं अथवा नही।

(ii) सयुक्त राष्ट्रसघ के वे सदस्य जो न्यास-क्षेत्र का प्रशासन करते हो।

(iii) महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिए निर्वाचित उतने सदस्य जितने न्यास परिषद् में न्यास-प्रदेशो पर शासन करने वाले और न करने वाले सदस्यो की संख्या को समान करने के लिए आवश्यक हो।

परिषद् के सदस्य का एक मत होता है। इसके निर्णय परिषद् में उपस्थित सदस्यों के बहुमत से किए जाते है। न्यास परिषद् अपनी कार्यविधि के नियम स्वयं बनाती है। अपने अध्यक्ष चुनने की विधि भी वह स्वयं निर्धारित करती है। न्यास परिषद् की बैठकें नियमानुसार की जाती है। सदस्यों की प्रार्थना पर विशेष बैठक भी बुलाई जा सकती है। यह परिषद् आवश्यकतानुसार आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् और अन्य संस्थाओ से सहायता ले सकती है।

कार्य एवं अधिकार

न्यास परिषद् महासभा से आदेश प्राप्त करती है और न्यास-प्रदेशों के शासन की देख-रेख करती है। प्रशासी अधिकारी अपने प्रतिवेदन प्रतिवर्ष न्यास परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करते हैं जिन पर आवश्यक विचार-विमर्श करने के उपरान्त परिषद्, और सुरक्षा परिषद् को विभिन्न प्रकार की सिफारिशें भेजती है।

न्यास परिषद् की सिफारिशें इस प्रकार की होती है जैसे, मूल निवासियों को सरकार के विभिन्न अंगों में स्थान दिलाना, उनके वेतन एव जीवन-स्तर को उन्नत करना, चिकित्सा तथा अधिक लाभप्रद स्वास्थ्य सेवाएँ सुलभ कराना, दण्ड-पद्धति में सुधार, सामाजिक कुरीतियों का अन्त कर मूल निवासियों की कला एवं संस्कृति को प्रोत्साहन देना। न्यास परिषद् ने न्यास-क्षेत्रों में होने वाले अणु विस्फोटों पर भी विचार किया था।

न्यास परिषद् का दूसरा मुख्य कार्य न्यास-प्रदेश के निवासियो के लिखित एव मौखिक आवेदन पत्रों पर विचार करना है। यह परिषद् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसके माध्यम से परिषद् और न्यास-प्रदेशों की जनता मे सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता है।

न्यास परिषद् का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य समय-समय पर न्यास-प्रदेशो को निरीक्षण मण्डल (Visiting Missions) भेजना है। इन मण्डलों के माध्यम मे पराधीन प्रदेशों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखा जाता है। इनको परिषद् की आँख और कान कहा गया है। ये न्यास-प्रदेशों के आर्थिक विकास, शिक्षा-प्रसार, श्रम-व्यवस्था, सामाजिक-सुधार, भूमि-सुधार आदि से सम्बन्धित नीतियों का अध्ययन करते हैं और सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देते हैं। पिछड़े हुए प्रदेशों की जटिल समस्याओ का ज्ञान प्राप्त करने मे इन निरीक्षक मण्डलों से बहुत सहायता मिली है।

न्यास परिषद् महत्त्वपूर्ण निर्णय स्वयं ही करती है तथापि अपने कार्य को तत्परता से सम्पन्न करने अथवा किसी विशेष समस्या को हल करने के लिए समय-समय पर इसने कई समितियाँ स्थापित की हैं जैसे शिक्षा समिति, ग्रामीण विकास समिति एवं प्रशासी संघ समिति। महासभा की चौथी समिति और स्वयं महासभा ने न्यास-पद्धति के विकास मे काफी हाथ बँटाया है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(The International Court of Justice)

यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का न्यायिक अंग है। यह वही पुराना अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है जिसे राष्ट्रसंघ ने सन् 1901 मे हेग मे स्थापित किया था। नवीन न्यायालय अपने पूर्ववर्ती न्यायालय की अपेक्षा कई प्रकार से दोष-मुक्त है।

संगठन

इस न्यायालय मे केवल 15 न्यायाधीश होते हैं जिनका चुनाव सुरक्षा परिषद् एवं महासभा द्वारा 9 वर्ष के लिए किया जाता है और कार्याविधि की समाप्ति के बाद जो पुनः निर्वाचित हो सकते हैं। एक राज्य से दो न्यायाधीश नहीं लिए जा सकते। न्यायाधीश की पदच्युति भी हो सकती है जबकि वह सदस्यों की सर्वसम्मति से आवश्यक शर्तों को भंग करने का दोषी पाया जाए।

न्यायालय के विधान के अनुसार इसमें 15 न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य अस्थायी न्यायाधीश नियुक्त करने की भी व्यवस्था है। यदि न्यायालय मे किसी ऐसे राज्य का मामला विचारणीय हो जिसका 15 न्यायाधीशों में प्रतिनिधित्व नहीं है तो

वह मामले की सुनवाई के समय अस्थायी न्यायाधीश के रूप में अपना एक कानूनी विशेषज्ञ नियुक्त करा सकता है । यह न्यायाधीश मामले की सुनवाई समाप्त होते ही पद से हट जाता है । उससे मामले के सम्बन्ध मे कानूनी राय ली जाती है, किन्तु निर्णय मे उसका कोई हाथ नहीं रहता । अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की गणपूर्ति 9 रखी गई है । न्यायालय मे सभी निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं । बहुमत न होने पर सभापति का निर्णायक मत मान्य होता है । न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नही की जा सकती । विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर न्यायालय अपने निर्णयों पर पुनर्विचार कर सकता है । न्यायालय की भाषा फ्रेंच तथा अंग्रेजी है । अन्य भाषाओं को भी अधिकृत रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है ।

न्यायिक निर्णय का निष्पादन

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों को क्रियान्वित कराने के लिए संघ के चार्टर की धारा 94 मे व्यवस्था की गई है । इसके अनुसार संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी मामले मे विवादी होने पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के फैसले को स्वीकार करेगा । यदि एक पक्ष न्यायालय के निर्णय को नही मानता तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद् का आश्रय ले सकता है । सुरक्षा परिषद् जैसा आवश्यक समझे वैसी सिफारिश अथवा कार्यवाही करेगी । न्यायालय के निर्णय यद्यपि सर्वसम्मति से लिए जाते हैं फिर भी मतभेद की अवस्था मे प्रत्येक न्यायाधीश अपना पृथक् विचार निर्णय-पत्र के साथ संलग्न कर सकता है ।

न्यायालय के निर्णय को कार्यान्वित कराने के लिए आवश्यक कार्यवाही निश्चित करते समय सुरक्षा परिषद् के 9 सदस्यो की स्वीकृति आवश्यक है । इनमे से पाँच स्थायी सदस्य होने चाहिएँ । क्रियान्विति के उपायो की धारा 41 तथा 42 में प्रावधान है । प्रथम के अनुसार सुरक्षा परिषद् सैनिक-बल को छोड़कर ऐसे उपायो का प्रयोग कर सकती है जिनमे आर्थिक सम्बन्ध, रेल, समुद्र, डाक, रेडियो, यातायात के साधन तथा राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद शामिल हैं । यदि ये उपाय असफल हो जाएँ तो धारा 42 के अनुसार सुरक्षा परिषद्, जल, स्थल और वायु सेना द्वारा ऐसी कार्यवाही कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक हो ।

क्षेत्राधिकार

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—ऐच्छिक क्षेत्राधिकार, अनिवार्य क्षेत्राधिकार तथा परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार । ऐच्छिक क्षेत्राधिकार (Voluntary Jurisdiction) के अन्तर्गत न्यायालय अपनी संविधि (Statute) की धारा 36 के अनुसार उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है जिनको सम्बन्धित राज्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करें । केवल राज्य ही न्यायालय के विचारणीय पक्ष हो सकते हैं, व्यक्ति नही ।

अनिवार्य क्षेत्राधिकार (Obligatory Jurisdiction) को वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार (Optional Compulsory Jurisdiction) भी कहा जाता है जिसके अनुसार राज्य स्वयं घोषणा द्वारा अग्रांकित क्षेत्रो मे न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार

को स्वीकार कर लेता है—सन्धि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से सम्बन्धित सभी मामले, किसी ऐसे तथ्य का अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य का उल्लंघन समझा जाए तथा किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति का रूप और परिणाम । घोषणा करते समय राज्य कोई भी शर्त लगा सकता है । कभी-कभी तो ऐसी शर्तों के कारण यह घोषणा व्यावहारिक रूप में निरर्थक बन जाती है; तथापि, सशर्त होते हुए भी वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सर्वाधिक और महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है ।

परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction) के अन्तर्गत न्यायालय द्वारा परामर्श देने का कार्य सम्पन्न किया जाता है । महासभा अथवा सुरक्षा परिषद् किसी भी कानूनी प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्श माँग सकती है । संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंग तथा विशेष अभिकरण भी उनके अधिकार-क्षेत्र में उठने वाले कानूनी प्रश्नो पर न्यायालय का परामर्श प्राप्त कर सकते हैं । परामर्श के लिए न्यायालय के सम्मुख लिखित रूप मे प्रार्थना की जाती है । इस प्रार्थना-पत्र में सम्बन्धित प्रश्न का विवरण तथा वे सभी दस्तावेज सलग्न होते हैं जो उस प्रश्न पर प्रकाश डाल सकते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है और सिद्धान्त रूप में सुरक्षा परिषद्, महासभा या अन्य सस्था इसकी अवहेलना कर सकती है, पर व्यवहार में ऐसा करना सर्वथा कठिन होता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अनेक महत्त्वपूर्ण विवादो के समाधान में सहयोग दिया है । उदाहरण के लिए मोरक्को का मामला, ऐंग्लो-ईरानी मामला, भारतीय प्रदेशो से पुर्तगाल को मार्ग देने का विवाद, कोर्फू-चेनल विवाद, ऐंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह विवाद आदि को लिया जा सकता है । न्यायालय के कार्य-संचालन में विभिन्न देशो तथा गुटों ने बाधा उपस्थित की है । राज्यो की अवहेलना तथा उनके असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण के कारण यह अधिक उपयोगी तथा शक्तिशाली नहीं बन सका है ।

सचिवालय
(Secretariat)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के सम्पादन के लिए एक सचिवालय की स्थापना की गई है । चार्टर के अध्याय 15 मे अनुच्छेद 97 से 101 तक सचिवालय से सम्बन्धित है । यह सचिवालय सामान्यतः राष्ट्रसंघ (लीग) के सचिवालय का प्रतिरूप है ।

संगठन एवं विभाग

सचिवालय मे एक महासचिव और वे कर्मचारी सम्मिलित होते हैं जो संघ के कार्य-सम्पादन के लिए आवश्यक हो । महासचिव सचिवालय की सहायता से अपने सब कार्य करता है । महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा की जाती है । वही संघ का प्रमुख अभिशासक अधिकारी है । संघ के पदाधिकारियों या कर्मचारियो की नियुक्ति महासचिव महासभा द्वारा निर्धारित

नियमों के अनुसार करता है। कर्मचारियों की भर्ती और उनकी सेवा-शर्तों को निर्धारित करने में सबसे अधिक ध्यान इस बात पर दिया जाता है कि वे कुशल और ईमानदार हों। महासचिव यह भी ध्यान रखता है कि भर्ती अधिक से अधिक विस्तृत भौगोलिक आधार पर हो। अनुच्छेद 101 में यह व्यवस्था है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् को स्थायी रूप में यथोचित कर्मचारी उपलब्ध कराए जाएँगे और संघ के अन्य अंगों को भी आवश्यकतानुसार कर्मचारी दिए जाएँगे। ये सभी कर्मचारी सचिवालय का ही एक अंग होंगे।

महासचिव और उसके कर्मचारी केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति निष्ठावान् होते हैं। अनुच्छेद 100 में स्पष्ट उल्लेख है कि "अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति में महासचिव और कर्मचारी किसी राज्य से या संघ के बाहर किसी अन्य अधिकारी से परामर्श नहीं माँगेंगे और न प्राप्त करेंगे। वे अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी हैं और केवल संघ के प्रति उत्तरदायी हैं।"

संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रत्येक सदस्य वचनबद्ध है कि वह महासचिव और उसके कर्मचारियों के दायित्वों के पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को स्वीकार करेगा। प्रत्येक सदस्य-राज्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह महासचिव और कर्मचारियों के दायित्वों के निर्वाह में किसी प्रकार का प्रभाव डालने की चेष्टा नहीं करेगा।

सचिवालय, प्रशासनिक और अन्य कार्यों की दृष्टि से, अनेक विभागों में विभक्त है। इसके प्रमुख विभाग हैं—आर्थिक विषय सम्बन्धी विभाग, सामाजिक कार्य सम्बन्धी विभाग, न्याय तथा अस्वशासित क्षेत्रों से सूचना सम्बन्धी विभाग, सम्मेलन एवं सामान्य सेवाएँ, प्रशासकीय एवं वित्तीय सेवाएँ तथा वैधानिक या कानूनी विभाग। महासचिव की सहायता के लिए एक कार्यकारिणी सहायक और एक टेक्नीकल सहायता प्रशासन भी होता है। टेक्नीकल सहायता प्रशासक एक महासंचालक की देख-रेख में कार्य करता है। 1 जनवरी, 1955 से महासचिव का कार्यभार कम करने के लिए 7 अवर सचिवों की भी नियुक्ति की गई है। महासचिव के कार्यालय से अनेक कार्यालय सम्बन्धित हैं, जैसे महासचिव का कार्यकारी सचिव, वैधिक विषयों का कार्यालय, नियन्त्रक कार्यालय, सेवीवर्ग कार्यालय तथा विशेष राजनीतिक कार्य सम्बन्धी उपसचिव का कार्यालय। सचिवालय के प्रशासी और कर्मचारी वर्ग में अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, वैज्ञानिक, दुभाषिए, अनुवादक, पुस्तकालयाध्यक्ष, प्रशासक, सम्पादक, वित्तीय अधिकारी, विधिवेत्ता, फोटोग्राफर, सेवीवर्ग के अधिकारी तथा विशेषज्ञ, सरकारों और संयुक्त राष्ट्र को भेजे गए विदेशी सेना अधिकारी आदि सम्मिलित होते हैं।

सचिवालय–कार्यालय एवं कार्य

सचिवालय का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क तथा जेनेवा में है, किन्तु क्षेत्रीय सेवाओं, प्रादेशिक आयोगों तथा सूचना केन्द्रों के लिए इसके कर्मचारी विश्व के कई भागों में बिखरे रहते हैं। सचिवालय द्वारा बहुत महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। यह संघ के अंगों एवं अभिकरणों के अधिवेशनों के लिए सेवाएँ

प्रदान करता है। यह इन अधिवेशनों के लिए अध्ययन करता है तथा पृष्ठभूमि तैयार करता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अतिरिक्त संघ के अन्य अंगो के लिए सचिवालय सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान कर एक कार्यकारिणी की भाँति कार्य करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही के लक्ष्य को ध्यान मे रखकर यह प्रत्येक साधन द्वारा हर प्रकार की सूचना एकत्रित करता है।

महासचिव की स्थिति और कार्य

गत राष्ट्रसंघ (लीग) के महासचिव की तुलना में संयुक्त राष्ट्रसंघ का महासचिव अधिक अधिकारसम्पन्न और प्रभावशाली व्यक्ति है। उसे कुछ ऐसे अधिकार और कर्त्तव्य सौंपे गए है जिनका पुराने राष्ट्रसंघ में सर्वथा अभाव था। चार्टर के अनुसार महासचिव के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कार्य है—

1. अनुच्छेद 99 के अनुसार यदि महासचिव समझे कि किसी मामले से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को संकट उत्पन्न हो सकता है तो वह सुरक्षा परिषद् का ध्यान उस मामले की ओर आकर्षित कर सकता है। यहि महासचिव का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अधिकार है। ऐसा कोई अधिकार राष्ट्रसंघ के महासचिव को नही था। इस अधिकार के बल पर ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे व्यक्तिगत रुचि लेकर विश्व-शान्ति कायम रखने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योग देते रहे हैं।

2. अनुच्छेद 98 में प्रावधान है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अभिशासी अधिकारी की हैसियत से महासचिव महासभा मे, सुरक्षा परिषद् मे, आर्थिक और सामाजिक परिषद् में तथा न्यास परिषद् की बैठको मे कार्य करेगा। इसके अलावा वह उन कार्यों को भी पूरा करेगा जो ये अंग उसे सौंप दें।

3. महासचिव संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के विषय मे महासभा के समक्ष वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करता है।

4. संघ के पदाधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति का भार महासचिव पर ही होता है।

महासचिव की स्थिति वास्तव मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसकी वास्तविक शक्तियाँ अनुच्छेद 99 मे केन्द्रित है। स्टीफेन वेवल के अनुसार इस अनुच्छेद के अन्तर्गत महासचिव को सात महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हो गई है[1]—

(1) किसी भी विवाद या स्थिति को सुरक्षा परिषद् की अस्थायी कार्यसूची मे रखना,
(2) राजनीतिक निर्णय लेना,
(3) सुरक्षा परिषद् के सामने उन आर्थिक और सामाजिक घटनाओं को रखना जिनके राजनीतिक परिणाम निकलने की सम्भावना हो,

1 *Schwebel, S. M.* : The Secretary General of the United Nations, pp. ??

(4) अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से पूर्व आवश्यक पूछताछ या खोजबीन करना,
(5) यह निश्चय करना कि अमुक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या सुरक्षा परिषद् के सामने प्रस्तुत की जाए एवं परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करने से पूर्व अनौपचारिक रूप से वार्तालाप करना,
(6) अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करने के लिए आवश्यक घोषणा करना या सुझाव रखना, या सुरक्षा परिषद् के विचारार्थ प्रारूप-प्रस्ताव प्रस्तुत करना, तथा
(7) सुरक्षा परिषद् के मंच से विश्व-लोकमत को सम्बोधित करते हुए शान्ति के लिए अपील करना।

महासचिव को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के महान् अवसर प्राप्त होते हैं। वह निरन्तर विभिन्न देशों के प्रतिनिधि-मण्डलों के सम्पर्क में रहता है, अत. उसकी स्थिति ऐसी होती है कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकारों को प्रभावित कर सकता है। महासचिव सार्वजनिक वक्तव्य देकर भी विश्व-जनमत को प्रभावित कर सकता है। महासचिव की रिपोर्ट, जो महासभा में प्रस्तुत की जाती है, अमेरिकी राष्ट्रपति के सन्देशों के समान प्रभावशाली होती है। अपनी रिपोर्टों मे वह इस तरह की सिफारिश भी कर सकता है कि संगठन को कौनसी नीति या कार्यक्रम अपनाना चाहिए। फिर भी, अन्तिम रूप मे सदस्यों का सहयोग ही वह कुंजी है जो महासचिव को असफल या सफल बना सकती है। महासचिव हिटलर, नेपोलियन, लिंकन या लॉयड् जॉर्ज नही बन सकता। विश्व-संस्था के सदस्यों के विश्वास और सहयोग के अनुपात मे ही उसकी शक्ति घट-बढ़ सकती है। महासचिव एक निष्पक्ष अधिकारी समझा जाता है। वह एक अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक सेवक और विश्व-संस्था का प्रवक्ता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अब तक के महासचिव

संयुक्त राष्ट्रसंघ मे अब तक महासचिव के पद पर चार व्यक्तियों की नियुक्तियाँ हुई हैं—ट्रिग्वेली, डॉग हेमरशोल्ड, ऊ-थाण्ट तथा कुर्त वाल्दहीम। 1 फरवरी, 1946 को नार्वे के ट्रिग्वेल 5 वर्ष के लिए महासचिव पद पर नियुक्त किए गए। 1 नवम्बर, 1950 को उनका कार्यकाल 3 वर्ष के लिए और बढा दिया गया। 10 नवम्बर, 1952 को उन्होने त्यागपत्र दे दिया। 10 अप्रेल, 1953 को स्वीडन के डॉग हेमरशोल्ड को महासचिव पद पर नियुक्त किया गया। बाद में 26 सितम्बर, 1957 को उन्हे 10 अप्रेल, 1957 से शुरू होने वाले 5 वर्ष के लिए पुनः महासचिव पद प्रदान किया गया, लेकिन कांगो में शान्ति-अभियान में 18 सितम्बर, 1961 को हवाई दुर्घटना मे उनकी मृत्यु हो गई। तब बर्मा के ऊ-थाण्ट को कार्यवाहक महासचिव नियुक्त किया गया और फिर उनकी नियुक्ति 5 वर्ष के पूरे कार्यकाल के लिए करदी गई। अक्तूबर, 1966 में उनका कार्यकाल समाप्त हो रहा था, किन्तु उन्हें पुनः सर्वसम्मति से महासचिव चुन लिया गया। वर्तमान महासचिव आस्ट्रिया

के डॉ. कुर्त वाल्डहीम हैं जो 1 जनवरी, 1972 से कार्य कर रहे हैं। 21 सितम्बर से 21 दिसम्बर, 1976 तक संयुक्त राष्ट्र महासभा का 31वां नियमित सत्र न्यूयार्क में हुआ था और सुरक्षा परिषद् की सर्वसम्मत सिफारिश पर महासभा में डॉ. वाल्डहीम को अगले पाँच वर्ष की अवधि के लिए पुनर्निर्वाचित किया गया था।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के राजनीतिक कार्य

अथवा

संयुक्त राष्ट्रसंघ की विश्व-शान्ति में भूमिका

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देना है। संघ के आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में किए गए कार्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, लेकिन उसके राजनीतिक कार्यकलाप ही सामान्यतः अधिक प्रकाश में आते हैं। विश्व-जनमत राजनीतिक कार्यों के आधार पर ही संघ की सफलता-असफलता का मूल्यांकन करता है। अब तक संघ के सामने कई अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उपस्थित हुए हैं जिनको सुलझाने में कहीं उसे सफलता मिली है और कहीं निराशा। यहाँ हम कुछ प्रमुख राजनीतिक विवादों का उल्लेख करेंगे और देखेंगे कि संघ उनको निपटाने में कहाँ तक सफल हुआ है।

1. **रूस-ईरान विवाद**—संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत यह प्रथम विवाद था। ईरान के एक प्रान्त आइजरबेजान में सोवियत फौजें प्रवेश कर गई थीं। 19 जनवरी, 1946 को ईरान ने सुरक्षा परिषद् में शिकायत की। रूस पर ईरान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का आरोप लगाया गया और ईरानी प्रान्त में रूसी सेनाओं की उपस्थिति को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा बताया गया। सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी गुट के राज्यों ने ईरान का समर्थन किया। जवाब में रूसी प्रतिनिधि ने परिषद् से *प्रार्थना की कि यूनान में उपस्थित ब्रिटिश सैनिकों को* निकालने के लिए कार्यवाही की जाए। अमेरिका और सोवियत रूस अपने शीत-युद्ध को संयुक्त राष्ट्रसंघ में घसीट लाए। रूस ने इसी विवाद में अपने प्रथम वीटो का प्रयोग किया। परिषद् ने रूस से आग्रह किया कि वह 6 मई, 1947 तक ईरान से अपनी सेनाएँ हटा ले। बाद में मामला दोनों देशों की प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा सुलझ गया। 21 मई, 1946 को दोनों देशों की राजधानियों ने घोषणा की कि सोवियत सेनाएँ 9 मई को ही ईरान खाली कर चुकी हैं।

ईरानी संकट को सुलझाने में सुरक्षा परिषद् का यद्यपि विशेष हाथ नहीं रहा, तथापि परिषद् में हुई बहसों ने रूस के विरुद्ध प्रबल जनमत जाग्रत कर दिया और रूस ने अपनी सेनाएँ ईरानी भूमि से हटा लेना ही उचित समझा। यह सिद्ध हो गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ लोकमत को प्रदर्शित करने वाला एक अत्यन्त उपयोगी मंच है।

2. **यूनान विवाद**—पहले 3 जनवरी, 1946 को रूस ने सुरक्षा-परिषद् से शिकायत की कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद भी ब्रिटिश सेनाएँ यूनानी भूमि पर जमी हुई हैं और यूनान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप एवं अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा कर रही है। परिषद् में विचार-विमर्श के समय यूनानी प्रतिनिधि ने कहा कि यूनानी

जनता अपनी सुरक्षा के लिए ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति अनिवार्य समझती है। इस स्थिति में यह स्वाभाविक था कि सुरक्षा परिषद् ने मामले की सुनवाई समाप्त करने का निश्चय कर लिया। दिसम्बर, 1946 में यूनान ने परिषद् से शिकायत की कि पड़ोसी साम्यवादी देश छापामारों को सहायता दे रहे हैं और यूनान मे तनाव उत्पन्न कर रहे हैं। परिषद् द्वारा नियुक्त आयोग ने मई, 1947 में इस शिकायत की पुष्टि की। परिषद् ने जब आगे जाँच-पड़ताल करने का प्रयत्न किया तो सोवियत रूस ने वीटो का प्रयोग कर दिया। इसके बाद महासभा ने जाँच-पड़ताल के लिए आयोग नियुक्त किया जिसे अलबानिया, बलगेरिया और यूगोस्लाविया ने अपनी सीमाओं मे प्रवेश की अनुमति नहीं दी। अन्त में तीन मुख्य कारणों से यूनानी समस्या का समाधान हो गया—

(i) महासभा द्वारा नियुक्त आयोग की उपस्थिति में साम्यवादी देश छापामारो को पूरी सहायता नही दे सके।

(ii) टीटो-स्टालिन-विवाद के कारण यूनानी छापामारों को यूगोस्लाविया की सहायता बन्द हो गई।

(iii) सयुक्त राष्ट्रसंघ के निरीक्षण मे अमेरिका द्वारा यूनान को पूर्ण आर्थिक व सैनिक सहायता प्राप्त हुई।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामयिक और साहसिक हस्तक्षेप से दक्षिणी यूरोप का एक महत्त्वपूर्ण देश साम्यवादी नियन्त्रण मे जाने से बच गया।

3. बर्लिन की समस्या—सन् 1945 को पोट्सडम समझौते के अनुसार बर्लिन नगर रूस, फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका के नियन्त्रण मे विभक्त कर दिया गया था। पश्चिमी बर्लिन मित्र राष्ट्रो के नियत्रण मे और पूर्वी बर्लिन रूस के नियन्त्रण मे रहा। पोट्सडम सम्मेलन में यह भी तय हुआ था कि दोनो जर्मनी की आर्थिक एकता कायम रखी जाएगी, लेकिन चारों देश इस निर्णय का पालन न कर सके। पश्चिमी राष्ट्रो द्वारा नई मुद्रा प्रचलित करने से क्षुब्ध होकर रूस ने 1 मार्च, 1948 को पश्चिमी बर्लिन के जल और स्थल मार्ग बन्द कर दिए। इस नाकेबन्दी का प्रत्युत्तर पश्चिमी राष्ट्रों ने हवाई मार्ग का अधिकाधिक प्रयोग करके दिया।

23 सितम्बर, 1947 को सुरक्षा परिषद् में रूसी नाकेबन्दी के विरुद्ध शिकायत की गई और इस कार्यवाही को शान्ति के लिए घातक बताया गया। झगड़ा महाशक्तियों के बीच था, अतः सुरक्षा परिषद् समस्या पर विचार करने के अतिरिक्त और कुछ भी कर सकने मे असमर्थ थी। इस बीच चारो महाशक्तियो के बीच अनौपचारिक रूप से समस्या के समाधान की बातचीत चालू रही और 4 मई, 1949 को फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् को सूचित किया कि बर्लिन समस्या पर रूस से उनका समझौता हो गया है।

यद्यपि समस्या का हल महाशक्तियो के पारस्परिक समझौते से हुआ, तथापि सयुक्त राष्ट्रसंघ ने विचार-विमर्श, पत्र-व्यवहार और सम्पर्क आदि के रूप मे दोनों पक्षों को परस्पर मिलाने के लिए महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी पृष्ठभूमि तैयार की और स्थान तथा सुविधाएँ उपलब्ध करायी।

4. कोरिया संकट— इस गम्भीर संकट के समाधान के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ को पहली बार सैनिक कार्यवाही का सहारा लेना पड़ा। जून, 1950 में उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर भीषण सैनिक आक्रमण कर दिया। सुरक्षा परिषद् ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। जुलाई, 1950 मे लगभग 16 राष्ट्रों की संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना एकत्र की गई जिसने उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की। उत्तरी कोरिया के समर्थन में चीन भी युद्ध में कूद पड़ा। एक ओर तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सैनिक कार्यवाही जारी रही और दूसरी ओर संघ ने शान्तिपूर्ण समझौते के प्रयास भी चालू रखे। अन्त में जुलाई, 1951 में दोनों पक्षों में समझौता हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से कोरिया का युद्ध विश्व-युद्ध बनने से रुक गया। ए. ई. स्टीवेंसन के शब्दों में—"संयुक्त राष्ट्रसंघ की इस प्रथम महान् सामूहिक सैनिक कार्यवाही ने यह सिद्ध कर दिया कि यह संगठन शक्ति और शान्ति दोनों रूप से काम करने में सक्षम है।" वास्तव में संयुक्तराज्य अमेरिका की प्रबल सैनिक शक्ति के बल पर ही संघ कोरिया युद्ध में सफल हो सका।

5. फिलीस्तीन विभाजन की समस्या—प्रथम महायुद्ध के बाद यह प्रदेश ब्रिटेन को संरक्षित प्रदेश (Mandate) के रूप में प्राप्त हुआ था। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त फरवरी, 1947 मे ब्रिटेन ने घोषणा की कि उसके लिए इस मेंडेट के शासन-प्रबन्ध को चलाना सम्भव नहीं है। अप्रैल, 1947 में ब्रिटेन ने यह समस्या महासभा के सामने प्रस्तुत की। महासभा द्वारा नियुक्त विशेष समिति ने अगस्त, 1947 मे सिफारिश की कि फिलिस्तीन को दो भागों में विभक्त कर दिया जाए—एक भाग मे अरब राज्य की स्थापना हो और दूसरे मे यहूदी राज्य की। महासभा ने सिफारिश स्वीकार कर ली। लेकिन फिलिस्तीन-विभाजन के प्रश्न पर अरबों और यहूदियों मे संघर्ष प्रारम्भ हो गया। दोनों पक्षों में प्रभावी युद्ध-विराम के सभी संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रयास विफल हो गए। 14 मई, 1948 को ब्रिटेन ने फिलिस्तीन ने अपना शासन हटा लिया (जिसकी घोषणा 15 मई को की गई) और यहूदियों ने फिलिस्तीन में इजरायल-राज्य की घोषणा कर दी। इस पर ईराक, लेबनान, ट्राँसजोर्डन आदि अरब राष्ट्रो ने फिलिस्तीन पर आक्रमण कर दिया। अरब-राष्ट्र इजरायल के प्रत्याक्रमण को नही झेल सके। 11 जून, 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रतिनिधि बर्नाडोट के प्रयत्नों से दोनों पक्षों में चार सप्ताह के लिए युद्ध-विराम हो गया, किन्तु उपद्रव चालू रहे और 17 सितम्बर को बर्नाडोट भी गोली के शिकार हुए। सुरक्षा परिषद् ने अब डॉ. राल्फ जे. बुंच को कार्यवाहक मध्यस्थ नियुक्त किया। 29 दिसम्बर को तीसरी बार युद्ध-विराम स्थापित हुआ। इसके बाद महासभा ने एक 'संयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग' (U N. Conciliation Commission) नियुक्त किया जिसने अनेक गम्भीर प्रश्नों का समाधान किया और इजरायल व पड़ोसी राज्यों मे सीमा सम्बन्धी सन्धियाँ सम्पन्न हुईं।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों में फिलिस्तीन के विभाजन की समस्या के समाधान स्वरूप इजरायल और अरब राष्ट्रों मे सन्धियाँ हो गईं, तथापि इस क्षेत्र में

स्थायी शान्ति की समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। अक्तूबर, 1956 में मिस्र और इजरायल मे पुनः युद्ध छिड़ा तथा रूसी हस्तक्षेप व संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रयासों से शान्ति स्थापित हुई। इसके बाद सन् 1967 और फिर सन् 1973 मे अरब राष्ट्रों और इजरायल के बीच भीषण युद्ध हुआ किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रयत्नों से अस्थायी तौर पर शान्ति स्थापित हो गई।

6. **इण्डोनेशिया विवाद**—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इण्डोनेशिया पर हॉलैण्ड का अधिकार था। युद्धकाल मे उस पर जापान ने अधिकार स्थापित कर लिया। जापान की पराजय के बाद इण्डोनेशिया के राष्ट्रवादियों ने अपने यहाँ एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी। इसके फलस्वरूप हॉलैण्ड और इण्डोनेशिया मे युद्ध छिड़ गया। मामला सुरक्षा परिषद् मे आया। परिषद् द्वारा नियुक्त 'सद्भाव समिति' (Good Offices Committee) के प्रयत्नों से अगस्त, 1947 में दोनों पक्षों मे युद्ध बन्द हो गया और स्थायी सन्धि-वार्ता आरम्भ हो गई। लेकिन दिसम्बर, 1948 मे हॉलैण्ड ने इण्डोनेशियायी गणराज्य के विरुद्ध पुनः युद्ध छेड दिया तथा इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति एवं अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। परिषद् ने इस कार्यवाही का विरोध कर हॉलैण्ड से कहा कि इण्डोनेशिया मे एक सर्वोच्च सत्ता-सम्पन्न संघात्मक गणराज्य की स्थापना की जाए जिसे डच सरकार 1 जुलाई, 1949 तक सम्प्रभुता हस्तान्तरित कर दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'सद्भाव समिति' को 'इण्डोनेशिया आयोग' मे परिवर्तित कर दिया गया।

काफी विचार-विमर्श और दबाव के बाद हॉलैण्ड ने इण्डोनेशियायी राजधानी से अपनी सेनाएँ वापस बुलाईं और यह घोषणा की कि 30 दिसम्बर, 1949 तक इण्डोनेशिया गणराज्य को सर्वोच्च सत्ता हस्तान्तरित कर दी जाएगी। बाद मे 27 दिसम्बर, 1949 को ही इण्डोनेशिया को एक स्वतन्त्र सम्प्रभु गणराज्य मान लिया गया और 28 दिसम्बर, 1950 को उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्रदान कर दी गई। इण्डोनेशियायी विवाद को हल करने में इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई।

7. **दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न**—दक्षिण अफ्रीका की सरकार 'काले-गोरे' मे भेद-भाव के लिए बहुत समय से बदनाम है। सन् 1946 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के प्रथम अधिवेशन मे ही भारत ने यह प्रश्न उपस्थित कर दिया और दक्षिण अफ्रीकी सरकार पर मानवीय मौलिक अधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगाया। दक्षिण अफ्रीका ने भारत की शिकायत पर यह सफाई दी कि यह उसका घरेलू मामला है और संयुक्त राष्ट्रसंघ को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। महासभा ने दक्षिण अफ्रीका की आपत्ति को अमान्य ठहराते हुए भारतीय प्रस्ताव पारित कर दिया। किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने इस प्रस्ताव की कोई परवाह नहीं की और जाति-भेद की अपनी अमानवीय नीति चालू रखी। सन् 1949 मे यह प्रश्न पुनः महासभा मे उठाया गया जिसने एक प्रस्ताव द्वारा सिफारिश की कि भारत, पाकिस्तान और दक्षिण अफ्रीका एक गोलमेज सम्मेलन द्वारा समस्या का समाधान

स्वीकार किया गया जिसके द्वारा कश्मीर प्रत्येक दृष्टि से भारत का वैध अंग बन गया। इस तरह कश्मीर समस्या का स्वरूप बिलकुल बदल गया और जनमत-संग्रह का कोई मूल्य नही रह गया। पाकिस्तान द्वारा अमेरिकी सैनिक गुट में शामिल हो जाने और कश्मीर को बलपूर्वक लेने की चालें खेलने के कारण जनमत-संग्रह की बात बहुत पहले ही निरर्थक हो चुकी थी।

पाकिस्तान पाश्चात्य राष्ट्रो के समर्थन के बल पर बार-बार कश्मीर के प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उठाता रहा, लेकिन भारत के दृढ रवैये और न्याय का पक्ष लेते हुए सोवियत रूस द्वारा निषेधाधिकार प्रयोग के कारण उसके कुटिल उद्देश्य पूरे न हो सके।

कश्मीर का मामला आज भी सुरक्षा परिषद् की विषय-सूची में है। दुर्भाग्यवश विश्व की गुटबन्दी के कारण सुरक्षा परिषद् अभी तक इस विवाद को हल नही कर सकी है। सुरक्षा परिषद् मे पश्चिमी शक्तियों का बहुमत है, अतः पाकिस्तान परिषद् के फैसले को अपने पक्ष मे कराने का कोई मौका नही चूकता। किन्तु सितम्बर, 1965 और दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्धो के बाद अब स्थिति इतनी बदल चुकी है कि पाकिस्तान भी यह समझ गया है कि परिषद् के माध्यम से भारत पर कोई भी निर्णय थापने की बात सोचना व्यर्थ होगा।

वास्तव मे सयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए कश्मीर का विवाद राहू के समान सिद्ध हुआ। यद्यपि वह इस प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले युद्धों को शान्त कर सका है, तथापि पश्चिमी शक्तियो के हाथो में खेलते हुए उसने जो पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया है उससे इस महान् संस्था के गौरव को आघात ही पहुँचा है। न्याय और निष्पक्षता का तकाजा यही है कि सयुक्त राष्ट्रसघ आक्रामक पाकिस्तान की सेनाओं को कश्मीर की भूमि से हटाने की कार्यवाही करे।

9. **स्वेज नहर विवाद**—सन् 1869 मे निर्मित स्वेज नहर का सचालन एक स्वेज नहर कम्पनी करती थी जिसमे ब्रिटेन और फ्रांस के अधिकाँश शेयर थे। समझौते के अनुसार इसकी रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार अपनी सेना रखती थी। नवम्बर, 1950 मे मिस्र की सरकार ने यह माँग की कि ब्रिटिश सेना स्वेज नहर क्षेत्र से हट जाए। ब्रिटेन द्वारा यह माँग ठुकरा देने पर दोनो पक्षो के सम्बन्ध कटु हो गए। मिस्र मे राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकड़ा और अन्त में जुलाई, 1954 मे एक नए समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन को स्वेज नहर क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेनी पड़ी। इस समय मिस्र में कर्नल नासिर का शासन था। उपर्युक्त समझौते के बाद भी मिस्र और ब्रिटेन व अन्य पश्चिमी राष्ट्रो के सम्बन्धों में कोई सुधार नही हुआ और 26 जुलाई, 1956 को नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तथा मिस्र स्थित स्वेज नहर कम्पनी की सम्पत्ति जब्त कर ली। 26 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने यह सम्पूर्ण विवाद सुरक्षा परिषद् के समक्ष रखा। 13 अक्तूबर, 1956 को परिषद् ने समस्या के हल के लिए एक प्रस्ताव के रूप मे 6 सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जिसमे स्वेज नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का भी सुझाव दिया गया, लेकिन सोवियत वीटो से यह प्रस्ताव रद्द हो गया।

आपसी तनाव इतना बढ गया कि 26 अक्तूबर, 1956 को ब्रिटेन और फ्रांस की प्रेरणा पर इजरायल ने स्वेज नहर क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। इसके दो दिन बाद ही ब्रिटेन और फ्रांस भी इजरायल के साथ युद्ध में कूद पड़े। सुरक्षा परिषद् में *युद्ध-बन्दी का प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के वीटो के कारण पास न हो सका।* संघ के जीवन में यह घोर संकट का समय था जब सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य स्वय संघ के चार्टर का उल्लंघन कर संघ के एक सदस्य-राज्य पर आक्रमण कर रहे थे। 2 नवम्बर, 1956 को महासभा के एक विशेष अधिवेशन ने अमेरिका का एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस की सैनिक कार्यवाही की निन्दा करते हुए अविलम्ब युद्ध बन्द करने पर जोर दिया गया। 4 नवम्बर को यह प्रस्ताव पारित किया गया कि महासचिव श्री डॉग हेमरशोल्ड संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक आपात्कालीन सेना तैयार करें जो मिस्र में युद्धबन्दी का कार्य करे। 10 राष्ट्रों ने मिलकर 6 हजार सैनिक जुटाये जो संयुक्त राष्ट्रसघ के नीले और श्वेत ध्वज के नीचे एकत्र हुए। 5 नवम्बर को सोवियत रूस ने ब्रिटेन और फ्रांस को स्पष्ट चेतावनी दी कि यदि एक निश्चित समय मे मिस्र पर आक्रमण बन्द नही किया गया तो सोवियत सघ नवीनतम शस्त्रों के साथ इस सकट में हस्तक्षेप करेगा। इस चेतावनी से तृतीय महायुद्ध की सम्भावना दिखाई देने लगी और ब्रिटेन और फ्रांस ने भयभीत होकर युद्ध बन्द कर दिया। 7 नवम्बर, 1956 को महासभा ने अपने प्रस्ताव में कहा कि ब्रिटेन, फ्रांस व इजरायल की सेनाएँ मिस्र से हट जाएँ तथा स्वेज नहर क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाए। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप युद्ध पूरी तरह बन्द हो गया और 15 नवम्बर को सयुक्त राष्ट्रसघीय आपात्कालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँच गया। मिस्र ने संघ की सेनाओं को तभी प्रवेश की आज्ञा दी जब मिस्र की प्रभुसत्ता को हानि न पहुँचाने का वचन दे दिया गया। अप्रेल, 1957 में स्वेज नहर से जहाजों का आना-जाना पुन: आरम्भ हो गया।

मिस्र मे युद्ध बन्द कराने और विदेशी सेनाओं को हटाने में संयुक्त राष्ट्रसघ को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और स्वेज पर ब्रिटेन व फ्रांस के पुन: आधिपत्य के सपने चूर-चूर हो गए।

10. कांगो समस्या—संघ की सबसे कठिन परीक्षा कांगो मे हुई और सौभाग्यवश इसमे उसे सफलता भी प्राप्त हुई। जुलाई, 1960 मे कांगो में भीषण गृह-युद्ध छिड़ गया जिसे भडकाने मे बेल्जियम का मुख्य षड्यन्त्र था। कांगो सरकार की प्रार्थना पर संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेनाओं ने पहुँचकर कांगो और बेल्जियम के बीच होने वाले संघर्ष को तो समाप्त कर दिया, लेकिन कांगोई प्रान्तो के गृह-युद्ध की स्थिति तेजी से बिगड़ती गई। सयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक ओर तो सैनिक उपायों द्वारा कांगो का विघटन रोका तथा दूसरी ओर समझौतावादी नीति भी अपनाई। सितम्बर, 1962 मे महासचिव डॉग हेमरशोल्ड कांगो के संघर्षरत नेताओं से बातचीत करने के लिए स्वयं कांगो गए और वही मार्ग में एक वायु-दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। नए महासचिव ऊथांट ने अपने प्रयत्न जारी रखे। अन्त मे, विरोधी प्रान्त

स्वीकार किया गया जिसके द्वारा कश्मीर प्रत्येक दृष्टि से भारत का वैध अंग बन गया। इस तरह कश्मीर समस्या का स्वरूप बिलकुल बदल गया और जनमत-संग्रह का कोई मूल्य नहीं रह गया। पाकिस्तान द्वारा अमेरिकी सैनिक गुट में शामिल हो जाने और कश्मीर को बलपूर्वक लेने की चालें खेलने के कारण जनमत-संग्रह की बात बहुत पहले ही निरर्थक हो चुकी थी।

पाकिस्तान पाश्चात्य राष्ट्रों के समर्थन के बल पर बार-बार कश्मीर के प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उठाता रहा, लेकिन भारत के दृढ रवैये और न्याय का पक्ष लेते हुए सोवियत रूस द्वारा निषेधाधिकार प्रयोग के कारण उसके कुटिल उद्देश्य पूरे न हो सके।

कश्मीर का मामला आज भी सुरक्षा परिषद् की विषय-सूची में है। दुर्भाग्यवश विश्व की गुटबन्दी के कारण सुरक्षा परिषद् अभी तक इस विवाद को हल नहीं कर सकी है। सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी शक्तियों का बहुमत है, अतः पाकिस्तान परिषद् के फैसले को अपने पक्ष में कराने का कोई मौका नहीं चूकता। किन्तु सितम्बर, 1965 और दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्धों के बाद अब स्थिति इतनी बदल चुकी है कि पाकिस्तान भी यह समझ गया है कि परिषद् के माध्यम से भारत पर कोई भी निर्णय थोपने की बात सोचना व्यर्थ होगा।

वास्तव में संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए कश्मीर का विवाद राहू के समान सिद्ध हुआ। यद्यपि यह इस प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले युद्धों को शान्त कर सका है, तथापि पश्चिमी शक्तियों के हाथों में खेलते हुए उसने जो पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया है उससे इस महान् संस्था के गौरव को आघात ही पहुँचा है। न्याय और निष्पक्षता का तकाजा यही है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ आक्रामक पाकिस्तान की सेनाओं को कश्मीर की भूमि से हटाने की कार्यवाही करे।

9. स्वेज नहर विवाद—सन् 1869 में निर्मित स्वेज नहर का संचालन एक स्वेज नहर कम्पनी करती थी जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस के अधिकांश शेयर थे। समझौते के अनुसार इसकी रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार अपनी सेना रखती थी। नवम्बर, 1950 में मिस्र की सरकार ने यह माँग की कि ब्रिटिश सेना स्वेज नहर क्षेत्र से हट जाए। ब्रिटेन द्वारा यह माँग ठुकरा देने पर दोनों पक्षों के सम्बन्ध कटु हो गए। मिस्र में राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकड़ा और अन्त में जुलाई, 1954 में एक नए समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन को स्वेज नहर क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेनी पड़ी। *इस समय मिस्र में कर्नल नासिर का शासन था।* उपर्युक्त समझौते के बाद भी मिस्र और ब्रिटेन व अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के सम्बन्धों में कोई सुधार नहीं हुआ और 26 जुलाई, 1956 को नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तथा मिस्र स्थित स्वेज नहर कम्पनी की सम्पत्ति जब्त कर ली। 26 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने यह सम्पूर्ण विवाद सुरक्षा परिषद् के समक्ष रखा। 13 अक्तूबर, 1956 को परिषद् ने समस्या के हल के लिए एक प्रस्ताव के रूप में 6 सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिसमें स्वेज नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का भी सुझाव दिया गया, लेकिन सोवियत वीटो से यह प्रस्ताव रद्द हो गया।

आपसी तनाव इतना बढ गया कि 26 अक्तूबर, 1956 को ब्रिटेन और फ्रांस की प्रेरणा पर इजरायल ने स्वेज नहर क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। इसके दो दिन बाद ही ब्रिटेन और फ्रांस भी इजरायल के साथ युद्ध मे कूद पड़े। सुरक्षा परिषद् में युद्ध-बन्दी का प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के वीटो के कारण पास न हो सका। संघ के जीवन मे यह घोर संकट का समय था जब सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य स्वयं संघ के चार्टर का उल्लंघन कर संघ के एक सदस्य-राज्य पर आक्रमण कर रहे थे। 2 नवम्बर, 1956 को महासभा के एक विशेष अधिवेशन ने अमेरिका का एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस की सैनिक कार्यवाही की निन्दा करते हुए अविलम्ब युद्ध बन्द करने पर जोर दिया गया। 4 नवम्बर को यह प्रस्ताव पारित किया गया कि महासचिव श्री डॉग हेमरशोल्ड संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक आपात्कालीन सेना तैयार करें जो मिस्र मे युद्धबन्दी का कार्य करे। 10 राष्ट्रों ने मिलकर 6 हजार सैनिक जुटाये जो संयुक्त राष्ट्रसघ के नीले और श्वेत ध्वज के नीचे एकत्र हुए। 5 नवम्बर को सोवियत रूस ने ब्रिटेन और फ्रांस को स्पष्ट चेतावनी दी कि यदि एक निश्चित समय मे मिस्र पर आक्रमण बन्द नहीं किया गया तो सोवियत संघ नवीनतम शस्त्रों के साथ इस सकट में हस्तक्षेप करेगा। इस चेतावनी से तृतीय महायुद्ध की सम्भावना दिखाई देने लगी और ब्रिटेन और फ्रांस ने भयभीत होकर युद्ध बन्द कर दिया। 7 नवम्बर, 1956 को महासभा ने अपने प्रस्ताव में कहा कि ब्रिटेन, फ्रांस व इजरायल की सेनाएँ मिस्र से हट जाएँ तथा स्वेज नहर क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाए। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप युद्ध पूरी तरह बन्द हो गया और 15 नवम्बर को संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपात्कालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँच गया। मिस्र ने सघ की सेनाओ को तभी प्रवेश की आज्ञा दी जब मिस्र की प्रभुसत्ता को हानि न पहुँचाने का वचन दे दिया गया। अप्रैल, 1957 मे स्वेज नहर से जहाजों का आना-जाना पुनः आरम्भ हो गया।

मिस्र में युद्ध बन्द कराने और विदेशी सेनाओं को हटाने मे संयुक्त राष्ट्रसंघ को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और स्वेज पर ब्रिटेन व फ्रांस के पुनः आधिपत्य के सपने चूर-चूर हो गए।

10. कांगो समस्या—संघ की सबसे कठिन परीक्षा कांगो मे हुई और सौभाग्यवश इसमे उसे सफलता भी प्राप्त हुई। जुलाई, 1960 मे कांगो मे भीषण गृह-युद्ध छिड़ गया जिसे भड़काने मे बेल्जियम का मुख्य षड्यन्त्र था। कांगो सरकार की प्रार्थना पर संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेनाओं ने पहुँचकर कांगो और बेल्जियम के बीच होने वाले संघर्ष को तो समाप्त कर दिया, लेकिन कांगोई प्रान्तों के गृह-युद्ध की स्थिति तेजी से बिगड़ती गई। सयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक ओर तो सैनिक उपायों द्वारा कांगो का विघटन रोका तथा दूसरी ओर समझौतावादी नीति भी अपनाई। सितम्बर, 1962 में महासचिव डॉग हेमरशोल्ड कांगो के संघर्षरत नेताओ से बातचीत करने के लिए स्वयं कांगो गए और वहीं मार्ग में एक वायु-दुर्घटना मे उनकी मृत्यु हो गई। नए महासचिव ऊथांट ने अपने प्रयत्न जारी रखे। अन्त में, विरोधी प्रान्त

कटंगा ने अपने घुटने टेक दिए और जनवरी, 1963 में कांगो में शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ का शान्ति स्थापना का कार्य कांगो के एकीकरण के साथ समाप्त हुआ।

11. यमन की समस्या—19 सितम्बर, 1962 को यमन के शासक इमाम अहमद की मृत्यु हो गई। 26 सितम्बर को एक क्रान्ति द्वारा यमन में राजतन्त्र की समाप्ति कर दी गई और क्रान्तिकारी परिषद् ने वहाँ गणराज्य की स्थापना की। दूसरी ओर राजतन्त्रवादियों को अपने पक्ष मे कर शहजादा हसन ने सऊदी अरब में जिद्दा नामक स्थान पर यमन की निर्वासित सरकार की स्थापना की। दोनो यमनी सरकारें एक दूसरे को समाप्त करने के लिए कूटनीतिक और सामरिक नीतियाँ अपनाती रहीं। अक्तूबर के समाप्त होते-होते राजतन्त्रवादियों और गणतन्त्रवादियों में भीषण संघर्ष शुरू हो गया। सऊदी अरब और जोर्डन ने राजतन्त्रवादियो की सहायता की और मिस्र ने गणतन्त्रवादियों की। गृह-युद्ध को व्यापक बनाने से रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने हस्तक्षेप किया। मार्च, 1963 मे संघ की ओर से राल्फ बुंच ने प्रत्यक्ष भेंट द्वारा दोनों पक्षों को इस बात के लिए सहमत कर लिया कि वे अपने-अपने सैनिकों को वापस बुला लें और समस्या का शान्तिपूर्ण हल खोजें। संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाद के प्रभावपूर्ण प्रयासों के फलस्वरूप शनैः-शनैः बाह्य शक्तियों ने यमन से अपनी सेनाएँ हटा लीं और यमन में शान्ति स्थापित हो गई।

12. साइप्रस की समस्या—13 अगस्त, 1960 को साइप्रस ब्रिटिश अधिकार से मुक्त होकर स्वतन्त्र गणराज्य बन गया। साइप्रस का जो संविधान बनाया गया उसमें वहाँ के बहुसंख्यक यूनानियों और अल्पसंख्यक तुर्कों के बीच सामञ्जस्य और शान्ति कायम रखने की व्यवस्था की गई। स्वतन्त्रता के कुछ ही समय बाद राष्ट्रपति मकारियोस ने संविधान मे ऐसा संशोधन प्रस्तावित किया जिससे दोनों जातियों के मध्य सन्तुलन और सामञ्जस्य समाप्त हो जाता। फलस्वरूप दोनो जातियो मे राजनीतिक संघर्ष और गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। समस्या पर यूनान, टर्की और साइप्रस के बीच इङ्गलैण्ड में शान्ति-सम्मेलन शुरू हुआ। ब्रिटेन ने साइप्रस में नाटो सेनाएँ भेजने का चक्कर रचा। राष्ट्रपति मकारियोस ने दिसम्बर, 1963 में सारा मामला सुरक्षा परिषद् के सामने प्रस्तुत कर संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षक भेजने और स्थिति सम्भालने के लिए संघ के हस्तक्षेप की माँग की। लम्बे विचार-विमर्श के बाद मार्च, 1964 मे साइप्रस में शान्ति-स्थापना हेतु संयुक्त राष्ट्रसंघीय शान्ति सेना भेजने का निर्णय किया गया। शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय सेना साइप्रस पहुँच गई जिसने वहाँ कानून और व्यवस्था स्थापित रखने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इसके बाद इस आपात्कालीन सेना की अवधि बढ़ाई जाती रही।

13. डोमिनिकन गणराज्य विवाद—*लेटिन अमेरिका के इस छोटे से राज्य में अप्रैल, 1965 में गृह-युद्ध छिड़ गया। अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपने पक्ष की सरकार* को बचाने के लिए सैनिक हस्तक्षेप किया। बहाना यह लिया गया कि डोमिनिकन गणराज्य को साम्यवादियों से बचाने के लिए यह कार्यवाही की गई है। रूस ने

सुरक्षा परिषद् से अनुरोध किया कि वह मामले में हस्तक्षेप करे। अन्त में परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव पास किया गया कि दोनों युद्धरत पक्ष युद्ध-विराम करें और महासचिव डोमिनिकन गणराज्य में आवश्यक जांच-पड़ताल के लिए प्रतिनिधि भेजें। अमेरिकी राज्यों के संगठन ने भी समस्या के समाधान की दिशा में कुछ ठोस कदम उठाए। अन्त में अमेरिकी राज्यों के संगठन और संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से 4 माह के गृह-युद्ध के उपरान्त 31 अगस्त, 1965 को दोनों पक्षों मे समझौते के फलस्वरूप शान्ति स्थापित हो गई। महासचिव ने अपनी रिपोर्ट में खुले शब्दों मे कहा कि डोमिनिकन गणराज्य में युद्धबन्दी कराने मे संघ ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

14. अरब-इजरायल संघर्ष—सन् 1956 के अरब-इजरायल युद्ध-विराम के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गई थी ताकि इजरायल-अरबों में पुनः संघर्ष न छिड़ जाए लेकिन दोनों पक्षों में तनाव बढता गया। सन् 1967 में जोरों से युद्ध की तैयारियाँ शुरू हो गईं। मई मे राष्ट्रपति नासिर के जिद करने पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के सैनिक हटा लिए गए। अब संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सेनाएँ आमने-सामने हो गईं। एक-दूसरे की कार्यवाहियों से स्थिति बिगड़ गई और 5 जून को एकाएक इजरायल ने अरबों पर विनाशकारी आक्रमण कर दिया। जोर्डन, सीरिया, मिस्र, ईराक आदि 10 करोड़ वाली जनसंख्या के देश छोटे से इजरायल के आक्रमण का सामना न कर सके। केवल 5 दिन की लड़ाई में ही अरब राष्ट्रों की सामरिक क्षमता का विनाश हो गया। इस बीच सुरक्षा परिषद् युद्ध-विराम के लिए पूरे प्रयास करती रही। 7 जून को परिषद् ने यह आदेशात्मक प्रस्ताव पारित किया कि सभी युद्धरत देश युद्ध बन्द कर दें। चूंकि अरब राष्ट्र युद्ध-क्षमता खो चुके थे और इजरायल *सामरिक उद्देश्यों को पूरा कर चुका था, अतः 8 जून को इजरायल और मिस्र के* बीच युद्ध-विराम हो गया और 10 जून तक सभी अरब राष्ट्रों और इजरायल के बीच पूरी तरह युद्ध बन्द हो गया। संयुक्त अरब गणराज्य स्वेज तट पर संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षक रखने के लिए सहमत हो गया। 16 जुलाई से स्वेज नहर क्षेत्र में संघ के पर्यवेक्षकों की देख-रेख में युद्ध-विराम लागू हो गया। किन्तु फिर भी पूर्ण शान्ति स्थापित न हो सकी और आज भी इस क्षेत्र में दोनों पक्षों में सैनिक झड़पें होती रहती हैं। पारस्परिक तनाव पुनः विस्फोटक स्थिति में पहुँचता जा रहा है और स्थायी शान्ति तो कोसों दूर दिखाई देती है। अरब राष्ट्रों और इजरायल के बीच बार-बार युद्ध-विराम कराने में संघ को सफलता अवश्य मिली है, लेकिन इसे समस्या का स्थायी समाधान नहीं कहा जा सकता। इस क्षेत्र मे शान्ति तभी सम्भव हो सकेगी जब विश्व की महाशक्तियाँ बीच में पड़ कर रुचिपूर्वक कोई हल निकालने का प्रयत्न करेंगी।

15. भारत-पाक संघर्ष, 1965—कश्मीर को हड़पने के लिए पाकिस्तान ने सन् 1965 में पुनः युद्ध का आश्रय लिया। अगस्त, 1965 में हजारों पाकिस्तानी

हमलावर छिपकर युद्ध-विराम रेखा पार कर कश्मीर के भारतीय प्रदेश में प्रवेश कर गए। भारत ने जब इस घुसपैठी आक्रमण को असफल कर दिया तो सितम्बर, 1965 को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा को पार कर पाकिस्तान की एक पूरी पैदल ब्रिगेड और 70 टैंक कश्मीर पर चढ़ आए। विवश होकर भारत को भी अपनी रक्षा के लिए पाकिस्तान के विरुद्ध खुलकर लड़ाई छेड़ देनी पड़ी। 22 दिन के घमासान युद्ध में पाकिस्तान पर करारी मार पड़ी और आखिर संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से 23 सितम्बर, 1965 को प्रातः 3½ बजे भारत-पाक युद्ध-विराम हो गया तथा पाकिस्तान की रही सही लाज नष्ट होने से बच गई।

संयुक्त राष्ट्रसंघ प्रारम्भ से अन्त तक युद्ध-विराम के प्रयत्न करता रहा। स्वयं महासचिव ने दिल्ली और करांची पहुँच कर श्री शास्त्री और अयूब से सम्पर्क स्थापित किया। महासचिव ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट में सुरक्षा परिषद् को बताया कि यदि पाकिस्तान सहमत हो तो भारत बिना शर्त युद्ध बन्द करने को प्रस्तुत है, किन्तु पाकिस्तान ने युद्ध-विराम प्रस्ताव को प्रत्यक्षतः ठुकरा दिया। महासचिव ने माँग की कि परिषद् दोनों पक्षों को अविलम्ब युद्ध बन्द करने का आदेश दे और युद्ध बन्द न होने पर आवश्यक कार्यवाही करे। भारत ने स्पष्ट कर दिया कि परिषद् पहले यह निश्चित करे कि आक्रामक कौन है। भारत ने यह भी कह दिया कि संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षकों की रिपोर्ट ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। पाकिस्तान ने पहले कश्मीर मे घुसपैठी आक्रमण शुरू किया और बाद मे विधिवत् आक्रमण कर दिया। अन्त मे काफी ऊहापोह के बाद परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि भारत और पाकिस्तान 22 सितम्बर को दोपहर से युद्ध बन्द कर दे और युद्ध-विराम लागू होने के बाद अपनी सेनाओं को 5 अगस्त, 1965 की स्थिति मे लौटा लें। पाकिस्तान द्वारा सहमति की सूचना देने पर युद्ध 23 सितम्बर, 1965 को प्रातः 3 बजे बन्द हो गया।

सुरक्षा परिषद् का 22 सितम्बर का प्रस्ताव भारत के साथ अन्याय था। इसमे दोनों देशो को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया गया था जबकि यह आदेश केवल आक्रमणकारी पाकिस्तान को ही दिया जाना चाहिए था, क्योंकि उसने ही परिषद् के युद्धबन्दी के पहले वाले प्रस्ताव को ठुकराया था। आक्रामक और आक्रान्त दोनो के साथ एक-सा व्यवहार करना न्यायसंगत नहीं था। भारत ने केवल यही सोचकर इसे स्वीकार कर लिया कि उसकी शान्तिप्रियता पर कोई अंगुली न उठा सके।

16. चेकोस्लोवाकिया का संकट—21 अगस्त, 1968 को सोवियत संघ तथा वारसा-सन्धि के अन्य साम्यवादी देशो ने चेकोस्लोवाकिया मे सैनिक कार्यवाही कर हंगरी की घटनाओं को एक बार फिर ताजा कर दिया। रूसी पक्ष की इस सैनिक कार्यवाही के कई कारण थे। मूल कारण यह घोषित किया गया कि चेकोस्लोवाकिया के साम्यवादी शासन की प्रतिक्रियावादी तत्त्वो से रक्षा के लिए सैनिक हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया है। तुरन्त ही इस मसले को सुरक्षा परिषद् मे उठाया गया।

परिषद् के 7 सदस्य-राष्ट्रों की ओर से एक प्रस्ताव रखा गया जिसमें रूसी कार्यवाही को एक स्वतन्त्र और प्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्र पर आक्रमण की संज्ञा देकर उसकी निन्दा की गई तथा यह माँग की गई कि रूस और वारसा राष्ट्रों की सेनाएँ शीघ्र ही चेकोस्लोवाकिया से वापस चली जाएं। कई कारणों से यह प्रस्ताव व्यर्थ सिद्ध हुआ। स्वयं चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। बाद मे सितम्बर में महासभा के अधिवेशन में इस विवाद को पुनः उठाने का प्रयत्न किया गया, लेकिन इस बार भी कोई परिणाम नहीं निकला। वास्तव मे चेकोस्लोवाकिया-संकट के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक मूकदर्शक से अधिक की भूमिका नहीं निभायी।

17. साम्यवादी चीन का संयुक्त राष्ट्रसघ में प्रवेश–महासभा ने सन् 1971 के अधिवेशन में लगभग 22 वर्षों से विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के साम्यवादी चीन की सदस्यता से सम्बन्धित एक बहुत ही जटिल प्रश्न का समाधान कर दिया गया। 26 अक्तूबर, 1971 को साम्यवादी चीन को सघ की सदस्यता प्रदान करने और ताइवान (राष्ट्रवादी चीन) को वहाँ से निष्कासित करने सम्बन्धी अल्बानिया द्वारा प्रस्तुत 35 के विरुद्ध 76 मतो से स्वीकार कर लिए जाने से संयुक्त राष्ट्रसघ के इतिहास में वस्तुतः एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

18 बंगलादेश की समस्या—पाकिस्तान ने अपने ही एक भाग पूर्वी बगाल की स्वायत्तता की माँग को कुचलने के लिए सन् 1970-71 में बर्बर दमन चक्र चलाया जिसके फलस्वरूप मार्च, 1971 मे पूर्वी बंगाल की जनता ने एक स्वतन्त्र देश के रूप मे अपनी स्थापना की घोषणा करदी। पाकिस्तान ने बंगलादेश के जन-आन्दोलन को कुचलने के लिए अमानुषिक ढंग से सैनिक शक्ति का प्रयोग किया, जिसके कारण लगभग एक करोड़ लोग भागकर शरणार्थियों के रूप मे भारत आ गए। भारत ने तथा अन्य देशों के साथ स्वयं बगलादेश के प्रतिनिधि मण्डल ने इस समस्या की गम्भीरता की ओर संयुक्त राष्ट्रसंघ का ध्यान आकर्षित किया। लेकिन अमेरिका के पाक-समर्थक और बंगलादेश विरोधी रवैये के कारण सयुक्त राष्ट्रसंघ इस समस्या को सुलझाने और बगलादेश मे पाकिस्तान द्वारा मानवीय अधिकारों के हनन को रुकवाने मे कोई विशेष सहायता नही कर सका। पाकिस्तान का भीषण अत्याचार और हत्याकाण्ड चालू रहा तथा विश्व-संस्था उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नही कर सकी। बाद मे भारत के सहयोग से बंगलादेश का मुक्ति-सग्राम सफल हुआ और एक सम्प्रभु राज्य के रूप मे वह सयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बन गया।

19. भारत-पाक संघर्ष, 1971—इस संघर्ष के समय भी संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्रो के प्रभाव मे आकर पुनः बड़ा पक्षपातपूर्ण रुख अपनाया। भारत के इस अनुरोध पर कोई ध्यान नही दिया गया कि असली विवाद पाकिस्तान और बंगलादेश के बीच है तथा इसे भारत-पाक विवाद के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए।

सुरक्षा परिषद् में अमेरिका ने प्रस्ताव रखा कि भारत तथा पाकिस्तान युद्ध-विराम करें और तुरन्त अपनी-अपनी सेनाएँ पीछे हटा लें। अन्य राष्ट्रों द्वारा भी

प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए जिनमे से एक में युद्ध विराम कर सेनाएँ वापस हटाने की बात थी। चौथा प्रस्ताव रूस द्वारा पेश किया गया जिसमे कहा गया था कि पूर्वी पाकिस्तान का राजनीतिक हल निकाला जाए जिससे स्वाभाविक रूप से अन्त में संघर्ष समाप्त हो सकेगा। अमेरिका के प्रस्ताव पर रूसी वीटो के प्रयोग से भारत के समक्ष उपस्थित एक भारी संकट टल गया। 24 घण्टे में ही परिषद् की दूसरी बैठक में पुनः युद्ध-विराम तथा दोनो पक्षो के सैनिकों के लौट जाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया जिसे रूस ने पुनः वीटो कर दिया। चीन ने अपने असफल प्रस्ताव में भारत पर आक्रमण करने का आरोप लगाया। सुरक्षा परिषद् मे असफल होने पर विवाद महासभा के समक्ष प्रस्तुत हुआ जिसमे अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों के प्रभाव से युद्ध-विराम तथा सेनाओं की वापसी का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। भारत ने स्पष्ट कर दिया कि कोई भी युद्ध-विराम तब तक लागू नही किया जा सकता जब तक बंगलादेश के मुक्ति आन्दोलन और वहाँ से पश्चिमी पाकिस्तान की सेनाओ की वापसी की बात को नही माना जाता। 14 दिसम्बर को परिषद् की तीसरी बैठक में अमेरिका के पहले जैसे ही प्रस्ताव पर रूस ने तीसरी बार निषेधाधिकार का प्रयोग किया। परिषद् का अगला अधिवेशन बुलाए जाने और कोई अन्य प्रपच किए जाने से पूर्व ही भारत ने एक पक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी (16 दिसम्बर)। भारत का उद्देश्य बंगलादेश गणतन्त्र को पाकिस्तानी कब्जे से मुक्ति दिलाना था। यह उद्देश्य पूरा होते ही उसने युद्धबन्दी का आदेश दे दिया और युद्ध मे बुरी तरह पिट रहे पाकिस्तान ने युद्ध बन्द कर देने मे ही अपनी कुशलता समझी।

20. अरब-इजरायल युद्ध, 1973—अक्तूबर, 1973 मे चौथा अरब-इजरायल युद्ध आरम्भ हो गया, लेकिन महाशक्तियो की उदासीनता के कारण सुरक्षा परिषद् मे तत्काल सारी स्थिति पर विचार नहीं हो सका। रूस ने इसलिए रुचि नहीं ली कि युद्ध के प्रारम्भ में अरबो की विजय हो रही थी। अमेरिका द्वारा रुचि लेने का कारण था कि वह उस अवसर की प्रतीक्षा में था जब इजरायल सम्भल कर जवाबी हमले द्वारा अपना पक्ष मजबूत कर लेता। इसी बीच संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव वाल्दहीम ने सुझाव रखा कि युद्धरत राष्ट्रों से अविलम्ब युद्ध बन्द करने की अपील की जाए। 7 अक्टूबर को सुरक्षा परिषद् की गुप्त बैठक मे इस सुझाव पर विचार हुआ, लेकिन रूस और चीन के विरोध के कारण कोई प्रस्ताव स्वीकार नही हो सका। अधिकांश सदस्यों का विचार था कि ऐसी किसी भी अपील से तब तक कोई लाभ नहीं होगा जब तक उसके साथ ही यह माँग भी न की जाए कि इजरायली सेनाएँ सन् 1967 की युद्ध-पूर्व की विराम रेखा तक लौट जाएँ। 9 अक्टूबर को अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलाने की पहल की। अपने प्रस्ताव में उसने माँग रखी कि इजराइल, मिस्र और सीरिया मे युद्ध बन्द करने और युद्ध की पूर्व-स्थिति तक अपनी-अपनी सेनाएँ लौटा लेने की अपील की जाए। यह प्रस्ताव अरब देशों के हित मे नही था। अतः रूस ने आरम्भ मे ही स्पष्ट कर दिया कि वह ऐसे किसी भी प्रस्ताव को 'वीटो' कर देगा। परिषद् की

प्रथम बैठक मे कोई निर्णय नही लिया जा सका और 12 अक्टूबर की दूसरी बैठक में भी इस प्रश्न पर कोई सहमति न हो सकी कि किस प्रकार युद्ध बन्द कराया जाए। जब युद्ध की स्थिति अत्यधिक विस्फोटक हो गई तो 22 अक्तूबर को रूस और अमेरिका ने सयुक्त रूप से सुरक्षा परिषद् मे एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसे स्वीकार कर लिया गया। इस प्रस्ताव मे कहा गया था कि सुरक्षा परिषद् यह माँग करती है कि युद्धरत पक्ष तुरन्त युद्ध बन्द कर दें और जिस जगह है वही इस प्रस्ताव की स्वीकृति के 12 घण्टे के अन्दर सारी कार्यवाही रोक दें, युद्धबन्दी के तुरन्त बाद सुरक्षा परिषद् के सन् 1967 के 242वें प्रस्ताव को पूर्णरूप से लागू किया जाए एव सम्बन्धित पक्ष न्यायोचित तथा स्थायी शान्ति स्थापना के लिए समझौता वार्ता आरम्भ कर दें। परिषद् के प्रस्ताव को इजरायल और मिस्र ने 22 अक्तूबर की शाम को 7 बजे स्वीकार कर लिया, लेकिन सीरिया ने इसे स्वीकार नहीं किया, अत: गोलन पहाड़ियों पर युद्ध जारी रहा। स्थिति इतनी बिगड गई कि रूस का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप होने की सम्भावना दिखाई देने लगी। 26 अक्तूबर को अमेरिका ने भी विश्व भर में अपने सैनिकों को सतर्क रहने का आदेश दे दिया। 27 अक्तूबर को सुरक्षा परिषद् की बैठक मे युद्ध-विराम की निगरानी के लिए और उसके उल्लंघन को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्रीय आपात् सेना के गठन पर विचार-विमर्श हुआ और परिषद् ने भारत के एक प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। महासचिव ने कहा कि आपात् सेना मे 7 हजार व्यक्ति होगे। एक सैनिक टुकडी अविलम्ब ही मिस्र में युद्ध-विराम का उल्लंघन रोकने के लिए तैनात कर दी गई। इसके बाद पश्चिमी एशिया की विस्फोटक स्थिति मे कुछ सुधार हुआ। समझौता-वार्ता चालू रही और अन्त मे 11 नवम्बर, 1973 को इजरायल और मिस्र के बीच एक 6 सूत्री समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। सयुक्त राष्ट्रसंघ की भूमिका से पुनः यह स्पष्ट हो गया कि वह महाशक्तियो के हाथो का खिलौना है।

21. ईरान और ईराक युद्ध (सितम्बर-अक्तूबर, 1980)—ईराक और ईरान मे सैनिक भड़पें तो पहले से ही हो रही थी, किन्तु सितम्बर, 1980 के उत्तरार्द्ध में दोनों पक्षों मे घमासान युद्ध छिड़ गया। सुरक्षा परिषद् ने 2 सितम्बर, 1980 की रात सर्वसम्मति से पारित एक प्रस्ताव मे ईरान व ईराक से तत्काल युद्ध बन्द करने तथा आपसी मतभेदो को हल करने के लिए बाहरी मदद स्वीकार करने को कहा है।

प्रस्ताव मैक्सिको ने पेश किया था। प्रस्ताव मे अन्य देशों से भी अनुरोध किया गया है कि वे इस विवाद को बढ़ने से रोकें। प्रस्ताव में राष्ट्रसंघ महासचिव श्री कुर्त वाल्दहीम की विवाद के हल मे मदद की पेशकश का समर्थन करते हुए उनसे कहा गया है कि वह अपने प्रयासों के परिणामों को परिषद् को जानकारी दें।

प्रस्ताव पर मतदान के बाद भाषण करते हुए डॉ. वाल्दहीम ने कहा कि मुझे निर्धारित अवधि में सफलता मिलना दोनों पक्षो के रुख पर निर्भर इस अवसर का लाभ उठाते हुए मैं दोनों पक्षों से शीघ्र प्रत्युत्तर देने को

इसके पूर्व 27 सितम्बर, 1980 को पाकिस्तानी प्रतिनिधि ने परिषद् से अनुरोध किया था कि इस्लामिक सम्मेलन की ओर से ईरान व ईराक की सद्भावना यात्रा पर गए पाक राष्ट्रपति के प्रयासों के परिणामों की प्रतीक्षा की जाए किन्तु यह स्पष्ट हो जाने पर कि उन्हें सफलता नहीं मिल रही है पाक-प्रतिनिधि ने अपना अनुरोध वापस ले लिया।

प्रस्ताव में युद्ध-विराम शब्द का प्रयोग न करके सिर्फ इतना ही कहा गया कि सुरक्षा परिषद ईरान व ईराक को आह्वान करती है कि वे तत्काल और बल प्रयोग बन्द कर दें तथा अपने झगड़ो को शान्तिपूर्ण ढग से न्याय व अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में हल करें।

ईरान का प्रतिनिधि परिषद् के सभाकक्ष में उपस्थित नही था। श्री आयतुल्लाह खोमैनी ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को 'अमेरिका का पिट्ठू' कहा। मंगलवार, 23 सितम्बर, 1980 को भी सुरक्षा परिषद ने युद्ध बन्द करने की अनौपचारिक अपील की थी। अमेरिकी प्रतिनिधि मण्डल के अध्यक्ष श्री डोनाल्ड मैकहेनरी ने मतदान के बाद के अपने भाषण मे कहा कि वाशिंगटन तटस्थता के शरारतपूर्ण रूप की परख जारी रखेगा।

उन्होने आगे कहा : हम आशा करते हैं कि अन्य राष्ट्र भी तटस्थता की नीति अपनाएँगे तथा इस विवाद में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। विशेषतः हम सभी सम्बद्ध राष्ट्रों से आशा करते हैं कि वे इस विवाद को निजी उद्देश्यों का मोहरा न बना कर संयम से काम लेंगे।

ब्रिटेन के सर एन्थोनी पारसन ने कहा : मेरी सरकार इस प्रस्ताव का समर्थन कर प्रसन्न है, लेकिन यह तो प्रथम कदम है।

सोवियत राजदूत ओलेग ए. त्रोयानोव्स्की ने कहा कि ईरान व ईराक की लड़ाई प्रतिक्रियावादियों व साम्राज्यवादियो के इशारों पर हो रही है और ये ताकतें स्थिति का नाजायज लाभ उठाने को प्रयत्नशील हैं ताकि ईरान व ईराक एवं अन्य देशों का ध्यान इजरायल के विरुद्ध संघर्ष की प्रमुख समस्या से हट जाए। हम युद्धरत दोनों देशों से कहते हैं कि वे हथियारों का प्रयोग बन्द कर आमने-सामने बैठ कर आपसी विवादों को निपटाएँ।

ईराक और ईरान के बीच युद्ध यदि निकट भविष्य में नहीं रुकता तो इससे विश्व-शान्ति को पूरा खतरा पैदा हो सकता है क्योंकि दोनों ही राष्ट्र तेल के विशाल भण्डारों के मालिक हैं और इनसे जब दुनियाँ को—विशेषकर पश्चिमी देशो को तेल मिलना बन्द हो जाएगा तो विदेशी शक्तियाँ अधिक समय तक अपने को युद्ध से दूर सम्भवतः नही रख सकेंगी। अक्तूबर, 1980 के प्रारम्भ होते ही ऐसे आसार अवश्य प्रकट हो चले हैं कि सम्भवतः कुछ ही दिनो में दोनों पक्षों मे युद्ध-विराम होकर शान्ति-वार्ता प्रारम्भ हो सकेगी। वैसे शान्ति-वार्ता के लिए ईराक पहल कर भी चुका है, हालांकि 2 अक्तूबर, 1980 तक इस पहल के या सुरक्षा परिषद् की अपील के कोई ठोस परिणाम सामने नही आ सके है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक गतिविधियों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि संघ ने विवादों का समाधान करने में अपनी जागरुकता दिखाई है लेकिन वह महाशक्तियों की अड़ंगेबाजी का शिकार रहा है। कश्मीर के प्रश्न, वियतनाम के संघर्ष, दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति, निःशस्त्रीकरण, अणुशक्ति के प्रयोग पर प्रतिबन्ध, पश्चिमी एशिया के सकट के स्थायी समाधान आदि में संघ को विफलता का ही मुँह देखना पड़ा है। फिर भी उनमे से कुछ समस्याओं को अधिक विस्फोटक बनने से रोकने की दिशा मे संघ के प्रयास प्रशसनीय रहे हैं। अनेक अवसरों पर संघ के *साम्प्रदायिक हस्तक्षेप के कारण ही स्थिति विस्फोटक होने से रुकी है। यद्यपि संघ* विश्व-शान्ति और सुरक्षा के प्रतीक के रूप में पूर्ण सन्तोपजनक सिद्ध नहीं हुआ है तथापि प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे शान्ति स्थापना के इसने अनेक बार सफल प्रयत्न किए हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण और संस्थाएँ—गैर-राजनीतिक कार्य

विश्व में शान्ति कायम रखना तथा राष्ट्रों के बीच उत्पन्न राजनीतिक विवादों को सुलझाना संयुक्त राष्ट्रसघ का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है, लेकिन चार्टर ने सघ पर कुछ गैर-राजनीतिक कार्यों का दायित्व भी डाला है, जिनका उद्देश्य मानव-समाज के भौतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में सहयोग देना है। चार्टर में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक सहयोग पर विशेप बल दिया गया है। अनुच्छेद 55 में व्यवस्था है कि—

"कौमों के समानाधिकार और स्वाधीनता के आधार पर राष्ट्रों के बीच शान्ति और मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तथा जनहित और स्थिरता की जो स्थितियाँ आवश्यक हैं उनको पैदा करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ नीचे लिखी बातों को प्रोत्साहन देगा—

(क) रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना, सबके लिए काम की व्यवस्था करना, आर्थिक और सामाजिक उन्नति के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य और तत्सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना तथा संस्कृति एवं शिक्षा के क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्रदान करना।

(ग) जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेद किए बिना सबके लिए मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति सर्वत्र सम्मान और उनका पालन करना।"

इन विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ अपनी स्थापना के समय से ही प्रयत्नशील है। इन कार्यों का सम्पादन संघ कई विशिष्ट अभिकरणों और संस्थाओं की सहायता से करता है। जिन अभिकरणों और संस्थाओं का ~

राष्ट्रसंघ के साथ सम्बन्ध है, उन्हें कार्यों की दृष्टि से चार समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है—आर्थिक, संचार, सांस्कृतिक एवं स्वास्थ्य तथा कल्याण सम्बन्धी।

आर्थिक संगठन

आर्थिक कार्यों के लिए जिन चार मुख्य संस्थाओं का निर्माण किया गया, वे हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.), (ख) खाद्य एवं कृषि संगठन (F. A. O.), (ग) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.), एवं (घ) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I. F. C.)।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन—*यह एक पुराना अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है जिसकी स्थापना प्रथम महायुद्ध के बाद हुई थी और जो राष्ट्रसंघ (लीग) के साथ* सम्बद्ध था। बाद में इसे संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। इस संगठन के सिद्धान्त हैं—(i) श्रम वस्तु नहीं है, (ii) गरीबी समृद्धि के लिए खतरनाक है, (iii) मानव-प्रगति के लिए संगठन तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता परमावश्यक है, एवं (iv) अभाव और दरिद्रता के विरुद्ध प्रत्येक देश को पूरे उत्साह के साथ युद्ध करना चाहिए। इन सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने जो कार्यक्रम अपनाया है वह मोटे रूप में इस प्रकार है—श्रमिकों को जीवन-निर्वाह और पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक तथा पूरी मजदूरी प्राप्त हो; श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्यों का विस्तार हो; श्रमिकों के लिए पर्याप्त भोजन और आवास की व्यवस्था हो; श्रमिकों को सामूहिक सौदेबाजी का अधिकार प्राप्त हो; उन्हें अवसरों की पूरी समानता प्राप्त हो; एवं उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा की सुचारु व्यवस्था हो। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा श्रमिकों का जीवन-स्तर सुधारने और उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिरता बढ़ाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। संगठन के तीन प्रमुख अंग हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference), (ख) प्रशासनिक निकाय (Governing Body), एवं (ग) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय (International Labour Office)।

(ख) खाद्य एवं कृषि संगठन—संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सन् 1945 में महायुद्ध के बाद स्थापित यह प्रथम संगठन था। इसका मुख्य उद्देश्य विश्व में खाद्य एवं कृषि की दशाओं को उन्नत करना है। पौष्टिक खुराक प्राप्त हो, रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठे, फार्मों, जंगलों तथा मछली उद्योग वाले क्षेत्रों में सभी तरह के खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हो तथा इनका समुचित वितरण हो—इन बातों के लिए यह संगठन प्रयत्नशील रहता है। इसने विश्व के विभिन्न भागों में भूमि और जल के मूल साधनों के विकास में योग दिया है और नवीन प्रकार के पौधों की अदला-बदली को प्रोत्साहन दिया है। विश्व के देशों में इसने कृषि के उन्नत तरीकों का प्रचार किया है, मवेशियों के रोग-निवारण के लिए कार्य किया है और इस दिशा में विभिन्न राष्ट्रों को तकनीकी सहायता दी है। खाद्य और कृषि की प्रत्येक समस्या पर इस संगठन की तकनीकी सहायता और परामर्श महत्त्वपूर्ण रहे हैं। यह प्रतिवर्ष विश्व-

खाद्यान्नों का निरीक्षण करता है। भारत में बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने में इस संगठन ने बहुत सहायता की है।

खाद्य एवं कृषि संगठन के मुख्य अंगों में एक सम्मेलन, एक परिषद् और डायरेक्टर जनरल तथा उसका स्टॉफ सम्मिलित है। सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य-राज्य का एक-एक प्रतिनिधि होता है। सम्मेलन ही खाद्य और कृषि संगठन की नीति का निर्धारण करता है और बजट स्वीकार करता है। सम्मेलन के अधिवेशन की समाप्ति और आरम्भ की अवधि में परिषद् काम करती है।

(ग) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष**—इसकी स्थापना 27 दिसम्बर, 1945 को हुई जबकि इसके कोष का 80 प्रतिशत भाग विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जमा करा दिया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के मुख्य लक्ष्य हैं—विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहन देना, सदस्यों के बीच व्यवस्थित विनिमय-व्यवस्था की स्थापना करना, प्रतिस्पर्द्धापूर्ण विनिमय तथा मन्दी की स्थिति को दूर करना, सदस्यों के बीच चालू लेन-देन में भुगतान की बहुपक्षीय प्रणाली की स्थापना में सहायता करना, विश्व-व्यापार की प्रगति मे अवरोधक विदेशी विनिमय के प्रतिबन्धों को समाप्त करना, सदस्यों के लिए कोष के साधन उपलब्ध कराना और इस तरह उनमें विश्वास की भावना जगाना आदि। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबन्ध कार्यालय उस देश में होता है जो सबसे अधिक नियतांश प्रदान करता है। वर्तमान समय में यह कार्यालय संयुक्तराज्य अमेरिका में है। इस कोष की शाखाएँ किसी भी सदस्य-देश में खोली जा सकती हैं। मुद्रा कोष के कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहे हैं। इसने विभिन्न देशों को समय-समय पर ऋण देकर उनके भुगतान की बकाया के स्थायी असन्तुलन को दूर किया है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में इसका भारी योग रहा है। इसने सदस्य-देशों को भुगतान की बकाया के दीर्घकालीन असन्तुलन को दूर करने में भी सहायता दी है। कोष आर्थिक और मौद्रिक विषय पर सदस्य-देशों को उपयोगी परामर्श देता है। यह अपने सदस्यों को विश्व की आर्थिक स्थिति के परिवर्तन की सूचनाएँ नियमित रूप से देता रहता है। कोष अपने विशेषज्ञों की सेवाएँ प्रदान करता ही है, कभी-कभी बाहरी विशेषज्ञों को भी सदस्य-देशों की सहायतार्थ भेजता है। ये विशेषज्ञ सदस्य-देशों में आर्थिक परामर्शदाताओं का कार्य करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबन्ध एक गवर्नर-मण्डल (Board of Governors), कार्यकारी संचालक मण्डल (Board of Executive Director) और प्रबन्ध संचालकों (Managing Directors) तथा अन्य स्टाफ की सहायता से किया जाता है।

(घ) **अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम**—इसकी स्थापना जुलाई सन् 1956 में की गई और 20 फरवरी, 1957 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में कार्य कर रहा है। इसका कोष अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कोष से बिलकुल पृथक् है। निगम का मूल उद्देश्य विश्व बैंक के एक पूरक के रूप मे उत्पादनशील निजी उद्यम

के विकास को (विशेषकर अर्द्ध-विकसित देशों में) प्रोत्साहन देना है। निगम के चार्टर में धारा 1 में इसके इन उद्देश्यों का उल्लेख है—

1. किसी उद्योगों के विकास, सुधार और विस्तार को बढ़ावा देना तथा इसके लिए बिना सरकार की गारण्टी के सदस्य-देशों में स्थित निजी उद्योगों में विनियोग करना।

2. विनियोग के अवसरों, देशी और विदेशी निजी पूँजी तथा अनुभवी व्यवस्थापन को परस्पर सम्बद्ध करना और उनमें समन्वय स्थापित करना।

3. सदस्य-राष्ट्रों में घरेलू और निजी विदेशी पूँजी को उत्पादनशील विनियोगों में प्रभावित कर विकास में सहायक परिस्थितियों को उत्पन्न करना है।

सारांश में, निगम का उद्देश्य निजी उद्योगों के साथ मिलकर बिना सम्बन्धित सरकार की गारण्टी के उनमें पूँजी का विनियोग करना है। यह केवल निजी क्षेत्र के उद्योगों में ही विनियोग कर सकता है, सरकारी योजनाओं और सरकार द्वारा स्थापित उपक्रमों में नहीं। भारत इस निगम का प्रारम्भ से ही सदस्य रहा है और निगम की पूँजी में भारत ने जो भुगतान किया है उसके आधार पर भारत का निगम में चौथा स्थान है। निगम की सदस्यता केवल उन्हीं देशों को प्राप्त हो सकती है जो विश्व-बैंक के सदस्य हैं। सदस्यता ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं। निगम के प्रबन्ध के लिए एक गवर्नर-मण्डल होता है। दिन-प्रतिदिन के कार्य-सचालन के लिए एक सचालक बोर्ड होता है। विश्व-बैंक का अध्यक्ष निगम के संचालक-बोर्ड का पदेन चेयरमैन होता है।

(ड) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण विकास बैंक—ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की स्थापना का भी निर्णय किया गया। यह संस्था, जिसे विश्व बैंक (World Bank) भी कहते हैं, मुद्रा कोष की एक पूरक संस्था के रूप में 27 दिसम्बर, 1945 को स्थापित हुई, किन्तु 25 जून, 1946 से इसने अपना कार्य आरम्भ किया। मुद्रा कोष और विश्व बैंक 'स्थायित्व एव विकास' के उद्देश्यों पर आधारित है। मुद्रा कोष स्थायित्व पर अधिक बल देता है और विश्व बैंक 'विकास' पर। इसके मुख्य उद्देश्य हैं—सदस्य राष्ट्रों का पुनर्निर्माण एवं विकास, व्यक्तिगत विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहन, दीर्घकालीन सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन, अधिक आवश्यक उत्पादन के कार्यों को प्राथमिकता, शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था की स्थापना। प्रत्येक राष्ट्र, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य है, विश्व बैंक का भी स्वतः ही सदस्य बन जाता है। इस प्रकार इन दोनों संस्थाओं की सदस्यता साथ-साथ चलती है और एक की सदस्यता त्याग देने पर दूसरे की सदस्यता भी सामान्यतः समाप्त हो जाती है। मुद्रा कोष की सदस्यता समाप्त हो जाने पर कोई देश विश्व बैंक का सदस्य तभी बना रह सकता है जब उसे बैंक के 75 प्रतिशत मतों का समर्थन प्राप्त हो। आरम्भ में बैंक की अधिकृत पूँजी 10,000 मिलियन डॉलर थी जिसमें समय-समय पर वृद्धि होती रही है।

विश्व बैंक का संगठन भी मुद्रा कोष के संगठन की भाँति है। बैंक के संगठन मे बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, प्रशासनिक संचालक बोर्ड, सलाहकार समिति और ऋण समिति विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। विश्व बैंक के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं—सदस्य-देशो को ऋण देना (अधिकांश ऋण अल्पविकसित देशों मे बिजली, उद्योग, परिवहन आदि के विकास के लिए ही दिए गए हैं); निजी विनियोजकों को गारण्टी देकर उनकी पूँजी अन्य देशों को दिलाना; सदस्य-देशों को तकनीकी सहायता और प्रबन्ध सम्बन्धी परामर्श देना; सदस्य-देशो के अधिकारियों के लिए वित्त, मुद्रा-व्यवस्था, कर-प्रणाली, औद्योगिक एवं बैंकिग संगठन आदि विषयों से सम्बन्धित प्रशिक्षण की व्यवस्था करना; अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याएँ सुलझाने के लिए मध्यस्थ के रूप में कार्य करना; आदि। उल्लेखनीय है कि भारत और पाकिस्तान के बीच पंजाब की नदियों के जल-विभाजन सम्बन्धी विवाद का निपटारा सन् 1960 मे विश्व बैंक की मध्यस्थता से ही हुआ था। विश्व बैंक ने अब तक जो कार्य किए हैं उनसे संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा विश्व मे शान्ति स्थापित रखने के उद्देश्य में सहायता मिली है। बैंक के विकास-ऋणों की सहायता से झोंपड़ियो तक प्रकाश पहुँचा है, नए-नए कल-कारखानो का निर्माण हुआ है, सूखे खेतों को पानी मिला है, यातायात और सन्देशवाहनों का प्रसार हुआ है तथा रेगिस्तान नखलिस्तान मे परिणत हुए है।

संचार सम्बन्धी संगठन

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट संचार अभिकरणों में ये महत्त्वपूर्ण हैं–अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सगठन (I.C.A O.), विश्व डाक संघ (W.P.U.), अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ (I.T.U.), विश्व ऋतु-विज्ञान संगठन (W.M.O.), और अन्तर-सरकारी जहाजरानी परामर्श संगठन। अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन के प्रमुख उद्देश्य हैं—अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन सम्बन्धी प्रतिमान और विनियम निश्चित करना, उड्डयन सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करना, अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन विधियों और समझौतों के प्रारूप तैयार करना, आदि। विश्व डाक संघ के प्रमुख उद्देश्य हैं—सदस्य-देशों मे डाक सम्बन्धी सुविधाओं का विकास करना, डाक सम्बन्धी कठिनाइयो का निवारण करना, एक देश से दूसरे देश को डाक भेजने की दर आदि निश्चय करना। अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ के प्रमुख उद्देश्य हैं—तार, टेलीफोन और रेडियो सम्बन्धी सेवाओं का प्रसार और विकास, सर्वसाधारण को कम से कम दर पर इनकी सेवाएँ सुलभ करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमो आदि का निर्माण, दूर-संचार (टेली-कम्यूनिकेशन) के व्यवहार के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और प्राविधिक सुविधाओं में वृद्धि करना। विश्व ऋतु-विज्ञान संगठन के उद्देश्य हैं–ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी जाँच-पड़ताल अथवा ऋतु-विज्ञान के बारे में भूगर्भ सम्बन्धी जाँच-पड़ताल के लिए केन्द्र स्थापित करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना, ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी सेवाओं की व्यवस्था के लिए केन्द्रों की स्थापना और उनका समुचित संचालन करना, ऋतु-सम्बन्धी ज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान के लिए व्यवस्था करना, ऋतु-विज्ञान के बारे में खोज और प्रशिक्षण को बढ़ावा देना, आदि।

अन्तर-सरकारी जहाजरानी परामर्श संगठन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय जहाजरानी सेवाओं को सरल और गतिमान बनाना है। यह सागरों पर सुरक्षा और अन्य प्राविधिक मामलों के लिए सरकारों के बीच सहयोग की व्यवस्था करता है, सरकारों के अनावश्यक प्रतिबन्धो और भेद-भाव को दूर करने में सहायता करता है। यह संगठन जहाजरानी के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी अंग या विशेष अभिकरण द्वारा प्रस्तुत मामलों पर विचार करता है।

सांस्कृतिक संगठन : यूनेस्को

संयुक्त राष्ट्रसघ के विशिष्ट अभिकरणों में 'यूनेस्को' अर्थात् सयुक्तराष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक सगठन (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation—UNESCO) का अपना विशेष महत्त्व है। 3 नवम्बर, 1946 को इस संस्था का जन्म हुआ। इसके तीन प्रमुख अंग हैं—साधारण सभा (General Conference), कार्यकारी मण्डल (Executive Board) एवं सचिवालय (Secretariat)। सयुक्त राष्ट्रसघ के लगभग सभी सदस्य यूनेस्को के भी सदस्य हैं। यूनेस्को का लक्ष्य शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से राष्ट्रों के बीच सहयोग को प्रोत्साहन देकर शान्ति और सुरक्षा मे योगदान करना है। यह संस्था बिना किसी भेद-भाव के चार्टर में निहित मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं को क्रियाशील बनाने में सहायक है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के पश्चात् सयुक्त राष्ट्रसघ के विशिष्ट अभिकरण में सबसे अधिक सफलता यूनेस्को को ही प्राप्त हुई है। यूनेस्को के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं—

1. यूनेस्को का प्रथम कार्य है शिक्षा। इसमे तीन बातें सम्मिलित हैं–शिक्षा का विस्तार, शिक्षा की उन्नति और शिक्षा मे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण। इस कार्यक्रम मे साक्षरता के प्रसार और आधारभूत शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। मौलिक शिक्षा का अभिप्राय सामुदायिक विकास की उस शिक्षा से है जो जन-साधारण को उनके स्वास्थ्य, भोजन, फसलों और जीवन-स्तर को सुधारने के लिए दी जाती है। यूनेस्को ने जन-शिक्षा (Mass Education) पर बहुत बल दिया है। इसका यह एक पवित्र ध्येय है कि सभी लोगो के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाए। इसीलिए यह सस्था विभिन्न देशों की शिक्षा सम्बन्धी विशेष योजनाओं को सहायता देती है।

2. यूनेस्को का कार्य है विज्ञान का विकास। इसने प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान पर बहुत ध्यान दिया है। यूनेस्को ने क्षेत्रीय-विज्ञान-सहयोग केन्द्र स्थापित किए हैं। इसका महत्त्वपूर्ण कार्य है रेगिस्तानी प्रदेशो को उपजाऊ बनाने के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यो के कार्यों मे सामञ्जस्य लाना। प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र मे यह संस्था वैज्ञानिकों के सभा सम्मेलनो का आयोजन करती है, वैज्ञानिक संगठनों को सहायता देती है और अनुसन्धान, प्रकाशन तथा वैज्ञानिक शिक्षा का कार्य करती है। सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र मे इसके प्रमुख कार्य हैं—अन्तर्राष्ट्रीय संघ का निर्माण और सहायता, विचार-गोष्ठियों का आयोजन, अन्तर्राष्ट्रीय तनावो सम्बन्धी साहित्य

का प्रकाशन, आदि। यूनेस्को ने विभिन्न भाषाओं में जातिवाद के विरुद्ध साहित्य प्रकाशित कराया है जिससे यह सिद्ध हो गया है कि एक जाति को दूसरी जाति से उच्च मानने का कोई न्यायोचित आधार नही है।

3. यूनेस्को का तीसरा कार्य संस्कृति सम्बन्धी है। यह सस्था मानव-जाति की सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील है। उदाहरणार्थ, जब आस्वान बांध के निर्माण के फलस्वरूप नूबिया के प्राचीन स्मारकों के डूब जाने का खतरा पैदा हो गया था तो उनकी रक्षा के लिए यूनेस्को द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अभियान चलाया गया था। भारत, कोलम्बिया, नाइजीरिया आदि मे सार्वजनिक पुस्तकालय खोलने की योजनाओं में यूनेस्को का भारी योगदान रहा है। इनमें सबसे प्राचीन दिल्ली का सार्वजनिक पुस्तकालय है। यूनेस्को ने मानव जाति का वैज्ञानिक और सांस्कृतिक इतिहास प्रकाशित किया है। यह सामूहिक ज्ञान के प्रचार के लिए प्रयत्नशील है। फिल्म, प्रेस, रेडियो आदि के द्वारा इस कार्यक्रम की पूर्ति की जाती है। यूनेस्को के सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत अनुसन्धान, सभा, सम्मेलनों और विचार गोष्ठियों के आयोजन होते हैं। यह विविध प्रकार का साहित्य भी प्रकाशित करता है।

4. यूनेस्को का चौथा कार्य है व्यक्ति-विनिमय और जन-सम्पर्क। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न देशो के विद्वानो को दूसरे देशों में भेजा जाता है और विभिन्न क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। इस तरह विश्व के दूरस्थ देशों के वैज्ञानिकों और विद्वानों का पारस्परिक सम्पर्क हो जाता है। यूनेस्को ने जन-सम्पर्क के साधनों—प्रेस, रेडियो, फिल्म, टेलीविजन आदि के विस्तार के लिए काफी प्रयत्न किए हैं।

5. यूनेस्को और भी अनेक कार्य करता है। यह विभिन्न देशो के शरणार्थियो के पुनर्वास में सहायता पहुँचाता है। इस कार्य के लिए यह विश्व के देशों की जन-कल्याणकारी संस्थाओं से धन सग्रह करता है। अपने विशेषज्ञों द्वारा यह संगठन विभिन्न देशों को उपयुक्त परामर्श देकर लाभ पहुँचाता है। सितम्बर, 1952 में स्वीकृत की गई 'यूनिवर्सल कॉपीराइट कन्वेंशन' यूनेस्को की एक बहुत बड़ी सफलता मानी जाती है। इस समझौते द्वारा यूनेस्को ने लेखको और कलाकारों के हितों के सरक्षण में विशेष योग दिया है।

यूनेस्को ने अपने उद्देश्यों और कार्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न संगठनों अथवा संस्थाओं की स्थापना की है जिनमे से मुख्य हैं—अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य संस्थान (International Theatre Institute), अन्तर्राष्ट्रीय सगीत परिषद् (International Music Council), दर्शन और मानवतावादी अध्ययन की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् (International Council of Philosophy & Humanistic Studies), अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय संघ (International Sociological Association), अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विज्ञान सघ (International Political Science Association) एवं तुलनात्मक विधि की अन्तर्राष्ट्रीय समिति (International Committee of Comparative Law)।

यूनेस्को विश्व में शान्ति की स्थापना और मानवतावाद के निर्माण में वास्तव में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। यह संस्था आधुनिक पीढ़ी के लिए गौरवपूर्ण है, किन्तु यह आवश्यक है कि एशिया और अफ्रीका की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और सांस्कृतिक निधियों पर यह संस्था विशेष ध्यान दे।

स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी संगठन

संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी संगठनों मे विशेष महत्त्वपूर्ण ये है—

अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति एजेंसी—इसकी स्थापना 29 जुलाई, 1956 को हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ इसके कार्य सम्बन्धी प्रस्ताव महासभा द्वारा नवम्बर, 1956 में और एजेंसी की जनरल कान्फ्रेंस द्वारा अक्तूबर, 1957 में स्वीकार किया गया। इस अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेंसी (International Atomic Agency) के मुख्य उद्देश्य हैं– विश्व की शान्ति व्यवस्था और सम्पन्नता मे अणुशक्ति के योगदान को बढ़ावा देना, अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग को हर प्रकार से प्रोत्साहन देना तथा यह देखना कि उसके द्वारा दी जाने वाली सहायता का अनैतिक उद्देश्यों के लिए उपयोग नहीं किया जाता।

विश्व स्वास्थ्य संगठन—7 अप्रेल, 1948 को विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.) की स्थापना हुई, इसीलए प्रतिवर्ष 7 अप्रेल विश्व भर में 'स्वास्थ्य दिवस' के रूप में मनाया जाता है। इस संगठन की सदस्यता सभी राष्ट्रों के लिए खुली है। इसके प्रमुख अंग हैं—सभा (Assembly), कार्यकारी बोर्ड (Executive Board), एक सचिवालय (Secretariat)। संयुक्त राष्ट्रसघ के अन्तर्गत स्थापित इस सगठन का उद्देश्य ससार को रोगों से मुक्त कराना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठन अनेक कार्य करता है जैसे—(1) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों का संचालन, (2) महामारियों और रोगो के उन्मूलन सम्बन्धी कार्यक्रमों को प्रोत्साहन, (3) स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनुसन्धान, (4) बीमारियों से अन्तर्राष्ट्रीय नामों के निदान सम्बन्धी कार्यों में एकरूपता की स्थापना, (5) आकस्मिक चोटों को रोकने का प्रबन्ध, (6) मानसिक स्वास्थ्य-सुधार को प्रोत्साहन, (7) आहार, पोषण, स्वच्छता, (8) निवास और काम करने की दशाओं में सुधार, (9) स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्र में प्रशासनिक और सामाजिक विधियों का अध्ययन, आदि। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा टीके लगाने और औषधियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड निर्धारित करने का कार्य किया जाता है। संगठन विश्व भर के राष्ट्रों को हैजा, चेचक आदि संक्रामक रोगों की सूचना देता है। इस प्रकार की सूचनाएँ संगठन की ओर से प्राय: रेडियो द्वारा प्रसारित की जाती हैं। रोगों के प्रसार को रोकने के कार्य में सरकारें सहयोग देती है। संगठन द्वारा विगत कुछ वर्षों से इन्फ्लूएँजा, पोलिया, मैलिटिस आदि रोगों पर विशेष शोध-कार्य कराया जा रहा है। संगठन तकनीकी बुलेटिन और अन्य साहित्य प्रकाशित कर संसार भर के देशों को वितरित करता है। यह संगठन अणुशक्ति के उपयोग के स्वास्थ्यजनक पहलुओं से भी निकट सम्पर्क रखता है।

अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपात्कालीन कोष—बच्चों के स्वास्थ्य पर विशेष रूप से ध्यान देने के लिए महासभा द्वारा 11 सितम्बर, 1946 को अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपात् कोष (U. N. International Children Emergency Fund) की स्थापना की गई। यह संस्था आर्थिक और सामाजिक परिषद् की देखरेख में काम करती है। इसके मुख्य उद्देश्य है—संसार भर के (विशेषकर अविकसित देशों के) बच्चों की हर तरह की आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करना; भूकम्प, बाढ़ आदि के समय प्रसूतिकाओं और शिशुओं की सहायता करना; प्रसूति-गृहों और शिशु कल्याण केन्द्रों की स्थापना करना, शिशु-आहार की व्यवस्था करना आदि। इस बालकोष की सहायता से भारत के विभिन्न अस्पतालों और स्कूलों में 100 से भी अधिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए गए हैं जिनमें धातृ-विद्या (नर्सिंग) की शिक्षा दी जाती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्था का अभिप्राय उसके स्थाई अंगों, विशिष्ट अभिकरणों, सम्मेलनों और कोषों से है जिनका विवेचन किया जा चुका है। स्टीवेन रोजन एवं वाल्टर जोंस ने संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था को इस प्रकार दर्शाया है—

संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्था एक नजर में
(United Nations System at a Glance)

स्थायी अंग[1] (Permanent Organs)	विशिष्ट अभिकरण[2] (Specialised Agencies)	सम्मेलन और कोष[3] (Conferences and Funds)
1. महासभा	1. विश्व स्वास्थ्य संगठन	1. व्यापार एवं विकास सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन
2. सुरक्षा परिषद्	2. खाद्य एवं कृषि संगठन	2. बाल-कोष
3. न्यास परिषद्	3. अन्तर-सरकारी जहाजरानी परामर्श संगठन	3. संयुक्त राष्ट्र विशिष्ट कोष
4. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्	4. अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ	
5. सचिवालय		

1. Permanent Organs : General Assembly, Security Council, Trusteeship Council, Economic and Social Council, Secretariat, International Court of Justice.
2. Specialised Agencies : World Health Organization, Food and Agricultural Organization, Intergoveromental Maritime Consultative Organization, International Civil Aviation Organization, Universal Postal Unit, International Telecommunications Union, World Meteorological Organization, International Labour Organization, United Nations Educational Scientific and Cultural Organization (UNESCO), International Atomic Energy Commission.
3. Conferences and Funds : United Nations Conference on Trade and Development, Children's Fund, United Nations Special Fund, International Monetary Fund, International Bank for Reconstruction and Development.

—*Rosen & Jones* : The Logic of International Relations, 1974, p. 292.

6. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय	5. विश्व डाक संघ	4. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष
	6. अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ	5. पुनर्निर्माण और विकास सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक
	7. विश्व ऋतु-विज्ञान संगठन	
	8. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन	
	9. संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को)	
	10. अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति आयोग	

संयुक्त राष्ट्रसंघ की दुर्बलताएँ

संयुक्त राष्ट्रसंघ की अनेक सांविधानिक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दुर्बलताओं ने इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की शक्ति पर बुरा प्रभाव डाला है और यह महान् संस्था आशाओं के अनुरूप सफल सिद्ध नहीं हुई है। अतः यह देखना उचित होगा कि संघ किन विशिष्ट समस्याओं और दुर्बलताओं का शिकार है—

1. संघ अभी तक सार्वदेशिक संगठन नहीं बन सका है। दोनों जर्मनी, दोनों कोरिया आदि राष्ट्र अभी तक संघ से बाहर हैं। प्रायः देखा गया है कि विश्व संस्था से बाहर रहने वाले देश अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के उत्तरदायित्व से स्वयं को मुक्त समझने लगते हैं जिसका संघ की कार्य-क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

2. संघ सैद्धान्तिक विरोधाभास का शिकार है। एक ओर राज्यों के समानाधिकार और समान प्रभुसत्ता की बात कही गई है तो अनेक स्थलों पर चार्टर में राज्यों की सम्प्रभु-असमानता के सह अस्तित्व का प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यों की स्थिति असामान्य रूप से विशेषाधिकार-सम्पन्न है। चार्टर मे लक्ष्यों और सिद्धान्तों के गीत गाए गए हैं, पर कहीं भी न्याय, अन्तर्राष्ट्रीम कानून का सम्मान, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय जैसे सिद्धान्तो की व्याख्या नही की गई है।

3. घरेलू क्षेत्राधिकार की कोई स्पष्ट व्याख्या नही की गई है और यह भी उल्लेख नही है कि 'घरेलू क्षेत्र' का निश्चय कौन करेगा। इस बारे में महासभा के निर्णय वस्तुस्थिति के आधार पर न होकर प्राय: गुटबन्दी के आधार पर होते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में 'घरेलू क्षेत्राधिकार' और हस्तक्षेप की विशिष्ट धारणा है, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ में यह विशुद्ध राजनीतिक विषय बना हुआ है।

4. संयुक्त राष्ट्रसंघ 'यथास्थिति सम्बन्धी अस्पष्टता' के कारण भी कुछ कम प्रभावशाली रहा है। वास्तव में जर्मनी, कोरिया, पूर्वी यूरोप, वियतनाम आदि सभी अस्थायी व्यवस्थाओं के परिणाम हैं और यथास्थिति कायम रखने के बारे मे संघ के सदस्यों में बहुत अस्पष्टता है जिसके फलस्वरूप प्रभावशाली और निश्चित कार्यवाही करने की दृष्टि से संघ प्रायः अस्थिर रहा है।

5. संघ के वाद-विवाद और निर्णय अधिकांशतः पक्षपातपूर्ण अथवा महा-शक्तियों के अपने हितों से प्रभावित रहे हैं। अधिकांश समस्याएँ शक्ति राजनीति द्वारा तय की जाती हैं। पश्चिमी गुट के बहुमत को विफल करने के लिए रूस अपने निषेधाधिकार का व्यापक प्रयोग करता है। स्वयं महासचिव यह स्वीकार करते हैं कि गुटबन्दी और बड़े राष्ट्रों के संघर्ष ने विश्व सस्था को पंगु बना दिया है।

6. सघ निषेधाधिकार के दुरुपयोग का मंच बना हुआ है। स्थायी सदस्य किसी भी उचित किन्तु अपने विरोधी दावे को विशेषाधिकार के प्रयोग से अमान्य ठहरा देते हैं। यह विचित्र स्थिति है कि कोई एक महाशक्ति शेष सदस्यों की इच्छाओं को निरस्त कर दे, यहाँ तक कि महासभा की इच्छा को भी विफल कर दे। पर यह भी स्वीकार करना होगा कि कुछ मामलों में इस निषेधाधिकार की व्यवस्था से ही न्याय की रक्षा हो सकी है, जैसे कश्मीर तथा भारत-पाक संघर्षों के मामले में।

7. महासभा विश्व-जनमत का प्रतिनिधित्व करते हुए भी उसके निर्णय का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वस्तुतः 'शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव' पारित किए जाने के बाद भी व्यवहार मे महासभा आज भी अपनी उपयोगिता मे बहुत कुछ सुरक्षा परिषद पर आश्रित है। यदि महासभा किसी कार्य की सिफारिश दो तिहाई बहुमत से भी करे तो परिषद् उसे अपने विवेक के आधार पर अस्वीकार कर सकती है। यह एक गम्भीर सांविधानिक विरूपता है कि एक ही समय संघ के दो अंग भिन्न-भिन्न राय प्रकट कर सकते है। शक्ति-वितरण में महाशक्तियों की मनमानी को कायम रखने की व्यवस्था के फलस्वरूप संघ में 'सुरक्षा परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सरकार' की स्थिति बनी हुई है।

8. सघ के पास अपने निर्णयों को लागू कराने की स्वयं की शक्ति नहीं है। उसके पास 'काटने के दाँत' नही हैं। अपनी निजी सेना न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिए खतरा पैदा होने पर वह सदस्य-राष्ट्रों की सैनिक सहायता पर निर्भर रहता है। यह सदस्य की इच्छा पर निर्भर है कि वह सैनिक सहायता दें या न दें।

9. संघ के निर्णयों का महत्त्व सिफारिशो से अधिक नहीं है। सदस्य-राज्यों को छूट है कि वह उन्हें स्वीकार करें या न करें। एक बड़ी दुर्बलता यह है कि महासचिव की शक्तियों का अभी तक समुचित रूप से निश्चय नहीं किया जा सका है, अतः परिषद् द्वारा प्रस्तावित कार्यवाही करना कई बार महासचिव के लिए कठिन हो जाता है।

10. चार्टर ने अभी कुछ ही समय पूर्व तक आत्मरक्षा और आक्रमण के बीच भेद स्पष्ट नही किया गया था। यह स्पष्ट रूप से परिभाषित नही किया गया था कि किसी देश द्वारा किए जाने वाले किस प्रकार के कार्य 'आक्रमण माने जाएँगे। चार्टर के अनुसार आक्रमण का अर्थ 'शक्ति का अवैधानिक प्रयोग' है, किन्तु 'शक्ति का अवैधानिक' प्रयोग क्या है, यह प्रश्न विवादास्पद बना रहा। सौभाग्यवश अब

लगभग 31 वर्ष के परिश्रम के बाद 15 दिसम्बर, 1974 को लगभग 350 शब्दों मे 'आक्रमण' की परिभाषा कर दी गई है ।[1]

11. महासभा की कार्यविधि भी दोषपूर्ण है। सभा के सम्मुख विचारणीय विषयों की संख्या पहले ही बहुत अधिक रहती है और इस पर भी लम्बे-लम्बे भाषणों द्वारा सभा का अधिकांश समय नष्ट कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त समितियो मे एक बार प्रस्तुत प्रस्तावों को भी कभी-कभी पुनः सभा में प्रस्तुत कर दिया जाता है। इस पुनरावृत्ति से लाभ कम होता है, समय की हानि अधिक होती है।

12. महासभा के अधिवेशनों मे राष्ट्रो के प्रमुख राजनीतिज्ञ उपस्थित रहने की परवाह नहीं करते और साधारण प्रतिनिधियों के उपस्थित रहने से सभा की कार्यवाही अधिक प्रभावशाली नही हो पाती।

1 "आक्रमण की परिभाषा के प्रथम अनुच्छेद मे कहा गया है कि आक्रमण एक देश द्वारा दूसरे देश की प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता या राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध सशस्त्र-सेना या किसी अन्य तरीके का प्रयोग है जो संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र के अनुरूप नहीं है।

दूसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र का उल्लंघन कर एक देश द्वारा दूसरे देश पर पहले सशस्त्र सेना का प्रयोग आक्रमण की कार्यवाही का प्रारम्भिक प्रमाण होगा, यद्यपि सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र के अनुरूप यह निश्चित कर सकती है कि आक्रमण हुआ है।

तीसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि युद्ध की घोषणा किए और भी एक देश द्वारा दूसरे देश पर सशस्त्र आक्रमण, दूसरे देश की भूमि पर कब्जा करना चाहे यह अस्थायी ही क्यो न हो, बमबारी, बन्दरगाहों, तटों को नाकेबन्दी भी आक्रमण है। एक देश की सशस्त्र सेना द्वारा दूसरे देश की भूमि, समुद्र, वायुसेना, नौसेना और विमानों के बेड़े पर धावा बोलना भी आक्रमण है। समझौते की अवधि के बाद दूसरे देश की भूमि पर जमे रहना भी आक्रमण कहलाता है। अपनी भूमि का किसी तीसरे देश के विरुद्ध प्रयोग करने की अनुमति देना या किसी दूसरे देश की ओर से किसी अन्य देश पर सशस्त्र कार्यवाही के लिए सशस्त्र व्यक्ति व भाड़े के सैनिक भेजना भी आक्रमण है।

चौथे अनुच्छेद के अनुसार सुरक्षा परिषद् भी यह तय कर सकती है कि घोषणा पत्र के अन्तर्गत किन-किन कार्यवाहियों को आक्रमण की संज्ञा दी जा सकती है।

पांचवें अनुच्छेद के अन्तर्गत आक्रमण आक्रमण ही होगा। इसमें इस बात पर कोई विचार नहीं होगा कि राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक कारणों से दूसरे देश पर आक्रमण करने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

आक्रामक युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रति एक अपराध है। आक्रमण से अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व बढ़ जाता है।

आक्रमण के परिणामस्वरूप प्राप्त क्षेत्र या कोई अन्य सुविधा कानूनी नहीं मानी जाएगी।

छठे अनुच्छेद में कहा गया है कि इस परिभाषा का अर्थ यह नहीं होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र मे वृद्धि या कमी की जा सकती है।

सातवें अनुच्छेद में आत्म-निर्णय, स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के अधिकार के लिए युद्ध आक्रमण की परिभाषा में नहीं आएगा।

आठवें अनुच्छेद में उल्लेख है कि आक्रमण की परिभाषा सम्बन्धी आठों अनुच्छेद एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।" —हिन्दुस्तान, 16 दिसम्बर, 1974.

13. संघ के बाहर की गई सैनिक सन्धियों के कारण भी इसका महत्त्व कुछ कम हो गया है। विवसीराइट के अनुसार, "क्षेत्रीय सुरक्षा गुटों के अनियन्त्रित विकास के संयुक्त राष्ट्र चार्टर के मूल उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती।"

14. यह भी विडम्बना है कि सदस्यगण महासभा और सुरक्षा परिषद् को प्रचार-संस्था के रूप में प्रयोग करते है। उनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक हथकंडों द्वारा विश्व-जनमत को अनुचित रूप से अपने पक्ष मे तैयार करना होता है। नार्मन बैंटविच और एण्ड्रयू मार्टिन के इन शब्दों में वजन है कि "महासभा और सुरक्षा परिषद् का प्रयोग विवादों को सुलझाने के लिए नहीं, अपितु उनको बढ़ाने के लिए किया जाता है।"

संघ को शक्तिशाली बनाने के सुझाव
(Suggestions to Strengthen the U. N. O.)

नवीन और परिवर्तित परिस्थितियों में यह आवश्यक हो गया है कि प्रथम तो संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में आवश्यक संशोधन किया जाए और द्वितीय, इस प्रकार के विभिन्न उपाय किए जाएँ जिनसे यह विश्व-संस्था अधिक शक्तिशाली बन सके। पहले उन सुझावों का उल्लेख किया जाएगा जो चार्टर में संशोधन के लिए प्रस्तावित किए जाते हैं और तत्पश्चात् अन्य सुझावों का।

(क) चार्टर में संशोधन अथवा पुनर्निरीक्षण—महाशक्तियों के बीच पारस्परिक सहमति न होने से चार्टर मे कोई महत्त्वपूर्ण संशोधन नही हो सका है। यह आशंका की जाती है कि संशोधन से वर्तमान-शक्ति-सन्तुलन बिगड़ जाएगा और संशोधन के प्रस्तावो के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद प्रखर रूप से उभर जाएँगे तथापि समय-समय पर संशोधन सम्बन्धी अनेक सुझाव दिए-जाते रहे हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं—

1. महासभा में प्रतिनिधित्व के तरीके में परिवर्तन किया जाना चाहिए। एक देश के 5 सदस्य तथा वोट के स्थान पर सदस्य तथा वोट जनसंख्या के अनुपात से होने चाहिए ताकि महासभा के निर्णय अधिकतम जनसंख्या के हितों के आधार पर हों।

2. सदस्यता के लिए सुरक्षा परिद् की सिफारिश की शर्त हटा देनी चाहिए अथवा उसमें बहुमत के आधार पर निर्णय की व्यवस्था की जानी चाहिए।

3. महासभा अपने उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से नए सदस्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करे। केवल महासभा को इस प्रकार सदस्यता प्रदान करने के अधिकार दिए जाने से सदस्यता के प्रश्न पर राजनीतिक सौदेबाजी की वर्तमान कटु स्थिति समाप्त हो जाएगी।

4. सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों का प्रावधान हटा देना चाहिए ताकि शक्ति-सन्तुलन पश्चिमी शक्तियो के पक्ष में न रहे। परिषद् को सन्तुलित और निष्पक्ष बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के भारत जैसे महत्त्व-

पूर्ण सदस्यों को भी इसमें समान आधार पर स्थान प्राप्त हो। यदि स्थायी सदस्यता कायम रखने का ही निश्चय हो तो उनकी सदस्य-संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए।

5. 'घरेलू क्षेत्र' की व्यवस्था में समुचित सन्तुलन किया जाना चाहिए। यह सुझाव भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में जो बातें घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आती हैं उनका संहिताकरण कर लिया जाए तथा उनके अतिरिक्त जो विषय शेष रहें उन पर शान्ति एवं सुरक्षा की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ जो कार्यवाही उचित समझे स्वतन्त्रतापूर्वक करे।

6. यह सुझाव दिया जाता है कि महासभा को द्वि-सदनात्मक रूप दिया जाए—एक 'मानवता का सदन हो' और दूसरा 'राष्ट्रीय सदन'। मानवता-सदन का सगठन प्रत्येक राज्य की जनसंख्या के अनुपात मे हो तथा राष्ट्रीय सदन का गठन राज्यों की समानता के आधार पर हो और उसमें प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को प्रतिनिधित्व दिया जाए। सभी साधारण विषयों का निर्णय दोनों सदस्यों द्वारा किया जाए, लेकिन मतभेद की स्थिति में वह निर्णय उस रूप मे मान्य समझा जाए जिस रूप मे मानवता-सदन पुनः तीन-चौथाई मतों से पारित कर दे। साथ ही शान्ति और सुरक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय मानवता-सदन द्वारा लिया जाए। इस बात के निर्णय का दायित्व कि कौन से विषय महत्त्वपूर्ण हैं, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को सौंपे जाए।

7. सुरक्षा परिषद् की बठकें हमेशा न होकर कुछ निश्चित अवधियों मे ही हों ताकि सम्बन्धित देशों के प्रधान मन्त्री या विदेश मन्त्री उसमे भाग न ले सकें। यह सुझाव विशेष स्वागत योग्य नही है क्योंकि सुरक्षा परिषद् यदि एक सतत् कार्यशील अंग न रहा तो शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होने पर अथवा अन्य किसी महत्त्वपूर्ण मामले मे तुरन्त कार्यवाही करने की वर्तमान मे जो कुछ भी क्षमता है उसे आघात पहुँचेगा।

8. अनुच्छेद 27 मे सुरक्षा परिषद् में मतदान की व्यवस्था मे 'प्रक्रिया सम्बन्धी विषय' तथा 'अन्य सभी विषय' शब्द इतने अनिश्चित और अस्पष्ट हैं कि इससे निषेधाधिकार का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। अतः यह उपयुक्त है कि इन शब्दों को अधिक स्पष्ट किया जाए।

9. प्रादेशिक संगठन सम्बन्धी धाराओं मे ऐसा सशोधन होना चाहिए जिससे सैनिक संगठनों की स्थापना को प्रोत्साहन न मिल सके।

10. शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी मामलों मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सभी निर्णय राष्ट्रों पर बाध्यकारी माने जाएँ, किन्तु यह भी सुनिश्चित व्यवस्था होनी चाहिए कि निर्णय राजनीतिक पक्षपात से मुक्त हों।

(ख) अन्य सुझाव—जो अन्य सुझाव समय-समय पर दिए गए हैं उनमे से ये उल्लेखनीय हैं—

1. सदस्य-राज्य अधिक स्वामिभक्ति और कल्पनात्मक रूप से अपने उत्तर-

दायित्वों को पूरा करें। विशेषकर महाशक्तियाँ संघ के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रहें और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सैद्धान्तिक शिथिलता न दिखाएँ।

2. महासभा, सुरक्षा परिषद् तथा अन्य अगों का प्रचार-संस्था के रूप मे उपयोग न किया जाए। इस सम्बन्ध मे एक तो सदस्य-राज्य स्वयं पर नियन्त्रण रखे और दूसरे आवश्यक सांविधानिक व्यवस्थाएँ करने का भी प्रयास किया जाए।

3. महासभा के अधिवेशन अल्पकालीन हों जिनमें सदस्य-राष्ट्रों के प्रधान मन्त्री अथवा विदेश मन्त्री सम्मिलित हों। मन्त्रिमण्डलीय स्तर के प्रतिनिधि अपने-अपने देशों की नीति निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी होते हैं, अतः वे महासभा की कार्यवाही को अधिक प्रभावशाली व निर्णयकारी बनाने में सक्षम हो सकते हैं।

4. चार्टर की व्याख्या करते समय उदार दृष्टिकोण अपनाया जाए। सुरक्षा परिषद् की शक्तियों के मूल्य पर यदि महासभा, जो विश्व जनमत की प्रतिनिधि है, कोई कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले, तो इसका विरोध नहीं किया जाना चाहिए। मुख्य लक्ष्य तो समस्या का समाधान करना है न कि वैधानिक अवरोध उत्पन्न कर समस्या को उलझाना।

5. संघ के वर्तमान यन्त्र को विस्तृत बना देना चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार नवीन संस्थाओं का निर्माण किया जा सके।

6. जो क्षेत्र राष्ट्रीय सम्प्रभुता के अधीन नहीं हैं वहाँ पर प्रशासकीय सत्ता स्थापित हो जानी चाहिए, जैसे बाह्य अन्तरिक्ष।

7. संघ की आय का कोई स्वतन्त्र स्रोत होना चाहिए। उचित होगा कि वह विकास-कर, सेवा-कर, यात्री-कर आदि लगाए और विश्व-बैंक की आय तथा बाह्य अन्तरिक्ष शुल्क द्वारा अपनी आय मे वृद्धि करे।

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना

संयुक्त राष्ट्रसंघ को राष्ट्रसघ का एक अगला कदम (One Step Further to League of Nations) कहा जाता है। अतः देखना चाहिए कि दोनो विश्व-संस्थाओं में क्या समानाताएँ और असमानताएँ हैं तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ का संगठन राष्ट्रसंघ की तुलना मे कितना श्रेष्ठ है।

समानताएँ

1. दोनो ही संस्थाओं का जन्म महायुद्धों के फलस्वरूप हुआ। दोनो ही को उत्तराधिकार में युद्ध-जन्य विश्व की जटिल राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ प्राप्त हुईं।

2. दोनों ही संस्थाओं की स्थापना सम्प्रभु राष्ट्रों के ऐच्छिक संगठनों के रूप मे हुई। दूसरे शब्दों मे संस्थाओ ने सदस्य-राज्यों की सम्प्रभुता का आदर करना स्वीकार किया। दोनों ही ने सिद्धान्त रूप में प्रत्येक देश के मत को बराबर का महत्त्व देने की बात को मान्यता दी।

3. मूल रूप से दोनो ही संस्थाओं की स्थापना के समय विजेता पराजित राष्ट्रों को संघ में स्थान दिया। जब राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई

की संख्या विजेता राष्ट्रों तक ही सीमित रखी गई और संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के समय 51 राष्ट्रों तक ।

4. राष्ट्रसंघ के ढांचे में ही कुछ सुधार कर संयुक्त राष्ट्रसंघ का स्वरूप बना। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा, सुरक्षा परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय राष्ट्रसंघ की असेम्बली, परिषद्, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय के प्रतिरूप हैं। गैर-राजनीतिक कार्यों के सम्बन्ध में भी राष्ट्रसंघ की भांति संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न सहायक अंग भी विश्व को गरीबी, बीमारी, भुखमरी, अशिक्षा, अज्ञान आदि से मुक्ति दिलाना और राष्ट्रों का सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक विकास करना चाहते हैं। दोनों ही संगठनों में परिषद् के अध्यक्ष पद को वर्णमाला के क्रम से रखने की व्यवस्था की गई। राष्ट्रसंघ की तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी विवादों के निर्णय का सर्वोत्तम उपाय पारस्परिक वार्तालाप द्वारा समझौता माना गया है।

5. राष्ट्रसंघ की भांति ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रकृति भी ऐसी है कि सदस्यों के सक्रिय सहयोग के बिना यह सफलतापूर्वक अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकता।

6 राष्ट्रसंघ की भांति ही संयुक्त राष्ट्रसंघ का क्षेत्राधिकार भी व्यक्तियों पर न होकर राज्यों पर है।

7. राष्ट्रसंघ को राज्यों या उनके नागरिकों पर कर लगाने का कोई अधिकार नहीं था और संयुक्त राष्ट्रसंघ को भी नहीं है। राष्ट्रसंघ की भांति संयुक्त राष्ट्रसंघ का काम भी सदस्य-राज्यों के चन्दे पर निर्भर है।

अन्तर

दोनों संस्थाओं में यद्यपि अनेक समानताएँ हैं, तथापि कई महत्त्वपूर्ण अन्तर भी हैं। ये अन्तर संयुक्त राष्ट्रसंघ को राष्ट्रसंघ से अधिक प्रभावशाली, संशोधित और अधिकार-सम्पन्न सिद्ध करते हैं। इन अन्तरों के आधार पर ही हम कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ राष्ट्रसंघ का अगला कदम है। दोनों संगठनों के संविधानों, व्यवहारों और व्यवस्थाओं में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

1. राष्ट्रसंघ की स्थापना प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने के बाद पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में की गई, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने से पहले हो गया। इसकी स्थापना के लिए वार्ताएँ युद्धकालीन राष्ट्रीय सम्मेलनों में ही आरम्भ हो गईं और 26 जून, 1945 को सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में इसके चार्टर पर हस्ताक्षर हो गए जबकि महायुद्ध अगस्त, 1945 में समाप्त हुआ।

2. राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा (Covenant) वर्साय-सन्धि तथा अन्य शान्ति-सन्धियों का अभिन्न अंग था जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार-पत्र (Charter) का स्वतन्त्र अस्तित्व है—यह किसी शान्ति-सन्धि का अंग नहीं है। राष्ट्रसंघ का उद्देश्य शान्ति-सन्धियों द्वारा स्थापित व्यवस्थाओं को कायम रखना था, संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ ऐसी बात जुड़ी हुई नहीं है।

3. संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्य-संख्या राष्ट्रसंघ की सदस्य-संख्या से बहुत

अधिक है। आज 150 देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य हैं, राष्ट्रसंघ ऐसा सार्वभौमिक रूप कभी प्राप्त नहीं कर सका। राष्ट्रसंघ को सभी विश्व-शक्तियों का वैसा विश्वास प्राप्त नहीं हो सका था जैसा आज संयुक्त राष्ट्रसंघ को प्राप्त है। राष्ट्रसंघ मे तत्कालीन 5 महाशक्तियों मे से 2 ही स्थायी सदस्य के रूप मे सम्मिलित रहती थी जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ में द्वितीय महायुद्धोत्तर तीनों महाशक्तियाँ सम्मिलित हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका कभी भी राष्ट्रसंघ का सदस्य नही बना और इसमें रूस के प्रवेश करते ही जापान तथा जर्मनी इससे पृथक् हो गए। अतः विश्व के महान् शक्तिशाली राष्ट्रों का जैसा प्रतिनिधित्व संयुक्त राष्ट्रसंघ मे है वैसा राष्ट्रसंघ में कभी नहीं रहा।

4. दोनों संस्थाओं के विधानों के आकार मे भी अन्तर है। राष्ट्रसंघ की प्रसविदा में केवल 26 धाराएँ थी जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर मे 111 धाराएँ हैं।

5. संगठनात्मक दृष्टि से भी कई अन्तर है। राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंग केवल तीन थे—असेम्बली, परिषद् और सचिवालय, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंग छः है—महासभा, परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, न्यास परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् बिलकुल नवीन संस्था है जिससे स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ पर केवल राजनीतिक कार्यों का दायित्व ही नही है बल्कि आर्थिक, सामाजिक मानवीय और सांस्कृतिक कार्यों पर भी विशेष बल दिया गया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ मे मानव-व्यक्तित्व के विकास और व्यक्तियों के मानवीय अधिकारो के सरक्षण के महत्त्व को समझा गया। इन गैर-राजनीतिक कार्यों के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत कई विशिष्ट संस्थाएँ हैं जिनका पुराने राष्ट्रसंघ में अभाव था।

6. वर्तमान संस्था की महासभा मे निर्णय ⅔ मत से लिए जाते हैं और ये निर्णय सदस्य-देशो पर बाध्यकारी रूप से लागू नही होते वरन् सिफारिश के रूप मे होते है। दूसरी ओर पुरानी संस्था की असेम्बली की सभा में निर्णय सर्वसम्मति से लिए जाते थे और इनका पालन करना सदस्यों के लिए अनिवार्य था। इस दृष्टि से यह कहना चाहिए कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा राष्ट्रसंघ की सभा से निर्बल है।

7. संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर मे महासभा और सुरक्षा परिषद् के कार्यों का राष्ट्रसंघ की सभा और परिषद् की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विभाजन है। सुरक्षा परिषद् का कार्य-क्षेत्र राष्ट्रसंघ की परिषद् की अपेक्षा सीमित होते हुए भी अधिक स्पष्ट है। उसके निर्णयों का पालन करना सदस्यो के लिए बाध्यकारी है, इस तरह सुरक्षा परिषद् पुरानी परिषद् की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। उसके पास वास्तविक शक्ति है। उसके संगठन और व्यवहार के नियमो ने उसे परिषद् की तुलना में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण संस्था बना दिया है।

8. सुरक्षा परिषद् एक स्थायी संस्था है और 14 दिन में इसकी अवश्य होती है। राष्ट्रसंघ की परिषद् (कौंसिल) की बैठकें वर्ष भर मे के

ही होती थीं। इसके अतिरिक्त जहाँ संकटकाल में सुरक्षा परिषद् की आवश्यक बैठक तुरन्त बुलायी जा सकती है वहाँ राष्ट्रसंघ की परिषद् इस दृष्टि से निर्बल और पिछड़ी हुई थी।

9. राष्ट्रसंघ की सभा मे सर्वसम्मति से निर्णय लिए जाने की व्यवस्था का आशय था कि उसके सभी सदस्य-राज्यों को निषेधाधिकार (Veto Power) प्राप्त था। दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्रसंघ में केवल सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यो को ही निषेधाधिकार प्रदान किया गया है।

10. राष्ट्रसंघ आक्रमण होने पर ही उसे रोकने के लिए कोई कार्यवाही कर सकता था जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ युद्ध छिड़ने पर ही नही बल्कि शान्ति भंग होने या आक्रमण होने की सम्भावना पर भी अपनी कार्यवाही प्रारम्भ कर सकता है।

11. राष्ट्रसंघ मे शान्ति भंग करने वाले देश के विरुद्ध मुख्य रूप से आर्थिक प्रतिबन्धो की व्यवस्था थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास आर्थिक प्रतिबन्धो की शक्ति तो है ही, अपितु विशेष परिस्थितियों मे सुरक्षा परिषद् जल, थल और वायु सेना द्वारा सैनिक कार्यवाही भी कर सकती है। वह अपने सदस्यो से सेनाओं की माँग करती है और सैनिक योजना को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए उसके पास एक सैनिक स्टॉफ समिति भी है। राष्ट्रसंघ इस सम्बन्ध में असहाय था। उसके पास संकट में प्रयोग की जा सकने वाली इस प्रकार की कोई सेना नहीं थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की 43वीं धारा के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् को आवश्यकता पड़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय सेना संगठित करने का भी अधिकार है और इस अधिकार का प्रयोग पिछले वर्षों में कई बार किया जा चुका है। राष्ट्रसंघ इस दृष्टि से एकदम अपंग था।

12. आक्रमण रोकने की कार्यवाही के सम्बन्ध मे दोनों संस्थाओ मे एक और भी बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। राष्ट्रसंघ मे ऐसी कार्यवाही करने के लिए सदस्य बाध्य नहीं थे। राष्ट्रसंघ के विधान की 16वी धारा के अनुसार संघ के सदस्य यह निर्णय करते थे कि किसी सदस्य-देश ने राष्ट्रसंघ में विधान के दायित्वों का उल्लघन किया है या नहीं तथा उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाए या नहीं। इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में शान्ति भंग की दिशा का निश्चय करने और सैनिक कार्यवाही करने का निर्णय लेने का दायित्व संघ के सभी सदस्यों का न होकर सुरक्षा परिषद् का है। सुरक्षा परिषद् के निर्णयों का पालन सदस्यो की इच्छा पर निर्भर नहीं है बल्कि आवश्यक है। शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव मे महासभा को भी अधिकार प्रदान किया गया है कि सुरक्षा परिषद् में यदि निषेधाधिकार के कारण गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो वह शान्ति स्थापित करने के लिए सैनिक कार्यवाही कर सकती है। इस प्रकार की व्यवस्था राष्ट्रसंघ के विधान में नहीं थी।

13. शान्ति और युद्ध की स्थिति में राष्ट्रसंघ अपनी ओर से कोई पहल नही कर सकता था। किसी सदस्य द्वारा मामला प्रस्तुत करने पर ही उस पर विचार

सम्भव था। लेकिन वर्तमान विश्व-संस्था में इस कमजोरी को दूर कर दिया गया है। चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् और महासभा दोनो इस दिशा में पहल करने मे समर्थ हैं। महासचिव पर भी इस सम्बन्ध मे विशेष दायित्व है। सन् 1973 के अरब-इजरायल युद्ध के प्रारम्भिक दिनो में जब महाशक्तियों ने या किसी अन्य राष्ट्र ने सुरक्षा परिषद् में मामला नही उठाया तो महासचिव ने सुझाव रखा कि युद्धरत राष्ट्रों से लडाई अविलम्ब बन्द करने की अपील की जाए। इसके बाद सुरक्षा परिषद् सक्रिय हो गई।

14. संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास-व्यवस्था (Trusteeship System) राष्ट्रसघ की संरक्षण व्यवस्था (Mandate System) से बहुत भिन्न और श्रेष्ठ है।

15. सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर में इस बात की व्यवस्था की गई है कि सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्य संघ के प्रधान कार्यालय अपना एक स्थायी प्रतिनिधि अवश्य रखें ताकि आवश्यकता पडने पर तुरन्त विचार-विमर्श सम्भव हो सके। राष्ट्रसघ के विधान मे इस प्रकार की कोई व्यवस्था नही थी।

16. सयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में शान्ति-रक्षा के लिए प्रादेशिक सगठन (Regional Organizations) बनाने की अनुमति दी गई है, जबकि राष्ट्रसंघ के विधान में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी।

17. राष्ट्रसंघ के विधान में 'आत्मरक्षा' के अधिकार के सम्बन्ध मे कोई बात स्पष्ट रूप से नही कही गई थी, यद्यपि अनुच्छेद 157 मे इसका गोलमाल संकेत था। दूसरी ओर सयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुच्छेद 51 मे संघ द्वारा कार्यवाही करने से पूर्व आक्रमण का शिकार बने राज्य को 'आत्मरक्षा' का अधिकार स्पष्ट शब्दो मे दिया गया है।

18. संयुक्त राष्ट्रसंघ का महासचिव राष्ट्रसंघ के महासचिव से कहीं अधिक शक्तिशाली है। वह एक बहुत ही प्रभावशाली 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ' होता है।

19. 'घरेलू अधिकार-क्षेत्र' (Domestic Jurisdiction) के सम्बन्ध मे भी दोनों संस्थाओं मे मौलिक अन्तर है। संयुक्त राष्ट्रसंघ मे इस बारे मे राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक व्यापक व्यवस्था है। राष्ट्रसघ में इस बात के निर्धारण का भार सदस्य-राज्यों पर नही, बल्कि परिषद् पर डाला गया था कि कौनसी बात घरेलू मामले के अन्तर्गत आएगी। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में यह निश्चय नही किया गया है कि घरेलू क्षेत्र का निर्धारण कौन करेगा। इस सम्बन्ध में प्रत्येक सदस्य को निर्णय की स्वतन्त्रता प्राप्त है। इस सम्बन्ध मे संयुक्त राष्ट्रसघ का कार्यक्षेत्र और प्रभाव संकुचित हो गया है।

स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का संगठन राष्ट्रसंघ के संगठन से अनेक अंशों में अधिक उत्कृष्ट एवं प्रभावशाली है। प्रो ईगल्टन (Eagleton) का कहना सत्य है कि "यद्यपि दोनों व्यवस्थाओं के स्वरूप और साधारण कार्यों मे एकरूपता दिखाई देती है, तथापि इनके बीच जो मौलिक अन्तर हैं उनको देखने पर यह स्पष्ट हो

जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ मान्यता और प्रकृति में राष्ट्रसंघ से पर्याप्त भिन्न है।"[1] एक बात और भी है और वह यह कि संयुक्त राष्ट्रसंघ एक निर्दोष संस्था नहीं है। इसमे अनेक त्रुटियाँ हैं जिनका सुधार होने पर यह संस्था और भी अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली बन सकती है। अभी यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून को यथेष्ट नैतिक और भौतिक समर्थन प्रदान करने मे असमर्थ है। इसके पास ऐसी ठोस सैनिक शक्ति का अभाव है जिसके बल पर यह सभी राष्ट्रों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करवा सके। आशा है कि विश्व के राजनीतिज्ञ उपयुक्त समय पर इन त्रुटियो का परिमार्जन करने मे समर्थ हो सकेंगे।

संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल्यांकन

सयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुए लगभग 35 वर्ष हो गए हैं। इन 35 वर्षों में उसका इतिहास-चित्र विचित्र रहा है। कुछ समस्याएँ उसने हल की और कुछ उसके मच पर पहुँच कर सुलझने के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चक्रव्यूह मे फँसकर और भी उलझ गईं। सयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना भावी सन्ततियों को युद्ध की विभीपिका से बचाने के लिए की गई थी। निःसन्देह इन 35 वर्षों में संसार को तृतीय विश्व-युद्ध का सामना नहीं करना पड़ा। भले ही केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ ही इसके लिए श्रेय का एकमात्र अधिकारी न हो। बड़े राष्ट्रो ने शक्तिशाली परमाणु-आयुद्धो से जो विराट् संहार-शक्ति संचित कर ली है, उसने भी विश्व-युद्ध को रोका है। कोई राष्ट्र आज इसलिए महायुद्ध आरम्भ नही कर सकता क्योंकि उसके लिए जो संहारक शक्ति वह प्रयोग मे लाएगा वह उसके प्रतिपक्षी को ही नहीं स्वयं उसे भी विनष्ट कर देगी। परन्तु केवल आत्म-विनाश के इस भय ने ही नही सयुक्त राष्ट्र-संघ के मच पर शान्ति के समर्थक देशों ने शान्ति के पक्ष मे जो वातावरण उत्पन्न किया है, उसने भी महायुद्ध को रोका है। फिर भी यह दु.ख की बात है कि छोटे-मोटे युद्ध संसार मे चलते ही रहे हैं और सयुक्त राष्ट्रसंघ उन्हें रोकने मे सफल नही हुआ है। जहाँ तक विश्व के देशों के आपसी विवादो का सम्बन्ध है, यह ठीक है कि सयुक्त राष्ट्रसघ मुख्यतः वाद-विवाद के मंच का काम ही करता रहा है। इस मच पर खडे होकर पक्ष-विपक्ष मे लोगों ने अपनी भडास निकाली है और भड़ास निकल जाने से वे विवाद अनेक बार ठण्डे पड गए हैं। विवादों के कभी-कभी उलझ जाने का एक कारण यह है कि बड़ी शक्तियाँ न्याय और सत्य की उपेक्षा कर अपने हानि-लाभ की कसौटी पर हर सवाल को परखती हैं और तदनुसार अपने निषेधाधिकार के अधिकार (हथियार) का प्रयोग करती रही हैं। जिस निषेधाधिकार को अन्याय का निवारक होना चाहिए था, अनेक बार वह अन्याय मे सहायक बना है।

इन तीन दशकों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के स्वरूप में एक बुनियादी परिवर्तन आ गया है। पहले जहाँ संयुक्त राष्ट्रीय मंच पर दो ही राष्ट्र-समूह थे, वहाँ आज गुट-

1 *Eagleton* : "Covenant of the League of Nations and the Charter of U. N. : Points of Difference." —Deptt. of State Bulletin, August 19, 1945.

निरपेक्ष और विकासशील देशों का समूह भी एक तीसरी शक्ति के रूप में उभर कर सामने आ गया है। बड़ी शक्तियाँ आज इस समूह की उपेक्षा नहीं कर सकती। अपनी एकाधिक असफलताओं के बावजूद संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व के लिए एक आशा की किरण है। इसीलिए आज उसके सदस्यों की संख्या 150 हो गई है।

सयुक्त राष्ट्रसघ को यदि महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त हो तो यह संस्था विश्व की बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान कर सकती है। पश्चिमी एशिया तथा साइप्रस मे शान्ति की स्थापना जैसी बड़ी समस्याओं का निदान राष्ट्रसंघ के प्रत्यक्ष तत्वावधान मे ही सम्भव है। सयुक्त राष्ट्रसघ को उपनिवेशवाद के उन्मूलन मे भी उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई है। इन्डोनेशिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, अल्जीरिया आदि को स्वतन्त्र कराने मे सघ के प्रयत्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए है। संघ की संरक्षण व्यवस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा मे वृद्धि की है और विश्व के अनेक प्रदेशों के निवासियो में स्वशासन की योग्यता विकसित करने मे सहायता पहुँचाई है। कुछ वर्ष पूर्व सघ की न्याय पद्धति के अन्तर्गत 11 देश थे जो अब स्वतन्त्र राज्यो के रूप मे विश्व के मानचित्र पर प्रतिष्ठित हैं। सघ अफ्रीका में बचे हुए साम्राज्यवादी उपनिवेशो की स्वतन्त्रता के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा है।

गैर-राजनीतिक कार्यों में सघ की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण और सफल रही है। इसकी विभिन्न सस्थाओ से विश्व के विभिन्न राष्ट्रो और समाजों को भारी लाभ पहुँचा है। श्रम सगठन ने श्रमिकों की दशा को उन्नत करने और खाद्य तथा कृषि संगठन ने अन्न का उत्पादन बढ़ाकर अकाल को नियन्त्रित करने की दिशा मे उल्लेखनीय प्रगति की है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने बीमारियों के प्रतिरोध में और यूनेस्को ने मानव के सांस्कृतिक विकास में बहुत सहायता पहुँचाई है। संघ के गैर-राजनीतिक कार्यों के मूल्यांकन के सम्बन्ध मे एक राज्याध्यक्ष के ये शब्द निश्चय ही सही हैं कि संयुक्त राष्ट्रसघ मे निःशस्त्रीकरण और राजनीतिक कार्यों का खरगोश तो अभी झपकी ही ले रहा है जबकि उसकी विशेष संस्थाओं की तकनीकी सहायता और सहयोग का कछुआ अपनी धीमी चाल से बहुत आगे बढ़ रहा है। सयुक्त राष्ट्रसंघ ने जल, थल और अन्तरिक्ष का प्रयोग मानव जाति के हित मे करने पर निरन्तर बल दिया है। संघ अन्तरिक्ष अनुसन्धान के लिए सहायता दे रहा है। सघ दैवी प्रकोप के समय भी सक्रिय होता जा रहा है। बाढ़, तूफान, अकाल और भूकम्प से होने वाले विनाश से राहत पहुँचाने में संघ ने अनेक अवसरों पर बड़ी तत्परता दिखाई है। सयुक्त राष्ट्रसंघ सहायता एवं विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत अपनी अनेक संस्थाएँ चला रहा है जो मानव विकास के लिए कार्यरत हैं। इन संस्थाओं मे प्रमुख हैं—यूनेस्को, विश्व बैंक, विश्व स्वास्थ्य संघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन, खाद्य एवं कृषि संघ, विश्व अणु शक्ति संस्था और संयुक्त राष्ट्र सघीय वाणिज्य एव व्यापार विकास सम्मेलन। सौ से भी अधिक देशों को विकास कार्यों के लिए हजारों मिलियन डॉलर की सहायता दी गई है। इसके अलावा खनिज पदार्थों की खोज मे भी सहायता दी जा रही है। साथ ही संघ पौष्टिक आहार, पौष्टिक तत्व, पुस्तक वितरण,

चिकित्सा आदि का कार्य भी कर रहा है। इतना ही नहीं, विश्व की बढ़ती आबादी की रोकथाम के लिए परिवार-नियोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत 80 से भी अधिक देशों को लाखों डॉलर प्रदान किए गए हैं। राष्ट्रसंघ के अनुमान के अनुसार वर्तमान शताब्दी के अन्त तक संसार की जनसंख्या लगभग साढ़े 7 अरब तक पहुँच जाएगी। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने आरम्भ से ही भारत के विकास कार्यों में दिलचस्पी दिखाई है।

अन्तिम विश्लेषण के रूप में यह कहना होगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ की राजनीतिक और गैर-राजनीतिक उपलब्धियों का पलड़ा इसकी असफलताओं की तुलना में बहुत अधिक भारी है। यदि महाशक्तियों द्वारा इस विश्व-संस्था को मुक्त हृदय से सहयोग दिया जाए, निषेधाधिकार का संयत और विवेक-सम्मत प्रयोग किया जाए, सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर उसमें भारत जैसे महान् देश को स्थान दिया जाए, साम्राज्यवादी और पूँजीवादी देशों के एकाधिकार पर प्रभावी रोक लगाने की दशा में प्रयत्न किए जाएँ, तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपयोगिता में चार चाँद लग जाएँगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का बदलता हुआ रूप आशा की नई किरणें उजागर कर रहा है। इस विश्व संस्था पर लगभग दो दशकों तक संयुक्त राज्य अमेरिका छाया रहा, पर अब उसकी मनमानी का अन्त हो रहा है। शोषित और पीड़ित एशिया तथा अफ्रीका के विकासशील देश अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मंच के प्रभावशाली अभिनेता बनते जा रहे हैं। वह दिन समाप्त हो चला है जब अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्र विश्व संस्था को अपनी "बपौती" मानकर चलते थे।



3 संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ का महाशक्तियों के रूप में उदय

(Rise of USA and Soviet Unionas Super Powers)

"इस दस्तावेज में जो बुनियादी सिद्धान्त निरूपित किए गए हैं वे उन उत्तरदायित्वों के लिए बाधक साबित नहीं होंगे जो अमेरिका और सोवियत संघ अन्य देशों के बारे में पहले अंगीकार कर चुके हैं।"

—संयुक्त घोषणा, मास्को शिखर वार्ता, 1972

जर्मनी और जापान की पराजय के साथ ही द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति हुई। 7 मई, 1945 को यूरोप में जर्मनी ने और 14 अगस्त, 1945 को एशिया में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार लगभग छः वर्ष तक चलने वाले मानव इतिहास के एक सबसे अधिक क्रूर, भयानक और विनाशकारी युद्ध का अन्त हुआ जिसने विश्व के लगभग प्रत्येक राष्ट्र, यहाँ तक कि प्रत्येक परिवार को किसी न किसी रूप मे प्रभावित किया था।

द्वितीय महायुद्ध इतना व्यापक और प्रभावकारी था कि इसके अन्त के साथ ही विश्व-इतिहास के एक युग का अन्त हो गया। एक नूतन युग का सूत्रपात हुआ जिसमें अनेक राज्य उभरे, नई महाशक्तियों का उदय हुआ, प्रभुत्व-क्षेत्र बदले, नई प्रवृत्तियों और नए सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में नई समस्याएँ उत्पन्न हुईं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक यूरोप विश्व-इतिहास का निर्माता था। सन् 1492 मे कोलम्बस द्वारा नई दुनिया अर्थात् अमेरिका की खोज से लेकर सन् 1939 तक के युग को विश्व-इतिहास का यूरोपीय युग कहा जाता है। लेकिन महायुद्ध ने इस 'यूरोपीय युग' का अन्त कर दिया। महायुद्ध ने यूरोप को आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक सभी दृष्टियों से पंगु बना दिया। महायुद्ध के बाद का यूरोप एक 'समस्या-प्रधान यूरोप' (A Problem Europe) बन गया। जर्मनी और इटली नष्ट हो गए तथा ब्रिटेन और फ्रांस तृतीय श्रेणी के राष्ट्र बन गए। विश्व-नेतृत्व यूरोप के हाथों से निकल कर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के हाथों में आ गया। महायुद्ध ने स्पष्ट कर दिया कि अब संसार में दो ही महाशक्तियाँ रह गई हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ। अब ये दोनों ही देश प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों के रूप में उदित हुए और युद्धोत्तर विश्व तेजी से इनके प्रभाव-क्षेत्रों में बँटने

लगा। दोनों राष्ट्र मानव-चिन्तन की दो प्रबल विचारधाराओं के प्रतीक बन गए। सोवियत सघ साम्यवादी विचारधारा का प्रतिनिधि बना तो संयुक्त राज्य अमेरिका लोकतन्त्रवादी आकांक्षाओं का पक्षधर बन गया। दो शिविर प्रकट हुए—सयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पूँजीवादी शिविर और सोवियत सघ के नेतृत्व मे साम्यवादी शिविर।

संयुक्त राज्य अमेरिका का महाशक्ति के रूप में उदय

द्वितीय महायुद्ध के बाद सयुक्त राज्य अमेरिका के उदय को एक 'महाशक्ति' (Super Power) के रूप मे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह भी देखें कि द्वितीय महायुद्ध से पहले तक सयुक्तराज्य अमेरिका की क्या स्थिति थी, क्या रीति-नीति थी।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अमेरिका

सयुक्तराज्य अमेरिका महायुद्ध के पूर्व से ही एक समृद्ध और शक्तिसम्पन्न देश था, लेकिन उसे 'महाशक्ति' का वह स्तर प्राप्त नही था जो युद्धोत्तरकाल मे प्राप्त हुआ। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक वह यथासम्भव पृथकतावादी नीति का अनुसरण करता रहा। राष्ट्रपति जैफरसन ने सन् 1801 में इस नीति को इन शब्दों मे स्पष्ट किया था—"शान्तिपूर्ण व्यापार सबके साथ, झंझट पैदा करने वाली सन्धियाँ किसी के साथ नहीं।" इसका आशय यही था कि अमेरिका यूरोपीय देशों के साथ व्यापार करेगा, लेकिन यूरोपीय राजनीति के जाल में नही फँसेगा। सन् 1823 मे अमेरिका की विदेश नीति में सुप्रसिद्ध 'मुनरो सिद्धान्त' (Munroe Doctrine) का प्रवेश हुआ। राष्ट्रपति मुनरो ने एक ओर तो यह कहा कि अमेरिका यूरोपीय विवादों मे पृथक् रहेगा, लेकिन दूसरी ओर यूरोपीय राज्यो को यह चेतावनी भी दी कि वे अमेरिकी महाद्वीप में साम्राज्यवादी चेष्टाओं से दूर रहें। यदि अमेरिकी गोलार्द्ध मे हस्तक्षेप किया गया तो इसे संयुक्त राज्य अमेरिका अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही समझेगा। दूसरे शब्दों में, मुनरो सिद्धान्त का अर्थ था—'तुम पृथक् रहो, हम भी पृथक् रहेंगे।' प्रथम महायुद्ध तक मुनरो सिद्धान्त और पृथकतावादी नीति का मेल भली-भाँति चलता रहा। लेकिन महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने पर अमेरिका के लिए इस परम्परागत नीति पर चलते रहना सम्भव नहीं रहा। प्रारम्भ मे तटस्थ रहने के बाद अमेरिका भी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध मे कूद पड़ा। इससे मित्रराष्ट्रो की शक्ति मे भारी वृद्धि हो गई और विजयी जर्मनी पराजित जर्मनी में बदल गया।

प्रथम महायुद्ध समाप्त होने के बाद राष्ट्रपति विल्सन ने अपने देश को अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के मार्ग पर चलाना चाहा, लेकिन अमेरिकी कांग्रेस इस बात के लिए तैयार नही हुई। सीनेट के विरोध के कारण अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य तक नही बन सका। इस प्रकार अमेरिका में पृथकतावादी नीति का पुनरोदय हुआ। सन् 1920 से 1932 तक अमेरिका के राजनीतिक क्षितिज पर रिपब्लिकन दल छाया रहा और पृथकतावाद (Isolationism) का बोलबाला रहा। इस नीति के अनुसरण के कारण अमेरिका को विश्व मे 'महाशक्ति' का स्तर प्राप्त नही हो

सकता था। मार्च, 1937 में फ्रेंकलिन रूजवेल्ट के राष्ट्रपति बनने पर अमेरिका पृथकतावाद से अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर मुड़ने लगा। फिर भी अमेरिका चाहता यही था कि मित्रराष्ट्रों के साथ सहानुभूति रखते हुए भी यूरोप के मामलों से यथासाध्य पृथक् रहे। सन् 1937 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने एक भाषण दिया जिसे अमेरिकी विदेश नीति में परिवर्तन का द्योतक कहा जाता है। शिकागो में दिया गया यह भाषण 'क्वारण्टीन वक्तृता' (Quarantine Speech) के नाम से विख्यात है। इस भाषण से यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ने अन्ततोगत्वा अहस्तक्षेप और तटस्थता की नीति से हटने का निश्चय कर लिया है और शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ सहयोग कर जर्मनी, जापान, इटली जैसे उग्र राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त कार्यवाही का समर्थन किया है। अब अमेरिका यूरोप की राजनीति में रुचि लेने लगा। अनेक ऐसी घटनाएँ हुईं जिनमें स्पष्ट हो गया कि अमेरिका अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से उदासीन नहीं रहना चाहता। वह एक सबल और सुदृढ़ देश के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपनी प्रतिष्ठा चाहता है।

द्वितीय महायुद्ध काल में अमेरिका

द्वितीय महायुद्ध का विस्फोट होने पर अमेरिका में इस प्रश्न पर गम्भीर मतभेद रहा कि वह युद्ध में सम्मिलित हो या नहीं। लेकिन जब 7 दिसम्बर, 1941 को जापान ने पर्लहार्बर के अमेरिकी नौ सैनिक अड्डे पर बम वर्षा कर दी तो 8 दिसम्बर को ही अमेरिका ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार अब 'पुरानी दुनिया' तक सीमित युद्ध 'नई दुनिया' में भी प्रवेश कर गया और अमेरिका जैसा सबल तथा साधन-सम्पन्न राष्ट्र ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्रराष्ट्रों के पक्ष में मैदान में आ गया। महायुद्धकाल में अमेरिका ने अपनी महान् सैनिक शक्ति का प्रदर्शन किया जिससे शत्रुराष्ट्रों (जर्मनी, जापान, इटली आदि) की पराजय निश्चित हो गई। युद्ध के दौरान अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों के पक्ष में अपने सैनिक भी झोंके, उन्हें शस्त्रास्त्र भी दिए और उनके लिए डॉलर की थैलियाँ भी खोल दीं। इस सैनिक और आर्थिक सहायता ने अमेरिका का सिक्का जमा दिया और एक 'महाशक्ति' के रूप में उदय होने का उसका मार्ग प्रशस्त हो गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमेरिका एक 'महाशक्ति' के रूप में

द्वितीय महायुद्ध संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए प्रच्छन्न रूप में एक वरदान सिद्ध हुआ। प्रथम महायुद्ध ने अमेरिका को एक ऋणी राष्ट्र से ऋणदाता राष्ट्र का रूप दिया था और द्वितीय महायुद्ध ने अधिकांश विश्व को उसके आर्थिक प्रभुत्व से आच्छादित कर दिया। कारण स्पष्ट था कि महायुद्ध में अमेरिका को उस घोर विनाश का सामना नहीं करना पड़ा जिसका अन्य मित्र और शत्रुराष्ट्रों को करना पड़ा था। जर्मनी, ब्रिटेन, रूस, इटली, फ्रांस आदि सभी राष्ट्र भयंकर बमवर्षा के शिकार हुए थे और ब्रिटेन को छोड़कर इन सभी देशों की भूमि पर रक्तरंजित युद्ध हुए थे। सौभाग्यवश अमेरिका ही इस दुर्दशा से बचा रहा। न उसकी भूमि पर युद्ध लड़ा गया और न उसे दूसरे देशों के समान क्रूर बमवर्षा का शिकार होना

इसीलिए जहाँ युद्धकाल में दूसरे देश आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से अस्त-व्यस्त हो गए, वहाँ अमेरिका की आर्थिक समृद्धि पर कोई आँच नहीं आई। युद्ध के बाद यूरोप का चित्र 'दर्दनाक' था, सैनिक दृष्टि से यूरोप के राष्ट्र अत्यधिक दुर्बल थे, आर्थिक दृष्टि से वे लगभग मौत के मुँह में थे, वहाँ अमेरिका इन सब कठिनाइयों और दुर्दशाओं से बचा हुआ था। सैनिक दृष्टि से भी वह अत्यधिक सबल था और आर्थिक दृष्टि से भी। इसीलिए उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और अब वह सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक तीनों ही दृष्टियों से पूँजीवादी जगत् का नेता बन गया। युद्धकाल में उसका उत्पादन गिरने के बजाय बढ़ा। औद्योगिक उत्पादन में लगभग 50 प्रतिशत और कृषि उत्पादन में लगभग 36 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अणु बम का रहस्य भी उसके पास था, जापान पर अणु बम गिराकर वह अपनी महान् विनाशक क्षमता का परिचय दे चुका था। अतः स्वभावतः युद्ध से पीड़ित और ध्वस्त राष्ट्र उसके झण्डे के नीचे आ खड़े हुए और उन्होंने उसका नेतृत्व स्वीकार कर लिया। जिस लोकतन्त्रवादी जगत् का नेतृत्व पहले ब्रिटेन के हाथों में वह अब संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में आ गया। प्रत्येक देश उसकी सहायता पाने के लिए लालायित था।

28 अक्तूबर, 1945 को अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश नीति के जिन 'बारह सूत्रों' (Twelve Points) की घोषणा की उनसे यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका अब 'नेतृत्व' से पीछे नहीं हटना चाहता, 'महाशक्ति' की अपनी भूमिका निभाने के लिए दृढ़ इन बारह सूत्रों में मुख्यतः निम्नलिखित सूत्र अमेरिका की महत्त्वाकांक्षा को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं—

(क) अमेरिका चाहता है कि जिन देशों से सर्वोच्च प्रभुसत्ता के अधिकार बलपूर्वक छीने गए थे, वे उन्हें वापस किए जाने चाहिए।

(ख) अमेरिका किसी मित्र देश में, जनता की सहमति के बिना किए गए, किसी प्रादेशिक परिवर्तन को स्वीकार नहीं करेगा।

(ग) अमेरिका देखेगा कि स्वशासन के योग्य देशों को विदेशी हस्तक्षेप के बिना अपने शासन का स्वरूप चुनने में स्वाधीनता मिले।

(घ) अमेरिका अपने साथियों के साथ सहयोग करते हुए पराजित देशों में शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना के लक्ष्य पर चलेगा।

(ङ) अमेरिका ऐसी किसी सरकार को मान्यता नहीं देगा जो विदेशी शक्ति द्वारा किसी देश पर बलपूर्वक थोपी गई हो।

(च) विश्व में कच्चे माल की प्राप्ति और व्यापार में सब देशों को स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(छ) अमेरिका विश्व में विचार अभिव्यक्ति और धर्म की स्वतन्त्रता की वृद्धि का प्रयत्न करेगा।

(ज) विश्व में दरिद्रता दूर करने और जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिए सब देशों में पूर्ण आर्थिक सहयोग होना चाहिए।

ये नीति-बिन्दु अमेरिका की महत्त्वाकांक्षा के प्रतीक थे जिनमें अमेरिका मानो यह कह रहा था कि उसने दुनिया को बचाने, सुधारने तथा दुनिया में अपनी सरकारें स्थापित करने का ठेका ले लिया है। इन उद्देश्यों में अमेरिका के 'डॉलर साम्राज्यवाद' की गूंज थी। अमेरिका अब पृथकतावादी नीति से बिलकुल हट चुका था अर्थात् यह नीति अमेरिका के लिए अब मृत हो चुकी थी। अमेरिका ने अब राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक हस्तक्षेप की नीति पर चलना शुरू कर दिया था। उसको चुनौती देने वाला एकमात्र राष्ट्र सोवियत संघ था। अत. अमेरिका के नीति-निर्माताओं और प्रशासकों ने यह निश्चय कर लिया कि उनका देश प्रत्येक स्तर पर सोवियत संघ के प्रभाव और साम्यवाद के प्रसार को रोकेगा। इसे 'अवरोध नीति' (Policy of Containment) की संज्ञा दी गई। इसके फलस्वरूप मार्शल योजना का निर्माण हुआ जिस पर अप्रेल, 1948 में अमेरिकी कांग्रेस ने स्वीकृति की मोहर लगा दी। इस योजना का उद्देश्य युद्ध द्वारा ध्वस्त यूरोप का पुनरुद्धार कर उसे 'साम्यवाद से बचाना' था। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्ष (1947–51) में अमेरिका ने यूरोप को लगभग 11 मिलियन डॉलर की सहायता दी। इस नीति के दो स्पष्ट परिणाम दृष्टिगोचर हुए—एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया तथा दूसरी ओर अमेरिका पश्चिमी जगत् का सर्वमान्य नेता बन गया।

'महाशक्ति' के रूप में अमेरिका के इरादे तब और भी स्पष्ट हो गए जब जनवरी, 1949 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने प्रसिद्ध 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Points Programme) की घोषणा की। ट्रूमैन ने यह स्पष्ट कर दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया है, आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाने का निश्चय किया है और अल्पविकसित देशों के उत्थान के लिए पुनः प्राविधिक सहायता देने का निर्णय किया है। इस कार्यक्रम के मूल में अमेरिका के राष्ट्रीय हित निहित थे। यह चार सूत्री कार्यक्रम 'शीत-युद्ध' का एक अस्त्र था, अर्द्ध-विकसित देशों का समर्थन प्राप्त करने की एक कूटनीतिक चाल थी। 'चार सूत्री कार्यक्रम' के फलस्वरूप अमेरिकी विदेश नीति का कार्य विश्व-व्यापी हो गया। अब यह निश्चय किया गया कि "जहाँ-कहीं शान्ति भंग करने वाली प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमण की कार्यवाही होगी, उसे संयुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा के लिए संकट माना जाएगा और अमेरिका उसे रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा।"

आर्थिक क्षेत्र में तो अमेरिका ने अपना नेतृत्व स्थापित कर ही लिया, सैनिक क्षेत्र मे भी उसने स्वयं को पूरी तरह एक महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए अनेक कदम उठाए। अन्य देशों के साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम की नीति आरम्भ की गई जिसके फलस्वरूप अप्रेल, 1948 में नाटो (NATO) की स्थापना हुई। इस सन्धि-संगठन द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका पश्चिमी यूरोप के साथ सैनिक गठबन्धन में बँध गया। साम्यवादी जगत् के लिए यह

एक चेतावनी थी कि वह नाटो के सदस्य-देशों पर आक्रमण करने का साहस न करें। इस सन्धि ने यूरोपीय देशों को एक सुरक्षा-आवरण प्रदान किया ताकि वे अपने आर्थिक और सैनिक विकास कार्यक्रम तैयार कर सकें। इस सन्धि द्वारा अमेरिका ने यह दायित्व सम्भाल लिया कि वह साम्यवाद विरोधी किसी भी युद्ध के लिए सदैव तैयार रहेगा। 'नाटो-फार्मूला' का प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी किया गया। नाटो-सदस्यों को सैनिक सहायता दी गई, सदस्य-देशों मे सैनिक अड्डे स्थापित किए गए तथा विभिन्न देशो के साथ मैत्री-सन्धियाँ क्रियान्वित की गई।

सयुक्त राष्ट्रसघ में भी अमेरिका ने सक्रिय नेतृत्व की भूमिका निभाना प्रारम्भ कर दिया। वह सुरक्षा परिषद् मे रूस विरोधी सदस्यो का अगुआ बन गया और सयुक्त राष्ट्रसघ *'महाशक्तियो के दाव-पेंच का अखाड़ा' बन गया।* जब सन् 1946 मे सुरक्षा परिषद् मे यूनान सम्बन्धी विवाद प्रस्तुत हुआ तो अमेरिका और रूस तथा उनके साथी राष्ट्र 'शीत-युद्ध' को विश्व संस्था मे घसीट लाए। संयुक्त राष्ट्रसंघ पर अमेरिका का प्रभाव व्याप्त हो गया और सघ के निरीक्षण मे वस्तुतः अमेरिका द्वारा ही यूनान को आर्थिक और सैनिक सहायता दी गई। जब सन् 1950 मे कोरिया *का गृहयुद्ध छिड़ा तो मुख्य रूप से अमेरिका के प्रयत्नो से ही सुरक्षा* परिषद् ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर सैनिक हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। जुलाई, 1950 मे सयुक्त राष्ट्रसघ के झण्डे के नीचे जिन 16 राष्ट्रों की संयुक्त सैनिक कमान की स्थापना हुई उसका सेनापति अमेरिका के जनरल मैकार्थर को बनाया गया। अमेरिका की प्रबल सैनिक शक्ति के कारण ही संयुक्त *राष्ट्रसंघ कोरिया-युद्ध मे सफल हो सका। वास्तव में सारा युद्ध अमेरिका ने लड़ा,* केवल उस पर 'लेबल' सयुक्त राष्ट्रसघ का लगा था।

इस प्रकार आर्थिक, सैनिक और राजनीतिक सभी स्तरों पर अमेरिका एक महाशक्ति के रूप मे उभर आया। चहुँमुखी प्रयासों के फलस्वरूप अमेरिका का प्रभाव क्षेत्र निरन्तर विस्मृत होता गया और वह 'मुक्त विश्व' (Free World) का एकछत्र नेता बन गया। आज भी अमेरिका विश्व की महाशक्ति नम्बर एक बना हुआ है।

महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ का उदय

द्वितीय महायुद्ध से क्षतिग्रस्त और अस्त-व्यस्त विश्व मे केवल एक ही देश ऐसा बचा जो सयुक्त राज्य अमेरिका को चुनौती देने में सक्षम था, और यह देश था सोवियत संघ। यूरोपीय महाद्वीप पर सोवियत संघ ही एक ऐसा राष्ट्र था जो युद्ध-कालीन महान् क्षतियो के बावजूद शक्तिशाली था। यद्यपि महायुद्ध के कारण लगभग 2½ करोड़ रूसी गृहहीन हो गए थे, लाखो रूसी सैनिको और नागरिको को प्राणो से हाथ धोना पड़ा था और लगभग 8 लाख वर्ग मील रूसी प्रदेश 'राख का ढेर' बन गया था, तथापि ये सभी बलिदान और संकट रूस के लिए 'वरदान' सिद्ध हुए। ऐसी अनेक बातें रूस के अनुकूल पड़ी जिनके कारण उसका प्रादेशिक विस्तार हुआ, उसके राजनीतिक तथा सैनिक प्रभाव मे वृद्धि हुई और वह विश्व की दूसरी महाशक्ति

के रूप में उभर कर सामने आया। द्वितीय महायुद्ध के बाद एक महाशक्ति के रूप मे रूस के उदय को भी आवश्यक पृष्ठभूमि में देखना उपयुक्त होगा।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व रूस

सन् 1917 की महान् बोल्शेविक क्रान्ति ने रूस में जारशाही का अन्त कर साम्यवादी शासन की स्थापना की। साम्यवादी रूस ने स्वयं को युद्ध से पृथक् कर लिया। पश्चिमी पूंजीवादी राष्ट्रों ने रूस की नई शासन-व्यवस्था को समाप्त कर देने का चक्रव्यूह रचा और रूस में सैनिक हस्तक्षेप भी किया, लेकिन ये सारे प्रयत्न निष्फल हुए। सन् 1921 के समाप्त होते-होते साम्यवादी सरकार ने अपने पैर पूरी तरह जमा लिए। इसके बाद सन् 1921 से 1934 तक रूस ने 'रक्षात्मक पार्थक्य' (Defensive Isolation) की नीति का अनुसरण किया। इस काल मे रूस ने आत्मरक्षा की दृष्टि से विभिन्न शक्तियों के साथ सन्धियां सम्पन्न की, उनसे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए और दूसरे देशों में साम्यवादी प्रचार करना कम कर दिया। वह सामान्यतया पश्चिमी देशों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग रहा और राष्ट्रसघ की सदस्यता भी उसने ग्रहण नही की। रूस ने पूंजीवादी राज्यों से समझौता करने की नीति का अनुसरण किया, किन्तु साथ ही अन्य देशों में साम्यवादी क्रान्ति फैलाने का प्रयत्न भी करता रहा। अतः पश्चिमी राज्य रूस को अविश्वास और सन्देह की दृष्टि से देखते रहे। अमेरिका ने सन् 1933 मे रूस को मान्यता प्रदान की। दोनो देशों के बीच एक सन्धि हुई जिसमे दोनों ने एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा का और विरोधी प्रचार करने वाले दलों के दमन का वचन दिया। यह सन्धि रूस के लिए बहुत हितकर थी क्योंकि इसके बाद ही रूस की साम्यवादी सरकार को संसार की सभी बड़ी शक्तियों ने मान्यता प्रदान कर दी। सन् 1934 में रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। अनेक देशो के साथ उसकी संधियां हुई। सन् 1936 तक रूस एक विशाल शक्तिसम्पन्न देश गिना जाने लगा। इस प्रकार रूस के लिए एक महाशक्ति बनने की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। रूस को जर्मनी की ओर से आशंका थी, अतः सन् 1939 में उसने जर्मनी के साथ अनाक्रमण समझौता कर लिया। यह समझौता पश्चिमी देशों को आश्चर्यचकित कर देने वाला था क्योंकि वे तो जर्मनी को रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रहे थे। इस समय रूस का सारा कूटनीतिक खेल एक बहुत ही कुशल और मेधावी खिलाड़ी जैसा था जो यह भलीभांति जानता था कि पश्चिमी देश विश्वासघात कर रहे हैं और जर्मनी पर भी भरोसा नही किया जा सकता। इसीलिए रूस भीतर ही भीतर स्वयं को शक्तिशाली बनाने के लिए निरन्तर सैनिक तैयारियां भी करता रहा।

द्वितीय महायुद्ध काल में रूस

सितम्बर, 1939 में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। रूस प्रारम्भ में तटस्थ रहा, लेकिन जून, 1941 मे जर्मन-आक्रमण होने पर वह पूरी शक्ति के साथ युद्ध मे कूद पड़ा। युद्धकाल मे अनेक उतार-चढ़ाव आए, लेकिन रूसी सेनाओं ने अपनी युद्ध-कला, दृढ़ता और वीरता का सिक्का जमा लिया। भारी क्षति सहने के बाव-

रूस का एक विजयी राष्ट्र के रूप में उदय हुआ और ये रूसी सेनायें ही थी जिन्होने सबसे पहले बर्लिन के सर पर चोट की। जब जर्मन-राजधानी बर्लिन पर मित्रराष्ट्रों का अधिकार हुआ तो बर्लिन चार भागो मे विभाजित हुआ जिनमें एक भाग पर रूस का कब्जा रहा। युद्धकाल में जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए तथा मित्रराष्ट्रों के साथ रूस के जो समझौते हुए उनमे रूस ने अपने हितो की पूरी तरह रक्षा की। युद्धकाल मे ही उसने अपनी प्रादेशिक सीमाओ का भी विस्तार कर लिया।

रूस के पक्ष में महायुद्ध के परिणाम और 'महाशक्ति' के रूप में रूस का उदय

महायुद्ध मे बलिदान और सकट रूस के लिए 'वरदान' सिद्ध हुए। महायुद्ध के परिणामो और महायुद्ध के बाद अपनाई गई नीतियो के कारण रूस अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में 'महाशक्ति' के रूप मे प्रतिष्ठित हो गया।

(क) युद्धकाल में सीमाओं का विस्तार—महायुद्धकाल में ही रूस ने अपनी सीमाओ का पश्चिम मे विस्तार कर लिया और पूर्वी केन्द्रीय यूरोप को अपने नियंत्रण मे ले लिया। वास्तव मे महायुद्ध मे रूस स्पष्ट और निश्चित ऐतिहासिक लक्ष्यों को लेकर अग्रसर हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से वह तीन दिशाओ मे विस्तार का आकांक्षी था—पश्चिम की ओर यूरोप मे, दक्षिण की ओर पूर्वी भूमध्यसागर के निकटवर्ती प्रदेश मे तथा पूर्व मे प्रशान्त सागर की ओर। इस प्रादेशिक विस्तार के अतिरिक्त रूस यह भी चाहता था कि पडोसी यूरोपीय देशो पर भी उसका प्रभाव जम जाए। महायुद्ध ने रूस को इन ऐतिहासिक लक्ष्यों को प्राप्त करने का अवसर दिया। सन् 1918 मे रूस को जितने भू-भाग की हानि हुई थी उसे उसने पुनः प्राप्त कर लिया। रूस ने अपनी सीमा में (इतिहास मे पहली बार) सभी रूसी आबादी वाले क्षेत्रों को सम्मिलित किया, पूर्वी यूरोप में अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया और सुदूरपूर्व मे अपनी स्थिति सुदृढ बनाए रखी। अवश्य ही पूर्वी भूमध्यसागर के सम्बन्ध मे रूस अपने ऐतिहासिक लक्ष्य प्राप्त नही कर सका।

(ख) पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुता का विस्तार—महायुद्धकाल मे पूर्वी यूरोप के लगभग सभी देशो को लाल सेना ने जर्मन दासता से मुक्ति दिलाई थी और इन देशो की साम्यवादी पार्टियों ने जर्मनी के विरुद्ध छापामार सघर्षो का नेतृत्व किया था। युद्धोपरान्त इन देशों में राजनीतिक सत्ता भी साम्यवादियो के हाथ में आई और सोवियत रूस के लिए इस क्षेत्र मे अपने प्रभुत्व का विस्तार का मार्ग सरल हो गया। युद्ध के उपरान्त सन् 1948 तक की तीन वर्ष की अल्पावधि मे ही यूरोप के सात देश पूरी तरह 'लाल' बन गए। फरवरी, 1945 के याल्टा सम्मेलन मे रूजवेल्ट, स्टालिन और चर्चिल ने 'विमुक्त यूरोप सम्बन्धी घोषणा' (Declaration on Liberated Europe) पर हस्ताक्षर किए थे, लेकिन स्टालिन ने याल्टा-भावना को ठुकराते हुए पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुत्व का विस्तार कर दिया। उसने सन् 1947 और सन् 1948 की सन्धियो द्वारा फिनलैण्ड को भी अपने नियन्त्रण में ले लिया। फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता तो कायम रही, लेकिन उसे यह वचन देना पड़ा कि

वह रूस विरोधी विदेश नीति नहीं अपनाएगा। स्टालिन ने पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारों की स्थापना करायी और इस प्रकार सोवियत राष्ट्रीय सुरक्षा-पंक्ति को सुदृढ बनाया। इन देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों के विकास के लिए भी समझौते किए गए। सन् 1947 की 'मोलोटोव योजना' में पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए उनके औद्योगीकरण पर बल दिया गया। पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, हगरी के साथ व्यापारिक सन्धियाँ की गईं। पूर्वी यूरोप के देशों के साथ आर्थिक सहयोग को घनिष्ठ बनाने के लिए सन् 1949 में पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद् (Council for Economic Mutual Assistance—Com. Con.) स्थापित की गई। यह 'कौम-कौन' पश्चिम द्वारा स्थापित 'यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम' (European Recovery Programme—E. R. P.) की एक प्रकार से जवाबी कार्यवाही थी। सोवियत सघ मे पूर्वी यूरोप के देशों के साथ सैनिक सन्धियाँ युद्धकाल में ही की जा चुकी थीं। इसके बाद मार्च, 1946 से अप्रैल, 1949 तक 17 द्वि-पक्षीय सन्धियाँ की गईं। आगे चलकर मई, 1955 मे इन देशो ने वारसा पैक्ट पर हस्ताक्षर किए और इस प्रकार सोवियत संघ के साथ ये देश और भी अधिक दृढ़ता से बँध गए।

रूस का प्रादेशिक प्रभुत्व-विस्तार वस्तुतः आश्चर्यजनक था। सन् 1939 मे रूस ने अपने क्षेत्र मे लगभग 27 करोड 40 लाख वर्गमील की वृद्धि कर ली और साथ ही लगभग 36 करोड़ वर्गमील क्षेत्र के सात राज्य मास्को के समर्थक बन गए। इन देशों के अतिरिक्त अधिकृत पूर्वी जर्मनी भी रूसी सरक्षण मे ही था और वहाँ समाजवाद के सिद्धान्तो पर आधारित शासन-प्रणाली कायम की जा चुकी थी।

(ग) **आन्तरिक क्षेत्र में सुदृढ़ता**—किसी भी देश की आन्तरिक शक्ति उसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा दिलाने में बहुत सहायक होती है। द्वितीय महायुद्धकाल मे यद्यपि रूस को भारी झटके लगे, रूसी जन-धन की भयावह हानि हुई, तथापि रूस में साम्यवादी शासन-व्यवस्था की नींव कमजोर नही हुई। विपुल संकटों को झेलकर भी रूस विजयी हुआ, अतः आन्तरिक क्षेत्र मे स्टालिन का और उसके शासन का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। सैनिक गुट का प्रभाव समाप्त हो गया और साम्यवादी दल में जो अवांछनीय तत्त्व थे वे भी स्टालिन का लोहा मानने लगे।

(घ) **विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार**—जिस स्टालिन ने प्रथम महायुद्ध के बाद ट्रॉट्स्की के विश्व-क्रान्ति के विचार का विरोध किया था, वही द्वितीय महायुद्ध के बाद इस नीति का प्रबल पोषक बन गया। साम्यवादी क्रान्ति को दूसरे देशों में फैलाने के लिए स्टालिन के नेतृत्व में रूस ने विभिन्न उपायो का सहारा लिया। यूनान के गृह-युद्ध मे यूनानी साम्यवादियो को पड़ोसी साम्यवादी देशों के माध्यम से सहायता पहुँचाई गई। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International) के विश्वव्यापी क्रान्तिकारी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए सन् 1947 में विभिन्न देशों में साम्यवादी पार्टियो के नेताओ ने वेलग्रेड में 'कॉमिनफार्म' की स्थापना की। इसका उद्देश्य विश्वव्यापी साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व करना था। स्टालिन चाहता था कि

पूर्व और पश्चिम में रूसी साम्राज्य का विस्तार हो, रूसी सीमाओं पर रूस समर्थक राज्यों की सरकारें स्थापित हों और पुराने बुर्जुआ साम्राज्य नष्ट हो। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर स्टालिन ने विश्व समस्याओं के समाधान में समझौतावादी नीति न अपनाना ही उचित समझा। वह अड़ंगेबाजी की नीति पर चलकर शान्ति-व्यवस्था को टालना चाहता था ताकि संसार की स्थिति सोवियत संघ के लिए और भी अनुकूल हो जाए।

(ङ) **लौह-आवरण की नीति**—स्टालिन को भय था कि यदि पाश्चात्य लोकतन्त्र के जीवाणु सोवियत संघ मे प्रवेश कर गए तो वह साम्यवादी शासन के लिए एक अशुभ बात होगी। इसीलिए उसने लौह-आवरण (Iron Curtain) की नीति अपनाई ताकि रूस को सभी प्रकार के पश्चिमी प्रभावों से अछूता रखा जा सके। महायुद्ध के तुरन्त बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिमी राज्यों ने साम्यवाद के विरुद्ध जोर-शोर से जहरीला प्रचार शुरू कर दिया। साम्यवादी देशों के इर्द-गिर्द अज्ञात रेडियो स्टेशन स्थापित किए गए जिनके नाम 'आजाद हंगरी रेडियो', 'आजाद पोलैण्ड रेडियो' आदि रखे गए। किन्तु स्टालिन भी पूरा 'घाघ' था। उसने विभिन्न प्रतिबन्ध लगाकर साम्यवादी जगत् के चारों ओर ऐसी दीवार खड़ी कर दी कि साम्यवाद-विरोधी प्रचार प्रवेश न कर सके। स्टालिन ने रूस और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों को गैर-साम्यवादी देशों के सम्पर्क से पृथक् रखने का निश्चय कर लिया था। कठोर कानूनों द्वारा सन् 1945 से ही रूसियों का बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क रोक दिया गया। उदाहरणार्थ, एक कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई कि युद्ध के समय रूस में आए हुए विदेशी सैनिकों के साथ जिन रूसी स्त्रियों ने विवाह किया था वे अपने पतियों के पास विदेश नहीं जा सकेंगी। एक अन्य कानून द्वारा विदेशियों के साथ सोवियत नागरिकों के विवाहों पर रोक लगा दी गई। विदेशी राजदूतों और पत्र-प्रतिनिधियों के साथ भी बहुत कठोरता का व्यवहार किया गया। विदेशों में स्थित सोवियत राजदूतों पर भी कठोर अनुशासनात्मक प्रतिबन्ध लगाए गए।

(च) **'शान्तिवादी आन्दोलन' की कूटनीति**—सोवियत रूस के पक्ष मे एशिया और अफ्रीका का समर्थन प्राप्त करने के लिए सोवियत संघ ने युद्ध के कुछ समय ही बाद 'शान्ति आन्दोलन' (Peace Offencive) आरम्भ किया। पूँजीवादी पश्चिम को 'युद्ध-लोलुप' (War-Monger) कहा गया। सन् 1950 मे स्टॉकहोम विश्व-शान्ति समिति द्वारा आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाने की अपील पर उचित समय पर लगभग 50 करोड लोगों के हस्ताक्षर प्राप्त कराए गए। इस शान्ति आन्दोलन ने एशिया और अफ्रीका की विशाल जनसंख्या को बहुत प्रभावित किया। वे साम्यवाद की ओर आकर्षित होने लगे तथा सोवियत संघ को पश्चिम की तुलना मे अधिक शान्तिप्रिय और साम्राज्य विरोधी मानने लगे। साम्यवादियों ने इस आन्दोलन में सब देशों के मजदूरों, स्त्रियों और बच्चों से सहयोग मांगा। जहाजी श्रमिकों मे यह प्रचार किया गया कि अमेरिका से शस्त्रास्त्रों को लाने वाले जहाजों से माल न उतारा जाए और हड़ताल कर दी जाए। प्रचार की दृष्टि से शान्तिवादी आन्दोलन को प्रारम्भ करने में पर्याप्त सफलता हुई। यद्यपि स्टालिन अपने अनुदार दृष्टिकोण के कारण इस आन्दोलन से रूस को अधिक लाभान्वित नहीं कर सका,

तथापि विश्व के देशों में रूसी शक्ति और रूसी क्षमता की चर्चा होने लगी। पश्चिमी देश भी यह समझ गए कि यदि पूंजीवादी गुट मे अमेरिका जैसी महाशक्ति है तो साम्यवादी गुट में रूस जैसी महाशक्ति है जो अमेरिका को टक्कर देने में सक्षम है।

(छ) रूस द्वारा विनाश के घावों को धो डालना—रूस ने महायुद्ध के फोड़ों की थोड़े ही समय मे आश्चर्यजनक रूप से मलहम-पट्टी कर ली। रूसी नागरिकों मे आत्म-विश्वास का अभूतपूर्व प्रादुर्भाव हुआ। रूस ने समाजवादी पद्धति के कारण, द्रुत गति से अपना पुनर्निर्माण कर लिया और नाजी आक्रमण की कड़वी स्मृतियों को मिटा डाला। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी रूसी सेना मे कोई विशेष कमी नहीं की गई, इसके विपरीत आधुनिकतम शस्त्रास्त्र बनाने पर विशाल धनराशि व्यय की गई।

(ज) अणु-शक्ति पर अमेरिका के एकछत्र स्वामित्व को भंग करना—सैनिक स्तर पर सच्चे अर्थों में एक महाशक्ति बनने के लिए यह आवश्यक था कि रूस भी अमेरिका के समान अणु-शक्ति का स्वामी बनता। रूस ने इस दिशा मे प्राणपण से चेष्टा की और अगस्त, 1953 में अपना प्रथम आणविक विस्फोट किया। इससे रूस की प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गए तथा उसे सयुक्त राज्य अमेरिका का वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी माना जाने लगा। रूस ने अल्पकाल मे ही विभिन्न प्रकार के अणु-आयुधों और अणु-बमों का निर्माण कर अमेरिका के लिए गम्भीर चुनौती प्रस्तुत कर दी।

(झ) नाटो के जवाब में वारसा-पैक्ट—पश्चिमी राष्ट्रों और अमेरिका के सैन्य-संगठन के जवाब मे रूस ने भी ऐसे सगठनों की स्थापना की। सन् 1955 मे वारसा-पैक्ट की स्थापना कर नाटो की ईंट का जवाब पत्थर से दिया गया। विभिन्न राष्ट्रों के साथ सैनिक सन्धियाँ की भी गईं।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में दो महाशक्तियों का उदय हुआ—सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सघ। विश्व में शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र उभर कर सामने आए और लगभग सन् 1954-55 तक विश्व मे दृढ द्वि-ध्रुवीयता (Tight Bipolarity) का बोलबाला रहा। दोनों महाशक्तियाँ एक दूसरे की जबर्दस्त प्रतियोगी बन गईं और दोनो ही के नेतृत्व में दो विरोधी गुटों का निर्माण होता गया। महाशक्तियो की प्रतिस्पर्द्धा विशेषकर यूरोप में बहुत तीव्र रही जिससे न केवल शीत-युद्ध मे तीव्रता आई बल्कि प्रतिद्वन्द्वी सन्धियों और अनेक सैनिक गुटों का निर्माण भी तेजी से हुआ। सन् 1955 के प्रारम्भ में स्थिति यह थी कि जहाँ विश्व-शान्ति और संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता केवल 59 सम्प्रभु राज्यों तक सीमित थी वहाँ अमेरिका और ब्रिटेन एक ओर तथा रूस और अन्य राष्ट्र दूसरी ओर लगभग 60 से भी अधिक राज्यों के साथ बँधे थे।[1] सन् 1955 के मध्य द्वि-ध्रुवीयता शिथिल होने लगी और धारा बहुकेन्द्रवाद (Polycentricism) की ओर बहने लगी। आज यद्यपि शक्ति के अनेक केन्द्र कम से कम चार या पाँच उभर आए हैं फिर भी महाशक्तियों के रूप मे वस्तुतः अमेरिका और रूस की ही गणना की जाती है। निकट भविष्य में साम्यवादी चीन और भारत भी महाशक्तियों का दर्जा पा सकेंगे, इसकी सम्भावनाएं प्रबल है।

---

1 *Rosen and Jones* : The Logic of International Relations,

4 नि.शस्त्रीकरण
(DISARMAMENT)

निःशस्त्रीकरण की समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी विश्व-शान्ति की। आज के आणविक युग में तो यह समस्या हमारे जीवन-मरण की समस्या बन गई है। शस्त्रास्त्रों के इस भयावह संकट के बावजूद शस्त्रीकरण की होड़ इसीलिए जारी है कि आज राष्ट्रों में सम्बन्ध पारस्परिक अविश्वास और दूसरे राष्ट्रों के इरादों के बारे में निरन्तर भय से ओतप्रोत हैं। निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की उन समस्याओं में से हैं जो निरन्तर विचार-विमर्श के बावजूद गम्भीरतम रूप धारण किए हुए है। अनवरत प्रयासों के बावजूद शस्त्रीकरण की होड़ तेजी से जारी रही।

निःशस्त्रीकरण : अर्थ एवं प्रकार

अमेरिका की इन्स्टीट्यूट फोर डिफेंस अनालिसेस (वाशिंगटन डी. सी.) ने निःशस्त्रीकरण की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है—

"कोई भी एक योजना जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निःशस्त्रीकरण के किसी भी एक पहलू—जैसे संख्या, प्रकार, शस्त्रों की योजना-प्रणाली, उसका नियन्त्रण, उनकी सहायता के लिए पूरक यन्त्रो का निर्माण, प्रयोग व वितरण, गुप्त सूचनाएँ एकत्र करने के संयन्त्र, सेना का संख्यात्मक स्वरूप आदि को नियमित करने से सम्बन्धित हो, निःशस्त्रीकरण की श्रेणी में आती है।"

सामान्य अर्थ में निःशस्त्रीकरण वह कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य शस्त्रों के अस्तित्व और उनकी प्रकृति से उत्पन्न कुछ विशिष्ट खतरों को कम अथवा समाप्त कर देना है। प्रो. मॉर्गेन्थो के अनुसार "नि शस्त्रीकरण से आशय शस्त्रो की दौड़ समाप्त करने के लिए अथवा शस्त्रों को कम या समाप्त कर देने से है।"

निःशस्त्रीकरण सामान्य (General), स्थानीय (Local), मात्रात्मक (Quantitative), गुणात्मक (Qualitative) कैसा भी हो सकता है। सामान्य निःशस्त्रीकरण मे लगभग सभी राष्ट्र सम्मिलित होते है जैसे सन् 1932 का विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन। स्थानीय निःशस्त्रीकरण मे कुछ ही राष्ट्र भाग लेते तथा प्रभावित होते है। मात्रात्मक निःशस्त्रीकरण का तात्पर्य सभी प्रकार के शस्त्रो पर नियन्त्रण से है जबकि गुणात्मक निःशस्त्रीकरण के अनुसार किन्ही विशेष प्रकार के शस्त्रो को कम अथवा समाप्त करने की सिफारिश की जाती है। जब हम पूर्ण

निःशस्त्रीकरण की बात करते हैं तो इसका अर्थ वर्तमान में उपलब्ध सभी प्रकार के शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने से होता है।

निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम को कतिपय क्षेत्रों में 'शस्त्र-नियन्त्रण' (Arms Control) कार्यक्रम की संज्ञा दी जाती है। यह माना जाता है कि निःशस्त्रीकरण के अनुसार तो राष्ट्रों के पास शस्त्र होने ही नहीं चाहिए, किन्तु पूर्ण निःशस्त्रीकरण कोई नहीं चाहता क्योंकि आन्तरिक व्यवस्था, अप्रत्याशित बाह्य आक्रमण से रक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के निर्वहन के लिए कुछ शस्त्र सैन्य-बल अपेक्षित है, अतः समस्या शस्त्र-नियन्त्रण (Arms Control) की है, पूर्ण निःशस्त्रीकरण की नहीं। वेजले डब्ल्यू. पोस्वार (Wesley W. Posvar) ने अपने लेख 'The New Meaning of Arms Control' में लिखा है कि "निःशस्त्रीकरण का अभिप्राय सेनाओं और शस्त्रों को घटा देना या समाप्त कर देना है जबकि शस्त्र-नियन्त्रण में वे सभी उपाय सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य युद्ध के सम्भावित और विनाशकारी परिणामों को रोकना (विशेषकर आणविक युद्ध के परिणामों को) है। इसमें सेनाओं तथा शस्त्रों को घटाने या न घटाने का कोई प्रश्न नहीं है।"

अधिकांश अमेरिकी लेखकों और राजनीतिक चिन्तकों ने निःशस्त्रीकरण के स्थान पर 'शस्त्र-नियन्त्रण' शब्द का प्रयोग किया है। सोवियत संघ तथा उसके सहयोगी निःशस्त्रीकरण पर ही नहीं बल्कि पूर्ण निःशस्त्रीकरण पर जोर देते हैं। निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर शस्त्र-नियन्त्रण ही अधिक वास्तविक और व्यावहारिक प्रतीत होता है जबकि निःशस्त्रीकरण एक ऐसा आदर्श दिखाई देता है जो सोचने कहने और विवाद करने के लिए भले ही ठीक हो पर व्यवहार में असम्भव है।

निःशस्त्रीकरण क्यों ?

शान्ति-स्थापना के लिए

अपने सामान्य और सार रूप में निःशस्त्रीकरण की धारणा में विश्व-शान्ति और सुरक्षा की आशाएं निहित हैं। शस्त्रास्त्र एक राष्ट्र की विदेश-नीति को सैनिक दृष्टिकोण प्रदान करते हैं जिससे युद्ध और संघर्ष की सम्भावनाएं सदा जीवित जाग्रत और प्रबल रहती हैं। श्री कोहन के अनुसार, "निःशस्त्रीकरण द्वारा राष्ट्रों के भय और मतभेद को कम करके शान्तिपूर्ण समझौतों की प्रक्रिया को सुविधापूर्ण तथा शक्तिशाली बनाया जा सकता है।"

निःशस्त्रीकरण और शान्ति के सम्बन्ध में विचार-मतैक्य नहीं पाया जाता। हैडले बुल का तर्क है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता और तनावपूर्ण स्थितियाँ ही युद्ध के वास्तविक कारण हैं क्योंकि इनसे ही शस्त्रास्त्रो की भीषण प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ होती है जिसका अन्तिम परिणाम युद्ध और विनाश होता है। प्रो. शूमैन के अनुसार संघर्ष की आशंका ही शस्त्रीकरण की होड को जन्म देती है और युद्ध की सम्भावना से शस्त्रो में वृद्धि होती है। यह मानना कि शस्त्रों के कारण युद्ध होते हैं गाडी को घोड़े के आगे खड़ा करना है। कुछ विद्वानो का मत है कि शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्द्धा से अनिवार्यतः युद्ध नहीं होते और यह भी आवश्यक नही है कि निःशस्त्रीकरण से अवश्यम्भावी रूप में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना हो जाएगी। मूल समस्या तो अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की है। क्विंसी राइट का मत एकदम विपरीत है। उनका विचार है निःशस्त्रीकरण को शान्ति तथा सुरक्षा की समस्याओं का समाधान नही माना जा सकता। निःशस्त्रीकरण से तो युद्ध के बार-बार होने की सम्भावना (Frequency) बढ़ जाती है। शस्त्रास्त्रो के अभाव मे राज्य दूसरे राज्यों के आक्रामक कार्यों और इरादों का मुकाबला नही कर पाते। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध मुख्यतः इसीलिए हुए थे कि बड़े राष्ट्रों ने निःशस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्द्धा से बचने का प्रयास किया था।

स्पष्ट है कि निःशस्त्रीकरण का विषय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अत्यन्त जटिल और विवादास्पद समस्या है, पर मतभेदों के बावजूद इस तथ्य को नही ठुकराया जा सकता कि निःशस्त्रीकरण समय की माँग है और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विश्वास के नए द्वार खोले जा सकते हैं। यदि हम अपने व्यवहार में शान्ति के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण अपना लें तो निःशस्त्रीकरण के प्रयास बड़ी सीमा तक सफल हो सकते हैं।

आर्थिक कल्याण और पुनर्निर्माण के लिए

निःशस्त्रीकरण के पक्ष में यह आर्थिक तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि 'शस्त्रो की दौड़' के स्थान पर 'शान्ति के लिए दौड़' शुरू होने पर मानव-समाज की समृद्धि का मार्ग अधिक प्रशस्त होगा तथा विश्व के औद्योगीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के नूतन युग का सूत्रपात होगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक अध्ययन के अनुसार सेना पर

होने वाला संसार का कुल व्यय सन् 1971 तक 18700 खरब डॉलर (140250 लाख रुपये) तक पहुँच गया था। सन् 1961 से 1971 के बीच दस वर्षों मे सरकार का रक्षा-व्यय 500 खरब डॉलर (3750 खरब रुपये) से बढ़कर 2000 खरब डॉलर(15000 खरब रुपये)वार्षिक हो गया जो विश्व की कुल राष्ट्रीय आय का साढ़े छः प्रतिशत था। पश्चिमी एशिया में सन् 1974 मे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन 845 डॉलर था और सेना पर प्रति व्यक्ति खर्च 135 डॉलर। सन् 1975 के वित्तीय वर्ष में अकेले अमेरिका ने 71 देशों को 9·5 मिलियन डॉलर के अस्त्र-शस्त्र बेचे। जरा कल्पना कीजिए कि यदि इस विपुल धनराशि का सदुपयोग विश्व की पीडित और अभावग्रस्त जनता के लिए किया जाता तो मानवता का कितना भला होता।

कतिपय क्षेत्रों में कहा जाता है कि निःशस्त्रीकरण के फलस्वरूप मन्दी का दौर शुरू होगा जिसके भीषण परिणाम लोगों को भुगतने पड़ेंगे, साथ ही वैज्ञानिक और तकनीकी विकास भी अवरुद्ध हो जाएगा। लेकिन इस प्रकार की आशंकाओं में अधिक वजन नहीं है। निःशस्त्रीकरण के फलस्वरूप जो रचनात्मक वातावरण पनपेगा, उसमें वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की क्षमताएँ अवरुद्ध नही होंगी, इसके विपरीत आर्थिक समृद्धि के इतने विशाल स्रोत खुल जाएँगे जिनकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। अवश्य ही हमें 'शस्त्रीकृत अर्थव्यवस्था' को 'निःशस्त्रीकृत व्यवस्था' में परिवर्तित करने की समस्या का मुकाबला करना पड़ेगा।[1]

समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए

निःशस्त्रीकरण से विश्व-राज्य के निर्माण की सम्भावनाएँ बढ़ेंगी, महायुद्ध का सम्भावित खतरा टल जाएगा तथा राष्ट्रों के पारस्परिक विवाद आपसी बातचीत द्वारा सुलझाने का मार्ग प्रशस्त होगा, शीत युद्ध का ज्वर कम होगा, आतंक के बादल छँटेंगे और राष्ट्रों के विवाद बड़ी सीमा तक गोलमेज सम्मेलनो में तय होने लगेंगे।

नैतिक वातावरण के निर्माण के लिए

निःशस्त्रीकरण नैतिक रूप से भी आवश्यक है क्योंकि "किसी भी राष्ट्र को यह अधिकार नही है कि वह अपनी सुरक्षा के लिए अन्य राष्ट्र की वर्तमान और भावी पीढियों के स्वास्थ्य तथा जीवन को रेडियो सक्रिय धूल तथा सामरिक तैयारी द्वारा अनेक खतरों मे डाले।" सैद्धान्तिक रूप से नैतिक आधार पर निःशस्त्रीकरण का प्रतिपादन उचित है, लेकिन यथार्थवादी राष्ट्रीय राजनीति में इसका विशेष प्रभाव नही होता। उदाहरण के लिए, भारत जैसे शान्तिप्रिय राष्ट्र के प्रति चीन और पाकिस्तान के रवैये को देखते हुए इकतरफा निःशस्त्रीकरण का कोई भी कदम उठाना देश के लिए आत्मघातक होगा।

आणविक संकट से बचने के लिए

आज के युग में आणविक युद्ध एव विनाश से बचने का एकमात्र मार्ग

[1] दिनमान, 12 सितम्बर, 1975 एव जनवरी, 1976.

नि:शस्त्रीकरण अथवा शस्त्रों पर प्रभावशाली नियन्त्रण ही है। खतरनाक शस्त्रों पर रोक लगाने तथा उन्हें सीमित कर देने से चाहे आक्रमण रोके न जा सकें, किन्तु उनको कम, मर्यादित और अपेक्षाकृत कम विध्वंसक बनाया जा सकेगा। नि:शस्त्रीकरण के फलस्वरूप प्रथम तो कोई भी राष्ट्र तुरन्त एवं व्यवस्थित रूप से युद्ध छेड़ने में असमर्थ हो जाएगा और दूसरे, राष्ट्रों के मध्य द्वेषपूर्ण सम्बन्धों में कमी हो जाने से राष्ट्रीय हितों के पारस्परिक समायोजन के अनुकूल वातावरण बन जायेगा। नाभिकीय तथा आणविक शस्त्रास्त्र ही आज राष्ट्रों के मनों को आतंकित किए हुए है। दूसरी ओर यह तर्क भी दिया जाता है कि आज महाशक्तियों की नाभिकीय एवं आणविक शक्ति ने आतंक का जो सन्तुलन स्थापित किया हुआ है उसी से विश्व में शक्ति कायम है, अन्यथा तृतीय महायुद्ध कभी का छिड़ गया होता। इस तर्क में वजन है तथापि यह स्वीकार करना होगा कि युद्ध की निरन्तर सम्भावनाओं और आशंकाओं से बचने का मार्ग नि:शस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण का है, शस्त्रीकरण का नहीं।

निष्कर्ष रूप में, आधुनिक परिस्थितियों में विश्व के राष्ट्रों के लिए नि:शस्त्रीकरण का मार्ग अपनाना श्रेयस्कर है। युद्ध और शान्ति का चक्र न कभी मिटा है और न कभी सम्भवत: मिट सकेगा, अत: प्रयत्न इसी दिशा में होना चाहिए कि युद्ध की विनाशक शक्ति घट जाए। इस दृष्टि से नाभिकीय तथा आणविक हथियारों के भावी निर्माण पर ईमानदारी से पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना चाहिए और इस प्रकार के उपलब्ध हथियारों को विनष्ट कर देना चाहिए। यह कार्य जोर-जबर्दस्ती न होकर, स्वेच्छा से होना चाहिए और इसके लिए सभी राष्ट्रों को ईमानदारी से परस्पर सहयोग करना चाहिए। अमेरिका के राष्ट्रीय लक्ष्य एवं उपलब्धियों पर शोध करने वाली समिति ने सन् 1960 में अपनी एक रिपोर्ट में कहा था कि—"चूंकि महा परमाणु-युद्ध सम्पूर्ण विश्व के लिए विनाशकारी होगा अत: बड़े पैमाने पर नि:शस्त्रीकरण के प्रयास होने आवश्यक हैं। यह तभी सम्भव होगा जब महाशक्तियाँ पारस्परिक अविश्वास और प्रतिस्पर्द्धा को भुलाकर परमाणु-शक्ति के उत्पादन, परमाणु-अस्त्रों के निर्माण, नियन्त्रण एवं वितरण पर अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण एवं प्रतिबन्ध के लिए सहयोग करने को तैयार होंगे। परमाणु-अस्त्रों के परीक्षणों पर नियन्त्रण लगाना इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम होगा।"

द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में नि:शस्त्रीकरण के प्रयास

द्वितीय महायुद्ध के बाद के नि:शस्त्रीकरण-प्रयासों को हम मोटे रूप में दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—प्रथम भाग के अन्तर्गत उस समय तक की वार्ताएँ सम्मिलित की जा सकती हैं जब केवल अमेरिका ही अणुबम का स्वामी था; द्वितीय भाग का आरम्भ तब से माना जा सकता है जब सोवियत संघ ने भी अणुबम का निर्माण कर लिया। नि:शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों ही गुटों में विरोधी दृष्टिकोण मिलता है और इस दिशा में किए जाने वाले प्रयासों का क्षेत्र संयुक्त राष्ट्रसंघ भी है तथा निजी वार्ताएँ भी। द्वितीय महायुद्ध के बाद

नि शस्त्रीकरण की दिशा मे जो भी प्रयास हुए हैं उन्हे निम्नलिखित शीर्षकों मे व्यक्त करना उपयुक्त होगा ।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में नि:शस्त्रीकरण की व्यवस्था

संघ के चार्टर में नि:शस्त्रीकरण को महासभा और सुरक्षा परिषद् दोनों की ही कार्य सूची में सम्मिलित किया गया है। अनुच्छेद 11, 26 एव 47 में तत्सम्बन्धी व्यवस्थाएँ हैं ।

सयुक्त राष्ट्रसंघ ने प्रारम्भ से ही नि:शस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान देना आरम्भ कर दिया था । जनवरी, 1946 में सघ द्वारा अणु-शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission) की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य एक ऐसी योजना का निर्माण करना था जिसके अन्तर्गत राष्ट्र परमाणु-शक्ति के उत्पादन को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रखने तथा अणु-शक्ति का प्रयोग केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए करने को सहमत हो सकें तथा आणविक अस्त्रो के प्रयोग व उत्पादन पर पूरा नियन्त्रण लगाया जा सके । अणु-शक्ति आयोग को वांछित सफलता नही मिली । अतः दिसम्बर, 1946 में महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया, जिसका आशय था कि अणु-शक्ति आयोग अपने कार्य में तेजी लाए और सुरक्षा परिषद् शीघ्रतापूर्वक शस्त्रों के घटाने तथा उनका नियमन करने की व्यावहारिक योजनाएँ बनाए । शीघ्र द्विपरिषद् द्वारा 'परम्परागत शस्त्र आयोग' (The Commission for Conventional Armaments) गठित किया गया जिसका कार्य केवल परम्परागत शस्त्रों को सीमित एवं नियमित करने सम्बन्धी प्रस्ताव रखना ही था, अणु-शस्त्रों और विनाश के व्यापक साधनो से इसका सम्बन्ध नही था ।

दोनों आयोगों की स्थापना भी हो गई, महाशक्तियों द्वारा विभिन्न प्रस्ताव भी प्रस्तुत किए गए लेकिन सभी प्रयासों का परिणाम कुल मिलाकर शून्य रहा । शान्ति की दिशा में बढने के बजाय इन प्रयासों ने शीतयुद्ध को प्रोत्साहन दिया । अमेरिका ने एक अन्तर्राष्ट्रीय आणविक विकास-सस्था के निर्माण का सुझाव रखा जो परमाणु-शक्ति के उत्पादन से सम्बन्धित कच्चे माल पर भी नियन्त्रण लगाए । सोवियत रूस ने सुझाव दिया कि वर्तमान परमाणु अस्त्रों को नष्ट कर दिया जाए और तत्पश्चात् सुझावों को कार्यान्वित किया जाए । महाशक्तियों के पारस्परिक विरोधी दृष्टिकोण के फलस्वरूप नि:शस्त्रीकरण की दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकी।

सन् 1947 से 1954 तक कई छुट-पुट प्रयास हुए । सन् 1954 के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय अणु-शक्ति एजेंसी (International Atomic Energy Agency) अस्तित्व में आई जिसने एक पंचराष्ट्रीय उप-समिति की स्थापना की । अमेरिका ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा और रूस इसके सदस्य थे । अनेकों बैठकों के बावजूद परिणाम नहीं निकला । स्थिति यह रही कि एक पक्ष की ओर से [illegible] प्रस्ताव आते और दूसरे पक्ष द्वारा ठुकरा दिए जाते ।

जेनेवा-सम्मेलन, 1955 से 1960 तक

जुलाई, 1955 मे जेनेवा में रूस, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस का सम्मेलन हुआ जिसमे अमेरिकी राष्ट्रपति आइजन होवर ने 'खुली आकाश योजना' (Open Skies Plan) प्रस्तावित की। इसका आशय था कि अमेरिका और रूस दोनो ही अपने सैनिक बजट उत्पादन, वर्तमान शक्ति एवं उसके विकास की सम्भावनाओ के बारे में एक-दूसरे को सूचना दें तथा परस्पर जांच एवं निरीक्षण के लिए सहमत हों। एक देश को दूसरे देश के आकाश पर निरीक्षण करने का अधिकार दिया जाए। सोवियत प्रधान मन्त्री बुल्गानिन ने अमेरिकी योजना को स्वीकार करते हुए अपना यह प्रस्ताव रखा कि नि:शस्त्रीकरण को क्रियान्वित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण-अभिकरण की स्थापना की जाए और उसे निरीक्षण का कार्य सौंपा जाए, आणविक-शस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाए और परम्परागत शस्त्रो में निश्चित कटौती की जाए।

जेनेवा-सम्मेलन असफल रहा। दिसम्बर, 1955 में भारत ने अणु-शस्त्रो के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की और शस्त्रों से सम्बन्धित एक अल्पकालीन सन्धि का भी सुझाव दिया, किन्तु अमेरिका ने इसे स्वीकार नहीं किया। जून, 1956 में संयुक्त राष्ट्रसंघीय नि शस्त्रीकरण आयोग की उप-समिति की बैठक मे रूस ने त्रिसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया—(1) दो वर्ष के लिए आणविक परीक्षण बन्द कर दिए जाएँ, (2) इस प्रतिबन्ध को लागू करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आयोग बैठाया जाए, एवं (3) आयोग सहित रूस, अमेरिका और ब्रिटेन प्रशान्त महासागर मे नियन्त्रण चौकियाँ स्थापित करे। रूसी प्रस्ताव पश्चिमी राष्ट्रों को मान्य नहीं हुए। लन्दन-सम्मेलन की असफलता घोषित कर दी गई।

नवम्बर, 1957 में नि:शस्त्रीकरण आयोग का विस्तार किया गया। अभी तक पश्चिमी राष्ट्रो को रूसी वैज्ञानिक परीक्षणो की गोपनीयता से चिन्ता थी और वे जाँच तथा निरीक्षण पर जोर दे रहे थे, लेकिन अगस्त, 1957 में रूस ने अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रो (ICBM) के सफल परीक्षण की घोषणा कर और अक्तूबर, 1957 में एक कृत्रिम उपग्रह (Sputnik) छोड़कर पश्चिमी जगत् को स्तब्ध कर दिया।

दोनों पक्षों की ओर से नि:शस्त्रीकरण-प्रस्तावों को प्रस्तुत करने और स्वीकृत करने का क्रम जारी रहा। फरवरी, 1958 में रूसी प्रधान मन्त्री बुल्गानिन ने एक योजना प्रस्तावित की जिसके मुख्य पहलू ये थे—(1) अणु-बम परीक्षण बन्द किए जाएँ, (2) अमेरिका, रूस व ब्रिटेन आणविक शस्त्रों का परित्याग कर दें, (3) जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों में विदेशी सेनाओं को घटाया जाए, (4) नाटो तथा वारसा पैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता हो, एवं (5) आकस्मिक आक्रमण रोके जाएँ। यह योजना निष्फल हुई। मार्च, 1958 के लगभग पोलैण्ड के विदेश मन्त्री ने 'रापाकी योजना' (Rapaki Plan) प्रस्तुत की जिसमें यूरोप की सुरक्षा और शान्ति हेतु पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को

अणु-विहीन क्षेत्र बनाने का सुझाव दिया गया। यह प्रस्ताव भी निष्फल रहा। मार्च, 1958 मे सुप्रीम सोवियत के एक प्रस्ताव मे कहा गया कि सोवियत सघ इस आशा से सभी प्रकार के आणविक परीक्षण बन्द कर रहा है कि अन्य देश भी इसका अनुसरण करेंगे, किन्तु यदि दूसरे देशों द्वारा आणविक परीक्षण बन्द न किए गए तो वह अपने परीक्षण पुनः प्रारम्भ कर देगा। अमेरिका द्वारा उत्तर दिया गया कि यदि उसे रूसी परीक्षणों के बन्द होने का निश्चय हो गया तो वह भी अपने परीक्षण बन्द करने पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेगा। अक्तूबर, 1958 मे जेनेवा-सम्मेलन मे नि शस्त्रीकरण पर अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत हुए, पर कोई उपयोगी समझौता नहीं हो सका।

सन् 1959 में रूसी प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने सयुक्त राष्ट्रसघ की महासभा में पूर्ण नि शस्त्रीकरण का एक प्रस्ताव रखा। उन्होंने सुझाव दिया कि चार वर्ष की अवधि में सभी राज्य पूर्ण निःशस्त्रीकरण करलें ताकि किसी राज्य के पास युद्ध करने का कोई साधन न रह जाए। साथ ही उन्होने एक आंशिक निःशस्त्रीकरण की योजना भी प्रस्तावित की जिसमें कहा गया कि नाटो-सदस्यो तथा पश्चिमी राज्य के साथ वारसा पैक्ट के सदस्यो की अनाक्रमण सन्धि सम्पन्न हो, एक राज्य का दूसरे राज्य पर आकस्मिक आक्रमण रोकने के बारे में समझौता हो, मध्य यूरोप में अणु-आयुधविहीन क्षेत्र कायम किया जाए आदि। रूसी प्रस्ताव का सब देशो ने स्वागत किया, लेकिन पश्चिमी शक्तियो द्वारा इसे उपहास का विषय बना दिया गया और इस प्रकार गतिरोध बना रहा। सन् 1960 में भी जेनेवा-सम्मेलन हुआ, पर असफल रहा।

जुलाई, 1960 से 1973 तक

जून, 1960 मे दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन भंग हो जाने के कुछ ही माह बाद सोवियत रूस ने 50 मेगाटन शक्ति के अणु-बम का परीक्षण किया। नवम्बर, 1961 में महासभा ने यह भारतीय प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि आणविक परीक्षणो पर जब तक कोई समझौता न हो जाए तब तक इनको बन्द ही रखा जाए। एक अन्य प्रस्ताव मे महासभा ने कहा कि यदि किसी देश द्वारा अणु-शस्त्रों का प्रयोग किया गया तो इसे चार्टर का उल्लंघन माना जाएगा। मार्च, 1962 में विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन को नि.शस्त्रीकरण आयोग का सम्मेलन हुआ जिसमें भारत की ओर से प्रस्ताव रखा गया कि आणविक परीक्षणों का पता लगाने के लिए तटस्थ राष्ट्रो के स्टेशन कायम किए जाएँ। रूस ने प्रस्ताव रखा कि दोनों ही पक्ष सहमत हो जाएँ कि दूसरे देशों की भूमि मे तीन महान् आणविक शक्तियाँ आणविक-अड्डे कायम नहीं करेंगी। सम्मेलन में प्रस्तुत सभी प्रस्तावो का महत्त्व केवल कागजी रहा।

कैनेडी और ख्रुश्चेव के प्रयत्नों से निःशस्त्रीकरण-वार्ता मे कुछ ... और मास्को में ब्रिटेन, रूस और अमेरिका ने 15 जुलाई, 1963 को परमाणु-प्रतिबन्ध-सन्धि' पर हस्ताक्षर किए। 10 अक्तूबर, 1963 से

हुई। उस समय तक लगभग 100 राष्ट्र इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर चुके थे। सन्धि के अन्तर्गत तीनों देशों ने स्वीकार किया कि वे अपने क्षेत्रान्तर्गत बाह्य अन्तरिक्ष, प्रादेशिक तथा महायुद्ध या वायुमण्डल में कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे। सन्धि असीमित अवधि के लिए की गई तथापि हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों को अधिकार दिया गया कि वे उस समय स्वयं को इसे सन्धि की बाध्यताओं से मुक्त रख सकते हैं जब वह समझें कि सन्धि से सम्बन्धित कोई ऐसी असामान्य घटना घटी है जिससे सम्बन्धित देश का सर्वोच्च हित संकट मे पड गया है। सन्धि में अन्य सदस्यों को सम्मिलित किए जाने की व्यवस्था भी की गई बशर्ते कि वे इसकी मौलिक धाराओं से सहमत हों। इस सन्धि में भूमिगत परीक्षणों पर प्रतिबन्ध की बात नहीं की गई। इसका मुख्य कारण यह था कि भूमिगत परीक्षणों की जाँच के लिए घटना-स्थल पर जाना अनिवार्य होता है जिनसे राज्य की प्रादेशिक सार्वभौमिकता का उल्लघन होता है।

परमाणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध-सन्धि ने खुले तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बात-चीत का स्वस्थ वातावरण तैयार किया। पर मार्च, 1964 मे जेनेवा-नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन का कोई सुपरिणाम नही निकला। कुछ ही दिनो बाद चीन ने अपना प्रथम अणु-बम का परीक्षण कर सन् 1963 के जेनेवा-समझौते की उपेक्षा की। नवम्बर, 1964 मे महासभा ने एक प्रस्ताव मे निःशस्त्रीकरण-आयोग से आग्रह किया कि परमाणु आयुधों के सम्बन्ध में शीघ्र ही कोई समझौता अवश्य होना चाहिए। जुलाई, 1965 में जेनेवा मे नि.शस्त्रीकरण-आयोग की बैठक पुनः बुलाई गई, लेकिन आयुधों को नियन्त्रित करने के उपायो पर इतने मौलिक मतभेद थे कि कोई फल नहीं निकला।

निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रयासो का क्रम चलता रहा और तब एक उल्लेखनीय सफलता मिली जबकि रूस व अमेरिका के बीच सन् 1968 की परमाणु-अस्त्र प्रसार-निरोध सन्धि (The Non-Proliferation Treaty, 1968) हुई, अन्य राज्य, विशेषकर यूरोप के राज्य, इससे आश्वस्त नही थे। सन्धि का मसविदा बड़ा लम्बा-चौड़ा था। सारांशतः उसकी मूल बातें ये थीं —(1) परमाणु-अस्त्र सम्पन्न राष्ट्र, परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों को परमाणु-अस्त्र प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे, (2) हस्ताक्षरकर्त्ता परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्र परमाणु-अस्त्र बनाने की कोई कोशिश नहीं करेंगे, (3) हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों को असैनिक कार्यों के लिए परमाणु-शक्ति का विकास करने की पूरी छूट रहेगी।

अनेक राष्ट्रों की आपत्तियो के बावजूद जून, 1968 में संयुक्त राष्ट्रसंघीय महासभा ने सन्धि पर अपनी स्वीकृति दे दी। यद्यपि इस समझौते से यह स्पष्ट हो गया कि महाशक्तियाँ परस्पर सहयोग करें तो सभी गम्भीर समस्याओ को सुलझा सकती है, तथापि इस सन्धि का बहुत से राष्ट्रो ने स्वागत नही किया। सन्धि की सबसे बड़ी कमी यह है कि एक ओर तो यह प्रतिबन्ध है कि जो राष्ट्र परमाणु-बम नही बना पाए हैं वे भविष्य में भी इस ओर कदम नहीं उठाएँगे और दूसरी ओर

उन्हें परमाणु आक्रमण से बचने के लिए आश्वासन दिया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अणु-आयुधों से उनकी सहायता की जाएगी जिसका निर्णय सुरक्षा परिषद् करेगी। स्पष्ट है कि सुरक्षा परिषद् महाशक्तियों के हाथ का खिलौना है। फिर इस आश्वासन का तब कोई महत्त्व नहीं रह जाता जब सुरक्षा परिषद के किसी भी स्थायी सदस्य को किसी प्रस्ताव के वीटो करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ ने 'आक्रमण' शब्द की व्याख्या नहीं की है। अत. यह भ्रम बने रहने की सम्भावना है कि परिषद् किस हालत में किसको आक्रमणकारी समझेगी। भारत ने सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किए। कारण स्पष्ट है कि उसे परमाणु-अस्त्र सम्पन्न चीन से भारी खतरा है और सन्धि इस खतरे को दूर नहीं कर सकती।

सन् 1968 में परमाणु-अस्त्र विरोधी सन्धि के उपरान्त सन् 1972 के प्रारम्भिक चरण तक नि.शस्त्रीकरण की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं की जा सकी। सामरिक-अस्त्र-परिसीमन वार्ता के दौर चले, संयुक्त राष्ट्रसंघ निःशस्त्रीकरण समिति ने सभी देशों द्वारा जीवाणु अस्त्र-भण्डारों को नष्ट कर देने सम्बन्धी प्रारूप तैयार किया, लेकिन कुल मिलाकर परिणाम निराशाजनक रहे। मई, 1972 के अन्तिम सप्ताह में अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन ने मास्को की यात्रा की और दोनों देशों के बीच 'रूस-अमेरिका परमाणु परिसीमन सन्धि, 1972' सम्पन्न हुई। इस ऐतिहासिक सन्धि में दोनों महाशक्तियों ने एक दूसरे की शक्ति का सम्मान करते हुए आत्म-विश्वास पर आधारित एक नया सन्तुलन कायम किया। इस पंचवर्षीय सन्धि में, जो राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल प्रमाणित होने पर किसी भी पक्ष द्वारा 6 मास के नोटिस पर रद्द की जा सकती है, स्वीकार किया गया है कि—(1) नए अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण नहीं किया जाएगा, (2) कोई भी पक्ष हल्के या पुराने किस्म के भू-प्रक्षेपास्त्र-स्थलों को सुधार कर भारी अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के लिए योजना नहीं बनाएगा, (3) दोनों पक्ष पनडुब्बियों के प्रक्षेपास्त्रों और प्रक्षेपकों और प्रक्षेपास्त्रयुक्त आधुनिक पनडुब्बियों का निर्माण नहीं करेंगे, यद्यपि निर्माणाधीन पनडुब्बियों का कार्य करने की छूट रहेगी, (4) सन्धि की व्यवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए आक्रामक प्रक्षेपास्त्रों और प्रक्षेपकों का आधुनिकीकरण करने अथवा स्थानापन्न अस्त्र बनाने का अधिकार दोनों देशों को प्राप्त होगा, एवं (5) सन्धि के अनुपालन की जांच के लिए हर एक राष्ट्र केवल वही विधियाँ अपनाएगा जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हैं।

वास्तव मे इस सन्धि से भी नि.शस्त्रीकरण की दिशा में कोई ठोस प्रगति नही हुई। श्रीमती गांधी की टिप्पणी थी कि अस्त्र-परिसीमन अपने आप में सही चीज है, लेकिन दुनिया के बाकी हिस्सों मे शान्ति-स्थापना की दिशा में इससे कोई सहयोग नहीं मिलता। श्रीमती गांधी ने यह भी कहा कि रूस और अमेरिका को यह आश्वासन देना चाहिए कि परमाणु-अस्त्रों का उपयोग परमाणु अस्त्र देशों के विरुद्ध नहीं किया जाएगा। इसके अलावा सन्धि इतनी आ. क

परमाणु-अस्त्रों पर खर्च होने वाली राशि में कमी आने की कोई सम्भावना नहीं है। प्रक्षेपास्त्रों के क्षेत्र में आधुनिकीकरण द्वारा उन्हें बेहतर या अधिक घातक बनाने की प्रतियोगिता कायम रहेगी।

मास्को में परमाणु परिसीमन सन्धि के सम्पन्न होने के बाद सन् 1973 के मध्य तक निःशस्त्रीकरण और अणु-शक्ति के परिसीमन के सम्बन्ध मे कोई प्रगति नहीं की जा सकी, इसके विपरीत निःशस्त्रीकरण-प्रयासो को ठेस पहुँची। मार्च, 1973 के समाचार-पत्रों में इस आशय का समाचार प्रकाशित हुआ कि चीन ने द्रव ईंधन से चालित एक ऐसा दूरगामी अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र तैयार किया है जो सोवियत रूस के सबसे बडे प्रक्षेपास्त्र से भी बडा है। चीन के नए महाप्रक्षेपास्त्र पर अमेरिका और रूस जैसी महाशक्तियों द्वारा भी चिन्ता व्यक्त की गई। 27 जून, 1973 को चीन ने एक और परमाणु-विस्फोट किया जो 2 मेगाटन टी. एन. टी. शक्ति का था। विशेषज्ञों ने स्पष्ट मत प्रकट किया कि आणविक आयुध और प्रक्षेपास्त्र विकास की दिशा में चीन की प्रगति अन्य सभी देशो से तेज रही है।

1974–76 में परमाणु अस्त्र परिसीमन की दिशा में प्रगति

सोवियत संघ और अमेरिका के बीच 27 जून से 3 जुलाई, 1974 तक तीसरी शिखर-वार्ता हुई जिसमे परमाणु अस्त्र परिसीमन पर कोई व्यापक समझौता तो नही हो सका, किन्तु भूमिगत परीक्षण पर प्रतिबन्ध तथा कुछ प्रक्षेपास्त्रों के परिसीमन आदि के बारे मे समझौते हुए। 3 जुलाई, 1974 को दसवर्षीय आणविक आयुध-परिसीमन-समझौता हुआ उसे 31 मार्च, 1976 से लागू किया जाना निश्चित किया गया। समझौते के अनुसार दोनो देशों ने 150 किलो टन से अधिक के भूमिगत आणविक परीक्षणों को रोकने तथा अपने प्रक्षेपास्त्रों पर नई सीमा लगाने का निश्चय किया। यह तय किया गया कि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए गए विस्फोट इस आंशिक प्रतिबन्ध-व्यवस्था की परिधि में नहीं आएँगे। नवीन समझौते के अन्तर्गत दोनो पक्ष अपनी-अपनी प्रक्षेपास्त्र-व्यवस्था को 3 अक्तूबर, 1977 से 2 अक्तूबर, 1978 के बीच एक बार तथा उसके उपरान्त पाँच वर्ष में एक बार एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित कर सकेंगे। यह कार्य परस्पर सूचना के आदान-प्रदान के बाद ही किया जा सकेगा।[1]

सन् 1974 में भूमिगत परमाणु परीक्षण करने के बारे मे जो उपर्युक्त समझौता हुआ उसका एक मुख्य उद्देश्य यह था कि वायुमण्डल को दूषित होने से बचाने और रेडियमधर्मिता के खतरे से बचने के लिए अब सभी परमाणु-परीक्षण भूमि के नीचे किए जाएँगे। लेकिन परमाणु-परीक्षण के खतरे से दुनिया को बचाने के लिए इतनी ही सन्धि काफी नहीं थी, अतः जून, 1976 में एक नई धारा जोडकर इस सन्धि को अधिक लाभकारी बना दिया गया। परमाणु-परीक्षण स्थल की जानकारी कोई भी एक पक्ष दूसरे पक्ष को देना नही चाहता था जिसका मतलब था

1 दिनमान, 14 जुलाई, 1976; पृष्ठ 27.

कि यह पता लगाना कठिन था कि परीक्षण शान्तिपूर्ण कार्य के लिए हुआ है या परमाणु अस्त्र बनाने के लिए। अतः यह बात स्वागत योग्य थी कि स्थल का निरीक्षण करने पर दोनों देश सहमत हो गए।

1977 में हथियारों की होड़ में नया दौर और परमाणु अस्त्र पर रोक का नवम्बर, 1977 का ब्रेझनेव प्रस्ताव

1977 मे महाशक्तियों में हथियारो की होड एक बार फिर शुरू हो गई। अमेरिका ने बी–1 बमवर्षक न बनाने का निर्णय तो लिया, साथ ही यह निर्णय भी किया कि वह 'क्रूज' प्रक्षेपास्त्र का निर्माण करेगा। इससे पहले उसने न्यूट्रान बम का परीक्षण भी किया था। सोवियत संघ ने इन नए हथियारो की आलोचना करते हुए कहा कि यह कैसे सम्भव है कि एक तरफ तो आप शान्ति और मानवाधिकारों के प्रति प्रेम जतलाये और दूसरी ओर नए हथियारों का निर्माण कर सारी मानवता को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दें।

सोवियत अक्तूबर क्रान्ति की 60वी वर्ष गाँठ के अवसर पर 2 नवम्बर, 1977 को ब्रेझनेव ने यह प्रस्ताव किया कि सभी देश एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अन्तर्गत परमाणु अस्त्रो का निर्माण एक साथ रोक दें। उन्होंने यह आग्रह भी किया कि एक निश्चित अवधि के लिए न केवल सभी प्रकार के परमाणु अस्त्रो के परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया जाए बल्कि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए जाने वाले परमाणु विस्फोटों को भी स्थगित किया जाए। ब्रेझनेव ने यह सुझाव दिया कि जिन देशो के पास परमाणु अस्त्रों के भण्डार हैं वे उसमें धीरे-धीरे कटौती करें और अन्त में उसे बिलकुल समाप्त कर दें। स्वाभाविक था कि ब्रेझनेव के प्रस्ताव पर अमेरिका तत्काल अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता। अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने उसी दिन रात को कहा कि हमें आशा है कि बिना बहुत विलम्ब किए हम परमाणु परीक्षणों पर व्यापक प्रतिबन्ध लगाने मे सफल होगे जिससे पृथ्वी पर इस परमाणु शक्ति का खतरा निर्मूल किया जा सके।

ब्रेझनेव का प्रस्ताव अच्छा और व्यावहारिक है, किन्तु व्यावहारिक परिस्थितियों में उसे क्रियान्वित करना निश्चय ही जटिल है। प्रस्ताव की सफलता के लिए जरूरी है कि वे सभी देश उस पर अमल करने के लिए बिना शर्त सहमत हों जिनके पास परमाणु अस्त्र हैं, वे भी जो परमाणु शक्ति सम्पन्न नही है। वास्तव में महाशक्तियों की कथनी और करनी में बड़ा अन्तर है।

1978 में संयुक्त राष्ट्रसंघ का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन

मार्च, 1978 में जेनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ जो किसी ठोस परिणाम पर नही पहुँच सका। मई-जून, 1978 में संयुक्त राष्ट्र सभा का एक अधिवेशन निःशस्त्रीकरण के बारे में विचार करने के लिए विशेष रूप से आयोजित हुआ। महासचिव डॉ. कुर्त वाल्दहीम ने प्रस्ताव रखा कि अस्त्रों पर खर्च होने वाले प्रत्येक अरब डॉलर में से यदि 10 लाख डॉलर भी अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण पर खर्च किए जाएँ तो आम व्यक्ति का जीवन कहीं अधिक खुशहाल हो सकता है। इस समय

परमाणु अस्त्रों के निर्माण पर 400 अरब डॉलर से अधिक खर्च होता है। यह शायद पहला अवसर था कि इस विशेष सम्मेलन में 20 देशों के राज्याध्यक्ष अथवा शासनाध्यक्ष स्वयं आए। सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको ने इस बात पर जोर दिया कि जब तक अस्त्रों के दौर पर रोक नहीं लगती तब तक इस तरह का सम्मेलन बेमानी है। ग्रोमिको ने कुछ ठोस सुझाव प्रस्तुत किए, यथा—सभी तरह के परमाणु अस्त्रों के उत्पादन को समाप्त करना, सभी किस्म के विनाशकारी अस्त्रों पर प्रतिबन्ध और उनके उत्पादन को समाप्त करने की दिशा में कदम उठाना, अधिक विनाशकारी परम्परागत हथियारों को त्यागने का आश्वासन। ग्रोमिको ने परमाणु अस्त्रों के प्रसार पर रोक लगाने की दिशा मे भी निश्चित कदम उठाने का आह्वान किया।

चीन ने भी इस सम्मेलन की बहस मे खुल कर भाग लिया। उसने पाँच नुक्ता कार्यक्रम प्रस्तुत किए—गैर-परमाणु या परमाणु अस्त्रों का इस्तेमाल न करने का आश्वासन, विदेशों से सभी सशस्त्र सेनाओं की वापसी, अमेरिका और सोवियत सघ द्वारा परमाणु तथा परम्परागत अस्त्रो के निर्माण की होड समाप्त करना, किसी पडौसी देश की सीमा पर न तो सैनिक तैनात करना और न ही सैन्य अभ्यास को बढावा देना तथा किसी बहाने अन्य देशो पर आक्रमण करने से परहेज करना।

संयुक्त राष्ट्र मे गुट निरपेक्ष देशों ने एक सात सदस्यीय गुट की स्थापना की, ताकि परमाणु अस्त्रों का निर्माण करने वाले देशो से निःशस्त्रीकरण करने की दशा के कार्यक्रमों को लागू करने की हालत मे अधिकतम रियायतें प्राप्त की जा सकें। ये देश हैं—भारत, श्रीलंका, नाइजीरिया, मिस्र, यूगोस्लाविया, ब्राजील और अर्जेन्टाइना।

भारत— भारत के प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने 9 जून के अपने भाषण में घोषणा की—"हमने अपने आप यह सकल्प लिया है कि हम परमाणु हथियारों का निर्माण नही करेंगे और न ही इन्हें कहीं से प्राप्त करेंगे।" श्री देसाई ने सयुक्त राष्ट्र सभा में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में एक चार सूत्री योजना भी प्रस्तुत की। उन्होन कहा—

(क) एक घोषणा की जाए जिसमें अस्त्र-प्रौद्योगिकों में अनुसन्धान सहित परमाणु प्रौद्योगिको का सैनिक कार्य मे प्रयोग को गैर-कानूनी घोषित किया जाना चाहिए।

(ख) परमाणु अस्त्रो की गुणात्मक और परिमाणात्मक सीमा बाँध दी जाए और वर्तमान भण्डारो पर तुरन्त अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण रोक लगा दी जाए।

(ग) सभी परमाणु अस्त्रो को पूरी तरह समाप्त करने के उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए हथियारों के भण्डारों को धीरे-धीरे कम करने के लिए एक समयबद्ध कार्यक्रम निर्धारित किया जाए जिसकी अवधि एक दशक से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(घ) एक व्यापक परीक्षण निषेध सन्धि की जाए जिसके अन्तर्गत इस सन्धि का उल्लंघन रोकने के लिए सुरक्षात्मक उपायों की व्यवस्था होनी चाहिए जो मेरे विचार से केवल स्वतन्त्र निरीक्षण के द्वारा ही हो सकती है।

यह प्रतिबन्ध वायुमण्डल में भूमिगत, समुद्र में, अन्तरिक्ष में किए जाने वाले परीक्षणों पर लागू होना चाहिए। सुरक्षात्मक उपायों की व्यवस्था विश्वव्यापी और भेदभावहीनता पर आधारित होनी चाहिए। हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि निरीक्षण और सुरक्षात्मक उपायों की व्यवस्था वास्तविक रूप में निष्पक्ष हो। यह राजनीति को लाए बिना लागू की जाए।

एक परम्परागत क्षेत्र में नि:शस्त्रीकरण शुरू करने के लिए हम परमाणु नि:शस्त्रीकरण पूरा होने तक प्रतीक्षा नहीं करेंगे। हमें नि:शस्त्रीकरण और हथियारों की संख्या में भारी कमी लाने के बारे में एक समझौता करने के लिए इसी वर्ष प्रयास प्रारम्भ कर देना चाहिए। मैं इस सभा को अपने देश की तरफ से विश्वास दिलाता हूँ कि इस प्रकार के कार्यक्रमों के निर्धारण में भारत पूरी तरह सहयोग करेगा और उनके कार्यान्वियन के प्रति वचनबद्ध होगा।

कार्टर व ब्रेझनेव द्वारा साल्ट–2 पर हस्ताक्षर, जून 1979

इस हकीकत के बावजूद कि सामरिक अस्त्र परिसीमन वर्तमान सभ्यता की रक्षा के लिए जरूरी है, 1969 में अमेरिका और सोवियत संघ के बीच आरम्भ हुई और सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ता पिछले 10 वर्षों में किसी ठोस नतीजे पर नहीं पहुँची है। 1972 में इस वार्ता के परिणामस्वरूप हुआ समझौता–1 भी अपने समग्र रूप में अभी तक क्रियान्वित नहीं किया गया है और दोनों ही महाशक्तियाँ नए-नए प्रक्षेपास्त्रों के निर्माण में संलग्न है। लगता है कि महाशक्तियाँ अस्त्र परिसीमन से अधिक एक दूसरे को शस्त्रास्त्रों की होड़ में परास्त करने में रुचि ले रही हैं ताकि समग्र समझौता होने पर कोई एक लाभ की स्थिति में न रहे। 3 अक्तूबर, 1972 को समझौता–1 के प्रभावी होने के एक महीने बाद नवम्बर, 1972 में आरम्भ हुए समझौता–2 वार्ता का प्रोत्साहक परिणाम भी तभी निकल सका जब 18 जून, 1979 को वियना में कार्टर एवं ब्रेझनेव ने साल्ट–2 (सामरिक आयुध परिसीमन की दूसरी संधि) पर हस्ताक्षर कर दिए। साल्ट-2 अथवा समझौता–2 को भी अस्त्र परिसीमन की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं कहा जा सकता, तथापि यह अवश्य है कि दोनों नेताओं ने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में सुधार की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है। समझौता–2 में समझौता –1 की खामियों को सुधारने का प्रयास किया गया है। इस सन्धि के बाद अब दोनों देशों का सामरिक शस्त्र रखने का अधिकार सीमित हो जाएगा। दोनों देशों को केवल 2,400 सामरिक प्रक्षेपास्त्र तथा भारी बमवर्षक विमान रखने का अधिकार होगा। 1981 के बाद यह संख्या घटकर 2,250 हो जाएगी। सामरिक शस्त्र रखने का अधिकार सीमित हो जाने के कारण सोवियत संघ को अपने सामरिक प्रक्षेपास्त्रों की संख्या में लगभग 250 की कटौती करनी पड़ेगी, जबकि अमेरिका अगर चाहे तो अभी 400 और प्रक्षेपास्त्र रख सकता है। दोनों देशों को एक नया सामरिक प्रक्षेपास्त्र बनाने का अधिकार भी होगा।

कार्टर तथा ब्रेझनेव दोनों ने ही इस बात पर जोर दिया कि यह संधि काफी नही है। इसमें दोनो देशों को जितने परमाणु ग्रस्त्र रखने का अधिकार दिया गया है, उनका उपयोग किए जाने पर हिरोशिमा से एक लाख गुणा अधिक विनाश हो सकता है। जो भी हो इससे सामरिक ग्रस्त्र परिसीमन वार्ता का महत्व कम नहीं हो जाता। ग्रस्त्र परिसीमन की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम है और चूंकि इससे विश्व-शान्ति का भविष्य जुड़ा हुग्रा है। यह ग्राशा की जानी चाहिए कि देरसबेर दोनों महाशक्तियाँ एक बड़े उद्देश्य के लिए ग्रपने क्षुद्र स्वार्थ का त्याग करेंगी और सामरिक ग्रस्त्र पक्षेरसीमन वार्ता जनित समझौतों के ग्रन्तर्गत शस्त्रास्त्र होड़ पर उत्तरोत्तर ग्रंकुश लगता जाएगा। साल्ट-2 समझौते के ग्रनुपालन के सम्बन्ध में महाशक्तियाँ एक-दूसरे के प्रति सन्देह–ग्रस्त हैं। जून *1980* मे साल्ट-वार्ता में धीमी गति के लिए सोवियत संघ ने पश्चिम को दोषी ठहराया है और कुछ इसी प्रकार के प्रत्यारोप पश्चिमी देशों द्वारा रूस पर भी लगाए जाते रहे हैं।

निःशस्त्रीकरण के मार्ग में कठिनाइयाँ

1. महाशक्तियाँ ग्रपने शस्त्रास्त्रों के ग्राधुनिकीकरण का मोह छोड़ने को तैयार नहीं हैं; ग्रतः स्वाभाविक है कि देश के ग्राधुनिकतम ग्रायुधों के जवाब में दूसरा देश उससे भी बढ़कर ग्रायुद्ध बनाने की सोचता है और इस तरह जो भी निःशस्त्रीकरण समझौते होते हैं वे बहुत ही ग्रांशिक और व्यवहार में प्रभाव-शून्य होते हैं। *उदाहरणार्थ, जून-जुलाई, 1974 के शिखर-सम्मेलन में रूस और ग्रमेरिका के बीच* प्रभावी सामरिक ग्रस्त्र-परिसीमन-समझौता न हो पाने के राजनीतिक क्षेत्रों में दो प्रमुख कारण बताए गए हैं—(क) हाल में ग्रमेरिका के लक्ष्य भेदकर स्वतः लौट ग्राने वाले एम. ग्राई. ग्रार. वी. प्रक्षेपास्त्र के बारे में यह तथ्य सामने ग्राया है कि प्रथम ग्राक्रमण की स्थिति में ये प्रक्षेपास्त्र शत्रु के ठिकानों को उचित क्षति नहीं पहुँच पाएँगे जितनी उनसे ग्रपेक्षा की जाती है क्योंकि उनके ग्रापस में टकराकर नष्ट हो जाने की ग्रधिक सम्भावना है। प्रेक्षकों का मत है कि यह ज्ञात हो जाने के बाद ग्रमेरिकी प्रतिरक्षा विभाग ग्रधिक बड़े और ठिकाने पर मार करने वाले ग्रस्त्रों के निर्माण के लिए सरकार पर दबाव डालेगा। हो सकता है कि इस स्थिति के कारण निक्सन ने सामरिक ग्रस्त्र परिसीमन जैसा समझौता टालने का भी प्रयास किया हो। (ख) दूसरे कारण का सम्बन्ध सोवियत संघ से था। यह तो सन् 1972 में समझौते के समय ही स्पष्ट हो गया था कि जब तक दोनों महाशक्तियाँ ग्राक्रमण और प्रतिरक्षा, दोनों ही दृष्टियों से परमाणु-ग्रस्त्रों में समान स्तर पर नहीं पहुँच जाती, तब तक उनके बीच सामरिक-ग्रस्त्र-परिसीमन सम्बन्धी पूर्ण समझौता नहीं हो सकेगा। ग्राशा थी कि सोवियत संघ शीघ्र ही प्रक्षेपास्त्रों के बराबर न सही, उसके निकट तो पहुँच ही जाएगा; किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि इस क्षेत्र में ग्रभी वह ग्रमेरिका से पीछे है—न केवल इसलिए कि उसके विश्व भर में सैनिक ग्रड्डे न होने के कारण वह ग्रमेरिका की समता नही कर सकता, बल्कि इसलिए भी कि उसके पास ग्रमेरिका से कम परमाणु ग्रस्त्र हैं।

इन परिस्थितियों में सामरिक अस्त्र-परिसीमन के बारे में किसी व्यापक समझौते की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ?

2. कूटनीतिक और सैनिक क्षेत्रों में अमेरिका की परमाणु-शक्ति सोवियत संघ से बहुत अधिक आंकी जाती है और प्रक्षेपास्त्रों के बारे में लगभग तीन गुनी अधिक। फिर भी वह नए परमाणु-प्रक्षेपास्त्रों के निर्माण की दिशा में प्रयत्नशील है और अपने प्रयत्नों का औचित्य सिद्ध करने के लिए वह समय-समय पर सोवियत संघ की परमाणु-शक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता रहा है। सन् 1960 में अपने चुनाव अभियान में जॉन एफ. कैनेडी ने यही किया, उसके बाद अमेरिका ने जब एम. आई. आर. वी. प्रक्षेपास्त्र-प्रणाली पर कार्य शुरू किया, तब भी यह कहा गया कि सोवियत संघ ने तालीन और गालोश नामक प्रतिरक्षात्मक प्रक्षेपास्त्र-प्रणालियों का विकास कर लिया है, अतः अमेरिका के लिए एम. आई. आर. वी. प्रणाली अनिवार्य हो गई है। लेकिन जब एम. आई. आर. वी. प्रणाली पर जोरों से काम होने लगा तो अमेरिका ने यह स्वीकार किया कि सोवियत संघ की उक्त प्रतिरक्षा व्यवस्था से उसे कोई खतरा नहीं है। फिर भी प्रक्षेपास्त्र निर्माण के व्यापक कार्यक्रम का औचित्य सिद्ध करने के लिए अगले कुछ वर्षों में या सन् 1980 के बाद सोवियत संघ द्वारा प्राप्य परमाणु क्षमता का तर्क दिया जा रहा है। यह एक ऐसा बहाना है जिसके रहते अस्त्र दौड़ रोकने की बात नहीं की जा सकती क्योंकि इससे न तो अमेरिका के त्रिडेंट पनडुब्बियाँ और बी-1 बमवर्षक बनाने के कार्यक्रमों पर कोई प्रभाव पड़ेगा और न ही प्रतिरक्षा-व्यवस्शा को उत्तरोत्तर सुदृढ़ करने का सोवियत संघ का कार्यक्रम प्रभावित होगा। यह स्थिति सामरिक अस्त्र-परिसीमन-समझौते की सम्भावनाओं के प्रतिकूल है। उसके लिए तो आवश्यक है कि अमेरिका यह तथ्य स्वीकार कर ले कि वह परमाणु-प्रक्षेपास्त्रों में सोवियत संघ से आगे है और इस दृष्टि से सोवियत संघ को इस क्षेत्र में कुछ सुविधा प्रदान करे ताकि वह उसके समकक्ष आ सके।

3. अणु-शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों का निर्धारण अनेक आन्तरिक एवं बाह्य तत्त्वों से प्रभावित होता है। एक देश पहले अपने राष्ट्र हितों पर दृष्टिपात करता है तथा बाद में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व हित को देखता है। इसी आधार पर फ्रांस ने परीक्षण-प्रतिरोध-सन्धि का समर्थन नहीं किया। दो या अधिक राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध आज इतने अस्थिर हैं कि कल का मित्र आज का शत्रु बन सकता है। इन परिस्थितियों में अणु-आयुधों के रहने से आक्रमणकारी पर प्रतिबन्ध लग जाता है और यह तुरन्त युद्ध करने का प्रयास नहीं कर पाता क्योंकि दूसरे देश की शक्ति उसका भी विनाश कर सकती है। अस्थिर सम्बन्धों का भय तथा इसमें निहित खतरे और प्रलोभन की भावनाएँ शस्त्रों को सीमित करने के मार्ग में बाधक बन जाती है। आजकल सैनिक तकनीक का इतना विकास हो चुका है कि निःशस्त्रीकरण के नाम पर किसी को भी धोखा दिया जा सकता है। शक्तिशाली शस्त्रों को गुप्त रखकर तथा ऊपरी सेना घटाकर निःशस्त्रीकरण का दावा किया जा सकता है। जब तक यह भय दोनों पक्षों के मन में रहेगा तब तक निःशस्त्रीकरण का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

4. राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता की भावना के कारण एक देश यह स्वीकार नहीं करता कि उसकी निःशस्त्रीकरण की क्रियान्विति की जाँच के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई जाए। इस प्रकार के निरीक्षण द्वारा एक देश की स्वतन्त्रता पर जो अंकुश लगता है उसे मानने को कोई तैयार नहीं होता। यही कारण है कि निःशस्त्रीकरण योजना की सफलता से पूर्व विश्व-सरकार की स्थापना का सुझाव दिया जाता है।

5. निःशस्त्रीकरण के कारण एक देश की अर्थ-व्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ता है। शस्त्रों के निर्माण पर व्यय होने वाली भारी राशि का शस्त्र-निर्माण बन्द कर देने पर रचनात्मक कार्यों में कैसे उपयोग किया जाएगा, उससे अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से कैसे बचाया जाएगा आदि आशंकाएँ उठती हैं तथा यह आशा भी रहती है कि इसे अर्द्ध-विकसित देशों के विकास के लिए किस प्रकार प्रयोग में लाया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि निःशस्त्रीकरण के आर्थिक परिणामों का भय एवं आशा वास्तविक है। इस आशा एवं भय का पश्चिम के सम्पन्न समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह भी अनुमान का विषय है।

6. निःशस्त्रीकरण करते समय देशों के शस्त्रों का जो अनुपात निर्धारित किया जाता है उसके कारण देशों के बीच मन-मुटाव व अविश्वास की भावना पैदा होती है। शस्त्रों की सीमा-निर्धारण के समय प्रत्येक देश को दूसरे देश के प्रति यह शंका रहती है कि शायद वह अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा विरोधी पक्ष की शक्ति घटाने का प्रयत्न कर रहा है। तकनीकी रूप से यह कठिन काम है कि एक देश की सैनिक आवश्यकता का पता लगाया जाए तथा उसी अनुपात में उसकी सैनिक शक्ति को घटाया जाए। जॉन फास्टर डलेस के मतानुसार इसी समस्या के कारण अमेरिका द्वारा निःशस्त्रीकरण की योजनाओं का समर्थन सच्चे दिल से नहीं किया जा सका। इस समस्या के समाधान के लिए दो सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं—(i) पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण कर दिया जाए, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति द्वारा देशों को सामूहिक सुरक्षा की गारण्टी दी जाए। किन्तु ये सुझाव भी तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक पहले शस्त्रों को कम न किया जाए, इसलिए अनुपात की समस्या मूल है।

7. यह कहा जाता है कि अविश्वासपूर्ण वातावरण में निःशस्त्रीकरण और शस्त्रों का नियन्त्रण तथा अन्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है। यदि देशों में पारस्परिक विश्वास रहे तो शस्त्रों की आवश्यकता ही न रहे और निःशस्त्रीकरण की समस्या भी उत्पन्न न हो। पूर्ण अविश्वास की स्थिति अराजकता एवं तानाशाही में से एक को स्थापित कर देगी। यह आशा की जाती है कि निःशस्त्रीकरण की समस्या के समाधान के बाद दोनों गुटों में विश्वास की भावना उत्पन्न हो सकती है। अविश्वास के कारण कोई समझौता नहीं हो पाता; होता भी है तो सच्चे रूप से क्रियान्वित नहीं हो पाता।

8. एक समस्या यह सामने आती है कि पहले राजनीतिक समस्याओं को हल

किया जाए या निःशस्त्रीकरण किया जाए। ये दोनों एक दूसरे के मार्ग में बाधक हैं और एक का समाधान हो जाने पर दूसरे का समाधान सुगम है। यह सोचा जाता है कि शस्त्र झगड़ों का कारण है और इनको घटाने से अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम और मैत्री बढ़ेगी, किन्तु यह प्रयास एकपक्षीय होगा। होना यह चाहिए कि मन-मुटाव, अविश्वास एवं प्रतिद्वन्द्विता को दूर करने के लिए हर दिशा मे प्रयास किया जाए। मडरियागा के शब्दो में, "शस्त्रीकरण की समस्या का समाधान इस समस्या के अन्दर ही नही खोजा जा सकता, किन्तु इसके बाहर ही खोजा जा सकता है।" यथार्थ में निःशस्त्रीकरण की समस्या निःशस्त्रीकरण की समस्या नहीं है, यह वास्तव में विश्व समुदाय के संगठन की समस्या है।

वास्तव में निःशस्त्रीकरण की दिशा में ठोस कार्य तब तक नही हो सकता जब तक महाशक्तियों में मौलिक मतभेद बने रहेंगे। निःशस्त्रीकरण मे वांछित सफलता न मिलने का एक कारण यह भी है कि 'आणविक क्लब' (The Nuclear Club) की सदस्यता बहुत सीमित है। अभी तक अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन ही आणविक शस्त्रास्त्रों के क्षेत्र मे खिलाड़ी हैं, लेकिन जब विश्व के अन्य देश भी मैदान में उत्तर आएँगे और जरा-सी टकराहट पर अणु-युद्ध का खतरा सजीव हो उठेगा तो महाशक्तियाँ सम्भवतः बाध्य हो जाएँगी कि वे निःशस्त्रीकरण (विशेषकर अणु-शस्त्रों के क्षेत्र में) की दिशा मे गम्भीर प्रयास करें। अभी तक इस ओर जो भी कदम उठाए गए हैं अथवा समय-समय पर जो सन्धियाँ की गई हैं वे प्रदर्शनात्मक और प्रचारात्मक ही अधिक हैं, अन्यथा महाशक्तियों का यह प्रयास जारी है कि अभिनव सामरिक अणु-शस्त्रों की खोज की जाए और वर्तमान शस्त्रों की विनाशक शक्ति बढ़ाई जाए।

नाटो और वारसा सन्धि : अस्त्रों की होड़ विश्व-शान्ति के लिए खतरा

महाशक्तियों के दो विशाल सैन्य संगठन—नाटो और वारसा सन्धि किस प्रकार एक दूसरे के घोर प्रतिद्वन्द्वी हैं, यूरोप की अस्त्र-होड़ विश्व-शान्ति के लिए कितना भारी खतरा बनती जा रही है और महाशक्तियाँ शस्त्रीकरण की कैसी कूटनीतिक सामरिक चालें चल रही हैं, इसका यदि हम जायजा लें तो हम पाएँगे कि आज विश्व बारूद के ढेर पर टिका है और एक भी चिनगारी मानव सभ्यता को विनाश के कगार पर ला सकती है।

सोवियत संघ ने 1977 में वारसा सन्धि से जुड़े पूर्व यूरोपीय देशों में मध्यम दूरी के भूस्थित प्रक्षेपास्त्र का उत्थान किया और फलस्वरूप उसके प्रतिद्वन्द्वी खेमे 'नाटो' (उत्तर अटलांटिक सैन्य संगठन) में भारी बेचैनी पैदा हो गई। उसका सारा चिन्तन ही बदल गया। जो उसे छोड़ने की सोच रहे थे उन्होंने अपना इरादा बदल दिया. जो छोड़ गया वह फिर सहयोग करने लगा जिसे दूसरे सदस्य के द्वारा अपनी आणविक प्रहार क्षमता बढ़ाने पर आपत्ति थी। अब चुप है. नई कूटनीतिक चालें चली जाने लगीं और 1980 में यूरोपीय रंगमंच पर हो रहा अभिनय बहुत कुछ

स्पष्ट हो गया। संघीय जर्मन गणराज्य के चांसलर श्मिड्ट मास्को से हाल ही में लौटे। उनके विदेश मन्त्री गेंशर वाशिंगटन हो आए। फ्रांसीसी राष्ट्रपति जिस्कार बान में श्री श्मिड्ट से बातचीत कर चुके और सर्वोपरि नाटो देशों के विदेश मन्त्री इस सारे घटनाचक्र से पहले ही पिछले वर्ष 12 दिसम्बर को ब्रूसेल्स की अपनी बैठक मे नाटो की आणविक शक्ति का आधुनिकीकरण करने का फैसला कर चुके थे।

यूरोप में उत्थापित सोवियत प्रक्षेपास्त्र एस. एस. 20 कई परमाणु बम एक साथ ले जा सकता है और वह 3000-4000 मील तक प्रहार कर सकता है। यह पहले वाले सोवियत प्रक्षेपास्त्रों से कही अधिक शक्तिशाली है और वह पश्चिमी यूरोप मे किसी भी ठिकाने पर प्रहार कर सकता है। अनुमान है कि ऐसे 120 प्रक्षेपास्त्र इस समय वारसा सन्धि के पास हैं। इस प्रक्षेपास्त्र के अलावा सोवियत सघ ने एक नया बमवर्षक टी. यू. 22 एम. भी अपनी यूरोप स्थित वायुसेना के बेड़े में जोड़ा है। पश्चिमी खेमा इसे पीछे से बम दागने वाला (बैकफायर) बमवर्षक कहता है। 3000 मील की दूरी तक प्रहार करने वाला यह विमान एक साथ पांच परमाणु बम ले जा सकता है। पूर्वी यूरोप मे ऐसे 50 बमवर्षक होने का अनुमान है।

एस. एस. 20 प्रक्षेपास्त्रों और टी. यू 22 एम. बमवर्षकों की यूरोप मे उपस्थिति से नाटो का चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। इनके कारण नाटो और वारसा सन्धि के बीच शक्ति-सन्तुलन बिगड़ गया है। 1977 तक नाटो यह दावा कर सकता था कि यूरोप मे उसकी आणविक शक्ति प्रायः वारसा सन्धि के बराबर है। अब ऐसा नही रहा। नाटो के जो आणविक प्रक्षेपास्त्र हैं वे कम दूरी के है और सोवियत सघ के भीतर किसी ठिकाने को अपने प्रहार का लक्ष्य नहीं बना सकते है। पूर्वी यूरोप में स्थित सोवियत सैनिक प्रतिष्ठानो पर अलबत्ता प्रहार कर सकते हैं। पश्चिम यूरोपीय देश फिलहाल आश्वस्त हैं तो इसलिए कि उन्हे लम्बी दूरी तक मार करने वाले अमेरिकी प्रक्षेपास्त्रों का सम्बल मिला हुआ है और वे स्वय को सुरक्षित महसूस कर रहे हैं। किन्तु कब तक और यह प्रश्न ही नाटो के सदस्यों की चिन्ता का प्रमुख कारण है।

वास्तविकता यह है कि 1977 से ही लम्बी दूरी के प्रक्षेपास्त्रों के क्षेत्र में सोवियत संघ लगातार अपनी स्थिति सुधारता रहा है और अब वह अमेरिका की बराबरी पर पर आ गया है—कुछ जानकारों के अनुसार वह आगे भी बढ चुका है। अगर हम यह मान भी लें कि वे दोनों बराबरी पर ही हैं तो भी यूरोप में मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्रों के कारण नाटो की तुलना में वारसा सन्धि का पलड़ा भारी हो गया है। निश्चय ही नाटो देश ऐसी स्थिति मे हाथ पर हाथ रख कर बैठे नही रह सकते हैं। वे मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्रों को प्राप्त करने का निश्चय कर चुके हैं ताकि वे सोवियत संघ की बराबरी कर सकें और यह प्रक्षेपास्त्र है अमेरिका का पार्सिंग–2। सोवियत संघ ने जब अपने बेड़े में एस. एस.–20 प्रक्षेपास्त्र जोड़ा तभी उसे इसका आभास मिल गया था और सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने 6 अक्तूबर, 1979 को पूर्व बर्लिन के अपने प्रवास के दौरान यूरोप स्थित सोवियत परमाणु अस्त्रो में कटौती

का प्रस्ताव किया था किन्तु इस शर्त के साथ कि नाटो नए अस्त्रों के बारे में अपना फैसला बदले। श्री ग्रेभनेव ने यह नहीं बताया कि कटौती से उनका तात्पर्य किन अस्त्रों में कटौती से था। जाहिर है कि नाटो देश इससे सन्तुष्ट नहीं हुए अन्यथा वे 12 दिसम्बर को मध्यम दूरी के 108 पार्सिंग–2 और भूमि से दागे जाने वाले 464 क्रूज प्रक्षेपास्त्रों के उत्थापन का निर्णय नहीं करते। ये दोनों ही प्रकार के प्रक्षेपास्त्र पश्चिम यूरोप स्थित अड्डों से सोवियत संघ के भीतरी ठिकानों पर प्रहार कर सकते हैं। 1983 मे इन प्रक्षेपास्त्रों का उत्थापन शुरू हो जाएगा।

पिछले 7-8 महीनों से सोवियत संघ का प्रयास नाटो देशों के इस फैसले को बदलने का रहा है ताकि यथास्थिति बनी रहे। इस समय यूरोप में सोवियत संघ के पास 5,364 प्रक्षेपण वाहन हैं (जब कि नाटो के पास 2,045 प्रक्षेपण वाहन ही हैं) और नाटो के 1,811 की तुलना में 2,244 परमाणु बम हैं। किन्तु गुणवत्ता, कार्यक्षमता और इतर कारणों से उनकी उपयोगिता का आँकड़ा बहुत आगे नहीं है। सोवियत संघ के लिए यह आँकड़ा 1209 है और नाटो के लिए 1,065। यदि सोवियत संघ एम. एस.–20 प्रक्षेपास्त्र और टी. यू. 22 एम. बमवर्षक यूरोप से हटा ले तो लाभ की यह स्थिति भी समाप्त हो जाएगी।

सुरक्षा के प्रति पश्चिमी यूरोप की चिन्ता तभी दूर हो सकती है जबकि सोवियत संघ यूरोप से एस. एस.–20 और टी. यू. 22 एम. हटाए अथवा अमेरिका उनके मुकाबले के लिए जल्दी ही पश्चिमी यूरोप में प्रक्षेपास्त्र उत्थापित करे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सोवियत संघ का प्रयास यथास्थिति बनाए रखने का ही होगा। इसका मतलब यह होगा कि सामरिक अस्त्रों के बारे मे अमेरिका और सोवियत संघ के बीच इस समय जो अन्तर-महाद्वीपीय सन्तुलन है वह बना रहेगा और यूरोप में सोवियत संघ का वर्चस्व भी।

सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप में ये नए प्रक्षेपास्त्र और बमवर्षक ही तैनात नहीं किए हैं बल्कि उसने यूरोप स्थित अपने कम दूरी के प्रक्षेपास्त्रों के आधुनिकीकरण और विस्तार का काम भी हाथ मे लिया है। हाल के वर्षों में उसकी अन्तर-महाद्वीपीय परमाणु क्षमता बढ़ी है। उसने परम्परागत सैनिक शक्ति में भी बहुत सुधार कर लिया है। उसकी नौ-सेना जितनी विशाल है उतनी शान्तिकाल में शायद ही कभी किसी अन्य देश की नौ-सेना रही हो।

मजे की बात यह है कि पश्चिम जर्मनी के भू. पू. चाँसलर विली ब्रांट प्रणीत देतां के दौर (1969–79) का सर्वाधिक लाभ सोवियत संघ ने ही उठाया। इसी दौर मे उसने यूरोप स्थित अपनी सेना का और आणविक अस्त्रों का विस्तार किया, जबकि नाटो से हटने का फैसला किया और अमेरिका ने फ्रांस द्वारा परमाणु प्रक्षेपास्त्रों का विस्तार किए जाने का विरोध। विश्व के अन्य तनाव क्षेत्रों को लेकर भी नाटो देशों के मतभेद उभर कर सामने आए और यह कहा जा सकता है कि यदि सोवियत संघ ने यूरोप में अपनी शक्ति न बढाई होती, उसने पहले वियतनाम के माध्यम से कंबुजिया और फिर अफगानिस्तान में हस्तक्षेप न किया होता तो नाटो देशों मे

एकता पैदा नहीं होती जो आज उनमें है। फ्रांस फिर नाटो से सहयोग करने लगा है और उसकी आणविक शक्ति को लेकर अमेरिका कोई आपत्ति नहीं उठा रहा है। नाटो का एक और परमाणु शक्ति सम्पन्न देश ब्रिटेन भी आर्थिक दुरावस्था के बावजूद अपनी परमाणु शक्ति के विस्तार की योजना बना रहा है। अपनी सुरक्षा के लिए प्रायः पूरी तरह अमेरिका पर निर्भर पश्चिम जर्मनी भी प्रतिरक्षा के क्षेत्र में अपने पाँवों पर खड़े होने की कोशिश करे तो कोई आश्चर्य नहीं होगा।

यूरोप की वर्तमान स्थिति ने पश्चिमेशिया में खासतौर से खाड़ी के तेल उत्पादक देशों में पश्चिमी खेमे के हस्तक्षेप की सम्भावना को बढा दिया है। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के बने रहते नाटो देश अपनी व्यूहरचना में यदि ऐसा कोई परिवर्तन करें तो स्वाभाविक ही होगा। ईरान में अमेरिकी प्रभाव के पराभव के बाद तो यह अनिवार्य-सा लगने लगा है। हिन्द-महासागरीय द्वीप दियागो गार्सिया स्थित अमेरिकी सैनिक अड्डा इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। सैनिक विशेषज्ञों का अनुमान है कि इस अड्डे से कार्यवाही कर के अमेरिका आनन-फानन में अरब की खाड़ी के देशों के तेलकूपों पर अधिकार जमा सकता है।



5 शीतयुद्ध

(Cold War)

द्वितीय महायुद्ध काल मे अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रो तथा सोवियत रूस ने कन्धे से कन्धा भिडाकर धुरीराष्ट्रो के विरुद्ध युद्ध किया था, पर इस एकता के बावजूद दोनो पक्षों मे एक-दूसरे के प्रति सन्देह के बीज विद्यमान थे। युद्ध के बाद सन्देह के बीजो ने वृक्ष का रूप धारण कर लिया। युद्ध-काल का सहयोग असहयोग में बदल गया। अमेरिका और पश्चिमी शक्तियों के पूँजीवादी गुट तथा सोवियत रूस और उसके साथी देशों के साम्यवादी गुट के बीच तनाव और मतभेद इतने बढ़ गए कि वे एक-दूसरे पर कठोर आरोप प्रत्यारोप लगाने लगे। इस प्रकार महायुद्ध के बाद शीत-युद्ध शुरू हुआ जिसमें अस्त्रो के स्थान पर वाग्बाणों का प्रयोग हुआ।

शीतयुद्ध का अर्थ

महायुद्ध के उपरान्त सशस्त्र सैनिक संघर्ष तो शान्त हो गया, बारूद के गोले-गोली बन्द हो गए, लेकिन कटु शब्दों, आरोपों-प्रत्यारोपों, एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार और कूटनीतिक दाँव-पेच आदि का युद्ध आरम्भ हो गया। इसी संग्राम को 'शीतयुद्ध' (Cold War) की सज्ञा दी गई। पिछले दो-तीन वर्षों से और विशेषकर सन् 1974–75 में अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में सुधार के कारण शीतयुद्ध बहुत कुछ शिथिल पड़ चुका है, लेकिन विश्व इस बात को नही भूल सकता कि पिछले वर्षों में शीतयुद्ध ने कई बार भीषण संकटों को जन्म दिया, यहाँ तक कि महाशक्तियो के बीच सशस्त्र युद्ध तक की नौबत आ गई थी।

शीतयुद्ध मे दोनो पक्ष आपस मे शान्तिकालीन कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित रखते हुए भी शत्रु-भाव रखते हैं और सशस्त्र युद्ध के अलावा अन्य सभी उपायों से एक-दूसरे को कमजोर बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह एक कूटनीतिक युद्ध है जो अत्यन्त उग्र होने पर सशस्त्र युद्ध को जन्म दे सकता है। शीतयुद्ध में दोनों ही पक्ष अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए अपनी सैद्धान्तिक विचारधाराओं और मान्यताओं पर बल देते हैं। दूसरे देशों को आर्थिक सहायता, प्रचार-अस्त्र का ... जासूसी, सैनिक हस्तक्षेप, शस्त्र सप्लाई, सैनिक गुटबन्दियों और प्रादेशिक ...

निर्माण, शस्त्रीकरण आदि शीतयुद्ध के महत्त्वपूर्ण अंग है । पं. नेहरू के शब्दों में यह "दिमागों में युद्ध के विचारों को प्रश्रय देने वाला युद्ध है जिसका उद्देश्य शत्रुओं को अकेला कर देना और मित्रों को जीतना होता है ।"

शीतयुद्ध के कारण

शीतयुद्ध का आधार तो महायुद्ध-काल में ही बन चुका था पर महायुद्ध के बाद सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सघ में उग्र मतभेद हो जाने से इन दोनों महाशक्तियों के नेतृत्व मे दो गुटों का कूटनीतिक युद्ध शुरू हो गया । अनेक ऐसे कारण उत्पन्न हो गए जिनसे शीतयुद्ध का तेजी से प्रसार हो गया । यहाँ हम प्रारम्भिक कुछ वर्षों में शीतयुद्ध के पनपने के कारणों का उल्लेख करेंगे जिनमे 'पश्चिम' के 'पूर्व' के विरुद्ध तथा 'पूर्व' के 'पश्चिम' के विरुद्ध आरोप सम्मिलित हैं ।

(क) पश्चिम के पूर्व के विरुद्ध आरोप

अमेरिका के नेतृत्व मे पाश्चात्य शक्तियों ने सोवियत रूस पर अनेक आरोप-प्रत्यारोप लगाए । उनमें मुख्य इस प्रकार थे—

1. **रूस द्वारा याल्टा-समझौतों की अवहेलना**—ब्रिटेन और अमेरिका की रूस के विरुद्ध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शिकायत यह थी कि उसने याल्टा-समझौतो का पूर्ण उल्लंघन किया । फरवरी, 1945 में रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने कुछ समझौते किए थे, उदाहरणार्थ जर्मनी को चार 'आधिपत्य क्षेत्रों' (Occupation Zones) में विभाजित करना, पोलैण्ड मे सोवियत संघ द्वारा सुरक्षित 'लुबनिन सरकार' और पश्चिमी देशों द्वारा संरक्षित 'लन्दन सरकार' से उसके पूर्व मे चुनावों द्वारा प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना, नए पोलैण्ड के स्थान पर स्वतन्त्र स्थित रूसी भाषा-भाषी प्रदेश का कर्जन-रेखा के आधार पर पृथक्करण, यद्यपि पश्चिम में उसे मुआवजे के रूप में कुछ जर्मन-भूमि दिए जाने का प्रावधान था । सोवियत रूस द्वारा यह भी वचन दिया गया था कि वह 'बाह्य मंगोलिया' में 'पूर्व-स्थिति' (Status-quo), दक्षिणी सखालिन तथा कुराइल द्वीपों पर स्वामित्व, दारेन का अन्तर्राष्ट्रीयकरण (*Internationalization of Dairen*), पोर्ट आर्थर में एक रूसी नौसैनिक अड्डे की स्थापना तथा एक चीनी-रूसी कम्पनी द्वारा मंचूरियन रेलवे के संयुक्त-संचालन की शर्तों के साथ जर्मनी के आत्म-समर्पण के दो तीन महीने बाद जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो जाएगा । स्टालिन ने यह भी कहा था कि वह चीन की 'राष्ट्रवादी' सरकार को ही वैध सरकार के रूप में मान्यता प्रदान करेगा ।

लेकिन रूस द्वारा याल्टा-समझौतों की उपेक्षा की गई । उसने अनेक ऐसी कार्यवाहियाँ कीं जिनसे यह स्पष्ट हो गया कि रूसी दृष्टिकोण में याल्टा-समझौता रद्दी कागजों के ढेर के अलावा कुछ नहीं है । उदाहरण के लिए,

(i) रूस ने पोलैण्ड में स्वतन्त्र चुनावों पर आधारित एक प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना करने के बजाय पोलिश जनता पर अपनी संरक्षित 'लुबनिन-सरकार' (Lubnin Government) को लादने का प्रयत्न किया ।

(ii) रूस ने केवल लुबनिन सरकार को ही पोलिश जनता पर नहीं लादा

बल्कि देश के अन्य प्रजातान्त्रिक दलों को गिरफ्तार भी कर लिया। उन्होंने पोलैण्ड में प्रवेश करना चाहा तो उन्हें अनुमति नहीं दी गई।

(iii) हंगरी, बल्गेरिया, रूमानिया और चैकोस्लोवाकिया में भी रूस द्वारा युद्ध-विराम समझौतों तथा याल्टा व पोट्सडम सन्धियों का उल्लंघन किया गया। रूस ने इन सभी देशों में प्रजातन्त्र की पुनर्स्थापना में मित्रराष्ट्रों के साथ सहयोग करने से इनकार कर दिया और रूस-समर्थक सरकारें स्थापित कर दीं।

(iv) जर्मनी द्वारा आत्म-समर्पण किए जाने से पूर्व ही रूसी फौजों ने यूनान के उत्तर में अधिकांश पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी यूरोप पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया और जनता पर साम्यवादी सरकारें थोप दीं। कुछ ही वर्षों में यूनान और बाल्टिक सागर के बीच सुदृढ़ श्रमिक-तानाशाही राज्य स्थापित हो गए।

(v) सोवियत रूस की जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की अनिच्छा और उसके द्वारा मित्रराष्ट्रों को साइबेरिया में अड्डों की सुविधा प्रदान करने में हिचकिचाहट ने भी पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के प्रति सन्देह को बढ़ाया।

(vi) मंचूरिया स्थित सोवियत फौजों ने सन् 1946 के प्रारम्भ में राष्ट्रवादी सेनाओं को तो वहाँ प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओं को प्रवेश सम्बन्धी सभी सुविधाएँ प्रदान की और उनको सम्पूर्ण युद्ध-सामग्री सौंप दी जो जापानी सेना भागते समय छोड़ गई थी।

2. रूसी सेनाओं का ईरान से न हटाया जाना—युद्ध के उपरान्त एंग्लो-अमेरिकी फौजें तो दक्षिणी ईरान से हटा ली गईं, लेकिन रूसी फौजें उत्तरी ईरान में स्थित रहीं। यद्यपि विश्व-जनमत और विश्व-संस्था के दबाव से बाद में रूसी सेनाएँ ईरान से हटा ली गईं, तथापि पश्चिमी राष्ट्रों का रूसी नीयत पर सन्देह और भी दृढ़ हो गया।

3. टर्की पर रूसी दबाव—युद्ध के तुरन्त बाद रूस ने टर्की से कुछ भू-प्रदेश एवं बास्फोरस में सैनिक अड्डे निर्मित करने के अधिकार की माँग की। उसके बढ़ते हुए हस्तक्षेप के उत्तर में अमेरिका ने चेतावनी दी कि टर्की पर किसी भी आक्रमण को सहन नहीं किया जाएगा और मामला सुरक्षा परिषद् में लाया जाएगा।

4. अमेरिका विरोधी प्रचार अभियान—युद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही प्रमुख सोवियत-पत्रों में अमेरिका के प्रति कटु आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। इस 'प्रचार अभियान' से अमेरिका के सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में तीव्र विक्षोभ व्याप्त हो गया।

5. रूस द्वारा जर्मनी पर बोझ लादना—युद्धोपरान्त क्षतिपूर्ति-प्रावधान का अनुचित लाभ उठाते हुए रूस ने जर्मन-उद्योगों को छिन्न-भिन्न कर मूल्यवान मशीनों का रूस में स्थानान्तरण करना शुरू कर दिया। रूस के इस कार्य से पहले से ही अस्त-व्यस्त जर्मन आर्थिक व्यवस्था पर और अधिक बोझ पड़ा। ब्रिटेन और अमेरिका में रूस की इस कार्यवाही से काफी विक्षोभ फैल गया और उन्हें विवश होकर व्यवस्था की सहायतार्थ पर्याप्त धन व्यय करना पड़ा।

6. **जर्मनी सम्बन्धी समझौते के गम्भीर उल्लंघन**—रूस ने जर्मनी सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के और भी अनेक गम्भीर उल्लंघन किए, जैसे (क) रूस ने अपने अधीनस्थ जर्मन क्षेत्र के हजारों लोगों को बन्दी बनाकर रूस भेज दिया या बन्दी-शिविरों मे डाल दिया, (ख) पूर्वी जर्मनी की जनता को पश्चिमी जर्मनी की जनता से एकदम पृथक् कर दिया, (ग) अप्रेल, 1946 मे जर्मन समाजवादी दल को बलपूर्वक साम्यवादी दल में संयुक्त कर दिया गया, (घ) जर्मनी को एक पृथक् आर्थिक इकाई के रूप में मान्यता सम्बन्धी व्यवस्था को ठुकरा कर रूस ने स्पष्ट कह दिया कि प्रत्येक क्षेत्र अपना व्यापार स्वय करेगा, एवं (ङ) रूस ने ओडर-नीसे रेखा को जर्मन-पोलिश-सीमा के रूप में मानकर लुबलिन सरकार को यह अनुमति प्रदान करदी कि वह उस भूमि पर अधिकार करके वहाँ बसे जर्मन नागरिकों को निष्कासित कर दे।

7. **बर्लिन की नाकेबन्दी**—जून, 1948 में, लन्दन प्रोटोकोल का उल्लघन करते हुए रूस ने बर्लिन की नाकेबन्दी की और पश्चिमी बर्लिन तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच सभी रेल–सडक और जल–यातायात बन्द कर दिया। यही नही, रूस ने हजारों जर्मन युद्ध-बन्दियों और नागरिकों को स्वदेश लौटने की अनुमति देने से इनकार कर दिया।

8. **निषेधाधिकार का बार-बार प्रयोग**—सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार के अनियन्त्रित प्रयोग द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ के मार्ग में बाधाएँ डालना आरम्भ कर दिया। निषेधाधिकार के बल पर उसने अमेरिका और पश्चिमी शक्तियों के लगभग प्रत्येक प्रस्ताव को निरस्त करने की नीति अपनाई।

9. **रूस द्वारा शान्ति-व्यवस्था में विघ्न**—शान्ति-व्यवस्था की पुनर्स्थापना मे रूस द्वारा इतनी बाधा डाली गई और इतनी अनुचित तथा व्यापक मांगें प्रस्तुत की गई कि शान्ति समस्याएँ सुलझने के स्थान पर उलझने लगी तथा नए विवाद उत्पन्न होने लगे।

10. **अमेरिका में साम्यवादी गतिविधियाँ**—रूस ने अन्य देशों में ही नहीं, अमेरिका में भी साम्यवादी गतिविधियों को प्रोत्साहन दिया। सन् 1945 के प्रारम्भ में 'स्ट्रेटेजिक सर्विस' के अधिकारियों को पता चला कि उनकी संस्था के बहुत से गुप्त दस्तावेज साम्यवादी संरक्षण में चलने वाले 'अमेरेशिया' नामक मासिक-पत्र के सम्पादक के हाथ लग गए हैं। सन् 1946 में 'कनाडियन शाही आयोग' की रिपोर्ट ने यह प्रमाणित कर दिया कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत संघ की एक भुजा' है। अब अमेरिकी सरकार साम्यवादियों के प्रति पूरी तरह सशंकित हो गई और सम्पूर्ण अमेरिकी राष्ट्र तथा अन्य पश्चिमी शक्तियों मे रूस के प्रति घृणा की उत्कट भावना व्याप्त हो गई।

पश्चिमी राज्यों और अमेरिका ने उपर्युक्त तथा अन्य आरोप लगाते हुए सोवियत संघ के प्रति पूर्ण अविश्वास व्यक्त कर दिया। यह कहा जाने लगा कि हमे तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की स्थापना को रोकना

चाहिए। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चर्चिल ने अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन की उपस्थिति में 5 मार्च, 1946 को अपनी सुप्रसिद्ध 'फुल्टन वक्तृता' में साम्यवाद के विरोध की एक नई नीति का संकेत दिया। इस भाषण में चर्चिल ने यूरोप पर सोवियत 'लोह-आवरण' (Iron Curtain) की निन्दा की तथा 'स्वतन्त्रता की दीपशिखा प्रज्ज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए' एक ऐंग्लो-अमेरिकी गठबन्धन की माँग की। सन् 1946 के अप्रैल मास के बाद से ही दोनों पक्षों (पश्चिमी व पूर्वी गुट) ने अपने मतभेदों को खुलेआम उगलना शुरू कर दिया। 12, मार्च 1947 को यूनानी गृहयुद्ध के सम्बन्ध में काँग्रेस से यूनान एवं टर्की को 400 मिलियन डॉलर की सहायता देने का अनुरोध करते हुए राष्ट्रपति ट्रूमैन ने विख्यात 'ट्रूमैन सिद्धान्त' (Truman Doctrine) का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होंने सभी स्वतन्त्र देशों को सहायता देने की नीति पर बल दिया जो सशस्त्र अल्पसंख्यकों अथवा वाह्य शक्तियों द्वारा आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्नों का विरोध कर रहे थे। 5 जून, 1947 को 'मार्शल योजना' की घोषणा की गई जिसका उद्देश्य यूरोप की अस्त-व्यस्त आर्थिक दशा को सुधारना था। जहाँ पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों ने इस योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया वहाँ रूस ने इसे अपने लिए गम्भीर चुनौती समझा। 3 जुलाई, 1947 को ब्रिटेन और फ्रांस ने यूरोप के आर्थिक पुनरुत्थान की समस्या पर विचार करने के लिए पेरिस में 22 देशों के एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें प्रारम्भ में तो पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया ने भाग लेने की स्वीकृति दे दी, परन्तु बाद में सोवियत रूस के विरोध के कारण इस निमन्त्रण को ठुकरा दिया। एटली (Attlee) के शब्दों में—"जब पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया ने मार्शल सहायता के विचार को स्वीकार कर लिया तब पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के एकीकरण की उसकी (बेविन की) आशाएँ बढ़ गईं। परन्तु क्रेमलिन के आधार पर इन स्वीकृतियों के परावर्तन ने इस आशा को समाप्त कर दिया। वस्तुतः यह शीतयुद्ध की एक घोषणा थी।"

(ख) पूर्व (रूस) के पश्चिम के विरुद्ध आरोप

पश्चिमी राज्यों द्वारा रूस के विरुद्ध जो आरोप लगाए गए, उनसे यह नहीं समझना चाहिए कि शीतयुद्ध के नाटक का एकमात्र खलनायक सोवियत रूस ही था। सोवियत संघ और उसके समर्थक राष्ट्रों ने अपने आरोपों में यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि युद्धोत्तर काल के तनाव और अशान्ति का सम्पूर्ण दोष पश्चिमी राष्ट्रों का है।

(i) **युद्धकाल में पश्चिम द्वारा 'द्वितीय मोर्चा' खोले जाने में देरी**—रूस की पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध एक सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि जर्मनी द्वारा पूरी तरह से दबे रहने की स्थिति में स्टालिन ने मित्रराष्ट्रों से बार-बार अनुरोध किया था कि पश्चिमी यूरोप में जर्मनी के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोला जाए ताकि सोवियत रूस पर किए जाने वाले जर्मन आक्रमण में कमी आ सके, परन्तु पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा रूसी सुझाव को यह कह कर अस्वीकार कर दिया गया कि उनकी तैयारी अभी

है। दूसरा मोर्चा खोले जाने में पर्याप्त विलम्ब किए जाने का परिणाम यह हुआ कि सोवियत रूस को जर्मनी के हाथों जन-धन की भारी क्षति उठानी पड़ी। बैली (Bailey) के शब्दों में, "इससे क्रेमलिन मे यह सन्देह जड़ पकड गया कि पश्चिमी राष्ट्र, जो युद्धोत्तर काल मे एक शक्तिशाली सोवियत संघ के उत्थान की सम्भावना से भयभीत है, युद्ध के अखाड़े मे कूदने से पूर्व रूस को पूर्णतया 'आहत तथा शक्तिहीन' होते देखना चाहते है।"

(ii) पश्चिमी देशों की फासिस्ट देशों के साथ सांठगांठ--रूस ने इस बात पर बहुत क्षोभ प्रकट किया कि सैनिक व्यावहारिकता की आड़ मे अमेरिका ने इटली और फ्रांस के फासिस्ट तत्वों से सम्पर्क स्थापित किया और फिनलैण्ड द्वारा रूस के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने तथा लेनिनग्राड पर आक्रमण करने के काफी समय बाद तक वाशिंगटन ने उनसे अपने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद नही किए।

(iii) युद्धकाल में पश्चिम द्वारा अपर्याप्त सहायता—सोवियत संघ ने यह आरोप लगाया कि युद्धकाल मे जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण होने पर पश्चिमी देशों ने जो सैनिक सहायता रूस को दी, वह रूस द्वारा उत्पन्न की गई युद्ध सामग्री का केवल 4 प्रतिशत था। वास्तव मे मित्रराष्ट्रों की आन्तरिक अभिलाषा यह थी कि रूस जर्मनी के साथ संघर्ष में बिलकुल पस्त हो जाए।

(iv) अमेरिका द्वारा अणु बम के रहस्य को रूस से गुप्त रखना—अमेरिका ने अणुबम के आविष्कार को सोवियत रूस से सर्वथा गुप्त रखा जबकि ब्रिटेन और कनाडा को इस बात का पता था। स्टालिन ने अमेरिका द्वारा अणुबम के रहस्य को रूस से गुप्त रखने को परस्पर विश्वासघात माना।

(v) सोवियत संघ की 'लैण्ड-लीज' सहायता बन्द किया जाना—अमेरिका द्वारा 'लैण्ड-लीज अधिनियम' (Land Lease Act) के अन्तर्गत सोवियत संघ को जो आंशिक सहायता दी जा रही थी, उससे वह (रूस) पहले से ही असन्तुष्ट था, क्योंकि सहायता एकदम ना-काफी थी, किन्तु यूरोप मे विजय के उपरान्त राष्ट्रपति ट्रूमैन ने जब यह आंशिक सहायता भी एकाएक बन्द कर दी तो सोवियत रूस भड़क उठा।

(vi) सोवियत विरोधी प्रचार अभियान—रूस पश्चिमी राष्ट्रों से इसलिए भी बहुत असन्तुष्ट था कि युद्धकाल मे ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओं मे निरन्तर सोवियत-विरोधी साहित्य का प्रचार करती रही। पश्चिमी प्रेस खुलेआम साम्यवादी देश के प्रति घृणा-प्रचार मे संलग्न हो गए और साम्यवादी खतरे का खूब बढा-चढा कर प्रचार किया गया।

(vii) 5 मार्च, 1946 की चर्चिल की विख्यात 'फुल्टन वक्तृता' ने सोवियत रूस को एकदम बौखला दिया। इसमें यह स्पष्ट निर्देश था कि "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की स्थापना को रोकना चाहिए।"

(viii) 'पश्चिम' के प्रति, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध रूसी सन्देह तब बहुत अधिक बढ गया जब 20 सितम्बर, 1945 को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने भूतपूर्व उपराष्ट्रपति तथा तत्कालीन वाणिज्य सचिव हेनरी ए. वेलेस को केवल इस

अपराध के लिए त्यागपत्र देने को कहा कि, "उसने 12 सितम्बर को न्यूयार्क में अपने एक सार्वजनिक भाषण मे सोवियत सघ तथा अमेरिका के बीच मैत्री-स्थापना की अपील की थी। इसके कुछ ही माह बाद राज्य-सचिव डीन एचीसन ने 10 फरवरी, 1947 को सीनेट के सम्मुख स्पष्ट रूप से घोषणा की कि रूस की विदेश नीति आक्रामक तथा विस्तारवादी है।" इसके बाद ही साम्यवाद के विरोध के नाम पर और सोवियत-विस्तार को रोकने के उद्देश्य से 'ट्रूमैन सिद्धान्त', 'मार्शल योजना' आदि का सूत्रपात हुआ। सोवियत संघ ने इन सब कार्यवाहियों को अपने अस्तित्व के लिए चुनौती माना। 25 अक्तूबर को मार्शल योजना के जवाब में यूरोप के नौ साम्यवादी देशों का कोमिनफार्म स्थापित किया गया। अब बात-बात पर झगड़ा होने लगा और एक-दूसरे के विरुद्ध गाली-गलौज और आरोपों-प्रत्यारोपों की धुआंधार वर्षा होने लगी।

इस विवरण से सुस्पष्ट है कि युद्धोत्तर काल मे 'पूर्व' और 'पश्चिम' के बीच एक गहरी खाई बन चुकी थी और सन् 1917 की सोवियत क्रान्ति से द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक के इतिहास में वैमनस्य का अच्छी तरह बीजारोपण हो चुका था।

1947 से 1953 तक शीतयुद्ध

सन् 1945 से 1953 तक पश्चिमी देशों और रूस में संयुक्त राष्ट्रसंघ के भीतर और बाहर अणुशक्ति के नियन्त्रण व नियमीकरण; निःशस्त्रीकरण; पराजित राष्ट्रों के साथ शान्ति-सन्धियो; जर्मनी, बर्लिन, यूरोप की सुरक्षा-समस्याओं; एशिया एवं अफ्रीका के अल्पविकसित राष्ट्रो के भविष्य आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के लगभग सभी प्रश्नों पर तीव्र वाद-विवाद तथा कूटनीतिक संघर्ष चालू रहा। रूस द्वारा मार्शल योजना के प्रत्युत्तर में अक्तूबर, 1947 मे यूरोप ने नौ साम्यवादी देशों के 'कोमिनफार्म' (Comminform or Communist Information Bureau) की स्थापना के बाद से शीतयुद्ध की उग्रता बढती गई। रूस ने पूर्वी यूरोप पर अपने नियन्त्रण को और भी अधिक कठोर बना दिया। शक्ति के दो गुट या शिविर बन गए और उनमें अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों के विस्तार के लिए जी तोड स्पर्द्धा होने लगी। रूसी दबाव के कारण फिनलैण्ड को *मार्शल सहायता का प्रस्ताव अस्वीकार करना* पड़ा। परन्तु एक साम्यवादी देश यूगोस्लाविया ने ही अपने नेता मार्शल टीटो के नेतृत्व में स्टालिन के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। मार्शल टीटो का यह कार्य 'शीतयुद्ध' की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी क्योंकि जहाँ इसने एक तरफ गैर-साम्यवादी देशों को नवीन बल प्रदान किया, वहाँ दूसरी तरफ रूस के दृष्टिकोण को और भी अधिक कठोर बना दिया।

बर्लिन की नाकेबन्दी, दो जर्मनियों का उदय—सन् 1948 में रूस ने बर्लिन की नाकेबन्दी करके नया संकट उत्पन्न कर दिया। इस घटना ने 'शीतयुद्ध' को एक नया मोड़ दिया। बर्लिन के घेरे के समय ही दोनों पक्षों को शक्ति परीक्षण का सर्वप्रथम वास्तविक अवसर मिला और शीतयुद्ध में इस बार अमेरिका का रुख पहली बार अत्यधिक कठोर दिखाई दिया। यद्यपि रूस की बर्लिन-नाकेबन्दी सिद्ध

हुई और मई, 1948 में इस नाकेबन्दी को समाप्त कर दिया गया, तथापि इस घटना का एक गम्भीर परिणाम यह हुआ कि अब सोवियत संघ का विरोध करने के लिए अमेरिका तरह-तरह के सैनिक-संगठनों की स्थापना की दिशा में सक्रिय हो गया। दूसरी ओर पहले से ही क्षत-विक्षत जर्मनी 'शीतयुद्ध' का एक प्रधान केन्द्र बना रहा। ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका ने अपने अधीनस्थ जर्मनी के तीनों पश्चिमी क्षेत्रों का एकीकरण कर दिया। इस तरह 21 सितम्बर, 1949 को संघीय-जर्मन-गणराज्य (*Federal Republic of Germany*) *अथवा 'पश्चिमी जर्मनी' का उदय हुआ।* मित्रराष्ट्रों अर्थात् उपर्युक्त तीनो शक्तियो मे इस कार्य के प्रत्युत्तर मे 7 अक्तूबर, 1949 को जर्मनी के रूसी क्षेत्र मे 'जर्मन प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य' (German Democratic Republic) अथवा 'पूर्वी जर्मनी' की स्थापना कर दी गई। इस तरह पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दो जर्मन राष्ट्र अस्तित्व में आए और उनके एकीकरण का प्रश्न शीतयुद्ध को बल प्रदान करने लगा।

नाटो की स्थापना, साम्यवादी चीन का उदय, आदि घटनाएँ—रूस के कठोर रुख और साम्यवाद के प्रसार की नीति का उत्तर पश्चिमी शक्तियों ने *4 अप्रेल,* 1949 को 'नाटो' (NATO) की स्थापना के रूप मे दिया। शीतयुद्ध का क्षेत्र केवल यूरोप तक ही सीमित नही रहा। एशिया भी इसकी लपेट मे आ गया। रूस ने टर्की और ईरान में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहा, परन्तु पाश्चात्य शक्तियों की सहायता से ये दोनो देश रूसी दबाव का सफलतापूर्वक प्रतिरोध करते रहे। अक्तूबर, 1949 को पेकिंग मे साम्यवादी गणराज्य स्थापित हो जाने से 'शीतयुद्ध' मे अत्यधिक गर्मी आ गई। साम्यवादियो की इस विजय ने रूस के उत्साह मे आशातीत वृद्धि कर दी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार चीन सुरक्षा परिषद् का एक स्थायी सदस्य था। परन्तु जब च्यांगकाई शेक की राष्ट्रवादी सरकार फारमोसा को पलायन कर गई तो चीन की साम्यवादी सरकार ने महासभा एवं सुरक्षा परिषद् मे अपना स्थान पाने की माँग की। पश्चिमी गुट यह नही चाहता था कि सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ का एक और समर्थक हो जाए। परिषद् के 5 स्थायी सदस्यो मे से 2 साम्यवादी हो जाने के भय से संयुक्तराज्य अमेरिका ने चीन की नई सरकार को मान्यता नही दी और साम्यवादी प्रतिनिधि के संघ में स्थान ग्रहण का घोर विरोध किया। साम्यवादी चीन की सदस्यता की माँग को इस प्रकार ठुकरा दिए जाने का *रूस द्वारा तीव्र विरोध किया गया और एक बार तो उसने परिषद् की बैठकों तक* का बहिष्कार कर दिया। वास्तव मे साम्यवादी चीन की संघ में सदस्यता के प्रश्न पर शीतयुद्ध मे कटुता और गम्भीर वैमनस्य का समावेश हुआ तथा आगामी वर्षों मे शीतयुद्ध की भीषणता और पारस्परिक मतभेदों की तीव्रता में हर प्रकार से वृद्धि हुई। अक्तूबर, 1971 में जनवादी चीन विश्व-संस्था का सदस्य बन सका और सुरक्षा परिषद् मे ताइवान की जगह उसे स्थायी सदस्यता प्राप्त हुई। ताइवान का विश्व-संस्था मे यह निष्कासन सर्वथा अप्रत्याशित था।

कोरिया का युद्ध—बर्लिन-प्रश्न पर और संयुक्त राष्ट्रसंघ मे साम्यवादी चीन

के प्रवेश की समस्या पर शीतयुद्ध की तीव्रता अभी कम न हो पाई थी कि जून, 1950 में उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया गया जिससे 'शीतयुद्ध' ने कुछ समय के लिए 'उष्ण अथवा सशस्त्र युद्ध' का रूप धारण कर लिया। प्रत्यक्ष में यह युद्ध दो कोरियाई क्षेत्रों मे था, परन्तु वास्तव में यह दोनों शक्ति-गुटों के नेताओं–रूस एवं अमेरिका मे ठन गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया और उसके झण्डे के नीचे अनेक देशों की, विशेषतः अमेरिका की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया की सहायता की। परन्तु किसी भी पक्ष को निर्णयात्मक विजय प्राप्त न हो सकी और 8 जून, 1953 को अन्ततः कोरिया मे युद्ध-विराम हो गया। अमेरिका, ब्रिटेन और रूस की सरकारों ने युद्धबन्दी का स्वागत किया, किन्तु दिलों में विद्वेष की आग धधकती रही। फलतः शीतयुद्ध जारी रहा। इसमे कोई सन्देह नही कि कोरिया युद्ध शीतयुद्ध की ही एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। चेस्टर बाउल्स (Chester Bowles) के शब्दों मे, "कोरिया-युद्ध ने ही रूसी और चीनी नीतियों को एक धक्के मे एकता प्रदान की।" चीन के लिए सोवियत सहायता की आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई और चीन और पश्चिमी राज्यों के सम्बन्ध और भी अमैत्रीपूर्ण हो गए।

जापान के साथ मित्रदेशों की शांति-सन्धि, 1951—जिस समय कोरिया-युद्ध चल रहा था, तभी सितम्बर, 1951 में अमेरिका और कई अन्य देशों ने जापान के साथ एक शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर किए। रूस को यह बात बुरी लगी और उसने इस एकपक्षीय कार्यवाही की खुल कर आलोचना की।

सन् 1953 से 1958 तक का शीतयुद्ध

मार्च, 1953 मे स्टालिन की मृत्यु के बाद शीतयुद्ध के इतिहास में एक नया मोड़ आया। स्टालिन पश्चिम के प्रति उग्रवादी और कठोर नीति का समर्थक था। उसका दृष्टिकोण सन् 1953 के प्रारम्भ तक शीतयुद्ध का एक प्रधान कारण बना रहा। सर एलवरी गैसकोमने के अनुसार, "सन् 1947 के बाद यद्यपि स्टालिन ने पश्चिमी राष्ट्रों से कूटनीतिक सम्बन्ध कायम रखे, तथापि वह इतना अड़ंगेबाज और दुःसाध्य हो गया कि उसके साथ कार्य करना कठिन हो गया। जो भी सुझाव प्रस्तुत किए जाते वह उनको अस्वीकार कर देता था।" स्टालिन के बाद के उत्तराधिकारी विशेषतः ख्रुश्चेव ने समझौतावादी नीति को अपनाने की कोशिश की, अमेरिका के नेतृत्व में भी एक परिवर्तन आया और शीतयुद्ध के उन्नायक राष्ट्रपति ट्रूमैन के स्थान पर जनरल आइजनहॉवर ने अमेरिका के राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया। अगस्त, 1953 मे सोवियत संघ का प्रथम आणविक परीक्षण हुआ और दोनों को हथियारों के क्षेत्र में विद्यमान खाई को धीरे-धीरे कम करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी।

परन्तु शीतयुद्ध की यह शिथिलता एकदम अल्पकालिक ही सिद्ध हुई क्योंकि रूस के विदेश मन्त्री मोलोटोव और अमेरिका के विदेश सचिव डलेस दोनों ही शीत-युद्ध के बाँके पटेबाज थे। एक तरफ तो हिन्द-चीन के प्रश्न पर शीतयुद्ध में पुनः तेजी आई क्योंकि फ्रेंच साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले युद्ध मे दोनों ही गुटों ने अलग-

अलग पक्षों का जोरदार समर्थन किया और दूसरी तरफ अमेरिका ने साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सैनिक समझौतों तथा सैन्य संगठनों की स्थापना करने की नीति अपना कर शीतयुद्ध को बढ़ावा दिया। अमेरिका ने नाटो, सीटो और बगदाद पैक्ट स्थापित किए और इनके जवाब में रूस ने वारसा पैक्ट की स्थापना की। वास्तव में दोनों ही पक्षों ने अपनी-अपनी कार्यवाहियों से एक दूसरे के प्रति सन्देहों को दृढ़ बनाया तथा अपनी प्रत्येक कार्यवाही ने शीतयुद्ध को कुछ-न-कुछ देशों के अनाक्रमण प्रस्ताव को ठुकरा दिया, तो मार्च, 1954 में जब रूसी विदेशी मन्त्री मोलोटोव ने रूस के उत्तर अटलांटिक सन्धि में सम्मिलित होने के लिए तत्परता दिखाई तो नाटो देशों ने इसका विरोध किया। जनवरी, 1956 में रूसी प्रधानमन्त्री बुल्गानिन ने राष्ट्रपति आइजनहॉवर के सम्मुख एक रूसी-अमेरिकी मैत्री संधि का प्रस्ताव रखा, परन्तु वह भी फलीभूत नहीं हुआ। ऐसे प्रस्ताव समय-समय पर किए जाते रहे, किन्तु पारस्परिक मतभेद और सन्देह इतने गहरे थे कि कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। संयुक्त राष्ट्रसंघ, यूरोप, अफ्रीका, मध्यपूर्व, सुदूरपूर्व आदि सभी क्षेत्रों में पूर्व और पश्चिम का संघर्ष जारी रहा। जापान और जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण के दोनों ही गुटों में काफी तनाव उत्पन्न कर दिया। जर्मनी के भविष्य और बर्लिन के स्तर पर भी मतभेद कायम रहे। अणुशक्ति के निर्माण और नियन्त्रण पर कोई समझौता न हो सका। संसार के सबसे प्रमुख प्रश्न 'निःशस्त्रीकरण' पर दोनों ही गुटों में तीव्र मतभेद रहा—प्रस्ताव व प्रति-प्रस्ताव किए जाते रहे, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक प्रश्न पर शीतयुद्ध की पृष्ठभूमि में दोनों गुटों के दृष्टिकोण निर्धारित होने लगे।

सन् 1956 में हंगरी के प्रश्न ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और शीतयुद्ध में पर्याप्त अभिवृद्धि की। पश्चिमी देशों ने रूसी कार्यवाही की तीव्र निन्दा की और उधर रूस ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप सन् 1956 में मिस्र पर होने वाले एंग्लो-फ्रेंच-इजरायल आक्रमण की तीव्र भर्त्सना की। जून, 1957 में 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' की घोषणा की गई जिसके अनुसार अमेरिकी कांग्रेस ने राष्ट्रपति को मध्यपूर्व के किसी भी देश में साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार फौजें भेजने तथा सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार दिया। 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' की घोषणा के बाद मध्यपूर्व में 'शीतयुद्ध' में और अधिक गर्मी आ गई। रूस ने पश्चिमी एशिया के लिए इस सिद्धान्त को एकदम अनुचित बताया तो अमेरिका और इंग्लैण्ड ने उस क्षेत्र में रूसी घुसपैठ व तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों की निन्दा की। तात्पर्य यह है कि सन् 1955 से सन् 1958 तक पश्चिमी एशिया शीतयुद्ध का अखाड़ा बना रहा। उस क्षेत्र के सामरिक महत्त्व और तेल-कूपों पर प्रभुता कायम रखने के लिए दोनों पक्षों में कूटनीतिक संघर्ष जारी रहा। फारस के तेल-विवाद, स्वेज नहर के संकट, लेबनान में अमेरिकी सेनाएँ उतारने, ईरान की क्रान्ति आदि अवसरों पर दोनों ही पक्ष ताल ठोक कर एक-दूसरे के विरुद्ध मैदान में डट गए। इस क्षेत्र में कोई भी ऐसी घटना नहीं घटी जो शीतयुद्ध से प्रभावित न रही हो।

सन् 1958 से 1977 तक शीतयुद्ध की स्थिति और बदलता वातावरण

इस समय के शीतयुद्ध के इतिहास को निम्न रूप में अध्ययन करना सुविधाजनक होगा—

ख्रुश्चेव की अमेरिकी यात्रा तथा यू-2 विमान काण्ड—सन् 1959 में कुछ कारणों से शीतयुद्ध में कुछ शिथिलता आई। दोनों में बढ़ते हुए तनाव में कमी लाने के लिए ख्रुश्चेव ने 15 सितम्बर से 28 सितम्बर, 1959 तक अमेरिका की यात्रा की। संयुक्त वक्तव्य में कहा गया कि दोनों नेता इस बात पर सहमत हैं कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का निर्णय शान्तिपूर्ण उपायों तथा पारस्परिक वार्तालाप द्वारा किया जाना चाहिए।

शीतयुद्ध के तनाव को कम करने और आपसी मतभेदों को समाप्त करने के लिए चार बड़े देशों (संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत संघ, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस) के शासनाध्यक्षों का एक शिखर सम्मेलन आयोजित करना आवश्यक समझा गया। पर दुर्भाग्यवश शिखर सम्मेलन के आरम्भ से पूर्व ही 1 मई, 1960 को यू-2 विमान काण्ड हो गया जिसने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मे वृद्धि कर अन्ततः शिखर सम्मेलन को असफल बना दिया। बात तब बहुत बढ गई जब राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि सोवियत संघ में सामरिक गतिविधियाँ बहुत गुप्त रहती हैं, अतः किसी भी आकस्मिक आक्रमण को रोकने के लिए अमेरिका ऐसी जासूसी कार्यवाहियाँ करता है और आगे भी करता रहेगा, अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इसका निषेध नही है। इस घोषणा से ख्रुश्चेव आग-बबूला हो गया। उसने ऐसी जासूसी उड़ानों को राष्ट्रीय अपमान बताते हुए इन्हें भविष्य में बन्द करने की माँग की और साथ ही यह धमकी दी कि भविष्य मे इस प्रकार की किसी घटना से यदि युद्ध छिड़ गया तो उसका दायित्व संयुक्त राज्य अमेरिका पर होगा। यू-2 विमान-काण्ड ने शीतयुद्ध में जो तूफान खड़ा किया, उससे रूस ने प्रचुर लाभ उठाया। ख्रुश्चेव ने यह सिद्ध करने में कोई कसर नहीं छोड़ी कि रूस शान्ति का सबसे बड़ा प्रेमी और अमेरिका इसका सबसे बडा शत्रु है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के लिए वही एकमात्र उत्तरदायी है।

रूसी चेतावनी के फलस्वरूप अब अमेरिकी अड्डों की अनुमति देने वाले देश यह अनुभव करने लगे कि यू-2 विमानों को अपने देश में उतरने देना भयंकर खतरों को मोल लेना था।

पेरिस शिखर सम्मेलन—यू-2 विमान काण्ड की घटना से 16 मई, 1960 में होने वाले शिखर सम्मेलन की असफलता साफ दिखाई देने लगी। लेकिन 11 मई को सुप्रीम सोवियत में अपने एक भाषण में ख्रुश्चेव ने सम्मेलन की सफलता के प्रति आशा का संचार किया। ख्रुश्चेव ने कहा, "संयुक्त राज्य अमेरिका के इस उत्तेजनापूर्ण कार्य से हमें अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने के प्रयत्नों मे शिथिलता नहीं लानी चाहिए। पेरिस में यू-2 का विषय नही उठाया जाएगा।"

किन्तु जब पेरिस में शिखर-सम्मेलन हुआ तो ख्रुश्चेव ने यू-2 का प्रश्न उठाते हुए अमेरिकी जासूसी कार्यवाही की तीव्र निन्दा की। ख्रुश्चेव ने बड़े ही नाटकीय ढंग से माँग की कि अमेरिका को अपने जासूसी काम की निन्दा करनी चाहिए, इसके लिए माफी माँगनी चाहिए, भविष्य में ऐसे उत्तेजक कार्य बन्द करने चाहिए और इस घटना के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों से दण्ड देना चाहिए। ख्रुश्चेव ने शीतयुद्ध को तब पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया जब उसने डिगॉल और मैकमिलन से तो हाथ मिलाया, लेकिन जब राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने हाथ बढ़ाया तो ख्रुश्चेव ने इनकार कर दिया। इतना ही नहीं, ख्रुश्चेव ने अमेरिकी राष्ट्रपति को दिए गए रूसी यात्रा के निमन्त्रण को वापस ले लिया और कहा कि राष्ट्रपति महोदय को अब रूस आने की आवश्यकता नहीं है।

रूसी नेता के इस रुख से शिखर-सम्मेलन असफल हो गया। आइजनहॉवर के आश्वासन और डिगॉल व मैकमिलन के गतिरोध को दूर करने के प्रयत्न सम्मेलन को भंग होने से बचा न सके। सम्मेलन के दूसरे सत्र में ख्रुश्चेव ने भाग ही नहीं लिया, अतः सम्मेलन की कार्यवाही बन्द कर देनी पड़ी।

कैनेडी का अमेरिकी राष्ट्रपति निर्वाचित होना और क्यूबा-काण्ड—ख्रुश्चेव ने पेरिस शिखर-सम्मेलन को असफल बनाने के बाद अपने विभिन्न भाषणों में आश्वासन दिया कि रूस अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने का कोई कार्य नहीं करेगा। 8 नवम्बर, 1960 को अमेरिकी राष्ट्रपति के निर्वाचन मे सीनेटर जॉन फिट्जैरल्ड कैनेडी की सफलता के बाद शीतयुद्ध में कमी की आशा की जाने लगी। ख्रुश्चेव ने कैनेडी को अपनी बधाई में और कैनेडी ने ख्रुश्चेव को दिए गए प्रत्युत्तर में बड़े आशावादी शब्दों का प्रयोग किया।

दोनों नेताओं की आशाओं और उनके आश्वासनों का कुछ समय तक प्रभाव रहा और शीतयुद्ध में कुछ नरमी आई, लेकिन सन् 1962 में क्यूबा के सकट ने पुनः एक विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर दी। क्यूबा के प्रश्न पर विश्व-युद्ध की सम्भावना उत्पन्न हो गई। सौभाग्यवश कैनेडी और ख्रुश्चेव की बुद्धिमत्ता के कारण यह संकट टल गया। सोवियत रूस ने क्यूबा के संघर्ष क्षेत्र से हट जाने का निर्णय करके बड़ी सहनशीलता का परिचय दिया।

शीतयुद्ध में शिथिलता—*क्यूबा-संकट के बाद ख्रुश्चेव और कैनेडी दोनों ही* नेता निःशस्त्रीकरण की दिशा मे प्रगति के लिए प्रयास करने लगे। अतः शीतयुद्ध मे काफी समय तक उबाल नहीं आया। 5 अगस्त, 1963 को रूस, अमेरिका और इंगलैण्ड ने मास्को में आणविक परीक्षणों पर रोक सम्बन्धी सन्धि पर हस्ताक्षर किए और बाद मे चीन, फ्रांस आदि कुछ राष्ट्रों को छोड़कर विश्व के सौ से अधिक राष्ट्रों ने सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए। शीतयुद्ध ठण्डा पड़ गया। सन् 1955 की आस्ट्रिया की शान्ति-सन्धि के बाद पूर्व और पश्चिम का यह सबसे बड़ा समझौता था।

ख्रुश्चेव और कैनेडी के प्रयत्नों से शीतयुद्ध मे शिथिलता आई और यह आशा की जाने लगी कि दोनों नेता पारस्परिक विश्वास और शान्ति के बीज बो देंगे, पर

दुर्भाग्यवश 22 नवम्बर, 1963 को कैनेडी एक हत्यारे की गोली का शिकार बने और 15 अक्तूबर, 1964 को ख़ुश्चेव अपदस्थ हो गए।

कैनेडी की मृत्यु के बाद लिण्डन बी. जॉनसन ने अमेरिका के राष्ट्रपति का पद संभाला। दूसरी ओर ख़ुश्चेव के पतन के बाद अक्तूबर, 1964 में रूस का नेतृत्व कोसिगिन और ब्रेझनेव के हाथों में आया। दोनो पक्षों ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में विश्वास प्रकट किया। कुछ अर्से तक शीतयुद्ध मंद रहा, लेकिन बाद में वियतनाम युद्ध की तीव्रता और अरब-इजरायल संघर्ष के फलस्वरूप शीतयुद्ध पुनः भड़क उठा।

वियतनाम युद्ध, भारत-पाक संघर्ष, अरब-इजरायल संघर्ष और शीतयुद्ध— सन् 1964 में ही शीतयुद्ध के तीव्र होने के आसार प्रकट होने लगे थे। रूस ने कांगो आदि मे संयुक्त राष्ट्रसंघ के शान्ति स्थापना सम्बन्धी कार्यों के व्यय सम्बन्धी अपने अंश की अदायगी से इनकार कर दिया। अमेरिका ने माँग की कि यदि रूस अपना अंश अदा नहीं करता तो चार्टर के उन्नीसवें अनुच्छेद के अन्तर्गत उसे महासभा में मताधिकार से वंचित कर दिया जाए। इस घटना से शीतयुद्ध फिर भड़क उठा।

वियतनाम युद्ध की तीव्रता ने शीतयुद्ध को बढ़ावा दिया। अमेरिकी राष्ट्रपति जॉनसन ने वियतनाम के प्रति अत्यन्त उग्र आक्रामक नीति का अनुसरण किया। अमेरिकी वायुयान उत्तरी वियतनाम की सीमाओं में घुसकर बम वर्षा करने लगे। सोवियत रूस ने इन आक्रामक कार्यवाहियों का कड़ा विरोध किया और शीतयुद्ध की लहर पहले से अधिक तेज हो गई।

सितम्बर, 1965 में कश्मीर के प्रश्न पर भारत-पाक संघर्ष ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि की। पश्चिमी राष्ट्रों ने भारत के विरुद्ध अपना कूटनीतिक युद्ध छेड़ने में कोई कसर नहीं रखी पर प्रधान मंत्री लालबहादुर शास्त्री की दृढ़ता और स्पष्टता के सामने वे सफल नहीं हो सके।

जून, 1967 को अरब-इजरायल संघर्ष के समय शीतयुद्ध ने सशस्त्र संघर्ष का रूप धारण कर लिया। सोवियत संघ ने अमेरिका पर आरोप लगाया कि वह इजरायल को आक्रामक कार्यवाही के लिए प्रोत्साहित कर रहा है। उधर अमेरिका ने इस संघर्ष के लिए सोवियत कूटनीति को दोषी ठहराया। पश्चिमी एशिया का संकट के प्रश्न पर दोनों गुटों में इतना वाक्युद्ध चला कि उनके आपस में टकराने का संकट पैदा हो गया। दोनों के जहाजी बेड़े भूमध्य सागर मे चक्कर काटने लगे। अरब और इजरायल नेताओं द्वारा भी जबरदस्त कूटनीतिक और वाक्युद्ध छिड़ गया। यही शीतयुद्ध अरब-इजरायल सशस्त्र युद्ध में परिणत हो गया जिसकी समाप्ति संयुक्त राष्ट्रसंघीय अरब-राष्ट्रों की आकस्मिक पराजय में हुई।

अरब-इजरायल संघर्ष के समय सुरक्षा परिषद् की प्रत्येक बैठक में शीतयुद्ध का दृश्य देखने को मिलता था। अमेरिका और सोवियत संघ एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप लगाते थे और एक दूसरे को पश्चिम एशिया के संकट के लिए उत्तरदायी ठहराते थे। अरब राष्ट्रों की पराजय के बाद सोवियत संघ के प्रति अरबों में सन्देह और अविश्वास व्याप्त हो गया क्योंकि उसने युद्ध में अरबों को कोई सक्रिय और

प्रत्यक्ष सहायता नहीं दी थी जबकि इजरायल को अमेरिका व ब्रिटेन दोनों से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहायता प्राप्त हुई थी। इस वातावरण को देखते हुए रूस ने अरब जगत् में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए यह माँग की कि अरब-इजरायल संघर्ष का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में पेश किया जाए। 18 जून, 1967 को जब महासभा में प्रश्नों पर विचार होने लगा तो स्वयं रूसी प्रधान मन्त्री ने कार्यवाही में भाग लिया। कोसिगिन ने महासभा में उपस्थित होकर स्वयं एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो अरब भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता था, लेकिन पश्चिमी गुट उसको मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। अतः 19 जून की बैठक में सोवियत प्रतिनिधि-मण्डल ने महासभा से बहिर्गमन कर अरबों की सहानुभूति जीती। सोवियत प्रधान मन्त्री ने अमेरिकी प्रशासन पर कस-कस कर प्रहार किए। अरब-इजरायल संघर्ष के सन्दर्भ में इस प्रकार शीतयुद्ध आकाश छूने लगा।

ग्लासबरो का शिखर सम्मेलन—सोवियत प्रधान मन्त्री कोसिगिन ने, जो महासभा के अधिवेशन में आए हुए थे, अमेरिकी राष्ट्रपति जॉनसन से ग्लासबरो में भेंट की ताकि शीतयुद्ध की गर्मी कुछ शान्त हो सके। मुख्य रूप से यह शिखर-सम्मेलन ग्लासबरो में 23 जून से 26 जून, 1967 तक चला। इसमें वियतनाम और पश्चिमी एशिया पर विचार-विमर्श किया गया। निःशस्त्रीकरण एवं परमाणु शक्ति के विस्तार तथा अन्य राजनीतिक प्रश्न भी अछूते नहीं रहे। दोनों नेताओं का यह शिखर-सम्मेलन चीन द्वारा हाइड्रोजन बम के परीक्षण के प्रभाव से व्याप्त था। दोनों ही नेता इस बात को भली-भाँति समझते थे कि अणुशक्ति से सम्पन्न चीन विश्व के दोनों ही गुटों के लिए खतरा हो सकता है।

ग्लासबरो में कोई सौदेबाजी नहीं हो सकी, लेकिन इस सम्मेलन के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में अवश्य कमी आई। पश्चिमी एशिया के संकट के सम्बन्ध में दोनों महाशक्तियों के बीच सहमति के क्षेत्र में वृद्धि हुई। इस शिखर सम्मेलन के बाद दोनों ही महाशक्तियाँ कुछ अधिक संयमित भाषा का प्रयोग करने लगीं।

वियतनाम युद्ध में शिथिलता और शीतयुद्ध में कमी—सन् 1967–68 में वियतनाम का प्रश्न शीतयुद्ध को भड़काता रहा। अमेरिकी नीति के विरुद्ध विश्व जनमत में ही नहीं बल्कि स्वयं अमेरीकियों में भी गम्भीर प्रतिक्रिया हुई। अतः बाध्य होकर राष्ट्रपति जॉनसन ने एक ओर तो उत्तरी वियतनाम पर बमबारी रोकने की घोषणा की और दूसरी ओर आत्मग्लानि से पीड़ित होकर राष्ट्रपति पद के लिए पुनः उम्मीदवार न होने का निश्चय व्यक्त किया। इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे वियतनाम युद्ध शिथिल होता गया और शीतयुद्ध ठण्डा पड़ता गया।

मार्च, 1969 का बर्लिन संकट और शीतयुद्ध—शीतयुद्ध में पुनः गर्मी तब आई जब पश्चिमी जर्मनी ने निश्चय किया कि 5 मार्च, 1969 को फेडरल जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिमी बर्लिन में सम्पन्न किया जाए। पूर्वी जर्मनी सरकार ने इस निश्चय का विरोध करते हुए कहा कि पश्चिमी बर्लिन अभी तक सन् 1945 के पोट्सडम समझौते के अधीन है, अतः पश्चिमी बर्लिन की सरकार को इस तरह का

समारोह कर उसे केवल पश्चिमी जर्मनी का एक भाग सिद्ध करने का कोई अधिकार नहीं है। पूर्वी जर्मनी ने आरोप लगाया कि पश्चिमी जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव बर्लिन में कराने का निर्णय पूर्वी जर्मनी के दावे के खण्डन के लिए किया गया है।

पूर्वी जर्मनी ने न केवल मौखिक विरोध ही नहीं किया वरन् पश्चिमी बर्लिन जाने वाले मार्गों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया ताकि राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने वाला निर्वाचक मण्डल बर्लिन न पहुँच सके। किन्तु पश्चिमी जर्मनी भी इस बात पर तुल गया कि राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिमी बर्लिन में ही किया जाएगा। अतः वायुयानों द्वारा (हवाई यातायात प्रतिबन्ध से मुक्त था) निर्वाचक-मण्डल अपने दल-बल सहित पश्चिमी बर्लिन पहुँचा। पश्चिमी जर्मनी की इस सम्पूर्ण कार्यवाही में पश्चिमी राष्ट्रों का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। यद्यपि पूर्वी जर्मनी ने, जो रूस समर्थित है, तीव्र विरोध प्रकट किया और स्वयं रूस ने भी पश्चिमी जर्मनी को इस स्थिति से बचाने की चेतावनी दी तथापि राष्ट्रपति का चुनाव-कार्य शान्तिपूर्ण सम्पन्न हो गया। इस प्रश्न पर सोवियत संघ ने कोई बड़ा पूर्व-पश्चिम संकट खड़ा नहीं किया क्योंकि इससे उसका कोई उद्देश्य सिद्ध होने वाला नहीं था बल्कि इसका दो बातों पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता था—प्रक्षेपास्त्रों के बारे में रूस द्वारा प्रस्तावित वार्ता पर तथा नए अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन के साथ सोवियत संघ के शिखर सम्मेलन की योजना पर।

मास्को-बोन समझौता, 1970 तथा शीतयुद्ध में कमी—द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही जर्मन समस्या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विशेषकर महाशक्तियों के बीच शीतयुद्ध का प्रमुख कारण बनी हुई थी। पश्चिमी जर्मनी और सोवियत संघ के सामान्य सम्बन्धों का विकास न होने से शीतयुद्ध को समय-समय पर प्रोत्साहन मिलता रहता था। सौभाग्यवश 12 अगस्त, 1970 को दोनों ओर से लम्बे प्रयासों के उपरान्त मास्को में संघीय जर्मनी के विली ब्रांट और सोवियत संघ के कोसिगिन ने एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किए जिसे युद्धोत्तर यूरोपीय इतिहास का एक प्रवर्तन-बिन्दु माना जाता है। इस समझौते से शीतयुद्ध का एक प्रमुख कारण निश्चित रूप से कमजोर पड़ गया। सन्धि की मुख्य बात यह थी कि दोनों पक्षों ने वस्तुस्थिति को स्वीकार करते हुए एक दूसरे के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग न करने का निर्णय किया। सन्धि पर हस्ताक्षर के दिन ही संघीय जर्मन सरकार ने सोवियत विदेश मन्त्रालय को पत्र भेजकर यह स्पष्ट किया कि स्वतंत्र आत्म-निर्णय के अधिकार के आधार पर जर्मनी का एकीकरण संघीय सरकार का सर्वोपरि राजनीतिक लक्ष्य है।

मास्को-बोन सन्धि के बाद यह आशा व्यक्त की जाने लगी कि अब यूरोप में युद्ध नहीं होगा, नाटो तथा वारसा सन्धि जैसे सैन्य संगठन शिथिल पड़ जाएँगे और पूर्व तथा पश्चिम में सुरक्षा की भावना में वृद्धि होगी। इस सन्धि की विशेषता दो बातों में थी–प्रथम, सोवियत संघ और पश्चिमी जर्मनी ने एक दूसरे के विरुद्ध शक्ति प्रयोग का निषेध किया और द्वितीय, पूर्वी तथा पश्चिमी जर्मनी की सीमाओं सहित यूरोप की वर्तमान राष्ट्रीय सीमाओं को दोनों देशों ने स्वीकार किया। स[illegible] पूर्व

तक मुख्य तनाव जर्मनी के वर्तमान स्वरूप तथा युद्धोत्तर राष्ट्रीय सीमाओं के प्रश्न पर ही था। अतः जब सन्धि द्वारा वर्तमान सीमाओं को मान्यता मिल गई तो तनाव का एक मुख्य कारण समाप्त-सा हो गया।

बर्लिन-समझौता, 1971 तथा शीतयुद्ध के एक और कारण में शिथिलता—मास्को-बोन सन्धि के उपरान्त 3 सितम्बर, 1971 को अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस के बीच लगभग 18 महीने की बातचीत के बाद, बर्लिन समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। इस समझौते द्वारा पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी में तनावपूर्ण स्थिति समाप्त हो गई। यह निर्णय किया गया कि पश्चिमी बर्लिन के लोगों को पूर्वी बर्लिन तथा पूर्वी जर्मनी जाने की अनुमति प्राप्त होगी। इस समझौते से पूर्व पश्चिम बर्लिनवासियों को पूर्वी बर्लिन तथा पूर्वी जर्मनी मे अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से मिलने जाने पर प्रतिबन्ध था। सोवियत संघ कुछ विशेष सुविधाएँ देने को भी तैयार हो गया। वास्तव मे इस समझौते के सम्पन्न होने पर ही उन अनाक्रमण सन्धियों की सम्पुष्टि निर्भर थी जो पश्चिमी जर्मनी ने रूस और पोलैण्ड के साथ की थी।

पूर्वी जर्मनी तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता, 1972—सितम्बर, 1971 का बर्लिन समझौता पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच सामान्य सम्बन्ध कायम करने की आधारभूमि बन गया। 8 नवम्बर, 1972 को पश्चिमी जर्मनी की राजधानी बोन में दोनो जर्मन-राज्यों के बीच एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए जिसमें दोनो राज्यो ने एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर विभिन्न मानवीय क्षेत्रों मे परस्पर सहयोग का आश्वासन दिया और जर्मन समस्या के समाधान के लिए बल-प्रयोग के उपायों को सदैव के लिए तिलांजलि दी। इस सन्धि के फलस्वरूप दोनों जर्मन-राज्यों के पिछले लगभग 23 वर्षों से चले आ रहे तनावपूर्ण सम्बन्धों की समाप्ति हो गई। यह एक ऐतिहासिक सन्धि थी जिसने दोनों जर्मन-राज्यों की शत्रुता को समाप्त कर शीतयुद्ध के प्रमुख कारण और यूरोपीय शान्ति के लिए एक स्थायी खतरे को दूर कर दिया।

कोरिया का समझौता, 1972 और सहयोग-वृद्धि का प्रयोग, 1973—एशिया मे उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया के तनावपूर्ण सम्बन्धों ने भूतकाल में शीतयुद्ध को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। सन् 1972 में दोनों राज्यों के बीच सम्बन्ध सामान्य बनाने के लिए अनेक कदम उठाए गए और 4 जुलाई, 1972 को एक समझौता हुआ जिसमें दोनों ने वचन दिया कि वे एक दूसरे को कमजोर करने का कोई प्रयास नहीं करेंगे। इसके पूर्व अगस्त, 1971 में दोनों कोरिया की रेडक्रॉस सोसाइटी की एक बैठक में यह तय किया गया कि कोरिया-युद्ध के दौरान जो लगभग 1 करोड़ रिश्तेदार, मित्र आदि बिछुड़ गए थे उनकी अदला-बदली की जाए। उत्तरी और दक्षिणी कोरिया के एकीकरण सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं के समाधान के विषय में प्रगति हुई और एक समन्वय समिति गठित की गई। जुलाई, 1973 मे दोनों के बीच पारस्परिक सहयोग में वृद्धि के लिए समन्वय समिति ने सुझाव दिए।

यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन, जुलाई, 1973—एक पूर्व निश्चय के अनुसार यूरोप के 36 राज्यों के विदेश-मन्त्रियों का एक सम्मेलन 3 से 5 जुलाई, 1973 तक हेलसिंकी में हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को दूर कर शीतयुद्ध को समाप्त करना और यूरोप के देशों में सुरक्षा की नई भावना को जन्म देना था। कई दृष्टियों से यह एक ऐतिहासिक सम्मेलन था और राजनीतिक क्षेत्र में कहा गया कि—(i) यूरोपीय महाद्वीप में यह अपनी किस्म का अनूठा सम्मेलन है। (ii) इससे बड़े छोटे राष्ट्रों में सन्तुलन स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त होगा। (iii) इस सम्मेलन में बड़ी शक्तियों के हितों का सम्मान और छोटे राष्ट्रों के हितों और राष्ट्रीय गरिमा के बीच एक विशेष प्रकार का तालमेल बैठाने का वातावरण उत्पन्न होगा।[1] संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव डॉ. कुर्त वाल्दहीम ने कहा कि इस सम्मेलन से यूरोप में एक नवीन विचारधारा और स्वरूप का निर्माण होगा जिससे नए प्रकार के शक्ति-सन्तुलन कायम होंगे। यूरोप में इस सम्मेलन से एक नवीन आशा का संचार होगा और राष्ट्र एक दूसरे के अधिक निकट आएँगे।[2] सम्मेलन में रूस की ओर से एक लम्बा दस्तावेज पेश किया गया जिसमें यह माँग की गई कि सभी यूरोपीय देशों के लोगों को खुलकर एक दूसरे से मिलना और विचारों का आदान-प्रदान करना चाहिए तथा इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि कोई भी देश किसी दूसरे देश पर आक्रमण करने की चेष्टा न करे। इससे यूरोप अधिक सशक्त और सम्पन्न होगा तथा उसमें अधिक सुरक्षा की भावना पैदा होगी।[3] हेलसिंकी सम्मेलन ने तनाव-बिन्दुओं को शिथिल कर शीतयुद्ध के प्रभाव को और भी कम किया। यूरोपीय राज्यों का अगला शिखर सम्मेलन दिसम्बर, 1973 में होने वाला था, किन्तु चौथे अरब-इजराइल युद्ध और तेल संकट के कारण वह भविष्य के लिए टल गया।

महान् राष्ट्रों के सम्बन्धों में परिवर्तन और तनाव-क्षेत्रों में कमी—सन् 1972 के बाद से ही रूस और अमेरिका के शीर्षस्थ नेता एक दूसरे से मिलते रहे हैं और चीन तथा अमेरिका में भी मेल-मिलाप बढ़ा है। नवम्बर, 1974 में अमेरिका के नए राष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने भी ब्लाडीवोस्तक में सोवियत नेता ब्रेझनेव से भेंट की। इन कूटनीतिक यात्राओं और सम्पर्क-सूत्रों के विस्तार के फलस्वरूप और रूस के सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ है और चीन तथा अमेरिका के सम्बन्ध भी उत्तरोत्तर अच्छे बने हैं. अतः शीतयुद्ध लगभग ठण्डा पड़ चुका है। बीच-बीच में तनाव पैदा होते हैं लेकिन 'संयम और वार्ता की कूटनीति' शीतयुद्ध के पैर नहीं जमने देती।

कम्बोडियाई युद्ध की समाप्ति, अप्रेल, 1975—कम्बोडिया का गृहयुद्ध शीतयुद्ध का एक बड़ा कारण बना हुआ था। इस युद्ध में बड़ी शक्तियाँ अप्रत्यक्ष रूप से लिप्त थीं। संयुक्तराज्य अमेरिका लोन-नोल सरकार की पीठ पर था और उसे भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र दे रहा था। विरोधी खमेर सेना को साम्यवादी राष्ट्रों—विशेषकर चीन से सहायता प्राप्त होती थी। राजकुमार सिंहानुक ने लम्बे अर्से से

1-3 दिनमान, 15 जुलाई, 1973, पृष्ठ 30.

चीन में शरण ले रखी थी। सौभाग्यवश 18 अप्रैल, 1975 को सिहानुक-सेनाओं (अथवा खमेर सेना) की विजय के साथ कम्बोडियाई युद्ध का अन्त हो गया और तनाव का एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र समाप्त या शिथिल हो गया।

वियतनाम-युद्ध का अन्त, 30 अप्रैल, 1975—सन् 1975 का वर्ष एक तरह स समूचे विश्व के लिए शुभ था। कम्बोडियाई युद्ध के कुछ ही दिनों बाद 30 अप्रैल, 1975 को वियतनाम का ऐतिहासिक युद्ध भी समाप्त हो गया। संयुक्तराज्य अमेरिका की कठपुतली सैगोन सरकार ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के समक्ष बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार ने सम्पूर्ण दक्षिण वियतनाम का नियन्त्रण सम्भाल लिया। वियतनाम का युद्ध बहुत ही विस्फोटक था जिससे कई बार महायुद्ध तक का खतरा उत्पन्न हो गया था। राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे और उत्तर वियतनाम की पीठ पर रूस और चीन थे तथा दक्षिण वियतनाम की कठपुतली थियू सरकार के पीछे संयुक्त राज्य अमेरिका था। अमेरिका तो प्रत्यक्ष रूप से युद्ध में भाग ले रहा था। लाखों की संख्या में अमेरिकी सैनिक वियतनाम में उपस्थित थे। 14 वर्ष के लम्बे युद्ध में 30 अप्रैल, 1975 को प्रकाशित दिनमान के समाचारों के अनुसार 56 हजार 550 अमेरिकियों की जानें गईं और 150 अरब डॉलर खर्च हुए। घायल अमेरिकी सैनिकों की संख्या 3,03,682 थी और लापता सैनिकों की संख्या 2949। ये तो सरकारी आँकड़े हैं, अन्यथा अमेरिकी जन-धन की हानि कहीं अधिक हुई होगी। यदि अमेरिका वियतनाम युद्ध में सक्रिय सैनिक हस्तक्षेप न करता और राजनीतिक ढंग से सम्मानजनक समझौता करने की ईमानदारी दिखाता तो वियतनाम युद्ध कभी का समाप्त हो गया होता और अमेरिका को उस लज्जाजनक रूप में वियतनाम से न हटना पड़ता जिस रूप में वह 30 अप्रैल, 1975 के आस-पास हटा। वियतनाम के स्वतन्त्रता-सेनानियों की विजय विश्व के स्वाधीनता-आन्दोलनों के इतिहास में सदैव स्वर्ण अक्षरों में लिखी जाएगी। वियतनाम युद्ध कितना भयानक था, इसका अनुमान इन्हीं आँकड़ों से लगाया जा सकता है कि "इस युद्ध में लगभग 10 लाख लोगों की जानें गईं, द्वितीय विश्वयुद्ध से दुगुने बम बरसाए गए, यही नहीं नापाम बमों को असैनिक ठिकानों पर भी खुला इस्तेमाल किया गया।" (दिनमान 11 मई, 1975)

पश्चिमी एशिया शान्ति की ओर—पश्चिमी एशिया में अरब-इजरायल संघर्ष लगभग 27 वर्ष से शीतयुद्ध और सशस्त्र युद्ध का कारण बना हुआ था। लेकिन सन् 1975 के मध्य से ही पश्चिमी एशिया में शान्ति के आसार अधिक प्रबल हो गए। 4 सितम्बर, 1975 को अमेरिका, मिस्र और इजरायल के बीच एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ। समझौते में तय किया गया कि सिनाई पर्वतमाला के दर्रों (गिद्दी और मित्तला) और उनके इर्दगिर्द आठ निगरानी चौकियाँ होंगी—एक चौकी पर इजरायल का पूर्ण नियन्त्रण रहेगा और एक पर मिस्र का। अन्य छः चौकियों पर 200 अमेरिकी तकनीकी कर्मचारी रहेंगे। इन चौकियों में कुछ पूर्ण स्वचालित भी

हो सकती हैं। ये निगरानी चौकियाँ किसी भी पक्ष की ओर से किए जाने वाले आक्रमण की पूर्व सूचना देने का काम करेंगी। अबूरूदी तेल क्षेत्र मिस्र की अधिक मार में आ जाएगा। इस तेल क्षेत्र से इजरायल को अपनी जरूरत का 55 प्रतिशत तेल प्राप्त होता था, किन्तु आयात में कोई व्यवधान पड़ने की स्थिति मे अमेरिका ने उसकी आवश्यकता पूर्ति करने की गारंटी दी। मिस्र ने अमेरिका से यह वायदा किया कि वह इजरायल को जाने वाले टैंकरो को रोकने के लिए लाल सागर की नाकेबन्दी नहीं करेगा।[1] यह भी निश्चय किया गया कि अब इजरायल का माल किसी तीसरे देश के जहाज में निःशुल्क स्वेज नहर से भेजा जा सकेगा। इजरायल के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण सुविधा थी जिसे पिछले 27 वर्षों में अरबो से चार लड़ाइयाँ लड़ने के बाद भी वह प्राप्त नहीं कर पाया था। समझौते की प्रमुख धारा यह थी कि नए गलियारे (बफर क्षेत्र) में मिस्र, अमेरिका, इजरायल और संयुक्त राष्ट्र की शान्ति-रक्षक सेनाओं के बीच सहयोग की व्यवस्था रहेगी। यह सहयोग जितना ही अधिक होगा, मिस्र और इजरायल के बीच टकराव की सम्भावना उतनी ही कम होगी।[2]

10 अक्टूबर, 1975 को मिस्र और इजरायल के अधिकारियो ने उपर्युक्त समझौते को विधिवत् कार्यान्वित करने और पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण समझौता किया। यद्यपि इस समझौते से पश्चिमी एशिया में शान्ति का वातावरण बन गया तथापि स्थायी शान्ति एक प्रश्न चिह्न बनी रही। महाशक्तियों के माध्यम से समझौता वार्ताएँ चालू रहीं। जुलाई-अगस्त, 1977 मे पश्चिमी एशिया की समस्या के समाधान के लिए एक बार फिर सक्रिय प्रयास हुए। अमेरिकी विदेश मन्त्री साइरस बैंस ने पश्चिमी एशिया की यात्रा करके मिस्र, सीरिया, जोर्डन, लेबनान, सऊदी अरब और इजरायल के नेताओं से बातचीत की। मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने स्पष्ट रूप से कहा कि पश्चिमी एशिया में शान्ति सुरक्षा परिषद् द्वारा पारित प्रस्ताव नं. 242 का अनुसरण करने से हो सकती है। इस प्रस्ताव मे कहा गया है कि इजरायली सेनाएँ 1967 के अरबों के अधिकृत इलाको को खाली कर दें। सादात ने आश्वासन दिया है कि ऐसा हो जाने पर इजरायल के अस्तित्व को मान्यता दे दी जाएगी। अपनी सद्भावना जतलाने के लिए अनवर सादात ने घोषणा की कि मिस्र मे रहने वाले सभी यहूदियों को मिस्र का नागरिक माना जाएगा, उन्हें विस्थापित नहीं कहा जाएगा। साइरस बैंस की यात्रा से पश्चिमी एशिया में स्थायी शान्ति की सम्भावना को बल मिला। इसका एक स्पष्ट प्रमाण तब मिला जब 15 नवम्बर, 1977 को इजरायल के प्रधान मन्त्री मेनाशम बेगिन ने मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात को इजरायल की यात्रा करने के लिए अमेरिकी राजदूत द्वारा लिखित निमन्त्रण भेजा। श्री बेगिन ने जोर्डन, सीरिया और लेबनान के नेताओं को सादात के बाद इजरायल आने का निमन्त्रण दिया।

1-2 दिनमान 7 सितम्बर, 1975, पृष्ठ 34.

राष्ट्रपति सादात 19 नवम्बर को जब इजरायल पहुँचे तो उनका भव्य स्वागत किया गया। यह दुर्भाग्य की बात थी कि मिस्री राष्ट्रपति की इजरायल यात्रा के विरोध में लीबिया ने मिस्र से अपने राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद की घोषणा कर वहाँ से अपने सभी देशवासियों को स्वदेश लौटने की अपील की। अक्टूबर, 1979 में सिनाई में अमेरिकी सैनिकों के नियुक्त करने सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकार करके मिस्र ने पश्चिमेशिया में शान्ति स्थापित करने में मदद की जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शीतयुद्ध और शिथिल हुआ।

तृतीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन, जून 1977—पूर्वी यूरोपीय एवं पाश्चात्य विश्व के बीच तनातनी कम करके शीतयुद्ध को शिथिल करने के प्रयत्नों के सिलसिले में हेलसिंकी के बाद यूरोपीय सहयोग एवं सुरक्षा सम्मेलन बेलग्रेड़ में जून, 1977 में हुआ। सम्मेलन में इस बात पर विचार किया गया कि पूर्व और पश्चिम के बीच सुरक्षा एवं सद्भाव स्थापित करने के लिए तथा यूरोपीय सहयोग को दृढ बनाने के लिए क्या किया जाना चाहिए। इस बात पर सदस्यों की लगभग आम सहमति थी कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रचनात्मक रवैया अपनाया जाए। सम्मेलन में लगभग 25 यूरोपीय देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और दो वर्ष पहले हुए हेलसिंकी सम्मेलन के दस्तावेज के अभावों को दूर करने पर विचार किया। यूरोपीय सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत करने के लिए अनेक सुझाव दिए गए। हेलसिंकी की भावना को आगे बढ़ाया गया। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा पश्चिमी जर्मनी में पाश्चात्य विश्व की ओर से यह आशा व्यक्त की कि पूर्व-पश्चिम के बीच तनाव कम करने तथा यूरोप में शान्ति और सद्भाव बढाने के प्रयत्नों का लाभ पश्चिम बर्लिन को भी मिलना चाहिए। सोवियत रूस ने इस मुद्दे पर सहमति प्रकट की। यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन से तनाव शैथिल्य में निश्चित रूप से मदद मिली।

सन् 1977 से अक्टूबर, 1980 के मध्य तक शीतयुद्ध के उतार-चढ़ाव

कार्टर प्रशासन और शीतयुद्ध—20 जनवरी, 1977 को जिम्मी कार्टर संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बने। उन्होने अपने उद्घाटन भाषण में कहा—"हम सबको मिलकर परस्पर एकता और विश्वास की एक नई राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात करना है। मेरा विश्वास है कि ससार के राष्ट्र यह कहते पाए जाएँगे कि हमने एक ऐसे शान्तिपूर्ण वातावरण की सृष्टि की है जो युद्ध के अस्त्रों पर आधारित न होकर अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों पर आधारित है जो हमारे बहुमूल्य मूल्यों को प्रतिबिम्बित करती हैं।" राष्ट्रपति पद सम्भालने के बाद ही जिम्मी कार्टर ने कुछ ऐसे कदम उठाए जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और तनाव-शैथिल्य को बढावा मिला। पहले उन्होने वियतनाम के युद्ध में जबरन लामबदी का विरोध करने वालों को क्षमादान सम्बन्धी आदेश प्रसारित किया। उपराष्ट्रपति वाल्टर माडेल ने अनेक देशों की सद्भावना यात्रा की। अमेरिका ने अफ्रीकी देशों के प्रति सद्भावना व्यक्त करते हुए कहा कि हम अमेरिकी अपने प्रभाव और शक्ति के प्रयोग से दक्षिणी अफ्रीका भर मे बहुसंख्यक तथा बहुजातीय शासन की सम्भावनाओं पर विचार कर सकते हैं। हमें

रक्तपात और विनाश के विकल्प के स्थान पर स्थायी शान्ति का विकल्प भेजना चाहिए। अमेरिकी उपराष्ट्रपति ने बेल्जियम, पश्चिम जर्मनी, इटली, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान की यात्रा करके इन देशों से सद्भावपूर्ण सम्बन्धो के बारे मे वार्ता की। कार्टर प्रशासन ने पश्चिम एशिया की समस्या के निदान के लिए अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। कार्टर ने अमेरिका में कैंप डेविड में सितम्बर, 1978 मे सादात-बेगिन-कार्टर शिखर सम्मेलन का आयोजन किया। विश्व राजनय मे शायद यह पहला अवसर था कि जबकि अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपनी प्रतिष्ठा को दाव पर रखकर किसी मसले को सुलझाने में व्यक्तिगत दिलचस्पी ली हो। 13 दिनों का शिखर सम्मेलन स्थायी शान्ति सन्धि की दिशा मे एक ऐतिहासिक समझौते के साथ सम्पन्न हुआ। 26 मार्च, 1979 को कार्टर की उपस्थिति में वाशिंगटन-सादात और बेगिन के हस्ताक्षरों के साथ मिस्र और इज़रायल में एक शान्ति सन्धि सम्पन्न हुई। वियतनाम के प्रति भी अमेरिका का दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक बना। संयुक्त राष्ट्रसंघ में वियतनाम के प्रवेश को रोकने की अमेरिका ने कोई कोशिश नही की।

कार्टर प्रशासन ने अपने कुछ कदमों से जहाँ एक ओर तनाव-शैथिल्य को कम किया वहाँ दूसरी ओर इसे उभारा भी। 1979 के मध्य क्यूबा में सोवियत सैनिकों की उपस्थिति को लेकर अमेरिका तथा क्यूबा के बीच गम्भीर तनातनी हो गई और राष्ट्रपति कार्टर ने कैरेबियन में एक 'टास्क फोर्स' (अग्रिम सेना) तैनात करने की घोषणा की। साथ ही उन्होंने कुछ नए 'रक्षा उपायों' की भी घोषणा की। यह भी कहा गया कि अमेरिका क्यूबा मे सोवियत सैनिकों की ठीक संख्या ज्ञात करने के लिए अपनी उपग्रह व्यवस्था को पुनर्गठित करेगा और सोवियत संघ मे यह आश्वासन प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा कि क्यूबा में तैनात किसी भी सैनिक इकाई से अमेरिका के लिए अथवा आस-पास के किसी भी अन्य देश के लिए आक्रमण का कोई खतरा नही होगा। अमेरिका ने यह घोषणा भी कर दी कि क्यूबा मे तैनात सोवियत सैनिकों से आक्रमण के खतरे की स्थिति मे यदि किसी देश ने उससे सहायता माँगी तो उसे तुरन्त सहायता पहुँचाई जाएगी तथा पश्चिमी फ्लोरिडा के मुख्य सैनिक प्रधान कार्यालय में पूर्णकालिक एक कैरेबियाई संयुक्त सैनिक टुकड़ी तैनात की जाएगी जो इस क्षेत्र के किसी भी भाग पर रूसी आक्रमण का खतरा होने पर सक्रिय हो जायेगी। अमेरिका ने स्पष्ट कर दिया कि कैरेबियन क्षेत्र में वह अपने सैनिक अभ्यास तीव्र करेगा ताकि वहाँ का सैनिक समुद्री अड्डा किसी भी खतरे का सामना करने को तैयार रहे। इन सैनिक अभ्यासों का मुख्य केन्द्र क्यूबा के दक्षिण का समुद्री किनारा होगा। अमेरिका की इस प्रकार की घोषणाओं से शीतयुद्ध को बढावा मिला और संकट ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल कास्ट्रो ने स्पष्ट कर दिया कि क्यूबा में रूसी सैनिकों की उपस्थिति सम्बन्धी विवाद पर हम अमेरिका के साथ बातचीत को तैयार हैं, लेकिन यदि अमेरिका ने कैरेबियन क्षेत्र में अपनी सैनिक शक्ति बढाने की कोशिश की तो मामला बहुत नाजुक हो जाएगा। सोवियत संघ ने भी अमेरिका को चेतावनी दे दी कि क्यूबा मे सोवियत सैनिकों की उपस्थिति को अनावश्यक तूल देकर राष्ट्रपति कार्टर आग से खेलने का खतरा मोल न लें। कार्टर प्रशासन की उत्तेजनात्मक कार्यवाहियों

से क्यूबा और अमेरिका के बीच 1962 जैसा ही गम्भीर संकट पैदा हो गया और ऐसा लगने लगा कि यदि युद्ध का विस्फोट नही हुआ तो भी शीतयुद्ध तो अवश्य ही बहुत तेज हो जाएगा। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अमेरिका की घोषणा के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई और स्वयं अमेरिका में भी कार्टर की नीति का भारी विरोध होने लगा। इस पर कार्टर को नम्र रुख अपनाना पड़ा और उन्होने यह कहकर संकट टालने की कोशिश की कि रूस और अमेरिका के बीच टकराव की स्थिति दोनों देशों की सुरक्षा के लिए भारी खतरा है और क्यूबा में 2–3 हजार रूसी सैनिकों की उपस्थिति अमेरिकन सुरक्षा को कोई चुनौती नही हो सकती। कार्टर ने यह भी कहा कि हम 'साल्ट–2' समझौते को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं और यदि हमारे सोवियत संघ के साथ मतभेद हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हम दोनों महाशक्तियों के बीच परमाणु-युद्ध की आशंकाओं को दूर करने के अपने प्रयासों को तिलांजलि दे दें। कार्टर के इस प्रकार के वक्तव्य के बाद क्यूबा की विस्फोटक स्थिति शान्त हो गई, लेकिन शीतयुद्ध का वातावरण गर्म अवश्य हो गया।

भारत उपमहाद्वीप में भी कार्टर प्रशासन ने तनाव-शैथिल्य के वातावरण को आघात पहुँचाया। पाकिस्तान और चीन को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उकसावा देने की नीति से इस क्षेत्र मे तनाव का वातावरण बढ़ा है। 2 सितम्बर, 1980 को सोवियत सवाद समिति 'तास' ने खबर दी है कि अमेरिका और चीन ने उत्तर भारत में, विशेष रूप से जम्मू-कश्मीर में, 'तोड़-फोड़' की गतिविधियाँ तेज कर दी हैं।[1]

कार्टर प्रशासन ने भारत के साथ किए गए पुराने समझौतो पर अमल न करके भी भारत-अमेरिकी सम्बन्धों में तनाव पैदा किया है। 11 सितम्बर, 1980 को भारत सरकार ने पुनः आशावाद प्रकट किया कि पुराने समझौते के अनुसार अमेरिकी सरकार भारतीय आणविक बिजलीघर (तारापुर) के लिए विशेष संसाधित यूरेनियम की पूर्व स्वीकृत खेप देने मे ढील नही करेगी। कार्टर प्रशासन ने भारत के साथ अपने सम्बन्धो के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए अमेरिकी संसद् से सिफारिश की है कि भारत को यूरेनियम देने की स्वीकृति प्रदान करे। प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रस्ताव अस्वीकृत कर देने के बाद अमेरिकी सीनेट ने 25 सितम्बर को तारापुर सयंत्र के लिए भारत को परमाणु ईंधन देने का प्रस्ताव पारित कर दिया है, किन्तु अभी यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि ईंधन की आपूर्ति किस रूप मे की जाएगी।[2]

अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप और शीतयुद्ध में वृद्धि—दिसम्बर, 1979 में अफगानिस्तान में हुई एक तीसरी क्रान्ति के फलस्वरूप राष्ट्रपति अमीन का तख्ता पलट गया और बबराक करमाल नए राष्ट्रपति बने। नई सरकार के

1 हिन्दुस्तान, 3 सितम्बर, *1980*.
2 हिन्दुस्तान, 26 सितम्बर, 1980.

आमन्त्रण पर, अफगान-क्रान्ति की रक्षा के लिए, अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिक हस्तक्षेप शुरू हो गया और संयुक्त राज्य अमेरिका के उन इरादो पर पानी फिर गया जिसकी पूर्ति के लिए वह पिछले कुछ अरसे से प्रयास कर रहा था। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक अफगान सरकार के निमन्त्रण पर आए, लेकिन उससे उस क्षेत्र में और साथ ही महाशक्तियों के बीच शीतयुद्ध की स्थिति को बढ़ावा मिला है। ईरान में अमेरिकी दूतावास के कर्मचारियों को ईरानी सरकार द्वारा बधक बना लिए जाने और उन्हें छुड़ाने के सारे प्रयत्नों के असफल हो जाने से अमेरिका पहले से ही काफी अपमानित हो चुका था और अब अफगानिस्तान में सोवियत सेना के पहुँच जाने पर स्वाभाविक था कि अमेरिका बोखला जाना। अतः अमेरिका ने अफगानिस्तान की घटना को तिल का ताड़ बनाना शुरू कर दिया और फलस्वरूप शीतयुद्ध ने एक बार फिर उग्र रूप धारण कर लिया। अमेरिका ने, सोवियत खतरे की आशंका पैदा कर अफगानिस्तान को 20 करोड़ डालर के हथियार देने की घोषणा की। अमेरिकी रक्षा मंत्री हेरल्ड ब्राउन को पीकिंग भेजा गया ताकि चीनी नेताओं से मिलकर सोवियत विस्तार को रोकने की योजना बनाई जा सके। राष्ट्रपति कार्टर ने अमेरिकी कांग्रेस मे साल्ट-द्वितीय पर बहस रुकवा दी और सोवियत संघ को अनाज देने एवं आधुनिक प्राविधि की जानकारी देने के अपने पूर्व फैसने को बदल दिया। यही नही, राष्ट्रपति कार्टर खेलों को भी राजनीति में ले आए और उन्होने मास्को मे होने वाले ओलम्पिक के बहिष्कार की धमकी दी तथा आगे चलकर बहिष्कार भी किया। उन्होंने अपने पश्चिम यूरोपीय मित्र राज्यों से भी अनुरोध किया कि वे सोवियत सघ के साथ अब कोई सहयोग न करें। सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलाकर सोवियत कार्यवाही की निन्दा का प्रयत्न किया गया। अमेरिका ने अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की उपस्थिति का ऐसा हौवा खड़ा कर डाला मानो सोवियत रूस अपनी सीमाओं के विस्तार के लिए सैनिक आक्रमण पर निकल पड़ा हो। अमेरिकी कदमो से शीतयुद्ध को काफी बढावा मिला। अमेरिका ने पाकिस्तान के माध्यम से अफगानिस्तान मे सोवियत उपलब्धि को नाकामयाब करने का असफल प्रयत्न किया। आखिर धीरे-धीरे स्थिति सामान्य होने लग गई, क्योंकि कनाड़ा और ब्रिटेन को छोड़कर अन्य पाश्चात्य देशों ने अमेरिका का पूरा समर्थन नहीं किया और पाकिस्तान तथा चीन का उत्साह भी समय के साथ ठडा पड़ गया। अप्रेल, 1980 में अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओं के रहने पर जब सोवियत सघ और अफगानिस्तान के नेताओं में एक समझौते पर हस्ताक्षर हो गए तो यह तथ्य पुनः पुष्ट हो गया कि सोवियत सैनिको को अफगान सरकार ने बुलाया है और अपने यहाँ अपनी रक्षा के लिए रखा है, रूस ने चलाकर कोई हस्तक्षेप नहीं किया। जून, 1980 में अफगानिस्तान से सोवियत संघ के सैनिकों को हटाने के बारे में रूस ने अपनी युक्तिसंगत शर्तें पेश करके भी यह जता दिया कि वह अफगानिस्तान में जमे नही रहना चाहता।

ईरान-ईराक संघर्ष (सितम्बर-अक्टूबर, 1980)—ईराक और

बीच सनातनी काफी अरसे से चल रही थी किन्तु सितम्बर; 1980 में उनके बीच चल रही छुटपुट लड़ाई ने तब पूरे युद्ध का रूप धारण कर लिया जब 22 सितम्बर को ईराकी बमवर्षकों ने तेहरान सहित नौ ईरानी हवाई अड्डों और सैनिक ठिकानो पर बमबारी की। तब से ईरान-ईराक युद्ध भयावह रूप से बढ़ता जा रहा है, सुरक्षा परिषद् की युद्ध बन्द करने की अपील का कोई प्रभाव नही पड़ा है और 4 अक्टूबर, 1980 के समाचारों के अनुसार भी ईरान-ईराक भयंकर युद्ध मे उलझे हुए हैं। इन दोनों अरब देशों के युद्ध के फलस्वरूप शीतयुद्ध को भी बढावा मिला है क्योकि खाड़ी के देशों में महाशक्तियों के दखल का खतरा पैदा हो गया है। खाड़ी के क्षेत्र मे कुछ देशों द्वारा नौसैनिक दल भेजने को इस क्षेत्र के लिए खतरनाक बताते हुए भारत सरकार की ओर से ऐसे कदमो की आलोचना की गई है। इससे न केवल ईरान-ईराक युद्ध को बढ़ावा मिलेगा बल्कि शीतयुद्ध भी और तेज हो जाएगा।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद जिस शीतयुद्ध का विकास हुआ वह सन् 1962 मे क्यूबा काण्ड के बाद शिथिल पड़ने लगा। *स्वर्गीय कैनेडी और ख्रुश्चेव द्वारा शीतयुद्ध को समाप्त करने की दिशा मे* कार्य प्रारम्भ किया ही गया था कि 22 नवम्बर, 1963 को कैनेडी की हत्या कर दी गई और 15 अक्तूबर, 1964 को ख्रुश्चेव को पदच्युत् कर दिया गया। दोनो नेताओं के उत्तराधिकारियो ने यद्यपि उन्ही की नीतियो का अनुसरण करने का आश्वासन दिया, तथापि दोनों गुटो के बीच शीतयुद्ध किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहा। विश्व *के विभिन्न क्षेत्रो जैसे हिन्द-चीन*, पश्चिमी *एशिया आदि मे तनाव* बढ़ने से शीतयुद्ध अधिक उग्र हो जाता और तनाव शिथिल पड़ जाता। प्रारम्भ मे जब शीतयुद्ध मुख्यतया अमेरिका और रूस के बीच चलता था तो इसका स्वरूप द्विपक्षीय (Bipolar) होता था, किन्तु बाद मे सन् 1969 में रूस-चीन-सीमान्त सघर्ष के कारण इसका स्वरूप त्रिपक्षीय (Tripolar) हो गया। यह शीतयुद्ध *सातवें दशक के अन्त तक किसी न किसी रूप मे अस्तित्व मे रहा और सम्पूर्ण विश्व* के वातावरण को विपाक्त करता रहा। आठवें दशक के प्रारम्भ से शीतयुद्ध के कारण एक-एक करके तेजी से समाप्त होते गए। निःशस्त्रीकरण समझौतो को बल मिला तथा सन् 1971 का बर्लिन समझौता और फिर सन् 1972 का पूर्व जर्मनी एवं पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता सम्पन्न हुआ। सन् 1972 मे कोरिया समझौता हुआ। 1972 के बाद से ही महाशक्तियो के सम्बन्ध में परिवर्तन के फलस्वरूप तनाव शिथिल होता गया। केवल हिन्द-चीन और पश्चिमी एशिया के सकट के कारण तनाव क्षेत्र उभरते रहे, लेकिन 'संयम और वार्ता की कूटनीति' ने शीतयुद्ध के पैर नहीं जमने दिए। सन् 1975 के मध्य तक कम्बोडियायी, वियतनामी और अरब-इजरायली संघर्ष का अन्त हो गया और इस तरह विश्व ने शीतयुद्ध से मुक्ति की सांस ली। सन् 1977 के बाद विभिन्न कारणों से शीतयुद्ध को पुनः प्रोत्साहन

मिला और इसके तीव्र विस्फोट के अनेक अवसर पैदा हो गए। फिर भी, शीतयुद्ध की परिस्थितियाँ पैदा होकर भी, महाशक्तियों के संयम के कारण वापिस शान्त या शिथिल हो गई। विश्व शान्ति की दिशा मे यह एक शुभ संकेत है। जिस तरह का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बनता जा रहा है और तनाव तथा संघर्ष क्षेत्रों को सीमित रखने की जो नीतियाँ अपनाई जा रही हैं उससे यही आशा बलवती होती है कि शीतयुद्ध का विस्फोट पहले की भाँति नही हो सकेगा। मौके-बेमौके शीतयुद्ध उभर सकता है लेकिन उसकी तीव्रता पहले जैसी नही होगी और वह सामयिक तेजी दिखाकर पुनः शान्त हो जाएगा।

शीतयुद्ध में शिथिलता के कारण

शीतयुद्ध के इतिहास के इस विवेचन से स्पष्ट है कि काफी उतार-चढ़ाव के बाद पिछले कुछ वर्षों से शीतयुद्ध की उग्रता निरन्तर घटती गई है। इसके मूल में जो मुख्य कारण हैं, वे ये है—

1. दोनों महाशक्तियाँ यह अनुभव करती जा रही है कि सैनिक शक्ति के बल पर समस्या का निदान बहुत कठिन और व्यय-साध्य है। वियतनाम के युद्ध ने अमेरिका जैसी महाशक्ति के घुटने टिका दिए, युद्ध से उसके सैनिको का ही विनाश नही हुआ बल्कि उसका अर्थ-तन्त्र भी सकट मे पड़ गया। उसका व्यापार-सन्तुलन बिगड़ गया और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बाजार में डॉलर की साख तक खतरे में पड़ गई।

2. दोनो महाशक्तियों को यह आशंका भी सताने लगी है कि शीतयुद्ध कभी भी ऐसी स्थिति पैदा कर सकता है जिससे तृतीय महायुद्ध का विस्फोट हो जाए। क्यूबा के महान् संकट के बाद से ही महाशक्तियो की यह नीति स्पष्ट दिखाई देने लगी है कि वे परस्पर संघर्ष की हर स्थिति से बचती है।

3. पूँजीवादी और साम्यवादी शिविरों में अब सैद्धान्तिक संघर्ष उतना तीव्र नही रहा जितना पहले था। अमेरिका के मित्रराष्ट्र शीतयुद्ध की राजनीति से अलग होकर साम्यवादी देशों से व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने लगे हैं और अमेरिका भी अब इसी नीति पर उतर आया है। पूँजीवादी शिविर ने साम्यवादी देशो के साथ प्रचुर व्यापार करने का मार्ग खुला रखने के लिए यह उपयुक्त समझा है कि शीतयुद्ध को यथासाध्य प्रोत्साहन न दिया जाए।

4. गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है और गुट-निरपेक्षता की नीति ने शीतयुद्ध की उग्रता कम करने की महती भूमिका निभायी है।

5. संयुक्त राष्ट्रसघ में अब महाशक्तियों का प्रभाव वैसा नहीं रहा है जैसा पहले था। अफ्रेशियायी राष्ट्रों की संख्या बढ गई है, 'तृतीय विश्व' की आवाज को अब पहले की तरह दबाया जाना सरल नहीं रहा है। इस स्थिति ने शीतयुद्ध की उग्रता को कम किया है।

6. सोवियत संघ द्वारा स्टालिनवादी उग्र नीति का परित्याग कर निरन्तर सह-अस्तित्व की नीति पर बल देने से शीतयुद्ध काफी शिथिल हुआ है। अमेरिकी नेतृत्व ने भी सोवियत मैत्री और सोवियत नीति का महत्त्व समझ कर सहयोगी रुख

अपनाया है। दोनों ही गुटों में इस विचारधारा ने बल पकड़ा है कि परस्पर मतभेद होने के बावजूद दोनो गुटों के सम्बन्ध शान्तिपूर्ण रह सकते हैं।

7. पिछले कुछ वर्षों से बड़े राष्ट्रों के नेताओं में सम्पर्क बढ़ा है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति निक्सन को यह श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने सोवियत रूस और चीन की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। उनकी पहल से एक ओर रूस तथा अमेरिका और दूसरी ओर चीन तथा अमेरिका के जो शिखर-सम्मेलन हुए उनसे अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के सुधार मे काफी सहयोग मिला है।

8. शीतयुद्ध की उग्रता कम करने मे भारत की भूमिका भी विशेष महत्वपूर्ण रही है। *कठिन परिस्थितयो के बावजूद भारत गुट-निरपेक्षता की नीति पर दृढ़ रहा* है जिससे विभिन्न क्षेत्रों मे तनावों के कम होने में सहायता मिली।

9. मास्को-चीन समझौता, बर्लिन समझौता, पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता, कोरिया समझौता, कम्बोडियायी और वियतनामी युद्ध की समाप्ति आदि घटनाओं ने यह आशा उत्पन्न कर दी है कि विश्व शीतयुद्ध के भँवर से निकल चुका है और शान्ति तथा सह-अस्तित्व की शक्तियाँ प्रबल हो रही हैं।

वास्तव में महान् राष्ट्रों के सम्बन्धों में पिछले वर्षों में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, उन्ही के फलस्वरूप अनेक समस्याओं का निदान हो सका है और तनाव के क्षेत्र समाप्त तथा कम हुए हैं। विश्व का कल्याण इसी में है कि महाशक्तियाँ अन्य देशों में हस्तक्षेप की नीति का परित्याग कर दें, पारस्परिक सम्बन्धों को मधुर बनाएँ और प्रत्येक समस्या का समाधान शस्त्र-बल के बजाय पारस्परिक वार्ता द्वारा करें।

शीतयुद्ध और देतांत
(Cold War and Detente)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञों के अनुसार देतांत[1] अथवा सोवियत अमेरिकी मैत्री एवं सहयोग का प्रारम्भ कैनेडी-ख्रुश्चेव के समय से हुआ। उनके अकस्मात् सत्ता से हटने के कारण कुछ समय तक मैत्री और सहयोग का मार्ग अवरुद्ध हो गया, किन्तु निक्सन और ब्रेझनेव ने सहयोग के सूत्रों का पुनः विकास किया जिसमें अमेरिका के विदेश सचिव डॉ॰ कीसिंजर की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। यद्यपि निक्सन के पद त्याग के बाद फोर्ड भी रूस के प्रति मैत्रीपूर्ण रहे हैं, तथापि दोनो महाशक्तियों के बीच मैत्री और सहयोग के विकास की गति उतनी तीव्र नही रही जितनी निक्सन के समय थी।

देतांत (सोवियत अमेरिकी मैत्री एवं सहयोग) के प्रारम्भ के लिए मुख्यतः निम्नलिखित कारण उत्तरदायी माने जाते हैं—

1. 'देतान्त' एक फ्रेंच शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—तनाव शैथिल्य। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दुनिया में इसका अर्थ रूस अमेरिका तनाव में कमी और उनमे बढ़ती हुई मित्रता तथा सहयोग की भावनाओ से लगाया जाता है।

प्रथम, अणुवम के रहस्य पर अमेरिका का एकाधिकार समाप्त हो जाने के कारण रूस और अमेरिका के बीच अस्त्र-शस्त्र की दृष्टि से एक सन्तुलन-सा पैदा हो गया। इसके फलस्वरूप भूतपूर्व अमेरिकी विदेश सचिव डलेस की वह नीति उपयोगी नही रही जिसमें साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सशस्त्र संघर्ष पर बल दिया जाता था। बर्लिन की घेराबन्दी, कोरिया का युद्ध, क्यूबा काण्ड आदि ने स्पष्ट कर दिया कि महाशक्तियो के बीच 'सहयोग' की आवश्यकता है, 'टकराहट' की नही।

द्वितीय, रूस की आर्थिक आवश्यकताओ ने उसे अमेरिका की मैत्री प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। साम्यवादी क्रान्ति के पाँच दशक बाद भी सोवियत जनता उत्पादन के क्षेत्र मे तकनीकी ज्ञान की कमी के कारण उन लक्ष्यो को प्राप्त नही कर पा रही थी जिससे वे उच्च जीवन-स्तर प्राप्त करने मे समर्थ हो। अमेरिका के पास यह उन्नत तकनीकी ज्ञान था लेकिन रूस इसका भागीदार तभी बन सकता था जब वह अमेरिका के प्रति संघर्ष के बजाय सहअस्तित्व की नीति अपनाता। अतः स्टालिनोत्तर युग मे सोवियत नेताओ ने पूँजीवाद के साथ सहअस्तित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इस तरह दोनो महाशक्तियो मे सहयोग का द्वार खुल गया।

तृतीय, *साम्यवादी चीन के साथ संघर्ष उत्पन्न होने के कारण सोवियत संघ* के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह चीन के मुकाबले मे अपनी स्थिति सुदृढ करने के लिए पश्चिमी देशो और मुख्यत: अमेरिका से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे।

चतुर्थ, भारत की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नही रही। एक ओर तो रूस ने समझ लिया कि चीन के विरुद्ध अपनी स्थिति सुदृढ़ कायम रखने मे भारत की मैत्री मूल्यवान है और दूसरी ओर अमेरिका तथा उसके साथी राष्ट्रो ने समझ लिया कि रूस-भारत मैत्री अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मंच पर प्रभावशाली गुल खिला सकती है। भारत की इस केन्द्रीय स्थिति के कारण महाशक्तियो मे सहयोग के सूत्र को प्रोत्साहन मिला। भारतीय नेताओं ने सदैव इस बात का प्रयत्न किया कि शीतयुद्ध के कारण समाप्त हो और विश्व के बड़े राष्ट्रो के बीच सहयोग का वातावरण स्थापित हो।

पंचम, अमेरिका वियतनाम के युद्ध से थक चुका था। वह वियतनामी युद्ध के दलदल से सम्मानपूर्वक सोवियत संघ के सहयोग से ही निकल सकता था।

उपर्युक्त कारणो से यह स्वाभाविक था कि दोनो महाशक्तियाँ परस्पर तनाव और संघर्ष के मार्ग का परित्याग कर मैत्री और सहयोग का मार्ग अपनायें।

देतांत का शीतयुद्ध पर प्रभाव

देतांत अर्थात् रूस-अमेरिकी सहयोग का शीतयुद्ध पर निर्णायक प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। दोनो महाशक्तियों के बीच तनाव ही शीतयुद्ध की जड़ था और जब दोनों महाशक्तियों ने यह नीति अपना ली कि वे क्रमश. सहयोग के मार्ग पर अग्रसर होंगे तो शीतयुद्ध भी अपनी साँसें गिनने लगा। देतांत का प्रारम्भ तो कैनेडी-ख्रुश्चेव के कार्यकाल में ही हो चुका था, लेकिन इसे वास्तविक ठोस रूप निक्सन-ब्रेझनेव-काल में मिला। इसकी प्रथम वास्तविक अभिव्यक्ति तब हुई जब मई, 1972

में निक्सन शिखर-वार्ता के लिए मास्को गए और वहाँ उन्होंने आशा व्यक्त की कि—"इस शिखर-वार्ता से शान्तिपूर्ण सहयोग एक वास्तविकता बन जाएगा और दोनों देश विश्व की समस्त जनता की सुख-समृद्धि के लिए मिलजुल कर काम कर सकेंगे।" मई, 1972 की इस शिखर-वार्ता के फलस्वरूप रूस और अमेरिका के बीच एक के बाद एक विभिन्न समझौतों का मार्ग प्रशस्त हो गया। निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी समझौते भी सम्पन्न हुए और आर्थिक समझौते भी। देतांत के विकास का दूसरा चरण जून, 1973 में सोवियत नेता ब्रेझनेव की वाशिंगटन यात्रा से प्रारम्भ हुआ। इस शिखर-वार्ता में दोनों देशों के बीच समुद्र-विज्ञान सहित अणु शक्ति के शान्तिपूर्ण प्रयोग तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान सम्बन्धी कई समझौते सम्पन्न हुए। इस शिखर-वार्ता का मुख्य उद्देश्य दोनों देशों के बीच आर्थिक सहयोग का विकास करना था, अतः दोनों नेताओं ने यह निश्चय किया कि इस क्षेत्र में रूस और अमेरिका को परस्पर साझीदार बनना चाहिए। निक्सन और ब्रेझनेव की इन यात्राओं के फलस्वरूप दोनों महाशक्तियों के बीच जो सहयोगपूर्ण समझौते हुए उनके कारण "शीतयुद्ध ठण्डा पड़ गया और विश्व-शान्ति का वातावरण सुदृढ़ हो गया।"

अगस्त, 1974 में देतांत के प्रतिपादक निक्सन को वाटरगेट काण्ड के कारण राष्ट्रपति-पद से हटना पड़ा और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में देतांत के भविष्य के प्रति आशंका व्यक्त की जाने लगी, लेकिन नए राष्ट्रपति फोर्ड ने देतांत को सुदृढ़ करने का आश्वासन दिया और प्रमाण स्वरूप देतांत के एक प्रमुख निर्माता निक्सन प्रशासन के विदेश सचिव डॉ. कीसिंजर को अपने प्रशासन में भी उसी पद पर पुनः नियुक्त किया। फोर्ड-ब्रेझनेव काल में देतांत का क्रमशः विकास होता रहा। फोर्ड और ब्रेझनेव के बीच नवम्बर, 1974 में सामरिक अस्त्र-परिसीमन के लिए समझौते के दूसरे चरण की रूपरेखा तैयार करने के लिए बातचीत हुई और दोनों ही पक्षों ने अपनी अणुशस्त्र की दौड़ पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार किया। शीतयुद्ध के विरुद्ध विकसित देतांत की इस भावना को जनवरी, 1975 में तब कुछ ठेस लगी जब अमेरिकी कांग्रेस ने दोनों महाशक्तियों के बीच सम्पन्न व्यापारिक समझौते को यहूदियों को सोवियत संघ से बहिर्गमन की स्वतन्त्रता दिए जाने की शर्त के साथ जोड़ दिया और सोवियत संघ ने उसे अस्वीकृत कर दिया। तथापि यह कोई स्थायी अवरोध नहीं था, दोनों देशों के बीच सहयोग के सूत्र विकसित होते रहे और सामरिक महत्त्व के शस्त्रास्त्रों के परिसीमन की सन्धि (Strategic Arms Limitation Treaty) और यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन की तैयारियाँ चालू रहीं।

20 जनवरी, 1977 को डेमोक्रेटिक पार्टी के 53 वर्षीय जेम्स अर्ल (जिम्मी) कार्टर ने अमेरिका के 39वें राष्ट्रपति के पद की शपथ ग्रहण की। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में यह आशा की गई कि कार्टर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शान्ति को बढ़ावा देंगे तथा साम्यवादी और पूँजीवादी सहअस्तित्व को बल प्रदान करेंगे। कार्टर-प्रशासन ने प्रारम्भ में इतिहास को यही संकेत दिया कि महाशक्तियों के परस्पर सहयोग तथा सद्भावना को बल मिला है तथा देतांत-भावना का उत्तरोत्तर विकास हुआ है।

विभिन्न समस्याओं पर रूस और अमेरिका के मतभेदों की उग्रता कम हुई है और दोनों महाशक्तियाँ यह अधिक अच्छी तरह समझने लगी हैं कि 'सहयोग और शान्ति की विजय' में ही मानव सभ्यता का सुनहरा भविष्य सुरक्षित है। आगे चल कर कार्टर प्रशासन के कुछ उत्तेजनात्मक कदमों से शीतयुद्ध का खतरा पुनः पैदा हुआ लेकिन राष्ट्रपति ने हर बार पुनः संयम दिखा कर स्थिति को सम्भाल लिया—यह बहुत ही आशाप्रद संकेत है।

यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन और हेलसिंकी भावना का निर्माण

फिनलैण्ड की राजधानी हेलसिंकी में 30 जुलाई से 1 अगस्त, 1975 तक यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग के लिए सम्मेलन का आयोजन किया गया। यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन बुलाने की माँग सबसे पहले सोवियत संघ द्वारा सन् 1965 में बुडापेस्ट साम्यवादी सम्मेलन में की गई थी। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यूरोप का जो नया राजनीतिक मानचित्र बना था और जो नए सीमान्त स्थापित हुए थे तथा जिनकी अस्वीकृति और परिवर्तन के प्रयासों से पुनः तनाव और संघर्ष उत्पन्न होने की सम्भावना थी, उन्हें स्थायित्व प्रदान किया जाए और इस तरह तनाव तथा संघर्ष के एक बड़े कारण को समाप्त किया जाए।

हेलसिंकी सम्मेलन में अल्बानिया को छोड़कर अमेरिका, सोवियत संघ और कनाडा सहित पश्चिमी तथा पूर्वी यूरोप के सभी राष्ट्रों ने भाग लिया। भाग लेने वाले देशों की कुल संख्या 35 थी। सम्मेलन में 30 हजार शब्दों का एक घोषणा-पत्र भाग लेने वाले राष्ट्रों के हस्ताक्षरों से 'स्वीकृत' हुआ जिसे फिनलैण्ड के राजकीय अभिलेखागार में 18 मीटर की गहराई में चमड़े की एक हरी जिल्द में बाँधकर सुरक्षित रख दिया गया है और इसकी प्रतिलिपियाँ ही देखने को उपलब्ध हुई हैं। इसे तब तक नहीं खोला जाएगा जब तक अपवाद स्वरूप इस मूल प्रति को देखने की विशेष अनुमति न दी जाए।[1] यह घोषणा-पत्र एक कानूनी दस्तावेज होने के बजाय वस्तुतः आचरण की एक नैतिक संहिता है। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है क्योंकि यह द्वितीय महायुद्ध और उसके तनावपूर्ण शीतयुद्ध के कुपरिणामों को समाप्त करने वाला और उसके स्थान पर सदस्य-राष्ट्रों में सुरक्षा और सहयोग की भावना को जन्म देने वाला है तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव कुर्त वाल्दहीम के अनुसार व्यावहारिक समझौते का प्रतीक है। इस सम्मेलन द्वारा स्वीकृत घोषणापत्र के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं—राज्यों की प्रभुसत्ता को एक दूसरे के द्वारा स्वीकृति प्रदान होना, बल-प्रयोग से बचे रहने का संकल्प, राष्ट्रों के बीच समस्त विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान, सीमाओं की अखण्डता का सम्मान, मानव और मूलभूत अधिकारों के प्रति आदर, राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व आदि। सम्मेलन इस रूप में ऐतिहासिक था कि इसमें भाग लेने के लिए 35 यूरोपीय अमेरिकी देशों के राजाध्यक्ष और शीर्ष नेता पहुँचे और वे मोटे तौर पर इस बात के लिए चिन्तित रहे कि 'नरमी' (देतांत)

1 दिनमान, 10 अगस्त, 1975, पृष्ठ 31.

में कहीं कमी और यूरोप की आज की स्थिति में कोई गिरावट न आने पाए। मार्शल टीटो ने कहा कि सुरक्षा और सहयोग एक नए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्वरूप के बिना अधूरे रहेंगे। उन्होने 'नरमी' (देतांत) का समर्थन किया, लेकिन साथ ही यह भी कहा कि तटस्थ और विकासशील राष्ट्रो पर उनकी स्वतन्त्र नीतियो के कारण नए दबाव डाले जा रहे हैं। उन्होने आरोप लगाया कि शक्ति-सन्तुलन के नाम पर हथियारो की प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

यूरोपीय सुरक्षा-सम्मेलन की सफलता से इस बात की पुनः पुष्टि हो गई कि मतभेदों और अवरोधों के बावजूद सोवियत सघ और अमेरिका सहअस्तित्व, शान्ति और सहकार की दिशा मे प्रगति करना चाहते हैं।

सैद्धान्तिक संघर्ष बनाम शक्ति-राजनीति
(Ideological Conflict Vs. Power Politics)

अब हमें 'शीतयुद्ध' के एक दूसरे पहलू पर भी कुछ विचार करना चाहिए। प्राय: यह कहा जाता है कि 'शीतयुद्ध' एक सैद्धान्तिक संघर्ष (Ideological Conflict) है जिसमे दो विरोधी जीवन-पद्धतियां (उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद) सर्वोच्चता के लिए सघर्षरत हैं। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि शक्ति-राजनीति के इस युग मे सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच जो एक विशेष प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता है, वह बहुत कुछ सैद्धान्तिक है। इसके पीछे एक गहन सामाजिक दर्शन है जो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक मुख्य कारण बन गया है। सयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत प्रणाली को एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र मानता है जिसका उद्देश्य अन्य देशो के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप कर अथवा अपना प्रभाव डालकर साम्यवाद का प्रसार करना है। दूसरी ओर सोवियत सघ पश्चिमी देशो की प्रणालियो को शोषण, आक्रामक, हीन उपायो द्वारा स्वार्थ-लाभ तथा सगठित लूट-खसोट पर आधारित मानता है। दोनो देशों और उनके पिछलग्गू राष्ट्रो के दृष्टिकोण परस्पर इस तरह विरोधी हैं कि उनका प्रभाव हर क्षेत्र पर पडा है और सर्वत्र रूस व अमेरिका का वैचारिक संघर्ष प्रवेश कर गया है। यह वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक सघर्ष आज विश्व राजनीति का एक आधार बन चुका है और इसी संघर्ष को जारी रखने एवं इसमे सफलता प्राप्त करने के प्रत्येक सम्भव उपाय सोचे जा रहे हैं।

वैसे तो इस सैद्धान्तिक संघर्ष का उदय प्रधानतः सन् 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद ही हो गया था, किन्तु द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में इसने चिन्ताजनक और भीषण रूप धारण कर लिया। परिणाम यह हुआ कि दोनो राष्ट्रों के बीच तनावों मे वृद्धि होती गई और विश्व की समस्याओं के प्रति विरोधी नीतियाँ परस्पर टकराने लगी। साम्यवाद को सीमित रखने के लिए अमेरिका ने विभिन्न कदम उठाए। ट्रूमैन सिद्धान्त का प्रतिपादन, मार्शल-योजना जैसे कार्यक्रमों की पूर्ति, सैनिक एवं प्रादेशिक संगठनों की स्थापना आदि बातो से यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ने साम्यवाद के विरुद्ध कमर कस ली है। दूसरी ओर साम्यवाद ने पूँजीवादी घेरों को

तोड़कर साम्यवाद के प्रसार का संकल्प ले लिया। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि द्वितीय महायुद्ध के बाद 'शीतयुद्ध' का मानव समग्र संसार को ग्रसने लगा। स्थिति यह बन गई कि सैद्धान्तिक संघर्ष में विजय पाने और शीतयुद्ध को कायम रखने के लिए राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा सैनिक सभी प्रकार के उपाय काम में लाए जाने लगे। लेकिन इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी कार्य हो रहे हैं जिनमें सचमुच विरोधाभास है। संयुक्तराज्य अमेरिका लोकतन्त्र की साम्यवाद से रक्षा के नाम पर विभिन्न देशों को आर्थिक सहायता देता है ताकि वहाँ की स्थिति सुदृढ़ रहे और साम्यवाद के प्रसार का अवसर न मिले। लेकिन यह आर्थिक सहायता उन्हीं देशों को प्राप्त होती है जो सोवियत संघ के विरोधी हैं या उनको जिनकी स्थिति अब अच्छी नहीं है और जहाँ लोकतन्त्र के प्रति आस्था मिटती जा रही है। इसके परिणामस्वरूप उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। उदारवाद को महत्त्व न दिया जाकर विचारों की विभिन्नता को घृणा से देखा जाता है। स्वतन्त्र विचारों के लिए आदर न होने से विश्व में अविश्वास की राजनीति को बल मिला है।

दोनों राष्ट्र एक दूसरे के प्रति इतने सशंकित हैं कि अपनी व्यवस्था के रक्षार्थ उन्होंने गुप्तचरों का एक विश्व-व्यापी जाल बिछा रखा है। सैद्धान्तिक संघर्ष में और एक-दूसरे के दर्शन से अपने दर्शन को अथवा अपने रहन-सहन को श्रेष्ठतर सिद्ध करने के लिए प्रचार के सभी साधन अपनाए जाते हैं। प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता देकर अविकसित देशों की मित्रता खरीदी जाती है, सामरिक सामग्री पर नियन्त्रण किया जाता है और दुर्बल देशों के अर्थतन्त्र को नियन्त्रित किया जाता है। इतना ही नहीं, अन्य देशों में जो राजसत्ता के लिए संघर्ष होते हैं उनमें किसी दल विशेष का पक्ष लेकर सैद्धान्तिक संघर्ष को बढ़ाया जाता है।

इस तरह वर्तमान शीतयुद्ध का सर्वोपरि आधार सैद्धान्तिक या वैचारिक संघर्ष (Ideological Conflict) ही है। आर्नोल्ड टॉयनबी ने शीतयुद्ध को एक सैद्धान्तिक संघर्ष मानते हुए विश्व राजनीति की 'द्वि-ध्रुवी' व्याख्या की है। टॉयनबी के अनुसार वर्तमान समय में विश्व-राजनीति में केवल दो सिद्धान्त और केवल दो शक्तियाँ हैं—उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकार साम्यवाद और संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस। यह कहा जाता है कि संसार के अन्य राज्यों के पास इसके अतिरिक्त और कोई अन्य विकल्प नहीं है कि इन दो महाशक्तियों में से एक-न-एक का साथ दें। मार्शल टीटो का सोवियत संघ के विरुद्ध विद्रोह अथवा भारत का असंलग्नतावाद किसी भी ऐच्छिक विकल्प का प्रतिनिधित्व नहीं करते, अपितु महाशक्तियों द्वारा चयनित विकल्प (Choice Allowed) का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह बात इसी से स्पष्ट है कि यदि रूस और अमेरिका में कभी अन्तिम संघर्ष का अवसर उपस्थित हो गया तो यूगोस्लाविया अथवा भारत के पास सिवाय इसके कोई प्रभावी विकल्प नहीं रहेगा कि वे दोनों में से किसी एक पक्ष का साथ दें।

यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि स्वयं पश्चिमी शक्तियाँ और साम्यवादी देश भी शीतयुद्ध के एक सैद्धान्तिक संघर्ष होने का दावा पेश करते हैं। पश्चिमी

शक्तियों द्वारा इसे एक सैद्धान्तिक संघर्ष मानने का स्पष्टतम प्रमाण 5 मार्च, 1946 की चर्चिल की विख्यात 'फुल्टन वक्तृता' है जिसमें उन्होंने यूरोप के आर-पार सोवियत 'लौह आवरण' (Iron Curtain) की निन्दा करते हुए सोवियत खतरे से ईसाई सभ्यता की रक्षा करने तथा साम्यवादी निरंकुशता द्वारा गुलाम बनाए गए लोगों को स्वतन्त्र कराने के लिए एक ऐंग्लो-अमेरिकी मैत्री सन्धि पर बल दिया था। शीतयुद्ध एक सैद्धान्तिक संघर्ष है, इस सम्बन्ध में रूसी दावे की पुष्टि उस घोषणा-पत्र के निम्नलिखित अंशों द्वारा की जा सकती है जो 5 अक्तूबर, 1947 को रूस सहित 18 प्रमुख साम्यवादी देशों के प्रतिनिधियों द्वारा मास्को तथा वारसा में एक साथ प्रसारित किया गया था—

"..........दो विरोधी राजनीतिक विचारधाराएँ उजागर हो गई हैं। एक ओर सोवियत संघ तथा अन्य लोकतन्त्रीय राज्यों का उद्देश्य साम्राज्यवाद का विनाश करना तथा लोकतन्त्र को मजबूत बनाना है। दूसरी ओर इङ्गलैंड तथा अमेरिका का उद्देश्य साम्राज्यवाद को मजबूत बनाना तथा लोकतन्त्र का गला घोटना है। चूंकि सोवियत संघ तथा लोकतान्त्रिक देश विश्व-प्रभुत्व एवं लोकतन्त्रीय आन्दोलनों के दमन की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक हैं, इसलिए इङ्गलैंड तथा अमेरिका के खूनी साम्राज्यवादियों ने सोवियत संघ तथा नए लोकतन्त्र के प्रतीक अन्य देशों के विरुद्ध एक अभियान प्रारम्भ कर दिया है।.........इन परिस्थितियों में साम्राज्यवाद-विरोधी लोकतन्त्रीय समुदाय के लिए संगठित होना तथा साम्राज्यवादी समुदाय की प्रमुख शक्तियों के विरुद्ध अपनी नीति निश्चित करने हेतु एक सामान्य मञ्च (Common Platform) का निर्माण करना आवश्यक है।"

निष्कर्ष यही निकलता है कि शीतयुद्ध को एक सैद्धान्तिक संघर्ष की संज्ञा दिया जाना गलत नहीं है, पर यह कहना अवश्य भ्रामक है कि यह केवल एक सैद्धान्तिक संघर्ष है। शीतयुद्ध और सैद्धान्तिक संघर्ष पर्यायवाची नहीं हैं बल्कि सैद्धान्तिक संघर्ष शीतयुद्ध के एक प्रधान कारण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। नेतृत्व की होड़, प्रभाव-विस्तार की होड़, शक्ति-प्रतिस्पर्द्धा, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याएँ आदि अनेक अन्य तत्त्व भी हैं जो शीतयुद्ध भड़काते हैं।



6 गुट-निरपेक्षता

(NON-ALIGNMENT)

"यदि हम अपने आपको किसी एक गुट के साथ संयुक्त कर लेते हैं तो शायद एक प्रकार से यह अच्छा कदम सिद्ध होगा; लेकिन हमें ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण दुनिया को इससे लाभ की अपेक्षा हानि ही होगी। इससे हम दुनिया में अपना प्रभाव काम में नहीं ला सकेंगे।" —जवाहरलाल नेहरू

गुट-निरपेक्षता अथवा असंलग्नता की नीति को सर्वप्रथम व्यावहारिक रूप देने का श्रेय भारत को है। स्वतन्त्र भारत ने अपनी विदेश नीति का इसे आधार-स्तम्भ बनाया और कठोर बाधाओं के बावजूद इस नीति को आगे बढाया। धीरे-धीरे गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने वाले देशों की संख्या में वृद्धि होती गई। सन् 1961 में बेलग्रेड के गुट-निरपेक्ष देशों के प्रथम शिखर सम्मेलन मे केवल 25 देश सम्मिलित हुए थे जबकि सन् 1973 मे अल्जीरिया में सम्पन्न शिखर सम्मेलन 76 देशों ने भाग लिया। वर्तमान प्रवृत्ति यही है कि जो भी राष्ट्र गुलामी की बेड़ियों से मुक्त होकर स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्रो के रूप में उदित हो रहे हैं वे अधिकांशतः गुट-निरपेक्ष नीति को ही अपनाना श्रेयस्कर समझते हैं। सबसे ताजा उदाहरण अप्रेल, 1975 मे कम्बोडिया मे लोन-नोल सरकार के पलायन के उपरान्त विजयी सिहानुक सरकार की घोषणा है जिसमें कम्बोडिया के लिए गुट-निरपेक्षता की नीति को स्वीकार किया गया है। भारत विश्व के सभी गुट-निरपेक्ष देशों की 'आशा' है और विश्व-पटल पर भारत की आवाज का आज पहले से अधिक महत्त्व है। महाशक्तियाँ चाहे गुट-निरपेक्षता की नीति मे हृदय से विश्वास न करती हों, लेकिन प्रकट रूप में इस नीति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करती हैं। साम्यवादी चीन, जो विस्तारवादी और सैनिकवादी नीति का अनुसरण कर रहा है, स्वयं को गुट-निरपेक्ष कहलाना ही अधिक पसन्द करता है। पाकिस्तान जैसे देश के लिए गुट-निरपेक्ष शब्द का कोई अर्थ नही रखता, फिर भी वह गुट-निरपेक्ष देशों के सम्मेलन मे प्रवेश करता रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि गुट-निरपेक्षता की नीति आज जगत् में अपनी जड़ें जमाकर एक 'वास्तविकता' बन गई है।

गुट-निरपेक्षता का अर्थ और उसके तत्त्व

गुट-निरपेक्षता का सरल अर्थ है विभिन्न शक्ति-गुटों से तटस्थ या अलग रहते हुए अपनी स्वतन्त्र निर्णय-नीति और राष्ट्रीय हित के अनुसार न्याय का समर्थन करना। इसका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे 'तटस्थता' (Neutrality) नहीं है। गुट-निरपेक्ष देश विश्व की घटनाओं के प्रति उदासीन नही रहते बल्कि एक ऐसी स्पष्ट और रचनात्मक नीति का अनुसरण करते हैं जो विश्व-शान्ति की स्थापना में सहायक हो। भारत सरकार के एक प्रकाशन के अनुसार—"गुट-निरपेक्षता का अर्थ है अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति। गुटों से अलग रहने से हर प्रश्न के औचित्य-अनौचित्य को देखा जा सकता है। एक गुट के साथ जुड़कर उचित अनुचित का विचार किए बिना आँख मूँदकर पीछे-पीछे चलना गुट-निरपेक्षता नही है।" 'तटस्थता' और 'गुट-निरपेक्षता' पर्यायवाची शब्द नही हैं। इनमे यह समानता तो है कि दोनों के अन्तर्गत शीतयुद्ध के समय सघर्ष से पृथक् रहा जाता है, लेकिन आधारभूत अन्तर यह है कि जहाँ वास्तविक युद्ध छिड़ने पर एक तटस्थ राष्ट्र युद्ध से पृथक् रहता है वहाँ गुट-निरपेक्ष देश युद्ध मे किसी भी पक्ष की ओर से उलझ सकता है। न्याय का समर्थन करते हुए उसकी विदेश नीति सकारात्मक रूप से संचालित होती है। स्विट्जरलैण्ड एक 'तटस्थ' देश है जबकि भारत एक 'गुट-निरपेक्ष' देश है। गुट-निरपेक्षता के अग्रदूत स्व. नेहरू ने कहा था—"मैं 'तटस्थ' शब्द का प्रयोग नही करता क्योकि उसका प्रयोग सामान्य रूप से युद्धकाल में होता है। शान्तिकाल मे भी इससे एक प्रकार के युद्ध की मनोवृत्ति प्रकट होती है।" जार्ज लिस्का ने लिखा है कि—"किसी विवाद के सन्दर्भ में यह जानते हुए कि कौन सही है कौन गलत है, किसी का पक्ष लेना तटस्थता है, किन्तु असलग्नता या गुट-निरपेक्षता का अर्थ है सही और गलत में भेद करना तथा सदैव सही नीति का समर्थन करना।"[1]

गुट-निरपेक्षता कोई निष्क्रिय सिद्धान्त नहीं है। यह एक सक्रिय और स्वतन्त्र सिद्धान्त है। यह नीति चुप्पी लगाकर बैठ जाने की या अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्र से सन्यास लेने की नही है, बल्कि इसके अन्तर्गत स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे न्यायपूर्ण ढंग से सक्रिय भाग लिया जा सकता है। गुट-निरपेक्षता का स्पष्ट अभिप्राय है किसी भी विशेष देश के साथ सैनिक गुटबन्दी मे सम्मिलित न होना, पश्चिमी या पूर्वी गुट के किसी भी विशेष देश के साथ सैनिक दृष्टि से न बँधना, किसी भी प्रकार की आक्रामक सन्धि से अलग रहना, शीतयुद्ध से पृथक् रहना, राष्ट्रीय हित का ध्यान रखते हुए न्यायोचित पक्ष में अपनी विदेश नीति का संचालन करना। सन् 1961 मे गुट-निरपेक्षता के तीन कर्णधारों नेहरू, नासिर और टीटो ने इसके पाँच आधार स्वीकार किए थे—

(1) सदस्य-देश स्वतन्त्र नीति पर चलता हो;

(2) सदस्य-देश उपनिवेश का विरोध करता हो;

1 *M. C. Chagla* : Quoted from 'An Ambassador Speaks', p. 3.

(3) सदस्य-देश किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो;
(4) सदस्य-देश ने किसी बड़ी ताकत के साथ द्विपक्षीय समझौता न किया हो; एवं
(5) सदस्य-देश ने किसी बड़ी ताकत के साथ अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति न दी हो।

गुट-निरपेक्षता की नींव जो भारत ने सन् 1946–47 में रखी वह समय के साथ और दृढ़ बन चुकी है। स्व. नेहरू के ये शब्द आज भी इस नीति के संदर्भ में सजीव हैं—

"जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो, अथवा जहाँ आक्रमण होता हो, वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।"

पाकिस्तान के अत्याचारों से मुक्ति दिलाकर बंगला देश के उदय में भारत ने जो ऐतिहासिक भूमिका अदा की वह स्व. नेहरू के उपर्युक्त शब्दों की पुष्टि करती है। इससे सिद्ध होता है कि गुट-निरपेक्षता का अर्थ 'थोथा शान्तिवाद' नहीं है। यह निर्भयता और साहस की नीति है, कायरता की नहीं।

गुट-निरपेक्षता का विकास : प्रोत्साहन देने वाले कारक

गुट-निरपेक्षता की नीति सैद्धान्तिक रूप में तो बहुत पहले से विद्यमान थी, लेकिन इसे व्यावहारिक और साकार रूप मिला भारत के स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय होने पर। इसके बाद कुछ और भी राष्ट्रों ने गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाया। इनमें प्रमुख थे—इण्डोनेशिया, यूगोस्लाविया तथा संयुक्त अरब गणराज्य। लेकिन छठे और सातवें दशक में एशिया और अफ्रीका के अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र हुए जिनमें से अधिकांश ने गुट-निरपेक्षता को राष्ट्रीय नीति के रूप में अपनाया और आज विश्व के बहुसंख्यक देश इस नीति का समर्थन करते हैं तथा इसे मान्यता देते हैं। जब सितम्बर, 1961 में बेलग्रेड में गुट-निरपेक्ष देशों का प्रथम शिखर सम्मेलन हुआ उसमें 25 देश सम्मिलित हुए। सन् 1964 के काहिरा शिखर सम्मेलन में 47 गुट-निरपेक्ष देशों ने भाग लिया; सन् 1970 के लुकासा सम्मेलन में यह संख्या 54 तक पहुँच गई और सन् 1973 में अल्जीरिया में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का जो सम्मेलन हुआ उसमें 76 सदस्य-देशों ने भाग लिया।

गुट-निरपेक्षता की इस लोकप्रियता के कुछ मुख्य कारण ये हैं—

1. राष्ट्रवाद की भावना—नवोदित राष्ट्रों के नेता गुट-निरपेक्षता के समर्थन में राष्ट्रवाद का आश्रय लेते रहते हैं। फ्रांस, जर्मनी और ग्रेट-ब्रिटेन का इतिहास भी बताता है कि ये देश राष्ट्रवाद की भावना के कारण ही तटस्थता की नीति से प्रभावित हुए।

2. उपनिवेशवाद का विरोध—नवोदित अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों में यह भय विद्यमान रहा है कि बड़े राष्ट्रों के साथ सैनिक सन्धियों में बँध जाने पर वे फिर उनके में आ जाएँगे। उपनिवेशवाद का कड़वा फल चखने के बाद अब नवोदित

समझने लगे हैं कि गुटों से निरपेक्ष रहकर ही वे अपने आत्म-सम्मान की रक्षा कर सकते हैं।

3. दोनों गुटों से सहायता प्राप्त करने की इच्छा—नवोदित राज्यों को अपने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए उन्नत राष्ट्रों से आर्थिक और प्राविधिक सहायता की आवश्यकता रहती है। गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाकर ये देश पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों ही गुटों से सहायता लेने में सफल होते हैं। फलस्वरूप गुट-निरपेक्षता की नीति अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही है। यही एक ऐसी नीति है जिस पर चलकर बिना शर्त सहायता ली जा सकती है।

4. जातीय एवं सांस्कृतिक पहलू—गुट-निरपेक्षता की नीति का एक जातीय और सांस्कृतिक पहलू भी है। इस नीति के समर्थक मुख्यतः एशिया और अफ्रीका के वे देश हैं जिनका यूरोपीय राष्ट्रों ने आर्थिक और राजनीतिक शोषण किया। ये देश अश्वेत हैं और उनमे जातीय तथा सांस्कृतिक समानताएं हैं। सांस्कृतिक एकता की कड़ियाँ यद्यपि मजबूत नहीं हैं तथापि इस बारे में सभी एकमत हैं कि वे किसी भी बड़ी शक्ति के अधीन न रहें।

5. शान्तिपूर्ण विकास की इच्छा—गुटीय प्रतिस्पर्द्धा नवोदित राष्ट्रों के लिए हानिकारक हैं। शान्तिपूर्ण विकास के लिए आवश्यक है कि गुटों से पृथक् रहने की नीति का अनुसरण किया जाए।

गुट-निरपेक्षता की अभिव्यक्ति : विभिन्न सम्मेलन

गुट-निरपेक्ष देशों की संख्या मे निरन्तर वृद्धि होती गई और इस नीति की अभिव्यक्ति समय-समय पर होने वाले विभिन्न सम्मेलनों में हुई है। गुट-निरपेक्ष देश कभी शिखर सम्मेलनों का आयोजन करते हैं तो कभी विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन का। इससे चार मुख्य लाभ होते हैं—(1) गुट-निरपेक्षता की लोकप्रियता में वृद्धि होती है, (2) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर गुट-निरपेक्ष के दृष्टिकोणों की स्पष्ट रूप में अभिव्यक्ति होती है, (3) गुट-निरपेक्ष देशों में पारस्परिक राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सहयोग की वृद्धि होती है, एवं (4) विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर गुट-निरपेक्ष देशों की आवाज को बल मिलता है।

अभी तक गुट-निरपेक्ष देशों के जो महत्त्वपूर्ण सम्मेलन और विदेशमन्त्री-सम्मेलन हुए हैं वे संक्षिप्त मे निम्नलिखित हैं—

प्रथम शिखर सम्मेलन (बेलग्रेड), 1961

सितम्बर, 1961 में बेलग्रेड में गुट-निरपेक्ष देशों का प्रथम शिखर सम्मेलन हुआ जिसमे 25 देश सम्मिलित हुए। सम्मेलन के मुख्य विचार-बिन्दु ये थे—

1. महाशक्तियों से अनुरोध किया गया कि वे शीतयुद्ध की उग्रता कम करें, आपसी बातचीत द्वारा समस्याओं के हल खोजें और निःशस्त्रीकरण के लिए सक्रिय रूप से प्रयास करें।

2. विश्व में शान्ति-स्थापना के लिए सभी देशों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पिछड़ेपन को दूर करने पर बल दिया गया।

3. विज्ञप्ति में कहा गया कि सभी देशों को अपने ढंग से शासन-संचालन की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए और किसी के घरेलू मामलों में विदेशी शक्तियों का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

4. दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद नीति की निन्दा की गई।

5. विश्व में सैनिक अड्डों को समाप्त करने की अपील की गई।

6. सभी विचारधाराओं के सह-अस्तित्व को विश्व-शान्ति के लिए आवश्यक माना गया। यह भी कहा गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों को पूरी मान्यता दी जानी चाहिए।

बेलग्रेड सम्मेलन में कुछ मतभेद भी उभरे। इण्डोनेशिया के डॉ. सुकार्णो ने उपनिवेशवाद को समकालीन विश्व की बुराइयों की जड़ बतलाया जबकि पण्डित नेहरू ने विश्व-शान्ति की स्थापना को मुख्य स्थान दिया।

द्वितीय शिखर सम्मेलन (काहिरा), 1964

अक्तूबर, 1964 में काहिरा में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का दूसरा शिखर सम्मेलन हुआ जिसमे 47 देशो ने भाग लिया। इनके अतिरिक्त 11 देशों से पर्यवेक्षक भी सम्मिलित हुए। सम्मेलन का उद्देश्य गुट-निरपेक्ष क्षेत्र को विस्तृत करना और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करना था।

सम्मेलन में भारतीय प्रधानमंत्री स्वर्गीय शास्त्री ने विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए एक पाँच सूत्री प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो इन प्रश्नों से सम्बन्धित था—(i) अणु निःशस्त्रीकरण; (ii) सीमा-विवादों का शान्तिपूर्वक हल; (iii) विदेशी प्रभुत्व, आक्रमण एवं तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों से मुक्ति; (iv) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा आर्थिक विकास, एवं (v) संयुक्त राष्ट्रसघ के कार्यक्रम का समर्थन। भारत ने राष्ट्रों के लिए आचार-संहिता सम्बन्धी एक 10 सूत्री योजना भी प्रस्तुत की। सोवियत संघ ने सम्मेलन के घोषणा-पत्र की बहुत सराहना की और उसे शान्तिवादी तथा सह-अस्तित्व के विचारो के अनुकूल बताया।

तृतीय शिखर सम्मेलन (लुसाका), 1970

सितम्बर, 1970 में गुट-निरपेक्ष देशों का तीसरा शिखर सम्मेलन लुसाका मे हुआ जिसमे 54 देशों ने भाग लिया। इसके अतिरिक्त 9 पर्यवेक्षक सम्मिलित हुए। सम्मेलन के मुख्य विचार-बिन्दु ये थे—

1. सम्मेलन ने विश्व के सम्पन्न और निर्धन देशों की खाई की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए आर्थिक तथा सुरक्षात्मक उपायों पर बल दिया।

2. पुराने उपनिवेशवाद के साथ-साथ नव-उपनिवेशवाद की भी आलोचना की गई।

3. सम्मेलन ने गुट-निरपेक्ष दलो का स्थायी संगठन बनाने और उसका कार्यालय स्थापित करने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इससे गुट-निरपेक्षता की भावना को ठेस पहुँचने की सम्भावना थी। भारत के कड़े विरोध कारण ऐसा संगठन नही बन पाया।

जार्जटाउन सम्मेलन, अगस्त 1972

गुट निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का एक चार दिवसीय सम्मेलन जार्जटाउन में हुआ। एक घोषणा का प्रस्ताव स्वीकृत करने के उपरान्त सम्मेलन समाप्त हो गया। इस घोषणा में निम्नलिखित मुख्य बातें ये थीं—

1. गुट-निरपेक्षता के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास पर बल दिया गया।

2. हिन्द-चीन, पश्चिमी एशिया और अफ्रीका में संघर्षों पर चिन्ता प्रकट की गई।

3. यह स्पष्ट किया गया कि संयुक्तराष्ट्र महासभा की हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र रखने की घोषणा पर अमल किया जाए।

4. दक्षिण वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार की योजना का और पेकिंग स्थित कम्बोडिया की सिहानुक सरकार के पाँच सूत्री प्रस्ताव का समर्थन किया गया। यह माँग की गई कि अमेरिकी फौजों को वियतनाम से शीघ्र वापस चला जाना चाहिए।

सम्मेलन में भारत सहित 58 देशों ने भाग लिया। सम्मेलन की आर्थिक समिति की रिपोर्ट में कहा गया कि गरीबी और बेरोजगारी दूर करने के लिए गुट-निरपेक्ष देशों को आत्म-निर्भरता पर जोर देना चाहिए। इस बात पर भी बल दिया गया कि सदस्य देश द्वि-पक्षीय व्यापार में यथासम्भव राष्ट्रीय मुद्राओं का उपयोग करें।

सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन में पारित एक प्रस्ताव में अमेरिका की आक्रमणकारी नीति और हिन्द-चीन में युद्ध विस्तार की कड़े शब्दों में निन्दा की गई।

चतुर्थ शिखर सम्मेलन (अल्जीरिया), 1973

सितम्बर, 1973 मे 4 से 8 तारीख तक गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का अल्जीरिया में जो शिखर सम्मेलन हुआ उसमे 76 देशो ने भाग लिया। यह गुट-निरपेक्ष देशो का अब तक का सबसे बड़ा शिखर-सम्मेलन था। सम्मेलन के मुख्य विचार-बिन्दु इस प्रकार थे—

1. लीबिया और अल्जीरिया के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया कि गुट-निरपेक्षता की एक नई परिभाषा की जाए और गुट-निरपेक्ष देशो के लिए नया विधान बनाया जाए।

2. इस प्रस्ताव को भी सर्वसम्मति नहीं मिल सकी कि सम्मेलन के लिए एक स्थायी सचिवालय का निर्माण किया जाए। यही तय किया गया कि वर्तमान प्रबन्ध व्यवस्था चालू रखी जाए।

3. घोषणापत्र मे सुझाव दिया गया कि तटस्थ राष्ट्र कम्बोडिया के राजकुमार सिहानुक की निर्वासित सरकार को मान्यता दें। यह भी कहा गया कि मिस्र, सीरिया और जोर्डन को उन क्षेत्रों की मुक्ति के लिए राजनयिक सहयोग दिया

जाए जो इजराइल ने अपने अधिकार में कर लिए हैं। वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार को भी राजनयिक सहयोग देने की सिफारिश की गई।

4. फिडेल कास्ट्रो ने घोषणा की कि क्यूबा इजरायल से अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड़ रहा है।

5. अफ्रीकी मुक्ति-आन्दोलनों को सहयोग दिए जाने का प्रश्न सम्मेलन में कई बार उठाया गया है।

6. फिडेल कास्ट्रो ने रूस को गुट-निरपेक्ष देशों का समर्थक बताया है जबकि लैटिन अमेरिकी देशों, विशेषकर ब्राजील पर उन्होंने यह आरोप लगाया कि वे अमेरिकी साम्राज्यवाद को प्रश्रय दे रहे हैं।

7. भारतीय प्रधान मन्त्री श्रीमती गांधी ने कहा कि कुछ बड़े देशों द्वारा दुनिया पर प्रभुत्व जमाए रखने के प्रयत्नों का प्रतिरोध किया जाना चाहिए।

8. सम्मेलन में बड़े राष्ट्रों की चर्चा और आलोचना हुई, पर चीन का उल्लेख नहीं हुआ। प्रक्षेकों ने यह महसूस किया कि शिखर-सम्मेलन में पश्चिमी देशों से अधिक दिलचस्पी रूस और चीन ने ली।

9. बड़े राष्ट्रों (रूस-अमेरिका) के भी सम्बन्ध-सुधार का स्वागत किया गया, किन्तु यह भी कहा गया कि सम्बन्ध-सुधार से होने वाले लाभ सभी राष्ट्रों में समान रूप से बँटने चाहिएँ। दूसरे शब्दों में यह स्पष्ट कर दिया कि सम्बन्ध-सुधार के परिणाम बड़े राष्ट्रों द्वारा छोटे राष्ट्रों के शोषण के नए रूपों में विकसित नहीं होने चाहिए।[1]

अल्जीयर्स सम्मेलन, 1974

अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में 17 गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का तीन दिवसीय सम्मेलन (20 मार्च से 22 मार्च, 1974) सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में निम्न बातों पर विचार हुआ—

1. हिन्द महासागर में अमेरिका द्वारा डियागो गार्सिया को नौ-सैनिक अड्डा बनाने के निश्चय की आलोचना की गई।

2. तेल उत्पादक देशों से अपील की गई कि वे विकासशील देशों के प्रति नरम रवैया अपनाएँ। तेल के भावों में वृद्धि पर चिन्ता व्यक्त की गई।

3. गुयाना, श्रीलंका, नेपाल, लाइबेरिया का एक अध्ययन-गुट बनाया गया जिसे तेल-उत्पादक देशों के संगठन के साथ परस्पर सहयोग और तालमेल द्वारा समस्याओं को सुलझाने के लिए विचार-विमर्श करने का कार्य सौंपा गया।

4. सम्मेलन ने एक अन्तर्सरकारी गुट का भी गठन किया जिसको यह दायित्व सौंपा गया कि वह विभिन्न देशों में होने वाले कच्चे माल का जायजा ले और बड़े देशों के साथ कच्चे माल के बारे में समझौता करने की दिशा में अपनी राय दे।[2]

1 दिनमान, 16 सितम्बर, 1973, पृष्ठ 31–32.
2 दिनमान, 31 मार्च, 1974, पृष्ठ 28–29.

मार्च, 1975 में हवाना सम्मेलन

मार्च, 1975 में 17 गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन हवाना मे हुआ। सम्मेलन की विज्ञप्ति में कई अन्तर्राष्ट्रीय मामले सामने आए—

1. हिन्द महासागर मे ब्रिटेन और अमेरिका की उपस्थिति की निन्दा की गई। इस बात पर गहरी चिन्ता प्रकट की गई कि इस क्षेत्र के विदेशी अड्डो पर सैनिक शक्ति बढायी जा रही है और महाशक्तियाँ इस क्षेत्र मे तनावपूर्ण वातावरण उत्पन्न कर रही हैं। महाशक्तियों के इस रवैये को हिन्द महासागरीय क्षेत्र के राज्यों की *स्वतन्त्रता और क्षेत्रीय अखण्डता पर आघात माना गया। डियागो गार्सिया मे सैनिक* गतिविधि के बढने पर विशेष चिन्ता प्रकट की गई।

2. संयुक्त राष्ट्रसघ के उस प्रस्ताव का समर्थन किया गया जिसमे हिन्द-महासागर को शान्ति-क्षेत्र बनाने का समर्थन किया गया था।

3 भारतीय विदेश मंत्री श्री चह्वाण ने अपने भाषण मे अमेरिका पर सीधा आरोप लगाया कि वह इस क्षेत्र के अपने मित्रों को विनाशकारी हथियार देकर प्रतिस्पर्द्धा का वातावरण बना रहा है।

4. अन्य राजनीतिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भी विचार-विमर्श हुआ, जैसे तनाव मे शिथिलता, पश्चिमी एशिया में उपनिवेशों की समाप्ति, हिन्द-चीन तथा साइप्रस। विदेश मन्त्रियो की समन्वय समिति (या ब्यूरो) द्वारा फिलिस्तीन के प्रश्न पर अलग से एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसमे इस आवश्यकता का दृढ़ता से समर्थन किया गया कि गुट-निरपेक्ष देश इस विषय से सम्बन्धित संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों के अनुपालन मे गुट निरपेक्षता के सिद्धान्तों तथा उद्देश्यो के अनुरूप फिलीस्तीन में न्यायसगत तथा स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए किए गए प्रयासों मे खुलकर तथा ठोस योगदान करें।

5. बैठक के सम्मुख आर्थिक क्षेत्र के प्रमुख प्रश्नो मे एक महत्त्व का प्रश्न था —अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट से अत्यन्त गम्भीर रूप से प्रभावित देशो की जटिल समस्या। अन्तिम समस्या के आर्थिक खण्ड मे ब्यूरो ने दूसरी बातों के अलावा अपने इस विश्वास की पुन: पुष्टि की कि विश्व की आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए यह आवश्यक है कि समस्त संसार इसके लिए ऐसे पारस्परिक सहयोग से कार्य करे जो नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी घोषणा और कार्यक्रम के अनुसार सभी देशो की समानता और सम्मान पर आधारित हो। साथ ही ब्यूरो ने राज्यो के आर्थिक अधिकार और दायित्व सम्बन्धी चार्टर को क्रियान्वित करने की आवश्यकता पर भी बल दिया जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो के क्षेत्र में नूतन युग की स्थापना की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

अगस्त, 1975 में लीमा सम्मेलन

गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियो का एक सम्मेलन 25 से 30 अगस्त, 1975 तक लीमा (पीरू) में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन ने 'परस्पर सहायता एवं एकता

का लीमा-कार्यक्रम' शीर्षक एक घोषणा प्रसारित की। घोषणा के आर्थिक खण्ड में नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए गुट-निरपेक्ष देशों की एकता एवं बन्धुत्व को सुदृढ़ बनाने की एक योजना भी शामिल है। इसमे दो भागों में 'विकासशील देशों के बीच सहयोग तथा विकसित देशों से सहयोग' सम्बन्धी एक क्रियात्मक योजना भी है। सम्मेलन में विशिष्ट राजनीतिक एव आर्थिक प्रश्नों पर भी प्रस्ताव स्वीकृत हुए। इस सम्मेलन में 82 सदस्य देशों तथा कई पर्यवेक्षकों ने भाग लिया।

सम्मेलन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि कुछ गुटबद्ध देशों ने भी इसमें पर्यवेक्षक तथा अतिथि के रूप में भाग लेने मे रुचि प्रदर्शित की। महान् शक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा के सन्दर्भ में किए गए सैनिक समझौतों से सम्बद्ध तथा अपने क्षेत्र में विदेशी सैनिक अड्डे रखने वाले देशों को गुट-निरपेक्ष सम्मेलनो मे नहीं बुलाया जाता था। अतः विचार-विमर्श के बाद उन देशों को, जिन्होंने अपने प्रतिनिधि लीमा मे भेज दिए थे विशेष तौर से अतिथि के रूप में इस शर्त पर आमन्त्रित कर दिया गया कि अगस्त, 1976 में कोलम्बो में होने वाले गुट-निरपेक्ष सम्मेलन से पहले तथा बाद मे इस पूरे प्रश्न पर पुनर्विचार किया जाएगा।

सम्मेलन मे राजनीतिक प्रश्नों के अन्तर्गत मध्यपूर्व तथा फिलिस्तीन, साइप्रस, इण्डोचीन और हिन्द महासागर के बारे मे विचार-विमर्श हुआ। इन प्रश्नो पर गुट-निरपेक्ष देशो के पहले दृष्टिकोण को पुनः दोहराया गया। इण्डोचीन के पुनर्निर्माण मे सहायता के लिए गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा एक स्वैच्छिक एकता निधि स्थापित करने का निर्णय किया गया। सम्मेलन ने हिन्दमहासागर पर एक अलग से प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें इस विषय से सम्बन्धित संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों को दोहराया गया।

बैठक में आर्थिक प्रश्नो पर कई ऐतिहासिक निर्णय लिए गए। सम्मेलन ने गुट-निरपेक्ष देशो के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए एक कोष की स्थापना का अनुमोदन किया। कोष की सदस्यता के लिए समान चन्दा 5,00,000 डॉलर निश्चित किया गया। चन्दे की सम्पूर्ण राशि को निधि की स्थापना के बाद अतिरिक्त स्वैच्छिक चन्दे द्वारा पूरा किया जाएगा। ज्यों ही 40 देश प्रस्ताव पर हस्ताक्षर तथा उसका अनुसमर्थन कर देंगे, निधि अस्तित्व मे आ जाएगी। भारत ने प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किए।

सम्मेलन ने कच्चे माल तथा विकासशील देशों द्वारा निर्यात किए जाने वाले उत्पादनों के सुरक्षित भण्डार की वित्तीय व्यवस्था के लिए विशेप निधि की स्थापना के सम्बन्ध मे अन्तर्सरकारी विशेषज्ञ दल को समझौते का अन्तिम प्रारूप तैयार करने के लिए अधिकृत किया।

सामूहिक संचार साधनों के क्षेत्र में सहयोग के लिए गुट-निरपेक्ष देशों की प्रेस-एजेंसियों का एक निकाय स्थापित करने के लिए गुट-निरपेक्ष देशों से परामर्श करने के बाद भारत ने एक प्रस्ताव रखा जिसे सम्मेलन ने स्वीकृत कर लिया।

गुट-निरपेक्ष देशों का मन्त्रिमण्डलीय स्तर का सम्मेलन, दिल्ली, जुलाई 1976

दिल्ली में 8 से 13 जुलाई को आयोजित गुट-निरपेक्ष देशों का मन्त्रिमण्डलीय स्तर का सम्मेलन इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था कि उसमें ऐसी समाचार एजेंसी पुंज के गठन पर विचार-विमर्श हुआ जो इन देशों की वास्तविक आवश्यकताओं व उपलब्धियों को केन्द्र-बिन्दु मानकर समाचारों का एकत्रण और आदान-प्रदान करेगा। उसके माध्यम से न केवल पश्चिमी देशों की समाचार एजेंसियो पर आश्रित रहने की स्थिति समाप्त होगी, बल्कि एक तटस्थ और पूर्वाग्रह मुक्त दृष्टि से कार्य करने के परिणामस्वरूप इन देशों का वास्तविक स्वरूप भी दुनिया की दृष्टि में उजागर किया जा सकेगा।

साठ गुट-निरपेक्ष देशो के इस सम्मेलन का उद्घाटन प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने किया। अध्यक्षता केन्द्रीय सूचना राज्यमन्त्री श्री विद्याचरण शुक्ल ने की। श्रीमती गाँधी ने अपने भाषण में गुट-निरपेक्ष देशों के बीच समाचारों के सीधे आदान-प्रदान की आवश्यकता पर बल दिया और समाचार एजेंसी-पुंज के गठन को एक अच्छा प्रारम्भ माना। श्रीमती गाँधी ने कहा "हमारा अतीत एक तरह का रहा है, हमारा वर्तमान एक तरह का है और भविष्य भी समान है, शीतयुद्ध के तनाव में कमी आ जाने के कारण गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का उद्देश्य खत्म नहीं हुआ है।" यह सर्वाधिक सशक्त अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है। देतां के क्षेत्र मे गुट-निरपेक्ष देशो ने प्रेरक भूमिका निभायी। हमें यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि यह प्रवृत्ति उलटने न पाए। हममें पारस्परिक विश्वास गहरा होना चाहिए और गलतफहमियाँ दूर होनी चाहिए। शान्ति को शस्त्रास्त्रों के भण्डार बनाने से खतरा है, लेकिन आर्थिक असमानताएँ भी शान्ति को खतरे में डाल रही हैं। अपनी स्वायत्तता को सुरक्षित करने की जरूरत है।

श्रीमती गाँधी ने गुट-निरपेक्ष देशों और उनके भूतपूर्व शासकों के बीच के असमान सांस्कृतिक और आर्थिक सम्बन्ध की भी चर्चा की—"वे ही देश औद्योगिक साज-सामान तथा तकनीकी जानकारी देने के मुख्य स्रोत रहे....उनके अपने पूर्वाग्रह रहे जिसके कारण हमारी छवि को विरूप करके प्रस्तुत किया गया। इसी कारण हमारे लोग उनके उपनिवेशवाद के आसानी के साथ शिकार हो गए।" श्रीमती गाँधी ने यह स्पष्ट किया कि अंग्रेजी या फ्रांसीसी भाषा के अध्ययन के प्रति उनके मन मे किसी प्रकार की संकीर्णता की भावना नही है। प्रश्न उन पश्चिमी देशों के समाचार एजेंसियों और प्रकाशन संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत तथ्य को निर्बाध स्वीकार करने का है। हमें एक दूसरे को सीधे जानना चाहिए। एक दूसरे के सम्पर्क में रहना चाहिए ताकि हम एक दूसरे के विचारो को उनके मूल रूप में जान सकें। शक्तिशाली राष्ट्रों के सूचना-माध्यमों के पीछे एक सायास उद्देश्य भूतपूर्व उपनिवेशों यानी नव-स्वतन्त्र देशो की जनता, उसके नेता और उसकी सरकार को बदनाम करना रहा है। जब हमारे बारे में कोई गलत चीज कही जाती है तब हम यह जान सकते हैं कि क्या गलत और

क्या सही है। लेकिन दूसरों के बारे में कोई गलत रपट आती है तब हम तत्काल उसकी तथ्यात्मकता की जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते। हम अफ्रीकी घटनाओं के बारे में अफ्रीका के लोगों से ही सुनना चाहते हैं। इसी प्रकार आप लोगों को भारत की घटनाओं के बारे में भारतीय व्याख्या पाने की स्थिति मे होना चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के प्रमुख कवियों, उपन्यासकारो, पत्रकारों और इतिहासकारों के बारे में हम बहुत कम जानते है जबकि हम यूरोप और अमेरिका के छोटे से छोटे लेखक से भी परिचित हैं।

(दिनमान 18–24 जुलाई, 1976)

कोलम्बो में पाँचवाँ निर्गुट शिखर सम्मेलन[1] (16-19 अगस्त, 1976)

गुट-निरपेक्ष देशों का पाँचवाँ ऐतिहासिक शिखर सम्मेलन श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में श्रीलंका की प्रधान मन्त्री श्रीमती सिरिमाओ भण्डारनायके के इस आह्वान के साथ प्रारम्भ हुआ—

"मानव इतिहास में हम ऐसा अध्याय जोड़ें जो साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के हथकण्डों को प्रभावहीन कर दे।"

श्रीमती भण्डारनायके सम्मेलन की अध्यक्षा निर्वाचित हुई। सम्मेलन की सम्पूर्ण कार्यवाही के महत्त्वपूर्ण बिन्दु ये थे—

1. "श्रीमती भण्डारनायके ने निर्गुट आन्दोलन को सयुक्तराष्ट्र में 'बहुमत के आतक' की सज्ञा दिए जाने पर टिप्पणी करते हुए कहा कि निर्गुट आन्दोलन न कभी ऐसा रहा है, न उसका ऐसा इरादा है और न ही भविष्य मे वह ऐसा रूप लेना चाहता है। उन्होंने घोषणा की—गुट-निरपेक्ष देशो का सघर्ष किसी भी राष्ट्र अथवा समुदाय के विरुद्ध न होकर अन्याय, असहनशीलता, असमानता तथा हस्तक्षेप और चौधराहट के विरुद्ध है। शान्ति सब देशों का अधिकार है, इसलिए इसका दायित्व भी सब पर होना चाहिए।

2. भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कहा—सम्मेलन को अधिक न्यायसंगत अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण का सन्देश प्रसारित करना चाहिए। भारतीय नीति की चर्चा करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत ने सदैव अपनी कथनी और करनी मे स्वतन्त्रता, न्याय, समता तथा सहयोग का पक्ष लिया है। अत्यन्त विषम परिस्थितियों मे भी अपने विचारों और सिद्धान्तो पर भारत सदैव दृढ़ रहा है। भारत ने उपनिवेशवाद तथा जातिवाद के सभी स्वरूपों के खिलाफ़ जोरदार संघर्ष किया है और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से डाले गए सभी राजनीतिक और आर्थिक दबाव का प्रतिरोध किया है। उन्होंने कहा कि 'मानव की अन्तरात्मा' के रूप मे गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की अब तक की उपलब्धियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही हैं, फिर भी हमें व्यापक परिवेश में सोचना है और विघटनकारी प्रवृत्तियों से दूर रहना है। उन्होंने कहा—यह सर्वथा उचित ही

1 हिन्दुस्तान 16–21 अगस्त, 1976.

है कि एशिया, जिसने विदेशी शासन-काल में यंत्रणा भोगी है, गुट-निरपेक्षता की भावना अंगीकार करने वालों मे अग्रणी है। श्रीमती गांधी ने सदस्य-देशों से एकजुट होकर शान्ति की रक्षापंक्ति सुदृढ करने की अपील की।

3. संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव डॉ. कुर्त वाल्दहीम ने कोलम्बो पहुँचने पर कहा—गुट-निरपेक्ष देशों का कोलम्बो सम्मेलन राष्ट्रसंघ के कार्य और विश्व शान्ति तथा सुरक्षा मे महत्त्वपूर्ण योगदान करेगा।

4. श्रीमती भण्डारनायके ने निर्गुट देशों की नई अर्थ-व्यवस्था के निर्माण के लिए आह्वान किया और इसकी कुछ रूपरेखा भी प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि निर्गुट राष्ट्रों को (1) एक नई मुद्रा का प्रचलन करना चाहिए जिसकी पुश्त पर विकासशील देशों की अपरिमित आर्थिक शक्ति हो, और साथ ही (2) तीसरी दुनिया के लिए एक व्यापारिक बैंक स्थापित करना चाहिए। श्रीमती भण्डारनायके ने कहा कि आर्थिक न्याय की प्राप्ति के संघर्ष में हमें अपने निज की वित्तीय और मौद्रिक प्रणालियों का गठन करना चाहिए। विकासशील देश विकसित देशों की मुद्रा को अपने सुरक्षित विदेशी मुद्रा कोषों में रखते हैं जिससे उनकी मुद्राओं को शक्ति और दृढ़ता प्राप्त होती है। यदि निर्गुट राष्ट्र अपनी निज की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का प्रचलन करें और अपनी सुरक्षित मुद्रा-निधियों से विकसित देशों की मुद्राओं को धीरे-धीरे निकाल दें तो वे विकसित देशों की आर्थिक शक्ति का मुकाबला कर सकेंगे। श्रीमती भण्डारनायके का दूसरा सुझाव यह था कि तेल, तांबा, बॉक्साइट और यूरेनियम आदि महत्त्वपूर्ण कच्चे माल के लिए उत्पादक एसोसिएशन स्थापित की जाएँ ताकि विकासशील देश इन वस्तुओं के लिए उचित मूल्य प्राप्त कर सकें। यदि निर्गुट देशों की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और व्यापारिक बैंक स्वतन्त्र रूप से स्थापित हो जाए तो लन्दन, पेरिस, जूरिख और न्यूयॉर्क का आज वित्तीय दृष्टि से जो अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है वह नहीं रह पाएगा। संयुक्त राष्ट्रीय व्यापार एवं विकास आयोग के अब तक के सम्मेलनों तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मन्त्रणाओं से यह स्पष्ट है कि विकसित देशो से विकासशील देश कुछ आशा नहीं कर सकते। इसलिए विकासशील देश स्वयं ही परस्पर सहयोग से अपने आर्थिक उद्धार के लिए कुछ कर सकते हैं। यदि सभी निर्गुट देशों की आर्थिक शक्ति संगठित हो जाए तो वे अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं और विकसित देशों की पराश्रयता से उन्हें मुक्ति मिल सकती है।

5. निर्गुट देशों के सम्मेलन द्वारा स्वीकृत आर्थिक घोषणापत्र मे नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया गया। मेजबान देश श्रीलंका द्वारा तैयार किए गए इस घोषणापत्र के प्रारूप में भारत के कई महत्त्वपूर्ण सुझावों का समावेश हुआ। घोषणा-पत्र की मुख्य बातें ये थीं—

(क) गुट-निरपेक्ष देश अनुभव करते हैं कि वर्तमान आर्थिक-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन तथा पुनर्गठन किए बिना सारी दुनिया, खासकर विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओं का समाधान असम्भव है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में अक्षमता विश्व की मण्डियों के हाल के संकटों से स्पष्ट है। समूचा विश्व-समुदाय आज एक

ऐसी आर्थिक व्यवस्था की खोज करने पर विवश हुआ है जो सामान्य शेयर, सार्वभौम समानता, परस्पर-निर्भरता, समान हितों और सहयोग पर आधारित हो।

(ख) बहु-उद्देश्यीय निगमों की नीति तथा आचरण की भर्त्सना करते हुए कहा गया कि ये निगम अपने निजी लाभ के लिए विकासशील देशों के साधनों का शोषण कर उनकी अर्थ-व्यवस्था को विकृत करते हैं तथा इन देशों की सार्वभौमिकता और आत्म-निर्णय के अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। ये निगम बहुधा घूस देने और भ्रष्टाचार के अन्य कुत्सित तरीके अपनाते हैं तथा विकासशील देशों को औद्योगिक देशों के अधीन बनाते हैं।

(ग) यदि बड़ी सैनिक शक्तियाँ निःशस्त्रीकरण की दिशा में काम करें तथा अपने साधनों का एक बड़ा भाग विकासशील देशों की आर्थिक स्थिति को सुधारने में व्यय करें तो विकासशील देशों की काफी जरूरतें पूरी हो सकती हैं। यदि ऐसा किया गया तो निकट भविष्य मे ही विकसित तथा विकासशील देशों के बीच की खाई पाटी जा सकती है।

(घ) घोषणा-पत्र में विकसित देशों से विश्वव्यापी स्तर पर परस्पर-निर्भरता के सिद्धान्त में अपनी आस्था प्रकट करने तथा ऐसे कदम उठाने की अपील की गई जिससे वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को बल मिले और अन्ततः नई आर्थिक व्यवस्था विकसित हो।

6. सम्मेलन द्वारा स्वीकृत राजनीतिक घोषणा-पत्र में 'तनाव शैथिल्य' शब्द को कोई स्थान न देकर सभी देशों के लिए स्थायी शान्ति की स्थापना के सन्दर्भ में 'अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी' वाक्यांश का प्रयोग किया गया। भारत की राय को प्रमुख स्थान दिया गया। राजनीतिक घोषणा-पत्र में गुट-निरपेक्ष देशों के राष्ट्राध्यक्षों और शासनाध्यक्षों ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के न्याययुक्त समाधान के लिए प्रभावी भूमिका अदा करने का संकल्प व्यक्त किया।

7. सम्मेलन में पिछले 15 वर्षों में हुए परिवर्तनों की समीक्षा की गई तथा वर्तमानकालीन गुट-निरपेक्षता की भूमिका को मूल्यांकन के लिए समीचीन माना गया। सम्मेलन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की सार्थकता तथा विश्व सन्दर्भ मे इसकी उत्तरोत्तर बढ़ती भूमिका के कारण इन देशों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे गुट-निरपेक्षता के मूल स्वरूप के संरक्षण के लिए सतत् जागरूक रहे तथा इसके सिद्धान्तों और नीतियों में अपनी अटूट आस्था रखते हुए इस आन्दोलन की एकजुटता तथा अखण्डता की रक्षा के लिए इसके निर्णयों का आदर करें। सम्मेलन मे कहा गया कि अनेक गुट-निरपेक्ष देशो पर कई तरह के दबाव डाले जा रहे हैं, उन पर खुले तौर पर आक्रमण किया गया है अथवा उन्हें धमकियाँ दी गई हैं। इस प्रकार गुट-निरपेक्ष आन्दोलन से सम्बद्ध सभी देशों के विरुद्ध नियोजित ढंग से निन्दा, डराने व धमकाने का अभियान चलाया जा रहा है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे वे अपनी संगठित तथा स्वतन्त्र भूमिका न निभा सकें। सम्मेलन ने गुट-निरपेक्ष देशों के बीच घनिष्ठ एकता का आह्वान किया तथा इसे समय की अपरिहार्य

आवश्यकता बताया। इसके अतिरिक्त गुट-निरपेक्ष देशों को समूचे विश्व की प्रगतिशील तथा शान्तिप्रिय शक्तियों के साथ अपना सहयोग जारी रखने पर जोर दिया गया क्योंकि यही एक मार्ग है जिससे वे साम्राज्यवाद का मुकाबला कर सकते हैं।

8. निर्गुट देशों की यह परम्परा रही है कि उनके सम्मेलन मे राष्ट्रों के छोटे-मोटे आपसी मामले नहीं उठाए जाते, परन्तु बंगलादेश ने इस परम्परा को ताक पर रखकर इस सम्मेलन मे गगा के पानी के बँटवारे का सवाल उठाया और भारत पर अनेक अनुचित आक्षेप किए। भारत शान्तिपूर्वक वार्ता द्वारा सब समस्याओं को निबटाने की नीति मे आस्था रखता है और बगलादेश के साथ भी वह इसी नीति का अनुसरण कर रहा है, परन्तु बगलादेश के नेता या तो अकारण भारत का विरोध कर, अपने आपको प्रकाश मे लाने और सस्ती प्रसिद्धि अर्जित करने के लिए यह सब कुछ कर रहे हैं या पाकिस्तान अथवा कोई अन्य देश बंगलादेश के कन्धे पर रख कर बन्दूक चला रहा है ताकि निर्गुट देशों की एकता और संगठन मे दरार डाली जा सके। इसलिए श्रीमती इन्दिरा गांधी ने सम्मेलन मे द्विपक्षीय मामले न उठाने पर जोर दिया क्योंकि इससे सामुदायिक उद्देश्य दृष्टि से ओझल हो सकते हैं। निर्गुट देश यदि एकता और सगठन की सुदृढता कायम नही रख सकेंगे तो उनकी सामूहिक शक्ति कमजोर होगी और उनके बड़ी शक्तियो की कठपुतली बन जाने की आशका बढ जाएगी।

9 भूटान नरेश जिग्मे दोरजी वांचुक ने गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन मे इस क्षेत्र के सभी पड़ोसी देशो के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाने के भारत के प्रयास की सराहना की।

कोलम्बो के इस पांचवें निर्गुट शिखर सम्मेलन मे विश्व के चार महाद्वीपों के 40 से भी अधिक राष्ट्राध्यक्षों तथा शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। मालदीव को निर्गुट राष्ट्र संगठन का पूर्ण सदस्य बना लिया गया। इस प्रकार यह देश संगठन का 86वाँ सदस्य देश बना। निर्गुट शिखर सम्मेलन ने विदेश मन्त्री सम्मेलन की सिफारिश के अनुसार 18 उपाध्यक्षों का चुनाव किया। विदेश मन्त्री सम्मेलन ने उपाध्यक्षों की संख्या 14 से बढ़ा कर 18 करने का प्रस्ताव किया था। श्रीलका के मेडिस को सम्मेलन का महासचिव चुना गया। यह पांचवां शिखर सम्मेलन 19 अगस्त को राजनीतिक और आर्थिक घोषणा-पत्र स्वीकार करने के बाद समाप्त हो गया। शिखर-सम्मेलन ने निर्गुट देशो का जो आर्थिक कार्यक्रम स्वीकार किया है उसमें अपील की गई कि आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए 'एकता कोष' स्थापित कर 1976 के अन्त तक उसको शुरू कर दिया जाए। सम्मेलन के 25 सदस्यीय ब्यूरो में भारत, श्रीलंका, ईराक, सीरिया, फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चा तथा इण्डोनेशिया आम सहमति के आधार पर सदस्य चुन लिए गए। अफगानिस्तान और बंगलादेश ब्यूरो में स्थान पाने के लिए अपने दावो पर अड़े रहे और तब यह निर्णय किया गया कि तीन वर्ष के कार्यकाल में शुरू के डेढ़ वर्ष बंगलादेश और शेष डेढ़ वर्ष अफगानिस्तान सदस्यता ग्रहण करेगा।

गुट-निरपेक्ष सम्मेलन, हवाना 1978

मई, 1978 में हवाना (क्यूबा) में गुट-निरपेक्ष देशों के समन्वय ब्यूरो का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी—निःशस्त्रीकरण पर गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति का विचार। सम्मेलन ने एक दस्तावेज स्वीकृत किया जिसमें दो खण्ड थे—राजनीतिक और आर्थिक। राजनीतिक खण्ड गुट-निरपेक्षता की भूमिका और परिभाषा, गुट-निरपेक्ष देशों के बीच एकता और एकजुटता की आवश्यकता और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर गुट-निरपेक्ष देशों के मतों की पुनः अभिपुष्टि से सम्बन्धित है। भारत ने गुट-निरपेक्ष देशों के सूचना और प्रसारण संगठनों के जकार्ता, सारजेवो और हवाना में हुए तीनों सम्मेलनों के प्रतिवेदनों और सिफारिशों का अनुमोदन भी किया। आर्थिक खण्ड के अन्तर्गत वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थिति का विश्लेषण, विकसित तथा विकासशील देशों के बीच चल रही वार्ता के परिणामों का मूल्यांकन, तृतीय विकास दशक के लिए कार्य नीति का निर्धारण करने वाले तत्त्व और गुट-निरपेक्ष तथा विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग के लिए बने कोलम्बो क्रियाशील कार्यक्रम के कार्यान्वयन की प्रगति की समीक्षा शामिल थे।

हवाना सम्मेलन ने संयुक्तराष्ट्र महासभा से अनुरोध किया कि हथियारों की होड़ समाप्त करने के लिए वह निश्चित कदम उठाए। भारत के विदेश राज्य मन्त्री समरेंदु कुण्डू ने गुट-निरपेक्ष देशों को स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी कि यदि वे द्विपक्षीय आपसी मतभेद दूर नहीं करते हैं तो बाहर के देश उनकी कमजोरी का फायदा उठाकर अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। उनका यह भी कहना था कि हमें वास्तविक अर्थों में तटस्थता का पालन करना है। यह तटस्थता उद्देश्यपूर्ण होनी चाहिए। इसके द्वारा संसार को आभास मिलना चाहिए कि हम सच्चे अर्थों में गुटबन्दी की राजनीति से बिलकुल अलग हैं। अनेक विदेश मन्त्रियों और शासनाध्यक्षों ने गुट-निरपेक्ष देशों के बीच सीमा सम्बन्धी विवादों पर चिन्ता व्यक्त की। सभी देशों के प्रतिनिधियों ने इन विवादों को आपसी बातचीत द्वारा हल करने की आवश्यकता पर जोर दिया। इण्डोनेशिया के विदेश मन्त्री ने कहा कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को देशों के द्विपक्षीय मामलों में दखल नहीं देना चाहिए बल्कि समान समस्याओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए। सम्मेलन में इजरायल की कड़ी निन्दा की गई। उसे विश्व युद्ध भड़काने वाले देश की संज्ञा दी गई। दुनिया के देशों से अधिकाधिक अस्त्र प्राप्त करने के लिए भी इजरायल को बुरा भला कहा गया और सम्मेलन में भाग लेने वाले देश इस बात से भी नाराज थे कि इजरायल दक्षिण अफ्रीका, ग्वाटेमाला और दक्षिण अमेरिका में हथियारों की बिक्री को बढ़ावा दे रहा है। पश्चिमेशिया नीति को लेकर अमेरिका की काफी निन्दा की गई।

बेलग्रेड गुट-निरपेक्ष सम्मेलन, जुलाई 1978[1]

गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों के तृतीय सम्मेलन में जो 25 से 29

1 भारत सरकार विदेश मन्त्रालय रिपोर्ट 1978–79 एवं दिनमान 6-12 अगस्त, 1978.

जुलाई, 1978 तक बेलग्रेड मे हुआ, भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने किया। इस सम्मेलन मे 47 सदस्य देशों ने भाग लिया, 10 देशों और संगठनों ने प्रेक्षक के रूप मे और 9 देशों ने अतिथि के रूप में भाग लिया। जिबूती को नए सदस्य के रूप में तथा पाकिस्तान तथा सानमारिनो को अतिथि देशो के रूप में शामिल किया गया। भारत ने पाकिस्तान का अतिथि के रूप में स्वागत करते हुए यह आशा व्यक्त की कि यह सैनिक सन्धि-संठनो से स्वयं को अलग रखने का प्रयत्न करेगा।

भारत राजनीतिक समिति का सर्व सम्मति से अध्यक्ष चुना गया और उसी ने राजनीतिक घोषणा के उस अश का प्रारूप तैयार करने के लिए राजनीतिक समिति द्वारा गठित प्रारूप समिति की अध्यक्षता की जो वस्तुतः उस घोषणा का सबसे अधिक विवादास्पद अश साबित हुआ।

भारतीय विदेश मन्त्री ने सम्मेलन मे दिए अपने भाषण में गुट-निरपेक्षता के मूलभूत सिद्धान्तों के प्रति भारत की पूर्ण वचनबद्धता को दोहराया। उन्होने कहा कि भारत इन सिद्धान्तों का निष्ठापूर्वक पालन करके ही महाशक्तियों में से प्रत्येक के साथ अपने द्विपक्षीय सम्बन्ध सुधारने में समर्थ हो पाया है और ऐसा करते हुए न वह उनके आपसी मतभेदो मे पडा और न ही उन मामलों में फँसा है जो अन्तर्राष्ट्रीय तनावो को बढाते हैं। साथ ही, गुट-निरपेक्षता के दर्शन से अनुप्रेरित होकर भारत ने सफलतापूर्वक अपनी पुरानी और जटिल समस्याओं का हल तलाश किया है और अपने पड़ोसी देशों के साथ सद्भाव और सहयोग का सेतु निर्माण किया है। उन्होने यह विचार व्यक्त किया कि द्विपक्षीय समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढग से हल करने के दृढ निश्चय से वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे यह आन्दोलन संसार की बड़ी-बड़ी राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान मे एक निश्चित भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

सम्मेलन एक ऐसे समय में हुआ जब कुछ गुट-निरपेक्ष देशो के बीच उत्पन्न घोर मतभेद और द्विपक्षीय संघर्षों के फलस्वरूप इस बात को लेकर तरह-तरह के अनुमान किए जाते थे कि क्या आन्दोलन अब अपनी एकता और सम्बद्धता को बनाए रखने मे समर्थ हो सकेगा। सम्मेलन ने उन गुट-निरपेक्ष देशों से एक विशेष अपील की जो द्विपक्षीय झगड़ों मे उलझे हुए थे कि वे बातचीत के द्वारा शान्तिपूर्ण समझौता करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करें। साथ ही उसने यह सिफारिश भी की कि गुट-निरपेक्ष देश सम्बन्धित पक्षों को अपने विवाद समाप्त करने की दिशा में सहायता दें। भारत के इस दावे को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ कि यदि देश ईमानदारी से गुट-निरपेक्ष रहे तो बाहर या भीतर से हुआ कोई भी प्रयास आन्दोलन को न तो कमजोर कर सकता है और न अपने पथ से विचलित ही।

सम्मेलन ने एक घोषणा-पत्र स्वीकार किया जिसके दो भाग थे और एक पृथक् खण्ड था जिसमें आर्थिक सहयोग विषयक कोलम्बो क्रियाशील कार्यक्रम के

कार्यान्वयन की सुरक्षा की गई थी। जैसा कि पहले भी होता आया है। घोषणा के राजनीति विषयक भाग में प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय मामलों और साथ ही उन मामलों पर गुट-निरपेक्ष देशों का संयुक्त रवैया परिलक्षित हुआ जिनका गुट-निरपेक्ष आन्दोलन सामना कर रहा है। घोषणा का एक नया स्वरूप मानव अधिकार सम्बन्धी एक नया खण्ड था जिसमे भारत की ही पहल पर विश्व समुदाय के लिए इस बात की आवश्यकता पर बल दिया गया था कि वह मानव अधिकारों के सभी पहलुओं के सम्बन्ध में एक समग्र और व्यापक दृष्टिकोण अपनाएँ।

घोषणा-पत्र मे विश्व मे तनाव के लिए बड़ी शक्तियों के बिगड़ते सम्बन्ध, हथियारों की दौड़ और नए प्रकार के प्रमुत्ववाद को जिम्मेदार ठहराया गया। अफ्रीका में विदेशी सैनिक अड्डो और गैर-अफ्रीकी ताकतो के साथ हुए समझौतों की भी निन्दा की गई और अफ्रीका को युद्ध क्षेत्र या शीतयुद्ध का अखाड़ा बनाए जाने के प्रयासों का विरोध किया गया। घोषणा-पत्र मे अफ्रीकी एकता सगठन के अन्तर्गत एक ऐसी अफ्रीकी सेना के गठन का समर्थन किया गया जो उस महाद्वीप की सुरक्षा और एकता बनाए रख सके। घोषणा-पत्र मे गुट-निरपेक्ष समाचार एजेंसियो के संगठन की भूमिका पर बल दिया गया। हिन्दमहासागर क्षेत्र में स्थित विदेशी बड़े सैनिक अड्डे समाप्त किए जाने की माँग की गई। अफ्रीका के जातिवादी शासकों को आर्थिक और सैनिक सहायता देने वालो की निन्दा की गई। पूर्वी तिमोर के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया गया। इजरायल पर परमाणु प्रतिबन्ध लगाने की माँग की गई और आक्रमण, कब्जा और विस्तार की नीतियो की निन्दा की गई। फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को सभी गुट-निरपेक्ष देशो द्वारा राजनयिक दर्जा देने का प्रस्ताव है, साइप्रस से सभी विदेशी सैनिकों को हटाने की माँग की गई और निरस्त्रीकरण समझौते में सभी देशो के भाग लेने की जरूरत पर जोर दिया गया।

अतिथेय देश यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने कहा कि "गुट-निरपेक्ष जगत् के प्रति महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में, विशेषकर अफ्रीका मे नए प्रकार की औपनिवेशिक उपस्थिति या गुट-निर्भरता, विदेशी प्रभाव तथा प्रमुत्व" का प्रतिरोध किया जाना चाहिए। उन्होंने इसके साथ ही गुट-निरपेक्षता के उद्देश्यों को भी परिभाषित कर दिया—"यह नीति साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद, नस्लवाद और अन्य सभी प्रकार के विदेशी प्रभुत्व तथा शोषण का विरोध करती है। सत्ता राजनीति, राजनीतिक तथा आर्थिक प्रमुत्ववाद और सब तरह के बाह्य हस्तक्षेप तथा निर्भरता के विरुद्ध है।"

सम्मेलन की समाप्ति पर प्रसारित 80 पृष्ठीय विज्ञप्ति सर्व सम्मत कम, वैचारिक तथा सैद्धान्तिक स्तर पर पूर्णतया विभाजित सदस्यों को येन-केन प्रकारेण एकता सूत्र में बाँधे रखने का प्रयास अधिक थी। विज्ञप्ति यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी उठाती है कि गुट-निरपेक्षता में आस्थाहीन देशों को आखिर कब तक आरोपित एकता के छद्म में एक मंच पर इकट्ठा रखा जा सकेगा।

मोजाम्बिक का विशेष सम्मेलन, जनवरी-फरवरी 1979[1]

दक्षिण अफ्रीका में हुई घटनाओं पर विचार करने के लिए मापूतो (मोजाम्बिक) में 28 जनवरी से 2 फरवरी, 1979 तक गुट-निरपेक्ष देशों के समन्वय ब्यूरो के विदेश मन्त्रियों का एक विशेष सम्मेलन हुआ। सम्मेलन की समाप्ति पर स्वीकृत एक घोषणा में ब्यूरो गुट-निरपेक्ष देशों की पिछली बैठकों और संयुक्त राष्ट्रसंघ में किए गए निर्णयों और सिफारिशों को दोहराया और आगे कुछ और कार्यवाही करने की माँग की जिसमें निम्नलिखित शामिल हैं—

(क) दक्षिण अफ्रीका के मुक्ति संघर्ष के लिए राजनीतिक राजनयिक, सैनिक और वित्तीय सभी प्रकार से समर्थन मे वृद्धि की जाए।

(ख) दक्षिणी अफ्रीका पर पूर्ण और प्रभावकारी तेल प्रतिबन्ध लगाया जाए।

(ग) भाड़े के विदेशी सैनिकों की भर्ती, प्रशिक्षण, पारगमन और वित्त दान पर रोक लगाई जाए।

(घ) देशी प्रेमी मोर्चे (जिम्बाब्वे) को गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के पूर्ण सदस्य के रूप में प्रवेश दिया जाए।

कोलम्बो में गुट-निरपेक्ष समन्वय ब्यूरो की बैठक, जून 1979

भूतपूर्व विदेशी मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 4 से 9 जून, 1979 तक कोलम्बो में आयोजित गुट-निरपेक्ष समन्वय ब्यूरो की बैठक में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व किया। यह बैठक ऐसे समय और ऐसी परिस्थितियों में हुई जो गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की एकता के लिए निर्णायक रही। कम्पूचिया का प्रतिनिधित्व और मिस्र को शामिल होने के सवाल, ये दो ऐसे राजनीतिक विषय थे जो इस सम्मेलन पर छाए रहे। ब्यूरो की बैठकों के विषय में निर्णय लेने वाली प्रक्रियाओं में भाग लेने के लिए ब्यूरो के गैर-सदस्यों के बीच बढ़ती हुई इच्छा ने इसमें एक तीसरा आयाम जोड दिया। इसके फलस्वरूप इस ब्यूरो के 23 सदस्यों की उपस्थिति के अतिरिक्त इस बैठक में इस आन्दोलन के 52 सदस्यो, 9 प्रेक्षको/अतिथियों तथा 12 अन्तर्राष्ट्रीय/क्षेत्रीय संगठनों ने भाग लिया।

भारत ने इस सम्मेलन में एक महत्त्वपूर्ण और रचनात्मक भूमिका निभाई। इस सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल ने इस सम्मेलन की एकता और सम्बद्धता को बनाए रखने की बात को ध्यान मे रखा। कम्पूचिया के प्रतिनिधित्व तथा मिस्र के भाग लेने से सम्बन्धित अत्यन्त विवादास्पद मामलों के बारे में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल ने समझौते का समाधान ढूँढने की दिशा में कार्य किया ताकि इस आन्दोलन का ध्यान अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विचार करने की ओर से न हटे।

1 भारत सरकार विदेश मन्त्रालय रिपोर्ट, 1978-79.

गुट-निरपेक्ष सम्मेलन, हवाना (सितम्बर 1979)[1]

गुट-निरपेक्ष देशों का छठा शिखर सम्मेलन 3 से 9 सितम्बर, 1979 तक हवाना मे हुआ। यह पहला मौका था जबकि ऐसा सम्मेलन एक लातीनी अमेरिका के किसी देश में हुआ। इस सम्मेलन में 54 राज्याध्यक्षों/शासनाध्यक्षों ने भाग लिया जिसमें कुछ राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों के अध्यक्ष भी शामिल हुए। इस आन्दोलन की सदस्य संख्या 94 हो गई है जिसमें 20 देश और संगठन प्रेक्षक हैं तथा 18 देश अतिथि हैं। इससे गुट-निरपेक्ष परिवार में शामिल होने की राष्ट्रों की बढती हुई इच्छा का पता चलता है।

भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व विदेश मन्त्री श्री श्याम नन्दन मिश्र ने किया। भारत को इस सम्मेलन का एक उपाध्यक्ष चुना गया है और इसको 36 सदस्यों के विस्तृत समन्वय ब्यूरो के लिए पुनः निर्वाचित किया गया। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के समन्वय ब्यूरो के काम में जो रचनात्मक भूमिका भारत निभाता रहा है उसको मान्यता देते हुए आम सहमति द्वारा भारत का चयन किया गया।

यह सम्मेलन एक प्रच्छन्न तनाव के वातावरण में हुआ। कम्पूचिया (कम्बूजिया) का प्रश्न, मिस्र–इजराइल सन्धि तथा पश्चिमी सहारा का प्रश्न जैसे फूट डालने वाले गम्भीर मसले ही नही थे बल्कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के मूलभूत उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को बनाए रखने तथा उसकी भावी भूमिका और निर्देश के बारे में यदि चिन्ता नही तो कम से कम एक अनिश्चितता भी बनी हुई थी। विवादास्पद मुद्दो पर बहस लम्बे समय तक चलती रही और अवसर उग्र भी हो गई। लेकिन अन्त मे कम्पूचिया के सम्बन्ध मे एक मतैक्य हो गया। इस सम्बन्ध मे अपनाया गया मतैक्य भारत की स्थिति से मेल खाता था यानि कम्पूचिया का स्थान खाली रखा जाए क्योंकि गुट-निरपेक्ष समुदाय के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह वर्तमान स्थिति में किसी एक या दूसरे प्रतिनिधि-मण्डल के पक्ष में कोई निर्णय ले सकें। पश्चिम एशिया की स्थिति के बारे मे इस शिखर सम्मेलन ने मिस्र–इजराइल सन्धियों की तीव्र आलोचना की और इन सन्धियों के प्रति अपनी अस्वीकृति तथा निन्दा अभिव्यक्त करते हुए एक कठोर संकल्प पारित किया। इस आन्दोलन से मिस्र को निलम्बित करने की माँग के सम्बन्ध में कोई मतैक्य नहीं हो सका और यह सहमति हुई है कि इस सवाल को आगे विचार के लिए समन्वय ब्यूरो को भेज दिया जाए जो अन्ततः इसे 1981 मे मन्त्रिस्तरीय सम्मेलन में प्रस्तुत करे। इस बारे मे सहमति थी कि विश्व-शान्ति और स्थायित्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के संवर्द्धन के लिए गुट-निरपेक्ष आन्दोलन एक रचनात्मक, स्वतन्त्र तथा महत्त्वपूर्ण घटक है।

1 भारत सरकार विदेश मन्त्रालय रिपोर्ट, 1979-80.

भारत ने अपनी इस धारणा को दोहराया है कि गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों को फूट डालने वाले मुद्दों और द्विपक्षीय विवादों से बचना चाहिए और इसके बदले में ऐसे व्यापक उद्देश्यों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जो गुट-निरपेक्ष देशों को एक-दूसरे के निकट लाएँ। उन्हें इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक संयुक्त नीति तैयार करने के बारे में दत्तचित्त होना और इस पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि इस आन्दोलन की एकता को सुरक्षित और सुदृढ़ किया जाए तथा इसकी सक्रियात्मक कारगरता को और अधिक जीवतंता प्रदान की जाए।

इस सम्मेलन द्वारा पारित अन्तिम घोषणा पत्र में एक राजनीतिक तथा आर्थिक खण्ड और कार्यवाई सम्बन्धी कार्यक्रम शामिल हैं। ये अपनी समग्रता के अनुसार एक महत्त्वपूर्ण नीति की रूपरेखा को प्रस्तुत करते हैं तथा भावी कारवाई के लिए लाभप्रद मार्ग-निर्देशन प्रदान करते हैं। नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की प्राप्ति के लिए नवीनीकृत और तीव्र प्रयत्नो के किए जाने की मांग को दोहराया गया। विकासशील देशों की अत्यावश्यक आर्थिक समस्याओं का समाधान खोजने के लिए सभी देशों में परस्पर बातचीत का एक नया दौर शुरू करने का प्रस्ताव किया गया। इस शिखर सम्मेलन में तीसरे संयुक्त राष्ट्र विकास दशाब्द (नवें दशक) के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय विकास नीति तैयार करने के महत्त्व पर बल दिया गया। कच्चे माल तथा ऊर्जा जैसे अतिशय महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भारत ओपेक देशों की सहायता और सहयोग से एक ऐसा प्रस्ताव तैयार करने में सफल हुआ जिसमें गुट-निरपेक्ष देशों के बीच उनकी अपनी सामूहिक निर्भरता सुदृढ करने मे परस्पर सहयोग करने के मार्ग निर्देशक सिद्धान्त तय किए गए हैं।

एक महत्त्वपूर्ण निर्णय जो इस शिखर सम्मेलन में हुआ उसका सम्बन्ध गुट-निरपेक्ष समाचार एजेन्सियों के पूल के कार्यकलापों तथा सूचना के क्षेत्र में गुट-निरपेक्ष देशों के अन्य कार्यकलापों से है। इस शिखर सम्मेलन ने इस पूल के कार्य निष्पादन की प्रशंसा की और इस पूल में अपने सहयोग को सुदृढ़ करने के लिए सदस्यों से कहा।

गुट-निरपेक्षता : गोरों की दृष्टि में

गुट-निरपेक्ष देशों के सितम्बर, 1979 के हवाना सम्मेलन को लेकर पश्चिमी देशों के समाचारपत्रों में काफी चर्चा रही है। कुछ पत्रों ने इसे असफल तो कुछ ने सीमित सफलता की बात कही है। परन्तु पश्चिमी देशों के समाचारपत्रों की टिप्पणियों से स्पष्ट है कि इन राष्ट्रों ने सम्मेलन में काफी रुचि दिखाई। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन बड़े देशों के लिए भी काफी महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। प्रसिद्ध ब्रितानी साप्ताहिक गार्डियन ल मोंद ने सम्पादकीय टिप्पणी में कहा—

"हवाना का गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन काफी हद तक सफल सम्मेलन के रूप में उभर कर सामने आया है। कम से कम तीन जगह तो ऐसे मतभेद हुए हैं जिनसे गुट-निरपेक्ष देशों का गुट में बँट जाना अवश्यम्भावी था। यह देख कुछ बातों

को लेकर एक-दूसरे के काफी विरुद्ध हो गए। एक-दूसरे की कटु आलोचना भी सुनाई पड़ी। मिस्र-इजराइल समझौते को लेकर मिस्र के विरुद्ध गुट-निरपेक्ष देशों का क्षोभ स्पष्ट दिखाई पड़ा। कुछ देश तो इजराइल से मिस्र की बातचीत के ही विरुद्ध थे। फिर कम्बूजिया का प्रश्न उभर कर सामने आया जिसके प्रतिनिधित्व को लेकर काफी गरमागरमी हुई। मुख्य मतभेद इसी बात पर था कि गुट-निरपेक्ष सम्मेलन में कम्बूजिया का प्रतिनिधि कौन होगा ? इससे भी अधिक विवादास्पद प्रश्न यह बना कि क्या क्यूबा के नेतृत्व में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन वास्तव में गुट-निरपेक्ष रह सकता है, क्योंकि सोवियत संघ के साथ क्यूबा के सम्बन्ध सभी पर स्पष्ट हैं। इन तीन समस्याओं को देखते हुए आन्दोलन में फूट पड़ने की आशंका थी। पर इनका समाधान कुछ इस ढंग से किया गया था कि सम्मेलन अपनी एकता बनाए रखने में सफल रहा। राष्ट्रपति काउंडा और मोजाम्बिक के प्रतिनिधि की बुद्धिमत्ता के कारण मिस्र का मामला 1981 तक के लिए टाल दिया गया हालांकि सम्मेलन पर मिस्र को आन्दोलन से बाहर निकाल देने के लिए काफी दबाव था। उधर कम्बूजिया की जगह खाली छोड़ दी गई। इस निर्णय का श्रेय क्यूबा को जाता है। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को सोवियत शिविर में लाने के क्यूबा के प्रयत्न राष्ट्रपति टीटो की वजह से असफल रहे। टीटो 80 वर्ष से भी ऊपर की आयु में सम्मेलन में काफी सक्रिय रहे और उन्हें अपनी कड़ी मेहनत तथा सूझबूझ से सम्मेलन की प्रतिष्ठा गिरने नहीं दी। टीटो तथा अन्य नेता भलीभांति जानते हैं कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की कोई अनदेखी नही कर सकता भले ही उसमें निरन्तरता की कमी हो। व्यवहार में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन कम सफल रहा है गुट-निरपेक्ष देश साम्राज्यवाद, जातिभेद, शोषण आदि जैसी बुराइयों के सन्दर्भ में अपने को बिल्कुल भी तटस्थ नहीं मानते। वे सक्रिय होकर इन सभी बातों का विरोध करना चाहते हैं। यह बात हवाना सम्मेलन में और भी स्पष्ट हुई। इसका मतलब यह है कि गुट-निरपेक्ष देश पश्चिमएशिया के सन्दर्भ में इजराइल द्वारा पश्चिमी तट पर उपनिवेश बनाने के बिलकुल विरुद्ध हैं। वे मिस्र के अधिकृत प्रदेश पर इजराइल के कब्जा बनाए रखने के भी खिलाफ हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कम्बूजिया में बल-प्रयोग द्वारा वियतनाम के किसी सरकार के थोपने को भी गुट-निरपेक्ष देश पसन्द नहीं करते। इस तरह के सभी प्रयत्नों का गुट-निरपेक्ष देश विरोध करते हैं। इतना ही नही यह भी स्पष्ट है कि यदि इस आन्दोलन का कोई सदस्य देश किसी अन्य देश पर बल-प्रयोग द्वारा कुछ थोपना चाहे तो वे उसका भी विरोध करेंगे। मिसाल के तौर पर सोमालिया का इथियोपिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ना गुट-निरपेक्ष देशों की दृष्टि से अनुचित है। कोई भी गुट-निरपेक्ष देश युद्ध द्वारा या अन्य किसी तरीके से किसी अन्य देश को पराधीन बनाने की कोशिश का मुकाबला करने के लिए कृतसंकल्प है। यही बात साम्राज्यवाद के बारे में भी लागू होती है। हवाना में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी नाराजगी काफी स्पष्ट कर दी है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन अल्पसंख्यक गोरों का बहुसंख्यक अश्वेतों पर आधिपत्य कभी स्वीकार नहीं कर सकता। वह निरन्तर इस बुराई का विरोध करता रहेगा।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की नींव डालने वाले यूगोस्लाविया के श्री टीटो और उनके बाद इसका नेतृत्व करने वाले अन्य नेता बराबर इस विरोधाभास का विरोध करते रहेंगे। साथ ही गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को गुट-निरपेक्षता की परिभाषा के बारे में भी कोई सन्देह नहीं है। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि गुट-निरपेक्षता का मतलब यह नहीं है कि इस आन्दोलन के सदस्य देश तटस्थ और उदासीन रहें। वह केवल विश्व के दो बड़े गुटों में से किसी एक में शामिल नहीं होंगे लेकिन उपनिवेशवाद का विरोध सक्रिय रूप से करेंगे।

अनेक विसंगतियों के बावजूद गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को एक सम्मेलन अथवा गुट-निरपेक्ष देशों के एक मंच के रूप में जीवित रहना ही चाहिए।"

गुट-निरपेक्षता का बदलता हुआ रूप

समय के साथ गुट-निरपेक्षता का रुप निखरता जा रहा है, अधिक वास्तविक होता जा रहा है। प्रारम्भ में इसकी नीति आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी थी, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं ने गुट-निरपेक्ष देशो को यह अनुभव करा दिया कि इस नीति को अधिक यथार्थवादी बनाया जाए और राष्ट्रीय हित के तत्त्व को प्रधानता दी जाए। भारत ने इस नीति को परिष्कृत करने तथा इसके विभिन्न पहलुओं को उजागर करने में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। भारत ही इस नीति का प्रवर्तक था। जवाहर लाल नेहरू ने इसे आदर्शवादी जामा पहनाया था। नेहरू मानवतावाद से ओतप्रोत महापुरुष थे और राजनीति को नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने मे सबसे आगे रहते थे। उनका नैतिकतावाद इतना उच्च था कि वे कई बार राष्ट्रीय हित की अनजाने ही उपेक्षा कर बैठते थे। चीन के आक्रमण ने नेहरू के आदर्शवाद को गहरा धक्का पहुँचाया और उन्होंने अपने ही जीवनकाल मे गुट-निरपेक्षता की नीति को यथार्थवादी जामा पहनाना शुरू कर दिया। उनके उत्तराधिकारी स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री के समय गुट-निरपेक्षता की नीति पहले से अधिक सक्रिय और यथार्थवादी हो गई। इसमें तुष्टिकरण का जो आवश्यकता से अधिक पुट मिला हुआ था वह शास्त्री के समय कम हो गया। तत्पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व मे गुट-निरपेक्षता की नीति ने वास्तविक निखार पाया। भारतीय नेतृत्व ने यह सिद्ध कर दिया है कि किसी राष्ट्र के साथ सैनिक सन्धि में बँधे बिना भी एक राष्ट्र कूटनीतिक उपायों तथा गैर-सैनिक मैत्री-सन्धियों के बल पर अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा कर सकता है। श्रीमती गाँधी पूरी तरह गुट-निरपेक्ष रहते हुए भी रूस जैसी महाशक्ति की प्रगाढ़ मैत्री अर्जित करने मे सफल हुई और इसीलिए 1971 की भारत-रूस-मैत्री-सन्धि गुट-निरपेक्ष नीति के नए दृष्टिकोण की परिचायक है। इस सन्धि द्वारा बिना सैनिक गुटों मे शामिल हुए भारत के राष्ट्रीय हितों की रक्षा की गई है। श्री देसाई के नेतृत्व में भारत की गुट-निरपेक्ष नीति को और अधिक निखार मिला है।

हाल ही के वर्षों मे गुट-निरपेक्षता की नीति मे पारस्परिक आर्थिक सहयोग के तत्त्व पर विशेष बल दिया जाने लगा है। काहिरा में हुए द्वितीय शिखर-सम्मेलन

में गुट-निरपेक्ष देशों के पारस्परिक आर्थिक विकास और सहयोग पर विशेष ध्यान दिया गया और तब से यह पहलू अधिक विकसित हुआ है। विख्यात कूटनीतिक और संयुक्त राज्य अमेरिका में भारत के राजदूत टी. एन. कौल के अनुसार—"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनीतिक पहलू की अपेक्षा आर्थिक पहलू पर उत्तरोत्तर अधिक बल दिए जाने से गुट-निरपेक्षता की धारणा की सार्थकता सिद्ध हुई है।"

गुट-निरपेक्षता का परस्पर विरोधी स्वरूप भी अस्तित्व में है जिसका स्पष्ट उदाहरण पश्चिमी एशिया में दृष्टिगोचर होता है। संयुक्त अरब-गणराज्य सीरिया आदि अरब-राष्ट्र इजराइल के साथ सैनिक संघर्ष से विवश होकर सोवियत संघ के साथ इस तरह बँध गए हैं कि गुट-निरपेक्षता सन्देहास्पद बन गई है। फिर भी अरब-राष्ट्र इस बात के प्रति सचेष्ट हैं कि उनकी राजनीतिक प्रभुता पर आँच न आए। दूसरे शब्दों में पश्चिमी एशिया का यह क्षेत्र एक तरह से सचेत और सावधान गुटबन्दी का अखाड़ा बन गया है।

वर्तमान परिस्थितियों में गुट-निरपेक्षता का महत्त्व

आज के युग में गुट-निरपेक्षता का महत्त्व मुख्यतः इन कारणों से स्पष्ट है—

1. गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने वाले राष्ट्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है।

2. संयुक्त राष्ट्रसंघ में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की आवाज अधिक सबल है।

3. गुट-निरपेक्ष जगत् को विश्व की दो महाशक्तियों के बीच सन्तुलनकारी शक्ति के रूप में मान्यता मिल चुकी है। पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों ही गुट गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं। उनमें इन देशों को आर्थिक और प्रादेशिक सहायता देने की होड़ सी लगी हुई है। दोनों ही महाशक्तियाँ कूटनीतिक समर्थन देकर अधिकाधिक गुट-निरपेक्ष देशों को अपने पक्ष मे करने को उत्सुक हैं।

4. आज के आणविक युग की माँग है सहअस्तित्व। गुट-निरपेक्षता की नीति इस सहअस्तित्व की धारणा को बल प्रदान करती है। यह 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त में विश्वास करती है।

5. गुट-निरपेक्षता की नीति शस्त्रीकरण को हतोत्साहित करती है। इसका विशेष बल आर्थिक समृद्धि और शान्तिपूर्ण विकास पर है तथा यह गैर-सैनिक उपलब्धियों को महत्त्व देता है।

6. गुट-निरपेक्षता हर प्रकार के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की विरोधी है। यह रचनात्मक राष्ट्रवाद और राष्ट्रों के स्वतन्त्र अस्तित्व की समर्थक है।

7. गुट-निरपेक्षता संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के सिद्धान्तों को बल प्रदान करती है तथा विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के उपायों का समर्थन करती है।

8. गुट-निरपेक्षता रंग-भेद और जातिवाद में विश्वास नहीं करती। इसका नारा है विश्व-बन्धुत्व।

9. इसकी नीति सैनिक गुटों और सैनिक सन्धियों का तिरस्कार करते हुए

राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि करने वाली है। इसमें आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

10. गुट-निरपेक्षता की नीति लचीली है तथा इसमें समय के अनुरूप ढलने की क्षमता है। इस प्रकार यह सतत् विकासशील है। यह निर्भीकता और साहस की नीति है जो न्याय की रक्षा के लिए तलवार उठाने की भी प्रेरणा देती है।

आज मानव-जाति आणविक शस्त्रास्त्रों के बारूदी ढेर पर बैठी हुई है और जरा-सी भी चिनगारी के विस्फोट से इस ढेर का महाविनाश हो सकता है। इस खतरे से बचने का एक ही उपाय है कि सहअस्तित्व और गुट-निरपेक्षता की नीति का अनुसरण किया जाए।

आरम्भ में रूस और अमेरिका दोनों ही गुट-निरपेक्षता को शत्रुतापूर्ण दृष्टि से देखते थे। रूसी नेतृत्व समझता था कि गुट-निरपेक्ष देश अमेरिका के पीछे हैं और दूसरी ओर अमेरिकी नेतृत्व गुट-निरपेक्ष देशों को रूस का पिछलग्गू मानता था। अमेरिका के विदेश मन्त्री डलेस ने तो गुट-निरपेक्षता की नीति को अनैतिक तक कह डाला था। लेकिन *यथार्थता को समझते हुए श्री कैनेडी* और *श्री ख्रुश्चेव* ने इस नीति को सम्मान देना आरम्भ किया और आज यह बात अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येताओं से छिपी नहीं है कि दोनों ही महाशक्तियाँ गुट-निरपेक्षता को अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच का एक महत्त्वपूर्ण भाग मानती हैं और गुट-निरपेक्ष देशों से अधिकाधिक सम्बन्ध बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं। पश्चिमी यूरोप और चीन के रूप में जो नए शक्ति-केन्द्र विकसित हुए हैं उनकी विदेश-नीति का भी यह एक मुख्य लक्ष्य है कि गुट-निरपेक्ष देशों के साथ अधिकाधिक मैत्री सम्बन्ध कायम किए जाएँ।

गुट-निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक महत्त्व को कम करके आँकना वस्तु-स्थिति की उपेक्षा करना होगा। संयुक्त राष्ट्रसघ के आधे से अधिक देश गुट-निरपेक्षता के दायरे में आ चुके हैं। "गुट-निरपेक्ष देशों के संगठित प्रयत्न का ही परिणाम है कि आज विश्व के अधिकांश देश आजाद हो गए हैं और जो देश गुलाम रह गए हैं, उनके लिए भी संयुक्त राष्ट्रसघ की मार्फत ये देश दबाव डाल रहे हैं। अगर गुट-निरपेक्ष देश मिल कर आवाज न लगाते तो दक्षिण-अफ्रीका की जाति-भेद नीति, रोडेशिया की गैर-कानूनी सरकार की मनमानी, अंगोला और मोजाम्बिक पर पुर्तगाली शासन आदि पर राष्ट्रसंघ बार-बार कार्यवाही न करता और बड़े राष्ट्रों की छत्रछाया में उपनिवेशवाद चलता रहता।" गुट-निरपेक्षता आधुनिक सन्दर्भ में साम्राज्यवाद-विरोध की सूचक है।

गुट-निरपेक्ष नीति कितनी प्रभावी सिद्ध हो सकती है, इसका एक सबल प्रमाण यही है कि पहले तो भारत को विश्व के दोनों गुटों से सहायता मिलती रही, लेकिन जब *डॉलरपतियों ने अपनी दबाव-नीति अपनाई तो भारत भीषण* संकटों को भी झेल गया क्योंकि दूसरे शक्तिशाली गुट ने भारत की गुट-निरपेक्षता को पूर्ण सम्मान दिया और इस तरह एक महान् पूंजीवादी शक्ति के अनेक षड्यन्त्रों

को विफल कर दिया गया। यह सब कुछ बिना किसी शर्त के हुआ। भारत की गुट-निरपेक्षता पर तनिक भी आंच नहीं आई। यदि हम भारत और पाकिस्तान को तराजू के दोनों पलड़ों में रखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि गुट-निरपेक्षता एक सबल तत्त्व और प्रबल नीति है जिसे दुनिया की कोई शक्ति नकार नहीं सकती और यदि नकारती है तो अपने आपको धोखा देती है।

क्या पाकिस्तान गुट-निरपेक्ष नीति का हामी है ? ('डान' की समीक्षा)

पाकिस्तान ने कई बार गुट-निरपेक्ष देशों की पंक्ति मे आने का प्रयत्न किया है और राजनीतिक खेमों मे पाकिस्तान की गुट-निरपेक्षता एक बहस का विषय है। पाकिस्तान की आन्तरिक राजनीति को लेकर खुद पाकिस्तान के और अन्य देशों के समाचार पत्रो में काफी चर्चा रहती है। लेकिन विदेश नीति को लेकर पाकिस्तान के समाचार पत्रों में और दुनिया के और अखबारों में बहुत कम सुनने को मिलता है। अभी हाल ही में जिया-उल-हक ने राष्ट्र के नाम जो सन्देश प्रसारित किया था उसे लेकर पाकिस्तान के प्रमुख पत्र 'डान' ने पाकिस्तान की विदेश नीति की व्यापक समीक्षा की है। पत्र की राय मे पाकिस्तान गुट-निरपेक्ष नीति का हामी है। लेकिन वह इस्लामी सम्मेलन की परिधि में रहते हुए अपने को गुट-निरपेक्ष रखना चाहता है। सम्पादकीय मे राष्ट्रपति के जून, 1980 के सन्देश को बहुत ही महत्त्वपूर्ण बताते हुए पत्र मे लिखा है—

"राष्ट्रपति जिया-उल-हक का राष्ट्र के नाम हाल ही का सन्देश बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे एक प्रकार से विदेश नीति के बारे में सरकारी वक्तव्य समझा जाना चाहिए। अभी तक विदेश नीति के बारे में जिया-उल-हक ने पाकिस्तान की स्थिति स्पष्ट नहीं की थी लेकिन इस सन्देश मे पाकिस्तान की विदेश नीति पूर्ण रूप मे स्पष्ट हो जाती है। अफगानिस्तान के वर्तमान संकट और वहाँ सोवियत सैनिको की मौजूदगी के बारे में विश्व की चिन्ता को देखते हुए पाकिस्तान का अपनी विदेश नीति स्पष्ट करना बहुत जरूरी था क्योंकि इसी क्षेत्र का एक देश होते हुए अफगानिस्तान की घटनाओं का पाकिस्तान के लिए बहुत ही महत्त्व है।

राष्ट्रपति जिया-उल-हक के भाषण से यह बात उभर कर सामने आई है कि पाकिस्तान इस्लामी सम्मेलन सीमाओं मे रहते हुए गुट-निरपेक्षता की नीति पर चलना चाहता है। साथ ही वह अमेरिका और सोवियत सघ दोनों के साथ अपने सम्बन्ध सामान्य रखना चाहता है। राष्ट्रपति जिया-उल-हक ने यह स्पष्ट कह दिया है कि इस्लामी दुनिया एक संयुक्त शक्ति है जो पूर्व अथवा पश्चिम दोनों में से किसी के भी आगे झुकने वाली नही है। आज की दुनिया में इस शक्ति की अनदेखी नहीं की जा सकती। अफगानिस्तान के संकट के प्रति पाकिस्तान का रवैया साफ जाहिर करता है कि पाकिस्तान का गुट-निरपेक्षता मे कितना विश्वास है फिर अफगानिस्तान के लोगो ने अनेक बार कितनी ही बातों में पाकिस्तान का समर्थन किया है और इस्लामी भाईचारा दोनो को एक सूत्र में बांधता है। अगर अफगानिस्तान पर

7

उपनिवेशवाद का अन्त और एशिया तथा अफ्रीका में नए राज्यों का उदय

(De-Colonization and the Emergence of New States in Asia and Africa)

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका का जागरण द्वितीय महायुद्ध के बाद की एक सर्वाधिक क्रान्तिकारी घटना है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के राजनीतिक मानचित्र की ही काया पलट कर दी है। विश्व के इन तीनो ही क्षेत्रों के अधिकांश राज्य साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के शिकार थे; पर समय ने करवट ली, पराधीनता से मुक्त होने के लिए संघर्षों का सूत्रपात हुआ, जागरण की लहर फैलती गई और आज ये तीनों ही क्षेत्र (एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका) बहुत-कुछ स्वतन्त्रता की साँस ले रहे हैं। एशिया और अफ्रीका तो लगभग उपनिवेशवाद से मुक्त हो चुके हैं और जो एक-दो प्रतिशत भू-भाग आज भी उपनिवेशवाद के शिकार हैं उनके भी निकट भविष्य मे ही मुक्त हो जाने की पूर्ण आशा है। लेटिन अमेरिका ने भी करवट बदली है, क्यूबा जैसे राष्ट्रों ने अमेरिका के उपनिवेशवादी प्रभुत्व और डॉलर साम्राज्यवाद को चुनौती दे दी है। फिर भी अनेक राज्य चाहकर भी अभी स्वयं को अमेरिका के प्रभाव से मुक्त नहीं कर सके हैं। कहने को तो वे स्वतन्त्र राज्य हैं, लेकिन उनकी स्थिति गुलाम या परतन्त्र राज्यों जैसी ही है। यह स्थिति भी उपनिवेशवाद का ही एक रूप है। किन्तु जैसा वातावरण बन चुका है, जिन नई शक्तियों का उदय हो रहा है, उससे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि लेटिन अमेरिका 'पूर्णत: स्वतन्त्र' होकर रहेगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था (Trusteeship System) के अधीन जो सरक्षित प्रदेश थे वे भी अब स्वतन्त्र होकर नए सम्प्रभु राज्यों का रूप ग्रहण कर चुके हैं। उपनिवेशवाद का वस्तुत: अब जनाजा निकल चुका है और यही कारण है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों की संख्या सन् 1975 तक 140 थी और अब 150 हो गई है। जहाँ पहले संसार की जनसंख्या का लगभग 33 प्रतिशत भाग उपनिवेशवाद के शिकजे में था वहाँ अब एक प्रतिशत भी नही रहा है।

एशिया में उपनिवेशवाद का अन्त और नए राज्यों का उदय

एशिया महाद्वीप का परिचय

एशिया पूर्व मे प्रशान्त महासागर से पश्चिम में भूमध्य सागर तक तथा उत्तर में आर्कटिक महासागर से दक्षिण में हिन्दमहासागर के मध्य स्थित दुनिया का सबसे

बड़ा महाद्वीप है। दुनिया की आधी से अधिक जनसंख्या अपने में समेटे हुए यह महाद्वीप सभी प्रकार के धर्मों, संस्कृतियों और भाषाओं का घर है। यह महाद्वीप प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ है और राजनीतिक विकास की दृष्टि से भी बहुत पीछे है। यहाँ आधुनिकतावाद और परम्परावाद साथ-साथ निवास करते हैं। राजनीतिक दृष्टि से एशिया को चार भागों मे विभक्त किया जा सकता है और उनमें निम्नलिखित राष्ट्र सम्मिलित किए जाते हैं--

1. दक्षिण एशिया —भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश तथा श्रीलंका
2. दक्षिण-पूर्वी एशिया—बर्मा, इण्डोनेशिया, हिन्द-चीन, मलेशिया, फिलीपाइन्स, थाइलैण्ड आदि
3. पूर्वी एशिया —चीन, हांगकांग तथा जापान
4. पश्चिमी एशिया —अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, सीरिया, सऊदी अरब, मिस्र, लेबनान, इजरायल, ट्रांसजोर्डन, टर्की, साइप्रस आदि।

दक्षिण-पूर्वी एशिया मे कुछ विद्वान भारत, पाकिस्तान, नेपाल, बंगलादेश को सम्मिलित करते हैं जबकि अनेक विद्वान इन देशों को 'दक्षिण एशिया' नामक पृथक् भौलोगिक क्षेत्र मानते हैं। इसी प्रकार 'पश्चिम एशिया' को पाश्चात्य इतिहासकारों ने मध्यपूर्व (Middle East) की संज्ञा प्रदान की है। वास्तव में 'मध्यपूर्व' यूरोपीय राष्ट्रों और विद्वानों द्वारा की गई एक प्रकार की राजनीतिक अभिव्यक्ति है।

एशिया का जागरण : नए राज्यों का उदय

विभिन्न आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तनों तथा प्रभावों के आधार पर हम एशिया के जागरण को कुछ निश्चित युगों में बांट सकते हैं—

(1) प्रारम्भ से 1947 तक,
(2) 1947 से 1955 तक,
(3) 1955 से 1962 तक, एवं
(4) 1962 से अब तक।

(1) प्रथम युग (प्रारम्भ से 1947 तक) : बाण्डुंग सम्मेलन

औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप को तेजी से प्रभावित किया, लेकिन एशिया अपने प्राचीन प्रथाओं और सस्थाओं में संलग्न रहा। इसके फलस्वरूप यूरोप तो मध्यकालीन अवस्था पार कर आधुनिक अवस्था में पहुँच गया और निरन्तर प्रगति करता गया लेकिन एशिया अत्यधिक पिछड़ा रहा। इसका एक गम्भीर राजनीतिक परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी राज्यों ने एशिया में अपने पैर जमाकर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर दिया। जापान, थाइलैंड, ईरान, नेपाल और चीन को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण एशिया पश्चिमी राष्ट्रों के स्वामित्व में आ गया। अंग्रेज भारत, वर्मा, श्रीलंका, मलाया, सिंगापुर और हांगकांग में जम गए; फ्रांसीसियों ने हिन्द-चीन में डेरा जमाया, डचों ने ईस्ट इण्डीज पर पैर रोप दिए; रूसियों ने चीन के आमूर प्रान्त

सहित साइबेरिया के बाह्य मंगोलिया में और स्पेनिश लोगों ने (बाद मे अमेरिकियों ने) फिलिपाइन्स मे अपने अड्डे जमा लिए, यहाँ तक कि पुर्तगाल जैसे छोटे से राज्य ने भी अपने उपनिवेश कायम कर लिए। वे देश भी, जो प्रकट रूप में स्वतन्त्र थे, व्यावहारिक दृष्टि से विदेशी राष्ट्रों के आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके।

प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्रीयता की प्रथम लहर—एशिया के राष्ट्रों पर आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से पश्चिम का प्रभुत्व छा गया, लेकिन पश्चिम के सम्पर्क और पश्चिमी साहित्य के प्रवेश के कारण शनैः-शनैः एशियावासियों मे नव-चेतना का उदय हुआ। प्रबुद्ध एशियावासी यह समझ गए कि विषम आर्थिक कठिनाइयों, आर्थिक शोषण और लज्जाजनक जीवन से एशिया के देश तभी मुक्ति पा सकेंगे जब वे राजनीतिक दासता के जुए को उतार फेंकेंगे। प्रथम महायुद्ध ने भी एशियायी देशों के जागरण को गतिशील बनाया। इस सारी स्थिति को चित्रित करते हुए शूमैन ने लिखा है—

"इन पिछड़े हुए राष्ट्रों के नए बुद्धिजीवियों ने पाश्चात्य देशों के विज्ञान, युद्धकला और राजनीतिक कुशलता और निपुणता का ज्योंही एक अंश प्राप्त किया त्योंही उनमे ऐसे नेतागण भी पैदा हो गए जो यह माँग करने लगे कि उन्हें अपना भविष्य स्वयं निश्चित करने का अधिकार मिलना चाहिए।"[1]

महायुद्ध के बाद एशियावासी 'आत्म-निर्णय' की माँग करने लगे। 'भारत भारतीयों के लिए' 'चीन चीनियों के लिए' आदि नारे बुलन्द होने लगे। विदेशी शासन से मुक्ति के लिए एशियाई देशों में जो उत्कट अभिलाषा जाग्रत हुई उसने एक दीर्घकालीन स्वतन्त्रता आन्दोलन और संघर्ष का रूप धारण कर लिया। एशिया के पराधीन राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी स्थिति पर पुनर्विचार की माँग करने लगे। एशिया तेजी से जागरण के पथ पर बढ़ता गया और द्वितीय महायुद्ध से उसके निश्चय को अत्यधिक बल मिला।

द्वितीय महायुद्ध द्वारा राष्ट्रीयता की लहर को बल प्रदान किया जाना—द्वितीय महायुद्ध ने एशिया महाद्वीप को अपने लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में अग्रसर किया। एशियाई राष्ट्रों ने महायुद्ध मे पश्चिमी शक्तियों का साथ दिया था जिसके बदले मे उन्हें आश्वासन मिला कि उनकी पराधीनता की बेड़ियाँ काट दी जाएँगी। इससे एशियावासियों में नई चेतना तथा नई शक्ति का संचार हुआ। इसके अतिरिक्त महायुद्ध ने श्वेत जाति की श्रेष्ठता और अजेयता की भावना को नष्ट कर दिया जिससे उपनिवेशों की जनता में एक नया आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। एशियावासी यह महसूस करने लगे कि साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने का मार्ग कठिन भले ही हो, असम्भव नहीं है। महायुद्ध में विजय पाने के बाद जब पश्चिमी साम्राज्यवादी देश अपने वचनों को भूल गए तो एशिया और अफ्रीका मे स्वाधीनता-आन्दोलन अधिक

1 *Schuman* : op. cit., p. 315.

तीव्र हो गया। ये महाद्वीप अब यह सहन करने को तैयार नहीं थे कि साम्राज्यवाद की पुरानी व्यवस्था ज्यों की त्यों कायम रहे। उपनिवेशवादी ताकतों ने स्वाधीनता-सेनानियों को आश्वासन की मीठी गोलियाँ खिलाकर शान्त करना चाहा, लेकिन अब जनता मे यह भावना घर कर चुकी थी कि उनके वचनों पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। महायुद्ध से थके और जर्जरित पश्चिमी साम्राज्यवादी राष्ट्रों के लिए यह सम्भव नही था कि वे अफ्रेशियायी राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाए रख सकें, अतः शीघ्र ही दोनों महाद्वीपों मे नए सम्प्रभु राज्यों के उदय का सिलसिला शुरू हो गया।

(2) द्वितीय युग (1947 से 1955 तक) : नए राज्यों का उदय : एशियायी व्यक्तित्व का विकास

सन् 1919 के बाद एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों में साम्राज्यवाद की जो पराजय हुई वह सन् 1945 के पश्चात् अन्तिम पराजय का रूप लेने लगी तथा साम्राज्यवाद के पैर उखड़ने लगे। 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र भारत का उदय हुआ और साथ ही पाकिस्तान नामक एक नए मुस्लिम राज्य का भी निर्माण हुआ। भारत विभाजन की कीमत पर पाकिस्तान का उदय इतिहास की एक दुःखद, क्रूर और अन्यायपूर्ण घटना थी, किन्तु भारतीयों ने इस महान् बलिदान को भी सहन किया और अपनी परम्परागत उदारता का परिचय दिया। 4 जनवरी, 1948 को बर्मा ने पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त की और 'बर्मी-संघ' अस्तित्व मे आया। फरवरी, 1948 मे, लगभग 133 वर्षों की अंग्रेजी अधीनता के बाद, श्रीलंका ने स्वाधीनता की साँस ली। इसके बाद 1 अक्तूबर, 1949 को साम्यवादी चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना हुई जो भारत की आजादी के बाद दूसरी महान् क्रान्तिकारी घटना थी। 27 दिसम्बर, 1949 को इण्डोनेशिया एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में प्रकट हुआ और 9 नवम्बर, 1953 को कम्बोडिया ने स्वयं को एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य घोषित कर दिया। 21 जुलाई, 1954 को जेनेवा-समझौते के अन्तर्गत लाओस राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान की गई। इस प्रकार सन् 1955 के प्रारम्भ तक एशिया के अनेक देशों ने स्वतन्त्रता के सूर्य के दर्शन कर लिए। जब 31 अगस्त, 1957 को मलाया ने औपनिवेशिक दासता से मुक्ति प्राप्त कर ली तो द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त स्वतन्त्रता का सूर्योदय देखने वाला वह एशिया का 11वाँ देश था।

एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रसार के साथ यह भावना भी बल पकड़ती गई कि कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए उन्हें पारस्परिक एकता, संगठन और सहयोग का परिचय देना होगा। इस प्रकार की एकता की नवीन चेतना की पहली स्पष्ट अभिव्यक्ति मार्च, 1947 मे हुई। इस समय 'विश्व मामलों की भारतीय परिषद्' (Indian Council of World Affairs) के तत्वावधान मे नई दिल्ली में आयोजित एक गैर-सरकारी 'एशियायी मैत्री सम्मेलन' (Asian Relations Con- -) हुआ। इस सम्मेलन में अनेक प्रस्ताव पारित हुए और महत्त्वपूर्ण निर्णय

लिए गए तथा निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए एक 'एशियायी मैत्री संगठन' (Asian Relations Organisation) की स्थापना की गई—

(i) एशियायी समस्याओं और सम्बन्धों की महाद्वीपीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं के अध्ययन और ज्ञान को प्रोत्साहित करना,

(ii) एशियायी राष्ट्रों तथा विश्व के दूसरे राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग को बढ़ावा देना, एवं

(iii) एशियायी जनता की प्रगति और हितों में वृद्धि करना।

सम्मेलन में शामिल होने वाले 28 एशियायी देशों के प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए भारत के तत्कालीन प्रधान मन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपने स्वागत भाषण में कहा—

"जब आधुनिक युग का इतिहास लिखा जाएगा तब यह घटना एशिया के अतीत को उसके भविष्य से अलग करने वाले सीमा-चिह्न के रूप मे याद की जाएगी।" एशिया के नव-जागरण पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने आगे कहा—"परिस्थितियाँ बदल रही हैं और एशिया को अपनी स्थिति का ज्ञान हो गया है। एशिया के देश अब दूसरों के हाथों के मोहरे नहीं बनेंगे, विश्व के मामलों में उनकी स्वतन्त्र नीतियों का होना निश्चित है।"

एशियायी एकता तब एक कदम और आगे बढ़ी जब जनवरी, 1949 में 15 राज्यों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन आयोजित किया जिसमे औपनिवेशिक स्थिति पर विचार किया। इसमें मुख्य रूप से इण्डोनेशिया मे डच सरकार द्वारा की गई सैनिक कार्यवाही से उत्पन्न स्थिति पर विचार-विमर्श हुआ। एशियायी व्यक्तित्व का विकास होता गया। मई, 1950 में फिलिपाइन्स ने बोगुई नामक स्थान पर एशियावासियों के सांस्कृतिक एवं आर्थिक सहयोग पर विचार करने के लिए सम्मेलन आमन्त्रित किया। अप्रेल, 1954 मे भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बर्मा और इण्डोनेशिया के प्रधान मन्त्री हिन्द-चीन सहित विभिन्न समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए परस्पर मिले। दिसम्बर में पांचों प्रधान मन्त्री बोगार मे एकत्र हुए और वहाँ एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रों का एक वृहद्-सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका मे नव-जागरण की लहर का सर्वोत्तम रूप से बाण्डुंग सम्मेलन मे प्रकट हुआ। भारत, बर्मा और इण्डोनेशिया द्वारा इस महान् अफ्रो-एशियायी सम्मेलन का आयोजन किया गया जो 18 अप्रेल से 27 अप्रेल, 1955 तक चला। इस सम्मेलन में भारत सहित 29 राष्ट्र सम्मिलित हुए। पहली बार साम्यवादी चीन ने भी गैर-साम्यवादी राष्ट्रों के साथ सद्भावना और मैत्रीपूर्ण विचार-विमर्श मे भाग लिया। सम्मेलन की समाप्ति पर सम्पूर्ण संसार को विश्वास हो गया कि सोया हुआ एशिया और अफ्रीका अब जाग उठा है। इस सम्मेलन मे पण्डित नेहरू का शान्ति-सन्देश नवीन उत्साह के साथ सुना गया।

बाण्डुंग सम्मेलन में अणुबम पर प्रतिबन्ध, रंगभेद की नीति की नि-

साम्राज्यवाद का विरोध और विनाश तथा अफ्रो-एशियायी देशो में सहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किए गए। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया गया कि 'स्वतन्त्रता' का वास्तविक अभिप्राय क्या है। काफी विचार-विमर्श के बाद सम्मेलन के सदस्य इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वास्तविक स्वतन्त्रता वही है जिसमे उन तत्त्वों का समावेश हो—(1) विदेशी प्रभाव से मुक्ति तथा पूर्ण लोकतन्त्रीय स्वशासन, (2) जाति, समुदाय, रंग आदि के भेद-भाव रहित मानव-प्रतिष्ठा को मान्यता, (3) तीव्र आर्थिक समृद्धि जिसका लाभ अधिक से अधिक जनता को प्राप्त हो, एवं (4) युद्ध का उन्मूलन और सद्भावना का प्रसार।

बाण्डुंग सम्मेलन का विशेष महत्त्व इस बात में था कि विश्व में सभी देशो के पारस्परिक व्यवहार हेतु 10 सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। ये सिद्धान्त भारत, चीन द्वारा प्रतिपादित पचशील के सिद्धान्तो का ही विस्तृत रूप थे। ये सिद्धान्त थे—

(i) मौलिक मानवीय अधिकारों के प्रति सम्मान की धारणा;
(ii) संयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर के सिद्धान्तो के प्रति सम्मान की भावना;
(iii) सब नस्लो तथा छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों की समानता मे विश्वास;
(iv) दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप न करना;
(v) सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर के अनुसार प्रत्येक देश को अकेले या सामूहिक रूप से आत्मरक्षा का अधिकार;
(vi) महाशक्तियो की विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित व्यवस्थाओं से पृथक् रहना तथा दूसरे देशो पर अनुचित दबाव न डालना;
(vii) आक्रामक कार्य न करना और आक्रमण की धमकियाँ न देना;
(viii) सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण उपायो से समाधान करना;
(ix) पारस्परिक हितो की वृद्धि; एवं
(x) न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो के प्रति सम्मान।

बाण्डुंग सम्मेलन की उस समय बड़ी प्रशसा की गई। इसे एक अभूतपूर्व सम्मेलन माना गया और 'लघु संयुक्त राष्ट्रसघ' की संज्ञा दी गई। बर्नेट नामक विद्वान ने अपनी पुस्तक 'साम्यवादी चीन और एशिया' में इस सम्मेलन के सम्बन्ध मे निम्नलिखित विचार व्यक्त किए थे—

"बाण्डुंग सम्मेलन एशिया और अफ्रीका के पुनरोत्थान का प्रतीक था। यह एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक सम्मेलन था जिसमे एशिया और अफ्रीका के पश्चिमी महाशक्तियो के प्रभाव से मुक्त प्रमुख नेता बैठक मे सम्मिलित हुए थे जो इस बात का ज्वलन्त उदाहरण था कि विश्व के मामलों मे एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रो का भी प्रभाव बढ़ रहा है।"

अन्त में बाण्डुंग सम्मेलन में इस बात पर बल दिया गया कि—

"हम अफ्रो-एशियावासी एक ही प्रकार के अत्याचार से पीड़ित रहे हैं और हमारे लक्ष्य भी समान हैं। हम अफ्रीका और एशियावासी सदैव एक-दूसरे के प्रति

सहानुभूति रखते हैं। एशिया और अफ्रीका के हम लोग उपनिवेशवाद की लूट और अत्याचार के शिकार रहे हैं और इसके कारण गरीबी और पिछड़ेपन की स्थिति में रहने के लिए बाध्य किए गए हैं। हमारी आवाज बलात् दबाई गई है। हमारी महत्त्वाकांक्षाओं को कुचला गया है और हमारा भाग्य दूसरों की दया पर निर्भर रहा है। अतएव इस दासता के विरुद्ध विद्रोह करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प शेष नहीं है।"

(3) तृतीय युग (1955 से 1962 तक) : बाण्डुंग भावना का अन्त

बाण्डुंग सम्मेलन ने इन आशा का सचार किया कि अफ्रीका और एशिया के राष्ट्र 10 सिद्धान्तों के अनुसार आपसी सम्बन्धों की स्थापना कर परस्पर एकता और सहयोग का विकास करेंगे, लेकिन 'बाण्डुंग भावना' कुछ ही समय तक जीवित रही। एक ओर तो एशिया में नए स्वतन्त्र राज्य अस्तित्व में आते गए और दूसरी ओर साम्यवादी चीन अनुचित दबाव 'फूट डालो और काम निकालो', विस्तारवाद आदि की नीति पर चलकर एशियायी राज्यों की एकता और सद्भावना को खण्डित करने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में यह समझा जाने लगा था कि भारत और चीन मिलकर एशियायी व्यक्तित्व को नया रूप देने में सफल होंगे, लेकिन चीन की कुटिल और विश्वासघाती नीति ने एशिया के हितो को भारी आघात पहुँचाया। चीन ने 'बाण्डुंग भावना' को ठुकरा दिया तथा विस्तारवाद की सुनियोजित नीति का अनुसरण किया। अपने महान् मित्र-देश भारत की भूमि तक पर भी चीन अपनी कुदृष्टि डालने से बाज नही आया। वह अन्य अफ्रो-एशियायी देशों पर भी दबाव डालने का प्रयत्न करने लगा। चीन ने जान-बूझकर सीमा-विवाद बढा कर नवम्बर, 1962 में अचानक ही भारत पर विशाल पैमाने पर आक्रमण कर दिया। यह एक मित्र-देश की पीठ में छुरा भौंकने जैसी बात थी। चीन का कदम पचशील का और बाण्डुंग सम्मेलन के 10 सिद्धान्तो का खुला और शर्मनाक तिरस्कार था। भारत ने पूरी शक्ति के साथ आक्रमण का मुकाबला किया, किन्तु आकस्मिक हमले का लाभ उठाने में चीन सफल रहा। विश्व के अधिकांश युद्धो का इतिहास बताता है कि आक्रमणकारी आकस्मिक हमले का लाभ प्राय: उठा लेता है और इस लाभ से वंचित तभी किया जा सकता है जब संघर्ष लम्बा चले और आक्रमणकारी देश को पराजित कर दिया जाए या कोई सम्मानजनक समझौता हो जाए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों, सैनिक कारणों, कूटनीतिक दबावों आदि के कारण एशिया के इन दो सबसे बड़े देशों के बीच युद्ध चलना असम्भव नहीं था। ज्योंही भारत सम्भलने की स्थिति मे आया, चीन ने एकतरफा युद्ध-विराम की घोषणा कर दी और शान्तिवादी भारत ने तत्कालीन परिस्थितियों मे थोड़ी-सी भूमि के लिए युद्ध को लम्बा खींचना उपयुक्त नही समझा। चीन वर्षों से अपनी सैनिक योजना को कार्यान्वित कर रहा था तथा आक्रमण की तैयारी में संलग्न था। दूसरी ओर भारत को चीनी हमले की किंचित मात्र भी आशा नहीं थी अतः भारत की सैनिक और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को जबरदस्त आघात पहुँचा, पर दूसरी ओर चीनी हमले ने

आत्म-समर्पण करने पर पाक सेना के ले. जनरल ए. ए. के. नियाजी ने आत्म-समर्पण के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर किए। पश्चिमी मोर्चे पर भी पाकिस्तान की लगभग 1400 वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया गया। 17 दिसम्बर को भारत ने एकपक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी और पाकिस्तान ने ईश्वर को 'धन्यवाद' दिया। नवोदित बंगलादेश के प्रति पाकिस्तान का द्वेषपूर्ण रवैया फिर भी जारी रहा, यद्यपि कालान्तर में उसे वास्तविकता को स्वीकार करना पड़ा। फरवरी, 1974 मे पाकिस्तान ने बंगलादेश को बिना शर्त मान्यता प्रदान की और बदले मे बंगलादेश ने भी पाकिस्तान को मान्यता देकर अपनी सदाशयता का परिचय दिया।

पिछले कुछ वर्षों से यद्यपि पाकिस्तान और चीन के साथ भारत के सम्बन्धों मे विशेष तनाव नही रहा है, तथापि एशियायी व्यक्तित्व का विकास अपेक्षित रूप मे नही हो सका है। भारत और चीन एशिया के दो महान् राष्ट्र है और जब तक इन दो राष्ट्रो के सम्बन्ध मधुर तथा सौहार्द्रपूर्ण नही होते तथा उनके आपसी सीमा-विवादो का शान्तिपूर्ण समाधान नही हो जाता तब तक हम व्यावहारिक रूप मे एशियायी व्यक्तित्व के विकास की कल्पना नही कर सकते। पाकिस्तान भी दुर्भाग्यवश ऐसी दिशा मे नहीं चल रहा है जिससे एशियायी एकता को बल मिले। पिण्डी-पीकिंग धुरी या गठबन्धन किस तरह भारत के विमुख है, कहने की आवश्यकता नहीं है। दुर्भाग्यवश पश्चिमी एशिया के अरब राष्ट्रो मे भी एकता नहीं है और कुछ अरब राष्ट्रों मे तनाव तथा सघर्ष चलता ही रहता है। सितम्बर, 1980 के अन्तिम चरण मे ईरान और ईराक के मध्य जो भयानक सशस्त्र संघर्ष छिड़ा है और जिसने अक्तूबर, 1980 के प्रारम्भ तक पूरे युद्ध का रूप धारण कर लिया है, वह एशियायी व्यक्तित्व, एशियायी सगठन और एकता के लिए गहरा आघात है। हमें एशिया के भाग्य पर खेद ही करना चाहिए कि शताब्दियो की गुलामी से मुक्त होने के बाद भी वह 'एक' नही हो पाया है।

स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद नव-स्वतन्त्रता प्राप्त एशियायी देशों मे जिस सहयोग का प्रारम्भिक वर्षो मे विकास हुआ, वह कालान्तर मे बिखरने लगा। एशियायी देशो के दृष्टिकोणो मे एकरूपता के बजाय विभिन्नता के (बल्कि यूँ कहिए कि वैमनस्य के) दर्शन होने लगे जिसके फलस्वरूप स्थान-स्थान पर तनाव तथा सैनिक सघर्ष उठ खड़े हुए। भारतीय उपमहाद्वीप मे ही पाकिस्तान और भारत के सम्बन्ध मधुर नही है। भारत और चीन मे वैमनस्य है, बंगलादेश के प्रति चीन और पाकिस्तान के मन साफ नही हैं। पश्चिमी एशिया में तो न केवल अरब देश हैं। कई बार भयानक युद्धों का विस्फोट हो चुका है और कोई नहीं कह सकता कि पुनः किस क्षण युद्ध भड़क उठे। दक्षिण-पूर्वी एशिया मे हिन्द-चीन अशान्त हैं। यद्यपि वर्षों से चला आ रहा वियतनाम युद्ध राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की विजय के साथ 30 अप्रेल, 1975 को समाप्त हो गया, तथापि विनाश के घाव अभी भरना बाकी है। यदि उत्तर और दक्षिण वियतनाम के एकीकरण का दौर चला तो कोई नही कह सकता कि स्थिति क्या बन पाएगी। अप्रेल, 1975 में ही पिछले पाँच वर्ष से

चले आ रहे कम्बोडिया युद्ध का भी यद्यपि अन्त हो गया, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की उलझनें कम्बोडिया को अभी भी अशान्त बनाए हुए हैं। तात्पर्य यह है कि एशिया महाद्वीप मे चारो ओर अशान्ति के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, एशियायी व्यक्तित्व में दरारें हैं तथा संघर्ष के बादल बराबर मण्डरा रहे हैं। यद्यपि एशिया की आवाज बुलन्द है, अब सयुक्त राष्ट्रसघ में एशियायी देशों की आवाज को ठुकराना महाशक्तियो के लिए पहले की तरह सुगम नहीं है, फिर भी एशिया तब तक पूरी तरह नही उठ सकता जब तक एशिया के राष्ट्र परस्पर सहयोग नहीं करते। समय-समय पर होने वाले सम्मेलनों में एशिया के देश सहयोग की शक्तियों को बढ़ावा देते है, लेकिन विघटन की शक्तियाँ भी कम प्रबल नहीं हैं। यह आशा की जानी चाहिए कि एशिया के राष्ट्र सद्बुद्धि से काम लेकर एशिया महाद्वीप को वही प्रतिष्ठा प्रदान करेंगे जो यूरोपीय महाद्वीप को प्राप्त है।

बंगलादेश का उदय : एशिया में नव-जागरण का एक नया मोड़

आज का बंगलादेश दिसम्बर, 1971 में एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य के रूप मे उदय से पहले, पूर्वी पाकिस्तान था। पाकिस्तान ने अपने ही इस पूर्वी भाग की दशा उपनिवेश से भी बदतर बना रखी थी। इस प्रदेश का घोर आर्थिक शोषण तो पाकिस्तान प्रारम्भ से ही कर रहा था, लेकिन 25 मार्च, 1971 की वह रात बडी भयावह और काली थी जब तत्कालीन पाकिस्तानी सैनिक शासको ने पूर्वी बंगाल की अपनी 7·5 करोड़ जनता पर हत्याकाण्ड और नृशंस अत्याचार का अभियान शुरू कर दिया। इतने जुल्म ढाए गए थे कि इतिहास मे ढूंढने पर भी शायद ऐसे उदाहरण न मिल सकें। पाकिस्तानी सैनिकों के अत्याचारों को देख कर शायद हिटलर को भी 'दूसरी दुनिया में' पछतावा हो रहा होगा कि वह अत्याचारों मे पाकिस्तान से मात खा गया। पाकिस्तानी सैनिक शासन के हाथों लगभग 10 लाख व्यक्तियो को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा और एक करोड़ से भी अधिक लोगों को अपना घरबार छोड़ कर भारत मे शरण लेनी पडी। इतिहास में किसी सैनिक सगठन द्वारा इतने बड़े पैमाने पर निरपराध नागरिकों की हत्या करने और एक देश की जनता द्वारा मजबूर होकर इतनी बड़ी सख्या में घरबार छोड़ने का दूसरा उदाहरण नही मिलता। भारत ने मानवता के आधार पर शरणार्थियो की हर प्रकार से सहायता की और पूर्वी बगाल के स्वाधीनता सघर्ष का समर्थन किया। जब 3 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तान ने भारत पर हमला कर दिया तो पश्चिमी मोर्चे पर भारतीय जवानों ने पाकिस्तान को नीचा दिखाया और पूर्वी मोर्चे पर भारतीय सेना तथा पूर्वी बंगाल की मुक्ति-वाहिनी की सयुक्त कमान ने पाकिस्तान के हौसले पस्त कर दिए। 16 दिसम्बर, 1971 को ढाका में लगभग 1 लाख पाक-सेनाओं के आत्म-समर्पण के साथ ही दुनिया के नक्शे पर बगलादेश (पूर्व बंगाल या पूर्वी पाकिस्तान) गणराज्य स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। वैसे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे इस नए राष्ट्र का अस्तित्व तो तभी व्यावहारिक बन चुका था जब 6 दिसम्बर, 1971 को भारत ने उसे मान्यता प्रदान कर दी थी।

बंगलादेश का उदय वस्तुतः एशिया में एक नव-जागरण का सूचक था जो सन्देश देता है कि अत्याचार, हिंसा और बर्बरता से लोहा लेना मानव का जन्म-सिद्ध अधिकार है और किसी भी देश की उत्पीड़ित तथा शोषित जनता को यह मार्ग अपनाना चाहिए। बंगलादेश के उदय ने जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धान्त को दफना दिया। 14 अगस्त, 1947 को जिस घृणा और रक्तपात के बीच पाकिस्तान का जन्म हुआ उसी नफरत और रक्तपात के साथ पाकिस्तान खण्डित हो गया। एक पीढ़ी में यह सिद्ध हो गया कि मजहब कभी भी राष्ट्रीयता का मुख्य आधार नहीं बन सकता। अंग्रेजों ने भी द्विराष्ट्र सिद्धान्त को समर्थन इसलिए दिया था कि वे भारत में अपना प्रभाव जमाए रखना चाहते थे लेकिन उनकी कुटिल नीति सफल न हो सकी। भारत पर प्रभाव जमाने की बात तो दूर रही, बंगलादेश के उदय ने ऐसे भ्रामक और नापाक सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ाकर अंग्रेजी और पाकिस्तानी इरादों को मिट्टी में मिला दिया।

एशियायी राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

एशिया महाद्वीप की उपर्युक्त राजनीतिक पृष्ठभूमि से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक दृष्टि से यहाँ अनेक प्रवृत्तियों और दृष्टिकोणों का विकास हो रहा है। एशिया में क्रान्ति अभी तक चल रही है। पहले इसका विरोध केवल विदेशी साम्राज्यवाद के प्रति था, पर आज यह विरोध पुरातन विचारों, अन्धविश्वासों, अज्ञान, अशिक्षा, गरीबी और विविध सामाजिक बुराइयों के प्रति सन्तुलित किया जा रहा है। एशिया की जागृति के कुछ निश्चित परिणाम निकले हैं जिनमें राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति, राष्ट्रीयता का विकास तथा साम्यवाद का प्रसार प्रमुख है। सर्वत्र नई राजनीतिक और आर्थिक नीतियों तथा नई संस्थाओं का तेजी से विकास हो रहा है और सपेण्डर के शब्दों में, "यह विकास राष्ट्रीय विचार की प्रेरक शक्ति के रूप में आर्थिक एवं सामाजिक सुधार की माँग के कारण भविष्य में जारी रहेगा।" एशिया के सभी देशों में राष्ट्रीयता की प्रबल लहर ने इजरायल से लेकर फिलिपाइंस तक कई नए राष्ट्रों का निर्माण किया है। एशियायी राष्ट्रवाद पश्चिमी राष्ट्रवाद से भिन्न है। यहाँ के राष्ट्रवाद में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, शान्ति, राजनीति के साथ-साथ परम्परावाद से प्रेम आदि का विचित्र सम्मिश्रण है। एशिया महाद्वीप में साम्राज्यवाद का अन्त हो रहा है, लेकिन साम्राज्यवादी मनोवृत्ति समाप्त नहीं हुई है और इसलिए अनेक देशों में साम्यवाद के प्रति आकर्षण बहुत बढ़ा है। सोवियत और चीनी साम्यवाद विशेष रूप से प्रभावशील है। एशिया के लगभग सभी देश आर्थिक और सामाजिक न्याय तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के आकांक्षी हैं, लेकिन वे बड़ी शक्तियों के प्रभाव से मुक्त नहीं है। बड़ी शक्तियाँ भी एशियावासियों और एशियायी नेताओं के दृष्टिकोणों की उपेक्षा नहीं कर पाती। एक शुभ-प्रभाव यह प्रकट हुआ है कि गुटों के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी एशिया के अधिकांश देशों का मत है कि साम्यवादी व्यवस्था तथा पूँजीवादी प्रजातन्त्रों के बीच का एक रास्ता है जिसे आर्थिक दृष्टि से मिश्रित अर्थव्यवस्था और

एशिया महाद्वीप गुट-निरपेक्षता के दृष्टिकोण ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। यहाँ के अनेक देश इस नीति में विश्वास करते हैं जिनमें भारत का स्थान सर्वोपरि है। कोलम्बो शक्तियों में सबसे अधिक प्रभावशाली यह देश अपने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सैद्धान्तिक और सैनिक स्थिति के कारण प्रभावपूर्ण रूप से अपनी आवाज बुलंद करने मे सक्षम है। संयुक्त राष्ट्रसंघ मे और अन्यत्र भारतीय नेताओं ने सदा ही एशिया की एकता के लिए कार्य किया है। एशिया और अफ्रीका मे गुटनिरपेक्ष विदेश-नीति के समर्थक राष्ट्र विश्व के पूंजीवादी और साम्यवादी पक्षों मे सन्तुलनकारी भूमिका अदा कर रहे है। ये राष्ट्र अपने आपको किसी 'वाद' के साथ सम्बद्ध नही करना चाहते, तथापि यह स्पष्ट है कि वे संयुक्त रूप से विश्व की एक तीसरी महाशक्ति सिद्ध हो सकते हैं।

अफ्रीका में उपनिवेशवाद का अन्त और नए राज्यों का उदय

अफ्रीका महाद्वीप का परिचय

अफ्रीका लगभग 1,15,00,000 वर्गमील क्षेत्रफल वाला एशिया के बाद दूसरा सबसे बड़ा महाद्वीप है। यह आकार, लम्बाई और अन्य कई अर्थों मे दक्षिण अमेरिका के समान है। उत्तरी अफ्रीका के अधिकांश निवासी गोरे हैं और शेष अफ्रीका के मूल निवासी काले है, लेकिन दोनों के बीच एकता और प्रेम की भावनाएँ विकसित होती रही हैं। अफ्रीका दक्षिणी अमेरिका से बहुत-सी बातो में समानता रखता है। ब्रून एवं मैमते (Bruun & Mamatey) के अनुसार—

"दोनों अपने उत्तर में एक विशाल भू-खण्ड से एक तग भूडमरूमध्य द्वारा जुडे हुए हैं, जो मानव-निर्मित नहरो द्वारा विभाजित है। दोनों लगभग त्रिकोणाकार हैं जो दक्षिणी ध्रुव की ओर मुडते हुए एक पूर्ण कोण बनाते हैं। दोनों बीच मे विषुवत्-रेखीय प्रदेशो की तरह बरसाती जंगलो और बड़ी नदियों से भरपूर है—अफ्रीका की काँगो नदी और दक्षिणी अमेरिका की अमेजन नदी एक जैसी है। जनसंख्या का घनत्व लगभग एक-सा है, जिसमे एक वर्गमील क्षेत्र में सिर्फ 20 व्यक्ति रहते हैं। दोनों साधन-सम्पन्न हैं। खनिज, पैट्रोल और जलशक्ति इतनी है कि उनके विकास के लिए सिर्फ पूंजी की आवश्यकता है। दोनों में जनसंख्या की वृद्धि की दर ऊँची और जीवन-स्तर निम्नकोटि का है। दोनों यूरोपीय उपनिवेशवाद का शिकार रहे हैं और दोनों ने संघर्ष द्वारा आजादी प्राप्त की है। दक्षिण अमेरिका के लोगों ने स्वयं को स्पेनिश और पुर्तगाली शासन के शिकंजे से 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मुक्त कर लिया था। अफ्रीका की जनता 19वीं शताब्दी में अनेकों यूरोपीय शक्तियों की साम्राज्य-लिप्सा का शिकार थी, किन्तु उन्होंने 20वीं शताब्दी के मध्य मे तेजी से स्वतन्त्रता प्राप्त की।"[1]

सन् 1870 के बाद से ही यूरोपीय शक्तियो में अफ्रीका मे उपनिवेशो की स्थापना की होड़ लग गई। सन् 1870 के बाद केवल 20 वर्ष की अल्पावधि मे ही

1 *Brunn & Mamatey* : The World in the Century (Hindi Ed.), p. 364.

यूरोपीय शक्तियों ने अफ्रीका के लगभग 9/10 भाग को परस्पर विभाजित कर लिया। सन् 1890 में उनके पास 1 लाख वर्ग मील प्रदेश था जो 10 वर्ष बाद बढ़ कर 6 लाख वर्गमील हो गया। इस प्रकार 19वीं सदी के अन्तिम चरण के समाप्त होते-होते समूचा अफ्रीका महाद्वीप यूरोपीय शक्तियों का उपनिवेश बन गया। प्रथम महायुद्ध से पूर्व केवल एबीसीनिया ही स्वतन्त्र राज्य रह गया था किन्तु सन् 1936 में इसकी स्वतन्त्रता भी इटली द्वारा समाप्त कर दी गई, हालांकि द्वितीय महायुद्ध में यह राष्ट्र पुनः स्वतन्त्र हो गया। जब द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ तो सम्पूर्ण अफ्रीका में केवल एबीसीनिया, लाइबेरिया, दक्षिण अफ्रीकी संघ और मिस्र ही स्वतन्त्र या अर्द्धस्वतन्त्र राज्य थे। अधिकांश अफ्रीका महाद्वीप विभिन्न यूरोपीय शक्तियों के मध्य इस प्रकार विभाजित था—

क्रम सं.	नाम	क्षेत्रफल (वर्गमील)	1961 के अनुसार जनसंख्या
1	फ्रांसीसी अफ्रीका	40 22,150	4,41,52,600
2	ब्रिटिश अफ्रीका	20,25,719	6,24,33,645
3	बेल्जियम अफ्रीका	9,24.300	1,20,00,000
4	पुर्तगीज अफ्रीका	7,78,000	95,00,000
5	स्पेनिश अफ्रीका	1,34,200	14,95,000

द्वितीय महायुद्ध के बाद स्वतन्त्रता की लहर (1945–1974)

द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका, जिसे कभी अन्ध महाद्वीप (Dark-Continent) कहा जाता था, कुछ ही वर्षों में स्वतन्त्रता के प्रकाश से आलोकित हो उठा। जिस तेजी से यूरोप के राष्ट्रों ने अफ्रीका में अपने साम्राज्य का निर्माण किया था, उससे भी कई गुना अधिक तेजी से अफ्रीका में उनके साम्राज्य का अन्त हो गया। 20 वर्ष के अल्पकाल में ही अफ्रीका के 90 प्रतिशत देश स्वतन्त्र हो गए। जाति, भाषा, इतिहास, परम्परा, धर्म आदि की विभिन्नताओं के बावजूद अफ्रीका में राष्ट्रवाद ने अगड़ाई ली। यह एक विलक्षण घटना थी। इस राष्ट्रवाद के उदय और विकास के मूल में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कारण निहित थे—

1. यूरोप की गोरी जातियाँ अफ्रीका के अश्वेत लोगों को स्वयं से निम्नकोटि का मानती थीं। इस सिद्धान्त की तीव्र प्रतिक्रिया हुई और अफ्रीका में राष्ट्रवाद का प्रसार हुआ। राष्ट्रवाद की मुख्य प्रेरणा 'जातीय समानता' के सिद्धान्त से मिली, पाश्चात्य सम्पर्क और पाश्चात्य साहित्य के प्रवेश ने भी अफ्रीका के प्रबुद्ध लोगों में राष्ट्रवाद की ज्योति जगाने में सहायता की।

2. द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत की स्वाधीनता के साथ ही एशिया के विभिन्न भागों में भी स्वाधीनता की लहर फैल गई। एशिया के राष्ट्र तेजी से स्वतन्त्र होते गए। स्वतन्त्रता की यह लहर अफ्रीका महाद्वीप से जा टकराई और इस महाद्वीप के करोड़ों लोग स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए आतुर हो उठे।

3. महायुद्धकाल के स्वतन्त्रता-प्रेमी अमेरिकियों के सम्पर्क ने भी अफ्रीका-

वासियों में स्वतन्त्रता की आकांक्षा पैदा की। राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा उपनिवेशवाद के विरोध से भी अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण को बल मिला।

4. अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी अफ्रीका के देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सहायता दी। महायुद्ध ने उपनिवेशवादी शक्तियों को अत्यन्त दुर्बल बना दिया। फ्रांस, ब्रिटेन आदि राष्ट्र इतने कमजोर हो गए कि उनमें अपने उपनिवेशों के स्वाधीनता आन्दोलनों का दमन करने की शक्ति नहीं रही। जब एशिया के उपनिवेश तेजी से उनके चंगुल से मुक्त होने लगे तो अफ्रीकी राष्ट्रवादियों में भी प्रबल आत्म-विश्वास जाग्रत हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका महाद्वीप में एक-एक करके स्वतन्त्रता की तीन उत्तरोत्तर जबर्दस्त लहरें आई। महायुद्ध की समाप्ति पर अफ्रीका में केवल 4 राज्य स्वतन्त्र थे—एबीसीनिया, लाइबेरिया, दक्षिण अफ्रीकी संघ और मिस्र। यह 130 लाख वर्ग मील का क्षेत्र अफ्रीका महाद्वीप के कुल क्षेत्रफल का केवल 11% था और इसकी 28 करोड की आबादी अफ्रीका की कुल जनसंख्या का 26% थी। इसके बाद स्वतन्त्रता की पहली लहर आई। इस लहर ने केवल अल्जीरिया को छोड़ कर अरबों द्वारा आवासित शेष उत्तरी अफ्रीका से उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों का सफाया कर दिया। इस पहली लहर द्वारा स्वतन्त्र होने वाले राष्ट्रों में सन् 1951 में स्वतन्त्र होने वाला लीबिया और सन् 1956 में स्वाधीनता प्राप्त करने वाले सूडान, मोरक्को तथा ट्यूनीशिया थे। स्वतन्त्रता की दूसरी लहर ने काले अर्थात् नीग्रो लोगों द्वारा आवासित अफ्रीका को प्रभावित किया। सन् 1957 में ब्रिटेन द्वारा घाना को स्वतन्त्रता प्रदान की गई और सन् 1958 में गिनी पंचम फ्रेंच गणराज्य से पृथक् हो गया। सन् 1959 तक अफ्रीका में ग्यारह राज्य स्वाधीन हो गए, किन्तु अभी तक सहारा के दक्षिण का और जम्बेसी नदी के उत्तर का मध्य अफ्रीका पराधीन था। सन् 1960 में स्वतन्त्रता की तीसरी जबर्दस्त लहर ने इस क्षेत्र के अधिकांश गुलाम देशों को आजाद कर दिया। यह वर्ष अफ्रीका के स्वतन्त्रता का वर्ष कहा जाता है जिसमें 17 देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। इसके बाद एक-एक करके अफ्रीका के शेष देश भी स्वतन्त्र होते गए और आज केवल इनेगिने प्रदेशों को छोड़कर सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप स्वतन्त्र हो चुका है। जो देश स्वतन्त्र हुए वे ये हैं—

क्रम सं.	नाम देश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	स्वतन्त्र होने की तिथि
1.	लाइबेरिया	अमेरिका	1847
2.	इथोपिया	—	1941
3	लीबिया	—	24 नवम्बर 1951
4.	इरिट्रिया	इटली	सितम्बर 1952
5.	सूडान	ब्रिटेन	जनवरी 1956
6.	मोरक्को	फ्रांस	मार्च 1956

क्रम सं.	नाम देश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	स्वतन्त्र होने की तिथि
7.	ट्यूनीशिया	फ्रांस	मार्च 1956
8.	घाना	ब्रिटेन	मार्च 1957
9.	गिनी	फ्रांस	अक्तूबर 1958
10.	संयुक्त अरब गणराज्य	—	1959
11.	कैमरून	फ्रांस	जनवरी 1960
12.	मोरक्को (कुछ अंश)	स्पेन	मार्च 1960
13.	टोगो	फ्रांस	अप्रैल 1960
14.	मालीसंघ	फ्रांस	जुलाई 1960
15.	काँगोली गणराज्य	बेल्जियम	जुलाई 1960
16.	सोमालिया	ब्रिटेन व इटली	जुलाई 1960
17.	मेलागासी गणराज्य	फ्रांस	जुलाई 1960
18.	चाड	फ्रांस	अगस्त 1960
19.	नाइजर	फ्रांस	अगस्त 1960
20.	आइवरी कोस्ट	फ्रांस	अगस्त 1960
21.	वोल्टाई गणराज्य	फ्रांस	अगस्त 1960
22.	गेबोन	फ्रांस	अगस्त 1960
23.	दहोमी	फ्रांस	अगस्त 1960
24.	काँगो गणराज्य	—	अगस्त 1960
25.	मध्यवर्ती अफ्रीका	—	अगस्त 1960
26.	नाइजीरिया	ब्रिटेन	अक्तूबर 1960
27.	मारिटानिया	फ्रांस	नवम्बर 1960
28.	सियरालियोन	फ्रांस	अप्रैल 1961
29.	रूआंडा-उरांडी	बेल्जियम	जुलाई 1962
30.	अल्जीरिया	फ्रांस	सितम्बर 1962
31.	युगांडा	ब्रिटेन	अक्तूबर 1962
32.	तंगानिका	ब्रिटेन	दिसम्बर 1962
33.	कीन्या	ब्रिटेन	दिसम्बर 1963
34.	जंजीबार	ब्रिटेन	दिसम्बर 1963
35.	न्यासालैण्ड (मलावी)	ब्रिटेन	1964
36.	जाम्बिया (उत्तरी रोडेशिया)	ब्रिटेन	1964
37.	गाम्बिया	ब्रिटेन	1964
38.	ब्रिटिश गियाना (नया नाम गुयाना)	ब्रिटेन	मई 1966
39.	बोत्सवाना (बचुआनालैण्ड)	ब्रिटेन	सितम्बर 1966
40.	लिसोथो (बसुतोलैण्ड)	ब्रिटेन	अक्तूबर 1966
41.	बारबेडास	ब्रिटेन	नवम्बर 1966
42.	मारिशस	ब्रिटेन	मार्च 1968
43.	ग्रिनाडा	ब्रिटेन	फरवरी 1974
44.	गिनी बिसाऊ	पुर्तगाल	सितम्बर 1974

क्रम सं.	नाम देश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	स्वतन्त्र होने की तिथि
45.	मोजाम्बिक	पुर्तगाल	जून 1975
46.	केपवर्द	पुर्तगाल	जुलाई 1975
47.	कोमोरी द्वीप समूह	पुर्तगाल	जुलाई 1975
48.	अंगोला	पुर्तगाल	नवम्बर 1975
49.	सेशेल्स	ब्रिटेन	जून 1976
50.	जिबाब्वे (रोडेशिया)	ब्रिटेन	अप्रेल 1980

अफ्रीका महाद्वीप की राजनीतिक परम्पराएँ आरम्भ से ही अधिनायकवादी और सर्वसत्तावादी रही हैं। औपनिवेशिक युग आरम्भ होने से पहले अफ्रीका महाद्वीप में एकतन्त्रात्मक शासन का बोलबाला था। कबीलों के सरदार स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करते थे। औपनिवेशिक युग के दौरान भी इस स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। अफ्रीका के लोग साम्राज्यवादी शक्तियों के निरंकुश शासन से पीड़ित रहे। अफ्रीका महाद्वीप के किसी भी देश में स्वस्थ लोकतन्त्रीय परम्पराओं का विकास नहीं हो सका, किन्तु अब स्वतन्त्रता के इस युग में अनेक अफ्रीकी देशों में—विशेषकर भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेशों मे, संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना की गई है। यद्यपि उदार लोकतन्त्र अभी अधिक सफल नहीं हुआ है, तथापि अफ्रीका धीरे-धीरे लोकतान्त्रिक परम्पराओं और संस्थाओं के विकास की दिशा में अग्रसर हो रहा है। कुछ देशों में लोकतन्त्र की काफी प्रगति हुई है तो कुछ देशों में निर्वाचित एकतन्त्र की स्थापना की गई।

अफ्रीका मे साम्यवाद का प्रभाव अभी तक विशेष उग्र नहीं हो पाया है। अफ्रीका देशों के प्रति सोवियत संघ और चीन के दृष्टिकोण भिन्न रहे हैं। सोवियत संघ ने अफ्रीकावासियों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में नैतिक और कूटनीतिक समर्थन दिया है जबकि चीन की नीति अफ्रीकी देशों पर दबाव डालने और उन्हें अपनी शक्ति से आतंकित करने की रही है। यद्यपि दोनो ही देश चाहते हैं कि अफ्रीका में साम्यवाद का प्रसार हो, तथापि दोनों के ढंग भिन्न-भिन्न हैं। दोनों ही देशों के नेता अफ्रीका के विभिन्न देशो के दौरे करते रहे हैं।

राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीनता प्राप्त कर लेने पर भी अफ्रीका के सामने एक बड़ी समस्या अपनी इस स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने की है। महाशक्तियाँ और कुछ अन्य बड़े देश अफ्रीका के पिछड़े देशों को अपने प्रभाव में लाने को उत्सुक हैं। आर्थिक दृष्टि से अफ्रीका बहुत पिछड़ा हुआ है, यद्यपि प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से यह एक समृद्ध देश है। अफ्रीका के देश चाहते हैं कि विकसित राष्ट्र उन्हे आर्थिक और प्राविधिक सहायता दें ताकि वे अपने प्राकृतिक साधनों का उपयोग कर सकें, लेकिन साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि उनकी सम्प्रभुता और स्वतन्त्रता पर कोई आँच न आए। अब यह सम्भव नहीं है कि अफ्रीकी देश पाश्चात्य औद्योगिक उत्पादन के लिए बाजार बन कर रह जाएँ।

एशियायी राज्यों की तरह ही अफ्रीकी राज्य भी पारस्परिक फूट के शिकार हैं। विभिन्न राज्यों में पारस्परिक कलह का बोलबाला रहता है, कई बार सैनिक झड़पें भी होती हैं। सैनिक क्रान्तियाँ होना भी एक आम बात है। पृथकतावादी आन्दोलन भी जब तब जोर पकड़ते हैं। शिक्षा, सभ्यता और विज्ञान में पिछड़े हुए होने के कारण अफ्रीका के देशों में राष्ट्रवाद अभी इतना प्रभावशाली नहीं हो सका है जितना एशिया महाद्वीप में। ये सब बातें अफ्रीका महाद्वीप की एकता के लिए हानिकर हैं और इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर अफ्रीका का इतना शक्तिशाली चित्र अभी नहीं उभर सका है जितना उभरना चाहिए था। भविष्य में अफ्रीका के कुछ देशों मे साम्यवादी आन्दोलन के जोर पकड़ जाने और स्थिति विस्फोटक बन जाने की सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता। अफ्रीका के कई देशों जैसे काहिरा, अदिस अबाबा, प्रोटोरिया, किमोनरोविया आदि में साम्यवादियों के कूटनीतिक अड्डे हैं। अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका में स्थानीय साम्यवादी दलों का प्रभाव है। वैसे अफ्रीका के नेताओं में से बहुत कम ही साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं।

एशिया और अफ्रीका के जागरण के कारण

एशिया और अफ्रीका महाद्वीप में जागरण की जो लहर उठी और विकसित हुई उसके कारण निम्नलिखित है—

1. द्वितीय महायुद्ध ने यूरोप के राष्ट्रों को आर्थिक, सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से निर्बल बना दिया था। यूरोप स्वय 'समस्या प्रधान' (Problem Europe) महाद्वीप बन गया। जर्मनी और इटली नष्ट हो गए, ब्रिटेन और फ्रांस तीसरी श्रेणी के राष्ट्र बन गए। इस प्रकार ये उपनिवेशवादी शक्तियाँ इस योग्य नही रही कि अपने विशाल साम्राज्य का भार सम्भाल सकती।

2. महायुद्ध में गोरी जातियों को गहरी पराजयों का सामना करना पड़ा। अतः एशिया और अफ्रीका के लोगों के दिलों में यह बात बैठ गई कि गोरी जातियाँ 'अजेय' नही हैं। इस अनुभूति ने उनमे नव-जीवन का संचार किया जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र होते गए।

3. महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका महाशक्ति के रूप मे प्रकट हुआ। उसने दोहरी नीति अपनाई—एक ओर तो ब्रिटेन, फ्रांस आदि उपनिवेशवादी शक्तियों को आश्रय दिया और दूसरी ओर एशियाई देशों के मन में यह बात भी बैठानी चाही कि अमेरिका उनके स्वाधीनता-संग्राम का समर्थक एवं उपनिवेशवाद का विरोधी है। अमेरिका ने एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रकट रूप मे विरोध नहीं किया था बल्कि यह कोशिश की थी कि इन महाद्वीपों के जागरण का अमेरिकी हितों में प्रयोग किया जाए, अतः परिणाम यह निकला कि अफ्रो-एशियाई राष्ट्रवाद जोर पकड़ता गया।

4. अपार क्षति के बावजूद सोवियत संघ भी महायुद्ध के बाद दूसरी महाशक्ति के रूप में उभरा। रूस ने एशिया और अफ्रीका के देशों का समर्थन प्राप्त करने के

लिए उसके स्वाधीनता आन्दोलनों को प्रेरणा दी। एक महाशक्ति का कूटनीतिक और नैतिक समर्थन पाकर महाद्वीपों के राष्ट्रीय आन्दोलन सफलता की ओर बढ़े।

5. महायुद्ध के बाद विश्व दो गुटों में बँट गया—पूँजीवादी और साम्यवादी। दोनों गुटों ने एशिया और अफ्रीका के पिछड़े राष्ट्रों को आर्थिक और प्राविधिक तथा समयोचित सैनिक सहायता देना शुरू किया। दोनों ने ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वे एशिया और अफ्रीका के हित-चिन्तक हैं। इस प्रतिस्पर्द्धा का परिणाम यह हुआ कि अफ्रो-एशियाई राष्ट्र अपने राजनीतिक और सामरिक महत्त्व को अधिक अच्छी तरह समझने लगे। उनका साहस बढ़ गया और राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रसार हुआ।

6. संयुक्त राष्ट्रसंघ में उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाई गई और विश्व-जनमत एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों के पक्ष में हो गया। न्यास-परिषद् ने ट्रस्टी राष्ट्रों पर संरक्षित प्रदेशों में सांविधानिक सुधारों के लिए दबाव डाला और एक निर्धारित समय में उन्हें स्वतन्त्र कराने का कार्यक्रम तैयार किया। इसका परिणाम *यह हुआ कि न्याय-संस्था के अन्तर्गत आज कोई प्रदेश नहीं है जबकि* सन् 1945 में 11 प्रदेश थे।

7. आवागमन और संचार के वैज्ञानिक साधनों के फलस्वरूप दुनिया जिस तरह से सिकुड़कर छोटी हो गई उससे भी एशिया और अफ्रीका के आन्दोलन गतिमान हुए। विभिन्न राष्ट्रों के नेताओं में सम्पर्क बढ़ा तथा स्वाधीनता आन्दोलनों को सफल बनाने के लिए नीतियों का निर्धारण हुआ। दोनों महाद्वीपों के देश इस बात से अच्छी तरह परिचित हो गए कि यूरोपीय राष्ट्रों तथा अमेरिका की तुलना में वे आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से कितने पिछड़े हुए हैं। इस प्रकार की अनुभूति ने अफ्रीका और एशियावासियों को अपनी उन्नति के लिए प्रेरित किया। जो राष्ट्र स्वतन्त्र होते गए वे इस बात के लिए कटिबद्ध हो गए कि शीघ्रातिशीघ्र स्वावलम्बी बनेंगे ताकि फिर से साम्राज्यवाद के शिकंजे में न फँस सकें।

8. *अल्जीरिया के सफल स्वाधीनता संग्राम ने अफ्रीका महाद्वीप में एक नई* ज्योति जगाई।

एशिया और अफ्रीका का जागरण वास्तव में उस उभरते हुए राष्ट्रवाद का ही दूसरा नाम है जो इन महाद्वीपों के छोटे-बड़े राष्ट्रों की विभिन्न आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों और मान्यताओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना-चक्रों और विशेषताओं के बीच टकराव तथा आदान-प्रदान के फलस्वरूप विकसित हुआ है।

एशिया और अफ्रीका के जागरण में समानताएँ तथा अन्तर

समानताएँ

1. दोनों ही महाद्वीप जाग उठे हैं, गुलामी से लगभग मुक्त हैं तथा हर प्रकार के साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद के विरोधी हैं।

2. सदियों तक परतन्त्र रहने के कारण दोनों महाद्वीप आर्थिक पिछड़ेपन और सामाजिक रूढ़िवादिता से ग्रस्त हैं। दोनों में ही अशिक्षा का बोलबाला है तथा राजनीतिक चेतना अपरिपक्व है।

3 महाशक्तियाँ दोनो ही महाद्वीपों के अनेक राज्यों के राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक कमजोरियों का लाभ उठाकर अपने 'आर्थिक उपनिवेशवाद' के लिए प्रयत्नशील हैं। अमेरिका अपने 'डॉलर साम्राज्यवाद' का प्रसार चाहता है तो रूस भी अपने आर्थिक प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार का इच्छुक है लेकिन अमेरिका की तुलना में रूस की नीति कम उग्र है।

4. महाशक्तियों की हस्तक्षेप-नीति ने दोनों ही महाद्वीपों में संघर्ष के अनेक विस्फोटक केन्द्रों की स्थापना कर दी।

5. दोनों महाद्वीपो में अधिकांश राज्यों का नेतृत्व पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त नेताओं के हाथों मे है। ये नेता अपने देशों को पाश्चात्य व्यवस्थाओं के अनुकूल ढालना चाहते हैं। अनेक देशों की जनता गरीबी की चक्की में पिस रही है, लेकिन उन देशों का नेतृत्व वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन नहीं कर पा रहा है।

6. दोनों ही महाद्वीपों के देश राष्ट्रवाद की लहर से ओतप्रोत हैं, पर साथ ही साम्यवाद के प्रसार से भी आशंकित है।

7. अपने आर्थिक और प्राविधिक विकास के लिए दोनों ही महाद्वीप परमुखापेक्षी हैं, अतः सहायता देने वाली शक्तियों को सहायता प्राप्त देशों मे अपना राजनीतिक प्रभाव जमाने के अवसर सुलभ होते रहे हैं।

8. सैनिक क्रान्तियाँ दोनों ही महाद्वीपों में होती रहती हैं, तथापि लोकतंत्रीय परम्पराओ और संस्थाओं का विकास होता जा रहा है।

अन्तर

1. एशिया का राष्ट्रवाद अफ्रीकी राष्ट्रवाद की तुलना में अधिक परिपक्व है।

2. एशिया में भारत, चीन, जापान, बर्मा जैसे विशालकाय और उन्नत देशो का अस्तित्व है जबकि अफ्रीका में छोटे-छोटे राष्ट्रों की भरमार है। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय जगत् पर जितना प्रभाव एशिया का है उतना अफ्रीका का नही।

3. एशिया में अफ्रीकी राष्ट्रों की तुलना मे शिक्षा का अधिक प्रसार है।

4. एशिया मे लोकतन्त्र जितना आगे बढ चुका है, अफ्रीका में अपेक्षाकृत बहुत कम बढ पाया है। जहाँ भारत एशिया में लोकतन्त्र का गढ़ है वहाँ अफ्रीका मे ऐसा कोई देश नहीं है।

5. अफ्रीकी राष्ट्रवाद उग्र है जबकि एशियाई राष्ट्रवाद सामान्यतः शान्तिपूर्ण उपायों मे विश्वास करता है। अपवाद की बात अलग है।

6. एशियायी देशों में यूरोपीय उपनिवेशवादियों ने अस्थाई रूप से बसने की नीति अपनाई थी जबकि अफ्रीका में यूरोपीय जातियाँ स्थाई रूप से बस गईं। अतः एशिया की तुलना में अफ्रीका मे अधिक जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो गईं जो आज भी अपना प्रभाव प्रदर्शित कर रही हैं।

7. रंगभेद और कबीलावाद की समस्याएँ एशिया की अपेक्षा अफ्रीका में निरन्तर अधिक गम्भीर रही हैं।

8. अफ्रीकी नेता, अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर एशियायी नेताओं की तुलना में प्रायः अधिक उग्र रहे हैं। इससे अफ्रो-एशियायी एकता आन्दोलन को बड़ा आघात पहुँचा है।

9. एशिया की तुलना में अफ्रीका में साम्यवाद का प्रभाव उग्र रूप में नहीं हो पाया है। एशिया में चीन दुनिया का सबसे बड़ा साम्यवादी देश है।

10. एशिया की तुलना में अफ्रीका के देश आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से बहुत अधिक पिछड़े हुए हैं।

एशिया और अफ्रीका के जागरण के प्रतीक महत्त्वपूर्ण संगठन और सम्मेलन

द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका महाद्वीप मे चेतना की जो लहर उठी उसके फलस्वरूप इन महाद्वीपो के विभिन्न राष्ट्रों ने पारस्परिक सम्पर्क का महत्त्व समझा। अतः समय-समय पर अफ्रो-एशियायी देशों के सम्मेलन हुए जिन्होंने राष्ट्रीयता का प्रसार किया और उपनिवेशवाद की जड़ें खोखली कर दीं। जागरण के सन्देशवाहक इन महत्त्वपूर्ण सम्मेलनों पर दृष्टिपात करना उचित होगा।[1]

प्रथम एशियायी सम्मेलन, 1947

भारत के प्रधान मन्त्री पं. नेहरू की प्रेरणा से इण्डियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स ने मार्च-अप्रेल, 1947 मे एशियायी देशो के एक गैर-सरकारी सम्मेलन का आयोजन किया। इसमे 28 देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सदस्यो ने एशियायी देशों की राजनीतिक स्वतन्त्रता, उनके आर्थिक विकास, रंगभेद आदि की विभिन्न समस्याओं पर विचार किया। इस बात पर सभी सदस्य राज्य सहमत थे कि एशियायी देश आपस मे मिलकर ही अपनी समस्याओं का समाधान कर सकते है।

एशियायी सम्मेलन, 1949

भारत सरकार के आमन्त्रण पर दिल्ली मे 20 से 30 जून, 1949 तक एशियायी देशों का द्वितीय सम्मेलन हुआ। इसका मूल उद्देश्य इण्डोनेशिया पर डच आक्रमण से उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार करना था। इस सम्मेलन मे डच कार्यवाही की कठोर शब्दो में निन्दा की गई। डच आक्रमण को असफल बनाने के लिए कुछ कार्यक्रम निर्धारित किए गए तथा सुरक्षा परिषद्, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड का सहयोग प्राप्त कर हॉलैण्ड के प्रति कठोर नीति अपनाने का निश्चय किया गया।

1 तटस्थ या गुट-निरपेक्ष देशो के जो सम्मेलन हुए (जैसे काहिरा सम्मेलन 1964, लुसाका सम्मेलन 1970, अल्जीरिया सम्मेलन 1973, आदि) उनका विवरण 'गुट-निरपेक्षता' अध्याय में दिया गया है।

बाण्डुंग सम्मेलन, 1955

इण्डोनेशिया के नगर बाण्डुंग में 18 अप्रैल से 27 अप्रैल, 1954 तक एशिया और अफ्रीका के 29 राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ जिस पर पूर्व पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है। इस सम्मेलन ने अफ्रो-एशियायी राष्ट्रों में एक नया आत्मविश्वास जाग्रत किया। राज्यों के आपसी व्यवहार के दस सिद्धान्त निर्धारित किए गए जो पंचशील का ही विस्तारमात्र थे। सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याओं के प्रति एशिया और अफ्रीका का समान दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

मोशी सम्मेलन, 1963

फरवरी, 1963 में मोशी (टाँगानिका) में अफ्रेशियायी एकता सम्मेलन हुआ। इसमें—(i) ब्रिटेन से अपील की गई कि बासुतोलैण्ड, बेचुआनालैण्ड तथा स्वाजीलैण्ड को तुरन्त बिना शर्त स्वतन्त्रता प्रदान कर दे; (ii) राष्ट्रों से अपील की गई कि उपनिवेशवादी शक्तियों के दमन से पीड़ित लोगों को राजनीतिक शरण दी जाए; (iii) इजरायल की इस बात के लिए निन्दा की गई कि वह एक नया उपनिवेशवादी अड्डा बनता जा रहा है; (iv) यह स्वीकार किया गया कि चीन को फारमोसा को मुक्त करने का अधिकार है; (v) सभी राष्ट्रों से अपील की गई कि पुर्तगाल के विरुद्ध आर्थिक और कूटनीतिक बहिष्कार लागू कराएँ और अंगोला तथा मोजाम्बिक के स्वतन्त्रता आन्दोलनों को सहायता दें; (vi) दक्षिण रोडेशिया के लोगों को उनके मुक्ति-संग्राम में सहयोग देने की अपील की गई; (vii) वियतनाम में अमेरिका से आक्रामक कार्यवाहियाँ बन्द करने की अपील की गई; (viii) ब्रिटेन को सुझाव दिया गया कि वह सन् 1963 के अन्त तक जंजीबार को स्वतन्त्र कर दे; एवं (ix) यह प्रस्ताव पारित किया गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अमेरिकी साम्राज्यवाद का साधन न बने और इसका पुनर्गठन इस तरह किया जाए कि इसमें एशिया और अफ्रीका को समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके।

अदिस अबाबा सम्मेलन, 1963

मई, 1963 में इथियोपिया की राजधानी अदिस अबाबा में 32 राष्ट्रों का अफ्रीकी सम्मेलन हुआ, जिसमें संयुक्त अफ्रीका की स्थापना पर विचार किया गया। अफ्रीकी राष्ट्रों के एक स्थायी सचिवालय की स्थापना और सभी राज्यों के विदेश-मन्त्रियों की एक मन्त्रि-परिषद् की स्थापना पर विचार हुआ। इन निश्चयों के अनुसार कार्य भी हुआ। सचिवालय का नाम 'अफ्रीकी एकता संगठन' रखा गया। अफ्रीकी राज्यों के बीच होने वाले विवादों के समाधान के लिए एक आयोग भी स्थापित किया गया। अफ्रीका के पराधीन देशों को औपनिवेशिक दासता से मुक्त करने और दक्षिण अफ्रीका की अश्वेत जनता को रंगभेद नीति के अत्याचारों से छुटकारा दिलाने के लिए एक मुक्ति-सेना और मुक्ति-कोष की स्थापना पर विचार हुआ। यह निर्णय लिया गया कि दक्षिण अफ्रीका और पुर्तगाल के विरुद्ध राजनीतिक तथा आर्थिक बहिष्कार की नीति अपनाई जाए। सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उसमें अफ्रीकी एकता का एक घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया जिसमें

समूचे अफ्रीका महाद्वीप को दासता से मुक्त कराने की प्रतिज्ञा की गई। इसके लिए 9 अफ्रीकी देशों—टाँगानिका, अल्जीरिया, इथियोपिया, संयुक्त-अरब-गणराज्य, युगाण्डा, कौंगो, गिनी, सेनेगल नेथा, नाइजीरिया को मिलाकर एक स्वाधीनता समिति (Liberation Committee) की स्थापना हुई। इसका प्रधान कार्यालय दारेस्सलाम में रखा गया।

अफ्रेशियायी एकता सम्मेलन, 1972

जनवरी, 1972 में काहिरा में अफ्रेशियायी एकता सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें 69 देशों के प्रतिनिधि-मण्डलों ने भाग लिया। सम्मेलन पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मण्डल के विरोधी रवैये के बावजूद भारत और बंगलादेश के न्यायोचित पक्ष में विसर्जित हुआ। लीबिया के अलावा अन्य मुस्लिम राज्यों ने नवोदित बंगलादेश का समर्थन किया और भारतीय उपमहाखण्ड की वास्तविकता को स्वीकार किया। सम्मेलन में बंगलादेश के प्रतिनिधि-मण्डल को भी आमन्त्रित किया गया जो इस बात का प्रमाण था कि एशिया और अफ्रीका के बहुसंख्यक देशों ने उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार कर लिया था। पश्चिम एशिया, हिन्द-चीन और अफ्रीका के मुक्ति-आन्दोलनों के बारे में भी खुलकर विचार-विमर्श हुआ। अफ्रेशियायी देशों का एक साझा बाजार बनाने की भी पेशकश की गई।

अफ्रीकी एकता संगठन

25 मई, 1962 को 30 अफ्रीकी देशों ने अदिस अबाबा सम्मेलन में 'अफ्रीकी एकता संगठन' की स्थापना के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए। वही इस संगठन का मुख्यालय है। संगठन का प्रधान उद्देश्य है—अफ्रीकी देशों के बीच एकता और सहयोग की वृद्धि, उपनिवेशवाद की समाप्ति तथा सदस्य देशों की स्वाधीनता की रक्षा के लिए काम करना। समय-समय पर सदस्य देशों के विदेश-मन्त्रियों के अधिवेशन होते हैं। शिखर अधिवेशन भी होते हैं। इनके माध्यम से संगठन के महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए जाते हैं और अफ्रीकी देशों के बीच उत्पन्न मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

पान-अफ्रीकावाद

अखिल अफ्रीकी भ्रातृत्व आन्दोलन अथवा पान-अफ्रीकावाद (Pan-Africanism) इस महाद्वीप के एकीकरण का एक बहुत प्राचीन आन्दोलन है। इस आन्दोलन का ध्येय 'संयुक्त राज्य अफ्रीका' की स्थापना है। सबसे पहले सन् 1900 में लन्दन में पान-अफ्रीकी सम्मेलन हुआ और तब से समय-समय पर ये सम्मेलन होते रहे हैं जिनमें अफ्रीका को औपनिवेशिक दासता से मुक्त कराने सम्बन्धी निर्णय लिए गए हैं। घाना के स्वतन्त्र होने पर अफ्रीका में जब यह सम्मेलन हुआ (इसके पहले यह आन्दोलन अफ्रीका के बाहर ही था) तो इसके मुख्य उद्देश्यों का स्पष्टीकरण किया गया। ये उद्देश्य, संकेत रूप में, इस प्रकार हैं—

1. अफ्रीका के सभी देशों में एक संघ का निर्माण किया जाए। क्षेत्रीय

आधार पर भी संघ बनाए जा सकते हैं, जैसे—उत्तर अफ्रीका संघ, पश्चिम अफ्रीका संघ, केन्द्रीय अफ्रीका संघ, दक्षिण अफ्रीका संघ आदि।

2. उपनिवेशवाद, जातिवाद और रंगभेदवाद का विरोध किया जाए।

3. अहिंसात्मक साधनों और तटस्थ नीति को प्रोत्साहन दिया जाए।

पहले पान-अफ्रीकी सम्मेलनों में अफ्रीकी देशों की स्वतन्त्रता पर अधिक बल दिया जाता था, पर अब अफ्रीका महाद्वीप लगभग स्वतन्त्र हो चुका है, अतः सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य 'अफ्रीकी व्यक्तित्व' की कल्पना को साकार करना है। किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति सुगम नहीं है क्योंकि अफ्रीका के देश आपसी फूट के शिकार हैं। इस महाद्वीप में विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों, परम्पराओं और धार्मिक विचारों का पोषण होता है। अफ्रीका के देशों में राजनीतिक अस्थिरता बनी रहती है, शिक्षा की दृष्टि से अफ्रीका के अधिकांश देश काफी पिछड़े हुए हैं, एवं अधिकांश अफ्रीकी राज्यों के नेता उग्र तथा अस्थिर प्रकृति के हैं।

अरब लीग

अरब लीग अरबों की राष्ट्रीय जाग्रति की प्रतीक है। इसकी स्थापना सन् 1945 में मिस्र, जोर्डन, लेबनान, सीरिया, सऊदी अरब, ईराक और यमन के बीच एक समझौते के फलस्वरूप हुई। बाद में लीबिया, सूडान, मोरक्को आदि अनेक अरब देश इसमें सम्मिलित हो गए। लीग का मुख्य उद्देश्य अरब-देशों में एकता और सहयोग का प्रसार करना है, लेकिन अरबों की आपसी फूट के कारण अभी तक इस दिशा में उत्साहजनक प्रगति नहीं हो सकी है।

विश्व-राजनीति में तेल-उत्पादक अरब-देशों का महत्त्व बढ़ने के साथ-साथ उसके एकमात्र राजनीतिक संगठन के रूप में अरब लीग का महत्त्व भी काफी बढ़ गया है। अक्तूबर, 1974 में अरब लीग के तत्त्वावधान में अन्य देशों के राष्ट्राध्यक्षों की रबात में बैठक हुई जिसमें फिलिस्तीन राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को फिलिस्तीनियों के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में मान्यता दी गई।

कंपाला सम्मेलन, जुलाई-अगस्त, 1975

अफ्रीकी एकता संगठन का 12वाँ सम्मेलन 28 जुलाई से 1 अगस्त, 1975 तक युगाण्डा की राजधानी कंपाला में हुआ। जैसे पहले से ही संकेत मिल गया था, यह सम्मेलन अफ्रीकी एकता के बीच विद्यमान दरारों को व्यक्त करने वाला सिद्ध हुआ। संगठन के सदस्य-देशों की संख्या 45 है जबकि उसमें युगाण्डा सहित 20 देशों ने भाग लिया। अफ्रीकी एकता के दृढ़ स्तम्भ तंजानिया के राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे, जाम्बिया के केनेथ काउंडा, नवस्वाधीन मोजाम्बिक के राष्ट्रपति समोरा माकेल और बोत्स्वाना के प्रधान मन्त्री सर सेरेत्से खामा जैसे महत्त्वपूर्ण नेता सम्मेलन में शामिल नहीं हुए। सम्मेलन का बहिष्कार करने के पीछे तंजानिया का प्रबल तर्क यह था कि चूँकि सम्मेलन युगाण्डा में हो रहा है, अतः उसमें भाग लेने का अर्थ होगा कि सन् 1971 में सत्ता हथियाने के बाद राष्ट्रपति ईदी अमीन ने हजारों अफ्रीकियों की जो हत्या की, संगठन के सदस्य उसका समर्थन करते हैं। इस

आरोप में वजन था और सम्भवतः इसीलिये संगठन के अधिसख्यक सदस्य सम्मेलन में उपस्थित नही हुए।[1]

काफी विवाद के बाद युगाण्डा के राष्ट्रपति ईदी अमीन सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए। इस प्रकार उनकी महत्त्वाकांक्षा तो पूरी हो गई, लेकिन अफ्रीकी एकता संगठन को इससे भारी ठेस पहुँची। इजरायल के विरोध के सम्बन्ध में भी संगठन मे एकता नहीं हो पाई। मिस्र ने प्रस्ताव किया कि जब तक इजरायल अरब भूमि खाली नहीं करता तब तक के लिए उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से 'वंचित' कर दिया जाना चाहिए। फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे ने अपने प्रस्ताव में माँग की कि इजरायल को संयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता से तुरन्त अलग कर दिया जाए। सम्मेलन ने दोनों ही प्रस्तावो पर विचार किया और सदस्य-देशो में काफी मतभेद उभर कर सामने आए। अन्त मे मिस्र के प्रस्ताव को प्राथमिकता देते हुए इस आशय का प्रस्ताव पारित किया गया कि इजरायल पर दबाव बढ़ाना चाहिए और यदि वह अरब भूमि खाली न करे तो अन्ततः उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित किया जा सकता है। फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे को बड़ा क्षोभ हुआ और उसके नेताओं ने सम्मेलन समाप्त होने के बाद मिस्र पर आरोप लगाया कि इजरायल की संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता का मिस्र ने 'असम्मानजनक बचाव' किया है और 'मुट्ठी भर सिनाय' के बदले इजरायल का पक्ष लिया है।

सम्मेलन में दक्षिणी अफ्रीका और रोडेशिया के प्रश्न पर भी विचार किया गया और कहा गया कि जब तक वहाँ बहुमत का शासन स्थापित न हो जाए तब तक अफ्रीकी एकता संगठन को वहाँ के राष्ट्रवादियों के स्वाधीनता संघर्ष का समर्थन करते रहना चाहिए। अंगोला के गृहयुद्ध पर भी सम्मेलन में विचार किया गया और उसमे उलझे हुए विभिन्न पक्षो से तुरन्त युद्ध-विराम करने के लिए कहा गया।

इस बार सम्मेलन मे विघ्न पड़ा। सम्मेलन के दूसरे दिन ही नाइजीरिया मे रक्तहीन सैनिक क्रान्ति हो गई जिसके फलस्वरूप राष्ट्रपति गोवोन को सत्ताच्युत होना पड़ा। इससे न केवल राष्ट्रपति गोवोन ने सम्मेलन में आगे भाग लेना बन्द किया बल्कि 5 अन्य देशों के राष्ट्राध्यक्ष भी अगले दिन (30 जुलाई) अपने-अपने देशों को लौट गए। ये थे राष्ट्रपति अहमद अहिदजो (कैमरून), अनवर सादात (मिस्र), सेयनी कूचे (नाइगर), उमर बोंगो (गैबोन) और मारियेन न्गोआनी (कांगो)।

सम्मेलन में संगठन सम्बन्धी कई प्रश्नो पर कोई निर्णय नहीं हो सका। अफ्रीका के विभिन्न भागों में चालू मुक्ति संघर्षों के संचालन के लिए उप-क्षेत्रीय कार्यालय स्थापित करने के बारे मे सम्मेलन में विचार किया गया, लेकिन मतैक्य न होने वाले सम्मेलन अपनी मुक्ति-समिति को आगामी फरवरी में अदिस-अबाबा मे होने वाले सम्मेलन में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का निर्देश देकर समाप्त हो गया।[2]

1 दिनमान, 12 अगस्त, 1974, पृ. 32.
2 द हिन्दुस्तान टाइम्स, 3 अगस्त, 1975, पृ. 1.

अदिस-अबाबा का विशेष सम्मेलन (जनवरी, 1976) और अंगोला का गृहयुद्ध

11 नवम्बर, 1975 को पुर्तगाली साम्राज्यवाद से मुक्ति पाते ही अंगोला में पहले से ही प्रारम्भ गृहयुद्ध में तीव्रता आ गई और कुछ ही घण्टों में तीनों प्रमुख दलों—'अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन' (एम. पी. एल. ए.), अंगोला राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (एफ एन. एल. ए) और अंगोला पूर्ण स्वाधीनता संघ (यूनीटा) ने अंगोला के विभिन्न भागों में अपनी स्वतन्त्र सरकारों की घोषणा कर दी।[1] अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन ने सम्पूर्ण अंगोला पर अपनी प्रभुसत्ता घोषित करते हुए अपने अध्यक्ष अगस्टीनो नेतो को देश का राष्ट्रपति घोषित कर दिया। देश के आन्तरिक क्षेत्रों में नोवो लिसबुआ में दूसरे राजनीतिक दल अंगोला पूर्ण स्वाधीनता संघ (यूनीटा) ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और शहर का नाम कुआंबो रख दिया। इसके जवाब में तीसरे राजनीतिक दल 'अंगोला राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे' (एफ. एन. एल. ए.) ने अंगोला के 'लोकप्रिय प्रजातान्त्रिक गणराज्य' की घोषणा कर दी।

इन तीनों राजनीतिक दलों ने अपनी-अपनी सरकारों की घोषणा करने के बाद एक-दूसरे पर आक्रमण-प्रत्याक्रमण शुरू कर दिए। लेकिन अनेक अफ्रीकी देशों, पूर्वी यूरोपीय देशों और सोवियत संघ से मान्यता प्राप्त होने तथा सैनिक और अन्य सहायता मिलने के कारण अंगोला की राजधानी लुआंडा स्थित अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन की सरकार का पलड़ा अन्य दोनों दलों की सरकारों से भारी हो गया। राजधानी में अगस्टीनो नेतो की सरकार को उन सभी अफ्रीकी देशों ने मान्यता दे दी जो कभी पुर्तगाली शासन में थे।

अंगोला के गृहयुद्ध में महाशक्तियों का हस्तक्षेप चिन्ताजनक बात थी। अमेरिका ने अंगोला पर दूसरी सरकार का आधिपत्य स्थापित होने का हौवा खड़ा कर अंगोला राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सरकार का सैनिक सहायता देना शुरू कर दिया और रूस-विरोधी होने के कारण चीन ने भी राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सरकार का समर्थन करते हुए उसे सैनिक सहायता प्रदान की। इस तरह स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही अंगोला महाशक्तियों की स्वार्थ-नीति और गृहयुद्ध का शिकार हो गया।

गृहयुद्ध को रोकने और अंगोला में पुनः एकता स्थापित करने के लिए अफ्रीकी एकता संगठन द्वारा 10 जनवरी, 1976 को इथियोपिया की राजधानी अदिस अबाबा में एक विशेष शिखर सम्मेलन का आयोजन हुआ, लेकिन उसमें अन्तिम रूप से समस्या का ऐसा कोई समाधान नहीं ढूंढा जा सका जो सभी पक्षों को मान्य होता। 46 अफ्रीकी राष्ट्रों के इस संगठन की बैठक में अनेक राज्याध्यक्षों तथा प्रधान मन्त्रियों ने भाग लिया। इसके अलावा अंगोला के तीनो मुक्ति संगठनों के प्रतिनिधि भी बैठक मे मौजूद थे। वैसे तो इस अभूतपूर्व बैठक का प्रमुख उद्देश्य गृहयुद्ध और विदेशी हस्तक्षेप से ग्रस्त अंगोला में शान्ति स्थापित करने के उपाय ढूंढना था, किन्तु इसके

1 दिनमान, 23 नवम्बर, 1975, पृष्ठ 31.

साथ एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह भी थी कि अफ्रीकी एकता संगठन अंगोला में विभिन्न मुक्ति आन्दोलनों द्वारा स्थापित सरकारों में से किस सरकार को मान्यता दे। 46 में से 22 देश अगस्टीनो नेतो की सरकार (लुआंडा स्थित अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन की सरकार) को मान्यता दे चुके थे और चाहते थे कि अगस्टीनो के नेतृत्व में चल रहे एकता और शान्ति-अभियान को हर सम्भव सहायता दी जाए। इसके विपरीत अन्य 22 राज्याध्यक्षों का मत था कि तुरन्त युद्ध-विराम के माध्यम से तीनों दलों को सभी प्रकार के विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त एक राष्ट्रीय एकता सरकार स्थापित हो जाए। शेष दो देशों इथियोपिया और युगांडा ने अधिकृत रूप से अपनी कोई राय जाहिर नहीं की।[1] राज्याध्यक्षों में विद्यमान बुनियादी मतभेदों के कारण किसी तरह का निर्णय लिया जाना सम्भव नहीं हो सका, क्योंकि निर्णय होने की हालत में अफ्रीकी एकता संगठन के विघटन का खतरा था। अतः सम्मेलन में इस समस्या पर छः महीने बाद पुनः विचार करने का निश्चय किया गया। प्रतिनिधियों का विचार था कि तब तक स्थिति काफी स्पष्ट हो जाएगी और तब उस पर निर्णय लेना आसान होगा।

अधिकांश अफ्रीकी और अन्य देशों से मान्यता प्राप्त तथा सोवियत समर्थन और सहायता से लैस अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन की सरकार की स्थिति निरन्तर सुदृढ़ होती गई और अंगोला राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सरकार जिसे अमेरिका और चीन का समर्थन प्राप्त था, पराजय के कगार पर पहुँच गई। फरवरी, 1976 में युगाण्डा में जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ उसका उद्‌घाटन राष्ट्रपति अगस्टीनो नेतो ने किया। उन्होंने घोषणा की कि हमारा संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक अंगोला पूर्णतया स्वतन्त्र और एक नहीं हो जाता।

एशियन शिखर सम्मेलन (फरवरी, 1976)

इण्डोनेशिया के बाली द्वीप में (23-24 फरवरी) 1976 को दक्षिण पूर्वेशियायी राष्ट्रों के संघ (एशियान) का पहला शिखर सम्मेलन हुआ। यह शिखर सम्मेलन आठ वर्ष में पहली बार हुआ था। इसका उद्‌घाटन इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुहार्त ने किया। पाँच देशों—इण्डोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर, थाईलैण्ड और फिलिपीन में यद्यपि कई तरह के विवाद विद्यमान थे और उन्हें सम्मेलन में भी उठाया गया, लेकिन बातचीत मैत्री और सहयोगपूर्ण वातावरण में हुई। कई प्रकार के अभाव अभियोग लगाए गए, लेकिन अन्ततः पाँचों देशों में इस बात पर सहमति हो गई कि 'भूली ताहि बिसार है आगे की सुधि ले' के आधार पर भावी सम्बन्धों को सुदृढ बनाना चाहिए।[2] उल्लेखनीय है कि एशियान का गठन नौ साल पहले हुआ था। इन नौ साल में इन देशों के सम्मेलन तो होते रहे लेकिन सहमति का अवसर शायद ही कभी आया हो।

1 दिनमान, 18-24 जनवरी, 1976, पृष्ठ 32.
2 दिनमान, 14-20 मार्च, 1976, पृष्ठ 38.

अक्सर यह सुनने में आता था कि पांच देशों का यह 'एशियान' यूरोप के नौ देशों के यूरोपीय आर्थिक समुदाय, जिसे साझा बाजार ही कहते हैं, के अनुरूप समान मण्डी के गठन के लिए प्रयास करेगा। सम्मेलन में इस मुद्दे पर बहस जरूर हुई लेकिन अपने भाषण में राष्ट्रपति सुहार्तो ने इस बात पर जोर दिया कि हमें राष्ट्रीय और क्षेत्रीय एकता को मजबूत करना चाहिए। साथ ही उन्होंने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि हमारा उद्देश्य सैनिक गुट की स्थापना नहीं है (इशारा शायद नाटो और वारसा की ओर था) किन्तु हम लोग यह जरूर चाहते हैं कि हमारी क्षेत्रीय अखण्डता कायम रहे ताकि हम लोग किसी भी तरह के आर्थिक खतरे का सामना शान्तिपूर्वक और दृढ़ता के साथ कर सकें। वियतनाम युद्ध समाप्त होने के बाद जिस तरह नए राजनीतिक समीकरण दक्षिण पूर्वी एशिया मे बने थे उनके प्रति भी सचेत रहने पर जोर दिया गया।[1]

इस सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि एक संयुक्त सन्धि थी जिसका उद्देश्य परस्पर सहयोग और मैत्री को बढ़ावा देना था। आर्थिक क्षेत्रों में दो कार्यक्रम स्वीकार किए गए—पेट्रो रसायन, इस्पात, रबड़, पोटाश और टिन प्लेट मे बड़े पैमाने पर संयुक्त औद्योगिक संयन्त्रों की स्थापना और व्यापार में एशियान देशों को प्राथमिकता देना। हालांकि साझा बाजारनुमा मण्डी के गठन की बात अवश्य उठी, लेकिन नेताओ ने महसूस किया कि वह रूप धीरे-धीरे देना चाहिए।[2]

मैत्री और सहयोग के जिस समझौते पर एशियान के पांच नेताओं ने हस्ताक्षर किए उसमें बीस अनुच्छेद हैं। पहले अनुच्छेद मे कहा गया है कि हमे निरन्तर शान्ति, सहयोग और मैत्री का वातावरण उत्पन्न करना चाहिए ताकि हमारे देश के लोगों में अखण्डता, एकता और परस्पर प्रेम की भावना बलवती होती रहे। हम लोगों को एक दूसरे की स्वाधीनता, प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान करना चाहिए। हर देश को अपनी आन्तरिक स्थिति और आन्तरिक समस्याओं से निपटने का अधिकार है और दूसरे देशों को उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नही करना चाहिए अपितु किसी भी बाह्य जोर जबर्दस्ती की घटना की निन्दा करनी चाहिए और आपस मे प्रभावकारी सहयोग कायम रखना चाहिए।[3]

एशियान सम्मेलन : अगस्त, 1977[4]

अगस्त, 1977 में क्वालालम्पुर में एशियान देशों का शिखर सम्मेलन हिन्द-चीन देशो के साथ और अधिक सद्भाव तथा सहयोग बढ़ाने की अपील के साथ समाप्त हुआ। सम्मेलन में दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों की हालांकि कटु आलोचना की गई, तथापि अन्ततः एशियान शिखर सम्मेलन मे भाग लेने वाले देशो के प्रतिनिधि इस बात पर सहमत थे कि दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के साथ अधिकाधिक सहयोग समूचे एशियाई क्षेत्रो के हित में है। इण्डोनेशिया और फिलिपीन के राष्ट्रपतियों तथा

1-3 वही, पृष्ठ 38.
4 दिनमान, 14-20 अगस्त, 1977.

मलेशिया, सिंगापुर और थाईदेश के प्रधान मन्त्रियों के हस्ताक्षर से दो दिन के सम्मेलन की समाप्ति के बाद संयुक्त विज्ञप्ति प्रसारित की गई जिसमें कहा गया कि पारस्परिक हितों की रक्षा तथा शान्ति के लिए एशियान क्षेत्र के देशों के बीच सहयोग बहुत आवश्यक है।

सम्मेलन में भाग लेने वाले पाँच देशों ने अपना संकल्प दोहराया कि हम समूचे दक्षिण-पूर्व एशिया को शान्ति, स्वतन्त्रता और स्थिरता का एक क्षेत्र बनाएँगे। एशियान देशों ने सन् 1971 मे यह प्रतिज्ञा की थी। एशियान को बडे राष्ट्रों में केवल अमेरिका का ही समर्थन प्राप्त है। सोवियत संघ का विचार है कि एशियान गुट अमेरिका के सहयोग से एक सैनिक गुट बन जाएगा। शिखर सम्मेलन शुरू होने से पहले सोवियत संघ के एक प्रमुख समाचार ने एशियान सम्मेलन के आयोजन की कड़ी आलोचना की थी। उधर चीन के समाचार-पत्रों में इस सम्मेलन के समाचार तो छपे लेकिन चीनी समाचार-पत्रों न सम्मेलन पर कोई टिप्पणी नहीं की।

एशियान के पाँच देशों के बीच आर्थिक सहयोग बढ़ाने के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। इस प्रश्न पर थाईदेश और फिलिपीन के समर्थन से सिंगापुर ने सुझाव रखा था कि व्यापार में रियायतें देने की एक योजना के सम्बन्ध मे पाँचों देशों का एक आर्थिक क्षेत्र बनाया जाए। यह सुझाव स्वीकार नही किया गया। इस सम्बन्ध में संयुक्त विज्ञप्ति मे केवल इतना ही उल्लेख किया गया कि योजना पर अगले वर्ष जनवरी तक कोई निर्णय नही लिया जाएगा। स्पष्ट है आर्थिक सहयोग के बारे में सम्मेलन किसी निर्णय पर नही पहुँच सका।

संयुक्त विज्ञप्ति मे संकेत दिया गया कि एशियान के नेता आॅस्ट्रेलिया, जापान और न्यूजीलैंड के प्रधान मन्त्रियों से निकट भविष्य में जब भेंट करेंगे तो इसी बात पर जोर देंगे कि एशियान के देशो के तैयार और अर्द्ध-तैयार माल की खपत आॅस्ट्रेलिया, जापान और न्यूजीलैंड में अधिकाधिक होनी चाहिए। यह अनुरोध भी किया जाएगा कि एशियान देशों की निर्यात आय को स्थिर बनाने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिए। यही माँग एशियान देश अन्य विकसित देशो से करने वाले हैं। इस सम्बन्ध में यूरोपीय आर्थिक समुदाय से भी सन् 1977 के शुरू में परामर्श हुआ था।

आर्थिक स्थिति के संदर्भ मेंसम्मेलनमें इस बातपर गहरी चिन्ता व्यक्त की गई कि विकासशील देशों में संरक्षण प्राप्त करने की भावना बढ़ रही है, जो इन देशों के लोगों के लिए हितकर नही है। विकासशील देशों से अनुरोध किया गया कि वे संरक्षण प्राप्त करने की भावना का जल्दी से जल्दी त्याग करें और आत्मनिर्भरता के अपने प्रयत्न जारी रखें।

शिखर सम्मेलन से पहले क्वालालम्पुर में ही एशियान के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ जिसद में क्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिमी एशिया के देशों से स्वतन्त्रता और तटस्थता का क्षेत्र बनाने का अनुरोध किया गया। मिलजुल कर काम करने के अपने दृढ़ निश्चय को दोहराते हुए पाँच देशो के विदेश मन्त्रियों ने आशा

है। वियतनाम से हटने के बाद अमेरिका की एशियान देशों में रुचि बढ़ना स्वाभाविक है। राष्ट्रपति कार्टर दक्षिण कोरिया से अपनी सेनाएँ हटाकर एशियान देशों के प्रति अपने रवैये का प्रमाण पहले ही दे चुके हैं। एशियान देशों में जापान की दिलचस्पी भी काफी बढ़ी है, पर यह स्पष्ट है कि एशियान देश अपने यहाँ किसी भी बड़े देश की सैनिक उपस्थिति नहीं चाहते। सम्मेलन से कुछ दिनों पूर्व ही फिलिपीन के राष्ट्रपति मारकोस ने कहा था कि जापान को एशियान देशों के साथ सहयोग के बारे में युद्ध से पहले जैसी स्थिति की बात नहीं सोचनी चाहिए। चाहे जो भी हो एशियान देशों के इस शिखर सम्मेलन से हिन्द-चीन के क्षेत्र में सहयोग और सद्भाव का एक नया युग शुरू हो सकता है। इण्डोनेशिया के विदेश मन्त्री श्री आदम मलिक ने कहा था कि एशियान सीटो की तरह का कोई सैनिक संगठन नहीं है, यह तो इस क्षेत्र के देशों में एकता और सहयोग वृद्धि का एक माध्यम है। थाईदेश चाहता है कि एशियान देश इस क्षेत्र में कम्युनिज्म का विरोध करने के लिए एकजुट हो जाएँ, लेकिन सम्भवत: अन्य देश इस विचार को अधिक पसन्द नहीं करते।

अफ्रीकी एकता संगठन का 15वां अधिवेशन, जुलाई 1978

जुलाई, 1978 में खारतूम में अफ्रीकी एकता संगठन का 15वां अधिवेशन हुआ जिसमें यह स्पष्ट हो गया कि सदस्य राष्ट्रों में किसी भी समस्या पर मतैक्य नहीं था। तथापि इस बारे में सभी सदस्य राष्ट्र सहमत प्रतीत हुए कि अफ्रीका में विदेशी हस्तक्षेप को हतोत्साहित किया जाना चाहिए, अन्यथा अफ्रीका बड़ी शक्तियों का युद्ध क्षेत्र बन जाएगा। इस सहमति के बावजूद यह विचित्र बात थी कि अधिवेशन में सदस्य देशों को यह छूट दे दी गई कि वे अपनी इच्छानुसार विदेशों से सैनिक तथा अन्य प्रकार की सहायता प्राप्त कर सकते हैं। अधिवेशन का यह निर्णय अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी हस्तक्षेप के मार्ग को प्रशस्त करने वाला ही कहा जाएगा।

सम्मेलन में मतभेद खुल कर सामने आए। अफ्रीकी देशों में विदेशी सैनिकों की उपस्थिति का प्रश्न रहा हो अथवा रोडेशिया की मुक्ति का या कोमोरो द्वीप-समूह की सगठन की सदस्यता का, सभी प्रश्नों पर संगठन को अलग-अलग धड़ों में बँटा पाया गया। सगठन के सदस्य साम्यवाद समर्थक देशों को यदि जेयरे में फ्रांसीसी सेना की उपस्थिति पर आपत्ति हुई तो जेयरे ने अंगोला आदि में क्यूबाई और रूसी सैनिकों की उपस्थिति पर अपनी-अपनी आपत्ति दर्ज कराई। कुछ सदस्य देशों ने रोडेशिया में स्मिथ-सिथोले मुजोरेवा की सक्रान्तिकालीन सरकार का समर्थन किया तो दूसरों ने एन्कोमा मुगाबे के राष्ट्रवादी मोर्चे का साथ दिया। ऐसे ही मतभेद के कारण कोमोरो के प्रतिनिधि मण्डल को बैरंग स्वदेश लौटना पड़ा क्योंकि बहुमत ऐसी सरकार को प्रतिनिधित्व देने के विरुद्ध था जिसकी स्थापना में भाड़े के गोरे सैनिकों का हाथ रहा हो।

इन सब आपसी मतभेदों का परिणाम यह हुआ कि अधिवेशन बिना किसी ठोस उपलब्धि के समाप्त हो गया। यह अवश्य है कि गुट-निरपेक्षता के बारे में सभी सदस्यों ने सहमति प्रकट की और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को सुदृढ़ करने पर जोर

दिया। सभी का यह मत था कि इससे अफ्रीका की स्वाधीनता, स्थिरता और सम्पन्नता को बनाए रखने के अफ्रीकी एकता संगठन के प्रयासों को सीधा समर्थन मिलेगा। अफ्रीका में विदेशी हस्तक्षेप का विरोध किया गया। यह माना गया कि यदि यह हस्तक्षेप बना रहा तो अफ्रीका बड़ी शक्तियों का युद्धक्षेत्र बन जाएगा।

दक्षिण अफ्रीका की मुक्ति और रंगभेद की नीति के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय दिल्ली सम्मेलन (अक्तूबर, 1978)

दक्षिण अफ्रीका की मुक्ति और रंगभेद नीति के विरुद्ध नई दिल्ली में आयोजित सम्मेलन (28 सितम्बर से 2 अक्तूबर, 1978) एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन रहा। अपने किस्म के इस विषय पर इतने बड़े पहले सम्मेलन में 80 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में जिस तरह की एकता और नई शक्ल में बढ़ते हुए साम्राज्यवाद से उत्पन्न खतरे के प्रति आवाज बुलन्द की गई, उससे निस्सन्देह आन्दोलनों के समर्थकों को बल मिला। एक से अधिक बार जब यह कहा गया कि अब अधिक समय तक काले गोरों के अधीन नहीं रहेंगे, उनका दमनचक्र अधिक दिनों तक नहीं चल पाएगा तो इस तरह की भावनाओं का सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने समर्थन किया। वक्ताओं ने चीन और वियतनाम तथा चीन और सोवियत संघ के सम्बन्धों पर विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए चीन की विस्तारवादी नीतियों की आलोचना की। चीन के इस अलगाव में यदि किसी देश का उसे समर्थन मिला तो वह था रोमानिया। इस सम्मेलन में हर वक्ता ने बढ़ते हुए साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के खतरे के प्रति आगाह करते हुए कहा कि बहुराष्ट्रीय निगमों का फैलाव नई तरह के साम्राज्यवाद का प्रतीक है।

सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए भारत के राष्ट्रपति श्री संजीव रेड्डी ने कहा कि शांति, स्वतन्त्रता और मानवीय गरिमा के प्रति सम्मान की भावना को विकसित करना आज सारी मानवता के लिए आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे की बहुत जरूरत है जो तभी सम्भव है जब अस्त्रों की दौड़ को समाप्त किया जाए। राष्ट्रपति ने रंगभेद और नस्लवाद की भावना को मानवता के विरुद्ध अपराध तथा सार्वभौमिक शान्ति के लिए खतरा बताया। प्रमुख नेताओं ने यह मत व्यक्त किया कि आज हर व्यक्ति साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद के खिलाफ सोचने लगा है। नामीबिया के बारे में आत्म-निर्णय की माँग की गई।

सम्मेलन में विभिन्न प्रस्ताव पारित किए गए। कुछ प्रस्ताव इस प्रकार हैं—संयुक्तराष्ट्र को भेजे एक संदेश में कहा गया है कि जिस प्रकार साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रभाव बढ़ रहा है उससे एक नया प्रकार का शीतयुद्ध जिसे 'नवशीतयुद्ध' का नाम दिया गया है, विश्वव्यापी हो रहा है। झूँठ और बेबुनियादी धारणाओं पर आधारित प्रचार साधन जोर पकड़ते जा रहे हैं। ये साम्राज्यवादी देश बड़े पैमाने पर अस्त्रों का निर्माण कर रहे हैं जो मानव जाति के लिए खतरा साबित हो सकते हैं। नाटो देश इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। इस समय परमाणु प्रदाय और सैनिकीकरण का जो भूत दक्षिण अफ्रीका की अल्पमत सरकार पर चढ़ा

हुआ है उससे अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय मूल्यो का हनन होगा। यदि अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, इजरायल, ईरान और जापान इन अल्पमत सरकारो, दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया का समर्थन न करें तो ये कभी भी चरमरा सकती हैं। एक अन्य प्रस्ताव में अगोला, बोत्स्वाना, मोजाम्बिक, तांजानिया और जाम्बिया के प्रति जिम्बाबे और नामीबिया के मुक्ति आन्दोलन का समर्थन करने के लिए आभार व्यक्त किया गया।

अन्य सम्मेलन

अफ्रेशियाई जागरण और एकता को सुदृढ करने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण सम्मेलन थे—बेलग्रेड सम्मेलन (1961), काहिरा सम्मेलन (1964), नई दिल्ली सम्मेलन (1966), लुसाका सम्मेलन (1970), जार्ज टाउन सम्मेलन (1972), अल्जीरिया सम्मेलन (1973), अल्जीरिया सम्मेलन (1974), हवाना सम्मेलन (1975), कोलम्बो सम्मेलन (1976)। ये सभी सम्मेलन गुट-निरपेक्षता के समर्थक थे और इनका विस्तृत विवेचन गुट-निरपेक्षता सम्बन्धी अध्याय मे किया जा चुका है।

अफ्रेशियाई एकता को हानि पहुंचाने वाले कुछ सम्मेलन

एशिया और अफ्रीका के कुछ ऐसे सम्मेलन भी हुए हैं जिनमें अफ्रेशियाई एकता को लाभ पहुँचाने की अपेक्षा हानि अधिक हुई है और आपसी फूट को प्रोत्साहन मिला है। इन सम्मेलनों पर भी एक दृष्टि डालना उपयुक्त होगा।

जद्दा सम्मेलन, 1972

मार्च, 1972 मे 31 एशियायी इस्लामी विदेश मन्त्रियों का यह पाँच दिवसीय सम्मेलन सऊदी अरब की राजधानी जद्दा में हुआ। पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध विष-वमन किया लेकिन उसे निराश होना पडा। पाकिस्तान ने माँग की कि सम्मेलन की विज्ञप्ति मे बगलादेश का उल्लेख न कर 'एक पाकिस्तान' की बात कही जाए, लेकिन सऊदी अरब के शाह फैजल (जिनकी मार्च, 1975 में हत्या कर दी गई) ने स्पष्ट कह दिया कि बगलादेश एक 'वास्तविकता' है और इसके सन्दर्भ मे ही बात की जानी चाहिए। सम्मेलन मे बगलादेश को मान्यता देने की बात भी उठी, किन्तु लीबिया, जोर्डन, इण्डोनेशिया और मलेशिया इसके पक्ष में नही थे। वास्तव में यह एक खेदजनक बात थी कि इस्लामी सम्मेलन मे बंगलादेश के मुसलमान के हितों की उपेक्षा की गई। इस्लामी देशो ने बगलादेश के अपने ही जाति-भाइयो को 'काफिर' समझा और पाकिस्तान के अत्याचारो पर कोई टिप्पणी नही की। भारत रूसी मैत्री पर भी पाकिस्तानी प्रतिनिधि तथा कुछ अन्य देशो के प्रतिनिधियो ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया।

इस्लामी सम्मेलन का एक उद्देश्य एक नए गुट का निर्माण भी था ताकि समय-समय पर गुट के सदस्य मिलकर आपसी हितों पर विचार कर सकें। सम्मेलन में इस बात को मुस्लिम हितों के विरुद्ध समझा गया कि मुस्लिम जगत् में यहूदियों और साम्यवादियो का प्रवेश हो। सम्मेलन में यमन और ईराक शामिल नही हुए।

कुल मिलाकर यह सम्मेलन एशियाई एकता में दरारें डालने वाला सिद्ध हुआ। स्वयं मुस्लिम देशों के हितों को भी सम्मेलन की कार्यवाही से हानि अधिक पहुँची, लाभ कम हुआ।

इस्लामी शिखर सम्मेलन, 1974

पाकिस्तान में एक इस्लामी शिखर सम्मेलन 22 फरवरी से 27 फरवरी, 1974 तक लाहौर में हुआ। पाकिस्तान के प्रधान मंत्री श्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने अध्यक्षता की। सम्मेलन में 36 मुस्लिम देशो के प्रतिनिधि-मण्डल सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन को यद्यपि 'अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी राज्य सम्मेलन' की संज्ञा दी गई तथापि न तो इसका स्वरूप ही अन्तर्राष्ट्रीय था और न इनमें शामिल होने वाले सभी राज्य इस्लामी थे। टर्की, इण्डोनेशिया आदि देशों को भी इसमें आमन्त्रित किया गया था जिन्होंने स्वयं को विधिवत् इस्लामी राज्य घोषित नही किया है। यदि सम्मेलन का उद्देश्य धार्मिक था तो भारत सहित उन देशों को आमन्त्रित क्यों नहीं किया गया जहाँ बड़ी संख्या में मुसलमान रहते हैं? अफ्रीका महाद्वीप में अनेक राज्यों में मुसलमान बड़ी संख्या मे रहते हैं, किन्तु लाहौर के इस सम्मेलन मे केवल 13 अफ्रीकी देश ही शामिल हुए। इस प्रकार यह सम्मेलन अफ्रीका महाद्वीप के भी सभी मुसलमानो का प्रतिनिधित्व नही करता था।

वास्तव मे लाहौर के इस्लामी सम्मेलन का स्वरूप राजनीतिक ही अधिक था। पाकिस्तान नही चाहता था कि सम्मेलन में भारत के सात करोड मुसलमानों का प्रतिनिधित्व हो। उसे भय था कि ऐसा होने पर इस्लामी राज्यों का मुखिया बनने का उसका स्वप्न पूरा नहीं हो पाएगा। पाकिस्तान का दृष्टिकोण ऐसा था मानो मुस्लिम देशों का अस्तित्व पाकिस्तान के साथ जुड़ा हो।

सम्मेलन में जो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए और सुझाव दिए गए, वे संकेत रूप से इस प्रकार थे—(i) दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए—एक में यरूशलम से इजरायली सैनिकों की तुरन्त वापसी की माँग की गई, दूसरे में कहा गया कि इस्लामी देश मिस्र, सीरिया तथा जोर्डन के फिलिस्तीनियों का वैध स्थान दिलाने का प्रयास कर इजरायल द्वारा हथियाए गए क्षेत्रों की वापसी के लिए पूरी सहायता करें। (ii) पश्चिमी एशिया तथा तेल आदि विषयों पर भी प्रतिनिधियों ने अपने विचार व्यक्त किए। मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात और अल्जीरिया के राष्ट्रपति बूमेदीएन का यह सुझाव महत्त्वपूर्ण था कि इस्लामी सम्मेलन को तेल-विहीन विकासशील देशों के लिए सहायता की रकम निर्धारित कर देनी चाहिए। (iii) लीबिया के राष्ट्रपति कर्नल गद्दाफी ने एक तीन स्तरीय पद्धति का सुझाव दिया—औद्योगिक राष्ट्र वर्तमान भावों से तेल खरीदें, जबकि तीसरी दुनिया और इस्लामी देशों को उनके आकार और उनकी आवश्यकताओं के अनुसार रियायती दाम पर तेल दिया जाए। (iv) युगाण्डा के राष्ट्रपति ईदी अमीन ने सुझाव दिया कि ईराक और ईरान मे सामान्य सम्बन्ध कायम करने के लिए इस्लामी देशों का एक सद्भावना आयोग दोनों देशों को भेजा जाए। (v) ईदी अमीन ने मुस्लिम

देशों से यह भी अनुरोध किया कि वे इजरायल, रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका के विमानों को अपने हवाई अड्डों पर उतरने की आज्ञा न दें।[1]

लाहौर के ईस्लामी शिखर-सम्मेलन से तीन बातें भली प्रकार स्पष्ट हो गईं—(1) पाकिस्तान का भारत-विरोधी रवैया और भारतीय मुसलमानों को 'काफिर' समझना, (2) मुस्लिम देशों की आपसी फूट और एशिया तथा अफ्रीका के अनेक मुस्लिम देशो का इस्लामी सम्मेलन मे भाग न लेना, एवं (3) अनेक राष्ट्रों का आचरण जो अफ्रेशियायी एकता में फूट डालने वाला था।

स्वतन्त्र अफ्रीका–महाद्वीप की समस्याएँ

नवोदित अफ्रीका के राज्यों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड रहा है। इसमे से अधिक समस्याएँ तो यहाँ की पिछड़ी हुई आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति से उत्पन्न होती हैं। यहाँ के देशों के सामने विश्व के अन्य देशो के समकक्ष आने के लिए एक लम्बा रास्ता पार करने को पड़ा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यहाँ के कुछ देशों मे क्रान्ति हुई, गृह-युद्ध छिड़े तथा जातीय भेद-भाव के आधार पर अनेकों उपद्रव हुए। महाद्वीप के देशों मे विकास के लिए आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का सूत्रपात हुआ। उनके हित राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रश्नों पर परस्पर टकराने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय एवं महाद्वीपीय स्तरों पर सर्वोच्चता पाने के लिए यहाँ के विभिन्न देशों के बीच शक्ति-सघर्ष छिड़ गया। इस प्रकार स्वतन्त्र अफ्रीका में अनेकता, सघर्ष और प्रतियोगिता का वातावरण जोर पकड़ने लगा। यहाँ के राष्ट्रो के विकास के लिए परस्पर सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की प्रमुख आवश्यकता है, किन्तु यहाँ इसके विपरीत प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही हैं। विश्व की अन्य शक्तियाँ इस फूट का लाभ उठा रही हैं। साम्यवादी गुट तथा पश्चिमी देश दोनों ही अफ्रीका मे अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयासों में सलग्न है। यूरोप के जिन देशो ने अफ्रीका के अपने उपनिवेशों को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी है वे भी यहाँ किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव जमाए रखना चाहते हैं। उनका हित इस बात मे है कि इन देशों पर गोरी जाति का ही प्रभुत्व कायम रहे। स्वतन्त्र अफ्रीका महाद्वीप की प्रमुख समस्याएँ निम्नांकित हैं—

(1) अफ्रीका-महाद्वीप मे मिली-जुली संस्थाओं तथा विचारों के बल पर क्रान्ति को सफल बनाने का प्रयास किया जा रहा है जिसमे एक नवीन अफ्रीकी सम्भावना निहित है किन्तु नवीन विचारों एवं संस्थाओं का यह प्रयोग अफ्रीका के पुराने रीति-रिवाजो तथा परम्पराओं से भिन्न है तथा इसके प्रति यहाँ के लोगो में विरोधी भावनाएँ हैं। समाज के परम्परावादी रूप के विलोप से जो असुरक्षा की भावना पैदा होती है वह इन देशों के विकास-कार्यों की सफलता में मुख्य रूप से बाधक है।

1 दिनमान, 3 मार्च, 1974, पृष्ठ 25–27.

(2) विकास-कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए अफ्रीका-महाद्वीप में पहले सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्रान्ति होना परम आवश्यक है। यहाँ धार्मिक नियम, राजनीतिक विचार, अनुशासनहीनता की प्रवृत्तियाँ, आदि में मूलभूत परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। हो सकता है कि इस परिवर्तन-काल में यहाँ के देशों को अनेक हिंसात्मक तथा नृशंसतापूर्ण कार्य भी करने पड़े।

(3) अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में महत्त्व जानने से पूर्व यह समझना उपयोगी है कि यहाँ की क्रान्ति का लोगों के जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। स्वतन्त्रता से पूर्व यहाँ के लोगों पर हजारों मील दूर बैठे शासकों के आदेशों से शासन होता था। उपनिवेशवादी शक्तियों के प्रतिनिधि ही यहाँ के सब कुछ थे। उनके साथ अफ्रीकावासियों का सेवक और स्वामी का सम्बन्ध था, किन्तु अब यह स्थिति नहीं रही है, तो भी जातीय उच्चता के आधार पर यूरोप के देश इन देशों पर अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित किए हुए हैं।

(4) गोरे और काले का भेद प्रकृति से उत्पन्न होता है। यह मनुष्यकृत नहीं है और न ही मनुष्य इसे परिवर्तित कर सकता है, किन्तु यह रंग-भेद अफ्रीका के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को प्रभावित करने वाला सबसे अधिक शक्तिशाली तत्त्व है। गुन्थर (Gunthar) के अनुसार, "सब चीजों से ऊपर रंगभेद ही है जो अफ्रीका में असन्तोष तथा विद्वेष उत्पन्न करता है। यह अफ्रीकी हीनता का प्रधान कारण है जिससे उपद्रव और विद्रोहों का सूत्रपात होता है और गोरे तथा काले दोनों ही प्रकार के लोगों के मस्तिष्क को विकृत कर देता है।" यूरोपीय शासनकाल में जातीय तथा रंग पर आधारित भेद-भाव की नीति को पर्याप्त बढ़ावा दिया गया था। रंग-भेद के कारण पूरे महाद्वीप में ही एक प्रकार की गहरी खाई पड़ गई थी तथा जिन देशों में यूरोपीय लोग नहीं रहते, वहाँ के काले लोग भी अपने आपको गोरों से हीन मानते हैं। यह खाई तब तक बनी रहेगी जब तक चमड़ी के गोरेपन के आधार पर अधिकांश जन-समुदाय के विरुद्ध थोड़े से लोगों को विशेषाधिकार प्राप्त होते रहेंगे। जॉन हेज (Johan Haze) के शब्दों में, "अफ्रीका के लोग आत्म-विश्वास, जो सहिष्णुता के लिए आवश्यक होता है, तब तक प्राप्त नहीं कर सकते जब तक वे रंग के आधार पर किए जाने वाले भेद-भाव से अपने आपको मुक्त नहीं कर लेते।" धीरे-धीरे अफ्रीका के देशों में अब अफ्रीकियों की सरकारें स्थापित होती जा रही हैं तथा अब गोरे लोगों के विरुद्ध काले लोगों को कुछ विशेषाधिकार देने की प्रवृत्ति घर करती जा रही है।

(5) केवल रंग-भेद तथा जाति-भेद को समाप्त कर देना ही पर्याप्त नहीं है। अफ्रीका के देशों में यूरोपीय देशों द्वारा अनेक मूलभूत परिवर्तनों की स्थापना करके सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को बदल दिया गया था। अफ्रीका में क्रान्ति को पूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इस क्रान्ति को सामाजिक तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी लाया जाए। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद इन देशों में जो सरकारें स्थापित की गई हैं, यद्यपि उनका संचालन देश के निवासियों द्वारा ही किया

जाना है, तथापि वे उतने ही अधिक सत्ता एव अधिकार का प्रयोग करती है जितना विदेशियों द्वारा किया जाता था।

अनेक अफ्रीकी देशों में एक दलीय व्यवस्था को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। इस मान्यता पर अफ्रीका के आदिवासी जीवन का प्रभाव है। आदिवासी जीवन की सामान्य परम्परा के अनुसार विरोधी का सगठित होना अनुचित है क्योंकि यह अनेक प्रकार के झगडे उत्पन्न करता है। जो भी निर्णय लिए जाते है उन पर सभी व्यक्तियों के मतों का प्रभाव रहता है। आज एक सामान्य अफ्रीकी अपने जीवन मे यह महसूस करता है कि उसके ऊपर सत्ता की जिस मात्रा का स्वतन्त्रता के बाद मे प्रयोग किया जा रहा है वह स्वतन्त्रता के पूर्व प्रयोग की जाने वाली मात्रा से कहीं अधिक है। सत्ता की इस मात्रा को भी यहाँ के लोग अपनी सुरक्षा के नाम पर स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार प्रायः पूरे अफ्रीका मे ही सरकार के नियन्त्रण तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बीच बहुत असन्तुलन होते हुए भी कोई इसका विरोध नही करता और न ही किसी को इससे असन्तोष होता है।

(6) राष्ट्रवाद की भावना ने अफ्रीका के देशों मे एकता का सूत्रपात किया और इसी एकता के आधार पर वे विदेशी शक्तियो से अपने आपको मुक्त करा सके है। महाद्वीप के अधिकांश भाग पर राष्ट्रवाद का भारी प्रभाव है। हैच (Hatch) के शब्दों में स्वतन्त्रता एकता की माँग करती है और राष्ट्रीयता की तेज मानसिक शसब ने सारे देश को साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध एकीकृत करने मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। शिक्षा, सभ्यता एव विज्ञान में पिछड़े होने के कारण यहाँ के देशों में राष्ट्रवाद उतना प्रभावशाली नही है जितना यह एशिया महाद्वीप मे रहा है। यद्यपि राष्ट्रवाद के उदय को रोका नहीं जा सकता, तो भी अफ्रीका के बड़े क्षेत्र अभी तक राष्ट्रवाद के प्रभावशाली व्यवहार के लिए तैयार नहीं है अर्थात् यहाँ पर स्वशासन की स्थापना के अनुकूल वातावरण अभी तक नही बना है।

(7) अफ्रीका के देशों मे नूतन जीवन के प्रति, स्वशासन के प्रति, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रति, पारस्परिक सहयोग के प्रति तथा जातीय एकता के प्रति अवज्ञा की भावनाएँ विद्यमान हैं। अफ्रीका अपने इसी रूप से अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे आया है। अब यह स्वाभाविक है कि अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदो का, घटनाओं का तथा मन-मुटावों का प्रभाव इस महाद्वीप के देशों पर भी पड़े। किन्तु ये देश आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर नहीं हैं, इसलिए किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर अपना स्वतन्त्र विचार नही रख सकते। अफ्रीका का आर्थिक जीवन अब भी बहुत कुछ शेष ससार पर निर्भर करता है। इस आर्थिक पर-निर्भरता की अवस्था में जब ये देश उपनिवेशवाद से स्वतन्त्रता की स्थिति मे आए तो अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। नए राज्यों का निर्माण उन प्रदेशों मे से किया गया है जिनका यूरोपीय शक्तियों ने विभाजन कर रखा था। ये राज्य आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण नही अपनाते।

(8) प्रायः पूरे अफ्रीका महाद्वीप मे अफ्रीकीपन की भावना का प्रभाव है। सभी अफ्रीकी यह निर्णय कर चुके हैं कि सम्पूर्ण अफ्रीका पर भविष्य मे केवल अफ्रीकियों का ही राज्य रहेगा। इस दृष्टिकोण के कारण अफ्रीका मे विभिन्न संघ तथा उपसंघ बनाने के प्रस्तावों पर समय-समय पर विचार किया जाता रहा है। इस प्रकार के संघ निर्माण के मार्ग में भाषा, संचार-साधन तथा आर्थिक विकास जैसी कुछ बाधाएँ हैं जिनको दूर करने के बाद यहाँ के लोगो मे सुरक्षा की भावना उत्पन्न होगी तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों मे भी विकास होगा।

(9) अफ्रीका महाद्वीप शीतयुद्ध के प्रसार को रोकने के लिए प्रयत्नशील है और इसी उद्देश्य से इसने अन्तर्राष्ट्रीय समाज में प्रवेश किया है। यद्यपि अफ्रीकी देश सयुक्त राष्ट्रसघ के अनेक कार्यों की आलोचना करते हैं, तो भी यह उनके लिए एक आशा का प्रतीक है जो उनके आर्थिक तथा राजनीतिक विकास मे सहायक बन कर उन्हें विश्व राजनीति को प्रभावित करने योग्य बना सकता है तथा पूर्व और पश्चिम के झगड़े से दूर रख सकता है। अफ्रीकी देश यह चाहते हैं कि सयुक्त राष्ट्रसघ साम्यवादी अथवा पूँजीवादी शक्तियों के हाथ की कठपुतली न रहकर पूर्व, पश्चिम और तटस्थ पक्ष का समान प्रतिनिधित्व करने वाली सस्था बन जाए। उनके मतानुसार यह सस्था उपनिवेशवाद, नवीन उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के नए तरीको से अछूती है। वे चाहते हैं कि यह उनके अपने आर्थिक विकास में सहायता करे, उनकी राजनीतिक परेशानियो मे सहायक बने तथा यही एकमात्र अभिकरण है जो विश्व-युद्ध को रोकने की सामर्थ्य रखता है।

अल्जीरिया का स्वाधीनता संग्राम

अफ्रीका महाद्वीप मे अल्जीरिया ने फ्रांस के विरुद्ध जो लम्बा स्वाधीनता संग्राम किया वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि (1) अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद का सबसे निरकुश और दर्दनाक पहलू अल्जीरिया मे देखने को मिला, (2) अल्जीरिया का संघर्ष दुनिया के अन्य देशों के स्वाधीनता-संग्रामों के लिए एक उदाहरण बन गया, एवं (3) इस सग्राम ने पुनः इस बात की पुष्टि कर दी कि श्वेत जातियों से टक्कर लेकर उन्हें नाकों चने चबाए जा सकते हैं।

अल्जीरिया पर फ्रांस का अधिकार सन् 1830 में स्थापित हुआ था। फ्रांसीसियों ने यहाँ बसकर अल्जीरिया का हर प्रकार से शोषण किया। अल्जीरिया-वासियों के प्रत्येक विरोध का फ्रांस सदैव कठोरतापूर्वक दमन करता रहा। उन्हे शान्त करने के लिए कालान्तर मे फ्रांस की राष्ट्रीय सभा मे उनको प्रतिनिधित्व का अधिकार भी प्रदान किया गया, लेकिन अल्जीरियावासी सन्तुष्ट नहीं हुए। 1 जुलाई, 1951 में उन्होने एक राष्ट्रीय मोर्चे का निर्माण किया जो 'राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चा' (Front of National Liberation–F. N. L.) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मोर्चे ने 1 नवम्बर, 1954 को स्वाधीनता सघर्ष आरम्भ किया जो लगभग सात वर्ष

तक चला। इस युद्ध मे लगभग 4,00,000 व्यक्तियों की जानें गई। इनमें से लगभग 2,00,000 असैनिक अल्जीरियाई मुसलमान, 1,60,000 स्वतन्त्र अल्जीरियाई सरकार के सैनिक, 18,000 फ्रांसीसी सैनिक तथा 2,000 गोरे अल्जीरियाई निवासी थे। अल्जीरियाई राष्ट्रवादी इस संख्या को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि फ्रांसीसी सेनाओं ने कम से कम दस लाख अल्जीरियाइयों को मौत के घाट उतार दिया। युद्ध-बन्दी के जो भी प्रयास हुए, व्यर्थ गए। फ्रांस के दुराग्रह के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी युद्ध-विराम के लिए कुछ नहीं किया जा सका। जून, 1958 मे जनरल डिगॉल विस्तृत अधिकारों सहित फ्रेंच गणराज्य के राष्ट्रपति बने। उन्होंने फ्रांस की जनता को यह वचन दिया कि वे अल्जीरिया की समस्या को शीघ्र निपटा देंगे।

सितम्बर, 1959 मे फरहत अब्बास के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे ने काहिरा में एक समानान्तर सरकार की स्थापना की जिसे चीन द्वारा मान्यता भी प्रदान कर दी गई। परिस्थितियों से बाध्य होकर 4 नवम्बर, 1960 को जनरल डिगॉल ने अल्जीरिया को स्वतन्त्रता देने की घोषणा की। उन्होंने 'अल्जीरिया, अल्जीरिया वालों के लिए' के प्रश्न पर जनमत कराने का प्रस्ताव रखा, किन्तु फरहत अब्बास ने इस प्रस्ताव को ठुकरा कर अपने अनुयायियों को मतदान मे भाग न लेने का आदेश दिया। फिर भी 8 जनवरी, 1961 को जनमत-संग्रह हुआ और फ्रांस तथा अल्जीरिया दोनों में विशाल बहुमत द्वारा डिगॉल की अल्जीरिया सम्बन्धी नीति का समर्थन किया गया। 27 मार्च, 1961 को फ्रांस और अल्जीरिया द्वारा शान्ति-वार्ता में भाग लेने की सहमति की घोषणा की गई, किन्तु अगले ही माह अप्रेल, 1961 में इस आगामी शान्ति-वार्ता के विरुद्ध जनरल सालां और अन्य जनरलों के नेतृत्व में फ्रेंच सैनिकों ने अल्जीरिया मे विद्रोह कर दिया। डिगॉल ने विद्रोहियों के खिलाफ तेजी से कठोर कार्यवाही की। जनरल सालां पलायन कर गया और उसने एक गुप्त सेना (OAS) की स्थापना कर ली।

20 मई, 1961 को फ्रांस और अल्जीरिया में शान्ति-वार्ता आरम्भ हुई और तुरन्त ही भग भी हो गई। शान्ति-वार्ता की आँख मिचौनी चलती रही। जनवरी, 1962 में ओ. ए. एस. आतंकवादियों ने अल्जीरिया भर में मुसलमानो पर आक्रमण किया। मुसलमानो ने भी जवाबी हमले किए और दोनों पक्षों के सैकड़ों व्यक्ति मारे गए। फरवरी, 1962 में शान्ति-वार्ता में प्रगति हुई और अन्त में 18 मार्च, 1962 को युद्धबन्दी के बाद दोनों पक्षो (अल्जीरिया और फ्रांस) के बीच समझौते की घोषणा की गई। 1 जुलाई, 1962 को अल्जीरिया स्वतन्त्र हो गया और इस तरह एक महान् स्वतन्त्रता संग्राम का अन्त हुआ। 20 सितम्बर, 1962 को अल्जीरिया के एक दलीय चुनावों मे बेनबेला गुट की विजय हुई। विरोधी गुट बेनखेदा का था। स्थिति इतनी तनावपूर्ण हो गई कि गृह-युद्ध की आशंका होने लगी, लेकिन अन्त में दोनों नेताओं में समझौता हो गया।

दक्षिण रोडेशिया (अब स्वाधीन जिबाब्वे) का संकट

जम्बेजी नदी तथा उत्तरी ट्रांसवाल के मध्य स्थित दक्षिण रोडेशिया अफ्रीका

का एक देश है। इस देश का क्षेत्रफल 390 हजार वर्ग किलोमीटर और जनसंख्या लगभग 60 लाख है। इसमें 40 लाख से अधिक अफ्रीकी हैं, लगभग 2 लाख यूरोपीय हैं और शेष अन्य। दक्षिणी रोडेशिया का, जिसकी राजधानी सेलिसबरी है, मूल विवाद यह है कि यहाँ की गोरी सरकार बहुसंख्यक अफ्रीकियों को देश के शासन में साझीदार नहीं बनाना चाहती और राष्ट्रवादी अफ्रीकी इस बात के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं कि दक्षिण रोडेशिया का शासन अफ्रीकियों के हाथ मे हो तथा गोरों की प्रभुसत्ता का अन्त हो।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—सन् 1953 मे ब्रिटेन ने उत्तरी रोडेशिया (जिसका शासन उसने सन् 1924 में अपने हाथ मे लिया था), दक्षिणी रोडेशिया और न्यासालैण्ड (रोडेशिया का पड़ोसी देश जिस पर ब्रिटेन ने सन् 1891 मे अधिकार किया था) को मिलाकर 'मध्य अफ्रीका संघ' (Central African Federation) की स्थापना की। उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैण्ड की जनता ने संघ का विरोध किया लेकिन कोई परिणाम नही निकला। इस संघ में अफ्रीकी लोगों की बहुलता थी, लेकिन निर्वाचन-योग्यता इस प्रकार की थी कि कोई अफ्रीकी चुनाव में खड़ा नहीं हो सकता था। अत: अफ्रीकियों में असन्तोष बढ़ता गया और धीरे-धीरे राष्ट्रवाद की लहर इतनी प्रबल हो गई कि ब्रिटेन अधिक समय तक जनता की उपेक्षा नही कर सका तथा सन् 1963 मे अफ्रीकी संघ भंग हो गया। न्यासालैण्ड और उत्तरी रोडेशिया स्वतन्त्र हो गए। आजादी के बाद उत्तरी रोडेशिया जाम्बिया कहलाने लगा और न्यासालैण्ड का नाम मलावी रखा गया। दक्षिणी रोडेशिया अब भी ब्रिटिश सम्प्रभुता के अधीन रहा और इयान स्मिथ वहाँ के नए प्रधान मन्त्री बने।

दक्षिण रोडेशिया की गोरी सरकार द्वारा स्वतन्त्रता की एकपक्षीय घोषणा—प्रधान मन्त्री इयान स्मिथ ने ब्रिटेन को धमकी दी कि वह दक्षिणी रोडेशिया को स्वतन्त्र कर दे अन्यथा दक्षिण रोडेशिया की सरकार अपनी ओर से स्वतन्त्रता की घोषणा कर देगी। ब्रिटेन ने कहा कि स्वतन्त्रता तभी दी जा सकती है जब (1) सब अफ्रीकी लोगों को मताधिकार प्राप्त हो, एवं (2) गोरे लोगों के लिए सुरक्षित विशेष प्रदेशों की व्यवस्था समाप्त कर दी जाए। स्मिथ सरकार ने ब्रिटिश शर्तों को अमान्य ठहरा कर 11 नवम्बर, 1965 को दक्षिण रोडेशिया की एकपक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जिससे रोडेशिया मे महान् संविधानिक संकट उत्पन्न हो गया। इयान स्मिथ ने कहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रारम्भिक तेरह उपनिवेश अठारहवी शताब्दी मे ब्रिटेन के अधीन थे और उन्होंने भी विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी। दक्षिण रोडेशिया भी उन्हीं का अनुसरण कर रहा है। पर इयान स्मिथ यह भूल गए कि जहाँ अमेरिका में बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक का कोई प्रश्न नही था वहाँ दक्षिणी रोडेशिया का मुख्य प्रश्न ही यह था कि क्या अल्पसंख्यक गोरों को बहुसंख्यक अफ्रीकियों पर शासन करने का अधिकार है। अनेक राजनीतिक क्षेत्रों मे यही सन्देह व्यक्त किया गया कि यह सारा काण्ड ब्रिटेन की

गुप्त सहानुभूति के कारण ही सम्भव हो सका था और इसीलिए ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की।

असफल शान्ति वार्ताएँ और संघर्ष का दौर (सन् 1965-नवम्बर 1977)— दक्षिण रोडेशिया की कार्यवाही के प्रत्युत्तर में ब्रिटिश गवर्नर ने स्मिथ सरकार को पदच्युत कर दिया और ब्रिटेन ने दक्षिण रोडेशिया से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध भग कर दिए तथा आर्थिक प्रतिबन्ध भी लगाए। नवम्बर, 1965 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा स्मिथ सरकार के कार्य की निन्दा की गई और सदस्य-राज्यों से अनुरोध किया गया कि वे उसे न तो मान्यता दें और न ही उसके साथ व्यापार करें। आर्थिक प्रतिबन्धों और कूटनीतिक उपायों का स्मिथ सरकार पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। राजनीतिक क्षेत्रों में यह स्पष्ट विचार था कि ब्रिटेन की गुप्त सहानुभूति दक्षिण रोडेशिया की गोरी सरकार के साथ है। नवम्बर, 1967 में महासभा ने शक्ति प्रयोग करने पर बल दिया, किन्तु ब्रिटेन ने प्रस्ताव पर कोई कार्यवाही नहीं की। मई, 1968 में सुरक्षा परिषद् ने दक्षिण रोडेशिया के विरुद्ध पूर्ण आर्थिक नाकेबन्दी का प्रस्ताव पारित किया, लेकिन वह भी सफल नहीं हो सका क्योंकि गुप्त रूप से स्मिथ सरकार को सभी आवश्यक सामग्री प्राप्त होती रही।

नवम्बर, 1969 मे दक्षिण रोडेशिया की संसद ने (जिस पर गोरों का प्रभाव छाया हुआ था) एक विधेयक पास कर इयान स्मिथ सरकार का गोरा शासन स्थाई बना देने की व्यवस्था कर दी। ब्रिटेन और स्मिथ सरकार के बीच बातचीत के अनेक दौर चले किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। नवम्बर, 1971 में ब्रिटिश विदेश मन्त्री डगलस ह्यूम और रोडेशियाई प्रधान मन्त्री स्मिथ के बीच एक समझौता हुआ जिसके द्वारा अफ्रीकी जनता के हितो पर भारी कुठाराघात किया गया। इस समझौते से स्मिथ सरकार के बने रहने का मार्ग प्रशस्त हो गया। अफ्रीकी बहुमत का शासन स्थापित करने का उल्लेख समझौते में किया गया, लेकिन इस बारे मे कोई निश्चित तिथि निश्चित नहीं की गई। और भी अनेक ऐसे निर्णय किए गए जो स्मिथ सरकार के पक्ष मे थे। ब्रिटिश कम्पनियो को रोडेशिया के साथ व्यापार करने की छूट दे दी गई ताकि आर्थिक प्रतिबन्धों के कारण पिछले वर्षों का घाटा पूरा हो सके। यह लज्जाजनक समझौता इस बात का प्रमाण था कि ब्रिटेन किस प्रकार स्मिथ सरकार के हितो की रक्षा के लिए तत्पर था। समझौते पर जनता की राय जानने के लिए जनमत संग्रह की किसी भी बात पर उपेक्षा कर दी गई। अवश्य ही इस सम्बन्ध में जनमत जानने के लिए 'पियर्स आयोग' गठित किया गया। सम्भवतः यही आशा की गई थी कि पियर्स आयोग ऐसी रिपोर्ट देगा जो समझौते के लागू होने के पक्ष में होगी, लेकिन जब 207 पृष्ठों की रिपोर्ट मे यह कहा गया कि रोडेशिया के बहुसंख्यक अफ्रीकी समझौते प्रस्ताव से असहमत हैं और इसका समर्थन रोडेशिया के केवल लगभग ढाई लाख गोरे लोगों ने ही किया है, तो मामला बिगड़ गया। इयान स्मिथ ने तुरन्त ही रेडियो-प्रसारण मे पियर्स रिपोर्ट को गैर-कानूनी ठहरा दिया और घोषणा कर दी कि नवम्बर, 1971 के

का एक देश है। इस देश का क्षेत्रफल 390 हजार वर्ग किलोमीटर और जनसंख्या लगभग 60 लाख है। इसमें 40 लाख से अधिक अफ्रीकी है, लगभग 2 लाख यूरोपीय हैं और शेष अन्य। दक्षिणी रोडेशिया का, जिसकी राजधानी सेलिसबरी है, मूल विवाद यह है कि यहाँ की गोरी सरकार बहुसंख्यक अफ्रीकियों को देश के शासन मे साझीदार नहीं बनाना चाहती और राष्ट्रवादी अफ्रीकी इस बात के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं कि दक्षिण रोडेशिया का शासन अफ्रीकियों के हाथ में हो तथा गोरों की प्रभुसत्ता का अन्त हो।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि— सन् 1953 मे ब्रिटेन ने उत्तरी रोडेशिया (जिसका शासन उसने सन् 1924 मे अपने हाथ मे लिया था), दक्षिणी रोडेशिया और न्यासालैण्ड (रोडेशिया का पड़ोसी देश जिस पर ब्रिटेन ने सन् 1891 में अधिकार किया था) को मिलाकर 'मध्य अफ्रीका संघ' (Central African Federation) की स्थापना की। उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैण्ड की जनता ने संघ का विरोध किया लेकिन कोई परिणाम नही निकला। इस संघ में अफ्रीकी लोगों की बहुलता थी, लेकिन निर्वाचन-योग्यता इस प्रकार की थी कि कोई अफ्रीकी चुनाव में खड़ा नहीं हो सकता था। अत: अफ्रीकियों में असन्तोष बढ़ता गया और धीरे-धीरे राष्ट्रवाद की लहर इतनी प्रबल हो गई कि ब्रिटेन अधिक समय तक जनता की उपेक्षा नहीं कर सका तथा सन् 1963 में अफ्रीकी संघ भंग हो गया। न्यासालैण्ड और उत्तरी रोडेशिया स्वतन्त्र हो गए। आजादी के बाद उत्तरी रोडेशिया जाम्बिया कहलाने लगा और न्यासालैण्ड का नाम मलावी रखा गया। दक्षिणी रोडेशिया अब भी ब्रिटिश संप्रभुता के अधीन रहा और इयान स्मिथ वहाँ के नए प्रधान मन्त्री बने।

दक्षिण रोडेशिया की गोरी सरकार द्वारा स्वतन्त्रता की एकपक्षीय घोषणा— प्रधान मन्त्री इयान स्मिथ ने ब्रिटेन को धमकी दी कि वह दक्षिणी रोडेशिया को स्वतन्त्र कर दे अन्यथा दक्षिण रोडेशिया की सरकार अपनी ओर से स्वतन्त्रता की घोषणा कर देगी। ब्रिटेन ने कहा कि स्वतन्त्रता तभी दी जा सकती है जब (1) सब अफ्रीकी लोगों को मताधिकार प्राप्त हो, एवं (2) गोरे लोगों के लिए सुरक्षित विशेष प्रदेशो की व्यवस्था समाप्त कर दी जाए। स्मिथ सरकार ने ब्रिटिश शर्तों को अमान्य ठहरा कर 11 नवम्बर, 1965 को दक्षिण रोडेशिया की एकपक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जिससे रोडेशिया में महान् सांविधानिक संकट उत्पन्न हो गया। इयान स्मिथ ने कहा कि सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रारम्भिक तेरह उपनिवेश अठारहवी शताब्दी मे ब्रिटेन के अधीन थे और उन्होने भी विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी। दक्षिण रोडेशिया भी उन्ही का अनुसरण कर रहा है। पर इयान स्मिथ यह भूल गए कि जहाँ अमेरिका मे बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक का कोई प्रश्न नहीं था वहाँ दक्षिणी रोडेशिया का मुख्य प्रश्न ही यह था कि क्या अल्पसंख्यक गोरों को बहुसंख्यक अफ्रीकियों पर शासन करने का अधिकार है। अनेक राजनीतिक क्षेत्रों मे यही सन्देह व्यक्त किया गया कि यह सारा काण्ड ब्रिटेन की

गुप्त सहानुभूति के कारण ही सम्भव हो सका था और इसीलिए ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की।

असफल शान्ति वार्ताएँ और संघर्ष का दौर (सन् 1965-नवम्बर 1977)—दक्षिण रोडेशिया की कार्यवाही के प्रत्युत्तर में ब्रिटिश गवर्नर ने स्मिथ सरकार को पदच्युत कर दिया और ब्रिटेन ने दक्षिण रोडेशिया से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध भंग कर दिए तथा आर्थिक प्रतिबन्ध भी लगाए। नवम्बर, 1965 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा स्मिथ सरकार के कार्य की निन्दा की गई और सदस्य-राज्यों से अनुरोध किया गया कि वे उसे न तो मान्यता दें और न ही उसके साथ व्यापार करें। आर्थिक प्रतिबन्धों और कूटनीतिक उपायों का स्मिथ सरकार पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। राजनीतिक क्षेत्रों में यह स्पष्ट विचार था कि ब्रिटेन की गुप्त सहानुभूति दक्षिण रोडेशिया की गोरी सरकार के साथ है। नवम्बर, 1967 में महासभा ने शक्ति प्रयोग करने पर बल दिया, किन्तु ब्रिटेन ने प्रस्ताव पर कोई कार्यवाही नहीं की। मई, 1968 में सुरक्षा परिषद् ने दक्षिण रोडेशिया के विरुद्ध पूर्ण आर्थिक नाकेबन्दी का प्रस्ताव पारित किया, लेकिन वह भी सफल नहीं हो सका क्योंकि गुप्त रूप से स्मिथ सरकार को सभी आवश्यक सामग्री प्राप्त होती रही।

नवम्बर, 1969 में दक्षिण रोडेशिया की संसद ने (जिस पर गोरों का प्रभाव छाया हुआ था) एक विधेयक पास कर इयान स्मिथ सरकार का गोरा शासन स्थाई बना देने की व्यवस्था कर दी। ब्रिटेन और स्मिथ सरकार के बीच बातचीत के अनेक दौर चले किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। नवम्बर, 1971 में ब्रिटिश विदेश मन्त्री डगलस ह्यूम और रोडेशियाई प्रधान मन्त्री स्मिथ के बीच एक समझौता हुआ जिसके द्वारा अफ्रीकी जनता के हितों पर भारी कुठाराघात किया गया। इस समझौते से स्मिथ सरकार के बने रहने का मार्ग प्रशस्त हो गया। अफ्रीकी बहुमत का शासन स्थापित करने का उल्लेख समझौते में किया गया, लेकिन इस बारे में कोई निश्चित तिथि निश्चित नहीं की गई। और भी अनेक ऐसे निर्णय किए गए जो स्मिथ सरकार के पक्ष में थे। ब्रिटिश कम्पनियों को रोडेशिया के साथ व्यापार करने की छूट दे दी गई ताकि आर्थिक प्रतिबन्धों के कारण पिछले वर्षों का घाटा पूरा हो सके। यह लज्जाजनक समझौता इस बात का प्रमाण था कि ब्रिटेन किस प्रकार स्मिथ सरकार के हितों की रक्षा के लिए तत्पर था। समझौते पर जनता की राय जानने के लिए जनमत संग्रह की किसी भी बात पर उपेक्षा कर दी गई। अवश्य ही इस सम्बन्ध में जनमत जानने के लिए 'पियर्स आयोग' गठित किया गया। सम्भवतः यही आशा की गई थी कि पियर्स आयोग ऐसी रिपोर्ट देगा जो समझौते के लागू होने के पक्ष में होगी, लेकिन जब 207 पृष्ठों की रिपोर्ट में यह कहा गया कि रोडेशिया के बहुसंख्यक अफ्रीकी समझौते प्रस्ताव से असहमत हैं और इसका समर्थन रोडेशिया के केवल लगभग ढाई लाख गोरे लोगों ने ही किया है, तो मामला बिगड़ गया। इयान स्मिथ ने तुरन्त ही रेडियो-प्रसारण में पियर्स रिपोर्ट को गैर-कानूनी ठहरा दिया और घोषणा कर दी कि नवम्बर, 1971 के

समझौते के आधार पर कोई बातचीत नहीं की जा सकती। इस प्रकार एक निष्पक्ष रिपोर्ट को ठुकरा दिया गया और ब्रिटेन की मिलीभगत से रोडेशिया पर स्मिथ का शासन बना रहा।

दक्षिणी रोडेशिया के अफ्रीकी राष्ट्रवादियों का असन्तोष बढ़ता गया और उग्रवादी तत्त्व संघर्ष के लिए उतारू हो गए। छापामार युद्ध शुरू हो गया। सन् 1974 के अन्त में स्मिथ सरकार अफ्रीकी राष्ट्रवादी छापामारों के साथ युद्ध-विराम करके वार्ता करने के लिए तैयार हुई। 11 दिसम्बर, 1974 को लुसाका में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार कुछ अश्वेत नेताओं को मुक्त किया गया। बातचीत में चार अफ्रीकी संगठनों ने भाग लिया—अफ्रीकी नेशनल कौंसिल (एक मात्र ऐसा संगठन जिसे स्मिथ सरकार ने गैर-कानूनी नहीं माना था), जिबाब्वे अफ्रीकन नेशनल यूनियन (जापु), जिबाब्वे मुक्ति मोर्चा (फ्रेलिमो), जिबाब्वे अफ्रीकन नेशनल यूनियन (जानो)। लुसाका समझौते के बाद ऐसा प्रतीत होने लगा कि रोडेशियाई प्रधान मंत्री स्मिथ वक्त का तकाजा पहचान कर सांविधानिक बातचीत या तर्कसंगत समझौते के लिए तैयार हो गए हैं, लेकिन बाद मे उन्होंने ऐसा कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया। मार्च, 1975 में रोडेशिया के प्रमुख राष्ट्रवादी नेता रेवरैंड सिथोल की गिरफ्तारी कर स्मिथ ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनकी अल्पमत गोरी सरकार फिलहाल रोडेशिया-समस्या के किसी समाधान के पक्ष में नही है। स्मिथ की हठधर्मी ने राष्ट्रवादी अफ्रीकी नेताओ को गोरी सरकार के विरुद्ध छापामार युद्ध और तेज करने के लिए विवश कर दिया।

29 अप्रेल से 6 मई, 1975 तक जमैका की राजधानी किंग्सटन मे 33 देशों के नेताओं का राष्ट्रकुल सम्मेलन हुआ। सम्मेलन पर एशियाई, अफ्रीकी और कैरिबियाई देशों का प्रभाव रहा। जिस मुद्दे को लेकर अधिक तीखी बहस हुई वह था—दक्षिण अफ्रीका में जातिवाद का। अफ्रीकी देशों ने दक्षिण अफ्रीकी बस्तियों और रोडेशिया से गोराशाही समाप्त करने की जो आवाज उठाई उसकी गूँज सारे सम्मेलन में सुनाई दी। डॉ. केनेथ काउंडा ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि ब्रिटेन और अमेरिका को गोरे शासकों का पृष्ठपोषण नहीं करना चाहिए। यह घोषित किया गया कि शान्तिपूर्ण प्रयास असफल हो जाते हैं तो स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए हथियारों को उठाना जरूरी हो जाता है।

किंग्सटन के राष्ट्रकुल सम्मेलन के निर्णय के बाद रोडेशिया मे घटनाक्रम ने तेजी पकड़ी। रोडेशिया के राष्ट्रवादी नेता जोसुआ नोकोमो ने आरोप लगाया कि इयान स्मिथ की सरकार शान्तिपूर्वक अफ्रीकियों को सत्ता सौंपना नही चाहती। इयान स्मिथ का रवैया भी अधिकाधिक कड़ा होता गया। दिसम्बर, 1975 में इयान स्मिथ ने श्री नोकोमो से बातचीत का सुझाव तो स्वीकार कर लिया लेकिन उन्होने रोडेशिया के लिए बहुमत के शासन को सिद्धान्त रूप में भी स्वीकार नही किया। बातचीत का कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। उधर नवम्बर, 1975 में संयुक्तराष्ट्र महासभा के इस प्रस्ताव से भी रोडेशिया के

राष्ट्रवादियों के हाथ मजबूत हो गए कि बहुमत अफ्रीकी शासन का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर ही रोडेशिया की स्वतन्त्रता के लिए बातचीत होनी चाहिए। महासभा के प्रस्ताव में कहा गया कि अफ्रीकी राष्ट्रीय परिषद् से बातचीत किए बिना रोडेशिया की समस्या का कोई समाधान नहीं निकल सकता क्योंकि यही संस्था रोडेशिया की जनता का प्रतिनिधित्व करती है। महासभा ने ब्रिटेन से यह अनुरोध किया कि रोडेशिया मे इयान स्मिथ की गैर-कानूनी सरकार को किसी भी हालत मे और कभी भी ब्रिटेन से मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। महासभा ने अफ्रीकी जनता की स्वाधीनता की माँग का पूर्ण समर्थन किया और अफ्रीकी राष्ट्रीय परिषद् से कहा कि वह स्वाधीनता के लिए अपना आन्दोलन चालू रखे।

अफ्रीकी राष्ट्रीय परिषद् (ए. एन. सी.) के एक गुट के नेता जोशुआ नोकोमो और रोडेशिया अल्पसंख्यक गोरी सरकार के हठी प्रधान मन्त्री इयान स्मिथ के बीच सांविधानिक समझौते के लिए हुई बातचीत की विफलता, रोडेशिया के समाधान के लिए इयान स्मिथ द्वारा ब्रितानी प्रस्ताव की अस्वीकृति, लुसाका में तन्जानिया, बोत्स्वाना, मोजांबिक और जांबिया के राष्ट्रपतियों की विफल वार्ता, रोडेशिया में क्यूबा और सोवियत संघ के हस्तक्षेप के विरुद्ध अमेरिकी विदेश मन्त्री हेनरी कीसिंगर की चेतावनी आदि मार्च, 1976 के अन्तिम सप्ताह की कुछ ऐसी घटनाएँ थीं जिनसे रोडेशिया की समस्या और अधिक जटिल हो गई। इनसे यह संकेत भी मिला कि जहाँ इयान स्मिथ अफ्रीकी राष्ट्रीय परिषद् में फूट डालकर अपना उल्लू सीधा करने की फिराक में है वहाँ अमेरिका और उसके साथी स्मिथ पर उतना ही दबाव डालना चाहते हैं जिनसे कि दक्षिणी अफ्रीका में उनके हित सुरक्षित रहें। बहुसंख्यक काले लोगों को न्याय दिलाने की उनकी सद्इच्छा का उनके रवैये से कोई सबूत नहीं मिला। ऐसी स्थिति में अफ्रीकी राष्ट्रवादियों के सम्मुख एक ही उपाय शेष था कि वे अपना सशस्त्र संघर्ष तीव्र करें और जातिवादी गोरे स्मिथ से अब तक बातचीत द्वारा प्राप्त नहीं कर सके वह बलात् प्राप्त करें।

रोडेशिया समस्या के समाधान में गतिरोध कायम रहा। सन् 1977 के प्रारम्भ में ब्रिटिश प्रतिनिधि ईवोर रिचर्ड ने निरन्तर एक महीने तक अफ्रीकी नेताओं, रोडेशियाई राष्ट्रीय मोर्चे के नेताओं तथा रोडेशिया के प्रधान मन्त्री इयान स्मिथ से बातचीत की पर स्मिथ के दुराग्रही रवैये के कारण वार्ता का कोई परिणाम नहीं निकल सका। रिचर्ड ने अपने प्रस्ताव मे कहा था कि रोडेशिया के सम्बन्ध में जब तक कोई स्थायी समझौता नहीं हो जाता तब तक वहाँ कालों का शासन स्थापित किया जाएगा। जो सरकार स्थापित की जाएगी उनमें कालों और गोरों दोनों के प्रतिनिधि होंगे। परन्तु इसका मुखिया रोडेशिया स्थित ब्रिटिश उच्चायुक्त होगा। उसी के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् का गठन किया जाएगा जो देश की प्रतिरक्षा तथा कानून और व्यवस्था को अन्तरिम सरकार के सहयोग से चलाएगी। कालों और गोरों में भेद करने वाली भूमि सम्बन्धी तथा अन्य कानूनों को समाप्त कर दिया जाएगा। रिचर्ड की यह योजना अफ्रीका के 5 देशों और रोडेशियायी

राष्ट्रीय मोर्चे को स्वीकार थी। अमेरिका के विदेश मन्त्री साइरस वैंस ने रोडेशिया की अल्पमत गोरी सरकार को यह चेतावनी दी कि जब तक वह बहुसंख्यक कालों को सत्ता की राह में अड़चन डालती रहेगी, अमेरिका से उसे किसी तरह की सहायता नहीं मिलेगी। अमेरिका ने ब्रिटिश प्रस्ताव का पूर्ण समर्थन किया जिसके अनुसार दो वर्ष तक अस्थायी सरकार को ब्रिटेन की देख-रेख मे काम करना था।

रोडेशिया की स्थिति दिनोदिन तनावपूर्ण होती गई और इयान स्मिथ ने एक संवाददाता सम्मेलन मे कहा कि उनकी गोरी अल्पसंख्यक सरकार जब तक चाहेगी तब तक शासन में बनी रहेगी। अगस्त, 1977 के चुनावों में उसने अपने हथकण्डों से भारी विजय प्राप्त की। सन् 1974 के चुनाव की तरह इस बार के चुनाव में भी 66 सदस्यीय संसद् मे सभी 50 यूरोपीय स्थानो पर उनके रोडेशिया फ्रंट ने कब्जा कर लिया। गोरों की मतदाता सूची मे 86,000 मतदाता थे जिनमे से 80 प्रतिशत से भी अधिक ने मतदान मे भाग लेकर इयान स्मिथ की स्थिति सुदृढ कर दी। दूसरी ओर कालो के 7,500 मतदाताओं मे से केवल 25 प्रतिशत ने ही मतदान मे भाग लिया।

रोडेशिया समस्या के समाधान के बारे मे इयान स्मिथ ने अफ्रीकी नेताओं से बातचीत चलाई और व्यापक मतभेदो के बावजूद उदारवादी अफ्रीकी नेताओ से सिद्धान्त के रूप में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार गोरे प्रधान मन्त्री स्मिथ और तीन अश्वेत अफ्रीकी राष्ट्रवादी नेताओ को लेकर रोडेशिया की सर्वोच्च प्रबन्ध परिषद् ने शासन भार सम्भाल लिया। लेकिन उग्रवादी अफ्रीकी तत्त्वो का सन्तुष्ट न होना स्वाभाविक था। नई प्रबन्ध परिषद् के सामने मुख्य प्रश्न पाँच वर्ष से चली आ रही छापामार लडाई को खत्म करना है जो एक टेढी खीर है। जब जून, 1978 के अन्तिम सप्ताह में रोडेशियायी ससद् का अन्तिम अधिवेशन हुआ तो इसके साथ ही राष्ट्रवादी छापामारो का गोरो को खत्म करने का एक नया अभियान शुरू हो गया।

वर्ष 1979 के शुरू में रोडेशिया समस्या समाधान के लिए जो प्रयास शुरू किए गए, उनके फलस्वरूप देश को एक नए संविधान का प्रारूप दिया गया। प्रारूप के पहले अध्याय में यह कहा गया कि देश का नाम 'जिवाब्वे-रोडेशिया' होगा। उसके बाद के अध्यायों में संसद् के गठन, न्यायपालिका, सुरक्षा सेनाओं सम्बन्धी आयोग, नागरिक सेवाओं की भूमिका आदि का उल्लेख किया गया। आयोग मे गोरो को ही रखा जाएगा, क्योंकि इस समय कोई भी काला इसमें शामिल किए जाने की योग्यता नही रखता। ससद् के दो सदन होंगे—सेनेट और विधानसभा। 30 सदस्यीय सेनेट में दो तिहाई काले होंगे, जबकि 100 सदस्यीय विधानसभा में कालो की संख्या 72 होगी। ससद् का कार्यकाल पाँच साल होगा। राष्ट्रीय सरकार का काम मन्त्रियों की कार्यपालिका चलाएगी। राज्याध्यक्ष का चुनाव सेनेट और विधानसभा के सदस्य मिलकर करेंगे। प्रधानमन्त्री उसी व्यक्ति को नियुक्त किया जाएगा जिसके दल को विधानसभा मे अधिक स्थान प्राप्त होंगे। लेकिन पहली

राष्ट्रीय सरकार की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रत्येक उस पार्टी के सदस्यों में से करेंगे जिसके संसद् में पाँच से अधिक स्थान हैं। जिस व्यक्ति को मन्त्री पद सौंपा जाएगा इसकी सूचना उस पार्टी का नेता राष्ट्रपति को देगा। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान मन्त्री को केवल अपनी पार्टी के मन्त्रियों को चुनने का अधिकार होगा।

10 सितम्बर, 1979 को रोडेशिया पर लन्दन में संवैधानिक सम्मेलन शुरू हुआ और 21 सितम्बर, 1979 को जिवाब्वे-रोडेशिया द्वारा सम्मेलन में ब्रिटिश प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। ब्रिटिश योजना यह थी कि जिम्बाब्वे में अश्वेतों बहुसंख्यकों की सरकार की स्थापना हो जाएगी। गोरों का प्रभुत्व समाप्त हो जाएगा। लन्दन वार्ता में विशप मुजोरेवा की सरकार के साथ-साथ पैट्रियाटिक फ्रंट मोर्चे के नेताओं ने भी भाग लिया। ब्रिटेन और मोर्चे के नेताओं ने इस बात पर जोर दिया कि संविधान बनने से ही जिवाब्वे को पूर्ण स्वाधीनता नहीं मिल जाएगी। कानूनी तौर पर उसे आजाद करने के लिए कुछ और व्यवस्थाओं की जरूरत होगी। 27 अक्टूबर, 1979 को रोडेशिया के प्रधान मन्त्री मुजोरेवा द्वारा लन्दन प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। 15 नवम्बर, 1979 को पैट्रियाटिक मोर्चे द्वारा रोडेशिया पर ब्रिटिश प्रारूप स्वीकार किया गया। 5 दिसम्बर, 1979 को लन्दन में रोडेशिया-समझौते की घोषणा की गई। 12 दिसम्बर, 1979 को रोडेशिया के विरुद्ध ब्रिटिश आर्थिक प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए। 22 दिसम्बर, 1979 को संयुक्त राष्ट्र द्वारा रोडेशिया के विरुद्ध 14 वर्षीय प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया गया।

रोडेशिया का स्वाधीन होना (स्वाधीन जिम्बाब्वे)

14 मार्च, 1980 को ब्रिटिश गवर्नर लॉर्ड सोम्स द्वारा घोषणा की गई कि 18 अप्रैल, 1980 को रोडेशिया को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान कर दी जाएगी। आखिर 17-18 अप्रैल, 1980 की मध्यरात्रि को जिम्बाब्वे (रोडेशिया) को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो गई। ब्रिटानी यूनियन जैक के स्थान पर जिम्बाब्वे के पाँच रंगों—लाल, सुनहरी, हरा, काला और सफेद—का ध्वज फहराया गया। ब्रिटानी गद्दी के वारिस युवराज चार्ल्स ने संवैधानिक सत्ता के हस्तांतरण सम्बन्धी दस्तावेज राष्ट्रपति कनान बनाना और प्रधान मन्त्री रॉबर्ट मुगाबे को प्रस्तुत किए। [illegible] ढंग से स्वाधीनता के इस हस्तांतरण समारोह में लगभग सौ देशों के [illegible] शासनाध्यक्ष तथा कई उच्चस्तरीय प्रतिनिधि उपस्थित थे। [illegible] जिम्बाब्वे के स्वाधीनता सम्बन्धी समारोह में लगभग 40 हजार लोग [illegible] ज्यों ही स्वाधीनता समारोह के बाद 21 तोपें दागी गई [illegible] जन-समूह का मन नाच उठा। इन समारोहों में ब्रिटानी [illegible] जिम्बाब्वे परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण था। कल तक का [illegible] (बंटू भाषा के दो शब्दों की सन्धि से बने जिम्बाब्वे [illegible] लेकिन राजधानी का नाम सालिसबरी ही है।

स्वाधीनता समारोह में सभी प्रमुख देशों [illegible] ब्रिटेन, पश्चिम जर्मनी, फ्रांस, सोवियत संघ, [illegible]

भारतीय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को जिबाब्वे में जो सम्मान प्राप्त हुआ उतना शायद ही किसी और देश के नेता को मिला होगा। प्रधान मन्त्री श्रीमती गांधी ने भविष्य में भी जिबाब्वे को पूर्ण सहायता का आश्वासन रॉबर्ट मुगाबे को दिलाया। स्वयं मुगाबे ने माना कि उनके स्वाधीनता संग्राम में भारतीय नेताओं और उनके विचारों ने जो भूमिका निभाई है वह हमारी धरोहर है। श्रीमती गांधी ने अपने साल्सबरी प्रवास के दौरान पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया उल हक से 50 मिनट तक परस्पर सम्बन्धों पर बातचीत की। दोनों नेताओं की यह पहली मुलाकात थी। चीन के विदेश मन्त्री हुआङ हुआ से भी श्रीमती गांधी ने विचारों का आदान-प्रदान किया। इन दो महत्त्वपूर्ण पड़ौसी नेताओं से श्रीमती गांधी की वार्ता बेशक मतभेदों को पाटने में सहायक होगी। समाजवादी देशों में केवल सोवियत संघ ने ही समारोह मे भाग लिया।

स्वाधीन जिबाब्वे को सभी बड़े देशों ने मान्यता प्रदान कर दी है। अमेरिका और जापान ने नवस्वाधीन देश को 10–20 लाख डॉलर की सहायता की घोषणा की। भारत, सोवियत संघ, पश्चिम जर्मनी, ब्रिटेन आदि देशों ने भी उसके विकास-कार्यों मे भरपूर सहायता का आश्वासन दिया है। जिबाब्वे में बहुसंख्यक कालों के शासन के बाद नामीबिया और दक्षिण अफ्रीका के बहुसख्यको को शीघ्र स्वाधीनता की आशा बँधी है। 'स्वापो' के अध्यक्ष सम नुजोमा ने, जो जिबाब्वे के स्वाधीनता समारोह मे भाग लेने के लिए साल्सबरी पहुँचे थे, आशा व्यक्त की है कि इस वर्ष किसी समय वह भी आजादी की उम्मीद कर सकते है। संयुक्तराष्ट्र की देखरेख में इस साल वहाँ पर चुनाव होने वाले हैं। दिलचस्प बात यह है कि यद्यपि ब्रिटेन में लैंकास्टर हाउस मे स्वाधीनता समझौते के तीन महीने के लम्बे दौर में भूतपूर्व प्रधान मन्त्री इयान स्मिथ ने भाग लिया था लेकिन स्वाधीनता समारोह मे वह उपस्थित नही थे—एक समाचार के अनुसार वह दक्षिण अफ्रीका में थे।

नवस्वाधीन जिबाब्वे के समक्ष कई तरह की समस्याएँ हैं। इस समय सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों मे गोरो का भी प्रभाव है। बहुराष्ट्रीय निगमे भी वहाँ पर काफी संख्या में हैं और निजी पूंजी कई महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में लगी हुई है। यद्यपि प्रधान मन्त्री रॉबर्ट मुगाबे समाजवादी विचारधारा के हैं तथापि वह एक साथ सभी उद्योगों का समाजीकरण, राष्ट्रीयकरण अथवा अफ्रीकीकरण करने की नही सोच सकते। इससे उत्पन्न खतरे कांगो के पैट्रिस लुंबुबा के समय अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के सामने आ चुके है। शायद इसी से सबक सीख कर मोजांबिक के घुर मार्क्सवादी समोरा मिशेल भी निजी क्षेत्रों का राष्ट्रीयकरण नही कर सके। रॉबर्ट मुगाबे का यह वक्तव्य कि सभी लोगों को एक साथ मिलकर देश का विकास करना है शायद इस सोच की दिशा की ओर संकेत है। पिछले 6 वर्ष के छापामार युद्ध में देश की अर्थ-व्यवस्था पर खासा प्रभाव पड़ा था।

8

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समकालीन प्रवृत्तियाँ और विवाद

(Contemporary Trends and Issues in International Politics)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समकालीन प्रवृत्तियाँ

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर जिस युग का सूत्रपात हुआ उसमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यवहार-क्षेत्र के अनेक 'नूतन क्षितिज' उभरे है, प्रभुत्व-क्षेत्र बदल गए है, नवीन प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ है, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् को नवीन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, विदेश नीतियों के स्वरूप बदलते जा रहे हैं–संक्षेप मे विश्व राजनीति का ताना-बाना महान् परिवर्तनो के दौर से गुजर चुका है और गुजरता जा रहा है । पहले हम कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का अवलोकन करेंगे—

1. युद्ध के भय की तीव्रता—द्वितीय महायुद्ध के अन्त मे आणविक हथियारों के प्रयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था कायम रखने की दिशा मे एक नए तत्त्व का समावेश कर दिया है । वह तत्त्व है–युद्ध के भय की तीव्रता (Intensifying fear of war) । आज आणविक शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रों में प्रत्यक्ष युद्ध को रोकने की आवश्यकता किसी भी समय से अधिक अनुभव की जा रही है । यह समझा जाने लगा है कि ऐसा कोई भी युद्ध समूची अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए एक भयावह चुनौती है ।

2. राज्य-व्यवस्था का विश्वव्यापी बनाना—राज्य-व्यवस्था पूर्ण रूप से विश्व-व्यापी बन चुकी है । आज विश्व का लगभग प्रत्येक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का सदस्य है और इस बात का व्यवस्था के अस्तित्व पर प्रभाव पड़ा है । यद्यपि दो सर्वोच्च महाशक्तियाँ एक-दूसरे पर विश्व-प्रभुत्व के प्रयत्नों का आरोप लगाती हैं, तथापि यह स्पष्ट हो चुका है कि किसी एक शक्ति द्वारा विश्व-साम्राज्य का यह भय यथार्थ न होकर काल्पनिक है ।

3. क्षेत्रीय प्रभुत्व की चुनौती में उभार—आधुनिक परिस्थितियों में विश्व साम्राज्य का भय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए कोई वास्तविक

चुनौती नहीं रह गया है। हाँ, क्षेत्रीय साम्राज्य का भय अवश्य विद्यमान है और अनेक राज्यों की नीतियों को सक्रिय बनाए हुए है। यही कारण है कि आज के युग में क्षेत्रीय युद्ध (Regional Wars) सामान्य बन गए हैं। राज्यों में क्षेत्रीय हितों के लिए युद्ध होते रहते हैं। विलियम कोपलिन के अनुसार समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए महाशक्तियों ने मुख्य रूप से तीन प्रकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है—

(क) जिन क्षेत्रों में उनके अपने हित हैं, वहाँ वे स्वयं स्थायित्व कायम रखने का प्रयत्न करते हैं।

(ख) कुछ क्षेत्रों में वे संघर्ष और क्षेत्रीय साम्राज्य को रोकने में परस्पर सहयोग करते हैं।

(ग) कुछ क्षेत्रों में वे विरोधी पक्षों को समर्थन देकर एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी एशिया में संयुक्त राज्य अमेरिका इजरायल का पृष्ठ-पोषण करता है तो सोवियत संघ अरब राष्ट्रों का।

4 **सुरक्षा संगठनों की तकनीक का विकास**—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में यह भी एक सामान्य बात हो गई है कि महाशक्तियाँ युद्ध छिड़ने से पहले ही बहुधा क्षेत्रीय मामलों में उलझ जाती हैं। द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में 'क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों' (Regional Security Organisations) की तकनीक का विकास हुआ है जो बहुत कुछ क्षेत्रीय गठबन्धनों जैसी दिखाई देती है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने नाटो, केन्द्रीय सन्धि सगठन, अमेरिकी राज्य-संगठन, ऐंज़ुस परिषद् जैसे क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों की स्थापना की है तो दूसरी ओर सोवियत सघ ने वारसा पैक्ट का गठन किया है।

5. **क्षेत्रीय राजनीति में हस्तक्षेपवादी नीति**—महाशक्तियाँ गृहयुद्धों में भाग लेकर भी क्षेत्रीय राजनीति में हस्तक्षेप करती रही हैं। रूस और अमेरिका दोनों ही महाशक्तियों ने गृहयुद्ध में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किए हैं। उन क्षेत्रों में जहाँ महाशक्तियों ने महसूस किया कि किसी एक महाशक्ति का वहाँ अपना विशिष्ट हित है, हस्तक्षेप एकपक्षीय रहा है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी गोलार्द्ध के किसी भी राज्य में घरेलू अव्यवस्था की दशा में अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका का हस्तक्षेप सामान्यत: पर्याप्त समझा जाता रहा है। पूर्वी यूरोपीय राज्यों में सोवियत संघ के विशेष हित हैं, अत: इन राज्यों में घरेलू अव्यवस्था के प्रति यह विशेष रूप से चौकन्ना रहता है। सम्भवत: दोनों महाशक्तियों में इस बात की सहमति हो गई है कि अपने-अपने हित-क्षेत्रों में यदि घरेलू राजनीतिक अस्थिरता की चुनौती प्रस्तुत हो तो अकेली महाशक्ति उस चुनौती से निबट ले, चाहे दिखाने के लिए दोनों पक्ष सार्वजनिक रूप से एक-दूसरे के विरुद्ध वक्तव्य दें। इस प्रकार जहाँ पश्चिमी गोलार्द्ध अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए छोड़ दिया गया है वहाँ पूर्वी यूरोप में सोवियत संघ के लिए छूट है।

6. विश्वव्यापी चौकसी की व्यवस्था—क्षेत्रीय साम्राज्यों को रोकने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस दोनों ने विश्वव्यापी चौकसी की व्यवस्था (Universal Survellance) अपनाई है। महाशक्तियाँ इस बात पर दृष्टि रखती हैं कि क्षेत्र-विशेष में किसी महाशक्ति द्वारा चुनौती प्रस्तुत की गई है या किसी अन्य राज्य द्वारा। जब चुनौती किसी महाशक्ति की ओर से नहीं आती तो दोनो ही महाशक्तियाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से अथवा पर्दे के पीछे की कूटनीति से प्रायः परस्पर सहयोग करती हैं। जहाँ चुनौती दोनो मे से किसी एक महाशक्ति द्वारा प्रस्तुत होती है, वहाँ प्रायः अवरोध (Deadlock) की स्थिति पैदा हो जाती है। बर्लिन, वियतनाम आदि के सन्दर्भ मे इस प्रकार की अवरोधपूर्ण स्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं। अन्य राज्यो द्वारा क्षेत्रीय प्रमुत्व के प्रयत्नों को रोकने में रूस-अमेरिकी सहयोग के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक महत्त्वपूर्ण संस्थात्मक आधार-स्थल का काम किया है। दोनो महाशक्तियों ने किसी युद्ध-विराम को लागू करने के लिए हर बार महासचिव के सद्-प्रयासो का स्वागत किया है। साइप्रस, मध्य-पूर्व और भारत-पाक सघर्षों मे ऐसा हो चुका है।

7. निःशस्त्रीकरण एक अधिक संयत प्रतिमान की दिशा में—समकालीन विश्व में दो महायुद्धों के बीच की अवधि की तुलना मे नि.शस्त्रीकरण ने एक अधिक सयत प्रतिमान (A more moderare pattern) का अनुसरण किया है। द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में इस पर अधिक बल दिया जाने लगा है। अधिकांश समकालीन निर्णयकर्ता नि.शस्त्रीकरण को ऐसा साधन या उपाय मानने लगे हैं जो युद्ध के खतरे को कम करता है। महाशक्तियों ने अपनी रण-नीतियाँ और व्यूह-रचनाओं को उग्र बनाने की नीति का अनुसरण किया है, लेकिन प्रत्यक्षतः एक दूसरे से संघर्ष की स्थिति को सदैव टाला है। यह स्थिति वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था कायम रखने मे सहायक हुई है।

8. विवाद क्षेत्रों का विभाजन—उन विवाद क्षेत्रो की सख्या और विविधता बढती जा रही है जिन पर राज्य परस्पर सौदेबाजी करते है। पुरातन युग में राज्य मुख्यतः उस क्षेत्र के नियन्त्रण पर सौदेबाजी करते थे जो उनकी भौगोलिक सुरक्षा मे सम्बन्धित होता था, किन्तु आधुनिक राज्य एक-दूसरे से व्यापक और विविध विवाद-क्षेत्रों पर सौदेबाजी करते हैं जिनमे से अनेक का प्रादेशिक नियन्त्रण जैसे प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ, राज्यो के बीच अन्तर्सरकारी संगठनो के निर्माण और गतिविधि, आर्थिक विकास की नीतियाँ, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याओ का अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे मे समाधान आदि प्रश्नों पर सौदेबाजी होती है, यहाँ तक कि कुछ राज्यों की आन्तरिक सामाजिक नीतियों (जैसे दक्षिण अफ्रीका मे रंगभेद नीति) पर भी राज्यों के मध्य सौदेबाजी होती है। जो प्रश्न प्रादेशिक नियन्त्रण और राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित हैं उन पर सौदेबाजी की स्थितियाँ अधिक पेचीदा बन जाती हैं। उदाहरणार्थ गुटनीति के सम्बन्ध में कोई समझौता केवल किन्ही प्रादेशिक लक्ष्यों के सम्बन्ध मे ही नहीं किया जाता या किसी

समझौते का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं होता कि एक राज्य या राज्यों के गुट विशेष के विरुद्ध सुरक्षा की जाती है, बल्कि उन समझौते में और भी व्यापक हित-प्रश्न सन्निहित होते हैं। नाटो, सीटो, वारसा पैक्ट आदि संगठन केवल प्रादेशिक नियन्त्रण और राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे प्रश्नों तक सीमित नहीं हैं बल्कि ऐसी प्रतिबद्धताओं में बंधे हुए हैं जिनसे अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जैसे विदेशी सेनाओं की तैनाती, प्रशासकीय कर्मचारियों की नियुक्ति, आधार-स्थलों की स्थिति, संगठन-सदस्यों के समर्थकों का आवंटन आदि। राष्ट्रीय सुरक्षा की राजनीति से शस्त्र-नियन्त्रण और निःशस्त्रीकरण जैसा विवाद-क्षेत्र या मसला उत्पन्न होता है और आज 20वीं शताब्दी की विदेश-नीति में यह मामला अधिकाधिक विवादास्पद बनता जा रहा है। अन्तर्सरकारी संगठनों के विकास से भी विवाद-क्षेत्रों की संख्या मे वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, इन संगठनो की राजनीति के प्रश्न, जिनमें सांविधानिक परिवर्तन, पदाधिकारियो के चुनाव, बजट सम्बन्धी आवंटन, संगठनो में राज्यों की स्थिति आदि शामिल हैं, राज्यों की विदेश नीति के नए विवाद-क्षेत्र बन गए हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्सरकारी सगठन व मानवाधिकारों, साम्यवाद बनाम पूँजीवाद, उपनिवेशवाद बनाम उपनिवेशवाद-विरोधी आदि समस्याओं पर मौखिक संघर्ष का रंगमंच प्रदान करते हैं।

9. **विचारधाराओं का परिवर्तित रूप**—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में *विचारधाराओं का कठोर स्वरूप लचीला होता जा रहा है तथा परिवर्तित हो रहा है*। इसके अनेक पक्ष हैं एक ओर साम्यवाद तथा पूँजीवाद—इन दो परम्परागत और परस्पर विरोधी विचारधाराओं में संघर्ष शिथिल पड़ रहा है और रूस तथा अमेरिका सहअस्तित्व की बात करने लगे हैं, तो दूसरी ओर एक ही विचारधारा के बीच विभाजन की खाई चौड़ी हो रही है और चीन तथा रूस एक-दूसरे को शत्रुता की दृष्टि से देख रहे हैं।

10. **बहुकेन्द्रवाद की ओर प्रवृत्ति**—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् *बहुकेन्द्रवाद (Polycentrism) की ओर उन्मुख है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भाषा* में द्वि-ध्रुवीयता (Bipolarity) का अर्थ है विश्व का दो शक्ति-गुटों या केन्द्रो में *विभाजन हो जाना और बहुकेन्द्रकवाद का अर्थ है शक्ति के अनेक केन्द्रों का उदय हो* जाना। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत रूस के नेतृत्व मे दो शक्ति-गुटों का तेजी से उदय हुआ, पर 1960 के आते-आते यह द्वि-ध्रुवीयता शिथिल पड़ने लगी और विश्व शनैः-शनैः बहुकेन्द्रवाद की ओर अग्रसर होने लगा। सबसे पहले द्वि-ध्रुवीयता को राष्ट्रीयता ने चुनौती दी। एशिया और *अफ्रीका के नवजागरण* के फलस्वरूप दोनों गुटों से पृथक् रहने की नीतियों को अपनाने से द्विकेन्द्रित व्यवस्था और अधिक शिथिल हो गई। इनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका भारत ने अदा की। इसके अतिरिक्त पश्चिमी यूरोप की शक्तियों ने अपने आर्थिक पुनर्निर्माण द्वारा स्वयं को पुनः शक्ति-सम्पन्न बनाकर यह निश्चय किया कि अब वे अमेरिका के पिछलग्गू बनकर नहीं रहेगे। विशेषकर फ्रांस ने स्वर्गीय जनरल

डिगॉल के नेतृत्व में विश्व की द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था को विशेष आघात पहुँचाया। इस व्यवस्था को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे इस बात से भी आघात पहुँचा कि अणु आयुधों का एकाधिकार अमेरिका और रूस के पास से खिसकने लगा तथा ब्रिटेन, फ्रांस और चीन भी अणुशक्ति सम्पन्न बन गए। नवोदित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की रूपरेखा यद्यपि अभी सुस्पष्ट और सुनिश्चित नहीं है, तथापि दो शक्ति गुटो के स्थान पर अधिक शक्ति केन्द्रों का स्पष्ट रूप से उदय हुआ है। अब विश्व की दो महाशक्तियों, रूस और अमेरिका के लिए एशिया में भारत और चीन की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है।

वस्तुतः वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बहुकेन्द्रीय है जिसमें केवल पूँजीवादी, साम्यवादी गुट, तटस्थतावादी गुट ही नहीं है बल्कि अन्य राष्ट्र और संयुक्त राष्ट्रसंघ भी सम्मिलित हैं। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ऐसी है कि उचित अवसर पर कमजोर से कमजोर राष्ट्र की आवाज भी अपना महत्त्व रखती है। मध्यपूर्व मे इजराइल और संयुक्त अरब गणराज्य भी शक्ति के ऐसे केन्द्र है जो अपने रवैये में परिवर्तन द्वारा सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और महाशक्तियो के पारस्परिक संबंधों को झकझोर सकते हैं। शक्ति-संतुलन की ऐतिहासिक परम्परा का आज विशेष महत्त्व नही रह गया और सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की बात अव्यावहारिक प्रतीत होने लगी है।

11. विभिन्न देशों के स्तरों में परिवर्तन—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति आज यूरोपीय देशों की राजनीति ही नही रह गई है। एशिया और अफ्रीका का नवजागरण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नए महत्त्व, नए सम्बन्ध और नए प्रभाव का सूचक है। आज अफ्रेशियाई राष्ट्रों का भाग्य साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साथ बंधा हुआ नहीं है, अब ये अपनी स्वतन्त्र विदेश-नीति का प्रयोग करने मे लगे है और सयुक्त राष्ट्रसंघ मे उनकी आवाज की उपेक्षा करना किसी भी महाशक्ति के लिए सुगम नहीं है। इन राष्ट्रों के निर्णयों का आधुनिक राजनीति पर भारी प्रभाव पड़ता है। भारत और चीन नई महाशक्तियों के रूप मे उदित हो रहे हैं और अपने सिद्धान्तो के अनुरूप विश्व राजनीति पर व्यापक प्रभाव डाल रहे हैं। भारत एशिया में लोकतन्त्र का गढ है तो चीन प्रादेशिक विस्तारवादी, सैन्यवादी तथा कुटिल राजनीति का खिलाड़ी है जो विश्व की सभी लोकतान्त्रिक महाशक्तियों के लिए चुनौती है। पाकिस्तान सैनिक तानाशाही के अधीन अपने ही हाथो अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार कर विखण्डित हो चुका है।

12. विश्व-संस्था के प्रति परिवर्तित रुख—विश्व-संस्था, संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति संसार के राष्ट्रो का दृष्टिकोण आज उतना उत्साहप्रद नही है जितना इस सस्था की स्थापना के समय अपेक्षित था। अधिकांश राष्ट्र इसके सिद्धान्तों के प्रति समुचित रूप से निष्ठावान नही हैं और सुरक्षा परिषद् महाशक्तियो के हाथों का खिलौना बन गई है। सयुक्त राष्ट्रसंघ ने सफलता या तो उन मामलों मे प्राप्त की है जिनमें महाशक्तियो से इसे पूर्ण सहयोग मिला अथवा उन छोटे और कम महत्त्व के विवादो

मे जिनसे महाशक्तियाँ प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नही थी और जिनमें उनके हितों की टकराहट नही थी। अतः अब अधिकांश देशो मे यह दृष्टिकोण बल पकड़ने लगा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ ईमानदारी से अपनी भूमिका निभाने में सक्षम नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति सद्भावना और सक्रिय सहयोग की अपेक्षा राष्ट्रों का उदासीन रुख अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में चिन्ता का विषय है।

13. मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व की विशिष्ट स्थिति—महायुद्ध के उपरान्त एशिया के दो प्रदेश मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे निरन्तर विशेष महत्त्व प्राप्त करते गए और आज भी ये विश्व के प्रधान संकट-स्थल बने हुए हैं। मध्यपूर्व तेल के वृहत् भण्डारों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आकर्षण केन्द्र है तो भारत और लाल चीन के उदय ने सुदूरपूर्व को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रदेशों की श्रेणी मे ला खड़ा किया है। वास्तव मे आज एशिया विश्व-राजनीति का तूफानी केन्द्र बन चुका है।

14. साम्राज्यवाद का बदलता हुआ स्वरूप—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक नई विस्फोटक प्रवृत्ति यह है कि साम्राज्यवाद के नए परिवेश मे उभरने के आसार नजर आ रहे है। प्रादेशिक साम्राज्यवाद तो पतनोन्मुख है, लेकिन आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद पैर पसारने के लिए प्रयत्नशील है। अफ्रीका इस नए साम्राज्यवाद का विशेष स्थल है, लेकिन अफ्रीकी जनता अब जाग उठी है और विभिन्न प्रकार से साम्राज्यवादो के विरुद्ध मोर्चा ले रही है। उस सघर्ष ने जहाँ एक ओर जन-आन्दोलनों का रूप ले लिया है, वही दूसरी ओर बुद्धिजीवियो का आन्दोलन भी इस मुक्ति-संघर्ष को तीव्र और स्थाई बनाने के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर रहा है और बौद्धिक तथा वैचारिक स्तर पर नई दुनिया का सूत्रपात कर रहा है। यह एक शुभ लक्षण है।

15. गुट-निरपेक्ष देशों की उत्तरोत्तर बढ़ती भूमिका—गुट-निरपेक्षता आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इतना प्रभावी होता जा रहा है कि महाशक्तियों और विश्व के पूँजीवादी तथा साम्यवादी शिविरों द्वारा गुट-निरपेक्ष देशो की आवाज को अब दबाया नही जा सकता। सन् 1961 के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन के बाद गुट-निरपेक्षता आन्दोलन को उल्लेखनीय सफताएँ प्राप्त हुई हैं। विश्व-शान्ति कायम रखने और विश्व-युद्ध तथा स्थानीय संघर्ष रोकने में गुट-निरपेक्षता ने सैद्धान्तिक एवं स्थानीय सहयोग प्रदान किया है। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष मे यह निरन्तर अग्रिम पक्ति मे रहा है। इसने विश्व के प्रमुख आर्थिक प्रश्नों की ओर ध्यान आकर्षित किया है और न्याय एव समानता के स्तर पर आधारित नव-आर्थिक समाज की स्थापना में रचनात्मक योग दिया है। गुट-निरपेक्ष देशों की निरन्तरता बढ़ती हुई संख्या गुट-निरपेक्षता की लोकप्रियता का प्रमाण है। सितम्बर, 1961 के बेलग्रेड गुट-निरपेक्ष प्रथम शिखर सम्मेलन में केवल 25 देशो ने भाग लिया था, सन् 1973 के अल्जीरिया सम्मेलन मे 76 देशों ने भाग लिया और अगस्त, 1976 के कोलम्बो सम्मेलन मे मालद्वीप निर्गुट राष्ट्र संगठन का 86वाँ

सदस्य-देश बना और सितम्बर, 1979 के हवाना सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के सदस्यों की संख्या 94 हो गई।

16. सम्प्रभु राज्यों की संख्या में वृद्धि—द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त उपनिवेशवाद के लोप से कारण सम्प्रभु राज्यों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। जहाँ सन् 1955 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों की संख्या केवल 51 थी, वहाँ अब यह 150 है। सम्प्रभु राज्यों की संख्या में इस अभूतपूर्व वृद्धि के फलस्वरूप विश्व-राजनीति का स्वरूप बहुत कुछ रूपान्तरित हो गया है और विभिन्न राज्यों के स्तरों तथा स्थितियों में तेजी से परिवर्तन आ रहा है। अफ्रेशियाई राष्ट्रों की आवाज विश्व संस्था में आज अधिक प्रभावी है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कुछ नवीनतम विवाद और घटना-चक्र

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना-चक्र एक अविराम प्रवाहमान सरिता की भाँति है जिसमें नित नए परिवर्तनों के छोटे-मोटे बुलबुले उठते-गिरते रहते हैं, परिवर्तनों की लहरें हिलोरें मारती रहती हैं। कुछ परिवर्तन अपेक्षाकृत शान्त प्रकृति के होते हैं तो कुछ काफी उग्र और विस्फोटक। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पहलुओं, महाशक्तियों की विदेश-नीति, संयुक्त राष्ट्रसंघ, निःशस्त्रीकरण, शीतयुद्ध आदि का विस्तार से उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। यहाँ हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्य उल्लेखनीय पहलुओं, अभिनव घटना-चक्रों तथा दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करेंगे।

(1) सेशेल्स की ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति

28 जून की आधी रात को सेशेल्स द्वीपसमूह 160 वर्षों के ब्रितानी आधिपत्य से मुक्त हो गया। सेशेल्स के सबसे बड़े द्वीप माहे (जहाँ सेशेल्स की कुल आबादी का 90 प्रतिशत भाग बसा हुआ है) में राजधानी विक्टोरिया के राष्ट्रीय स्टेडियम में सेशेल्स की लगभग समूची जनसंख्या (65 हजार) इस ऐतिहासिक अवसर पर एकत्रित हुई। रानी एलिजाबेथ के प्रतिनिधि ग्लोस्टर के ड्यूक ने सेशेल्स के 36 वर्षीय राष्ट्रपति जेम्स पंचम को नए संविधान के कागजात सौंपकर स्वतन्त्रता समारोह को अन्तिम रूप दिया। सेशेल्स, जो अब राष्ट्रमण्डल का 35वाँ सदस्य है, के नए राष्ट्रपति ने अपने भाषण में गुट-निरपेक्ष नीति को अपनाने का वचन दिया। जेम्स पंचम ने कहा कि हमारा देश एक अशान्त दुनिया में अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर रहा है। ऐसी स्थिति में सारी दुनिया को मेरा यह सन्देश है कि हमारे तट सुरक्षा की दृष्टि से कितने ही कमजोर क्यों न हो तथा हमारी आर्थिक स्थिति अभी भले ही ठीक न हो पर संयुक्त सेशेल्स को कभी पराजित नहीं किया जा सकेगा।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने नव-स्वतन्त्र राष्ट्र के नेताओं और जनता को अपने बधाई सन्देश में कहा कि "भारत और सेशेल्स के अनेक ऐतिहासिक सम्बन्ध तथा समान स्मृतियाँ हैं। हिन्द महासागर के इर्द-गिर्द के सभी देश अपने क्षेत्र को शान्ति का क्षेत्र बनाना चाहते हैं। हम इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए मिलकर काम करेंगे।"

(2) अफ्रीका में बदलती शासन-प्रणाली

एशिया और अफ्रीका महाद्वीप राजनीति और प्रशासन के प्रयोग में अस्थिर रहे हैं। अफ्रीका आज भी राजनीतिक अस्थिरता का शिकार है। जनवरी, 1977 के दिनमान मे अफ्रीका में बदलती शासन-प्रणालियों का सक्षिप्त विवरण दिया गया है जो हमें अफ्रीका की राजनीतिक और शासनिक स्थिति का अच्छा आभास देता है—

4 दिसम्बर, 1976 को मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र द्वारा राजशाही की घोषणा से केवल अफ्रीकी देशों में ही नही विश्व के अन्य देशो मे भी पर्याप्त प्रतिक्रिया हुई है। इस घोषणा के अनुसार जीन बेदेल बोकासा देश के सम्राट् होगे। सम्राट् बनने से पूर्व बोकासा देश के राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री और प्रतिरक्षा मन्त्री थे। सन् 1972 में उन्होंने देश के आजीवन राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया। अब वह बोकासा से सलाउद्दीन अहमद बोकासा हो गए हैं। लोकतन्त्र से देश को राजाशाही की ओर ले जाने का निर्णय पिछले दिनों सत्तारूढ मैसोन (काले अफ्रीकी आन्दोलन पार्टी) ने किया था। अभी तक अफ्रीकी देशो मे युगांडा के ईदी अमीन को महत्त्वाकांक्षी माना जाता रहा है लेकिन बोकासा उनसे भी एक कदम आगे निकल गए। दिलचस्प बात यह है कि उन्हें बधाई देने वाले लोगों मे सबसे पहले व्यक्ति अमीन ही थे।

मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र पर कभी फ्रांसीसियो का अधिकार था। पिछले दिनों अफ्रीका की एकमात्र राजशाही इथियोपिया का अन्त हुआ था। अफ्रीकी देशों ने तब इस परिवर्तन को सही दिशा माना था, हालांकि जिस तरह से सम्राट् हेले सिलासी को सत्ता से हटाया गया था उस तरीके को अच्छा नही माना गया था, किन्तु हर देश की अपनी व्यवस्थाएँ और स्थापनाएं होती है। उनके अनुसार ही वहाँ का शासनतन्त्र संचालित होता है। जहाँ तक अफ्रीकी देशों का प्रश्न है यदि बारीकी से अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि आजाद होने के बाद इन देशो मे लोकतंत्र और बहुत हद तक ससदीय लोकतन्त्र की परम्पराएँ ही शुरू में कायम होती रही हैं। धीरे-धीरे एक कबीले और दूसरे कबीले मे जब मतभेद बढते चले जाते हैं तो नाते टूटने लगते हैं और इस तरह शासनतन्त्र की प्रक्रिया में भी परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है। अतः इन देशों मे सैनिक क्रान्तियाँ और अस्थिरता कोई अनहोनी बात नही है।

जागरूक नेता—कुछ नेता जो अधिक जागरूक, सतर्क और चौकस थे, उन्होंने या तो देश मे एकदलीय शासन प्रणाली कायम की या सविधान को अपने हितों के अनुरूप ढाल कर आजीवन राष्ट्रपति या राज्याध्यक्ष का पद प्राप्त कर लिया। लेकिन एक राज्याध्यक्ष द्वारा अपने आपको सम्राट् घोषित करने का कदम मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र ने ही उठाया है। इस तरह के भी अवसर आए है कि स्वयं को आजीवन राष्ट्रपति घोषित करने वाले नेताओ को केवल सत्ता से ही नही हटाया गया बल्कि उनका अन्त बड़े कठिन दौर में और अपने देश से बाहर हुआ। इसका उदाहरण घाना के राज्याध्यक्ष डॉ. क्वामे एन्क्रूमा हैं। नाइजीरिया से पहले बिअफा के अलगाव के प्रश्न पर पर्याप्त रक्तपात हुआ। इस दौर से पहले और इस दौर के बाद भी वहाँ

राजनीतिक अस्थिरता कायम रही। पहले प्रधान मन्त्री तफावा बालेवा की हत्या हुई, उसके बाद कर्नल गोवोन जब सत्ता में आए तो जनरल ईरोसी की हत्या हुई। गोवोन विश्रफा लड़ाई तो लड़ गए लेकिन बाद मे जब उनकी जड़ मजबूत होने लगी तो जिस सैनिक शासन के बल पर वह सत्ता मे आए थे उसी सैनिक बल ने उन्हें सत्ता से हटा दिया। युगांडा के डॉ. मिल्टन ओबोटे को भी अपने विषय मे कम भ्रम नही था। लेकिन उन्ही के सेनाध्यक्ष जनरल ईदी अमीन ने उनकी अनुपस्थिति में सत्ता हथिया ली। युगांडा मे भी स्वाधीनता के बाद राजशाही थी, लेकिन जब सन् 1966 मे मिल्टन ओबोटे ने एडवर्ड मुतेसा से सत्ता छीनी तो उन्होंने राजाशाही समाप्त कर दी। अफ्रीकी देशो मे यदि कहीं अस्थिरता दिखाई दे रही है तो वे देश हैं—जाँबिया, जहां के राष्ट्रपति केनेथ काउडा (24 अक्तूबर, 1964 से राष्ट्रपति) हैं, तन्जानिया, जहां के राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे (26 अप्रेल, 1964 से राष्ट्रपति) है और केन्या, जहां जोमो केन्याटा (12 दिसम्बर, 1964 से राष्ट्रपति) सत्ता में है। वैसे रक्तपात के दौरे से जेयरे भी गुजरा है, लेकिन सन् 1966 से राष्ट्रपति मोबुतु के हाथ में निरन्तर शासन की बागडोर है। सन् 1970 मे वह सात वर्षों के लिए राष्ट्रपति चुने गए थे। दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया दो ऐसे देश है जहाँ गोराशाही है। निस्सन्देह गोराशाही का अन्त करने की शुरुआत हो चुकी है लेकिन उसकी समाप्ति कब होगी कह पाना कठिन है। स्थिरता के नाम पर मॉरिशस मे भी 12 मार्च, 1968 से राजनीतिक अस्थिरता है। वहां पर ससदीय सरकार है, लेकिन 20 दिसम्बर, 1976 को जो चुनाव हुए हैं सम्भवत. वे राजनीतिक अस्थिरता का कारण बन सकते हैं।

आसपास—मध्य अफ्रीका गणतन्त्र का क्षेत्रफल 6,25,000 वर्ग किलोमीटर है। इसकी जनसख्या 2,080,000 (1970 का आंकड़ा) है। राजधानी बांगुई है जिसकी जनसख्या 3,01,793 है। 13 अगस्त, 1960 को मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र को स्वाधीनता प्राप्त हुई। अफ्रीका के चार फ्रांसीसी राज्यों मे मध्य अफ्रीका गणतन्त्र भी एक राज्य था। जनवरी, 1959 मे अन्य तीन अफ्रीकी फ्रांसीसी राज्यों के साथ मिल कर आर्थिक और तकनीकी सघ का गठन हुआ। 20 सितम्बर, 1960 को मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र को संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनाया गया। पहले राष्ट्रपति डेविड डाको थे। जनवरी, 1960 मे अपने चुनाव के बाद उन्होने सभी राजनीतिक पार्टियों को भंग कर दिया। जनवरी, 1962 मे उनका पुनर्निर्वाचन हुआ। चुनाव मैदान मे तब वह केवल एकमात्र उम्मीदवार थे। उस समय मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र चीनी गतिविधियो का मुख्य केन्द्र बना हुआ था। जनवरी, 1966 को मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र के सेनाध्यक्ष कर्नल जीन बेदेल बोकासा ने राष्ट्रपति डाको को सत्ताच्युत कर दिया। राष्ट्रपति बोकासा ने चीन से सभी तरह के राजनयिक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिए। 8 मार्च, 1972 को वह देश के आजीवन राष्ट्रपति बन गए।

फ्रांस का प्रभाव—मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र भूतपूर्व फ्रांसीसी उपनिवेश है। तब इसका नाम उबांगी शारी था। यह गिनी की खाड़ी के 350 मील उत्तर-पूर्व मे

स्थित है। मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र चैड, सूडान, कांगो, जेयरे और कैमरून से घिरा हुआ है। इन देशों से घिरा होने के कारण यहां पर विस्थापितों की संख्या भी काफी है—लगभग बीस हजार सूडान के और दो हजार कांगो के निवासी भी यहां रहते हैं। यहां की सरकारी भाषा फ्रांसीसी है लेकिन बांडा, मबाका, जांदे तथा मांदजीया बाया कबीलों के लोग सांगों बोली बोलते हैं। मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र की आय का मुख्य स्रोत हीरा है।

(3) यूरोपीय आर्थिक समुदाय की 20वीं वर्षगांठ, मार्च 1977

यूरोपीय आर्थिक समुदाय ने 25 मार्च को रोम मे अपनी 20वीं वर्षगांठ मनाई। इस अवसर पर सभी नौ सदस्य-देशों के प्रतिनिधियों ने समुदाय की गतिविधियों के लेखे-जोखे के अलावा सयुक्त यूरोप की परिकल्पना पर भी विचार-विमर्श किया। ऐसी आशा की गई थी कि रोम सम्मेलन में कुछ ऐसे निर्णय लिए जाएँगे जिनसे समुदाय की गतिविधियों को एक नई दिशा मिलेगी, जिससे समुदाय के देशों के पारस्परिक सम्बन्ध तो घनिष्ठ होंगे ही, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी वह ठोस और प्रभावी आर्थिक-राजनीतिक भूमिका निभा सकेगा। किन्तु जो विज्ञप्ति प्रसारित की गई उसमें नया कुछ भी नहीं था, पुरानी नीतियों और आश्वासनों को ही दोहराया गया। संयुक्त यूरोप की परिकल्पना को कोई मूर्तरूप देना तो दूर रहा, सदस्य-देश कोई ऐसा प्रमाण देने मे भी विफल रहे जिससे यह आश्वासन मिलता कि उनकी एकता अभंग है। सच तो यह है कि 20 वर्ष पहले की रोम सन्धि के लक्ष्य की पूर्ति की सम्भावना तो पहले से कम दिखाई पड़ी।

समुदाय के सदस्य-देशों मे व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता के रहते उनके नेताओं से किसी ठोस निर्णय की आशा भी नही की जा सकती थी। यदि यूरोपीय आर्थिक समुदाय को प्रभावी बनाना है तो यह आवश्यक है कि सदस्य देशों के राष्ट्राध्यक्ष ऐसी सयुक्त यूरोपीय नीतियाँ तैयार करें जिनका पालन करने के लिए सभी सरकारें बाध्य हों और यदि समुदाय मन्त्रि-परिषद् किसी समझौते पर पहुँचने में विफल हो तो इस दशा में न्यायालय में अपील करने का प्रावधान हो। रोम सम्मेलन मे इस दिशा मे कोई प्रयास ही नहीं किया गया। जापान से व्यापार सम्बन्ध, इस्पात उद्योग को प्रोत्साहन, कच्चे माल की उपलब्धि आदि पर भी समुदाय के दृष्टिकोण में कोई नवीनता नहीं है।

25 मार्च, 1957 की रोम-सन्धि का एक मुख्य उद्देश्य यह था कि पश्चिमी यूरोप के सभी देशों को साझा बाजार मे बराबर का अधिकार मिले। 20 वर्ष बीत जाने पर भी इस दिशा मे कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। आर्थिक समुदाय की गतिविधियों में अपना वर्चस्व बनाए रखने का प्रयास समुदाय के बड़े सदस्य-देश निरन्तर करते रहे हैं और अब भी कर रहे हैं। रोम सम्मेलन मे चार बड़ों—ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी और इटली—ने छोटे सदस्य-देशों की बात प्रायः अनसुनी कर अपने इरादों को अभिव्यक्ति दी। वर्तमान में स्थिति यह है कि एक यूरोप के समर्थक

तो बहुत है, किन्तु ऐसे यूरोप का नेतृत्व किसके हाथ में हो इसके लिए उनमे प्रतिस्पर्द्धा बनी हुई है। जब तक यह स्थिति रहेगी, संयुक्त यूरोप की स्थापना की दिशा मे समुदाय कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सकेगा।

(4) शिखर सम्मेलन : सात बड़ों का मिलन, मई 1977

7 और 8 मई, 1977 को लन्दन में सात गैर-कम्युनिस्ट देशों का शिखर सम्मेलन सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन कई तरह से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पहली बार अमेरिका के राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने अपने देश से बाहर जाकर किसी सम्मेलन मे भाग लिया था। पहली बार ही कार्टर और पश्चिम जर्मनी के चांसलर हेल्मूट श्मिड्ट में बातचीत हुई थी। यूरोप मे ही (जिनेवा) में कार्टर ने सीरिया के राष्ट्रपति हाफिज असद से लम्बी वार्ता की थी और पश्चिमी एशिया की समस्या का जायजा लिया था। कार्टरी मुस्कान की पूरे सम्मेलन में चर्चा रही। राजनीतिक टिप्पणीकारों का विचार है कि कार्टर की उपस्थिति से सम्मेलन मे एक नई तरह की ताजगी थी जो पहले बहुत कम देखने-सुनने को मिला करती थी। शायद यही कारण था कि इस आर्थिक शिखर सम्मेलन ने जो निर्णय लिए, उन पर औद्योगिक और विकासशील देशों में अधिक तीखी प्रतिक्रिया नहीं हुई। यों विकासशील देश अधिक प्रसन्न भी नहीं थे।

इस दो दिवसीय सम्मेलन मे भाग लेने वाले सदस्य-देश थे—अमेरिका (जिम्मी कार्टर), ब्रिटेन (जेम्स केलेहन), पश्चिमी जर्मनी (हेल्मूट श्मिड्ट), फ्रांस (जिस्कार द एस्तें), जापान (फुकुदा), कनाडा (पियेरे त्रूदो) और इटली (आंद्रियोती)। इन देशो के नेताओ ने स्थिति का अवलोकन करते हुए महसूस किया कि सन् 1975 की अपेक्षा आर्थिक स्थिति में न्यूनाधिक सुधार ही हुआ है। यद्यपि किसी न किसी प्रकार के गम्भीर मामले हर देश के सामने रहे हैं। इस समय सबसे प्रमुख मुद्दा मुद्रा-स्फीति की दर को कम कर रोजगार के नए क्षेत्रों को ढूंढना था। मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण का अभिप्राय बेरोजगारी को कम करना तो है, लेकिन इससे उसका समूल विनाश नहीं हो पाएगा। यह बात भी अनुभव की गई कि सन् 1974 मे तेल की मूल्यवृद्धि से पश्चिमी देशों की अर्थ-व्यवस्था पर जो प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था वह किसी न किसी रूप में अभी तक बना हुआ है और यही कारण है कि फालतू और कमी वाले देशों मे तालमेल की बहुत आवश्यकता है। यह आवश्यकता है कि विभिन्न देशो की वृद्धि और स्थिरता के लक्ष्यों मे परस्पर समन्वय बैठाया जाए।

मुख्य फैसले—ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री जेम्स केलेहन ने आर्थिक शिखर सम्मेलन के प्रमुख मुद्दों का हवाला देते हुए कहा—मुद्रा-स्फीति में कटौती के प्रयास और अधिक रोजगार की स्थितियाँ पैदा करना; अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष में अतिरिक्त साधन जुटाना ताकि सदस्य-देशों की आर्थिक स्थिति को अच्छा बनाने की दिशा मे कार्य किया जा सके; बहुपक्षीय व्यापार समझौतों द्वारा व्यापार में वृद्धि करना, ऐसा होने

से कुछ देशों के प्रति जो 'संरक्षात्मक रवैया' अपनाया जाता रहा है उसे समाप्त किया जा सकेगा। ऊर्जा के संरक्षण में निश्चित प्रयास तथा ऊर्जा के नए साधनों को विकसित करना, परमाणु ऊर्जा की बढोत्तरी के लिए आवश्यक अध्ययन करना, लेकिन इस बात का ख्याल रखा जाएगा कि परमाणु-हथियारों के उत्पादन की होड न लग जाए, विकासशील देशों को सहायता देने के लिए हर सम्भव प्रयास करना, एक अरब डॉलर की एक विशेष निधि की स्थापना की गई है ताकि अतिनिर्धन देशों की सहायता की जाए और वे अपने ऋण के ब्याज का भुगतान कर सकें। इसके साथ ही इन गरीब देशों के उत्पादों जैसे काफी, टिन आदि की नियमित मुहैया करने के लिए समझौते भी शामिल हैं। इन समझौतों को कार्यरूप देने के लिए इन गरीब देशों की वित्तीय सहायता के लिए भी एक निधि की स्थापना करने का फैसला किया गया है। इस बात की भी कोशिश की जाएगी कि इन उत्पादनों के निर्यात से प्राप्त होने वाली आय को नियमित करने की व्यवस्था की जाए।

ऊर्जा के सम्बन्ध में भी उपयोगी कदम उठाए गए। परमाणु प्रसार के संकट को कम करते हुए परमाणु ऊर्जा की वृद्धि पर जोर दिया गया। इस परमाणु ऊर्जा के विकास का अर्थ गरीब देशों की सहायता करना है। सम्मेलन मे यह भी महसूस किया गया कि सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के साथ सहयोग करने के प्रयास किए जाएँगे। यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशो की तरह समाजवादी देशों का भी एक व्यापार समुदाय है जिसे 'कामिकान' कहा जाता है। 'कामिकान' के देशों के साथ व्यापार बढाने पर भी जोर देने की बात उठाई गई जिसे सभी देशों ने स्वीकार किया। इनके अलावा सात देशों के बीच अनुभव तथा नवीन तकनीकों का आदान-प्रदान किया जाएगा। युवा वर्ग को अधिक सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी। राष्ट्रपति कार्टर की मानवाधिकार सम्बन्धी नीतियों की मोटे तौर पर पुष्टि की गई।

मतभेद भी—प्रमुख मुद्दों की सहमति के बावजूद इन देशो के नेताओं में असहमति के पुट भी दिखाई दिए। फ्राँस के राष्ट्रपति जिस्कार द एस्तें ने कहा कि बेशक गरीब और विकासशील देशों की सहायता के लिए विशेष निधि की स्थापना सम्बन्धी कोष पर सहमति हो चुकी है, लेकिन इससे इन देशों का कम भला होगा। सन् 1975 से उत्तर-दक्षिण के देशों में जो संवाद चल रहा है, यदि इस वर्ष के अन्त तक वह किसी नतीजे पर नहीं पहुँचता तो अमीर और गरीब देशों के बीच केवल शका की परतें ही मजबूत नहीं होंगी, बल्कि परस्पर मतभेदों की खाई भी चौड़ी होती चली जाएगी और इससे गरीब देशों को एक 'मनोवैज्ञानिक झटका' लगेगा।

परमाणु अस्त्रों पर विचार—इस तरह का मतभेद परमाणु अस्त्रों के निर्माण और उनकी बिक्री के बारे मे भी था। एक तरफ तो परमाणु अस्त्रों के प्रसार पर रोक लगाने की बातें की जाती हैं दूसरी ओर उनके निर्माण की गति में वृद्धि हो रही है। कार्टर-प्रशासन के सत्ता में आने के बाद अमेरिका और रूस में जो 'साल्ट' वार्ता हुई है उसे सफल नहीं कहा जा सकता। इससे दोनों देशों के बीच 'देतां' के सम्बन्धों को भी आघात पहुँचा है। अमेरिका की मानवाधिकार की परिभाषा से सोवियत संघ

क्रुद्ध हुआ है। इससे पूर्वी और पश्चिमी देशों के बीच जिस निकटता की बात की जाती रही है उसमें भी दरारें पड़ सकती हैं। यह तो सर्वविदित है कि पश्चिम जर्मनी द्वारा ब्राजील को परमाणु संयंत्र दिया जाना अमेरिका को स्वीकार नहीं। इस विषय पर दोनों देशों में कहासुनी हो चुकी है। माना जाता है कि जब जिम्मी कार्टर ने हेल्मुट श्मिड्ट के सामने यह मुद्दा रखा तो श्मिड्ट ने कहा कि पुराने समझौते तोड़ने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे उसकी साख गिरेगी। केवल परमाणु समझौता ही नहीं टूटेगा बल्कि बहुत से ऐसे व्यापारिक अनुबन्ध भी टूट सकते हैं जो कई वर्ष पहले केवल जर्मनी और ब्राजील के बीच ही नहीं अन्य देशों के साथ भी हुए हैं। किन्तु इस बात पर सहमति थी कि परमाणु ऊर्जा के विनाशकारी तरीकों पर रोक लगाने के लिए सभी देश मिलकर प्रयत्न करेंगे। फ्रांस द्वारा पाकिस्तान को परमाणु संयंत्र की जानकारी दिए जाने का भी हवाला दिया गया। इस समझौते को रद्द कराने के लिए भी अमेरिका के दबाव की आलोचना की गई। राष्ट्रपति कार्टर ने कहा कि निस्संदेह सभी देश परमाणु अस्त्रों के प्रसार पर रोक लगाने के इच्छुक हैं लेकिन यह मसला बहुत ही जटिल होता जा रहा है। लिहाजा शिखर सम्मेलन ने एक समिति का गठन किया जो परमाणु प्रौद्योगिकी के सुरक्षात्मक प्रयोग के तरीकों का अध्ययन करेगी। इसका उद्देश्य आणविक क्षमताओं के प्रसार पर नियन्त्रण करना है, लेकिन उसके ईंधन आदि के रूप में या शान्तिपूर्ण प्रयासों के लिए प्रयोग करने वाले देशों को इस तकनीक से वंचित करना नहीं है। यदि कहीं किसी मुद्दे पर मतभेद था तो यही एक मुद्दा था।

वैसे नाटो की भूमिका के बारे में भी फ्रांस और अमेरिका के तर्कों में सामंजस्य नहीं बैठा। कार्टर नाटो देशों से अच्छे सम्बन्ध बनाने के इच्छुक हैं जबकि द एस्तें तटस्थता का रवैया ही अपनाए रखना चाहते हैं। नाटो के जिन 20 देशों के नेताओं ने लन्दन में विचार-विमर्श किया उनमें द एस्तें उपस्थित नहीं थे। कार्टर ने कहा कि यदि नाटो देशों को सैनिक रूप में शक्तिशाली नहीं बनाया जाएगा तो वे सोवियत सघ की बढती हुई सामरिक शक्ति का मुकाबला नहीं कर पाएँगे। लन्दन में इन वार्ताओं के बाद कार्टर ने जिनेवा में सीरिया के राष्ट्रपति हाफिज असद से वार्ता की तो अन्य नेता अपने-अपने देशों को लौट गए। कार्टर ने असद से वार्ता के बाद पश्चिमी एशिया की समस्या सुलझाने पर जोर दिया। उन्होंने यह भी कहा कि फिलिस्तीनियों को पृथक् राज्य दिए जाने की आवश्यकता है। ऐसा अनुमान है कि पश्चिमी एशिया के मामले पर जिनेवा में जो वार्ता होगी तब फिलिस्तीनियों की इस माँग पर विचार होगा। (दिनमान, मई 1977)

(5) राष्ट्रकुल सम्मेलन, जून 1977

सात जून से पन्द्रह जून, 1977 तक राष्ट्रकुल देशों का 21वाँ शिखर सम्मेलन लंदन में हुआ। 36 सदस्य-देशो मे से 34 देशों ने इसमें भाग लिया—युगांडा और सेशेल्स उपस्थित नही हुए। युगांडा के राष्ट्रपति ईदी अमीन की नीतियों के कारण उन्हें इस सम्मेलन मे भाग लेने की अनुमति नहीं दी गई, या यों कहिए कि उनक

निरन्तर विरोध हुआ और सेशेल्स मे जेम्स मांशेम का तख्ता पलट जाने पर लन्दन में रहते हुए भी वह सम्मेलन में उपस्थित नहीं हुए। यह परामर्श उन्हें मारिशस के प्रधान मन्त्री सर शिवसागर रामगुलाम ने दिया। वर्तमान राष्ट्रकुल सम्मेलन इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रहा कि जब 34 देशों के प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति लन्दन पहुँचे तो ब्रिटेन महारानी एलिजाबेथ द्वितीय की सत्ता की रजत जयन्ती मना रहा था।

उद्घाटन भाषण—इस सम्मेलन मे आकर्षण का मुख्य केन्द्र भारत के प्रधान मन्त्री मोरारजी दसाई थे। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री जेम्स केलेहन के बाद वरिष्ठ सदस्य होने के कारण जांबिया के राष्ट्रपति केनेथ काउंडा ने अपना भाषण दिया और उसके बाद मोरारजी देसाई को पहले दिन अपना भाषण देने का अवसर प्रदान किया गया। इस सम्मेलन मे सभी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर खुल कर विचार हुआ। कभी-कभी गरमागरमी भी हुई, लेकिन कुल मिलाकर वातावरण सद्भावना पूर्ण रहा। लकास्टार हाउस में हुए इस सम्मेलन के अपने उद्घाटन भाषण में जेम्स केलेहन ने कहा कि अमीर और गरीब देशों के बीच व्याप्त खाई, दक्षिण अफ्रीका में चलते हुए सघर्ष आदि समस्याओ का सामूहिक बुद्धिमत्ता द्वारा समाधान करना है। उन्होने पेरिस मे सम्पन्न उत्तर-दक्षिण सवाद का भी उल्लेख किया जिसके अपेक्षित परिणाम प्राप्त नही किए जा सकते थे। हम हमेशा यह तो कहते हैं कि हमे परस्पर-निर्भर रहना चाहिए, किन्तु अमीरों और गरीबो के बीच खाई और दूरी बराबर बढती जा रही है। ससार की 65 करोड़ जनसंख्या नितान्त गरीबी मे अपना जीवन बिताती है, उसकी वार्षिक आय 50 पाउण्ड प्रति व्यक्ति भी नहीं है। निस्सदेह यह हमारे युग और हमारे नेतृत्व को बहुत बडी चुनौती है। राष्ट्रकुल के विभिन्न भागो से सम्बन्ध रखने वाले हम सभी देशों को नितान्त गरीबी का जीवन व्यतीत करने वाले लोगों के साथ मिल बैठकर उनके उद्धार की दिशा में कार्य करना है। ब्रितानी प्रधान मन्त्री ने सभी तरह के जातिगत भेदभावों की निन्दा करते हुए कहा कि दक्षिण अफ्रीका मे बहुसख्यक लोगों के शासन की स्थापना सम्बन्धी समस्याओं का समाधान ढूंढना चाहिए। ब्रिटेन आशा करता है कि रोडेशिया और नामीबिया की समस्या का समाधान शीघ्र हो जाएगा। वास्तव में सारी अन्तर्राष्ट्रीय मानव शक्तियाँ इन देशो मे बहुसंख्यक शासन की स्थापना के लिए वचनबद्ध हैं। केलेहन के बाद केनेथ काउडा ने महारानी एलिजाबेथ की भूमिका की प्रशंसा करते हुए कहा कि उन्होने अपने कार्यों और प्रयासों द्वारा इसे ब्रितानी राष्ट्रकुल के स्थान पर जन-राष्ट्रकुल का रूप दे दिया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण—काउडा के बाद मोरारजी जब बोलने को खड़े हुए तो तालियों की गड़गड़ाहट से वातावरण गूँज उठा। उन्होंने सभी समस्याओं को मिलजुल कर सुलझाने पर जोर देते हुए कहा कि समय के साथ और बढ़ती हुई उम्र के कारण उन्होने दार्शनिक रवैया अपनाना शुरू कर दिया है। अब तो मेरी एक ही आकांक्षा है कि हम अपनी समस्याओ को सामान्य समस्याएँ समझ कर उनका हल

ढूंढें। ऐसा करने पर ही हम किसी परिणाम पर पहुंच सकेंगे वरना हमारी समस्याएं बढ़ती चली जाएंगी। राष्ट्रकुल को संयुक्त राष्ट्र का 'लघु रूप' बताते हुए उन्होंने कहा कि कालान्तर में यह संस्था वैचारिक मंच स्थापित करेगी जिसमें संसार के सभी विचारों को प्रतिबिंबित किया जाएगा। विचारों के इस तरह बनने और उन पर विचार होने से ही हमें शक्ति मिलेगी और हम लोगों में एकता और भाईचारे की भावना विकसित होगी। श्री देसाई ने राष्ट्रकुल की भूमिका की चर्चा करते हुए कहा कि विश्व-युद्ध के बाद चौकसी और सतर्कता का वातावरण बना था। उसमें हमारी सभ्यता में कुछ दरारें दिखने लगी थीं, हमे उन दरारो को भरना है ताकि विश्व को गरीबी और विनाश से बचाया जा सके। आज अमीर और गरीब मिलकर रहते हैं। उनमें गरीबी और अमीरी की समस्या नहीं, समस्या मानवता की है। मानवता की इस समस्या को हम अपनी लगन और ईमानदारी से सुलझा सकते हैं। हमे जातिवाद, नस्लवाद, धर्म आदि के अवरोधों और बन्धनो को तोड़कर एक ऐसे संसार का निर्माण करना चाहिए जहाँ परस्पर विश्वास और आस्था की भावना विकसित हो। ऐसा होने से हम उन्नति कर पाएंगे, नहीं तो चुनौती और विनाश के आतंक म हम अपना समय नष्ट कर देंगे। इसके लिए आज की सरकार और प्रशासन में अधिक खुलापन और उद्देश्यपूर्ण तौर-तरीका होना चाहिए। हमें अपने कार्यों को उचित ठहराते हुए लोगों का विश्वास प्राप्त करना चाहिए। यह सब काम शान्ति से ही सम्भव है और निस्संदेह देर-सवेर इसमें हमें सफलता मिलेगी।

रामफल की कार्यसूची—प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई के इस भाषण का इतना प्रभाव पड़ा कि अगले सभी वक्ताओं ने उन्ही के भाषण से उद्धरण दिए। अफ्रीकी समस्या को सुलझाने के लिए मोरारजी देसाई के भाषण का सहारा लिया गया तो अमीर और गरीब देशों के बीच व्याप्त खाई को पाटने के लिए भी श्री देसाई के विचारों की सराहना की गई। राष्ट्रकुल के महासचिव श्रीधत रामफल ने सदस्य-देशों के प्रति सम्मेलन की कार्यसूची प्रस्तुत करते हुए कहा कि इस सम्मेलन को कुछ गम्भीर और आवश्यक विषयों पर विचार-विमर्श करना है। राष्ट्रकुल इस संकट कालीन विश्व में शान्ति ला सकता है। इस तरह की आशा कुछ समय पहले पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने व्यक्त की थी।

परस्पर सम्बन्धों पर वार्ता—प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने बगलादेश के राष्ट्रपति जियाउर्रहमान से फरक्का तथा अन्य परस्पर समस्याओं पर दो बार वार्ता की। इसके अलावा कनाडा के प्रधान मन्त्री पियेरे त्रूदो से भी प्रधान मन्त्री ने बातचीत की तथा परमाणु परीक्षण से उत्पन्न भारत और कनाडा मे जो तनावपूर्ण वातावरण पैदा हो गया था उस पर भी दोनों प्रधान मन्त्रियों ने विचार-विमर्श किया। इस बात की आशा हो चली है कि एक बार फिर भारत और कनाडा मे सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होंगे। आस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री माल्कम फ्रेजर से भी श्री देसाई ने बातचीत की। श्री देसाई का प्रस्ताव था कि एशियाई और यूरोपीय समुदायों को मिल बैठकर अपनी आर्थिक समस्याओं का समाधान ढूंढ़ना चाहिए। अन्य एशियाई देशों

की तरह आस्ट्रेलिया को भी अपने कृषिजन्य उत्पादनों को यूरोपीय और विशेष तौर पर यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों को खपाने मे कठिनाई अनुभव हो रही है। इसके लिए उन्हे किसी विकल्प की खोज करनी होगी। मोरारजी देसाई ने सिंगापुर, मलयेशिया और जमैका के नेताओ से भी बातचीत की।

नाइजीरिया का आक्रोश—नाइजीरिया के विदेश मन्त्री ब्रिगेडियर जे. एन. गार्वा ने एक वक्तव्य प्रसारित करके कहा कि रोडेशिया में एक ही तरीके से बहुसंख्यक लोगों का शासन स्थापित हो सकता है और यह तरीका है सशस्त्र संघर्ष का। उन्होंने कहा कि ब्रिटेन रोडेशिया को शान्तिपूर्ण ढग से सत्ता हस्तान्तरण के लिए सहमत नहीं कर पा रहा है। उसकी इस असमर्थता के कारण रोडेशियाई क्षेत्रो मे घुटन की भावना पैदा हो रही है। पिछले बारह वर्षों से ब्रिटेन निरन्तर प्रयत्न कर रहा है लेकिन अभी तक उसे सफलता नहीं मिल पाई है। ब्रिगेडियर गार्वा ने यह धमकी भी दी कि यदि ब्रिटेन अपने वचन को पूरा नही कर पाएगा तो वह राष्ट्रकुल की सदस्यता त्याग देगा। पिछले बारह वर्षों से इयान स्मिथ की सरकार राष्ट्रकुल की अन्तरात्मा को कचोट रही है और आखिर धैर्य की भी कोई सीमा होती है। बारह साल तक इस राष्ट्रकुल सम्मेलन ने प्रस्ताव स्वीकार करने के अलावा और कुछ नहीं किया। अतः अब सशस्त्र संघर्ष के अतिरिक्त और कोई विकल्प नही रह जाता। काले पिस रहे हैं, उन्हे राजनीतिक और नागरिक अधिकारो से वंचित कर दिया गया है और अल्पसख्यक गोरे उनकी इस स्थिति का उपहास करते है। इस तरह की स्थिति को हम राष्ट्रकुल-सदस्य-देश विश्व-शान्ति के लिए खतरा मानते हैं।

अन्य विषय—सिप्रस और बेलीज के बारे मे भी चर्चा हुई। सम्मेलन मे बताया गया कि बेलीज स्वाधीन होने के लिए तैयार नही। बेलीज ब्रितानी उपनिवेश है। बारबादोस के प्रधान मन्त्री जे. एम. जी. आदम्स ने कहा कि बेलीज को तब तक स्वाधीनता प्रदान नही की जानी चाहिए जब तक उसका पड़ौसी देश ग्वाटेमाला उस पर अपना क्षेत्रीय दावा नही छोड़ देता। इसके अलावा यदि स्वाधीनता प्रदान करनी ही पड़े तो बेलीज को ग्वाटेमाला से होने वाले सम्भावित आक्रमण की दिशा में पूर्ण सहायता का आश्वासन दिया जाना चाहिए। इस मसले तथा ऐसे ही अन्य अनेक मसलो पर बाद मे ब्रिटेन से बाहर अनौपचारिक तौर पर भी बातचीत हुई।

सिप्रस के राष्ट्रपति मकारियोस ने सिप्रस की स्थिति का ब्यौरा देते हुए कहा कि तुर्क और यूनानी सिप्रियो मे सरकारी स्तर पर बातचीत तो हुई है लेकिन अभी किसी परिणाम पर पहुँचा नहीं जा सका है। दो वर्ष पूर्व किंग्स्टन सम्मेलन में इस भूमध्यसागरीय द्वीप के बारे में जो आठ सदस्यीय समिति गठित की गई थी उसकी रपट भी सम्मेलन में पेश की गई। इस रपट पर भी औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरह से विचार-विमर्श हुआ।

इस सम्मेलन में दो देश अनुपस्थित रहे—सेशेल्स और युगांडा। सेशेल्स के राष्ट्रपति जेम्स मांशैम को एक क्रान्ति में सत्ताच्युत् कर दिया गया और उनके स्थान पर एल्बर्ट रेने ने सत्ता सम्हाली लेकिन न रेने और न ही उनके किसी प्रतिनिधि ने

लन्दन सम्मेलन में प्रतिनिधित्व किया। जेम्स मांशिम लन्दन में मौजूद थे। सत्ता उलटने की घटना पहले भी हो चुकी है। आज से 6 वर्ष पूर्व सिंगापुर में राष्ट्रपति सम्मेलन में भाग लेने के लिए मिल्टन ओबोटे गए थे तो ईदी अमीन ने युगांडा में उनका तख्ता पलट दिया था। (दिनमान, जून 1977)

(6) अमेरिकी शस्त्र-नीति और भारतीय उपमहाद्वीप

रिटायर्ड कर्नल आर. रामाराव ने नवम्बर, 1977 के दिनमान में प्रकाशित अपने लेख में इस बात का ऐतिहासिक और तार्किक वर्णन दिया है कि अमेरिका की शस्त्र-नीति किस प्रकार भारतीय उपमहाद्वीप की शान्ति को भंग करती रही है और इस प्रकार की नीति से नि.शस्त्रीकरण के प्रयासो को कितना आघात पहुँचा है। कर्नल रामाराव का मूल्यांकन इस प्रकार है—

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दिनों मे एक तकनीकी या सैनिक दृष्टि से उन्नत देश द्वारा शस्त्रास्त्र के इच्छुक देशों को उसकी आपूर्ति या इन्कार निश्चित रूप से इस तथ्य पर आधारित रहा है कि शस्त्रो की पूर्ति करने वाले देश की विदेश-नीति के उद्देश्य क्या हैं। इस मामले में नि:सदेह महत्त्वपूर्ण आर्थिक दृष्टिकोण भी काम करता है, लेकिन जहाँ तक बड़ी शक्तियों का सम्बन्ध है शस्त्र आपूर्ति सम्बन्धी निर्णय अन्ततः विदेश नीति के उद्देश्यो से नियन्त्रित होते रहे हैं। अमेरिका के एक भूतपूर्व प्रतिरक्षा मन्त्री क्लार्क क्लीफोर्ड ने सदन की विदेशी मामलो की समिति के समक्ष गवाही देते हुए यह घोषणा की थी कि सैनिक साज-सामान की बिक्री का कार्यक्रम विदेश-नीति के ठोस यन्त्र के रूप में ही जारी रखा जाएगा। विदेश उपमन्त्री पॉलवार्न ने इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए कहा था—"हमारा काम है सैनिक साज-सामान की बिक्री और सैनिक अनुदान कार्यक्रम के माध्यम से अमेरिका की विदेश-नीति को कार्यान्वित करना। हमारा मन्तव्य केवल हथियार देने के उद्देश्य से हथियारों को बेचना या देना नही है।"

सैनिक साज-सामान के विक्रेता के रूप में अमेरिका सबसे महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली देश है। अमेरिका द्वारा भेजे जाने वाले कुल साज-सामान का एक बहुत छोटा अंश सैनिक सहायता के रूप मे दिया जाता है, शेष के सम्बन्ध में विदेश-नीति के मुद्दे ही मुख्य कारक होते हैं। यह विदेश-नीति ही इस बात का फैसला करती है कि एक खास देश को कितनी मात्रा मे और किस किस्म के हथियार दिए जाएँ।

भारतीय उपमहाद्वीप क्षेत्र में हाल में घटित घटनाओं के सन्दर्भ में इस उपमहाद्वीप को हथियार देने की नीति अत्यधिक रुचि का विषय होना चाहिए, भारत के लिए तो यह विशेष रूप से चिन्तनीय और महत्त्वपूर्ण है।

इस सदी के छठे दशक में अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर प्रशासन ने पाकिस्तान के साथ एक सैनिक समझौता किया था जिसका मुख्य उद्देश्य था कि पाकिस्तान से सैनिक अड्डे बनाने की कुछ सुविधायें प्राप्त की जाएँ जिससे रूस और चीन की घटनाओं पर दृष्टि रखी जा सके। दूसरे उद्देश्यों मे पाकिस्तान में अपने सैनिक सलाहकार रखकर वहाँ के प्रशासकों को अपने प्रभाव मे लाना था। अमेरिका

के साथ समझौता करने के पीछे पाकिस्तान का उद्देश्य अमेरिका से प्रभावशाली सैनिक राजनीतिक और आर्थिक सहायता प्राप्त करना था ताकि वह भारत से एक शक्तिशाली देश की हैसियत से बातचीत कर सके।

यद्यपि अमेरिका ने पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण की प्रक्रिया को पसन्द नहीं किया, तथापि यह निश्चित है कि वह यह चाहता था कि भारत यदि कश्मीर का पूरा भाग नही तो कुछ पाकिस्तान को अवश्य दे दे। सन् 1962 में भारत पर चीन के आक्रमण के बाद सन् 1965 मे पाकिस्तान ने आक्रमण किया तब अमेरिका के नीति नियोजकों के मन में दक्षिण एशिया के प्रश्न पर इसलिए चिन्ता हो गई, क्योंकि आक्रमण से त्रस्त भारत के लिए रूस के अधिक निकट पहुँचने की सम्भावना बढ़ गई थी। इस स्थिति के कारण उपमहाद्वीप सम्बन्धो अमेरिकी नीति की पुनः समीक्षा हुई। इस समय तक अमेरिका के लिए पाकिस्तान के इस्तेमाल का महत्त्व काफी कम हो गया था। कारण यह था कि अमेरिका ने उपग्रह तकनीक में काफी प्रगति कर ली थी और वह पेशावर अड्डा बनाए बिना भी अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता था। इसके अलावा अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर जो दिलचस्पी थी उसके महत्त्वपूर्ण परिणामों को ध्यान मे रखते हुए यह उपमहाद्वीप उसके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं था यद्यपि इसके बावजूद उसने दक्षिण एशिया को युद्ध और अशान्ति से मुक्त रखना चाहा। इसी तर्क के आधार पर उसने सन् 1965 में भारत और पाकिस्तान को हथियार देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रतिबन्ध का वास्तव में भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि भारत ने उसके पहले के वर्षों में अमेरिका से हथियार लिए ही नही थे। लेकिन अमेरिका की यह नीति उसके उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हुई क्योंकि इसके कारण उसे विधिवत् यह कहने का अवसर मिल गया कि अमेरिकी स्रोतों से संचार सम्बन्धी उपकरण भी भारत को नहीं मिल सकेंगे। इस निर्णय के पीछे निश्चित रूप से यह तथ्य था कि अमेरिका ने आक्रान्ता को भारत के समकक्ष रख दिया। निश्चय ही अमेरिका ने वास्तविक स्थितियों पर अर्थात् पाकिस्तान के आक्रामक होने की दृष्टि से समस्या पर विचार नही किया।

पाकिस्तानी दृष्टिकोण से अमेरिका का यह निर्णय उसके लिए बहुत ही हानिकारक था क्योंकि उस निर्णय के अनुसार आधुनिक हथियारों की आपूर्ति का स्रोत समाप्त हो गया, इसके साथ ही समाप्त हो गया खुला राजनीतिक समर्थन भी। जो भी हो, पाकिस्तान के तत्कालीन विदेश मन्त्री भुट्टो ने राष्ट्रपति अय्यूब द्वारा उन्हें मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित कर लेने के बाद से ही, पाकिस्तान को अमेरिका से विलग न कर चीन और रूस से निकटता का सम्बन्ध बनाने की कोशिश कर दी थी। छठे दशक के मध्य में मुहम्मद अली बोगर चीन गए थे और वहाँ पर चाऊ-एन-लाई से एक प्रकार का समझौता हुआ था जिसमें यह तय हुआ था कि यदि पाकिस्तान कोई भी भारत विरोधी रवैया अपनाता है तो उसमें उसे चीन का समर्थन प्राप्त

होगा। पाकिस्तान को रूस के कुछ निकट ले जाने के पीछे भुट्टो का उद्देश्य हथियारों की प्राप्ति के अलावा रूस को भारत का पूर्ण समर्थन करने से रोकना था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भुट्टो को इन दोनों ही मामलों में सफलता मिली। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप पाकिस्तान को रूस से 225 टी-एस 4/55 किस्म के टैंक और पदाति सेना तथा तोपखाने में प्रयुक्त होने वाला साज-सामान मिला। इसी समय चीन ने भी काफी बड़ी मात्रा मे पाकिस्तान को साज-सामान दिया, जैसे टैंक, तोप और बन्दूकें, बमवर्षक हवाई जहाज, निगरानी करने वाली तेज रफ्तार की नावें और पदाति सेना के दो तीन डिवीजन बनाने के लिए पूरा साज-सामान। यह स्थिति ठीक सन् 1965 के बाद की थी। सन् 1968-69 तक पहुँचते-पहुँचते उसने सैनिक साज-सामान की अपनी सारी क्षतिपूर्ति कर ली थी, लेकिन पाकिस्तान के शासकों ने अमेरिका से और अधिक हथियारो की मांग की ताकि उसके साथ-साथ पाकिस्तान को स्वतः राजनीतिक समर्थन भी मिल सके। अमेरिका मे डेमोक्रेटिक दल का प्रशासन समाप्त हो चुका था और उसकी जगह पाकिस्तान के समर्थन तथा भारत के प्रति अपने दुराग्रहपूर्ण रवैये के लिए विख्यात रिचर्ड निक्सन ने राष्ट्रपति पद सम्भाल लिया था। इसके साथ ही उसूरी की घटनाओं को लेकर चीन और रूस के बीच बढ़ते हुए सघर्ष ने राष्ट्रपति निक्सन को यह अवसर प्रदान किया कि वह चीन के साथ निकट सम्बन्ध बढ़ाने के लिए कुछ ठोस कदम उठाए। इस सम्बन्ध में पाकिस्तान को भी अपनी भूमिका निभानी थी और अपवाद स्वरूप निक्सन ने हथियार पर प्रतिबन्ध के पुराने निर्णय के बावजूद पाकिस्तान को बन्दूको और टैंकों के रिसाले के अतिरिक्त पदाति के लिए तीन सौ गाड़ियां और एक स्क्वेड्रन के लिए बमबार हवाई जहाज दिए। पाकिस्तान को यह साज-सामान मुद्रित मूल्य के 15% पर ही दिया जाने वाला था जिसे अमेरिकी सेना ने पुराना, पिछड़ा हुआ या रद्दी मानकर अपने उपयोग के लिए अयोग्य ठहरा दिया था। यद्यपि भारतीय उपमहाद्वीप की परिस्थितियों की दृष्टि से ये हथियार और साज-सामान बहुत आधुनिक और प्रभावशाली थे।

सन् 1971 की घटनाएं अब इतिहास बन चुकी है। उसके बाद के दिनो में भारतीय उपमहाद्वीप को सैनिक हथियार और साज-सामान देने की अमेरिकी नीति में एक बड़ा परिवर्तन आया। उसने अलग-अलग मामलों के आधार पर पाकिस्तान को हथियार देने या न देने का निर्णय किया। यह निर्णय भी किया गया कि ये हथियार सैनिक सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत न दिए जाकर नकद बेचे जाएँगे। सिद्धान्त रूप में भारत को हथियार देने का आधार भी यही होगा, हालांकि वास्तव में अमेरिका भारत को उच्च तकनीक वाले मारक प्रभाव के हथियार नही देगा।

इस काल में पश्चिमी एशिया के कुछ देशों के अलावा पाकिस्तान को हथियार देने वालो में चीन एक प्रमुख देश रहा है। इन आपूर्तियों का पाकिस्तान ने कई कारणों से स्वागत किया। इसके कारण हथियार देने वाले देशों को राजनीतिक समर्थन देने को पाकिस्तान की दिलचस्पी बनी रही। इसी के कारण पाकिस्तान को

अपने पड़ोसी से समझौते की बातचीत में अपनी स्थिति को श्रेष्ठ साबित करने का अवसर मिलता रहा। भुट्टो को देश की आन्तरिक स्थिति को स्थायित्व देने में सहायता मिली और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हथियारों को प्राप्त करने में चीन के सम्बन्ध में नकद भुगतान का भार नहीं था। इसका एक कारण यह भी था चीन हमेशा यह कहता रहा कि वह हथियारों का व्यापारी नहीं है, अतः मित्रों और सहयोगियो को जो भी हथियार दे रहा है वे उपहार स्वरूप हैं। दूसरी तरफ कुछ पश्चिमी एशियाई देशों ने अपने यहाँ से 47/48 टैंक, एक 86 सेबर जैट हवाई जहाज तथा दूसरे उपकरण पाकिस्तान को दिए। ये चीजें पहले उत्पादक देशों से मिली थी, लेकिन जब उन्हे अपनी सेनाओं के लिए अधिक आधुनिक टैंक और हवाई जहाज प्राप्त हो गए तो उन्होने पुराना माल क्रय मूल्य पर पाकिस्तान को दे दिया।

अक्तूबर, 1973 को योम किप्पूर युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों मे उल्लेखनीय परिवर्तन आ गया। तेल की कीमतों मे चौगुनी वृद्धि हो जाने के कारण पश्चिम के औद्योगिक देशों की अर्थ-व्यवस्था को प्राथमिक झटका लगा था। लेकिन इससे सम्भलने के बाद उन्होंने कुछ ऐसे प्रभावशाली उपाय ढूंढ निकाले जिससे तेल की बढ़ी हुई कीमतों के कारण खर्च किए हुए डॉलर दूसरे माध्यमो से वापस आ जाएँ। इन तरीकों मे बड़े पैमाने पर हथियारों की बिक्री शामिल थी। इस प्रकार पश्चिम एशियाई देशो को सन् 1973–74 में लगभग तीन अरब डॉलर मूल्य के जो हथियार प्रदान किए गए, उनका सन् 1976–77 मे मूल्य आठ अरब डॉलर से भी ऊपर पहुँच गया। फ्रांस और ब्रिटेन जैसे दूसरे पश्चिम यूरोपीय देशों ने भी उसी अनुपात में पश्चिम एशियाई देशो को हथियारो की बिक्री बढा दी। तकनीकी रूप से उन्नत इन देशों के हथियार अत्यन्त आधुनिक थे। कुछ मामलो में तो ये हथियार उन्होंने अपनी सेनाओं तक मे सामान्य उपयोग के लिए नही दिए थे।

कई पश्चिम एशियायी देशो ने, जिन्होने आधुनिक हथियारो का आयात किया था, अपने यहाँ पाकिस्तानियो को परामर्शदाता या तकनीकी विशेषज्ञ के रूप मे नियुक्त किया ताकि वे इन नए हथियारों का रख-रखाव कर सकें और उनके यहाँ के तकनीकी व्यक्तियों को प्रशिक्षण आदि मे सहायता दे सकें। इन देशों में नए और उन्नत किस्म के आधुनिक हथियारो के आ जाने के बाद पुराने किस्म के जो हथियार निरर्थक और अनुपयोग्य ठहरा दिए गए थे वे पाकिस्तान को दे दिए गए।

इसी के साथ एक प्रमुख पश्चिमेशियायी देश ने आणविक ईंधन सयन्त्र लगाने तथा आधुनिक हवाई जहाज खरीदने के लिए पाकिस्तान को बहुत उदार शर्तों पर ऋण दिया। इस प्रकार अमेरिका ने हथियारों की आपूर्ति पर जो रोक लगाई थी उसका पाकिस्तान पर कोई असर नहीं पड़ा, क्योंकि दूसरे माध्यमों से पाकिस्तान मे हथियारों का आना जारी रहा और वह भी पहले की तुलना में ज्यादा तेज रफ्तार के साथ। इस प्रकार 1966 और 1972 के बीच पाकिस्तान को चीन से

70 टी–59 टैंक, 154 मिग, 19 बमबार लड़ाकू हवाई जहाज, 4 आई एल–28 बमबार प्राप्त हुए। रूस ने उसे 225, टी–55 किस्म के टैंक देने के वायदे पर 170 टैंक और कुछ भारी किस्म के हेलिकोप्टर प्रदान किए। इटली से उसे स–47 किस्म के मरम्मत किए गए 100 टैंक, फ्रांस से 70 मिराज–315 बमबार लड़ाकू जहाज, पश्चिमी जर्मनी और ईरान से 90 एफ–86 हवाई जहाज उपलब्ध ए। 1974 में स्वीडन से उसे 47 एम एफ–2, ईरान से 40 एफ–5 और युर्दान से 7 एफ–5 हवाई जहाज मिले। विश्वास किया जाता है कि 1974 के बाद चीन ने उसे 250 टी–59 टैंक, 70 मिग, 19 हवाई जहाज और 18 तेज गति वाली निगरानी नावें और मशीन बनाने वाला कारखाना खोलने के उपकरण दिए। कुछ लोगों का कहना है कि टैंकों की संख्या 500 है। अमेरिका ने 300 एम–113 किस्म के सैनिक वाहन दिए। ऐसा कहा जाता है कि पाकिस्तान ने 1970–71 में ही इसकी माँग की थी जिसे न केवल अमेरिका ने स्वीकार कर लिया था बल्कि उसका भुगतान भी ले लिया था। इसी के साथ-साथ अमेरिका ने पाकिस्तान को 2 विध्वंसक तथा संचार और पूर्व चेतावनी वाले उपकरण भी दिए।

फोर्ड-कीसिंगर प्रशासन के अन्तिम दौर में कीसिंगर ने यह कोशिश की थी कि श्री भुट्टो 110 ए–7 किस्म के आक्रामक कोर्सेयर हवाई जहाज लेना इस शर्त पर स्वीकार कर लें कि आणविक ईंधन बनाने के लिए फ्रांस से संयन्त्र लेने के समझौते को रद्द कर दे। भुट्टो ने यह शर्त स्वीकार कर ली थी, लेकिन इसके पहले कीसिंगर भुट्टो पर और दबाव डाल सकें, फोर्ड प्रशासन समाप्त हो गया और कार्टर ने राष्ट्रपति पद सम्हाल लिया। श्री कार्टर न केवल आणविक हथियारों के प्रसार के घोर विरोधी हैं, बल्कि वह तीसरी दुनिया के देशों में अत्याधुनिक हथियारों की आपूर्ति के भी विरुद्ध हैं। अतः पाकिस्तान को प्रस्तावित आक्रामक हवाई जहाज देने की योजना रद्द कर दी गई। श्री कार्टर ने इसके सम्भावित दुष्परिणामों को अच्छी तरह महसूस कर लिया था।

पाकिस्तान को ए–7 आक्रामक हवाई जहाज देने के प्रस्तावित निर्णय को स्वीकृति न देने की घोषणा के तुरन्त बाद ही अमेरिका स्थित पाकिस्तान समर्थकों ने अपनी गतिविधियाँ तेज कर दीं। 1970 और 1972 में प्रायः एक तर्क दिया जाता था कि पाकिस्तान मित्र विहीन है, उसका भयभीत होना वास्तविक है। उसकी सेना के पास जो हथियार हैं वे अब बेकार हो चुके हैं और वे पर्याप्त भी नहीं हैं। उसकी आन्तरिक स्थिरता कायम रखने और एकता की सुरक्षा के उद्देश्य से अमेरिका को अनिवार्य रूप से अस्त्र-शस्त्र देने चाहिए। राष्ट्रपति कार्टर की घोषणा के तुरन्त बाद अमेरिका के बुद्धिजीवियों और कुछ अन्य लोगों की सहायता से उन्होंने पुन. यही प्रस्तुत किया। इस तर्क को इस रूप में भी पुष्टि की गई कि पाकिस्तान के पास उनकी आवश्यकता से कम अस्त्रास्त्र है और उसकी शक्ति पहले की अपेक्षा क्षीण हो चुकी है। यही तर्क अभी हाल में अमेरिका के विद्वान् प्रोफेसर डॉक्टर स्टीफेंस कोहेन द्वारा भी दिया गया था। किन्तु यह तर्क वास्तविकता की

कसौटी पर खरा नही उतरता, क्योंकि स्वयं जुल्फिकार अली भुट्टो के ही अनुसार पाकिस्तान की सेना न केवल 1971 की तुलना में अधिक शक्तिशाली है जबकि उसकी प्रतिबद्धताएँ भी पहले की अपेक्षा कम हैं। इसके अलावा अब पाकिस्तान का शस्त्र उद्योग काफी विकसित हो चुका है और अब वह काफी हद तक आत्मनिर्भर है। चीनी टैंकों और हवाई जहाजों की मरम्मत की सुविधाएँ प्राप्त हो गई हैं और इस रूप में पाकिस्तान सैन्य उपकरणों के उत्तम उपयोग में सक्षम है। पाकिस्तान के अमेरिकी समर्थकों ने ए–7 जैसे शक्तिशाली लड़ाकू जहाजों की आपूर्ति का आग्रह नहीं किया था बल्कि इससे कम शक्ति के ए–4 और एफ–5 हवाई जहाज देने की बात कही थी। ये हवाई जहाज अमेरिकी सेना द्वारा वियतनाम में प्रयुक्त किए गए थे और वे भी बहुत प्रभावकारी माने जाते है। यदि ये हवाई जहाज पर्याप्त सख्या मे पाकिस्तान को दिए जाते हैं तो पाकिस्तानी वायु सेना पूरे वायु क्षेत्र पर अपनी वरिष्ठता चाहे स्थापित न कर सके, इच्छित वायु क्षेत्रो पर तो निश्चित रूप से हावी हो सकती है।

अमेरिका की सैनिक लॉबी पाकिस्तान की सैनिक शक्ति की स्थिति के खराब होने और उसके कारण उसके कमजोर होने का जो तर्क देती है, वह भी निराधार है। इसका स्पष्ट प्रमाण जनरल जिया-उल-हक का हाल मे ही दिया गया वह वक्तव्य है जो उन्होने पाकिस्तान की घटनाओं के सन्दर्भ मे श्री जगजीवनराम द्वारा व्यक्त की गई चिन्ता के उत्तर मे दिया था। जनरल जिया-उल-हक ने लाहौर मे एक समाचार पत्र को दी गई एक भेंटवार्ता मे यह स्वीकार किया था कि भारतीय नेताओ का यह भय वास्तविक है कि पिछले वर्षों मे दोनो देशो के बीच युद्ध का कारण उस समय का पाकिस्तान का सैनिक प्रशासन था और आज का पाकिस्तान का सैनिक प्रशासन भी वैसा ही रुख अपना सकता है। जिया-उल-हक के कथन मे ऐसा कोई सकेत नहीं है कि पाकिस्तानी सेना को देश की सुरक्षा के लिए बड़े पैमाने पर अत्याधुनिक शस्त्रास्त्र की वास्तविक आवश्यकता है।

अपनी आन्तरिक सुरक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निश्चय ही पाकिस्तान को शक्तिशाली सेना की आवश्यकता है, न कि बड़े पैमाने पर आधुनिक किस्म के आक्रामक हवाई जहाजों, हवा मे मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों, टैंकों और इलैक्ट्रानिक पद्धति से चलाए जाने वाले बमों की।

कुछ अमेरिकी बुद्धिजीवियों का पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र देने का तर्क राष्ट्रपति कार्टर की इस नीति के विरुद्ध भी है कि तीसरी दुनिया मे पारस्परिक किस्म के खर्चीले शस्त्रास्त्र की आपूर्ति को नियन्त्रित किया जाना चाहिए। उन बुद्धिजीवियो का तर्क यदि साकार होता है तो उसके परिणामस्वरूप भारत के लिए खतरा बढ़ जाएगा जो अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रमों की प्रगति में संलग्न है। इसके कारण पाकिस्तान के भीतर भी तनाव पैदा होगा और पूरे क्षेत्र में अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न हो जाएगा।

(7) अफ्रीका : धधकता ज्वालामुखी

महाशक्तियों को अपना शीतयुद्ध जारी रखने के लिए कोई न कोई ठिकाना चाहिए। तनावपूर्ण यूरोप, तबाह वियतनाम, दिग्भ्रमित पश्चिमी एशिया, अस्थिर लातीनी अमेरिका, विक्षुब्ध हिन्दमहासागर, अविश्वासग्रस्त भारतीय उपमहाद्वीप आदि उनके शीतयुद्ध के ही तो परिणाम हैं जिसे वे सारे संसार को अपने बीच बाँटने के लिए लड़ रहे हैं। महाशक्तियों—अमेरिका, सोवियत संघ और चीन का अब ताजा लक्ष्य है अफ्रीका जहाँ के देश स्वाधीनता के नवविहान के साथ ही औपनिवेशिक शासकों के कुचक्र में फँसकर आपसी झगड़ों में उलझ गए थे—फिर चाहे वह अल्जीरिया की समस्या रही हो या काँगो की, नाइजीरिया का गृहयुद्ध रहा हो या अंगोला का, दक्षिण अफ्रीका में काले और गोरे लोगों के बीच का संघर्ष रहा हो या रोडेशिया का, सर्वत्र इन बड़ों ने और उनके कुछ पिछलग्गुओं ने गर्म तवे पर अपनी रोटी सेकी और यूगाण्डा, इथियोपिया, सोमालिया आदि में आज भी वे यही कर रहे हैं।

इसमें कोई सन्देह नही कि दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया को छोड़कर शेष अफ्रीकी देशों में अमेरिका और उसके मित्र-देशों की पकड़ ढीली पड़ गई है, किन्तु यह भी एक तथ्य है कि इस नई स्थिति से साम्यवादी गुट ने लाभ उठाने में कोई चूक नहीं की। सोवियत संघ और चीन ने, जहाँ जिसको सुविधा मिली अफ्रीकी देशों में अपना प्रभाव बढ़ाने का अथक प्रयास किया।

चीन से 1,162 मील लम्बे उस दुहरे रेलमार्ग (जो तानजाम रेलमार्ग के नाम से जाना जाता है) का निर्माण किया जिसका बनाना पश्चिम के विशेषज्ञों के अनुसार 'असम्भव' था और विश्व बैंक, अमेरिका, ब्रिटेन आदि सबकी ओर से निराश होकर कैनेथ काउण्डा (जाम्बिया) और जुलियस न्येरेरे (तन्जानिया) ने चीन का दामन पकड़ा। चीन ने उन्हें निराश नहीं किया। धन और जन की सहायता देकर उसने जाम्बिया को समुद्र तट तक अपना ताँबा पहुँचाने के लिए यह वैकल्पिक मार्ग दिया।

चीन ने मात्र छह वर्ष के (1970 में काम आरम्भ हुआ और 14 जुलाई, 1976 को यह रेलमार्ग जाम्बिया को और तन्जानिया की जनता को समर्पित कर दिया गया) अल्प समय में ही असम्भव को सम्भव कर दिखाया और जिस अफ्रीका में उसके पाँव जमने की दूर-दूर तक कोई सम्भावना नहीं थी वहाँ कुण्डली मार कर बैठ गया।

इस सफलता के बाद चीन अन्य दो बड़ी शक्तियो अमेरिका और सोवियत संघ के लिए अफ्रीका मे एक प्रबल चुनौती बन कर उभरा और अब ये तीनों देश अफ्रीकी लोगों के मन पर उनकी भूमि, बंदरगाहों, प्राकृतिक सम्पदा और उसके होने वाले मुनाफों पर अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए जी-जान से जुटे हुए हैं।

अफ्रीका में सोवियत संघ का हस्तक्षेप चीन से बहुत पहले शुरू हो गया था। सोमालिया से उसका सम्बन्ध कोई 17 वर्ष पहले स्थापित हुआ था और आज भी

उसके बीच कोई बड़ा मतभेद नही है। मिस्र, सूडान और दक्षिण यमन से भी उसके अच्छे सम्बन्ध रहे हैं। सन् 1971 मे मिस्र से उसके सम्बन्ध अवश्य तनावपूर्ण हो गए थे किन्तु अब फिर सुधार आरम्भ हो गया है जिसका बहुत कुछ श्रेय सूडान के राष्ट्रपति कर्नल नुमेरी और जैरे के राष्ट्रपति मोबुतू को है।

इनके प्रयास से ही हाल में दोनों देशों के बीच सम्पर्क स्थापित हुआ। मिस्र के उपप्रधानमन्त्री और विदेश मन्त्री इस्माइल फाहमी जून के दूसरे सप्ताह मे सोवियत संघ की यात्रा पर गए और निकट भविष्य मे सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको काहिरा की यात्रा करने वाले हैं।

पिछले वर्षों मे अफ्रीका में सोवियत संघ के प्रभाव में काफी वृद्धि हुई है। क्यूबा के माध्यम से उसने अंगोला में सशस्त्र हस्तक्षेप द्वारा जो सफलता प्राप्त की उससे उसका हौंसला बढ़ा है। हाल मे क्यूबा के फिडेल कास्त्रों ने युगाण्डा को एक सैनिक मिशन भेजकर स्वेच्छाचारी ईदी अमीन की सरकार से भी सम्बन्ध स्थापित करने की पेशकश की है। बताया जाता है कि कास्त्रों के इस प्रयास के पीछे सोवियत सघ का हाथ है। सोवियत संघ द्वारा इथियोपिया के शासन ले. कर्नल मेंगिस्तू हैले मरियम का समर्थन किया जाना भी एक चौंकाने वाली घटना है क्योकि इथियोपिया के सम्बन्ध उन सभी देशो के साथ तनावपूर्ण हैं जो सोवियत सघ के मित्र हैं या जिन्हे मित्र बनाने के लिए वह प्रयास कर रहा है। इनमें प्रमुख हैं सोमालिया, मिस्र, सूडान और युगान्डा।

जहाँ तक अमेरिका का सम्बन्ध है कुछ वर्ष पहले तक वह स्वयं को अफ्रीका का भाग्यविधाता मानता था क्योंकि प्राय: सारा अफ्रीका किसी समय उसके मित्र-देशो ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल और स्पेन के अधीन था और स्वाधीन होने के बाद भी अपने औपनिवेशिक शासकों पर अफ्रीकी देशों की निर्भरता कायम रही। सन् 1973 में अंगोला की स्वाधीनता और तदुपरान्त वहाँ छिड़ने वाले गृहयुद्ध में क्यूबा और सोवियत संघ की निर्णायक भूमिका ने अमेरिका का अफ्रीका के प्रति मोह भग कर दिया और वहाँ सोवियत संघ और चीन के प्रभाव विस्तार को रोकने के लिए नए सिरे से सोचने पर विवश हुआ।

अफ्रीका के प्रति नई चिन्ता अमेरिका में ही पैदा नही हुई, सोवियत संघ और चीन ने भी अपनी व्यूह रचना को नए आयाम दिए। युगाण्डा और इथियोपिया से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की सोवियत संघ की आकांक्षा स्पष्ट है। उसने हाल में चीन के प्रभाव वाले तन्जानिया से भी मित्रता का हाथ बढ़ाया है। इससे चीन का सतर्क होना स्वाभाविक ही है क्योंकि वह अब भी सोवियत संघ को अपना सबसे बड़ा शत्रु मानता है। नव चीन समाचार समिति ने पिछले दिनों यह आरोप लगाया था कि जुलाई के प्रथम सप्ताह में लिब्रे विले में हुए अफ्रीकी एकता संगठन के 14वें अधिवेशन के बाद से दोनों महाशक्तियो का, विशेषकर सोवियत संघ का अफ्रीका में हस्तक्षेप बहुत बढ गया है। उसके अनुसार अफ्रीका की स्वाधीनता और सुरक्षा के लिए सोवियत संघ की ओर से गम्भीर खतरा है। नवचीन समाचार समिति के इस

आरोप से यह ध्वनि निकलती है कि अफ्रीका में सोवियत संघ के प्रभाव को रोकने के लिए चीन द्वारा अमेरिकी नीति का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष समर्थन किया जा सकता है।

अफ्रीकी जनमत की उपेक्षा करके सोवियत संघ और क्यूबा जिस प्रकार युगाण्डा, लीबिया और इथियोपिया से सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं उससे जहाँ विश्व का ध्यान पश्चिमी एशिया से हट कर अफ्रीका की घटनाओं पर केन्द्रित हुआ है, वहाँ उससे यह संकेत भी मिल रहा है कि आने वाले दिनों में महाशक्तियों के बीच एक दूसरे के बीच प्रतिस्पर्द्धा इतनी तीव्र हो सकती है कि इनमें शत्रु-मित्र की पहचान करना कठिन हो जाएगा—कहीं चीन और अमेरिका मिलकर सोवियत संघ का प्रतिरोध करते देखे जाएँ तो कहीं अमेरिका और सोवियत संघ चीन के विरुद्ध खड़े दिखाई देंगे।

पूर्वी अफ्रीका में इसके कुछ प्रमाण खोजे जा सकते हैं। सोमालिया के मार्क्सवादी शासन की 17 वर्ष पुरानी मैत्री के बावजूद इस वर्ष फरवरी में सोवियत संघ ने इथियोपिया के नव सैनिक नेता ले. कर्नल मेंगिस्तू को समर्थन देने का फैसला किया जिसका अमेरिका से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और जिसके कारण उसकी अपने पड़ोसी सोमालिया, मिस्र और सूडान से कभी नहीं पटी। सोवियत संघ की इस नीति का एक स्वाभाविक परिणाम यह सामने आया है कि जहाँ एक ओर चीन से प्रोत्साहन पाकर सऊदी अरब, सूडान, यमन, अरब गणराज्य और मिस्र ने इथियोपिया के विरुद्ध 'पवित्र गठबन्धन' किया जबकि दूसरी ओर के गठबन्धन में सोवियत संघ, क्यूबा, लीबिया, इथियोपिया और एक हद तक इजरायल भी शामिल है। इन विषम गठबन्धनों के पीछे मात्र यह सिद्धान्त है कि अपने शत्रु का शत्रु अपना मित्र होता है।

इन गठबन्धनों ने सोवियत संघ के दो विश्वस्त मित्रों, दक्षिणी यमन और सोमालिया को दिग्भ्रमित कर रखा है। इथियोपिया से उनके सम्बन्ध कभी अच्छे नहीं रहे। सोमालिया और इथियोपिया तो आज भी सीमा-विवाद मे उलझे हुए हैं। सोमालिया स्वयं को इथियोपिया का समर्थन करने की स्थिति में नहीं पाता और न ही आर्थिक कारणों से वह फिलहाल सोवियत संघ से सम्बन्ध विच्छेद करने की स्थिति मे है।

जहाँ तक सोवियत संघ का प्रश्न है उसने अपने इरादे इस वर्ष के शुरू मे स्पष्ट कर दिए हैं। वह सोमालिया की विवशता को जानता है और इसीलिए वह इथियोपिया से जो फरवरी, 1974 से उत्तरोत्तर अमेरिका के विरुद्ध होता जा रहा है और 25 अप्रैल को अमेरिकी असैनिक कर्मचारियों को निष्कासित करके जिसने अमेरिका से अपने 30 वर्ष पुराने सम्बन्ध तोड़ने का विचार व्यक्त कर दिया है, मित्रता स्थापित करने में कोई खतरा नहीं मानता है। लालसागर पर प्रभुत्व स्थापित करने और हिन्द महासागर मे अमेरिकी प्रभाव की काट के लिए इथियोपिया की मित्रता को वह अधिक उपयोगी मानता है। सोमालिया के बेरबेरा बन्दरगाह में उसे जो नौसैनिक सुविधाएँ प्राप्त हो रही हैं अगर उनसे उसे हाथ धोना भी पड़ा तो

इथियोपिया के मस्साव और अस्साब बन्दरगाहों से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाएगी। सम्भवत. यही कारण था कि 4 मार्च को मस्क्वा में ले. कर्नल मेंगिस्तू का भव्य स्वागत किया गया और इथियोपिया को क्यूबा के माध्यम से भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र प्रदान किए गए। इसी सन्दर्भ में जिबूती और अस्मारा मे जो क्रमशः इथियोपिया के एफार्स और इस्सास तथा इरीट्रिया प्रदेशों की राजधानियाँ हैं, जिबूती गत 27 जून को स्वाधीन हो गया और अस्मारा पर इन दिनों सरकार विरोधी गुट का नियन्त्रण है उसकी दिलचस्पी भी सहज ही समझ में आने वाली है।

सोवियत संघ के इथियोपिया प्रेम के बावजूद ऐसा लगता है कि सोमालिया पश्चिमी गुट में शामिल हो जाएगा। उसे अपने संघर्ष में सूडान, मिस्र और सऊदी अरब की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त है जिसका कारण इथियोपिया से इन देशो के सम्बन्ध मधुर न होना है। वह इनका दामन भी पकड़ सकता था, परन्तु मिस्र और सोवियत संघ के बीच सम्बन्ध सुधरने के बाद की स्थिति क्या होगी, यह भी वह जानता है। वह यह भी जानता है कि सोवियत सहायता से उसने अपनी आर्थिक, सैनिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को जो रूप दिया है उसे रातों रात बदला नही जा सकता, इसलिए सम्भावना यही है कि फिलहाल वह धैर्य से काम लेगा।

किन्तु इससे अफ्रीका एक व्यापक संकट से उभर नही सकता। वस्तुस्थिति यह है कि अफ्रीकी एक दोमुँहा ज्वालामुखी बना हुआ है–उसका एक मुँह रोडेशिया, दक्षिण अफ्रीका है जहाँ काले अफ्रीकी और उनके अल्पसंख्यक गोरे शासकों के बीच का संघर्ष कभी भी विस्फोटक रूप ले सकता है, दूसरा मुँह पूर्वी अफ्रीका है जहाँ किसी भी पक्ष की मामूली सी भूल से विस्फोट हो सकता है।

पूर्वी अफ्रीका मे वर्तमान स्थिति की गम्भीरता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि भूमध्य-सागर से लेकर हिन्द महासागर तक का और लालसागर से केन्या की उत्तरी सीमाओं तक का सारा क्षेत्र इन दिनों सैनिक, राजनीतिक और कूटनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ है। अन्य 'क्षेत्रीय' संघर्षों की तुलना मे यद्यपि सैनिक और सैनिक साज-सामान इस क्षेत्र मे कही कम है तथा कूटनीतिक गतिविधियाँ भी पश्चिमी एशिया अथवा वियतनाम जितनी नहीं हैं, तथापि स्थिति की गम्भीरता से कोई इकार नही कर सकता। सोमालिया के एक बुद्धिजीवी ने एक पश्चिमी पत्रकार से स्थिति की गम्भीरता को उजागर करते हुए कहा था कि "एक बात निश्चित है कि आने वाले महीनों में इस क्षेत्र में हजारों लोग मौत के शिकार बनेंगे।"

स्थिति की इस गम्भीरता के पीछे मुख्य कारण हैं—(1) हिन्द महासागर और लालसागर की सीमाओं पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का सामरिक प्रश्न जिसमें होकर यूरोप 90 प्रतिशत तेल आयात करता है, (2) 2,80,00,000 की जनसंख्या वाले देश इथियोपिया में परम्परावादी क्रान्ति की सफलता या असफलता का सैद्धान्तिक प्रश्न। इसे उदार और 'उग्र' तत्त्वों के बीच का संघर्ष भी कहा जा सकता

है। तीन अन्य अफ्रीकी देशों जेयरे, अंगोला और पश्चिमी सहारा में भी संघर्ष का प्रायः यही रूप है, और (3) औपनिवेशिक शासन समाप्त होने के पश्चात् राष्ट्रवादी शक्तियों के पुनरेकीकरण का राजनीतिक प्रश्न।

महाशक्तियाँ एक अरसे से इन्हीं मुद्दों के चारो ओर अपने प्रभाव-विस्तार की लड़ाई लड़ती रही हैं; हाल में स्थिति में कोई परिवर्तन आया है तो वह यह है कि सोवियत संघ ने कुछ ऐसे कदम उठाए हैं जो उसके राष्ट्रीय हितों से मेल नहीं खाते। इथियोपिया को उसका समर्थन और युगांडा से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के उसके प्रयास का इस सदर्भ मे उल्लेख किया जाता है। प्रश्न उठता है कि सोवियत सघ ऐसा क्यों कर रहा है। एक सभावित कारण यह बताया जा रहा है कि पश्चिमेशिया में उसकी भूमिका को सऊदी अरब के धन और मुस्लिम भूमिका ने पहले ही बहुत नगण्य बना दिया था, अब मुस्लिम इरीट्रिया और मुस्लिम सोमालिया को सहायता देकर उसने सोवियत संघ के लिए एक नई चुनौती पैदा कर दी है। इस चुनौती का सामना करने के लिए सोवियत सघ को इथियोपिया को शह देनी पडी हो तो उसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं है। किन्तु अमेरिका और चीन उसके इरादे पूरे होने देंगे, ऐसा नही लगता। उनकी स्पर्द्धा किसी भी एक देश को केन्द्र बना कर सारे अफ्रीका को युद्ध मे झोक सकती है। (दिनमान, जुलाई 1977)

(8) लेटिन अमेरिका की अस्थिर राजनीतिक स्थितियाँ

लेटिन अमेरिका महाद्वीप को अस्थिरता का महाद्वीप माना जाता है। पच्चीस देशों के इस महाद्वीप मे शायद दो-चार देश ही ऐसे होंगे जहाँ पिछले एक दशक में स्थिर सरकारें काम कर रही हों अन्यथा जहाँ निर्वाचित सरकारें अपनी पूरी अवधि तक सत्तारूढ रही हों। यदि हम लेटिन अमेरिका के नक्शे पर दृष्टिपात करें तो जो प्रमुख देश सामने आते हैं वे क्यूबा, मेक्सिको, कैरेबियन द्वीपसमूह मे सूरिनाम, गयाना या एक दो देश और। क्यूबा की स्थिर स्थिति का कारण प्रधान मन्त्री फिडेल कास्त्रो का रुतबा, दबदबा और बलिदानी व्यक्तित्व के अलावा वहाँ का राजनीतिक ढाँचा भी है। वहाँ के लोगो ने भी अपने आप को समाजवादी ढाँचे मे ढाल लिया है। जहाँ तक मेक्सिको का प्रश्न है वहाँ यदाकदा प्रदर्शन या हड़तालें तो हुई है लेकिन पिछली लगभग आधी शताब्दी से हर छह साल बाद राष्ट्रपति का चुनाव निर्बाध होता रहा है। सूरिनाम और गयाना मे भी अभी तक चुनाव निश्चित समय पर हुए हैं।

विभिन्न स्थितियाँ—लेकिन स्थिरता के बजाय लेटिन अमेरिकी देशों में अस्थिरता के समाचार ही अधिक सुनने मे आते हैं। वास्तव मे लेटिन अमेरिका के देशो का अध्ययन बड़ा ही दिलचस्प है। उपनिवेश की जकड़ से छूटने के बाद, इन देशो में सामान्यतः लोकतन्त्रीय सरकारें ही अस्तित्व में आती रही हैं, लेकिन ये सरकारें साल दो साल या तीन साल तक ही कायम रह पाती हैं, उसके बाद सैनिक क्रान्ति हो जाती है। सैनिक क्रान्ति का प्रभाव भी दो चार साल तक ही रहा। फिर लोकतन्त्र को बहाल करने का नारा लगने लगता है, चुनाव होते हैं, सरकारें बनती है, संसदें अस्तित्व में आती हैं तथा नए सविधान बनते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि

देश में लोकतान्त्रिक व्यवस्था स्थापित हो गई है, तथापि तीन वर्ष बाद पहले जैसी गतिविधियाँ और एक बार फिर अस्थिरता। कुल मिलाकर लेटिन अमेरिकी देशों की ऐसी ही तस्वीर सामने आती है। जब तक राजनीतिक अस्थिरता रहेगी उस देश की अर्थव्यवस्था चौपट रहेगी। जब तक अर्थव्यवस्था डावांडोल रहेगी वहाँ के लोगों का जीवन-स्तर निश्चित रूप से अस्त-व्यस्त रहेगा। जब तक आम लोगों का जीवन-स्तर अच्छा नही होगा गरीबी और पिछड़ेपन की स्थिति बनी रहेगी। इस समय लेटिन अमेरिकी देशों में मेक्सिको, वेनेजुएला, ब्राजील जैसे कुछ देश ही हैं जहाँ की अर्थ-व्यवस्था को अधिक जर्जर कोटि मे नही रखा जा सकता। क्यूबा की अर्थव्यवस्था दूसरे ढग की है। यह सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था पर आधारित है। जब फिडेल कास्त्रो ने इस ढग का आर्थिक निर्माण शुरू किया तो वे चाहते थे कि क्यूबा की राजनीतिक स्थिति का प्रभाव लैटिन अमेरिका के कुछ अन्य देशों पर भी पड़े। उस समय उन्हें दो व्यक्ति समान विचारो के मिल गए थे—चे ग्वेवारा और रेजिस देब्रे। चे ग्वेवारा ने बोलिविया के जंगलों मे रहकर छापामार युद्ध द्वारा वहाँ की सरकार को गिराने की कोशिश की। इन गतिविधियों से सरकारें परेशान जरूर हुई थीं लेकिन अपनी छापामार गतिविधियों द्वारा वे उनका पतन नही करवा सके। बोलिविया की सरकार का अन्त करते-करते स्वयं चे ग्वेवारा का अन्त बोलिविया के जंगलों में हो गया।

क्यूबा की बात और है—जहाँ तक साम्यवादी विचारधारा का प्रश्न है, चीले में भी जब साल्वादोर आयेंदे (जुलाई, 1971 से 11 सितम्बर, 1973) की सरकार बनी थी तो उसका स्वागत करने वाले सबसे पहले व्यक्ति फिडेल कास्त्रो ही थे। लेटिन अमेरिका मे समान विचारों का एक और व्यक्ति उन्हें मिल गया। इस बीच दोनो देशो मे व्यापार तथा सद्भावना की वृद्धि हुई। इस बात के भी समाचार प्राप्त होने लगे कि इन दो नेताओं का प्रभाव लेटिन अमेरिका के अन्य देशों पर भी पड़ेगा क्योंकि लेटिन अमेरिका के सभी देशो मे कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं, आवश्यकता केवल उन्हें संगठित नेतृत्व प्रदान करने की है। लेकिन क्रान्ति के इस महाद्वीप की बलिवेदी पर डॉ. आयेंदे भी चढ़ा दिए गए। उसके बाद जनरल पीनोचेत की सरकार सत्ता में आई। अभी तक वहाँ अस्थिरता और राजनीतिक रिक्तता की स्थिति बनी हुई है। कहा जाता है कि चीले में वामपंथी तो दूर कोई बुद्धिजीवी भी खुलकर अपना परिचय नही देता, काफी बड़ी संख्या में उनका सफाया कर दिया गया है। जहाँ इस तरह का आतंकपूर्ण वातावरण रहेगा वहाँ के लोगों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ कैसी होगी इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। इस तरह की तथा हर दो साल मे शासन परिवर्तन की स्थिति में लोगों की कितनी भलाई हो सकती है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

गए, आए, फिर गए—लेटिन अमेरिकी कुछ देशों की स्थितियों का जायजा लेना उचित होगा। अमेरिका का सबसे बड़ा देश ब्राजील है और दूसरे स्थान पर आता है आर्हेंतीना (क्षेत्रफल 10,72,067, जनसंख्या 2,50,50,000—राजधानी

ब्यूनिस आयर्स) । आर्हेंतीना में स्थिति काफी अस्थिर रही है । पहले लोकतन्त्र, फिर सैनिकवाद, फिर लोकतन्त्र और सैनिक क्रान्ति से लोकतन्त्र की समाप्ति । सन् 1946 मे हुआन पेराने का राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचन हुआ । वह एक सैनिक अधिकारी थे । लोकतन्त्र के बाद उन्होंने अधिनायकवादी सरकार की स्थापना की । उन्होंने शुरू मे श्रमिको को कुछ सुविधाएँ देकर अपने समर्थकों की सख्या तो काफी बढा ली, लेकिन उसके बाद उन्होंने अभिव्यक्ति, समाचार-पत्रों, धार्मिक स्कूलों आदि पर प्रतिबन्ध लगा कर लोगों की नाराजगी भी मोल ले ली । देश ऋणग्रस्त हो गया । लोगों में क्रोध और आशका का माहोल पनपने लगा और 16 दिसम्बर, 1955 को एक सशस्त्र क्रान्ति में पेरोन को सत्ता से हटा दिया गया । वह देश छोड़कर स्पेन चले गए । सैनिक जुंता ने अस्थायी सरकार का गठन किया । उसने नागरिक स्वतन्त्रता बहाल की । पेरोनवादी पार्टी को भंग कर दिया गया और एक ऐसा समय आया जब पेरोन का नामोनिशान भी नहीं बचा । 22 फरवरी, 1958 को 12 वर्ष बाद चुनाव हुए । डॉ. फ्रांदीजी राष्ट्रपति चुने गए । लोगों ने समझा कि देश मे लोकतन्त्र बहाल हो गया है । लेकिन सैनिकों के विभिन्न गुटों की हरकत फिर से शुरू हुई और 29 मार्च, 1962 को एक सैनिक क्रान्ति मे चुनाव द्वारा निर्वाचित डॉ. फ्रांदीजी को पदच्युत कर दिया गया । एक बार फिर चुनाव हुए और चुनाव के बाद फिर सैनिक क्रान्ति का दौर शुरू हुआ । अन्ततः मार्च, 1971 में जनरल लानूसे राष्ट्रपति बने । उन्होने नागरिक सरकार बहाल करने का आदेश प्रसारित किया । इस बीच पेरोनवादी तत्त्वों का गठन हो गया । मार्च, 1973 मे पुनः चुनाव हुए तथा पेरोन समर्थक डॉ. हैक्टर कैंपोरा राष्ट्रपति बने । 13 जुलाई, 1973 को कैंपोरा ने त्यागपत्र दे दिया । 77 वर्षीय पेरोन स्वदेश लौट आए थे । उसी वर्ष 23 सितम्बर को वह राष्ट्रपति चुने गए और उनकी तीसरी पत्नी मारिया अस्तेला पेरोन उपराष्ट्रपति । 1 जुलाई 1974 को पेरोन की मृत्यु हो गई । श्रीमती पेरोन राष्ट्रपति बनीं । लेटिन अमेरिकी देशों मे वह पहली महिला राष्ट्रपति थी । उनके सत्ता में आने के बाद पेरोन समर्थक दो गुटों वामपंथी और दक्षिणपंथी में विभाजित हो गए । हिंसा और आतंक-वाद का चक्र आरम्भ हो गया और अन्ततः श्रीमती पेरोन को सत्ता से हटा दिया गया । जनरल विदेला सत्तारूढ़ हुए । श्रीमती पेरोन इस समय जेल में हैं ।

चे का असफल अभियान—आर्हेंतीना की यह राजनीतिक कहानी लेटिन अमेरिका के अन्य बहुत से देशों की भी कहानी है । चीले, पैरागुए, उरुग्वे, पेरू मे भी इसी तरह की स्थिति रही है । जब क्यूबा में फिडेल कास्त्रो सत्तारूढ़ हुए थे तो उनके सहयोगी चे ग्वेवारा ने बोलिविया को अपना निशाना बनाया । वहाँ भी वह क्यूबा जैसी राजनीतिक स्थिति पैदा करना चाहते थे । बोलिविया एक समय स्पेन के अधीन था । 6 अगस्त, 1925 को उसे स्वाधीनता प्राप्त हुई । सन् 1967 में बोलिविया (क्षेत्रफल : 4,24,162 वर्गमील, जनसंख्या 54,70,000, राजधानी सक्री) का 16वां संविधान बना जिसमें कार्यपालिका को अधिक शक्तिशाली बनाया गया, खानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और कृषि सम्बन्धी सुधार किए गए ।

दी । इससे वहाँ की अर्थव्यवस्था डावाँडोल हो गई है । नए राष्ट्रपति जोस लोपेज पोर्तिलो के समक्ष जो आर्थिक संकट पैदा हो गया है उसका प्रभाव आर्थिक तथा सामाजिक सुधार कार्यों पर बहुत पड़ेगा । अमेरिका और मैक्सिको में अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध हैं । पिछले वर्ष अमेरिका में आर्थिक मन्दी की स्थिति थी, तो भी मेक्सिको बदली हुई परिस्थितियों में अमेरिका के साथ व्यापारिक सन्तुलन कायम नहीं रख सका । अर्जेंटीना की सरकार ने आयात करने में जो उदारवादी रवैया अपनाया था उसका शिकार वहाँ के वर्तमान शासक रहे हैं । श्रीमती पेरोन की सरकार के सत्ता से हट जाने के बाद वहाँ विदेशी पूँजी भी कम लग रही है । जो मजदूर संघ मजदूरी में वृद्धि की माँग करते थे उनकी मजदूरी पहले जैसी ही है जबकि कीमतें आसमान छू रही हैं । इससे देश में अपर्याप्त असन्तोष है । लगभग ऐसी ही स्थिति चीले में है। वेनेजुएला और इक्वाडोर के अतिरिक्त इन देशों में तेल की कमी है । इनके बजट का अधिकतर पैसा तेल के आयात पर खर्च होता है । वेनेजुएला ने पिछले दिनों अपने तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया था, अतः राष्ट्रपति कारलोस पेरेज तेल से होने वाली आय का प्रयोग अपनी अर्थव्यवस्था सुदृढ बनाने के लिए करना चाहते हैं। जहाँ पिछले वर्ष ब्राजील की कॉफी के निर्यात में मन्दी रही, वहाँ कोलम्बिया की कॉफी के निर्यात में वृद्धि हुई । अतः उस देश की अर्थव्यवस्था में भी सुधार हुआ । इन आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कठिनाइयों के होते हुए भी बहुद्देशीय निगमें और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय और गैर-सरकारी साहूकार लेटिन अमेरिकी देशों की सहायता के लिए अवसर तैयार रहते हैं । इस सहायता के उपलक्ष में वे कुछ उनसे अपेक्षा भी करेंगे और जब इस तरह की स्थिति पैदा होती है तो तनाव और अस्थिरता का वैसा ही वातावरण पैदा हो जाता है जैसे पिछले साल सी आई ए. की गतिविधियों के प्रश्न पर लेटिन अमेरिका के कई देशों में पैदा हो गया था ।

(दिनमान, फरवरी, 1977)

(9) जापान-चीन की 1979 की शान्ति सन्धि : पश्चिम यूरोप और सोवियत संघ को एक चुनौती

12 अगस्त, 1978 को पीकिंग में जापान के विदेश मन्त्री सुनाओ सुनोदा और चीन के विदेश मन्त्री हुहाङ हुआ ने शान्ति और मैत्री समझौते पर हस्ताक्षर करते हुए दोनों देशों में परस्पर आर्थिक और सांस्कृतिक सहयोग बढ़ाने पर बल दिया । इस बात पर बल दिया कि वे न तो एक दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्वीकार करेंगे । सन्धि में 'प्रभुत्व विरोधी' धारा को लेकर कई हलकों में कई तरह की व्याख्या की गई । लेकिन जापानी नेताओं ने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह सोवियत संघ तथा अन्य देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने की दिशा में निरन्तर जुटे रहेंगे । इस सन्धि को लेकर जहाँ अमेरिका में असन्तोष व्यक्त किया गया है वहाँ सोवियत संघ ने इसे सोवियत विरोधी दस्तावेज करार दिया है । उसका मानना है कि इस सन्धि का मकसद सोवियत संघ के विरुद्ध नियोजित ढंग से वातावरण तैयार करना है ।

दोनों देशों के बीच बढ़ती हुई निकटता को लेकर सोवियत संघ सहित पड़ोसी देशों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। हालांकि जापान ने भारत से सहयोग का दावा किया है लेकिन अन्य पड़ोसी देशों में इस समझौते को लेकर कई प्रतिक्रियाएँ हुई हैं। एक वक्त था जब जापान और चीन में निरन्तर संशय और तनाव की स्थिति बनी रहती थी। 1949 के बाद से 1964 से 1972 तक जापानियों को चीन अमेरिकी साम्राज्यवाद का पिट्ठू मानता था। लेकिन तनाका की 1972 की चीन यात्रा ने दोनों देशों को निकट लाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

जापान और चीन एशिया के दो महत्त्वपूर्ण देश हैं जिनकी हर गतिविधि का आँकलन कई स्तरों पर किया जाता है। 1978 के समझौते को लेकर सोवियत संघ या अन्य पूर्व यूरोपीय देश ही सशंकित नहीं हैं बल्कि अमेरिका, जापान और पश्चिमी देशों के भीतर भी कई प्रकार का डर पैदा हो गया है। जापान के कुछ पत्रों ने चीन-जापान समझौते को 'पूर्वी नैटो' की स्थापना करार दिया है तो कुछ का यह मानना है कि चीन अपने सोवियत विरोधी रवैये के कारण दक्षिण पूर्वेशिया और प्रशान्त में एक 'संयुक्त मोर्चा' स्थापित करने की जुगाड़ में है। इसमें वह जापान, अमेरिका तथा दूसरी दुनिया के देशों—कनाडा, आस्ट्रेलिया और पाँच एशियन देशों का सहयोग और समर्थन प्राप्त करना चाह रहा है। लेकिन सवाल यह पैदा होता है कि क्या ये देश सम्भावित खतरे को अनदेखा कर देंगे। यह सर्वविदित है कि यदि जापान और चीन ने पूरी निष्ठा के साथ समझौते पर अमल किया तो निस्सन्देह एशिया में दो ताकतें सक्रिय हो जाएँगी—सोवियत संघ तथा जापान-चीन। अमेरिका, जापान और चीन अपनी प्राविधि और मानव शक्ति से इतने शक्तिशाली हो जाएँगे कि अपने देश के अलावा अन्य देश उन्हें बौने नजर आने लगेंगे।

(10) गिल्बर्ट द्वीपसमूह : स्वाधीनता समझौता, 1978

दिसम्बर, 1978 के दिनमान में प्रकाशित समाचारों के अनुसार ब्रिटेन ने दक्षिण प्रशान्त में स्थित गिल्बर्ट द्वीपों को स्वाधीनता प्रदान करने सम्बन्धी एक समझौते पर पिछले दिनों लंदन में हस्ताक्षर किए। स्वाधीनता समझौते सम्बन्धी यह बात दो सप्ताह तक चली। ब्रिटेन और गिल्बर्ट के अधिकारी इस बात पर सहमत थे कि जुलाई, 1979 में गिल्बर्ट द्वीपों को स्वाधीनता प्रदान की जाए लेकिन बानाबाँस के लोगों का यह प्रस्ताव कि उन्हें अलग बस्ती के तौर पर स्वीकार किया जाए जो न तो ब्रिटेन और न ही गिल्बर्ट के अधिकारियों को मंजूर था।

गिल्बर्ट द्वीपसमूह में 33 द्वीप हैं जो एक लाख चालीस हजार वर्ग किलोमीटर में प्रशान्त सागर भर में फैले हुए है। तीन प्रमुख द्वीप है—गिल्बर्ट, लाइन और फोनिक्स। गिल्बर्ट के अन्तर्गत 17, लाइन और फोनिक्स के अन्तर्गत 8-8 द्वीप आते हैं। ये सभी द्वीप दक्षिण-पश्चिमी प्रशान्त में फैले हुए हैं।

(11) अमेरिका-चीन : राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना, 1979

15 दिसम्बर को अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने 1 जनवरी, 1979 से

चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की। इसी तरह की घोषणा पीकिंग से भी की गयी। राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना से दोनों देशों के बीच व्याप्त कटुता पूरी तरह से दूर होने की सम्भावना व्यक्त की जा रही है। यह कटुता 1950 के कोरिया युद्ध के बाद से दोनों देशो के बीच चली आ रही है। यद्यपि 1972 में तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने चीन की यात्रा कर दोनों देशों के बीच सद्भावनापूर्ण वातावरण पैदा करने का प्रयास किया था तथापि जिस तरह का सौहार्द्र दोनों देशो मे होना चाहिए था वह अभी तक नहीं बन सका। इसका प्रमुख कारण शायद ताइवान था। अब राष्ट्रपति कार्टर ने अपने वक्तव्य में यह मान लिया है कि चीन केवल एक है और उसकी एक सरकार है। इस वास्तविकता को मान लेने के बाद निस्सन्देह अमेरिका की दृष्टि में ताइवान का अस्तित्व नही रहता। इसके साथ ही कार्टर यह जोड़ते गए कि अमेरिका गैर-सरकारी तौर पर ताइवान से सम्बन्ध रख सकता है। ये क्षेत्र सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि हो सकते हैं।

(12) चीन-वियतनाम : चीन की आक्रामकता, 1979

किसी भी देश की नीतियों का परिचय देने के लिए उस देश के इतिहास के पन्ने दर्पण का अंजाम देते हैं। ये ऐतिहासिक तत्त्व समय बदलने के साथ-साथ यद्यपि बदलते हैं, तथापि वे अपनी स्थायी छाप छोड़ जाते है। कुछ इसी तरह की स्थिति चीन के बारे मे भी है। आक्रामकता चीन का स्वभाव है। आक्रामकता का मतलब प्रहार या हमला ही नहीं किसी न किसी तरीके से दूसरे देशों या अपने पड़ोसी देशों मे भी इस तरह की स्थितियाँ पैदा करने की कोशिश करना है जिससे तनाव बनता और बढता है। तनाव बढने की यह प्रवृत्ति कभी-कभी हमले का स्वरूप अख्तियार कर लेती है, जैसा कि 1950 में कोरिया और 1962 में भारत के साथ हुआ था। 1969 में सोवियत संघ और अब 1979 में वियतनाम के साथ भी चीन ने इसी आक्रामकता का परिचय दिया। इस तरह के प्रहार का तात्पर्य अपने प्रभाव, प्रभुत्व और 'दादागीरी' का प्रसार करना है। चीन शायद यही चाहता है। उसका मानना भी है कि इस तरह की गतिविधियों से केवल इतिहास के पन्नो में ही उसका स्थान स्थायी न हो बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उसका दबाव बढे। मोटे तौर पर दूसरे को आतंकित करने की नीति ही शायद उसका स्वभाव बन चुका है।

17 फरवरी, 1979 को चीन के कोई ढाई लाख सैनिकों ने वियतनाम की सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर सीमा पर खुला आक्रमण करके वियतनाम की इस धारणा की पुष्टि कर दी कि 'हम शान्ति चाहते हैं, किन्तु चीन को यह गवारा नहीं'। चीनी सेना ने इस बर्बर आक्रमण मे भारी संख्या मे टैंकों, बख्तरबंद गाडियों और बमवर्षक विमानों का प्रयोग किया। नई अमेरिकी मैत्री से लैस चीनी उपप्रधान मन्त्री और पश्चिमी प्रेस द्वारा आरोपित चीन के 'वास्तविक नेता' तेंग सिआओ पिंग ने वियतनाम को 'याद रहने वाला सबक सिखाने' की घोषणा कुछ दिन पहले अलबत्ता की थी और पिछले तीन-चार महीने से सीमा पर दोनों पक्षों मे छुटपुट झगड़े और

सीमोल्लंघन की घटनाओं को देखते हुए सशस्त्र संघर्ष की आशंका भी थी, किन्तु यह संघर्ष एक व्यापक आक्रमण का रूप लेकर आएगा, ऐसा प्रायः नहीं सोचा गया था।

चीन और वियतनाम के बीच विवाद काफी पुराना है। वास्तव में यह दो नस्लों का विवाद है, किन्तु वर्तमान संघर्ष का सूत्रपात कम्पुच्चा (कम्बोडिया) और वियतनाम में संघर्ष छिड़ने के साथ हुआ। चीन ने वियतनाम पर दबाव डालने के लिए पहले तो वियतनाम में रह रहे डेढ़ लाख से भी ऊपर चीनियों को स्वदेश लौटा कर वियतनाम की अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने का प्रच्छन्न प्रयास किया। आरोप यह था कि वियतनाम चीनी नागरिकों को तंग कर रहा है जबकि वास्तविकता यह थी कि विभिन्न कामों के विशेषज्ञ इन चीनियों को अपने पुनर्निर्माण में वियतनाम को नितान्त आवश्यकता थी। चीन का यह दबाव जब बेअसर साबित हुआ तो उसने सीमा-विवाद को तूल देने के लिए बार-बार सीमातिक्रमण करके वियतनाम को उत्तेजित करने का प्रयत्न किया। किन्तु वियतनाम ने इससे भी अप्रभावित रहकर कम्पुच्चा पर अपना अभियान जारी रखा और चीन की पिट्ठू पोल पाट सरकार को पराजित करके वहाँ नई सरकार स्थापित की, इस अभियान में चीन के लगभग 10 हजार सैनिक विशेषज्ञ भी, जो कम्पुच्चा में रह कर वस्तुतः युद्ध का संचालन कर रहे थे वियतनाम के हाथ लगे। चीन के लिए यह अपमान का घूँट था। यह घूँट उसे उस वियतनाम ने पिलाया जिसने उसके अव्वल दर्जे के दुश्मन सोवियत संघ से गए वर्ष ही मैत्री सन्धि की थी।

माओ ने 'खोये प्रदेश पुनः प्राप्त करने' और 'विश्व में प्रभुत्व स्थापित करने के लिए जेहाद' छेड़ने का संकल्प किया था। माओ नहीं रहे किन्तु तीसरी महाशक्ति बनने के उन्माद से आक्रान्त चीनी नेतृत्व उस संकल्प को अब भी सीने से लगाए हुए है। कम्पुच्चा में वियतनाम का हस्तक्षेप या वियतनाम में रह रहे चीनियों की समस्या तो गौण प्रश्न है। चीन के सामने मुख्य प्रश्न दक्षिण-पूर्वेशिया पर अपनी 'दादागीरी' स्थापित करने का है। 1962 में उसने इसी उद्देश्य से भारत पर बर्बर आक्रमण किया था और अब वियतनाम पर आक्रमण के पीछे भी यही प्रमुख उद्देश्य है। यह मात्र संयोग नहीं है कि चीन ने उस समय को वियतनाम पर आक्रमण के लिए चुना जबकि भारत के विदेश मन्त्री अटलबिहारी वाजपेयी उसके मित्रता के इरादों को टटोलने के उद्देश्य से उसके मेहमान थे। आक्रमण से दो-तीन दिन पहले उसने पंचशील में आस्था दिखाई थी और बातचीत से विवाद सुलझाने के श्री वाजपेयी के विचार से सहमति व्यक्त की थी। ऐसी स्थिति में आक्रमण के समय का चुनाव करने के पीछे चीन का साफ इरादा रहा। उसने वियतनाम पर आक्रमण करके परोक्षतः भारत को यह बताना चाहा है कि पंचशील के सिद्धान्त कहने-सुनने में भले ही अच्छे हों व्यवहार में चीन के लिए उसका कोई अर्थ नहीं है, यह कि सीमा-विवाद को बातचीत द्वारा हल करने के सिद्धान्त में उसकी निष्ठा नहीं है क्योंकि यह निष्ठा उसकी दोमुँही नीति से मेल नहीं खाती।

चीन ने जिस प्रकार आकस्मिक आक्रमण किया, उसी प्रकार वापसी का

आकस्मिक नाटक खेला और घोषणा की कि 5 मार्च, 1979 से सभी चीनी सेना अपने सीमा क्षेत्र मे लौटना शुरू कर दे। घोषणा में कहा गया कि चीनी सेना ने उन लक्ष्यों को प्राप्त कर लिया है जो उसके लिए निर्धारित किए गए। दोनों पक्षों में यद्यपि युद्ध रुक गया है और शान्ति-वार्ता चल रही है, लेकिन निकट भविष्य में कोई भी समझौता होता नजर नही आता। चीन का रवैया अड़ंगेबाजी का है। वियतनाम का काफी सीमावर्ती क्षेत्र चीन के कब्जे में है और यदि चीन उसे खाली नही करता तो समझौता दूर की कौड़ी है। वैसे ये आसार भी प्रकट हो रहे हैं कि चीन-वियतनाम संघर्ष पुन: भडक उठे।

(13) पश्चिम एशिया की समस्या (सितम्बर, 1980 तक)

पश्चिम एशिया अथवा मध्यपूर्व एशिया की समस्या अरब-इजरायल संघर्ष की समस्या है। मिस्र और इजरायल में अन्तिम भयावह युद्ध 6 अक्तूबर से 22 अक्तूबर, 1973 तक चला और तब दोनों पक्षों मे युद्ध-विराम हो गया। दोनों पक्षों को सन् 1967 की लड़ाई की तुलना में कही अधिक क्षति हुई, तथापि यह सिद्ध हो गया कि इजरायली सेना सर्वथा अपराजेय नही है और अरबों में भारी युद्ध-क्षमता है। युद्ध-विराम सुरक्षा-परिषद् के आदेश पर हुआ। युद्ध-विराम के समय स्थिति लगभग यह थी कि इजरायल स्वेज नहर के पश्चिमी तट पर और सीरिया में सासा के पास तक मोर्चे बाँधकर नई जमीन हथियाने मे सफल रहा। इसके विपरीत मिस्र ने स्वेज पार 305 मील की लम्बी पट्टी पर कब्जा कर लिया और सीरिया ने गोलन पहाड़ी क्षेत्र के कुछ भाग पर।

सुरक्षा परिषद् ने युद्ध-विराम सम्बन्धी जो प्रस्ताव पास किया, उसमें आग्रह किया गया कि संघर्षरत सभी पक्ष सैनिक गतिविधियाँ तत्काल रोक दें और स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए सम्बद्ध पक्षों मे समुचित तत्वावधान में बातचीत हो। संघर्षरत देशों मे सीरिया ने युद्ध-विराम प्रस्ताव स्वीकार करने मे काफी देर लगाई।

युद्ध-विराम के बाद मिस्र और इजरायल समझौता वार्ता चालू रही। आंशिक समझौते हुए भी, लेकिन समस्या का स्थायी समाधान एक विकट प्रश्नचिह्न ही बना रहा। कई बार विस्फोटक परिस्थितियाँ बनी, लेकिन दोनों पक्षों के सयम के कारण सघर्ष नही छेड़ा। राष्ट्रपति सादात यह मानकर चले कि इजरायल अपनी घरेलू स्थितियो के कारण शान्ति-स्थापना का इच्छुक है और यदि कटु रुख न अपनाया जाए तो दोनों पक्षों के लिए सम्मानजनक समझौता हो सकता है।

अरब राष्ट्रों की अप्रसन्नता की परवाह न करते हुए मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने इजरायल जाने का फैसला किया। 29 वर्ष की घोर शत्रुता और युद्ध को ताक पर रखकर 10 नवम्बर, 1977 को उन्होंने इजरायली संसद् से पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने में सहायता का अनुरोध किया। सादात के बाद बैगिन ने मिस्र मे इस्माइलिया आकर सादात से बातचीत की। एक दूसरे के प्रति समझौतावादी भावना का विकास होता गया, लेकिन मतभेद सुलझे नही। अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर

दोनों पक्षों में समझौते के लिए विशेष प्रयत्न करते रहे और अन्त में सितम्बर, 1978 में अमेरिका मे कैम्प डैविड में पश्चिमेशिया समस्या पर कार्टर-सादात-बैगिन शिखर वार्ता हुई। 13 दिनों की बातचीत अनेक बार नाजुक दौर से गुजरी और अन्त में एक ऐतिहासिक समझौते के साथ समाप्त हुई।

सितम्बर की मिस्र-इजरायल शान्ति-सन्धि के इस दस्तावेज मे इजरायल ने कहा कि (1) वह समूचे सिनाई में मिस्र की प्रभुसत्ता को फिर स्वीकार करते हुए वहाँ से अपना हवाई अड्डा समाप्त कर देगा, (2) इजरायली सेनाएँ शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर होने के बाद (इजरायली संसद् की स्वीकृति के बाद) तीन महीने से लेकर 9 महीने तक की अवधि में हट जाएँगी, (3) तत्पश्चात् दोनों पक्षों के बीच राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हो जाएँगे, (4) दस्तावेज मे स्पष्ट कर दिया गया कि पाँच वर्ष के संक्रान्ति काल मे इजरायल जोर्डन के पश्चिम तक और गाजा पर से अपना सैनिक नियन्त्रण पूरी तरह समाप्त कर देगा, इन क्षेत्रों के लोगों को स्वशासन और पूर्ण-स्वायत्तता प्रदान कर दी जाएगी, लेकिन सुरक्षा-सम्बन्धी कुछ कारणों से इजरायल कुछ इलाकों में अपने सैनिक रखेगा, (5) पश्चिमी तट का मामला तय करने के लिए जोर्डन को बातचीत मे आमन्त्रित किया जाएगा और उसे इजरायल के साथ शान्ति-वार्ता के लिए भी कहा जाएगा।

कैम्प डेविड वार्ता के परिणाम पर मिस्र और इजरायल मे तथा अरब देशों में तीव्र प्रतिक्रियाएँ हुईं। अरब जगत् मे सीरिया ने कैम्प डेविड समझौते की कड़ी आलोचना की और कहा कि अरब हितों का बलिदान कर दिया गया है। कैम्प डेविड समझौते की अल्जीरिया, लीबिया, सीरिया, दक्षिणी यमन, फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन, सऊदी अरब इन सभी अरब राष्ट्रों ने विरोध किया और सोवियत संघ के साथ सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने की इच्छा प्रकट की। कैम्प डेविड समझौते के सन्दर्भ मे मिस्र और इजरायल के प्रतिनिधियों में वार्ता का दूसरा दौर 12 अक्तूबर से 22 अक्तूबर, 1978 तक चला और समझौते की व्याख्या को लेकर दोनों पक्षो मे मतभेद पैदा हो गए।

राष्ट्रपति कार्टर की प्रतिष्ठा दावों पर लग गई और आखिर मार्च 1979 के प्रारम्भ मे यह आशा हो गई कि कैम्प डेविड में मिस्री और इजरायली नेताओं में शान्ति-सन्धि के लिए समझौतों का जो ढाँचा बनाया था वह शीघ्र ही अस्तित्व मे आ जाएगा। ऐसा ही हुआ और 26 मार्च, 1979 को वाशिंगटन मे राष्ट्रपति कार्टर के हस्ताक्षरों सहित मिस्र और इजरायल में शान्ति-सन्धि सम्पन्न हो गई। सन्धि पर सादात, बेगिग्न और कार्टर के हस्ताक्षर हुए। इस शान्ति-सन्धि पर अरब देशों ने तुरन्त विरोध किया और 1 अप्रैल, 1979 को अरब संघ के 16 सदस्यों ने मिस्र का बहिष्कार करने और आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के पहले कदम के तौर पर काहिरा स्थित राजदूतों को स्वदेश लौटाने का आदेश दिया।

मिस्र के प्रधान मन्त्री डॉ मुस्तफा खलील ने बताया कि संधि के लागू जाने से पहले नौ महीनों में इजरायल सिनाई का 75 प्रतिशत इलाका उसे

देगा। इसके एक क्षेत्र मे इजरायल की थोड़ी सेना रहेगी। एक तिहाई क्षेत्र में संयुक्तराष्ट्र सेनाएँ रखी जाएँगी। सिनाई का पूरा क्षेत्र दो से तीन साल के भीतर मिस्र को सौंप दिया जाएगा। सन्धि की पुष्टि हो जाने के नौ महीने के भीतर मिस्र और इजरायल राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करेंगे। मिस्र अपना दूतावास तेलअवीव मे खोलेगा, यरूशलम में नहीं। फिलिस्तीनी राजनीतिक बंदियो को रिहा किया जाएगा। सन्धि पर हस्ताक्षर होने के एक महीने के बाद पश्चिमी किनारे और गाजापट्टी मे फिलिस्तीनी शरणार्थी लौट जाएँगे। यह संक्रमणकाल पाँच वर्ष तक रहेगा। उसके बाद फिलिस्तीनियों को अपने भाग्य का फैसला करने का पूरा अधिकार दिया जाएगा। शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर होने के दस महीने के बाद चनाव होगे।

नया गतिरोध

सन् 1979 मे कैंप डेविड समझौते के अन्तर्गत पश्चिमेशिया में—खास तौर पर मिस्र और इजरायल मे शान्ति स्थापना की जो आशा बँधी थी वह सन् 1980 के मध्य धूमिल पड़ती दीख रही है। इसका मुख्य कारण इजरायल के प्रतिरक्षा मन्त्री इज़र वाइज़मैन के त्याग-पत्र के बाद उनके स्थान पर नए मन्त्री की नियुक्ति मे आने वाली अड़चनों से प्रधान मन्त्री मेनाहिम बेंगिन को अपने मिले-जुले मन्त्रिमण्डल के घटको के विरोध का सामना करना पड़ रहा है। बेंगिन विदेश मन्त्री यत्जािक शमीर को प्रतिरक्षा मन्त्री और ऊर्जा मन्त्री यत्जिाक मोदाई को विदेश मन्त्री बनाने के पक्ष मे थे लेकिन डेमोक्रेटिक मूवमेंट नामक दल को यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं था। हिलाजा प्रतिरक्षा मन्त्रालय भी बेंगिन के पास ही है। इसके अतिरिक्त इजरायल अधिकृत अरब क्षेत्र में पश्चिमी तट के तीन महापौरो–नेबलेस, रामेलाह् और बिरेह—पर बम फैंक कर (2 जून, 1980) कातिलाना हमले के प्रयास की भी बहुत निन्दा हुई है। बेशक तीनों महापौरो की जानें बच गई है लेकिन दो की टाँगों को चोटें लगी हैं। उससे लोगों मे आक्रोश तो है ही। केवल अरब देशों में ही नहीं बल्कि विश्व भर मे तथाकथित इजरायली आतंकवादियों की इस कार्रवाई की निन्दा की गई है।

घटना पर संयुक्त राष्ट्र के महासचिव डॉ. कुर्त वाल्दहीम ने क्षोभ व्यक्त करते हुए इस मुद्दे को सुरक्षा परिषद् में उठाए जाने की पेशकश की लेकिन फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन के नेताओं ने कहा कि इस घटना के सन्दर्भ में फिलिस्तीनियो की सभी समस्याओ पर विचार-विमर्श होना चाहिए। यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशो ने वेनिस मे अपनी बैठक (10–12 जून) में पश्चिमेशिया मे पूर्ण शान्ति के लिए नई नीति निर्धारित करने का प्रस्ताव रखा। एक समाचार के अनुसार कई देश फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को मान्यता प्रदान करने के भी पक्ष मे हैं लेकिन सब देशों में इस पर सहमति नही। मिस्र के राष्ट्रपति (अब प्रधान मन्त्री भी) अनवर अल-सादात ने स्पष्ट करते हुए कहा कि कोई भी समझौता कैंप डेविड समझौते के अन्तर्गत ही ढूंढा जाना चाहिए, क्योंकि यह बहुत व्यापक समझौता है जो अब केवल इजरायल और मिस्र तक ही सीमित नही रह गया है। पिछले दिनो तो सऊदी अरब के शाह फाहद

ने भी कहा था कि यदि इजरायल आतंकवादी गतिविधियों को समाप्त करने का आश्वासन दे तो वार्ता की जा सकती है।

राष्ट्रपति सादात ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि कैंप डेविड समझौते में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसके लिए यूरोपीय देशों को अमेरिका के साथ-साथ मिस्र और इजरायल की सहमति लेनी होगी। बेशक यूरोपीय देश गतिरोध को समाप्त करने में भूमिका निभा सकते हैं लेकिन इसके लिए उन्हें मिस्र के इतर अरब देशों को वार्ता के दायरे में लाना होगा। इजरायल द्वारा अरब अधिकृत क्षेत्र में जिस तरह की स्थितियाँ दिनोंदिन उग्र होती जा रही हैं उनसे मिस्र और इजरायल मे भी संशय की भावना बढती जा रही है। इजरायल ने यह भी धमकी दी है कि वह सिनाई का शेष भाग न लौटाने के बारे मे भी सोच सकता है। मई में जोर्डन नदी के पश्चिमी किनारे और गाजा पट्टी मे फिलिस्तीनियो को स्वशासन देने सम्बन्धी जो कदम उठाए जाने वाले थे वे भी नहीं उठाए गए। बेशक कार्टर के साथ बेगिन और सादात की शिखर वार्ता हुई थी। एक तरह से कैंप डेविड समझौते पर भी अमल रुक गया है।

जब मार्च, 1979 मे कैंप डेविड समझौते पर हस्ताक्षर हुए तो इजरायल के कई आतंकवादी गुटों ने खुलेआम कहा था कि सन् 1967 मे हथियाए गए इलाके को यदि वापस किया गया तो हम लोग हथियार उठा लेंगे। इनमे धुरराष्ट्रवादी गुट एमुनिम के सदस्य हैं जो यहाँ तक कहते हैं कि यदि उन्हे हथियाए गए इलाके से निकाला गया तो वे इजरायली सेना के विरुद्ध भी हथियार उठाने से नही झिझकेंगे। बेशक पिछले दो वर्षों मे उग्रपंथी गुटों मे विभाजन हुआ है लेकिन उनमे से कई शक्तिशाली और अधिक उग्र गुट बने हैं, मध्यमार्गियों की संख्या कम है।

यदि मिस्र और इजरायल में परस्पर संशय की भावना बढती है, जो कि बढ रही है (बेगिन ने तो कैंप डेविड समझौता भंग करने तक की धमकी दे डाली है) तो अमेरिका के चुनाव वर्ष में राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर के लिए यह महंगी पड़ेगी। कार्टर की सफल विदेश नीति का एक मुद्दा पश्चिमेशिया में शान्ति स्थापना भी है। दोनों देशो में संवाद टूट जाने और अधिकृत अरब क्षेत्र में महापौरों पर हमले से कार्टर खासे चिंतित बताए जाते है। अगस्त में डेमोक्रेटिक पार्टी का नामांकन प्राप्त करने से पूर्व कार्टर सम्भवतया इस क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण और निर्णायक कदम उठाने की सोच सकते हैं। लेकिन देखना यह है कि सादात और बेगिन अपने-अपने उग्रपंथी गुटों का कितना सहयोग प्राप्त कर पाते है ताकि वे टूटी हुई वार्ता को पुनः चालू कर सकें।

पश्चिम-एशिया-समस्या का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव

पश्चिम एशिया की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर गहरा प्रभाव डाले हुए है। अरब-इजरायल तनाव के कारण ही मध्यपूर्व के भूमध्यसागरीय क्षेत्र में महाशक्तियाँ अपनी नौ-सैनिक शक्ति के विस्तार के लिए प्रतिस्पर्द्धा कर रही हैं। पश्चिमी एशिया में महाशक्तियों द्वारा संघर्षों की राजनीति का जो खेल-खेला

है उसके फलस्वरूप इस क्षेत्र के देशों में राजनीतिक स्थिरता कायम नहीं हो पा रही है। अरब देश वैसे ही राजनीतिक अस्थिरता का शिकार बने रहते हैं और उस पर भी महाशक्तियों का हस्तक्षेप स्थिति को अधिक बिगाड़ता है और विभिन्न देशों के स्थानीय संघर्ष शान्त नहीं हो पाते। अरब-इजरायल तनाव से विश्व के अन्य देशों की विदेश-नीतियाँ भी प्रभावित हैं। उदाहरणार्थ, भारत चाहते हुए भी इजरायल को कूटनीतिक मान्यता नहीं दे पा रहा है। अरब-राज्यों से मैत्री के कारण ही भारत को यह नीति अपनानी पड़ी है। जबकि इजरायल का भारत के प्रति कोई शत्रुतापूर्ण रवैया नहीं रहा है। पश्चिमी एशिया के इस संकट के फलस्वरूप शीतयुद्ध में उग्रता आती रहती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ का मंच राजनीतिक गर्मी से प्रभावित है और जब तक वहाँ का वातावरण शीतयुद्ध के भँवर में फँस जाता है। इस क्षेत्र की समस्याओं का समाधान वास्तव में तभी सम्भव है जब साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस प्रदेश में हस्तक्षेप न करें और इजरायल की प्रसारवादी नीति को बढ़ावा न दें। इजरायल विजित अरब क्षेत्र को लौटा दे और अरब-देश भी यहूदी राज्य की वास्तविकता को स्वीकार करें तथा उसे पूर्ण मान्यता देकर सहअस्तित्व की नीति का अनुसरण करे।

(14) पश्चिमेशिया में परमाणु टकराव

पाकिस्तान के परमाणु बम बनाने की क्षमता के समाचार को लेकर समूचे एशिया में तरह-तरह की आशंकाएँ व्यक्त की जा रही हैं। परन्तु पश्चिमेशिया क्षेत्र के देशों की परमाणु शक्ति सम्पन्न होने की क्षमता की समीक्षा प्रसिद्ध अमेरिकी पत्र वाशिंगटन पोस्ट ने अभी कुछ अर्से पूर्व की है जिससे स्पष्ट है कि आज का पश्चिमेशिया परमाणु टकराव की स्थिति में है। पत्र में प्रकाशित 'डायेल टारगेरसन' नामक पत्रकार की एक समीक्षा में अलग-अलग देशों की परमाणु शक्ति सम्पन्न होने की तैयारियों का दिलचस्प विवरण दिया गया है। समीक्षा के अनुसार[1]—

"निस्सन्देह पश्चिमेशिया में स्थायी शान्ति के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। लेकिन इस क्षेत्र के कई देश इस समय परमाणु टकराव की तरफ बढ़ रहे हैं। इस क्षेत्र में कहीं भी परमाणु अस्त्रों के प्रसार की रोकथाम का कोई प्रयत्न दिखाई नहीं पड़ता जबकि यहाँ इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। इजरायल के परमाणु शक्ति सम्पन्न बन जाने से इस क्षेत्र को जितना खतरा पैदा हो सकता है उतना शायद ही किसी अन्य देश के ऐसी स्थिति में आने से हो। अभी इजरायल के पास परमाणु बम नहीं है लेकिन वह बना सकता है। इधर इजरायल के शत्रु परमाणु बम बनाने की जी जान से कोशिश कर रहे हैं। अगर जल्दी ही वे इस स्थिति में आ जाएँ तो कोई आश्चर्य नहीं। लीबिया के सैनिक अधिकारियों ने परमाणु अस्त्र प्राप्त करने के लिए एक करोड़ डॉलर तक की रकम खर्च करने का प्रस्ताव किया है। आज की इस दुनिया में भाड़े पर वैज्ञानिक भी मिल सकते हैं और परमाणु बम बनाने के लिए यूरेनियम भी खरीदा जा सकता है। इजरायल अधिकारियों का कहना है कि फ्रांस

1 दिनमान, 20-26 मई, 1979.

ईराक को परमाणु बम बनाने के लिए यूरेनियम तथा अन्य अनुसंधान सुविधाएँ उपलब्ध कराने को तैयार है। विश्व के नेता पश्चिमेशिया में परमाणु बम के विरुद्ध बराबर चेतावनी दे रहे हैं लेकिन यह खतरा बढता ही जा रहा है।

ईराक

अमेरिका के विचार में ईराक परमाणु शक्ति सम्पन्न होने के लिए जबरदस्त प्रयत्न कर रहा है। पश्चिम यूरोप सहित अनेक देशों ने उसे परमाणु ऊर्जा बनाने का वचन दिया है। यह ईंधन ब्रीडर रिएक्टरो द्वारा उपलब्ध कराया जाएगा। इस समूची प्रक्रिया से परमाणु बम भी बनाया जा सकता है। इजरायलियों के विचार में तो ईराक परमाणु बम बनाने के लिए ही यह सब कुछ कर रहा है। उसकी सूचना तो यहीं तक है कि बगदाद से बाहर किसी जगह सब तैयारियाँ हो रही हैं। बताया जाता है कि फ्रांस इस काम में ईराक की काफी मदद कर रहा है। वह बहुत बढिया किस्म का यूरेनियम ईराक को उपलब्ध करा रहा है।

पाकिस्तान

इस्लामी देश पाकिस्तान परमाणु बम बनाने के लिए अपनी सारी अर्थव्यवस्था को एक नई दिशा देने की कोशिश कर रहा है। अमेरिकी विदेश विभाग के विचार में पाकिस्तान जल्दी से जल्दी परमाणु टैक्नोलॉजी प्राप्त कर लेना चाहता है जिससे कि वह अन्ततः परमाणु बम बना सके। कुछ सूत्रों के अनुसार लीबिया, सऊदी अरब और कुवैत इस काम मे पाकिस्तान की आर्थिक सहायता कर रहे हैं। वे यह चाहते हैं कि इस्लामी दुनिया के पास परमाणु अस्त्र हो। ईरान ने तो कही यह भी कहा बताते हैं कि आप देखेंगे कल की इस्लामी दुनिया कैसी होगी।

इजरायल

फ्रांस ने सन् 1950 के अन्तिम दशक मे इजरायल को 27 मेगावाट का एक अनुसंधान रिएक्टर उपलब्ध करा दिया था और यह सब काम अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण व्यवस्था के नियमो की अनदेखी करके हो गया। इस प्रकार इजरायल को प्लूटोनियम के उत्पादन का साधन मिल गया जिससे वह सन् 1960 के अन्तिम दशक मे ही परमाणु बम बनाने योग्य हो गया था। अब तो इजरायल बढ़िया किस्म का यूरेनियम प्राप्त करके श्रेष्ठतम परमाणु अस्त्र बनाने की कोशिश कर रहा है। कुछ गुप्त सूत्रो के अनुसार इजरायल इस समय वर्ष में एक बम बनाने की क्षमता प्राप्त कर चुका है। समझा जाता है कि इजरायल ने परमाणु बम बना भी लिया है। यह बात सी. आई. ए. की 1974 की रपट मे कहीं देखने को भी मिली है। कहा जाता है रपट मे गलती से यह जानकारी आ गई।

आतंकवादी संगठनों की बम प्राप्त करने की कोशिश

काफी वित्तीय साधनों से युक्त आतंकवादी संगठन भी परमाणु बम बनाने की क्षमता रखते हैं। यह इतनी मात्रा में प्लूटोनियम उड़ा कर ला सकते हैं जो एक बम बनाने की तकनीक और जानकारी रखते हैं। समझा जाता है कि फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन भी यह काम कर सकता है। यह बात स्टाकहोम की एक [illegible]

शान्ति संस्था ने बताई थी। लेकिन लगता है फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन अब ऐसा नहीं करेगा क्योंकि मिस्र ने सोवियत संघ से सन् 1961 में एक छोटा अनुसंधान रिएक्टर प्राप्त कर लिया था। इस समय यह संयन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण में है। पर कुछ घटिया किस्म के यूरेनियम से इस सयन्त्र द्वारा परमाणु बम बनाया जा सकता है।

बड़े देशों ने ऐसे प्रयत्न अब शुरू किए है जिनसे सभी जगह परमाणु अस्त्रों के प्रसार को रोका जा सके। जब अमेरिका को यह पता लगा कि पाकिस्तान का सैनिक प्रशासन परमाणु बम बनाने की फिक्र में है तो उसने उसको विदेशी सहायता में काफी कटौती कर दी। उधर सोवियत संघ ने लीबिया में रिएक्टर बनाने का काम रोक दिया है। फ्रांस पाकिस्तान को कुछ ऐसी सामग्री देने पर रोक लगा रहा है जिससे परमाणु बम बनाया जा सकता है। वाशिंगटन, लन्दन, पेरिस, स्टाकहोम, रोम, वियना आदि जगहों पर कुछ ऐसी व्यवस्था की गई है कि कहीं भी परमाणु अस्त्र बनाने की तैयारी का पता बडे देशों को लग जाए ताकि वे जल्दी ही इसकी रोकथाम के लिए कार्यवाही कर सकें। अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी परमाणु अस्त्रों के प्रसार को रोकने की कोशिश कर रही हैं। लेकिन कठिनाई तो यह है कि परमाणु अस्त्र प्रसार निषेध सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले देश भी गुप्त रूप से परमाणु अस्त्र बनाने की कोशिश में रहते हैं। सन्धि मे अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की जो व्यवस्था है है उसका भी कोई पालन नहीं करता। आवश्यकता इस बात की है कि देशो को यूरेनियम भेजने पर प्रतिबन्ध लगाया जाए जिससे वे बम बना ही न सकें। परमाणु शक्ति सम्पन्न जो देश परमाणु बनाने की इच्छा रखने वालों को टैक्नोलॉजी और जानकारी उपलब्ध कराए उनके बहिष्कार की भी कोई व्यवस्था होनी चाहिए।

सेंटो का अवसान (1979)

पहले ईरान और पाकिस्तान और बाद मे टर्की ने केन्द्रीय सन्धि संगठन (सेंटो) से अपने सम्बन्ध तोड़ कर उसके विघटन की प्रक्रिया पूरी कर दी है। 13 मार्च, 1979 के इस फैसले पर अमेरिका की प्रतिक्रिया थी। उसे आश्चर्य नहीं हुआ, यह तो सम्भावित था। वास्तव में पहले पाकिस्तान में और उसके बाद ईरान मे जिस प्रकार का वातावरण था उससे लगने लगा था कि सेंटो उसके लिए बेमानी है। अब केवल कागज पर ब्रिटेन उसका सदस्य रह गया है। अमेरिका सहयोगी सदस्य है। ईराक इसकी सदस्यता 1959 में ही छोड़ चुका है। टर्की के प्रधान मन्त्री बुलन्द एजेवित ने मन्त्रिमण्डल की एक विशेष बैठक के बाद घोषणा की कि वह भी ईरान और पाकिस्तान की तरह सेंटो की सदस्यता से त्याग-पत्र दे रहा है।

(15) अफगानिस्तान में क्रान्ति : रूसी हस्तक्षेप

27 दिसम्बर, 1979 को एक बार फिर अफगानिस्तान की राजधानी काबुल की सड़कों पर टैंक देखे गए। 6 सितम्बर, 1979 को सत्तारूढ़ हुए राष्ट्रपति हफीजुल्ला अमीन का तख्ता पलट दिया गया। भूतपूर्व राष्ट्रपति नूर मोहम्मद तराकी (अब दिवंगत) के उप राष्ट्रपति बबराक कारमाल ने इस बार तख्ता पलटा

था। सफल क्रान्ति के बाद उन्होंने रेडियो से घोषणा की कि वह देश को स्वच्छ शासन देंगे। स्थिति पर काबू पाने के लिए उन्होने सोवियत संघ से राजनीतिक, नैतिक, आर्थिक और सैनिक सहायता की माँग की जो उन्हें तुरन्त प्रदान की गई।

सोवियत सैनिको की सहायता से अफगानिस्तान मे हफीजुल्ला अमीन का जो तख्ता पलटा गया (27 दिसम्बर, 1979) उसके पीछे काम करने वाली शक्तियो के बारे में खबरें सटिप्पणी छपनी शुरू हो गई। जब तख्ता पलट की घटना हुई उस समय बबराक कारमाल देश में नही थे। उनकी टेप की गई आवाज रेडियो से सुनाई जा रही थी। मतलब यह कि अमीन को सत्ता से सोवियत सैनिको ने ही हटाया। एक अन्य समाचार के अनुसार हफीजुल्ला अमीन की चारों पत्नियो और 24 बच्चों को राष्ट्रपति भवन (दर उलेमान महल) में मार डाला गया। सैनिको ने उन सभी लोगों को मौत के घाट उतार दिया जिन्होंने उनके मार्ग में किसी प्रकार की बाधा पैदा करने की कोशिश की। अमीन की मौत किन हालातो में हुई, इसकी सही रपट तो अभी प्राप्त नही हुई। लेकिन खबरों के अनुसार इस्लामी और सैनिक अदालत के फैसले पर उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया। 25 दिसम्बर, 1979 की सुबह उन्हें बच्चों में खिलौने बाँटते हुए देखा गया था। उसी दिन ही दो सौ सोवियत सैनिक परिवहन विमान और पाँच हजार सैनिक काबुल हवाई अड्डे पर उतरे थे। बबराक कारमाल नववर्ष की पूर्व संध्या पर काबुल टेलीविजन पर देखे गए। उन्होने लोगो से शान्त रहने की अपील करते हुए कहा कि वह देश को नया संविधान देंगे जिसके अन्तर्गत शीघ्र चुनाव कराए जाएँगे।

अफगानिस्तान मे राजनीतिक उलझाव दिनोंदिन बढता जा रहा है। सोवियत संघ की सैनिक कार्यवाही के साथ-साथ राजनीतिक कार्यवाही भी शुरू हो गई है। प्रयास हो रहे हैं कि अफगानिस्तान के निरन्तर कम होने वाले सैन्य बल को पुनर्गठित किया जाए। पुनर्गठन की इस प्रक्रिया मे भी रूसी सलाहकार अहम भूमिका निभा रहे हैं। ज्यों-ज्यो सोवियत सघ अफगानिस्तान मे अपनी जड़ें मजबूत करता जा रहा है त्यो-त्यों उसके पड़ोसी देश खास तौर पर पाकिस्तान और ईरान में एक अजीब तरह का डर और सशय बढ रहा है। इनके अलावा मुस्लिम देशों ने भी सोवियत गतिविधियों पर खेद व्यक्त किया है। अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने पाकिस्तान को 20 करोड़ डॉलर के हथियार देने की घोषणा की है। इसके साथ ही वह पाकिस्तान को सहायता देने के लिए चीन से निरन्तर सम्पर्क बनाए हुए है। उनको शायद यह डर है कि रूसी सैनिक धीरे-धीरे पाकिस्तान और ईरान की ओर बढ़ सकते हैं।

अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की उपस्थिति के मुद्दे पर संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद् में भी काफी लम्बी बहस हुई। इस बहस मे अफगानिस्तान के विदेश मन्त्री शाह मोहम्मद दोस्त ने रूसी सहायता का समर्थन करते हुए कहा कि रूसी सैनिक हमारे आग्रह पर ही काबुल आए थे। पिछले 13 वर्षों में सुरक्षा परिषद् का यह छठा आपत्कालीन अधिवेशन था। इससे पहले तीन अधिवेशन पश्चिमेशिया

की स्थिति पर, एक 1956 मे हंगरी की समस्याओं पर तथा 1960 में कांगो की समस्याओ पर हो चुका है। अफगानिस्तान के विदेश मन्त्री ने अपने देश की स्थिति को आन्तरिक मामला बताया और यह भी कहा कि इससे उस क्षेत्र की शान्ति को किसी प्रकार का कोई खतरा नहीं। उनका यह भी तर्क था कि प्रत्येक देश को 'आत्मरक्षा' का अधिकार है और उसके लिए वह किसी भी तरह की बाहरी सहायता का पूर्ण अधिकार रखते हैं। उनका यह भी मानना था कि अफगानिस्तान अपने आप को 'साम्राज्यवादी' शक्तियों से सोवियत संघ की सहायता से अलग कर रहा है। ज्यों ही उसकी स्थिति 'मजबूत' हो जाएगी, सोवियत सेनाएँ वहां से हट जाएँगी। इसी आशय का एक पत्र सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने भारतीय प्रधान मन्त्री श्रीमती गाँधी को लिखकर उन्हें आश्वासन दिलाया था कि सोवियत सेना अफगान सरकार के आग्रह पर तुरन्त वहाँ से हट जाएगी। लेकिन चीन का आरोप था कि सोवियत सैनिकों को अफगान सरकार ने नही बुलाया था बल्कि यह उनका अपना निमन्त्रण था। इस तरह की सोच का कोई आधार नही कि हफीजुल्ला अमीन अपने पतन के लिए सोवियत सघ को निमन्त्रित करते। चीनी प्रतिनिधि चेङ चू ने सोवियत कार्यवाही को तीसरी दुनियाँ के देशों में सोवियत विस्तार की गतिविधियाँ करार दिया। यह केवल अफगानिस्तान तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसका विश्वव्यापी प्रभाव पड़ेगा। काफी लम्बी बहस के बाद सुरक्षा परिषद् ने सोवियत सघ से अफगानिस्तान में अपनी गतिविधियाँ समाप्त करते हुए सैनिकों की वापसी का प्रस्ताव पास किया। लेकिन इस प्रस्ताव पर सोवियत सघ ने अपने वीटो के अधिकार कर इस्तेमाल कर प्रस्ताव को नाकाम कर दिया।

अफगानिस्तान के भीतर सोवियत सैनिक अपना नियन्त्रण मजबूत करने में जुटे हुए हैं। उन्होंने अपनी समरनीति तय की है। उधर विद्रोही अफगान सोवियत सैनिकों को बुरी तरह परेशान कर रहे हैं। विद्रोहियो के सन्तुलित और संयोजित प्रहार से रूसी और सरकारी अफगानी सैनिकों के पैर अधिक नहीं जम पा रहे हैं। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की वापसी को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव निरन्तर बढ रहा है। केवल अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देश ही सोवियत संघ से अफगानिस्तान से हटने के लिए जोर नही डाल रहे हैं बल्कि अरब, एशिया, अफ्रीका आदि देशो का दबाव भी बढ़ता जा रहा है। सोवियत रूस ने अफगानिस्तान मे अपनी सामरिक शक्ति को बिना कमजोर किए अपनी सैनिक शक्ति को कुछ घटाया है और यह सकेत दिया है कि यदि अफगान सरकार को कोई खतरा न रहेगा तथा बाह्य शक्तियों का अफगानिस्तान पर दबाव हट जाएगा तो उसका अफगानिस्तान मे बने रहने का कोई इरादा नहीं है। बहरहाल नवम्बर, 1980 के प्रारम्भ में स्थिति यही है कि अफगानिस्तान का मामला काफी उलझा हुआ है। अप्रेल, 1980 मे अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओ के रहने पर सोवियत सघ और अफगानिस्तान के नेताओं में एक समझौते पर हस्ताक्षर हो चुके थे। सोवियत सैनिकों की वापसी चाहे नाममात्र की हुई हो, राजनयिक तौर पर तो इसका महत्त्व हो ही गया है।

(16) फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन नई स्थिति में नई भूमिका के प्रति जागरुक

भारत और आस्ट्रिया ने फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को कूटनीतिक मान्यता देकर अपने-अपने यहाँ स्थित संगठन के कार्यालयों का दर्जा बढ़ा दिया है। फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, इटली और आयरलैंड अपने अपने ढंग से फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन कर चुके हैं तथा ब्रिटेन फिलिस्तीनी समस्या के समाधान के लिए अपने ढंग से प्रयास कर रहा है। इस प्रकार यूरोपीय आर्थिक समुदाय में फिलिस्तीनी समस्या के प्रति नया सोच परिलक्षित हुआ है। सच तो यह है कि यूरोपीय आर्थिक समुदाय के नौ सदस्य देशों में हालैंड को छोड़कर अन्य सभी इस विचार के समर्थक हैं कि साझा बाजार की ओर से अरब-इजरायल संघर्ष पर एक नई घोषणा की जाए। किन्तु यह घोषणा सम्भवत. 23 मई से पहले नही की जाएगी क्योंकि यह तिथि कैंप डेविड समझौते को क्रियान्वित करने की अन्तिम तिथि है।

इनके अलावा संयुक्तराष्ट्र में भी फिलिस्तीनी समस्या एक नई करवट ले रही है। संयुक्तराष्ट्र की फिलिस्तीनी अधिकार समिति ने समस्या पर एक नया प्रस्ताव तैयार किया है और सुरक्षा परिषद् के प्रतिनिधियों ने उस पर विचार किया है। यह प्रस्ताव जून, 1967 के छह दिवसीय अरब-इजरायल संघर्ष के बाद सुरक्षा परिषद् द्वारा पारित प्रसिद्ध प्रस्ताव 242 से प्रेरित होकर और किया गया है। इसमे यह कहा गया है कि इजरायल को अपनी शान्ति और सुरक्षा का अधिकार है और इसी प्रकार फिलिस्तीनियों को अपने निजी राष्ट्र के प्रस्ताव के अनुसार फिलिस्तीनी लोगों को फिलिस्तीन मे एक स्वाधीन राष्ट्र की स्थापना के अधिकार समेत आत्म-निर्णय का अधिकार होना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की इन हलचलों के अलावा फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के चिन्तन मे भी कुछ परिवर्तन परिलक्षित होता है। अब वह कैंप डेविड समझौते का पहले जैसा मुखर विरोधी नही रहा है, उसकी शिकायत यह है कि कैंप डेविड समझौते मे उसे भागीदार नही बनाया गया। श्री अराफत की भारत यात्रा की समाप्ति पर जारी की गई संयुक्त विज्ञप्ति मे कैंप डेविड समझौते का उल्लेख भी उसकी अहमियत को ही रेखांकित करता है और इसको भी कि अपनी स्थापना के लगभग 16 वर्ष बाद फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन समस्या के शान्तिपूर्ण हल के प्रति आशान्वित हुआ है।

उधर अमेरिका और मिस्र ने जोर्डन नदी के तट के अधिकृत अरब क्षेत्र में इजरायल द्वारा यहूदी बस्तियों के निर्माण का कड़ा विरोध किया है। मिस्र तो इजरायल की इस कार्यवाही को कैंप डेविड समझौते का उल्लंघन मानता है। यह पश्चिमेशिया के घटनाक्रम में एक नया मोड़ है कि अमेरिका ने इजरायल की यहूदी बस्ती नीति का खुला विरोध किया है।

फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को मान्यता देकर भारत ने अपनी अब तक की

नीति पर ही मुहर लगाई है। भारत दुनियाँ भर के मुक्ति संघर्षों का सक्रिय समर्थक रहा है और अपनी इसी नीति के अधीन वह फिलिस्तीनियों के आत्मनिर्णय के अधिकार और स्वाधीन फिलिस्तानी राज्य की स्थापना का पक्ष लेता रहा। अब उपयुक्त समय आने पर उसने फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को मान्यता देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि वह आक्रमणकारी को आक्रमण का लाभ उठाने देने का पक्षधर नहीं है। इस तरह जहाँ भारत ने अपनी पुरानी नीति पर दृढ़ रहने का निश्चय व्यक्त किया है, वहाँ आस्ट्रिया और यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों ने अपने अब तक के रवैये को छोड़कर समस्या को सही संदर्भ में समझने की सूझबूझ का परिचय दिया है। इस परिवर्तन का श्रेय फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को दिया जाना चाहिए जिसने 15 वर्ष के अपने जुझारू जीवन के बाद वर्तमान परिस्थितियों के तकाजे को देखते हुए समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान में अपना विश्वास व्यक्त किया है।

पिछले एक या दो वर्ष मे या यों कहिए कि अक्तूबर, 1973 के मिस्र-इजरायल युद्ध के बाद से, जिसमे मिस्र ने इजरायल को निर्णायक शिकस्त दी थी, पश्चिमेशिया मे घटनाचक्र बडी तेजी से चला है। अक्तूबर युद्ध ने जहाँ मिस्र में नया आत्म-विश्वास भरा वहाँ इजरायल को यह अहसास भी करा दिया कि वह सर्वथा अजेय नहीं है। कहना न होगा कि कैंप डेविड समझौता बहुत कुछ अक्तूबर युद्ध का परिणाम था। किन्तु अरब देशो को यह समझौता नही भाया। सीरिया, लीबिया, ईराक, सऊदी अरब, जोर्डन सहित प्राय: सभी अरब देशो ने कैंप डेविड समझौते को अस्वीकार करते हुए मिस्र की आर्थिक नाकेबन्दी कर दी। उन्होने फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को सशस्त्र सघर्ष के लिए उकसाया। किन्तु उन्होने न तो अधिकृत अरब क्षेत्रों को इजरायल से मुक्त कराने के लिए लफ्फाजी के अलावा और कोई ठोस प्रयत्न किया और न ही फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन को अपेक्षित सहायता दी। उल्टे लीबिया ने सगठन की मान्यता रद्द करते हुए यासिर अराफत पर यह आरोप लगाया कि उन्होने फिलिस्तीनी समस्या को युद्ध से हल करने का रास्ता छोड़ दिया है।

श्री अराफत ने सचमुच युद्ध का रास्ता छोड़ दिया, यह कहना ठीक नही होगा किन्तु उनके मित्रों ने उन्हें जिस भूमि पर ला खड़ा किया वहाँ उनके लिए समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान को खोजने के अलावा शायद और कोई रास्ता नहीं बचा था। कैंप डेविड समझौता विरोधी अरब देशों ने बगदाद सम्मेलन में फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के कंधे से कंधा मिलाकर लड़ने का जो संकल्प व्यक्त किया था उसे पूरा करना तो दरकिनार, लेबनान में सीरियाई सैनिकों ने फिलिस्तीनी छापामारों के विरुद्ध कार्यवाही करके अपने कुत्सित इरादे ही व्यक्त किए।

यह पहला अवसर नहीं था कि किसी अरब देश के सैनिकों ने फिलिस्तीनी छापामारो के विरुद्ध कार्यवाही की, 1970 मे जोर्डन के शाह हुसैन भी ऐसा कर चुके हैं। सीरिया तो उनके पदचिह्नों पर ही चला। दोनों की कार्यवाही मे अन्तर यह रहा कि शाह हुसैन ने फिलिस्तीनी छापामारों को अपने लिए खतरा समझ कर

उन्हें जोर्डन से खदेड़ा जबकि सीरिया ने एक पड़ौसी देश में घुस कर उन पर प्रहार किया।

इसे इतिहास की विडम्बना ही कहा जाएगा कि सितम्बर, 1964 में सिकन्दरिया में हुए वित्तीय अरब शिखर सम्मेलन मे सयुक्त अरब एकता का जो मार्ग चुना गया था समय-समय पर अरब देश अपने हितों को देखते हुए उससे हट कर चले। किन्तु उस सम्मेलन की एक उपलब्धि तो रही ही। उसमे ही फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन की स्थापना का मार्ग भी प्रशस्त हुआ था। यह सगठन ही आगे चल कर उपेक्षित और प्रताड़ित फिलिस्तीनियों के सघर्ष का वाहक बना।

किन्तु इसके मूल में ही विग्रह का बीज भी बो दिया गया। जिस समय फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन की स्थापना हुई, लगभग उसी समय विभिन्न अरब देशों मे रहने वाले फिलिस्तीनियों को लेकर फिलिस्तीनी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का गठन भी किया गया जो अल फतह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन दोनों संगठनो को विभिन्न अरब देशों मे छापामार प्रशिक्षण दिया गया और ये ही संगठन समान लक्ष्य होते हुए भी अपने-अपने ढंग से इजरायल के विरुद्ध अलग-अलग कार्यवाही करने में रत रहे।

जहाँ तक फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन का प्रश्न है, सन् 1967 तक प्रायः उसने जोर्डन को केन्द्र बना कर इजरायल के विरुद्ध कार्रवाई की। जून, 1967 के युद्ध के बाद जब दोनो पक्षों के बीच युद्ध-विराम हुआ तो फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के एक उग्रपंथी वर्ग द्वारा इजरायल और इजरायल अधिकृत अरब क्षेत्रों पर व्यापक हमले किए गए। चूँकि फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन का केन्द्र जोर्डन और लेबनान थे, इसलिए इजरायल ने बदले की कार्रवाई करते हुए इन देशों पर व्यापक जवाबी हमले किए। इसका परिणाम यह हुआ कि शाह हुसैन फिलिस्तीनी समस्या के समाधान के प्रति उत्तरदायित्व को भूल कर फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन पर ही बरस पड़े। इसमें कोई सन्देह नही कि सन् 1970 के आते-आते जोर्डन में फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन की ताकत बहुत बढ़ गई थी और उसने उसी वर्ष जून में शाह हुसैन की हत्या का भी एक विफल प्रयास किया, किन्तु शाह हुसैन ने जिस तरह से फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के सदस्यों को कुचला, वैसा सम्भवतः हाल में लेबनान में सीरियाई सैनिकों ने भी नही किया। शाह हुसैन ने एक तरह से मुक्ति संगठन के छापामारों को जोर्डन से खदेड ही दिया। जोर्डन से निकाले गए वे छापामार बाद में लेबनान में इकट्ठे हुए और उन्होंने वहाँ से इजरायल के विरुद्ध अपनी कार्रवाइयाँ शुरू कीं। सन् 1973 के आते-आते जोर्डन में फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के सदस्य और फिलिस्तीनी शरणार्थी इतने अधिक हो गए कि वहाँ का हर दसवाँ आदमी फिलिस्तीनी हो गया।

इजरायल के विरुद्ध फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन की कार्रवाइयों और मे इजरायल के लेबनान पर हमलों से लेबनान में मतद् युद्ध की स्थिति पैदा . जिसने सन् 1974–75 मे लेबनान को गृहयुद्ध मे झोंक दिया।

3 नवम्बर, 1969 को मिस्र और लेबनान के बीच एक समझौता हुआ था जिसके अन्तर्गत लेबनान ने फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को अपने यहाँ रहते हुए इजरायल के विरुद्ध कार्रवाई करने की खुली छूट दे दी थी। यह कहा जा सकता है कि इस समझौते के रहते फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन ने लेबनान के हितो के विरुद्ध कोई कार्रवाही नहीं की। किन्तु यह मानना ही होगा कि पिछले पाँच-छः वर्षों में फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन के कारण लेबनान को धन-जन की व्यापक क्षति उठानी पड़ी।

फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन वस्तुतः फिलिस्तीनी शरणार्थियों का संगठन है। सन् 1948 में जब इजरायल अस्तित्व में आया और फिलिस्तीनी बेघर होने को बाध्य हुए तो उनके सामने दर-दर भटकने के अलावा और कोई रास्ता नही रह गया था। अरब देशों से उन्हें मौखिक सहानुभूति ही मिली, जिसके कारण अगले 15–16 वर्षों में फिलिस्तीनी यह सीख गए कि उन्हें अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी होगी। उनके इस चिन्तन के परिणामस्वरूप ही 28 मई, 1964 को जोर्डन अधिकृत यरूशलम मे फिलिस्तीनी अरब शरणार्थियों का पहला सम्मेलन हुआ जिसमे फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन की विधिवत् स्थापना की गई। किन्तु यह सम्मेलन सगठन की कोई सर्वसम्मत कार्यकारिणी निर्वाचित नहीं कर सका। अतः उसने अहमद शुकैरी को अध्यक्ष चुना और उन्हें ही कार्यकारिणी मनोनीत करने का अधिकार दिया। श्री शुकैरी ने, जिनका हाल ही में 92 वर्ष की उम्र में निधन हो गया, अपनी सूझ-बूझ से फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को व्यापक आधार प्रदान किया। किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि सगठन को सही दिशा यासिर अराफत ने ही दी और आज सगठन जिस रूप मे है इस रूप मे लाने का बहुत कुछ श्रेय अराफत को ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि फिलिस्तीनी समस्या से सबद्ध पक्षों के सोच में यह परिवर्तन क्यों कर सम्भव हुआ। इसका एक स्पष्ट कारण तो यह दिखाई पड़ता है कि फिलिस्तीनी समस्या के रहते पश्चिमेशिया मे स्थाई शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं है और वहाँ अशान्ति के रहते अरब तेल को उसके उपभोक्ता पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त नही कर सकते, क्योंकि पिछले 10 वर्षों से अरब देश तेल को एक अस्त्र के रूप मे प्रयुक्त करके उसके उपभोक्ता पश्चिमी देशों पर यह दबाव डालते चले आ रहे है कि वे इजरायल पर अधिकृत अरब क्षेत्र से हटने के लिए दबाव डालें। अरब देशों का यह दबाव लगातार बना हुआ है जिसके कारण न केवल पश्चिमी देशों को तेल संकट से जूझना पड़ रहा है बल्कि विकासशील देश भी तेल-मूल्य मे वृद्धि के कारण अपने आर्थिक विकास मे लाचार बने हुए हैं। अतः तेल की कमी से प्रभावित देशों का पश्चिमेशिया समस्या के शीघ्र समाधान के प्रति उत्सुक होना स्वाभाविक ही है।

किन्तु पश्चिमेशिया के हाल के घटनाचक्र के पीछे मात्र यह कारण ही नहीं है। होता तो कब का समस्या का समाधान हो गया होता। वस्तुतः कैम्प डेविड

समझौते से पश्चिमेशिया की स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आया। यह समझौता मान कर जहाँ मिस्र अपने युद्ध में खोये दो-तिहाई क्षेत्र को वापस पा गया और शेष 1982 में पा लेगा, वहाँ जोर्डन और सीरिया आज भी वहीं खड़े है जहाँ सन् 1967 के युद्ध में इजरायल ने उन्हें खड़ा कर दिया था। इस शर्मनाक स्थिति से उबरने का उन्हे कोई रास्ता नहीं सूझ रहा है और यदि अब वे यह सोचने लगे हो कि समस्या के समाधान का एकमात्र रास्ता युद्ध ही नही है, बातचीत करके भी उसे सुलझाया जा सकता है तो इसमें अस्वाभाविक कुछ भी नही है।

अफगानिस्तान मे सोवियत कार्रवाई ने भी यदि इस दिशा में कोई भूमिका निभाई हो तो आश्चर्य की कोई बात नही है। अरब देशों मे इस कार्रवाई से आतक फैल गया है और उसके मन में यह भय समा गया है कि सोवियत सघ की नजर उनके विपुल तेल भण्डार पर है। इस भय के रहते उनका अमेरिका के इर्द-गिर्द इकट्ठा होना स्वाभाविक ही है और सम्भवतः इसलिए उन्होंने अमेरिका के विरुद्ध बोलना प्रायः बन्द कर दिया है।

कारण कुछ भी रहे हों, पश्चिमेशिया की हाल की घटनाएँ भविष्य के प्रति आशा बँधाती हैं। यह आशा इसलिए और भी बलवती हो उठी है कि समस्या से सीधे जुड़ा जुझारू फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन नई स्थिति में अपनी नई भूमिका के प्रति जागरुक है। (दिनमान, अप्रेल 1980)

(17) इस्लामी विदेश मन्त्री सम्मेलन (मई, 1980)
क्या पाकिस्तान अपनी समस्याओं का समाधान अरब देशों में ढूँढ रहा है ?

इस्लामाबाद मे मई, 1980 के मध्य चालीस मुस्लिम देशो के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन अफगानिस्तान के प्रश्न पर निर्णय लेने और मुस्लिम देशो की सामूहिक सुरक्षा के बारे में एक योजना स्वीकार करने के बाद समाप्त हो गया। इस बार सम्मेलन में अफगानिस्तान पर सोवियत आक्रमण को लेकर बहुत लम्बा विचार-विमर्श हुआ। एक बार तो अफगानिस्तान के प्रश्न पर सम्मेलन में गतिरोध की आशका भी उत्पन्न हो गई थी। लेकिन किसी न किसी तरह इस गतिरोध को समाप्त कर मुस्लिम देशों ने अपना एक प्रतिनिधि-मण्डल काबुल और मास्को भेजने का निर्णय लिया और बातचीत द्वारा इस सकट को समाप्त करने का निश्चय किया। वैसे तो अफगानिस्तान की घटनाओं के बारे मे मुस्लिम देशों के विदेश मन्त्रियों ने अपने पिछले जनवरी, 1980 के सम्मेलन से अलग हट कर कोई निर्णय नहीं लिया लेकिन इस बार इस प्रश्न पर विदेश मन्त्रियों ने कुछ उदार रवैया अपनाया। अनौपचारिक बातचीत के दौरान मुस्लिम देशों के सभी विदेश मन्त्री यही महसूस कर रहे थे कि कोई शर्त लगाए बिना बातचीत करके ही इस समस्या का समाधान ढूंढा जाना चाहिए। अरब देशो और पाकिस्तान का रवैया कुछ सख्त नजर आया। सम्मेलन ने अफगानिस्तान की स्थिति पर और आगे विचार करने के एक उपसमिति बनाई। प्रस्ताव मे अफगानिस्तान मे श्री बबराक कारमाल से

बातचीत की सम्भावना से इन्कार किया गया जबकि पिछली बार के सम्मेलन में विदेश मन्त्रियों का रुख था कि जब तक अफगानिस्तान की धरती पर से सोवियत सेनाएँ नहीं हटा ली जाएँगी, तब तक श्री कारमाल से कोई बातचीत ही नहीं की जा सकती। लेकिन विदेश मन्त्रियों ने अपना यह निर्णय कायम रखा कि जब तक सोवियत सेनाएँ काबुल से नहीं हटाई जाती, तब तक अफगानिस्तान की नई सरकार को कोई भी मुस्लिम देश मान्यता नहीं देगा। अफगानिस्तान के बारे में उपसमिति से कहा गया कि संकट का समाधान करने मे वह गुट-निरपेक्ष देशो की मदद भी ले सकती है। उपसमिति के कार्य की व्याख्या करते हुए पाकिस्तान के वैदेशिक मामलों के सलाहकार श्री आगा शाही ने कहा कि उपसमिति मास्को सहित अनेक देशों की राजधानियो मे जाएगी और इस सम्बन्ध मे वहाँ के नेताओं से बातचीत करेगी। श्री आगा शाही के विचार मे मुस्लिम देशों की यह एक पहल है। अफगानिस्तान के प्रश्न को लेकर सम्मेलन में जो भी निर्णय लिया वह इस सम्मेलन के पिछले निर्णय से केवल इतना ही भिन्न था कि बातचीत द्वारा समस्या के समाधान को इसमें प्राथमिकता दी गई और इस दिशा मे ठोस कदम भी उठाया गया। लेकिन अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं को तुरन्त हटाए जाने की मांग दोहराई गई। यह भी कहा गया कि अफगानिस्तान के लोगो को अपनी मर्जी की सरकार बनाने का अधिकार है और जो साढ़े सात लाख अफगानी शरणार्थी बन कर पाकिस्तान आए हैं उन्हें वापस लेने की व्यवस्था करना सरकार का पहला कर्त्तव्य है।

ईरान मे अमेरिकी बंधकों के बारे मे भी सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें इन बंधकों को बातचीत द्वारा ही रिहा करने की बात कही गई, लेकिन प्रस्ताव पर विचार-विमर्श के दौरान अमेरिका की कड़ी निन्दा की गई। कहा गया कि हाल ही मे ईरान पर हमला करके बधकों को छुडाने की अमेरिकी कार्रवाई की वजह से अमेरिका के प्रति दुनिया की सहानुभूति नहीं रही है। इस अवसर पर सऊदी अरब के विदेश मन्त्री शहजादा साउद अल-फैसल ने कहा कि ईरान के विरुद्ध किसी भी आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक कार्रवाई मे हमारा देश ईरान के साथ रहेगा और अन्य मुस्लिम देश भी निश्चय ही उसके साथ होगे। साथ ही श्री फैसल का यह भी कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत शान्तिपूर्ण उपायों से ही इस समस्या का समाधान किया जाएगा। सऊदी अरब के विदेश मन्त्री ने अपने भाषण मे अफगानिस्तान के प्रश्न को मुस्लिम देशो की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण समस्या बताया और कहा कि इस सम्मेलन के सामने इस समय सर्वोपरि प्रश्न अफगानिस्तान का ही है। उनका कहना था कि मुस्लिम देश दुनिया की दो बड़ी शक्तियो से अलग रहना चाहते हैं।

एक उल्लेखनीय बात मुस्लिम देशों की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था सम्बन्धी पाकिस्तान का एक सुझाव था। विदेश मन्त्रियों ने पाकिस्तान को अधिकार दिया कि मुस्लिम देशों की सामूहिक सुरक्षा की एक योजना वह तैयार करे। इस सम्बन्ध मे पाकिस्तान के सरकारी प्रवक्ता ने सवाददाता सम्मेलन में घोषणा की कि एक

राजनीतिक समिति इस योजना का मसौदा तैयार करेगी। इस प्रवक्ता का कहना था कि यह सुरक्षा व्यवस्था जनरल जिया द्वारा निर्धारित निर्देशात्मक सिद्धान्तों के आधार पर तैयार की जाएगी। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति जनरल जिया ने अपने उद्घाटन भाषण में यह कहा कि मैं तो यह नहीं चाहता कि मुस्लिम देशों की सेनाएँ एक ही कमान में ले आई जाएँ, लेकिन मैं मुस्लिम देशों के सामने यह सुझाव रख रहा हूँ कि किसी सम्भावित आक्रमण का मुकाबला करने के लिए वे अपनी सेनाओं को एक कर दें। हमें मुस्लिम देशों के विरुद्ध आज के खतरों को देखते हुए यह सब करना होगा। अब मुस्लिम देशों को अपनी जनशक्ति, कृषि, औद्योगिक और अन्य सभी साधनों का इस्तेमाल सामूहिक हित के लिए ही करना चाहिए। जनरल जिया के सुझाव को विदेशी मामलों के सलाहकार श्री आगा शाही ने और स्पष्ट किया। उनका कहना था कि रक्षा के सम्बन्ध में मुस्लिम देशों को समान नीति अपनानी चाहिए। हम अपनी सुरक्षा के लिए पूर्व और पश्चिम की ओर देखना नहीं चाहते। हमें स्वयं ही अपनी रक्षा की व्यवस्था करनी होगी। हमारे पास जो साधन हैं उनका इस्तेमाल हमें अपनी समृद्धि के लिए करना होगा। सम्मेलन के प्रवक्ता का कहना था कि सामूहिक सुरक्षा के इस प्रस्ताव का सभी मुस्लिम देशों ने स्वागत किया।

पाकिस्तान स्थित भारतीय दूतावास का कोई प्रतिनिधि इस सम्मेलन के उद्घाटन अधिवेशन में उपस्थित नहीं था क्योंकि यह पहले ही मालूम हो गया था कि राष्ट्रपति जिया और उनके सलाहकार आगा शाही कश्मीर का मामला इस सम्मेलन में उठाने वाले हैं। ऐसा ही हुआ। राष्ट्रपति जिया ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा कि हमारे सामने बहुत समय से चला आ रहा एक और मामला भी है। जम्मू और कश्मीर के लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार अभी नहीं मिला है। इस सन्दर्भ में जनरल जिया ने भारत-पाक सम्बन्धों की चर्चा की और कहा कि अगर यह मामला तय हो जाये तो दोनों देशों के आपसी सम्बन्ध बेहतर हो सकते हैं और इस क्षेत्र में स्थिरता आ सकती है। भारत के विचार में जनरल जिया का मुस्लिम देशों के सम्मेलन में कश्मीर का सवाल उठाना भारत-पाक शिमला समझौते की भावना के विरुद्ध था।

छः दिन के सम्मेलन में इजरायल द्वारा यरूशलम को अपनी राजधानी बनाने के प्रश्न पर काफी जोरदार चर्चा हुई और विदेश मन्त्रियों ने सुरक्षा परिषद् को सलाह दी कि यदि इजरायल ऐसा करता है तो उसके विरुद्ध तत्काल ही कार्रवाई की जानी चाहिए। सम्मेलन की राजनीतिक समिति ने तत्काल ही इस बारे में निर्णय ले लिया। पाकिस्तान सरकार के एक प्रवक्ता का कहना था कि जो भी देश इजरायल के इस सुझाव का समर्थन करेगा हम उसके साथ अपने सम्बन्ध तोड़ लेंगे। सम्मेलन की समिति ने यह भी कहा कि जब भी इजरायल अपनी इस योजना को कार्यरूप दे, संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद् की तत्काल बैठक बुलाई जानी चाहिए।

एक ओर तो राष्ट्रपति जनरल जिया ने मुस्लिम देशों की सामूहिक सुरक्षा का सुझाव रखा तो दूसरी ओर बंगलादेश के प्रतिनिधि ने यूरोपीय समुदाय के ढंग पर

इस्लामी आर्थिक समुदाय बनाने का सुझाव दिया। इस सुझाव के अन्तर्गत तेल उत्पादक बड़े अरब देश गरीब मुस्लिम देशों को अपनी समृद्धि में साझीदार बनाएँ। बंगलादेश के विदेश मन्त्री श्री शमसुल हक का कहना था कि हमारा देश मुस्लिम देशों की सामूहिक आर्थिक व्यवस्था को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है। उन्होंने इस्लामी देशों का एक बैंक बनाने का भी सुझाव दिया।

सम्मेलन की मुख्य राजनीतिक समिति ने सीरिया के एक सुझाव को भी स्वीकार कर लिया था, जिसमे कहा गया कि मुस्लिम देश अपने यहाँ किसी भी बड़ी शक्ति के सैनिक अड्डे बनाए जाने के विरुद्ध हैं। सीरिया के प्रस्ताव में सभी मुस्लिम देशों से अपील की गई कि वे शक्ति-गुटों से अलग रहकर अपने आप को बिल्कुल स्वतन्त्र रखें।

मुस्लिम देशों के विदेश मन्त्रियों के इस सम्मेलन में अफगान विद्रोहियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल बाकायदा सम्मिलित हुआ था। उन्होंने मुस्लिम देशो से आग्रह किया कि वे अफगानिस्तान और सोवियत संघ से अपने राजनयिक सम्बन्ध बिल्कुल तोड़ दें लेकिन विदेश मन्त्रियों ने इस तरह के सुझाव का विरोध किया और कहा कि अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों की वापसी शान्तिपूर्ण प्रयत्नों द्वारा ही होनी चाहिए।

मुस्लिम विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन के प्रस्तावों के बारे में सोवियत संघ की प्रतिक्रिया प्रतिकूल रही। तास समाचार एजेन्सी के अनुसार सोवियत संघ अफगानिस्तान से अपनी सेनाएँ हटाने के सम्मेलन के सुझाव को बिल्कुल स्वीकार नहीं करेगा। समाचार एजेन्सी ने कहा कि अफगानिस्तान का बहाना लेकर मुस्लिम देश अपनी घरेलू समस्याओं से लोगों का ध्यान हटाना चाहते हैं। इस सम्मेलन में अफगानिस्तान सरकार के किसी प्रतिनिधि को आमन्त्रित नहीं किया गया बल्कि क्रान्ति विरोधी संगठन के लोग इसमें शामिल हुए थे। इस्लामाबाद सम्मेलन भले ही अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अपने निर्णय ले चुका है लेकिन पाकिस्तान इस तरह भारतीय उपमहाद्वीप से अलग-थलग होकर अपनी समस्याओं का समाधान कहीं अरब देशों में ढूंढ रहा है।

(18) भारत-रूस शस्त्र-समझौता (1980) : सुरक्षा अपनी-अपनी

भारत और सोवियत संघ के बीच शस्त्रों की खरीद के बारे मे मई, 1980 के एक समझौते पर पश्चिमी देशों के पत्रों मे तीव्र प्रतिक्रिया देखने को मिली है। स्पष्ट है कि पश्चिमी देशों ने इस समझौते को लेकर भारत पर सोवियत संघ के गुट में शामिल होने का आरोप लगाया है। उनके विचार मे पाकिस्तान की बढ़ती हुई सैनिक शक्ति को देखकर ही भारत ने सोवियत संघ से शस्त्रों की खरीद का यह सबसे बड़ा समझौता किया है। प्रसिद्ध ब्रितानी साप्ताहिक इकानामिस्ट ने अपने ताजा अंक में इस समझौते का विवरण देते हुए टिप्पणी की है—

"भारत और सोवियत संघ ने अभी हाल ही इन अस्त्रों की खरीद के बारे में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए हैं जिसके अन्तर्गत अगले पाँच वर्ष तक सोवियत

संघ भारत को 160 करोड़ डॉलर के मूल्य का सैनिक साज-सामान भेजेगा। इसी के लिए सोवियत संघ भारत को ऋण दे रहा है जो 17 वर्षों मे भारत को अदा करना होगा। इस पर केवल ढाई प्रतिशत ब्याज लिया जाएगा। यह ऋण शस्त्रों की खरीद के लिए भारत की सहायता के रूप में दिया जा रहा है। समझौते के अन्तर्गत शस्त्रों में भारत को सोवियत संघ के आधुनिकतम टी–72 नामक टैंक भी भेजे जाएँगे। इसके अतिरिक्त हवा से हवा में और धरती से धरती पर मार करने वाले प्रक्षेपास्त्र भी भारत को मिलेंगे। साज-सामान में गश्ती नावें भी शामिल हैं जो प्रक्षेपास्त्रों से लैस होंगी। इसके अलावा टैंकों को नष्ट करने वाले राकेटों और इलेक्ट्रानिक साज-सामान भी सोवियत संघ भारत को दे रहा है।

इस समझौते के लिए सोवियत संघ से पिछले एक वर्ष से बातचीत चल रही थी इसलिए यह तो नहीं कहा जा सकता है कि समझौता श्रीमती इन्दिरा गान्धी और उनके सोवियत संघ समर्थक साथियों ने ही किया है। लेकिन सोवियत संघ से हथियारों के बारे में यह भारत का बहुत बड़ा समझौता है। वैसे भारत ने ब्रिटेन से 40 जगुआर विमान खरीदने का और 110 ऐसे विमान भारत मे बनाने का समझौता भी कर रखा है। रूस के साथ समझौता इससे थोड़ा छोटा है। फिर भी भारत का अस्त्रों की खरीद के बारे में सोवियत सघ के साथ अब तक का यह सबसे बड़ा समझौता है। भारत ने बडी शक्तियों में किसी से भी इतने अस्त्र-शस्त्र लेने का समझौता नहीं किया है। भारत ब्रिटेन से हैरियत नामक समुद्री बममार भी खरीद रहा है। ये बममार विमान वाहक समुद्री जहाजों पर से उड़कर हमला कर सकते हैं। ये ब्रिटेन के आधुनिकतम विमान हैं। इसके अलावा भारत अपने यहाँ पनडुब्बियाँ बनाने के लिए पाँच यूरोपीय देशों से भी बातचीत कर रहा है। उधर एक भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल जगुआर विमानों के लिए हवा से हवा में मार करने वाले प्रक्षेपास्त्र खरीदने के उद्देश्य से अभी हाल ही में फ्रांस भी गया था जहाँ पेरिस में उसने सरकार से काफी लम्बी बातचीत की है। स्पष्ट है कि भारत केवल सोवियत संघ से ही नहीं बल्कि पश्चिमी यूरोप के देशों से भी हथियार खरीदने की पूरी-पूरी कोशिश कर रहा है।

आखिर भारत हथियारों की इतनी भारी खरीद क्यों कर रहा है? इस बारे में उसका कहना है कि वह रक्षा पर अपने सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन का केवल 3·5 प्रतिशत ही खर्च करता है जबकि उसका पड़ोसी पाकिस्तान रक्षा पर इससे कहीं अधिक खर्च कर रहा है। भारत के हथियारों की इस खरीद से पाकिस्तान का भारत से डर कम नहीं होगा न इससे इस उपमाद्वीप में शस्त्रों की वह होड़ समाप्त होगी, जिसके लिए भारत पाकिस्तान को पिछले काफी समय से दोषी ठहरा रहा है। इस तरह समूचे उपमहाद्वीप मे अस्त्र-शस्त्रों की होड़ बढ़ती जाएगी। वैसे पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल जिया कोई 40 करोड़ डॉलर की सहायता का राष्ट्रपति कार्टर का प्रस्ताव अभी दो महीने पहले अस्वीकार कर चुके हैं। लेकिन अस्त्रों की सहायता और आधुनिकतम हथियारों के लिए वह बराबर अमेरिका से

अनुरोध कर रहे हैं। फ्रांस ने पाकिस्तान को मिराज जैट विमान देने का प्रस्ताव किया है। लेकिन वह इसके लिए नकद कीमत मांग रहा है जो सम्भवतः पाकिस्तान इस समय देने की स्थिति में नहीं है।

भारत काफी समय से अपने ही साधनों से हथियार बनाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। इसलिए आज वह सोवियत अस्त्रों पर निर्भर नहीं है जितना दस वर्ष पहले था। अमेरिका भारत को 38 टन समृद्ध यूरेनियम देने के अपने वायदे से मुकर रहा है तो भारत इस दिशा मे भी आत्मनिर्भर होने की बात सोचने लगा है। भारत के तारापुर बिजली सयन्त्र के लिए अमेरिका ने यूरेनियम देने का पक्का वायदा किया था लेकिन अमेरिकी कांग्रेस ने उन देशों को परमाणु ईंधन देने की मनाही कर दी जो अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा सम्बन्धी शर्तों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। अब श्री कार्टर भारत को यूरेनियम देने के प्रतिबन्ध को हटाने के लिए इसी शर्त पर तैयार हैं कि अमेरिका और भारत के सम्बन्धों मे कुछ सुधार हो जाए। अफगानिस्तान पर सोवियत आक्रमण को लेकर भारत और अमेरिका के सम्बन्धो में कुछ तनाव आया है लेकिन लगता है अमेरिकी संसद श्री कार्टर के वायदे के बावजूद भारत को यूरेनियम देने के प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति नही देगी।"

ब्रिटिश साप्ताहिक 'इकानामिस्ट' की टिप्पणी ने सिक्के के एक पहलू को देखा है। इस समय औद्योगिक देशो मे भारत का दसवां स्थान तथा प्रमुख सैनिक शक्तियों में छठा स्थान है। लेकिन भारत अपने सकल राष्ट्रीय उत्पाद का चार प्रतिशत से अधिक प्रतिरक्षा कार्यों पर खर्च नही करता। सोवियत संघ से इतने व्यापक समझौते का अर्थ यह नही है कि वह अस्त्रों की होड़ मे प्रवेश करना चाहता है बल्कि यह है कि कुछ पुराने और क्षमता चुक गए अस्त्रों के स्थान पर नए और आधुनिक हथियार प्राप्त करना चाहता है। उसे अपनी लम्बी सीमा और तटवर्ती रेखा पर चौकसी बनाए रखना है, क्योंकि न केवल सामरिक तौर पर यह महत्त्वपूर्ण है बल्कि व्यापारिक तौर पर भी इसकी आवश्यकता को अब अधिक तेजी के साथ महसूस किया जा रहा है। बेशक भारत के अस्त्र भण्डारों में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि पश्चिमी देशों के हथियार भी हैं, लेकिन वर्तमान समझौते से सोवियत हथियारो की संख्या बहुत बढ जाएगी।

सोवियत संघ से हुए अस्त्रों के समझौते पर तरह-तरह के विचार प्रकट हो रहे है। भारत के पड़ोसी देशों में चीन और पाकिस्तान प्रमुख हैं। चीन ने पिछले दिनों अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का परीक्षण कर भारतीय प्रतिरक्षा इकाइयों को सतर्क तो कर ही दिया। शायद यही कारण है कि पिछले दिनो भारत के प्रतिनिधि-मण्डल ने मास्को की यात्रा के दौरान प्रक्षेपास्त्र, राकेट और पनडुब्बियो के स्वयं निर्माण की प्राविधि की मांग की थी। वर्तमान सेना के लिए ये हथियार अनिवार्य माने जाते हैं। चीन के सहयोग से पाकिस्तान द्वारा परमाणु बम बनाने की खबर को लगता है कि भारत ने गम्भीरता से लिया है। बेशक इस समय दोनों देशो के

साथ भारत के लगभग सामान्य सम्बन्ध हैं लेकिन समय-समय पर दोनों देश कई तरह के भ्रामक नक्शों का वितरण कर या वक्तव्य देकर स्थिति को उलझा देते है। हाल ही में जूनागढ़ पर पाकिस्तान का दावा और असम के बारे मे चीनी नक्शों से उनके इरादों के बारे में कई तरह के भ्रम तो पैदा होते ही हैं। यद्यपि वर्तमान सामरिक शक्ति के मुताबिक भारत पाकिस्तान से उन्नीस नही है लेकिन पश्चिमी देश चीन की सहायता से अफगानिस्तान मे सोवियत संघ के सैनिकों की उपस्थिति के विरोध में पाकिस्तान मे किलाबन्दी करने का जो इरादा रखते है उससे शायद भारत और रूस दोनों का सतर्क रहना जरूरी हो जाता है। काराकुरम सड़क को चौड़ा या दोहरा करना भी भारत की सामरिक क्षमता को चुनौती से कम नही है। सोवियत संघ और भारत दोनो ने ही चीन और पाकिस्तान के इस निश्चय का विरोध किया है।

भारत सोवियत संघ को विश्वस्त मित्र भी मानता है। अभी तक उसने भारत को सहयोग ही दिया है चाहे वह संयुक्तराष्ट्र मे कश्मीर का मसला रहा हो या भारत-पाकिस्तान मे युद्ध से उत्पन्न संकट। भारत द्वारा सोवियत संघ से इतने बड़े पैमाने पर हथियारों का समझौता इसी विश्वास का द्योतक है। दूसरी ओर सोवियत संघ भी खासा चौकन्ना है। एक समय ऐसी ही विश्वसनीयता और मैत्री उसकी मिस्र के साथ भी थी। लेकिन राष्ट्रपति गमाल नासिर की मृत्यु के बाद मिस्र के साथ ऐसी दरार पडी कि अभी तक वह भरी नहीं गई है। मिस्र ने आधुनिक हथियारो के लिए पहले उससे फालतू कलपुर्जे माँगे जिस पर दोनों देशों मे असहमति हो गई। इस असहमति ने ऐसा रूप अख्तियार किया कि पहले लगभग बीस हजार सोवियत सलाहकार मिस्र से निष्कासित किए गए और उसके बाद बीस वर्षीय मैत्री समझौता भग कर दिया गया। इसका कारण बेशक पश्चिमेशिया समस्या थी, क्योंकि मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात इसमे अमेरिका की प्रमुख भूमिका मानते हैं। लेकिन यह भी सच है कि यदि सोवियत संघ ने फालतू कलपुर्जों के सामान पर सन्तुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया होता तो शायद दोनों देशों मे बिगाड़ इस सीमा तक नहीं पहुँचता। ऐसी हालत मे सम्भवतया जिनेवा में व्यापक पश्चिमेशिया समझौता भी हो जाता। ऐसी स्थिति मे सोवियत सघ की साख बनी रहती और साथ ही उसकी प्रभावी भूमिका भी। मिस्र और सोवियत संघ में टूट के साथ-साथ अरब देशों में आपसी टूट भी न होती। निस्सन्देह मिस्र के रवैये से सोवियत संघ ने सीख ली है और अब भारत को हथियारों की सहायता और कलपुर्जे देने में वैसी गलती नही दोहराएगा। कम्युनिस्ट देशों के बाहर भारत ही उनका एक मात्र विश्वस्त मित्रों में है।

(19) दियागो गार्सिया : हिन्दमहासागर की गरमाहट

पिछले लगभग पाँच वर्षों से चर्चित 11 मील के क्षेत्रफल वाले इस द्वीप का सामरिक महत्त्व तो उसी दिन बढ़ गया था जब ब्रिटेन ने इसका हस्तान्तरण अमेरिका को किया था। जब से सोवियत संघ ने फारस की खाड़ी मे अधिक रुचि

लेनी शुरू की अमेरिका हिन्दमहासागर में अपनी स्थिति मजबूत कर रहा है। हिन्दमहासागर के बीच में स्थित (भारत से लगभग एक हजार मील दक्षिण में) दियागो गार्सिया द्वीप का अमेरिका अपने एक बड़े सैनिक अड्डे के तौर पर निरन्तर विकास कर रहा है। अमेरिका की इस सैनिक उपस्थिति को लेकर भारत सहित कई देशों ने समय-समय पर चिन्ता भी व्यक्त की है, बावजूद इसके स्थिति मे अधिक अन्तर नहीं आया है।

सन् 1976 में जब दियागो गार्सिया द्वीप ब्रिटेन ने अमेरिका को देने सम्बन्धी समझौता किया था तो यह आगाह कर दिया गया था कि कोई भी बड़ा कदम उठाने से पहले वह ब्रिटेन से परामर्श करेगा ताकि हिन्दमहासागर के निकट स्थित देशों–खास तौर पर भारत–को शिकायत न हो। शुरू में इस आश्वासन का निर्वाह भी हुआ लेकिन ज्यों-ज्यों राजनीतिक स्थितियों में उलझाव आता गया अमेरिका ने पहले दियागो गार्सिया में छोटा अड्डा स्थापित किया लेकिन अब इतना बड़ा सैनिक और नौ-सैनिक अड्डा तैयार हो चुका है कि बड़े विमान और बमवर्षक वहाँ उतर सकते हैं। इस छोटे से द्वीप मे इतनी गोपनीयता बरती जाती है कि आज तक इस द्वीप की विकास सम्बन्धी जानकारी देने के लिए पत्रकारों तक को जाने की अनुमति नहीं दी गई। दियागो गार्सिया मे केवल सैनिक ही है, ब्रिटेन के 25 और अमेरिका के दो हजार। 900 निर्माण कर्मचारी हैं और 400 नौ-सैनिक मूल निवासी नहीं, वे या तो मारिशस चले गए है या सेशेल्स।

दियागो गार्सिया में आधुनिक अड्डा बन चुका है। जहाँ जरूरत पड़ने पर सभी प्रकार के आधुनिक अस्त्रों से लैस 12,000 नौ-सैनिक भेजे जा सकते है। उन्हे टैंक, बख्तरबन्द गाड़ियाँ भी मुहैया की ही जा सकती हैं। विमानवाहक जहाज और परमाणु पनडुब्बियाँ तथा लम्बी दूरी तक मार करने वाले भारी बमवर्षक भी भेजे जा सकते हैं। वास्तव मे अमेरिका चाहता है कि उसके आधुनिक बी–252 बमवर्षकों के संचालन और लोगों के आवास की व्यवस्था हो सके। इस बारे मे पिछले दिनो अमेरिकी प्रतिरक्षा मन्त्री हेरल्ड ब्राउन ने ब्रितानी प्रधान मन्त्री मारग्रेट टैचर से लंदन मे बातचीत भी की थी। यद्यपि ब्रिटेन और अमेरिका की गहरी दोस्ती है लेकिन मास्को ओलम्पिक के बहिष्कार और ईरान के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी जैसी मुद्दों पर स्वाधीन और अलग निर्णय लेने का दम भर श्रीमती टैचर ने अपने व्यक्तित्व की छाप प्रस्तुत की है। यद्यपि शुरू में ब्रिटेन सरकार मास्को ओलम्पिक के बहिष्कार का समर्थन करती रही थी लेकिन वहाँ के ओलम्पिक समिति ने ओलम्पिक खेलों में शामिल होने का निर्णय लेकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचय दिया। इसी प्रकार ईरान के विरुद्ध व्यापारिक प्रतिबन्ध भी ब्रिटेन ने पूरी तरह लागू नहीं किए। इस क्षेत्र मे ब्रिटेन का समर्थन करने वाले देशों में फ्रांस भी है। पश्चिमी जर्मनी ने अमेरिका का साथ दिया। दियागो गार्सिया को परमाणु अस्त्रों के अड्डे के तौर पर विकसित करने का विरोध भारत तथा हिन्दमहासागर के निकट स्थित देशों ने जोरदार ढंग से किया है। क्या इस बारे में भी ब्रिटेन सरकार निर्भीक निर्णय ले पाती है, यह भारत एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

अमेरिका को सबसे अधिक डर सोवियत संघ से है। सोवियत संघ अमेरिका की नौ-सैनिक घेराबन्दी निरन्तर कर रहा है। लातीनी अमेरिकी देशों में सोवियत संघ की पैठ, अफगानिस्तान के साथ-साथ खाड़ी देशों में नौ-सैनिक बेड़ों की उपस्थिति (विशेष तौर पर बन्धकों को छुड़ाने के अमेरिका के विफल प्रयास से उत्पन्न द्वेष), वियतनाम, कंबुजिया और लाओस मे बढ़ती दोस्ती के कारण चीन सागर में सोवियत नौ-सैनिक बेड़े का सक्रिय होना और हिन्दमहासागर के द्वीपों पर भी नजर रखना आदि कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जो अमेरिका को परेशान किए जा रहे हैं। अपने पश्चिमी मित्र देशों से 'संकट की इस घड़ी' में सहयोग और समर्थन की अपेक्षा करना स्वाभाविक है। ब्रिटेन के नेताओं ने अमेरिका को दोस्ती का भरोसा तो शायद दिलाया है लेकिन पाँच वर्ष पहले के समझौते की धाराओं की ओर भी उनका ध्यान खींचा है। यदि अमेरिका दियागो गार्सिया में परमाणु अस्त्रों के अड्डे स्थापित करता है तो पड़ौसी देशों जैसे मारिशस, सेशेल्स भी अपने लिए खतरा महसूस करते हैं। सेशेल्स ने तो दियागो गार्सिया मारिशस को सौंपे जाने की माँग की है। मारिशस के प्रधान मन्त्री सर शिवसागर रामगुलाम ने 15 वर्ष पहले ब्रिटेन को दिए गए दियागो गार्सिया की माँग की है। 1965 में मारिशस ने ब्रिटेन को चागोस द्वीपसमूह (जिसमे दियागो गार्सिया शामिल है) इस शर्त पर दिया था कि वहाँ पर वह सचार केन्द्र स्थापित करेगा तथा मारिशस की सहायता के लिए 70 लाख डॉलर देगा। वर्तमान विवाद से दियागो गार्सिया मारिशस के लिए एक 'भावात्मक मुद्दा' बन गया है।

इसके अतिरिक्त दियागो गार्सिया मे पाँचवां बेडा रखने की योजना है। इसके होने से एक तरफ अमेरिका सऊदी अरब, मिस्र (सिनाई क्षेत्र) पर नजर रखते हुए तुर्की के पास स्थित छठे बेड़े से भी सम्पर्क स्थापित कर सकता है तो दूसरी ओर उसका सातवाँ बेड़ा है जो ओकिनावा में अपनी उपस्थिति बनाए हुए है। छठा बेड़ा तुर्की, यूनान, इटली, पश्चिम जर्मनी, मोरक्को, पुर्तगाल, स्पेन आदि पर नजर रखता है तो सातवाँ बेड़ा आस्ट्रेलिया, फिलिपीन, ताइवान, दक्षिण कोरिया, जापान पर अपनी दृष्टि रखे हुए है। दियागो गार्सिया के विकसित हो जाने से पाँचवें, छठे और सातवें बेड़े मे परस्पर ताल-मेल हो जाएगा और अमेरिका को अपनी 'नौ-सैनिक आँख' सोवियत संघ पर रखने में सहायता मिलेगी। अमेरिका की सात 'तैरते हुए अस्त्रागार' भी हिन्दमहासागर में रखने की योजना है। पहला तैरता हुआ अस्त्रागार जून के अन्त तक दियागो गार्सिया पहुँच जाएगा। इस अस्त्रागार में टैंक, परमाणु चालित बमवर्षक तथा अन्य युद्ध सामग्री होगी। अमेरिका का तर्क है, क्योंकि सोवियत संघ सेशेल्स को हथियाना चाहता है इसलिए उसने यह कार्रवाई करने का निर्णय किया है।

बावजूद इसके दियागो गार्सिया में अमेरिका ने विस्तार कार्य शुरू कर दिया है। हवाई पट्टी आठ हजार से बारह हजार फुट कर दी गई है ताकि सामरिक बमवर्षकों के उड़ान मे असुविधा न हो। ईंधन के भण्डार की क्षमता भी छह लाख चालीस हजार बैरल की गई है। नौ-सैनिक जहाजों को आधुनिक यन्त्रों से लैस कर

दिया गया है ताकि हिन्दमहासागर से गुजरने वाले हर जहाज पर नजर रखी जा सके। इस विस्तार योजना पर अमेरिका की एक अरब डॉलर खर्च करने की योजना है। इसी के अनुरूप सोवियत संघ ने भी अपनी उपस्थिति प्रदर्शित की है। प्रेक्षकों के अनुसार इस समय वहाँ 21 लड़ाकू जहाज तथा छह सहकारी जहाज हैं जबकि सोवियत संघ के 12 लड़ाकू जहाज और 15 सहकारी जहाज हैं। दूसरे देशों को शान्ति की दीक्षा देने वाले ये बड़े देश संयुक्त राष्ट्र के उस प्रस्ताव का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन कर रहे हैं जिसमें हिन्दमहासागर को शान्ति का क्षेत्र घोषित किया गया है। क्या अमेरिका की ये विस्तार योजनाएँ हिन्दमहासागर को शान्ति का क्षेत्र बनाए रखने में अपना योगदान दे पाएँगी। (दिनमान, जन 1980)

(20) प्रशान्त क्षेत्र : वनुआतु : एक नए राष्ट्र का उदय

हाल मे विश्व के मानचित्र में स्वाधीन राष्ट्रों की पंक्ति मे वनुआतु नामक एक नया देश आ गया। 30 जुलाई, 1980 से पूर्व तक इसका नाम न्यू हैब्रिडीज था। भारत से 1200 मील की दूरी पर प्रशान्त महासागर में स्थित इस द्वीपसमूह को विश्व की दो महाशक्तियों–ब्रिटेन और फ्रांस–ने अब से 74 वर्ष पूर्व अपने संयुक्त शासन में लिया था।

प्रशान्त के इन असंख्य द्वीपसमूहों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने के लिए प्रशान्त कुटुम्ब के बड़े भाई आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड की दिलचस्पी है। इन द्वीपसमूहों में वहाँ के मूल निवासियों में अंग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म और पाश्चात्य संस्कृति को फैलाने में इनकी पूरी सहानुभूति है। अपने देश के मूल निवासी मावरी तथा अन्य जातियों का लगभग वंश संहार इन्होंने कर दिया है और अब अन्य क्षेत्रों पर भी इन दोनों देशो की ललचाई आँखें लगी हुई हैं। ब्रिटेन अपने इन राष्ट्रमण्डलीय साथियों और गोरे निवासियों को पूरा अवसर देकर इस क्षेत्र में अपना प्रभाव बनाए रखना चाहता है।

ब्रिटेन और फ्रांस के दावेदारो के हटने पर क्षेत्रीयता के आधार पर आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड इस क्षेत्र में अपना भाईचारा बढा रहे है और प्रशान्त क्षेत्र के विकास के नाम पर और उनकी सुरक्षा को लेकर अनेक क्षेत्रीय संगठन उनकी संरक्षकता मे चल रहे हैं।

वनुआतु नामक इस नवोदित राष्ट्र में कुल मिलाकर 93 छोटे बड़े टापू हैं, जिनमें से केवल 13 में मनुष्य निवास करते हैं और उनमें समृद्धि एवं विकास की सम्भावनाओं को नकारा नहीं जा सकता।

(21) भारत द्वारा हाल ही में उपग्रह छोड़ने पर पाकिस्तान की प्रतिक्रिया

भारत द्वारा हाल ही में उपग्रह छोडने की घटना पर विश्व के अनेक समाचार पत्रों में चर्चा रही। टेक्नोलोजी के क्षेत्र में विश्व के सभी देश इस घटना को भारत की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मान रहे हैं। लेकिन पड़ोसी देश पाकिस्तान ने

इसे भारत की एक बहुत बड़ी कामयाबी मानते हुए भी अपनी आशंकाएँ व्यक्त की हैं। पाकिस्तान के प्रसिद्ध दैनिक 'डॉन' ने अपनी ताजा संपादकीय टिप्पणी में कहा है—

"भारत चार चरणों के रॉकेट द्वारा अपने यहाँ का बना हुआ पहला उपग्रह कक्ष में छोड़ने में सफल रहा है। टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में भारत की यह चरम उपलब्धि है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भारत आधुनिकतम टेक्नोलॉजी हासिल करने के लिए कृतसंकल्प है—भारत की इस उपलब्धि को देखते हुए हमें शायद विकासशील शब्द की परिभाषा भी बदलनी पड़ेगी। इतनी उच्चतम टेक्नोलॉजी वाला देश विकासशील कैसे कहा जा सकता है?""सोवियत संघ, अमेरिका, फ्रांस, चीन और जापान जैसे उन्नत देशों की तरह भारत भी आज अपना उपग्रह छोड़ने में सफल रहा है। जाहिर है अनुसंधान और व्यापक साधनों का इस्तेमाल करके ही भारत ने यह सफलता प्राप्त की होगी। 5 हजार किलोमीटर तक जाने वाला रॉकेट एक दिन में नहीं बन सकता। इसके लिए कुशल प्रशिक्षण, अनुसंधान और आधुनिकतम औद्योगिक तकनीक की जरूरत पड़ती है। चाहे जो भी है भारत के रॉकेट छोड़ने के, राजनीतिक और सैनिक पहलुओं की अनदेखी नहीं की जा सकती। रॉकेट क्षेत्र में महत्त्वाकांक्षा के पीछे भारत का, विनाशकारी अस्त्र तैयार करने और उन्हें छोड़ने की क्षमता प्राप्त करने का इरादा जरूर है। शान्तिपूर्ण उपयोग की बात तो सिर्फ दिखाने के लिए कही जा रही है।"

अब से छह वर्ष पहले जब भारत में परमाणु विस्फोट किया गया था तभी से लगने लगा था कि भारत आधुनिकतम परमाणु टेक्नोलॉजी हासिल करने को उत्सुक है। रोहिणी उपग्रह छोड़ा जाना उसी का एक परिणाम है। चार चरणों के इस रॉकेट से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत के पास मध्यम दूरी तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों की क्षमता है। क्या यह भारत की महानतम सैन्य शक्ति का प्रमाण नहीं है? भारत ने परमाणु अस्त्रों के प्रयोग के बारे में अब तक जो कुछ कहा है और कुछ किया है उसमे बहुत फर्क है। सवाल भारत की संभावित सैनिक क्षमता का है। निश्चय ही यह उपग्रह छोड़ने के बाद भारत की नीति में परिवर्तन आएगा। अपनी सैनिक शक्ति को देखते हुए अब वह अपनी नीति निर्धारित करेगा।

यहाँ, यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि एक ओर तो भारत अपने को पिछड़ा हुआ और गरीब देश कहता है दूसरी, ओर वह परमाणु शक्ति संपन्न देशों की पंक्ति मे आना चाहता है। कुल भारतीय जनसंख्या के कोई 46 प्रतिशत लोग अभी भी गरीबी की रेखा के नीचे हैं। ऐसी हालत में प्रचलित अस्त्रों पर से भरोसा छोड़कर भारत ने परमाणु अस्त्र बनाने के लिए अपने साधन जुटाने शुरू कर दिए हैं। इसके लिए भारत ने अपनी सामाजिक और आर्थिक प्रगति को भी धीमा कर दिया है। भारत की आज की सामाजिक और आर्थिक स्थिति के संदर्भ में यदि उसके परमाणु कार्यक्रम को देखा जाए तो कहना पड़ेगा कि भारत जो

की आवश्यक चीजों की अनदेखी करके परमाणु शक्ति का विकास कर रहा है। स्वयं भारत के ही अधिकारियों का कहना है कि भारत के वर्तमान साधनों से तो कक्षा में छोड़ा जाने वाला इतना आधुनिकतम उपग्रह नही बनाया जा सकता। निश्चय ही भारत ने इसके लिए अन्य देशों से भी सहायता ली होगी, लेकिन हम इस बहस में न पड़ कर केवल इतना कहना चाहेंगे कि भारत की सैनिक तैयारी को देखते हुए इस उपग्रह का छोड़ा जाना सामरिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारत मे अस्त्र-शस्त्र उद्योग का तेजी से विकास हो रहा है। 1974 मे भारत ने जो परमाणु विस्फोट किया था वह पाकिस्तान के लिए कोई मामूली चिन्ता की बात नही थी क्योंकि पाकिस्तान के साथ तीन युद्धो के बाद यह विस्फोट किया गया था। अब सोवियत संघ से बहुत बड़े पैमाने पर अस्त्र खरीद कर भारत पाकिस्तान के लिए और भी चिन्ता का कारण बनता जा रहा है। हम यह तो नही कहना चाहते कि भारत सैनिक दृष्टि से कोई बहुत जबर्दस्त ताकत हासिल कर चुका है लेकिन इतना जरूर है कि भारत के उपग्रह छोड़ने के हाल ही के कार्यक्रम के बाद से पाकिस्तान को अब सतर्क होना ही पड़ेगा। इस उपमहाद्वीप मे भारत का उपग्रह छोड़ने का कार्यक्रम पूरे सैनिक शक्ति संतुलन पर असर डालता है। भारत के परमाणु शक्ति संपन्न देश बन जाने से अगर उपमहाद्वीप का शक्ति संतुलन बिगडता है तो इसका सीधा असर पाकिस्तान पर ही पड़ेगा। भारत अपने सैनिक साधनों का चाहे जैसे भी विकास करे, अपनी सैनिक शक्ति बढाने के लिए कोई भी कार्यक्रम अपनाए, लेकिन पड़ोसी देश होने के नाते पाकिस्तान को एक तरफ निगरानी तो रखनी ही होगी क्योंकि यह उसकी अपनी रक्षा का भी प्रश्न है।

(22) राष्ट्रकुल का क्षेत्रीय सम्मेलन

4–8 सितम्बर, 1980 को दिल्ली के विज्ञान भवन मे एशियाई और प्रशान्त देशों के 16 राज्याध्यक्षों और शासनाध्यक्षों का राष्ट्रकुल का दूसरा क्षेत्रीय सम्मेलन कई प्रकार से महत्त्वपूर्ण था। 1978 में सिडनी मे हुए पहले सम्मेलन की अपेक्षा इसमें कुछ देश भी अधिक शामिल हुए, जिन्हें 1979 और 1980 में स्वाधीनता प्राप्त हुई। इन छोटे देशो की भूमिका पर राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने अपने उद्घाटन भाषण मे विशेष चर्चा की। पहले दिन ही इन छोटे देशों ने अपने भविष्य की भूमिका के बारे मे जिन इच्छाओं को रेखांकित किया उससे लगता था कि वे न केवल राष्ट्रकुल को दृढ़ बनाने में ही, महत्त्वपूर्ण योगदान देंगे बल्कि एशियाई और प्रशान्त क्षेत्रों के विकास मे भी उल्लेखनीय भूमिकाएँ निभाएँगे।

इस तरह के क्षेत्रीय सम्मेलनों का मुख्य उद्देश्य परस्पर द्विपक्षीय सम्बन्धो को दृढ़ बनाना तो होता ही है, अपने क्षेत्र मे एकता और अखण्डता की भावना को दृढ़ करना भी उनका दायित्व है। इन उद्देश्यों में संप्रदाय की भावना का विकास करना, विभिन्न क्षेत्रों मे संवाद स्थापित करना, व्यापार के क्षेत्र में प्राथमिकताएँ निश्चित करना, वैज्ञानिक और प्राविधि सम्बन्धी अनुभवो का आदान-प्रदान करना,

औद्योगिक और प्रबन्ध सम्बन्धी क्षेत्रों में एक दूसरे की सहायता करना आदि प्रमुख है। 1978 में इन्ही विषयों को आधार बनाकर ही संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई थी। लेकिन सिडनी होटल के पास दो साल पहले जो विस्फोट हुआ था उसको ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने सुरक्षा के कुछ अतिरिक्त सुरक्षा प्रबन्ध किए। सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों ने राजनीतिक, आर्थिक और साँस्कृतिक सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाने और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र में सहयोग स्थापित करने पर विशेष बल दिया। दिल्ली सम्मेलन का स्वर भी सिडनी जैसा था। छोटे-बड़े सभी देशो का बिना भेदभाव एक मच पर उपस्थित होना, परस्पर मतैक्य का ही परिचायक था। एक छोटा-मा देश नौरू है जिसकी आबादी मात्र साढ़े सात हजार है लेकिन संसार में प्रति व्यक्ति सबसे ऊँची आय वाला यह देश—साढ़े बाइस हजार डॉलर। इसके विपरीत भारत है जिसकी जनसंख्या 60 करोड के करीब है लेकिन प्रति व्यक्ति आय मात्र 160 डॉलर। बगलादेश में प्रति व्यक्ति आय 80 डॉलर है। ऑस्ट्रेलिया अपने आप मे एक महाद्वीप है जो 70 लाख वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है लेकिन उसकी आबादी केवल एक करोड़ 40 लाख ही है, और प्रति व्यक्ति आय 7200 डॉलर। इन सभी देशों की कुल जनसंख्या 70 करोड है जबकि सारे राष्ट्रकुल देशों की आबादी एक अरब से कुछ ही अधिक है। निस्संदेह इस तरह के मिले-जुले परिवार मे जिस तरह की एकता की भावना होनी चाहिए उसको दृढ करने मे इस तरह के सम्मेलन उल्लेखनीय भूमिका निभाते है।

इस सम्मेलन में भिन देशों और उनके प्रमुख नेताओं ने अपने देश का नेतृत्व किया उनमें 12 देशों के प्रधानमन्त्री और चार देशो के राष्ट्रपति थे। भारत का नेतृत्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया। अन्य देश और उनके नेता इस प्रकार थे—ऑस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री माल्कम फ्रेजर, बगलादेश (क्षेत्रफल 55126 वर्गमील जनसख्या 84,660,000) के राष्ट्रपति जियाउर्रहमान, फिजी के प्रधानमन्त्री रातु सर कामिसेसे मारा, किरीबाती (जनसख्या 56000, 12 जुलाई 1979 को स्वाधीन) के राष्ट्रपति आयरेमारिया ताबाई, मलयेशिया के प्रधानमन्त्री दातुक हुसैन आन, नौरू के राष्ट्रपति हैमर द रॉबर्ट, न्यूजीलैण्ड के प्रधानमन्त्री रॉबर्ट माल्डून, पापुआ न्यू गिनी (आबादी तीस लाख, 16 सितम्बर, 1975 को स्वाधीन) के प्रधानमन्त्री सर जुलियस चान, सिंगापुर के प्रधानमन्त्री ली क्वान यू, सोलोमाने द्वीप (जनसंख्या 210,000, 7 जुलाई, 1978 को स्वाधीन) के प्रधानमन्त्री पीटर कैनीलोरिया, श्रीलका के राष्ट्रपति जे. जयवर्द्धन, टोंगा (जनसंख्या 90,000, 4 जून, 1970 को स्वाधीन) के प्रधानमन्त्री फातेफेही तू इपलेहों, तुवालु (जनसंख्या 7000, 1 अक्तूबर, 1978 को स्वाधीन) के प्रधानमन्त्री तायोलिपि, वनुआतु (जनसंख्या 99,000, जुलाई, 1980 को स्वाधीन) के प्रधानमन्त्री वाल्टर लीनी तथा पश्चिम समोआ के प्रधानमन्त्री तुपुआला ऐफी। सम्मेलन के अलावा इन देशों के नेताओ में अनौपचारिक तौर पर भी बातचीत हुई।

13–16 फरवरी, 1978 को सिडनी में हुए सम्मेलन में दक्षिण

स्वरूप हो जाएगा जैसा अमेरिका का पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ है या सोवियत संघ और पूर्व यूरोप के देशो के बीच है। माल्कम फ्रेजर ऑस्ट्रेलिया की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर इसलिए जोर दे रहे हैं।

सम्मेलन को राष्ट्रपति रेड्डी का सम्बोधन

भारत के राष्ट्रपति श्री नीलम सजीव रेड्डी ने 4 सितम्बर, 1980 को नई दिल्ली मे राष्ट्रमण्डल शासनाध्यक्षों के दूसरे क्षेत्रीय सम्मेलन का शुभारम्भ करते हुए एशिया और प्रशान्त क्षेत्र के राष्ट्रमण्डल के राष्ट्रपतियों और प्रधान मन्त्रियों के भारत आगमन पर प्रसन्नता व्यक्त की। उन्होने कहा कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत ने राष्ट्रमण्डल के स्वरूप का निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हमें इस बात पर गर्व है कि प्रधान मन्त्री स्व. श्री नेहरू की प्रेरणा से हम वह आदर्श स्वप्न साकार करने में सफल हुए। स्वय राष्ट्रमण्डल शब्द ही उन आदर्शों को प्रतिध्वनित करता है जो सम्पूर्ण मानव की समृद्धि की आकांक्षा रखते हैं। अब इस बात की परम आवश्यकता है कि सार्वभौम कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयास किया जाए।

उन्होंने कहा कि राष्ट्रमण्डल हम सबके लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है अगर हम इसके गतिशील ढांचे की उन्नत क्षमता का उपयोग बेहतर उद्देश्य के लिए करें। इस सम्मेलन की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि यह कार्यात्मक सहयोग की व्यवस्था मे कितनी जीवन शक्ति का सचार कर सकता है। इस सम्मेलन से सदस्य देशों के बीच और अधिक सहयोग के लिए संभावित नए क्षेत्र सुनिश्चित करने में सहायता मिलेगी। भारत ऊर्जा के वैकल्पिक साधनो के बारे में बनाए गए कार्यदल का संयोजक था। ज्यों-ज्यो विश्व के परम्परागत ईंधन स्रोत रीते होते जा रहे है त्यों-त्यों इस विषय का और अधिक महत्त्व होता जा रहा है। किन्तु संगठित प्रयास और ज्ञान के आदान-प्रदान के बिना इस क्षेत्र में ठोस प्रगति करना आसान नही है। उन्होने कहा कि यह सम्मेलन एक ऐसा सुन्दर अवसर है जिसमें कि सम्मेलन के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को क्षेत्रीय भविष्य की दृष्टि से देख सकते हैं। अनौपचारिक वातावरण मे विचारों के आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया ही दरअसल राष्ट्रमण्डल की भावना का निचोड है। हम भारत के लोग उन तीनों क्षेत्रों के देशों के साथ मित्रता की कद्र करते हैं जिनके प्रतिनिधि यहाँ मौजूद हैं—हमारे उपमहाद्वीप के पड़ोसी, एशियान देश तथा दक्षिण प्रशान्त द्वीप। इस सम्मेलन के स्थान के लिए दिल्ली का चुनाव हमारे सक्रिय दृष्टिकोण और एशिया-प्रशान्त क्षेत्र के प्रति हमारे सम्मान का द्योतक है।

सम्मेलन में प्रधान मन्त्री श्रीमती गाँधी का भाषण

प्रधान मन्त्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी ने राष्ट्रमण्डल शासनाध्यक्षों के दूसरे क्षेत्रीय सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए कहा कि हम सच्चे अर्थों में एक दूसरे पर निर्भर रहने मे विश्वास रखते हैं लेकिन जब तक सभी के हित समान नही होंगे इस प्रकार की परस्पर निर्भरता का कोई अर्थ नहीं होगा। राष्ट्रों तथा लोगो के हितों

दक्षिण पूर्वेशिया, प्रशान्त, हिन्दमहासागर, आतंकवाद पर अंकुश, निरस्त्रीकरण के प्रसार, दक्षिण अफ्रीका, पश्चिमेशिया आदि समस्याओं के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मुद्दों पर विचार-विमर्श किया था। इसके साथ ही राष्ट्रकुल क्षेत्रीय देशों द्वारा परस्पर सामान्य व्यापार नीति तथा औद्योगिक विकास पर बल देते हुए ऊर्जा की निरन्तर कमी से निपटने के लिए एवजी कदम उठाने पर जोर दिया गया था। इन कदमों मे मानव स्रोतो के विकास, गैर-कानूनी ढंग से बढने वाली मादक वस्तुओं के फैलाव को रोकने पर भी जोर दिया गया था। छोटे देशों की विशेष समस्याओं को विशेष ढंग से सुलझाए जाने के लिए एक विशेष मंच की स्थापना का अनुभव किया गया। इस बात की भी आवश्यकता महसूस की गई थी कि इन छोटे देशों के पास कच्चे माल की बहुलता का किस प्रकार से इस्तेमाल किया जा सकता है।

इस समय इस तरह के सम्मेलनों के आयोजन को लेकर तरह-तरह के प्रश्न किए गए हैं। कुछ विश्लेषणकर्त्ताओं का यह भी मानना है कि वर्तमान सम्मेलन का आयोजन भारत मे जरूर हुआ है लेकिन उसका लाभ ऑस्ट्रेलिया को होने वाला है। तर्क यह भी दिया जाता है कि भारत के पड़ोसी देशों मे मुख्यतया बंगलादेश और श्रीलंका भी आते हैं, जबकि अन्य सभी देश ऑस्ट्रेलिया के अधिक निकट है। यहाँ तक कि मलयेशिया और सिंगापुर भी भौगोलिक तौर पर अपने आपको ऑस्ट्रेलिया के अधिक नजदीक पाते हैं। 'एशियन' देशों का महत्त्वपूर्ण होने के नाते ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के साथ इनका विशेष तालमेल है। प्रशान्त महासागर मे स्थित छोटे देश भी आचार-व्यवहार तथा परम्पराओं के कारण ऑस्ट्रेलिया के अधिक करीब अपने आप को पाते है। आवश्यकता पड़ने पर वे आस्ट्रेलिया से हर तरह की सहायता की अपेक्षा भी कर सकते हैं। पापुआ और न्यूगिनी कभी ऑस्ट्रेलिया के ही भाग थे। बेशक अब वह स्वाधीन हो गया है लेकिन आस्ट्रेलिया का वर्चस्व वहाँ बना हुआ है।

ऑस्ट्रेलिया बड़ा देश है ही और उसे एक देशीय महाद्वीप भी कहा जाता है। नामुमकिन नही कि ऑस्ट्रेलिया नवस्वाधीन छोटे-छोटे देशों जैसे तुवालु, वनुआतु सोलोमन, द्वीपसमूह आदि पर अपने प्रभाव का इस्तेमाल करता हुआ उनके विकास-कार्य मे योगदान दे। प्रशान्त सागर स्थित ये देश खनिज मे खासे सम्पन्न हैं और उनके कच्चे माल के दोहन में ऑस्ट्रेलिया को यह सस्ता भी पड़ेगा और जल्द भी उपलब्ध हो सकेगा। उनके कच्चे माल के एवज में वह अपना माल बड़े पैमाने पर इन छोटे देशों मे खपा कर अपनी व्यापारिक स्थिति मजबूत बना सकता है। इस व्यापारिक स्थिति द्वारा ही वह सरकार और लोगो के दिल में अपने लिए स्थान बना सकता है। समय-समय पर उनके द्वारा चाही आर्थिक और सामरिक सहायता भी देने की वह स्थिति में है। इस तरह की अटकलें लगाई जा रही हैं कि प्रशान्त के इन छोटे देशो को अलग-अलग समूहों में गठित करने की ऑस्ट्रेलिया की एक दूरगामी योजना है। यदि योजना कार्यान्वित होती है तो देर सबेर इसका वैसा ही

स्वरूप हो जाएगा जैसा अमेरिका का पश्चिमी यूरोप के देशो के साथ है या सोवियत सघ और पूर्व यूरोप के देशो के बीच है। माल्कम फ्रेजर ऑस्ट्रेलिया की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर इसलिए जोर दे रहे हैं।

सम्मेलन को राष्ट्रपति रेड्डी का सम्बोधन

भारत के राष्ट्रपति श्री नीलम सजीव रेड्डी ने 4 सितम्बर, 1980 को नई दिल्ली में राष्ट्रमण्डल शासनाध्यक्षों के दूसरे क्षेत्रीय सम्मेलन का शुभारम्भ करते हुए एशिया और प्रशान्त क्षेत्र के राष्ट्रमण्डल के राष्ट्रपतियों और प्रधान मन्त्रियो के भारत आगमन पर प्रसन्नता व्यक्त की। उन्होंने कहा कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत ने राष्ट्रमण्डल के स्वरूप का निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हमे इस बात पर गर्व है कि प्रधान मन्त्री स्व. श्री नेहरू की प्रेरणा से हम वह आदर्श स्वप्न साकार करने में सफल हुए। स्वय राष्ट्रमण्डल शब्द ही उन आदर्शों को प्रतिध्वनित करता है जो सम्पूर्ण मानव की समृद्धि की आकांक्षा रखते हैं। अब इस बात की परम आवश्यकता है कि सार्वभौम कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयास किया जाए।

उन्होंने कहा कि राष्ट्रमण्डल हम सबके लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है अगर हम इसके गतिशील ढाँचे की उन्नत क्षमता का उपयोग बेहतर उद्देश्य के लिए करें। इस सम्मेलन की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि यह कार्यात्मक सहयोग की व्यवस्था मे कितनी जीवन शक्ति का संचार कर सकता है। इस सम्मेलन से सदस्य देशो के बीच और अधिक सहयोग के लिए संभावित नए क्षेत्र सुनिश्चित करने में सहायता मिलेगी। भारत ऊर्जा के वैकल्पिक साधनों के बारे मे बनाए गए कार्यदल का संयोजक था। ज्यों-ज्यो विश्व के परम्परागत ईंधन स्रोत रीते होते जा रहे है त्यों-त्यों इस विषय का और अधिक महत्त्व होता जा रहा है। किन्तु संगठित प्रयास और ज्ञान के आदान-प्रदान के बिना इस क्षेत्र में ठोस प्रगति करना आसान नहीं है। उन्होने कहा कि यह सम्मेलन एक ऐसा सुन्दर अवसर है जिसमे कि सम्मेलन के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को क्षेत्रीय भविष्य की दृष्टि से देख सकते हैं। अनौपचारिक वातावरण मे विचारों के आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया ही दरअसल राष्ट्रमण्डल की भावना का निचोड़ है। हम भारत के लोग उन तीनों क्षेत्रों के देशो के साथ मित्रता की कद्र करते हैं जिनके प्रतिनिधि यहाँ मौजूद हैं—हमारे उपमहाद्वीप के पड़ोसी, एशियान देश तथा दक्षिण प्रशान्त द्वीप। इस सम्मेलन के स्थान के लिए दिल्ली का चुनाव हमारे सक्रिय दृष्टिकोण और एशिया-प्रशान्त क्षेत्र के प्रति हमारे सम्मान का द्योतक है।

सम्मेलन में प्रधान मन्त्री श्रीमती गाँधी का भाषण

प्रधान मन्त्री, श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने राष्ट्रमण्डल शासनाध्यक्षों के दूसरे क्षेत्रीय सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए कहा कि हम सच्चे अर्थों में एक दूसरे पर निर्भर रहने मे विश्वास रखते हैं लेकिन जब तक सभी के हित समान नहीं होंगे इस प्रकार की परस्पर निर्भरता का कोई अर्थ नही होगा। राष्ट्रों तथा लोगों के हितों

की यह पारस्परिक समानता, जिसकी कि परस्पर निर्भर रहने वाले विश्व में माँग है, का लक्ष्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि न्याय और समानता पर आधारित एक नई विश्व व्यवस्था की स्थापना करने में हम सफल न हो जाएँ।

उन्होने राष्ट्रकुल के सदस्यो में हुई इस वृद्धि पर प्रसन्नता व्यक्त की क्योंकि बहुत हद तक भारत का गणराज्य के रूप मे विकास होने से ही राष्ट्रमण्डल का वर्तमान स्वरूप अस्तित्व मे आ सका है। श्रीमती गाँधी ने तेल सकट का उल्लेख करते हुए कहा कि तेल के संकट से विकसित तथा समृद्ध देश भी प्रभावित हुए हैं जो निरन्तर घटते जा रहे इस संसाधन के लिए काफी बड़े भाग का उपयोग करते हैं। अधिक से अधिक तेल प्राप्त करने के उनके प्रयासों से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। मेरे विचार से तो यह बहुत ही आवश्यक लग रहा है कि तेल उत्पादक एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करके एक ऐसी योजना बनाएँ जिससे सभी बड़े-छोटे उपभोक्ताओं को उनकी आवश्यकता के अनुसार तेल की सप्लाई सुनिश्चित हो सके। उन्होने कहा कि शान्ति, समझौते और विकास मे हम सबकी जो एक समान दिलचस्पी है उसी वजह से हम सभी यहाँ एकत्र हुए हैं। परन्तु शान्ति की सम्भावनाओं मे कमी आई है और हम सर्वत्र अस्थिरता की स्थिति देख रहे है। शक्तिशाली राष्ट्रों के हितो में टकराहट की वजह से हमारे आस-पास के देशो की स्थिरता और शान्तिपूर्ण विकास को खतरा उत्पन्न हो गया है। सामरिक महत्त्व के सघर्षों के दबाव से कोई राष्ट्र अछूता नही रह सकता है। न ही वह युद्ध की लपट से बचा रह सकता है। अब सबसे अधिक शक्तिशाली देश भी अपने को असुरक्षित समझ रहे हैं। अफगानिस्तान सकट का उल्लेख करते हुए कहा कि यह सकट अक्षुण्ण बना हुआ है। हम किसी भी राष्ट्र के अंदरूनी मामलों मे किसी प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध है लेकिन ऐसी जटिल समस्याओं को जिनके दूरगामी परिणाम हो सकते है, सुलझाने मे तरफदारी का रुख या तात्कालिक सम्मेलन राजनीतिक बुद्धिमत्ता का स्थान नही ले सकते। दक्षिण-पूर्व एशिया की स्थिति का उल्लेख करते हुए कहा कि यह रणस्थली रही है और अभी भी वहाँ अशान्ति है। यहाँ फिर बड़ी शक्तियो के स्वार्थ की टकराहट हो रही है।

प्रशान्त महासागर तथा हिन्द महासागर मे बढती हुई सैन्य गतिविधियो का *जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि महाशक्तियो* की बड़ी जिम्मेदारियाँ हैं यह उन पर निर्भर है कि वे शक्ति का, जो हमेशा भ्रामक साबित होती है, अनुसरण न करके समझौते का रास्ता अपनाएँ और संघर्ष के उपकरणों की समाप्ति करें। यदि वे ऐसा करते है तो वे तनाव मे कमी लाने मे तथा विश्व को शान्ति और विकास के मार्ग पर लाने मे निर्णायक योगदान करेंगे। उन्होने राष्ट्रमण्डल सदस्यो से आह्वान किया कि वे उनके बीच सद्भावना का सेतु बनें। हम सब मिलकर समुद्री क्षेत्र का उपयोग अपनी जनता की भलाई के लिए तथा खुले समुद्र का उपयोग मानवता के कल्याण के लिए करें। उन्होंने कहा कि हम सबको चाहिए कि हम मिलकर इस अवसर का अधिकतम लाभ उठाने के लिए ऐसा प्रयास करें जिससे कि मानव अपने से अधिक ऊपर उठकर विकास की एक नई अवस्था मे पहुँचने में समर्थ हो सके।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] लीबिया और सीरिया एक महासंघ के तौर पर 1971 तक अस्तित्व में भी रह चुके हैं। लेकिन इस तरह की व्यवस्था कभी भी स्थायी नहीं हुई। [illegible] के वास्तविक स्वरूप लेने के पहले ही इसमें दरार पड़ गई। [illegible] सीरिया और लीबिया के मिलन से अस्तित्व में आने वाले नए देश का नाम 13-सिद्धान्तों पर आधारित होगा जिसे उन्होंने 'ऐतिहासिक घोषणा पत्र' का नाम दिया है। नया देश यहूदियों की उपनिवेशी (अर्थात् इसराइल) का विरोध करते हुए फिलिस्तीनियों की मुक्ति का प्रयास करता रहेगा। नए देश ने मिस्र और इसराइल के बीच हुए कैम्प डेविड समझौते का विरोध करने का भी निश्चय किया।

वर्तमान समझौते के अनुसार 10 अक्टूबर तक नया देश अस्तित्व में आ जाएगा। दोनों देशों की संयुक्त जनसंख्या एक करोड़ दस लाख (सीरिया 90 लाख और लीबिया 20 लाख) है। सीरिया का क्षेत्रफल 71408 वर्गमील है जबकि लीबिया का 6,79,536 वर्गमील। दोनों की मिलीजुली सशस्त्र सेना 2,42,000 होगी। इसमें 4600 सोवियत संघ निर्मित विमान तथा 590 लड़ाकू विमान होंगे जबकि इजराइल की सैन्य-शक्ति चार लाख है और उसके शस्त्रागार में 3050 आधुनिक टैंक तथा 576 लड़ाकू विमान हैं। इनमें अमेरिका के अति आधुनिक एफ-5 विमान भी शामिल हैं। इस विलय का कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात, बहरीन ओमान और फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे ने स्वागत किया है। अल्जीरिया ने इस विलय पर टिप्पणी नहीं की है जबकि ट्यूनीशिया ने 'सशर्त' सहयोग की हामी भरी है। ईरान का भी समर्थन चाहा गया है लेकिन वहाँ कोई अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई है। ईरान

कारण कुछ समय पूर्व सीरिया और ईराक में राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद हो जाना था। बहरहाल, ईराक मिस्र समर्थक तो नहीं ही है।

इस समय मिस्र और सूडान में भी जिस स्तर पर सहयोग है उसे 'अस्थायी विलय' तो कहा ही जा सकता है। फर्क सिर्फ इतना है कि दोनों देशों के अलग-अलग राज्याध्यक्ष हैं और सेना भी जुदा-जुदा है लेकिन वे प्रहार संयुक्त तौर पर करते हैं। अन्य सभी क्षेत्रों में दोनों में परस्पर मतैक्य की भावना है। सूडान के नुमेरी और मिस्री राष्ट्रपति अनवर सादात में नियमित विचार-विमर्श होता रहता है। सीरिया का पहले पहल विलय मिस्र में हुआ था। फरवरी, 1958 में सीरिया के मिस्र में शामिल हो जाने से नए देश का नाम संयुक्त अरब गणराज्य पड़ा। लेकिन आपसी मतभेदों के कारण 30 सितम्बर, 1961 को सीरिया मिस्र से अलग हो गया। मार्च, 1963 में सीरिया की सोशलिस्ट बाथ पार्टी और सेना ने सत्ता पर अधिकार कर लिया। तब से असद सत्तारूढ़ हैं। उसके बाद भी सीरिया, मिस्र और लीबिया संयुक्त देश के तौर पर काम कर चुके हैं। सीरिया और फिलिस्तीनी छापामारों में इस तरह का सहयोग है कि सितम्बर, 1970 में जोर्डन के विरुद्ध सीरिया ने छापामारों को पूर्ण समर्थन दिया और जोर्डन से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिए। लेकिन 1975 में दोनों देशों में न केवल सम्बन्ध बहाल हुए बल्कि एक सैनिक समझौता भी हुआ।

अरब देशों में कोई भी देश एक दूसरे का स्थाई शत्रु नहीं है। कल तक लीबिया के गद्दाफी और मिस्र के सादात दाँतों कटी रोटी जैसे मित्र थे लेकिन 1973 में इजराइल के साथ अरबों की लड़ाई ने दोनों देशों को इस तरह एक दूसरे से दूर किया कि मतभेद निरन्तर गहराते जा रहे हैं। लीबिया युद्ध जारी रखने के पक्ष में था, जबकि मिस्र को यह सुझाव स्वीकार नहीं था। इसके अलावा लीबिया का युद्ध में सक्रिय योगदान नहीं था। यह बात दीगर है कि आज भी लीबिया समेत बहुत से अरब देशों में मिस्री शिक्षक, प्रशिक्षक और कर्मचारी बड़ी संख्या में काम कर रहे हैं। लीबिया 1 सितम्बर, 1971 को सीरिया और मिस्र के महासंघ में शामिल हुआ। अगस्त, 1972 में लीबिया और मिस्री विलय के लिए भी तैयार हो गए जिसे 1 सितम्बर, 1973 को वास्तविकता का स्वरूप ग्रहण करना था लेकिन अगस्त, 1974 में मिस्र ने संघ का फैसला, यह कहकर त्याग दिया कि गद्दाफी (1 सितम्बर, 1969 से सत्तारूढ़) उनके देश के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं। मिस्र और लीबिया में तनाव बढ़ने के कारण गद्दाफी ने ट्यूनीसिया के राष्ट्रपति हबीब बुरगीबा के साथ जनवरी, 1974 में दोनों देशों के विलय के फैसले का एलान किया। लेकिन इस योजना ने भी कार्यरूप नहीं लिया क्योंकि बुरगीबा बाद में विलय के लिए तैयार नहीं हुए। मोटे तौर पर इस तरह के निर्णयों का कारण गद्दाफी का अस्थिर स्वभाव रहा। देखना यह है कि सीरिया और लीबिया का प्रस्तावित गठबंधन वास्तविकता अख्तियार करता भी है कि उसके पहले ही टूट जाता है। अक्सर सितम्बर में हुए समझौते टूटे हैं। वर्तमान समझौता भी सितम्बर में ही हुआ है।

(24) ईराक-ईरान संघर्ष (सितम्बर-अक्तूबर, 1980)

ईराक और ईरान के बीच तनातनी काफी लम्बे अरसे से चली आ रही थी और सितम्बर, 1980 में प्रारम्भिक सप्ताह मे छुट-पुट सैनिक झड़पें भी हुई थी, लेकिन 22 सितम्बर, 1980 को ईराकी वमवर्षको द्वारा तेहरान सहित अनेक ईरानी हवाई अड्डों और सैनिक ठिकानो पर बमबारी के साथ दोनों देश पूरे युद्ध पर उतर आए। राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् ने 23 सितम्बर की रात्रि को ईराक और ईरान की सरकारों से आग्रह किया कि वे शीघ्र लड़ाई बन्द कर दें। बैठक का आयोजन राष्ट्रसंघ के महासचिव कुर्त वाल्दहीम के आग्रह पर हुआ। सोवियत संघ और पूर्व जर्मनी के प्रतिनिधियो ने प्रस्ताव पर विचार के लिए थोड़ा और समय माँगा था, इसलिए अनौपचारिक बैठक दो बार हुई। महासचिव ने आशंका व्यक्त की थी कि दोनों देशो के बीच सीमा-सम्बन्धी लड़ाई भयकर रूप धारण कर सकती है। सोवियत संघ ने ईरान और ईराक दोनों को सुझाव दिया कि वे शान्तिपूर्ण ढंग से अपने विवाद सुलझा लें ताकि पश्चिमी देशो को दखलंदाजी करने का मौका न मिले। सरकारी पत्र प्रावदा ने आरोप लगाया कि अमेरिका अपनी साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत ईरान व ईराक के झगड़े से ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाना चाहता है।[1] अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर ने सन जोस (कैलिफोर्निया) में बोलते हुए सोवियत सघ को चेतावनी दी कि वह ईरान–ईराक के झगड़े में दखल न दे। उन्होंने धमकी भी दी कि खाड़ी के क्षेत्र में सोवियत खतरे का मुकाबला करने के लिए पर्याप्त अमेरिकी शक्ति मौजूद है। कार्टर ने कहा कि अमेरिका पूरी तरह तटस्थता की नीति पर कायम है और अन्य देशो को भी यही नीति अपनानी चाहिए। अमेरिकी अधिकारियों ने यह भी कहा कि अमेरिका मध्यस्थता भी करने को तैयार है और उसे ईरान के इस आरोप की चिन्ता नहीं है कि इसके लिए उसी ने ईराक को भड़काया है।[2]

बावजूद शान्ति और युद्ध-विराम की अपीलों के ईरान और ईराक के बीच घमासान लड़ाई जारी है, दोनो देशो ने एक दूसरे को भारी हानि पहुँचाई है, यद्यपि समाचारों के अनुसार ईराक का पलड़ा भारी नजर आता है। अक्तूबर, 1980 के प्रारम्भ में ईराक ने यह संकेत दिया कि चूंकि वह अपने उद्देश्य को प्राप्त कर चुका है अतः अपनी ओर से एकतरफा युद्ध-विराम कर देगा और यदि ईरानी आक्रमण जारी रहा तो आत्म-रक्षार्थ युद्ध करेगा। इसके उत्तर में 4 अक्तूबर, 1980 को ईरान के धार्मिक नेता आयतुल्ला खुमैनी ने कहा कि 'ईरान बगदाद [illegible] अपराधो का बदला लेकर रहेगा और जब तक हमारी अन्तिम जीत नहीं हो [illegible] तब तक हम ईराक के साथ युद्ध-विराम नहीं कर सकते।'[3] हालांकि [illegible]

1 हिन्दुस्तान, दिनांक 25 सितम्बर, 1980.
2 हिन्दुस्तान, दिनांक 25 सितम्बर, 1980.
3 हिन्दुस्तान, दिनांक 5 अक्तूबर, 1980

जाती है कि शीघ्र ही ईराक और ईरान के बीच युद्ध-विराम होकर शान्ति-वार्ता शुरू हो जाएगी।

उल्लेखनीय है कि ईरान इस मौके पर अपने को बहुत कुछ अकेला पा रहा है। उसके न अरब देशों के मित्र हैं और न पश्चिमी देशों में। सोवियत संघ से मदद की भी वह आशा नहीं कर सकता। आन्तरिक दृष्टि से वह कमजोर है, क्योंकि इस्लामी क्रान्ति के बाद से उसकी सेना तथा वायुसेना का संगठन गड़बड़ा गया है। उत्तर में कुर्द कबायलियों का विद्रोह पूरी तरह नहीं दबा है, क्योंकि वे अरब मूल के होने के कारण अपने को ईराक के अधिक निकट समझते हैं। ईरान का आरोप सही है कि ईरानी कुर्दों को स्वायत्तता प्राप्त करने के लिए सीमा पार से भड़काया जा रहा है और उन्हें धन व हथियारों की मदद दी जा रही है।

जहाँ तक भारत का सवाल है, वह पश्चिमी एशिया में संघर्ष नहीं चाहता। उसमें बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप के वह बिल्कुल खिलाफ है। हिन्दमहासागर में बड़ी ताकतों की सैन्य उपस्थिति का वह इसलिए विरोध कर रहा है। भारत की यह आशंका मात्र कल्पना नहीं है कि बड़ी ताकतें पश्चिमी एशिया के स्थानीय संघर्षों में हस्तक्षेप करने के प्रलोभन से नहीं बच सकेंगी, क्योंकि वे पुनः उस भू-भाग मे अपने पैर जमाना चाहती हैं। खाड़ी में संघर्ष का तो तत्काल असर होगा क्योंकि भारत अपनी आवश्यकता का अधिकांश तेल ईरान और ईराक से आयात करता है और सब पश्चिमी एशियायी देशों से हमारे घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध हैं। आशा करनी चाहिए कि दोनों देश अपने विवाद को युद्ध द्वारा हल करने से बचेंगे तथा शान्ति को खतरे में नहीं डालेंगे।

ईराक-ईरान संघर्ष का इतिहास

ईरान और ईराक का वर्तमान संघर्ष वास्तव में उसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का परिणाम है कि अरब देशों में दबदबा किसका रहे? उचित होगा कि हम दोनों देशों के संघर्ष के इतिहास की रूपरेखा भी जान लें—

"1968 में बाथ पार्टी के ईराक में सत्ता में आने के बाद दोनों देशो के बीच तनाव और भी बढ़ गए थे, लेकिन मार्च, 1975 में शाह ईरान और ईराक मे तत्कालीन उप-राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन ने समझौता करने के बाद एक दूसरे को गले से लगाया। इस समझौते में दोनों देशों के बीच सीमा सम्बन्धी समस्याओं पर सहमति हो गई थी। लेकिन कुछ मामले जहाँ के तहाँ छूट गए थे। इनमें से एक तो कुर्द समस्या थी और दूसरी शत-अल-अरब की समस्या प्रमुख थी। इस जल-मार्ग से जहाजों का आने-जाने का अधिकार दोनो ही देशों के लिए सुरक्षित माना गया था। इसके अलावा फारस की खाड़ी की अन्य समस्याओं पर भी उस समय कोई सहमति नही हुई थी। 9 महीने बाद 120 मील लम्बे जलमार्ग मे 50 मील के रास्ते का उपयोग करने पर फिर झगड़ा पैदा हो गया। ईराक इस बारे में 1937 की सन्धि रद्द करने पर जोर दे रहा था। इसके बाद तो समय-समय पर ईरान और ईराक के बीच सीमा सम्बन्धी झगड़े होते ही रहे हैं। 1971 में ईरान ने तीन

खाड़ी द्वीपों पर कब्जा कर लिया था, जिसके बाद ईराक ने उससे राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लिए थे। 1973 के अक्तूबर युद्ध में शाह ईरान ने ईराक को सीमा सम्बन्धी सुरक्षा के बारे में आश्वासन दिए थे। शायद ईरान के शाह चाहते थे कि सीरिया की सहायता के लिए ईराक कम से कम अपने दो डिवीजन भेजे। इन आश्वासनों के बाद ईराक ने ईरान से फिर राजनयिक सम्बन्ध जोड़ दिए।

जब-जब ईराक और ईरान के बीच सीमा-विवाद उठते रहे, अल्जीरिया उन्हें तय कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है, जबकि मिस्र और जुर्दान, ईरान और ईराक के बीच झगड़ा तय करने में कभी सफल नहीं हो सके। ईरान और ईराक के बीच एक-दूसरे से मिलती हुई सीमा काफी लम्बी है। 1913 के एक समझौते में दोनों देशों की आपसी सुरक्षा के लिए सीमाओं पर निशान भी लगाए गए थे। लेकिन धीरे-धीरे ये निशान मिटते गए और सीमा स्पष्ट नहीं रही, फिर कुर्दों की समस्या उठ खड़ी हुई। पिछली सदियों से इस समस्या ने और भी गम्भीर रूप धारण कर लिया। ईराक के उत्तर के पहाड़ों में कुर्दों से लड़ाई किसी न किसी रूप में चलती रहती है। बाथ पार्टी की सरकार ने 1977 में कुर्दों से एक समझौता किया, जिसके अन्तर्गत उन्हें चार वर्ष में स्वशासन देने का आश्वासन दिया गया। इस प्रश्न पर बातचीत काफी लम्बी चली और पिछले वर्ष मार्च में यह बातचीत टूट गई। ईराक सरकार ने कुर्दों को उनकी संख्या के हिसाब से कुछ क्षेत्रों में स्वशासन देने की बात कही, लेकिन यह बात कुर्दों ने स्वीकार नहीं की। ईरान के शाह ने कुर्द विद्रोहियों को समर्थन भी दिया। शाह के शासनकाल में उनकी सरकार पर ईराक ने आरोप लगाया था कि लगभग एक लाख कुर्द ईरान चले गए हैं। ईरान उनकी सहायता भी कर रहा है और उन्हें सैनिक प्रशिक्षण भी दे रहा है। अल्जीरिया ने दोनों देशों के बीच जो समझौता कराया था उसके अधीन ईरान को कुर्दों को समर्थन देना बन्द करना था। लेकिन ईरान ने पूरी तरह ऐसा न करके विवाद की गुंजाइश बनी रहने दी थी। शाह के जमाने से ईरान ईराक की सत्ताधारी बाथ पार्टी को उग्रवादी कम्युनिस्ट संस्था मानता था। वह समझता था कि खाड़ी के क्षेत्र का केवल दो प्रतिशत ही ईराक के पास है। इसलिए उसे शत-अल-अरब खाड़ी के जलमार्ग के प्रयोग का अधिकार नहीं है। उधर ईराक ओमान में ईरान के हस्तक्षेप को अपने लिए बहुत ही खतरनाक मानता है। लेकिन कुवैत, सऊदी अरब, संयुक्त अमीरात और लीबिया जैसे अन्य ईरान विरोधी अरब देश इस मामले में ईराक का साथ नहीं देते। दूसरी ओर लीबिया रूस के साथ ईराक के मैत्री सम्बन्धों को अनुचित मानता था। कुवैत का भी विचार है कि सोवियत संघ के साथ मित्रता के कारण ईराक अरब देशों के लिए खतरा है और 1961 में तो संयुक्त अरब अमीरात पर ईराक ने हमला करने की भी कोशिश की थी।

1975 में एक बार ईरान-ईराक का सीमा विवाद अन्तिम रूप से तय हो गया था। उस समय समझा गया था कि अरब ईरान ईराक के बीच सीमा सम्बन्धी

कोई विवाद नहीं रहा है। दोनों देशों के सीमा विवाद पर समझौता होने की घोषणा के बाद एक समिति गठित करने का भी एलान हुआ था, जो सीमा को अन्तिम रूप से तय कर देगी। लेकिन इस समिति के कार्य में ईरान और ईराक के बीच वर्तमान झगड़े होने तक कोई प्रगति नहीं हुई थी। बताया जाता है कि 1913 के समझौते के आधार पर ही यह समझौता भी हुआ था।

1979 में ईराक के सत्ताधारी दल बाथ पार्टी की ओर से ईरान पर खाड़ी क्षेत्र में अधिकार करने का आरोप लगाया गया था। इससे दोनों देशों के बीच फिर तनाव उत्पन्न हो गया। ईरान की ओर से इस तरह के आरोपों का खण्डन किया गया। साथ ही ईराक को चेतावनी भी दी थी कि यदि वह इस तरह आरोप लगाता रहा तो दोनों देशों के बीच शान्ति और मित्रता बनाए रखना मुश्किल होगा। उस समय ईरान की ओर से जोर देकर कहा गया कि अगर ईराक ने हमला किया तो ईरान अपनी रक्षा करने में समर्थ है। साथ ही साथ ईरान ने इराक पर यह आरोप लगाया था कि ईराक की सीमा से मिलने वाले खजूरिस्तान मे अरब विद्रोहियों को ईराक सहायता दे रहा है। इस समय ईराकी विमानों द्वारा कुछ ईरानी गाँवों पर हवाई हमला करने के आरोप भी लगाए गए थे। जाहिर है कि ईराक ने इन सारे आरोपों का खण्डन किया था। नवम्बर, 1979 से ही ईरान और ईराक के बीच तनाव शुरू हो गया था। उस समय भी दोनों देशों ने एक दूसरे पर हमले करने के आरोप लगाए थे। वर्तमान युद्ध से पहले, पिछले वर्ष ईरान और ईराक की सीमाओं पर अनेक झड़पें होती रही। इसी वर्ष अप्रैल मे ईरान के विदेश मन्त्री श्री कुतुब जादे ने ईराक को अमेरिका का पिट्ठू बताया था और साथ ही यह घोषणा भी कर दी थी कि हमने ईराक के बाथ पार्टी की सरकार को उखाड़ फेंकने का फैसला कर लिया है। ईरान का कहना है कि तुम्बा और आबू—मूसा के छोटे और बड़े द्वीप ईरान के अभिन्न अंग हैं, जिन पर ईरान ने 1971 मे कब्जा कर लिया था। इसके पूर्व ये अरब अमीरात के भूतपूर्व सदस्यों के कब्जे मे थे। ईराक इन्हें हथियाना चाहता है।

ईरान और ईराक की शत्रुता के अनेक कारण हैं, जिनमें मुख्य कुर्द कबीला है। इनकी बहुत बड़ी संख्या ईरान जा बसी है और वे अपने लिए एक अलग प्रान्त की माँग कर रहे हैं। वे तुर्की में भी हैं, जहाँ से ये कुर्दिस्तान माँग रहे हैं। इन्हीं को लेकर ईराक के तुर्की से भी तनावपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं। वैसे दूसरे विश्व-युद्ध के बाद से ही ईरान और ईराक के बीच कटुता पैदा हुई है। यह कटुता कुछ समय के लिए ही कम होती है फिर भड़क उठती है। ईरान के अयातुल्ला खुमैनी की सरकार आने से धार्मिक भावनाएँ शिया मुसलमानों में और भी तीव्र हो उठी हैं। ईराक में शासक सुन्नी मुसलमान अल्पमत में हैं और शियाओं का उनके विरुद्ध होना स्वाभाविक ही है।

प्रमुख देशों की

विदेश नीतियाँ

(Foreign Policies)

9 संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश नीति

(Foreign Policy of U.S.A.)

"मेरा विचार है कि संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए यह उचित नहीं होगा कि वह पश्चिमी यूरोप में नाटो से अपनी सेनाएँ हटा ले। इसके विपरीत मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमें सोवियत संघ और वारसा पैक्ट के उसके साथियों के साथ सैन्य शक्ति में पारस्परिक और सन्तुलित कमी पर विचार-विमर्श करना चाहिए।"

—राष्ट्रपति फोर्ड

संयुक्तराज्य अमेरिका को विश्व का सबसे अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न देश माना जाता है। सोवियत संघ के साथ उसकी मुख्य प्रतिस्पर्द्धा है। दोनों ही महाशक्तियाँ विश्व-नेतृत्व की आकांक्षी हैं। पूंजीवादी शिविर में अमेरिका सर्वोपरि है और साम्यवादी गुट में सोवियत संघ, तथापि हाल ही के वर्षों में अपने ही गुटो में उनके नेतृत्व को चुनौती दी जाने लगी है।

प्रथम महयुद्ध के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका अपनी परम्परागत पृथकतावादी नीति पर लौट आया था, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के कुछ वर्ष पूर्व से ही यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया था कि अमेरिका बदलती हुई परिस्थितियों में विश्व-राजनीति से तटस्थ नही रह सकता। द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों को आर्थिक और सैनिक दोनो रूपो मे भरपूर सहायता दी—अमेरिका के पूरे उत्साह के साथ महायुद्ध मे उतर आने के फलस्वरूप अधिनायकवादी शक्तियो (जर्मनी, इटली और जापान) की पराजय अवश्यम्भावी हो गई। महायुद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका सर्वोच्च शक्ति के रूप मे प्रकट हुआ और विश्व-राजनीति मे खुलकर भाग लेने लगा। उसने पृथकतावादी नीति को पूर्णरूप से त्याग दिया। इस नीति पर लौटना अब सम्भव नही था क्योंकि साम्यवादी रूस एक महान् शक्ति के रूप में अपने प्रभाव-विस्तार के लिए कटिबद्ध था। ट्रूमैन के अनुसार[1]—

1 Span, September 1974, p. 4

9 संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश नीति

(Foreign Policy of U.S.A.)

"मेरा विचार है कि संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए यह उचित नहीं होगा कि वह पश्चिमी यूरोप में नाटो से अपनी सेनाएँ हटा ले। इसके विपरीत मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमें सोवियत संघ और वारसा पैक्ट के उसके साथियों के साथ सैन्य शक्ति में पारस्परिक और सन्तुलित कमी पर विचार-विमर्श करना चाहिए।" —राष्ट्रपति फोर्ड

संयुक्तराज्य अमेरिका को विश्व का सबसे अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न देश माना जाता है। सोवियत संघ के साथ उसकी मुख्य प्रतिस्पर्द्धा है। दोनों ही महाशक्तियाँ विश्व-नेतृत्व की आकांक्षी है। पूंजीवादी शिविर में अमेरिका सर्वोपरि है और साम्यवादी गुट मे सोवियत संघ, तथापि हाल ही के वर्षों मे अपने ही गुटों में उनके नेतृत्व को चुनौती दी जाने लगी है।

प्रथम महयुद्ध के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका अपनी परम्परागत पृथकतावादी नीति पर लौट आया था, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के कुछ वर्ष पूर्व से ही यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया था कि अमेरिका बदलती हुई परिस्थितियों मे विश्व-राजनीति से तटस्थ नही रह सकता। द्वितीय महायुद्ध मे अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों को आर्थिक और सैनिक दोनो रूपों मे भरपूर सहायता दी—अमेरिका के पूरे उत्साह के साथ महायुद्ध में उतर आने के फलस्वरूप अधिनायकवादी शक्तियों (जर्मनी, इटली और जापान) की पराजय अवश्यम्भावी हो गई। महायुद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका सर्वोच्च शक्ति के रूप मे प्रकट हुआ और विश्व-राजनीति मे खुलकर भाग लेने लगा। उसने पृथकतावादी नीति को पूर्णरूप से त्याग दिया। इस नीति पर लौटना अब सम्भव नहीं था क्योंकि साम्यवादी रूस एक महान् शक्ति के रूप में अपने प्रभाव-विस्तार के लिए कटिबद्ध था। ट्रूमैन के अनुसार[1]—

1 Span, September 1974, p. 4.

"प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका आसानी से पार्थक्यवाद का अनुसरण कर सकता था क्योंकि धुरीराष्ट्रों की पराजय के बाद यूरोप और एशिया में एक नया शक्ति सन्तुलन स्थापित हो गया था किन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अमेरिका के लिए पृथकतावादी नीति का अनुसरण करना सम्भव नहीं था क्योंकि नाजी राष्ट्रों के त्रि-गुट की हार के बाद यूरोप और एशियायी देशों पर साम्यवादी राष्ट्रों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था।"

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति का काल-विभाजन

द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन अमेरिकी विदेश नीति को समय-समय पर नया रूप दिया जाता है। प्रत्येक नए राष्ट्रपति के कार्यकाल में विदेश-नीति को कुछ नया मोड़ मिला है, एक नई दृष्टि प्राप्त हुई है। सामान्यतः द्वितीय महायुद्ध के बाद की अमेरिकी विदेश नीति को इन चरणों या कालों में विभाजित किया जाता है—

(1) सहयोग और अनुकूलता की नीति का काल (अगस्त, 1945 से अगस्त, 1946);
(2) आर्थिक सहायता द्वारा साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने की नीति का काल (अगस्त, 1946 से जून, 1950);
(3) खुले संघर्ष और सैनिक सन्धियों की नीति का काल (जून, 1950 से जुलाई, 1953);
(4) नवीन दृष्टिकोण का काल (जुलाई, 1953 से जनवरी, 1961); एवं
(5) सह-अस्तित्व की नीति का काल (जनवरी, 1961 से आज तक)

युद्धोत्तर युग में अभी तक अमेरिका की बागडोर छः राष्ट्रपतियों के हाथ में रही है—ट्रूमैन, आइजनहॉवर, कैनेडी, लिण्डन बी. जॉनसन, रिचर्ड निक्सन, जेराल्ड फोर्ड। प्रत्येक राष्ट्रपति ने अमेरिकी विदेश नीति के आधारभूत तत्त्वों की रक्षा करते हुए अपने कार्यकाल में समयानुकूल परिवर्तन किए और अधिक उचित यही होगा कि हम इन राष्ट्रपतियों के कार्यकाल के अनुसार अमेरिकी विदेश नीति की विवेचना करते चलें।

ट्रूमैन युग
(1945–1952)

द्वितीय महायुद्ध के बाद सन् 1952 तक के अपने कार्यकाल में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश नीति की जो आधारशिलाएँ रखी वे आज भी मार्गदर्शक बनी हुई हैं। भावी राष्ट्रपतियों ने समय के अनुसार अपनी विदेश नीतियों को नए मोड़ लिए, लेकिन ट्रूमैनकालीन तत्त्व आज भी सजीव हैं। साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने का जो दृढ़ निश्चय राष्ट्रपति ट्रूमैन ने व्यक्त किया था, वही निश्चय भावी राष्ट्रपतियों ने किया और साम्यवाद पर अंकुश रखने के लिए नए-नए कदम उठाए। विश्व-राजनीति में अमेरिकी नेतृत्व को सर्वोच्चता देने का जो प्रयत्न ट्रूमैन ने किया, वही प्रयत्न भावी राष्ट्रपति भी करते रहे हैं। ट्रूमैन काल में अमेरिका यह मानकर चला कि सोवियत संघ उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी है और अमेरिका का भावी

इतिहास भी यही बताता है कि बहुत कुछ सोवियत संघ को प्रमुख लक्ष्य मानकर ही अमेरिका की विदेश नीति सचालित होती रही है।

राष्ट्रपति ट्रूमैन का व्यक्तित्व विशेष आकर्षक नहीं था, परन्तु वह ईमानदार, कर्मठ, कर्त्तव्यनिष्ठ, उदार और साहसी था। जाति अथवा धर्म-विभेद की भावनाएँ उसे छू तक नही गई थी। साहित्य में उसकी इतनी गहरी पैठ थी कि कभी-कभी वह प्रकाण्ड विद्वानों को भी चकित कर देता था। वह इतना निर्भीक राष्ट्रपति था कि बडे से बड़े अधिकारियों को पद से हटाने में तनिक भी संकोच नहीं करता था। उसने गृह और विदेश नीति के क्षेत्र में दृढ़ संकल्प और कठोर निष्ठा का परिचय दिया।

ट्रूमैन के कार्यकाल में अमेरिकी विदेश-नीति की मुख्य प्रवृत्तियाँ

ट्रूमैन-युग मे अमेरिकी विदेश नीतियो में जिन प्रवृत्तियो अथवा तत्वों पर जोर दिया गया उन्हे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

1. अमेरिका विश्व-राजनीति मे खुलकर भाग लेने लगा। यूरोप तो उसकी दिलचस्पी का प्रधान केन्द्र बना ही, विश्व के अन्य क्षेत्रों मे भी अमेरिका की महत्त्वाकांक्षा स्पष्ट हो गई। एक महाशक्ति के रूप में अपना नेतृत्व स्थापित करने के लिए अमेरिका ने एक के बाद एक अनेक कदम उठाए।

2. महायुद्ध के बाद अगस्त, 1946 के आस-पास तक ट्रूमैन ने 'सहयोग और अनुकूलता की नीति' (Policy of Co-operation and Accomodation) का अनुसरण किया। अमेरिकी विदेश नीति के निर्माता यह मानकर चले कि युद्ध-काल मे मित्रराष्ट्रों मे जो सहयोग था वह युद्ध के बाद भी कायम रहेगा। 'सहयोग और अनुकूलता की नीति' के इस काल को 'मधु-रात्रि काल' (The Honey-Moon Period) भी कहते है।

3. अमेरिका का यह प्रयत्न रहा कि तनाव का क्षेत्र समाप्त करने के लिए महायुद्ध मे पराजित राष्ट्रों के साथ शीघ्र से शीघ्र शान्ति सन्धियाँ सम्पन्न की जाएँ।

4. सोवियत सघ के साथ सहयोग की नीति असफल होते देखकर ट्रूमैन ने अगस्त, 1946 में अमेरिकी विदेश नीति को एक नई दिशा प्रदान की। ऐसी नीति के अनुसरण का निश्चय किया गया जिससे साम्यवादी प्रसार को प्रभावशाली रूप मे तुरन्त 'अवरुद्ध' कर दिया जाए। चूंकि यह पिछली नीति को त्यागकर एक नई दिशा की ओर मुड़ने का निश्चय था, अतः अगस्त, 1946 से जून, 1950 तक की अवधि को 'नवीन दिशान्वेषण काल' (Period of New Departure) कहा जाता है। इस युग मे साम्यवाद के प्रति कठोरतापूर्वक अवरोधन की नीति अपनाई गई, अतः इसे 'अवरोधन नीति का काल' (Period of the Policy of Containment) भी कहते हैं। फिर भी राष्ट्रपति ट्रूमैन और उपराष्ट्रपति हैनरी वैलास का यह मत रहा कि अमेरिका और सोवियत सघ का मूल हित इसी बात मे है कि शान्ति कायम रखी जाए ताकि विश्व के सभी देश पुनर्निर्माण-कार्यों में सफल हों। यह विचार व्यक्त

किया गया कि सोवियत संघ भयभीत है और पश्चिमी आक्रमण के विरुद्ध आश्वासन चाहता है।

5. ज्यों-ज्यों संघ निरन्तर शक्तिशाली होता गया स्टालिन अधिकाधिक उग्र होता गया। तब सन् 1950 में अमेरिका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के अवरोधन का प्रयत्न आरम्भ किया। इस नीति के अनुसार 'नाटो' (NATO) की स्थापना की गई। इसे 'अवरोधन रण नीति' (The Strategy of Containment) की संज्ञा दी गई। ज्यों-ज्यों साम्यवाद का खतरा बढ़ता गया, अमेरिका सैनिक सन्धियों और प्रतिरक्षा सगठनों के निर्माण की ओर उन्मुख होता गया। सन् 1950 में ही उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया। उत्तर कोरिया की पीठ पर साम्यवादी शक्तियाँ थी। अमेरिका ने दक्षिण कोरिया का पक्ष लेकर इस साम्यवादी आक्रमण को विफल कर देने का संकल्प किया और संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाओ के रूप में अमेरिकी सेनाएँ युद्ध-क्षेत्र मे कूद पडी। कोरिया का युद्ध जून, 1950 से जुलाई, 1953 तक चला और इस अवधि को अमेरिकी विदेश नीति के इतिहास में 'खुले संघर्ष का काल' (Period of Open Conflict) कहा जाता है।

6. ट्रूमैन-युग मे अमेरिका की यह नीति थी कि वह अणु-शक्ति का एकछत्र स्वामी बना रहे। अणु-शक्ति के नियन्त्रण की योजनाएँ भी बनाई गईं।

सारांश रूप मे ट्रूमैन युग मे विदेश नीति के मुख्य चरण ये रहे—'सहयोग और अनुकूलता की नीति', 'अवरोधन नीति', 'सैनिक सन्धियों की नीति' और 'खुले संघर्ष का काल'।

सहयोग और अनुकूलता की नीति (अगस्त, 1945–अगस्त, 1946)

प्रारम्भ में अमेरिका ने यह सोचा कि मित्रराष्ट्रों का युद्धकालीन सहयोग शान्तिकाल में भी बना रहेगा, अतः राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सहयोग और अनुकूलता की नीति (Policy of Co-operation and Accomodation) का अनुसरण किया। अमेरिका ने चाहा की युद्धकालीन विनाश के चिह्नों को शीघ्रातिशीघ्र मिटा दिया जाए, पराजित राष्ट्रों के साथ शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न की जाएँ और चारों ओर शान्ति का वातावरण उत्पन्न किया जाए। अमेरिका ने यह भी चाहा कि किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता को भंग न किया जाए और कोई भी विदेश-शक्ति किसी देश में बलपूर्वक किसी सरकार को न थोपे। अमेरिका ने युद्धोत्तरकालीन सभी समस्याओं का निदान मिल-जुलकर करने का निश्चय किया। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि अमेरिका ने सभी काम पूरी ईमानदारी के साथ किए। प्रत्येक देश अपने राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानता है और अमेरिका की विदेश-नीति भी इसी लक्ष्य से संचालित हुई कि सोवियत संघ की तुलना में अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र का निरन्तर विस्तार होता जाए।

'बारह सूत्री' उद्देश्यों की घोषणा, 1945—सहयोग और अनुकूलता की नीति की व्याख्या करते हुए राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 28 अक्तूबर, 1945 को 'बारह

'सूत्री' (Twelve Points) उद्देश्यों की घोषणा की। ये उद्देश्य संक्षेप में इस प्रकार थे—

1. अमेरिका प्रादेशिक विस्तार नहीं चाहता, वह किसी देश पर आक्रमण नहीं करेगा।

2 अमेरिका का मत है कि जिन देशों से सर्वोच्च प्रभुता के अधिकार बलपूर्वक छीने गए थे, वे उन्हें वापस किए जाने चाहिए।

3. अमेरिका किसी मित्र देश मे जनता की स्वतन्त्र सहमति के अभाव में किए गए प्रादेशिक परिवर्तन को स्वीकार नही करेगा।

4. अमेरिका का यह विश्वास है कि स्वशासन में समर्थ देशों को बिना किसी विदेशी हस्तक्षेप के अपने शासन का स्वरूप निर्धारित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यह सिद्धान्त यूरोप, एशिया, अफ्रीका और पश्चिमी गोलार्द्ध मे समान रूप से लागू होता है।

5. अमेरिका का लक्ष्य अपने साथियों के साथ सहयोग करते हुए पराजित देशो में शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना करना है।

6. अमेरिका विदेशी शक्ति द्वारा किसी देश में बलपूर्वक थोपी गई सरकार को मान्यता नही देगा।

7. सब देशों को अनेक देशों में से होकर गुजरने वाली नदियो तथा समुद्रों मे आवागमन की निर्बाध स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

8. विश्व मे कच्चे माल की प्राप्ति तथा व्यापार मे सब देशों को स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

9. अमेरिका का मत है कि पश्चिमी गोलार्द्ध के राज्यों को इस गोलार्द्ध के बाहर की किसी शक्ति के हस्तक्षेप के बिना पड़ोसियों की भाँति अपनी सामान्य समस्याओं का समाधान करना चाहिए।

10. अमेरिका चाहता है कि समूचे विश्व में दरिद्रता और अभाव को दूर करने तथा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सब देशों मे पूर्ण आर्थिक सहयोग हो।

11. अमेरिका विश्व मे विचार-अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतन्त्रता के विस्तार के लिए प्रयत्न करेगा।

12. अमेरिका का दृढ़ विश्वास है कि राष्ट्रों मे शान्ति स्थापित रखने के लिए ऐसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की आवश्यकता है जिसके सदस्य शान्ति-प्रेमी हों और शान्ति-स्थापना के लिए आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यवाही करने के लिए भी तैयार हो।

सैनिक संख्या में कमी—विश्व-शान्ति के अनुकूल परिस्थितियों का निर्मा[illegible] करने के लिए अमेरिका ने अपने सैनिको की संख्या मे कमी करना शुरू कर [illegible] लगभग दो वर्ष के अन्तर्गत ही 1 करोड़ 20 लाख सैनिकों की सख्या से [illegible] लाख कर दी गई। अमेरिका को आशा थी कि रूस भी सहयोग करेगा और

उत्तर देगा। लेकिन यह आशा गलत सिद्ध हुई। अमेरिका तत्कालीन विश्व-राजनीति के दो महत्त्वपूर्ण पहलुओं को समझने में भूल कर बैठा—प्रथम, सोवियत संघ की आक्रमणकारी चालें; एवं द्वितीय, एशिया महाद्वीप में क्रान्ति।

सोवियत संघ से उग्र मतभेद और सहयोगपूर्ण नीति का परित्याग—कुछ ही समय में सभी क्षेत्रों में यह प्रकट हो गया कि रूस और अमेरिका परस्पर-विरोधी हैं और विश्व की हर समस्या पर दोनों में उग्र मतभेद हैं। दोनों शक्तियों में किसी प्रकार का समझौता और सहयोग सम्भव नहीं है। विशेषत. पांच क्षेत्रों में सोवियत-अमेरिकी मतभेद अत्यधिक उग्र हो गए—

(i) जर्मनी के समीकरण का प्रश्न,
(ii) पोलैण्ड मे रूस द्वारा याल्टा सम्मेलन मे दिए गए वचनों के उल्लंघन की अमेरिकी शिकायत,
(iii) इटली, हंगरी, रूमानिया, बल्गेरिया तथा फिनलैण्ड के साथ शान्ति-सन्धियों का प्रश्न,
(iv) संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उसमें रूस द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग का प्रश्न, तथा
(v) ईरान, टर्की और यूनान में रूसी महत्त्वाकांक्षाओं का प्रश्न।

इन उग्र मतभेदों और अन्य असहमतियों के कारण दोनों शक्ति गुटों में 'शीतयुद्ध' आरम्भ हो गया। रूसी असहयोग से अमेरिका के आशावादी नेताओं को बड़ा आघात पहुँचा। एशिया महाद्वीप में उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक क्रान्ति हो रही थी और रूस ने एशियायी देशों के मुक्ति-आन्दोलनों को समर्थन देकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। रूसी चालों से बाध्य होकर अमेरिका के विदेश नीति निर्माताओं ने अगस्त, 1946 के लगभग सहयोग और अनुकूलता की नीति का परित्याग कर दिया।

अवरोध की नीति (अगस्त, 1946—जून, 1950)

सन् 1946 के मध्य तक रूस की ओर से अमेरिका निराश होता जा रहा था और राष्ट्रपति ट्रूमैन के मुख्य परामर्शदाता एवरिल हैरीमैन तथा विदेश विभाग के रूसी विशेषज्ञ जार्ज केनन ने रूस के साथ सहयोग की नीति में स्पष्ट रूप से सन्देह प्रकट किया। उनका विचार था "मास्को सहयोग और समझौते की नीति को दुर्बलता का लक्षण समझता है। वह केवल शक्ति की परवाह करता है, अतः उसके विरुद्ध दृढ़ता की नीति पर चलना चाहिए।"

अब अमेरिका ने यह निश्चय कर लिया कि साम्यवादी प्रसार को अविलम्ब 'अवरुद्ध' किया जाए। इस निश्चय के साथ ही 'अव[illegible] (Policy of Containment) पर अमल किया [illegible]"। अमे[illegible] अब भी विश्वास था कि सोविय[illegible] है और [illegible] नेताओं का विरुद्ध आश्वासन चाहता है। य[illegible] आक्रमण के [illegible] सहयोग

करने लगेगा। लेकिन प्रधानता इस विचार की थी कि रूस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। गोपनीयता, अस्पष्टता, सन्देहशीलता, कथनी और करनी में भेद, धोखा-धड़ी आदि सोवियत नीति के प्रधान लक्षण थे। अमेरिकी सरकार पर यह भी दबाव पड़ा कि लोकतन्त्र की रक्षा के लिए वह साम्यवाद के विरुद्ध सैद्धान्तिक संघर्ष भी छेड़ दे। उस समय रूस दुनिया भर के देशों में 'साम्यवादी धर्म' का जोर-शोर से प्रचार करने मे लगा हुआ था। अमेरिकी विदेश विभाग इस बात से भी चिन्तित हो गया कि चीन और पूर्वी यूरोपीय देशों मे साम्यवाद का प्रसार अमेरिका की सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा हो सकता था।

'अवरोधन' की अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य तथ्य ये थे—

ट्रूमैन सिद्धान्त—मध्य-पूर्वी क्षेत्र मे यूनान, टर्की, ईरान आदि देशो को साम्यवादी बनने से बचाने के लिए ट्रूमैन ने इन्हे आर्थिक सहायता देने की नीति अपनाई। इसी नीति को 'ट्रूमैन-सिद्धान्त' (Truman Doctrine) कहा जाता है। महायुद्ध के बाद चारों ओर आर्थिक सकट की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं। यूनान, टर्की और ईरान मे साम्यवादी आन्दोलन ने विशेष जोर पकड़ लिया। यह आशंका पैदा हो गई कि यदि तुरन्त ही इन देशों की आर्थिक सहायता न की गई तो वे साम्यवाद के प्रभाव में चले जाएँगे। अतः मार्च, 1947 मे राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कांग्रेस (अमेरिका की संसद्) से अपील की कि साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए यूनान और टर्की के लिए आर्थिक सहायता स्वीकार की जाए। यूनान को 25 करोड़ डॉलर और टर्की को 15 करोड़ डॉलर देने की सिफारिश की गई। कांग्रेस ने विधेयक को स्वीकार कर लिया और 22 मई, 1948 को उस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो गए। ट्रूमैन-सिद्धान्त के अन्तर्गत प्राप्त विपुल आर्थिक सहायता के बल पर सन् 1950 के अन्त तक यूनान और टर्की ने साम्यवादी दबाव से सफलतापूर्वक मुक्ति प्राप्त कर ली।

वास्तव में ट्रूमैन-सिद्धान्त ने अमेरिकी विदेश नीति के इतिहास मे एक असाधारण कीतिमान की स्थापना की। इस नीति ने घोषणा की कि "जहाँ कहीं भी शान्ति भग करने वाली प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रामक कार्यवाही होगी, उसे अमेरिका की सुरक्षा के लिए संकट माना जाएगा और अमेरिका उसे रोकने का भरसक प्रयत्न करेगा।" ट्रूमैन-सिद्धान्त के फलस्वरूप अमेरिकी विदेश नीति का कार्यक्षेत्र विश्व-व्यापी हो गया। इस सिद्धान्त ने अमेरिका की विदेश नीति मे मौलिक परिवर्तनों का सूत्रपात किया तथा उसे विकास की नई दिशा प्रदान की। माइकेल डोनेलन के शब्दो मे, ट्रूमैन-सिद्धान्त निश्चय ही सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो-सिद्धान्त था। इसने पुराने सिद्धान्त को नई परिस्थितियों के साथ आवश्यकतानुसार समायोजित कर दिया और पश्चिमी गोलार्द्ध की सीमाओं का विस्तार स्वतन्त्र विश्व की तक कर दिया।[1] ट्रूमैन-सिद्धान्त अग्रलिखित दृष्टियो से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ—

1 *Michael Donelan* :The Ideas of American Foreign Policy, p. 149.

1. इसने स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका अब पृथकतावादी नीति का परित्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की समस्याओं के प्रति सक्रिय हो गया है।

2. यह रूस को उसकी विस्तारवादी चेष्टाओं के विरुद्ध एक चेतावनी थी, उसके साथ शीतयुद्ध की घोषणा थी और मास्को के प्रति सहयोगपूर्ण नीति का परित्याग था।

3. यह सिद्धान्त 'अवरोधन' नीति के विकास का प्रथम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरण था।

4. यह 'मुनरो-सिद्धान्त' का व्यापक रूप था जिसने स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका पूर्वी और पश्चिमी गोलार्द्ध में स्वतन्त्रता की आकांक्षी जनता को उसके स्वाधीनता संघर्ष का समर्थन करेगा।

5 यह सिद्धान्त इस तथ्य की स्वीकृति थी कि भूमध्यसागर और मध्यपूर्व मे उत्पन्न हुई 'शक्ति शून्यता' का रूस द्वारा लाभ उठाए जाने से पूर्व अमेरिका लाभ उठाने का इच्छुक है।

6. इस सिद्धान्त का मूल उद्देश्य बल्कान प्रायद्वीप में रूसी प्रसार को रोकने के लिए और साथ ही रूस को घेरने के लिए यूनान और टर्की को महत्त्वपूर्ण सैनिक अड्डे के रूप मे सुरक्षित रखना तथा मध्यपूर्व के विशाल तेल भण्डारों को अपने अधिकार मे रखना था।

7. यह सिद्धान्त रूस के प्रति अमेरिकी विरोध की स्थूल अभिव्यक्ति था।

ट्रूमैन-सिद्धान्त को विभिन्न क्षेत्रों में कटु आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। अमेरिका की आर्थिक और सामरिक सहायता देने की नीति को साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का एक नवीन रूप बताया गया। इस सिद्धान्त का उद्देश्य लोकतन्त्र की रक्षा न होकर पश्चिमी एशिया के तेल भण्डारों को रूसी प्रभाव से अछूत रखना था। ट्रूमैन-सिद्धान्त से संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति को आघात पहुँचा क्योंकि यूनान और टर्की को सघ के माध्यम से सहायता न दी जाकर पृथक् रूप से दी गई। स्वयं अमेरिकियो की दृष्टि मे ट्रूमैन-सिद्धान्त मुनरो-सिद्धान्त का ही विकसित रूप था।

युद्धोपरान्त की प्रारम्भिक नीतियो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के फलस्वरूप अब यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिकी विदेश नीति का मौलिक उद्देश्य साम्यवाद और सोवियत प्रसार को रोकना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने अपनी विदेश नीति में तीन बातों को स्थान दिया—प्रथम, आर्थिक; द्वितीय, राजनीतिक एव तृतीय सैनिक। आर्थिक तत्त्व के अन्तर्गत आर्थिक सहायता और आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम अपनाए गए। राजनीतिक तत्त्व को सम्पादित करने के लिए पश्चिमी यूरोपीय सघ की स्थापना की दिशा में कार्यवाही की गई और सैनिक तत्त्व के अन्तर्गत सैनिक संगठनों की स्थापना पर बल दिया जाने लगा।

मार्शल योजना (Marshall Plan)—'अवरोध की नीति' (Policy of Containment) का दूसरा चरण 'मार्शल योजना' थी। इस योजना के अन्तर्गत

युद्ध से ध्वस्त यूरोप को सहायता देने की बात कोई सर्वथा नई नहीं थी। द्वितीय महायुद्ध काल में वह उधार पट्टा-कार्यक्रम (Land Lease Programme) के अन्तर्गत तथा सन् 1945 में इस कार्यक्रम की समाप्ति के बाद 'संयुक्त राष्ट्र सहायता और पुनर्वास प्रशासन' (U.N.R.R.A.) के माध्यम से यूरोप को आर्थिक सहायता देता रहा था।

अमेरिका के विदेश मन्त्री मार्शल ने मास्को के शान्ति-सम्मेलनों में देखा कि रूसी हर बात में अड़ंगेबाजी की नीति अपना कर शान्ति-सन्धियों में विलम्ब कर रहे हैं। मार्शल शीघ्र ही समझ गया कि रूसियों के सन्धि चर्चा में देर लगाने का परिणाम यूरोप में क्रांतियों द्वारा साम्यवाद की स्थापना हो जाना है ताकि फिर समझौता करने में कठिनाई न हो। अत: 26 अप्रेल, 1947 को वाशिंगटन लौटने पर मार्शल ने इस बात पर बल दिया कि यदि अविलम्ब यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार के प्रयास न किए गए तो वह साम्यवादी हो जाएगा। अपने सहकारियों के साथ परामर्श करने के उपरान्त राष्ट्रपति ट्रूमैन ने भी इस प्रकार की सहायता देने का निश्चय कर लिया और तब 5 जून, 1947 को विदेश मन्त्री मार्शल ने हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अपने सुप्रसिद्ध भाषण में कहा—

"हमारी नीति किसी देश या सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। यह भूख, दरिद्रता, निराशा और अव्यवस्था के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य विश्व में एक ऐसी अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान करना है जिससे स्वतन्त्र संस्थाओं को विकसित करने वाली राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकें। संयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार द्वारा यूरोप को सहायता दिए जाने से पहले यह आवश्यक है कि यूरोपीय देशों की इस सहायता की आवश्यकताओं के विषय में समझौता हो जाए। इस सरकार के लिए न तो यह अच्छा होगा और न प्रभावशाली कि यूरोप को अपने पैरों पर खड़ा करने वाले आर्थिक कार्यक्रमों का निर्माण करें। यह यूरोपीयों का कार्य है। इसकी पहल यूरोप से होनी चाहिए। हमारा कार्य सहायता देना है।"

मार्शल ने अपने भाषण में साम्यवादी और गैर-साम्यवादी देशों में कोई भेद नहीं किया, बल्कि प्रकट रूप में यही कहा कि उनके देश की नीति किसी देश अथवा सिद्धान्त विशेष से संघर्ष की नहीं, बल्कि भूख, निर्धनता, साधनहीनता और अव्यवस्था का सामना करने की है। परिणामस्वरूप सोवियत संघ को भी पुनर्निर्माण के इस कार्यक्रम में हिस्सा लेने के लिए आमन्त्रित किया गया। परन्तु मास्को और उसके साथ राज्यों ने इस प्रस्ताव को अमेरिकी साम्राज्यवाद की एक नई चाल बताकर ठुकरा दिया।

पश्चिमी देशों के राष्ट्रों ने मार्शल योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। ब्रिटेन और फ्रांस की पहल पर जुलाई, 1947 में पेरिस में 16 यूरोपीय देशों (ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, डेनमार्क, ग्रीस, आइसलैण्ड, इटली, नार्वे, [illegible] स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, पुर्तगाल, नीदरलैण्ड और टर्की) के प्रतिनिधियों सम्मेलन हुआ। इसमें एक यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति (Co

European Economic Co-operation) की स्थापना की गई और यूरोपीय पुनरुद्धार का चार वर्षीय सहयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया।

यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति ने संयुक्तराज्य अमेरिका को एक रिपोर्ट समर्पित की जिसमें कहा गया कि अमेरिका यदि 1·3 बिलियन डॉलर धन राशि खर्च करने को तैयार हो तो सन् 1951 तक एक आत्मनिर्भर यूरोपीय अर्थ-व्यवस्था (Economy) की स्थापना की जा सकती है। यह रिपोर्ट 'मार्शल योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। दिसम्बर, 1947 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कांग्रेस के समक्ष 'मार्शल योजना' से सम्बन्धित व्यय का अनुमान प्रस्तुत किया जिसमें सवा चार वर्ष की अवधि के लिए 17 अरब डॉलर और 15 महीनों के लिए 6 अरब 80 करोड़ डॉलर के व्यय का अनुमान लगाया गया। इस प्रस्ताव के उद्देश्य (Motive) की व्याख्या करते हुए ट्रूमैन ने कहा—"मेरा प्रस्ताव यह है कि अमेरिका उन 16 राज्यों को, जो उसी की तरह स्वतन्त्र संस्थाओं की सुरक्षा एवं राष्ट्रों के बीच स्थायी शान्ति के लिए दृढ संकल्प हैं, उनके पुनर्निर्माण कार्यों में सहायता देकर विश्व-शान्ति एवं अपनी सुरक्षा मे योगदान करे।"

'मार्शल योजना' को, जो अधिकृत रूप में 'यूरोपीय राहत कार्यक्रम' (European Relief Programme) के नाम से जानी गई, कांग्रेस ने पास कर दिया। 3 अप्रेल, 1948 को कांग्रेस ने 'विदेशी सहायता अधिनियम' पारित कर मार्शल योजना को मूर्त रूप प्रदान किया और इसको कार्यान्वित करने के लिए 'यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन' (Organization for European Economic Co-operation) की स्थापना की गई

'मार्शल योजना' से रूस और पश्चिम का विरोध पहले की अपेक्षा और भी अधिक उग्र हो गया। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्षों (1947–1951) में अमेरिका ने यूरोप को लगभग 11 मिलियन डॉलर की सहायता दी। इस योजना के बल पर एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया तथा दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमेरिका पाश्चात्य जगत् का सर्वमान्य नेता बन गया। अमेरिका ने यूरोप के देशों को आर्थिक सहायता देते हुए यह शर्त लगाई कि वे अपनी सरकारों में साम्यवादी तत्त्वों का उन्मूलन करेंगे। सन् 1946–47 तक फ्रांसीसी सरकार में साम्यवादी थे, परन्तु सन् 1946 में जब ब्लुम फ्रांस के लिए ऋण उपलब्ध करने हेतु वाशिंगटन गया तो उस पर यह दबाव डाला गया कि इसे प्राप्त करने के लिए फ्रेंच सरकार से साम्यवादियों का निष्कासन आवश्यक है। इसी प्रकार इटली में मार्शल सहायता पाने वाली सरकार को मन्त्रिमण्डल से साम्यवादियो को निकालना पड़ा।

'मार्शल योजना' एक प्रकार से ट्रूमैन-सिद्धान्त का ही विकसित रूप थी जिसने ट्रूमैन-सिद्धान्त में प्रतिपादित 'अवरोधन-नीति' को तीन प्रकार से आगे बढ़ाया—

(i) जहाँ ट्रूमैन-सिद्धान्त में अलग-अलग राज्यों को सहायता देने की व्यवस्था की गई थी, वहाँ मार्शल योजना में यूरोप को समग्र रूप से सहायता देने की व्यवस्था की गई।

(ii) मार्शल योजना ने 'अवरोध की नीति' में आर्थिक तत्त्वों के महत्त्व को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया।

(iii) इसके द्वारा पहली बार अमेरिकी आर्थिक सहायता को एक सहयोगी एवं योजनाबद्ध रूप दिया गया।

मार्शल योजना का प्रत्युत्तर रूस ने सितम्बर, 1947 में 'कोमिनफोर्म' की स्थापना के रूप मे दिया।

आर्थिक स्तर पर साम्यवाद के अवरोध की नीति के अनुसार अमेरिका ने जर्मन अर्थ-व्यवस्था को भी पुनर्गठित करने का प्रयास किया। सन् 1948 मे पश्चिमी शक्तियों द्वारा जर्मनी के अपने क्षेत्रों में कुछ मुद्रा सम्बन्धी सुधार किए गए, जिनके विरोध मे रूस द्वारा बर्लिन की 'कुख्यात नाकेबन्दी' की गई जो अन्ततः असफल सिद्ध हुई। पश्चिमी शक्तियों के मुद्रा-सुधारों और बर्लिन-संकट पर उनकी दृढ़ता ने जर्मन जनता को आश्वस्त किया कि पश्चिमी शक्तियाँ उनके हितों की रक्षा करने के लिए उत्सुक और समर्थ हैं।

चार सूत्री कार्यक्रम (Four Point Programme)—मार्शल योजना का उद्देश्य केवल यूरोप की आर्थिक अस्त-व्यस्तता को पुनः सुधारना था, लेकिन चीन में साम्यवादियो की महान् विजय से अमेरिकी और अन्य पश्चिमी राजनेता इस बात से चिन्तित हो गए कि विश्व के अल्पविकसित देश साम्यवादी प्रसार के उत्तम क्षेत्र सिद्ध हो सकते हैं। अतः राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ऐसे प्रदेशों में साम्यवादी प्रसार अवरोध के लिए, अमेरिकी विदेश नीति के 'चार-सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा करते हुए 20 जनवरी, 1949 को कहा कि—"आगामी वर्षों मे शान्ति और स्वतन्त्रता के कार्यक्रम मे चार प्रधान बातों पर बल दिया जाएगा—

(i) संयुक्त राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थन,

(ii) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के कार्य करते रहना,

(iii) आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ बनाना, एवं

(iv) अल्पविकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिक (Technical) सहायता देना।"

कांग्रेस ने सन् 1950 के अन्तर्राष्ट्रीय विकास अधिनियम (Act for International Development) द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। रिचर्ड स्टेबिंस (Richard P. Stebbins) के शब्दों में, "यह कानून अमेरिकी विदेश नीति का एक महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर था।" इस योजना द्वारा प्रथम बार तकनीकी सहायता प्रदान करने की आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ने लगी क्योंकि अर्द्ध-[illegible] देशों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक थी तथा इसके द्वारा अमेरिका के [illegible] की साधना होती थी। आलोचकों द्वारा चार-सूत्री कार्यक्रम को शीतयुद्ध का

माना गया। कहा गया कि यह अर्द्ध-विकसित देशों का समर्थन प्राप्त करने तथा उनसे आवश्यक रणनीति का सामान प्राप्त करने का एक तरीका है।

नाटो : अवरोध की रणनीति (NATO : The Strategy of Containment)—राजनीतिक तथा आर्थिक स्तर के साथ संयुक्तराज्य अमेरिका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के अवरोध का प्रयत्न किया। उसने दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम (Mutual Defence Assistance Programme) का तरीका अपनाया जो अमेरिकी विदेश नीति में एक नवीन प्रयोग था। सैनिक अवरोध की व्यवस्था को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए अमेरिका द्वारा नाटो का सगठन किया गया और 4 अप्रेल, 1949 को संयुक्तराज्य, कनाडा, इटली, आइसलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क और पुर्तगाल के बीच यह प्रथम सैनिक सन्धि सम्पन्न हो गई। यह उत्तरी अटलांटिक सन्धि अनेक तरह से एक 'नया परिवर्तन' (Innovation) थी। यह प्रथम सन्धि थी जिसके प्रति अमेरिका ने स्वयं को वचनबद्ध किया। इसी के साथ यूरोपीय देशों की रणशक्ति बढ़ाने के लिए पारस्परिक प्रतिरक्षा कार्यक्रम भी अपनाया गया।

सयुक्तराज्य अमेरिका को तेजी से सैनिक सन्धियों के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए उत्तरदायी एक और महत्त्वपूर्ण घटना यह थी कि सोवियत रूस ने सन् 1949 में ही एटम बम (Atom Bomb) के रहस्यों को खोज निकाला था जिन्हें सयुक्त-राज्य अमेरिका ने सोवियत संघ से सर्वथा गुप्त रखा था। रूस की इस खोज से सयुक्तराज्य अमेरिका के अणुशक्ति पर एकाधिकार (Monopoly) का अन्त हो गया और उसकी सर्वोच्च शक्ति को खतरा पैदा हो गया।

खुले संघर्ष का काल (जून 1950—जुलाई 1953)

साम्यवाद का खतरा ज्यों-ज्यो बढ़ता गया, संयुक्तराज्य अमेरिका महत्त्वपूर्ण सैनिक सन्धियों और प्रतिरक्षा संगठनों की ओर उन्मुख होता गया। जून, 1950 मे दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया का आक्रमण हो जाने से जिसमें सयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत अमेरिकी सेनाओं ने ही लगभग पूर्ण युद्ध लड़ा, अमेरिकी विदेश नीति मे सैनिक शक्ति का महत्त्व द्विगुणित हो गया। श्लीचर (Schleicher) के शब्दों में "अमेरिकी सैनिक शक्ति के लिए विनियोग तिगुने से भी अधिक हो गया, यूरोप को दिए जाने वाले सहयोग की अपेक्षा सैनिक शक्ति पर जोर दिया जाने लगा तथा मार्शल योजना की मदें 'सुरक्षा समर्थन की मद' बन गईं।"

कोरिया युद्ध जून, 1950 से जुलाई, 1953 तक चालू रहा। यह अवधि शीतयुद्ध के स्थान पर खुले संघर्ष अथवा सक्रिय युद्ध की थी, इसलिए अमेरिकी युद्धोत्तर विदेश नीति के इतिहास में यह एक प्रकार का 'खुले संघर्ष का काल' (Period of Open Conflict) रहा। इस अवधि में अवरोध-नीति के राजनीतिक और आर्थिक पक्ष की अपेक्षा सैनिक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हुए 30 अगस्त, 1951 को अमेरिका ने फिलिपाइंस के साथ एक प्रतिरक्षा समझौता किया, 1 सितम्बर,

संयुक्तराज्य अमेरिका की।

1951 को ऑस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड के साथ एंजस समझौता किया।
8 सितम्बर, 1951 को जापान के साथ एक प्रतिरक्षा-सन्धि की।

स्पष्ट है कि अमेरिकी प्रशासन में सैनिक शक्ति के उपयोग एवं सै. प्रतिरक्षा समझौतों के महत्त्व की विचारधारा बलवती हुई। इस तरह अमेरिका अपनी विदेश नीति में अब आर्थिक और सैनिक दोनों ही तत्त्वों को प्रधानता देने लगा। ये दोनों ही तत्त्व आज भी अमेरिकी विदेश नीति के प्रधान अंग बने हुए है।

आइजनहॉवर-युग (1953–1961)

जनवरी सन् 1953 में 24 वर्षों में प्रथम बार एक रिपब्लिकन राष्ट्रपति के रूप में जनरल आइजनहॉवर ने ह्वाइट हाउस मे प्रवेश किया। इसके पूर्व ही मार्च, 1953 मे सोवियत अधिनायक स्टालिन की मृत्यु हो चुकी थी। आइजनहॉवर-काल मे सोवियत नेतृत्व मे भी दो परिवर्तन हुए—स्टालिन के तुरन्त बाद मोलेकोव रूस का प्रधान मन्त्री बना और फरवरी सन् 1955 में उसके पतन के बाद ख्रुश्चेव युग (1955–1964) प्रारम्भ हुआ।

आइजनहॉवर-काल में अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य बिन्दु

आइजनहॉवर-युग मे अमेरिकी विदेश नीति मे कोई मौलिक परिवर्तन नही हुए, केवल कुछ सामयिक परिवर्तन किए गए और ट्रूमैन-सिद्धान्त की भाँति ही मध्यपूर्व के लिए 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' प्रतिपादित किया गया। आइजनहॉवर काल मे अमेरिकी विदेश नीति का स्वरूप निम्नानुसार रहा—

1. यथासम्भव युद्ध का बहिष्कार किया गया। आइजनहॉवर के समय मे ही जुलाई, सन् 1953 में कोरिया-युद्ध समाप्त हुआ।

2. दूसरे देशो के साथ सहयोग की नीति अपनाई गई, लेकिन कहीं दुर्बलता प्रकट नही की गई। आइजनहॉवर के समय अमेरिका ने कहीं भी तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement) नही अपनाई।

3. साम्यवाद के प्रसार को सीमित या समाप्त करने के लिए आर्थिक और सैनिक सहायता की नीति जारी रखी गई। मैत्रीपूर्ण सैनिक सन्धियों की नीति भी चालू रही।

4. अमेरिकी सेनाओ का आधुनिकीकरण किया गया, लेकिन विश्व के देशों को यह आश्वासन दिया गया कि अमेरिका अपनी सैन्य-शक्ति का दुरुपयोग नहीं करेगा।

5. विश्व के उत्पादन और लाभपूर्ण व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई गई।

6. यूरोपीय एकता को प्रोत्साहन दिया गया और पश्चिमी गोलार्द्ध के देशों के साथ अधिकाधिक सहयोग की नीति का अनुसरण किया गया।

7. संयुक्त राष्ट्रसंघ का समर्थन करते रहने और इसको साम्यवाद के विरुद्ध एक साधन के रूप में प्रयोग में लाने की नीति अपनाई गई।

माना गया। कहा गया कि यह अर्द्ध-विकसित देशों का समर्थन प्राप्त करने तथा उनसे आवश्यक रणनीति का सामान प्राप्त करने का एक तरीका है।

नाटो : अवरोध की रणनीति (NATO : The Strategy of Containment)—राजनीतिक तथा आर्थिक स्तर के साथ संयुक्तराज्य अमेरिका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के अवरोध का प्रयत्न किया। उसने दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम (Mutual Defence Assistance Programme) का तरीका अपनाया जो अमेरिकी विदेश नीति मे एक नवीन प्रयोग था। सैनिक अवरोध की व्यवस्था को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए अमेरिका द्वारा नाटो का सगठन किया गया और 4 अप्रेल, 1949 को संयुक्तराज्य, कनाडा, इटली, आइसलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क और पुर्तगाल के बीच यह प्रथम सैनिक सन्धि सम्पन्न हो गई। यह उत्तरी अटलांटिक सन्धि अनेक तरह से एक 'नया परिवर्तन' (Innovation) थी। यह प्रथम सन्धि थी जिसके प्रति अमेरिका ने स्वयं को वचनबद्ध किया। इसी के साथ यूरोपीय देशों की रणशक्ति बढ़ाने के लिए पारस्परिक प्रतिरक्षा कार्यक्रम भी अपनाया गया।

संयुक्तराज्य अमेरिका को तेजी से सैनिक सन्धियो के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए उत्तरदायी एक और महत्त्वपूर्ण घटना यह थी कि सोवियत रूस ने सन् 1949 मे ही एटम बम (Atom Bomb) के रहस्यों को खोज निकाला था जिन्हें संयुक्त-राज्य अमेरिका ने सोवियत संघ से सर्वथा गुप्त रखा था। रूस की इस खोज से संयुक्तराज्य अमेरिका के अणुशक्ति पर एकाधिकार (Monopoly) का अन्त हो गया और उसकी सर्वोच्च शक्ति को खतरा पैदा हो गया।

खुले संघर्ष का काल (जून 1950—जुलाई 1953)

साम्यवाद का खतरा ज्यों-ज्यो बढ़ता गया, संयुक्तराज्य अमेरिका महत्त्वपूर्ण सैनिक सन्धियों और प्रतिरक्षा संगठनों की ओर उन्मुख होता गया। जून, 1950 मे दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया का आक्रमण हो जाने से जिसमें संयुक्त राष्ट्रसघ के अन्तर्गत अमेरिकी सेनाओं ने ही लगभग पूर्ण युद्ध लड़ा, अमेरिकी विदेश नीति मे सैनिक शक्ति का महत्त्व द्विगुणित हो गया। श्लीचर (Schleicher) के शब्दों मे "अमेरिकी सैनिक शक्ति के लिए विनियोग तिगुने से भी अधिक हो गया, यूरोप को दिए जाने वाले सहयोग की अपेक्षा सैनिक शक्ति पर जोर दिया जाने लगा तथा मार्शल योजना की मदें 'सुरक्षा समर्थन की मद' बन गई।"

कोरिया युद्ध जून, 1950 से जुलाई, 1953 तक चालू रहा। यह अवधि शीतयुद्ध के स्थान पर खुले संघर्ष अथवा सक्रिय युद्ध की थी, इसलिए अमेरिकी युद्धोत्तर विदेश नीति के इतिहास में यह एक प्रकार का 'खुले संघर्ष का काल' (Period of Open Conflict) रहा। इस अवधि मे अवरोध-नीति के राजनीतिक और आर्थिक पक्ष की अपेक्षा सैनिक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हुए 30 अगस्त, 1951 को अमेरिका ने फिलिपाइंस के साथ एक प्रतिरक्षा समझौता किया, 1 सितम्बर,

1951 को ऑस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड के साथ एंजस समझौता किया।
8 सितम्बर, 1951 को जापान के साथ एक प्रतिरक्षा-सन्धि की।

स्पष्ट है कि अमेरिकी प्रशासन में सैनिक शक्ति के उपयोग एवं सै. प्रतिरक्षा समझौतों के महत्त्व की विचारधारा बलवती हुई। इस तरह अमेरिका अपनी विदेश नीति में अब आर्थिक और सैनिक दोनों ही तत्त्वों को प्रधानता देने लगा। ये दोनों ही तत्त्व आज भी अमेरिकी विदेश नीति के प्रधान अंग बने हुए है।

आइजनहॉवर-युग
(1953–1961)

जनवरी सन् 1953 में 24 वर्षों में प्रथम बार एक रिपब्लिकन राष्ट्रपति के रूप मे जनरल आइजनहॉवर ने ह्वाइट हाउस में प्रवेश किया। इसके पूर्व ही मार्च, 1953 मे सोवियत अधिनायक स्टालिन की मृत्यु हो चुकी थी। आइजनहॉवर-काल मे सोवियत नेतृत्व में भी दो परिवर्तन हुए—स्टालिन के तुरन्त बाद मोलेकोव रूस का प्रधान मन्त्री बना और फरवरी सन् 1955 में उसके पतन के बाद ख्रुश्चेव युग (1955–1964) प्रारम्भ हुआ।

आइजनहॉवर-काल में अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य बिन्दु

आइजनहॉवर-युग में अमेरिकी विदेश नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नही हुए, केवल कुछ सामयिक परिवर्तन किए गए और ट्रूमैन-सिद्धान्त की भाँति ही मध्यपूर्व के लिए 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' प्रतिपादित किया गया। आइजनहॉवर काल में अमेरिकी विदेश नीति का स्वरूप निम्नानुसार रहा—

1. यथासम्भव युद्ध का बहिष्कार किया गया। आइजनहॉवर के समय में ही जुलाई, सन् 1953 मे कोरिया-युद्ध समाप्त हुआ।

2. दूसरे देशों के साथ सहयोग की नीति अपनाई गई, लेकिन कही दुर्बलता प्रकट नहीं की गई। आइजनहॉवर के समय अमेरिका ने कही भी तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement) नही अपनाई।

3. साम्यवाद के प्रसार को सीमित या समाप्त करने के लिए आर्थिक और सैनिक सहायता की नीति जारी रखी गई। मैत्रीपूर्ण सैनिक सन्धियों की नीति भी चालू रही।

4. अमेरिकी सेनाओं का आधुनिकीकरण किया गया, लेकिन विश्व के देशों को यह आश्वासन दिया गया कि अमेरिका अपनी सैन्य-शक्ति का दुरुपयोग नही करेगा।

5. विश्व के उत्पादन और लाभपूर्ण व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई गई।

6. यूरोपीय एकता को प्रोत्साहन दिया गया और पश्चिमी गोलार्द्ध के देशों के साथ अधिकाधिक सहयोग की नीति का अनुसरण किया गया।

7. संयुक्त राष्ट्रसंघ का समर्थन करते रहने और इसका साम्यवाद के विरुद्ध एक साधन के रूप में प्रयोग में लाने की नीति अपनाई गई।

आइजनहॉवर युग की विदेश नीति की मुख्य घटनाएँ

– **साम्यवाद के साथ शक्ति-परीक्षण, कोरिया-युद्ध की समाप्ति**—सन् 1949 में सोवियत संघ द्वारा अणुबम के रहस्य को खोज निकालने और अमेरिका के आणविक एकाधिकार को समाप्त करने के बाद से ही संयुक्तराज्य अमेरिका में विशेष चिन्ता व्यक्त हो गई थी। इसीलिए यह निश्चय किया गया था कि इसके पहले कि सोवियत संघ अधिक शक्तिशाली हो जाए, उसको युद्ध में फँसाकर कमजोर बना दिया जाए तथा उसकी सामरिक शक्ति का विनाश कर दिया जाए। यह 'प्रतीकारात्मक युद्ध' (Preventive War) की भावना थी। जून सन् 1950 मे छिड़ने वाला कोरियाई युद्ध इसी नीति का परिणाम था। लेकिन जब युद्ध मे अमेरिका की प्रतिष्ठा तक पर आँच आने लगी तो अमेरिका का जनमत विक्षुब्ध हो गया। आइजनहॉवर ने राष्ट्रपति-पद के चुनावों मे जनता को वचन दिया कि वह कोरियाई युद्ध को समाप्त कर देंगे। राष्ट्रपति बनते ही आइजनहॉवर ने एक ओर तो पूरी शक्ति के साथ युद्ध करने की और दूसरी ओर समझौते के द्वार खुले रखने की नीति अपनाई। जुलाई, 1953 में कोरिया मे युद्ध-विराम हो गया, लेकिन यह भी स्पष्ट हो गया कि साम्यवादी-विश्व से खुली टक्कर में निर्णायक विजय प्राप्त करना अमेरिका के लिए असम्भव है।

पश्चिमी यूरोप के एकीकरण, अणु शक्ति पर नियन्त्रण आदि के प्रयत्न—मई सन् 1953 मे फ्रांस, ब्रिटेन, रूस और अमेरिका का शिखर-सम्मेलन हुआ। पश्चिमी यूरोप को एकीकृत करने के प्रयत्न किए गए। सन् 1954 में इतने अधिक सम्मेलन हुए कि विदेश सचिव जान फोस्टर डलेस को यात्री राज्य-सचिव की संज्ञा दी जाने लगी। पश्चिमी यूरोप को एकीकृत करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप इसी वर्ष पश्चिमी यरोपीय संघ (Western European Union) की स्थापना की गई और जर्मनी को नाटो का सदस्य बना लिया गया। सोवियत संघ द्वारा सन् 1953 मे हाइड्रोजन बम का परीक्षण कर लेने के बाद दिसम्बर सन् 1953 मे आइजनहॉवर ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा मे अणु-शक्ति पर नियन्त्रण और उसका शान्ति के प्रयोग का प्रस्ताव रखा।

साम्यवाद के अवरोध के लिए सीटो तथा बगदाद-पैक्ट की स्थापना—सन् 1954 में साम्यवादी चीन की सहायता से साम्यवादी छापामारों द्वारा हिन्दचीन मे गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर दी गई। फलस्वरूप जुलाई मे हिन्दचीन, फ्रांस, साम्यवादी चीन, रूस और ब्रिटेन के प्रतिनिधियो ने जेनेवा सम्मेलन में हिन्द चीन को विभाजित करने का निर्णय लिया। इसके उत्तरी भाग मे वियतमिन्ह (बाद में उत्तर वियतनाम) का साम्यवादी राज्य विभाजित किया गया और दक्षिणी भाग को लाओस, कम्बोडिया और दक्षिण वियतनाम के तीन गैर-साम्यवादी राज्यो मे विभाजित कर दिया गया। इस घटना-चक्र ने संयुक्तराज्य अमेरिका को साम्यवादी चीनी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए दृढ़ संकल्प बना दिया। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने सितम्बर सन् 1954 में थाइलैण्ड, फिलिपाइंस, पाकिस्तान, ब्रिटेन, फ्रांस, ऑस्ट्रेलिया

तथा न्यूजीलैण्ड के साथ 'दक्षिण-पूर्वी एशिया सामूहिक सुरक्षा सन्धि' पर हस्ताक्षर कर सीटो (SEATO) की स्थापना की।

इसी प्रकार पश्चिमी एशिया के देशों की साम्यवाद से रक्षा के लिए सन् 1955 में बगदाद समझौते (Bagdad Pact) का सूत्रपात हुआ। इस सैनिक सन्धि में अमेरिका सहित ब्रिटेन, टर्की, ईरान, पाकिस्तान आदि सम्मिलित हुए।

मध्य-पूर्व और आइजनहॉवर सिद्धान्त—पश्चिमी एशिया अथवा मध्य-पूर्व में बगदाद-पैक्ट की स्थापना साम्यवाद के विरुद्ध विशेष प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुई, पर शीघ्र ही अमेरिका को इस दिशा मे अग्रसर होने का एक और सुअवसर मिल गया। जब सन् 1956 मे स्वेज-नहर के प्रश्न पर ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल ने मिलकर मिस्र पर आक्रमण किया तो अमेरिका ने उन्हे स्पष्ट परामर्श दिया कि वे अपना मिस्र पर आक्रमण समाप्त कर दें। उधर रूस ने भी चेतावनी दी। परिस्थितियों से वाध्य होकर आक्रमणकारियो को स्वेज से हटाना पड़ा और मध्यपूर्व मे अमेरिका के लिए सहानुभूति बढ़ गई। इस समय स्थिति यह थी कि ब्रिटेन और फ्रांस के हट जाने से मध्य-पूर्व में 'शक्ति-शून्यता' पैदा हो गई थी और भय था कि रूस अपना प्रभाव स्थापित कर लेगा। अतः अमेरिका ने इस 'शक्ति-शून्यता' को भरना चाहा और इस क्षेत्र मे साम्यवादियों का प्रसार रोकने के लिए 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' (Eisenhover Doctrine) प्रतिपादित किया गया। इस सिद्धान्त की घोषणा 5 जनवरी, 1957 को राष्ट्रपति आइजहॉवर द्वारा कांग्रेस को भेजे गए एक सन्देश मे की गई। इस घोषणा के आधार पर बने कानून पर राष्ट्रपति ने 9 मार्च, 1958 को हस्ताक्षर कर दिए। इस कानून द्वारा अमेरिकी राष्ट्रपति को मध्यपूर्व के किसी भी देश मे साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए अपने विवेक से फौज भेजने और सैनिक कार्यवाही करने का व्यापक अधिकार मिल गया। कांग्रेस ने आइजनहॉवर-सिद्धान्त के अन्तर्गत अमेरिकी सहायता के इच्छुक मध्यपूर्वी देशों की सहायता के लिए 200 मिलियन डॉलर की विशाल धनराशि स्वीकृत की।

आइजनहॉवर-सिद्धान्त के प्रति मिश्रित प्रतिक्रियाएँ हुईं। जोर्डन, लेबनान, ईराक, इरान, सऊदी अरब, पाकिस्तान आदि ने इसका स्वागत किया जबकि मिस्र, सीरिया आदि ने इसे एक साम्राज्यवादी चाल बतलाया। उन्होंने आरोप लगाया कि अमेरिका अरब राष्ट्रवाद को कुचलने और इजरायल को अरबो पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहता है। सोवियत सघ ने इसे विदेशी हस्तक्षेप और सकट को सज्ञा दी। वास्तव मे *आइजनहॉवर-सिद्धान्त ट्रूमैन-सिद्धान्त का ही एक* विकसित रूप था जिसमें सहायता का क्षेत्र आर्थिक और सैनिक दोनो प्रकार का था। ट्रूमैन-सिद्धान्त की भाँति यह भी अमेरिका के 'नवीन साम्राज्यवाद' का सूत्र था।

आइजनहॉवर-सिद्धान्त की घोषणा के बाद शीघ्र ही अमेरिका के सामने ऐसे अवसर उपस्थित हुए जब उसे इस सिद्धान्त के प्रयोग का अवसर प्राप्त हुआ। लेबनान और जोर्डन मे इस सिद्धान्त का प्रयोग हुआ, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह अधिक सफल नहीं हो सका। सर्वप्रथम सन् 1958 में लेबनान के राष्ट्रपति ने अपने विरुद्ध

विद्रोह के दमन के लिए अमेरिका से सैनिक सहायता की माँग की। सुरक्षापरिषद् में शिकायत की गई कि सीरिया और मिस्र विद्रोहियों की सहायता कर रहे हैं। जुलाई मे अमेरिकी सेनाएँ लेबनान मे उतर गईं। अगस्त, 1958 में संयुक्त राष्ट्र-महासभा के एक प्रस्ताव द्वारा माँग की गई कि अमेरिका लेबनान से अपनी सेनाएँ वापस बुला ले, लेकिन अमेरिका ने ऐसा करने से साफ इनकार कर दिया। लेबनान में गृह-युद्ध जारी रहा और विद्रोही नए राष्ट्रपति का निर्वाचन कराने मे सफल हुए। नई सरकार की माँग पर अमेरिका को 26 अक्तूबर, 1958 को लेबनान खाली कर देना पड़ा। जुलाई, 1958 में ईराकी क्रान्ति से जोर्डन के शाह को आशका हुई कि कहीं जोर्डन मे भी सैनिक विद्रोह न हो जाए, अत ब्रिटेन और अमेरिका से सैनिक सहायता माँगी गई। ब्रिटेन ने अपनी सेनाएँ जोर्डन भेजी तो अमेरिका ने शाह हुसैन को 75 लाख डॉलर की नई आर्थिक सहायता प्रदान की। पर दोनों ही कार्यवाहियाँ अप्रभावी रहीं क्योंकि संयुक्त राष्ट्र महासभा के अगस्त, 1958 के प्रस्ताव के अनुसार ब्रिटेन को अपनी सेनाएँ जोर्डन से वापस बुलानी पड़ी। ब्रिटिश सहायता से 'आइजनहॉवर सिद्धान्त' का जो सैनिक प्रयोग जोर्डन मे किया गया वह निष्फल रहा।

वास्तव में 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' को मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव को रोकने मे सफलता नही मिली, इसके विपरीत लेबनान और जोर्डन मे सैनिक हस्तक्षेप के फलस्वरूप मास्को के प्रभाव-क्षेत्र में वृद्धि हुई। 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' से सयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचा। यह सिद्धान्त विश्व-संस्था को निर्बल बनाने वाला सिद्ध हुआ। यह क्षोभ की बात थी कि राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने मध्यपूर्व मे नवीन राष्ट्रीयता के जागरण की उपेक्षा की। इजरायल के विरुद्ध अरबों के तीव्र विरोध ने भी इसकी सफलता में बाधा उपस्थित की। व्यावहारिक दृष्टि से आइजनहॉवर-सिद्धान्त को मामूली सफलता प्राप्त हो सकी।

शीतयुद्ध में शिथिलता (1959–60)—आइजनहॉवर-सिद्धान्त के कारण शीतयुद्ध तीव्र हो गया, लेकिन सितम्बर, 1959 मे जब अमेरिकी राष्ट्रपति के निमन्त्रण पर सोवियत प्रधानमन्त्री खु्श्चेव ने अमेरिका की राजकीय यात्रा की, तो वातावरण में सुधार हुआ। दोनो नेताओ ने यह निर्णय लिया कि पारस्परिक मतभेदो के प्रश्नों पर वार्ता के लिए अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस का एक शिखर सम्मेलन आयोजित किया जाए। अमेरिकी राष्ट्रपति ने सन् 1960 के बसन्त-काल मे रूस की यात्रा का निमन्त्रण भी स्वीकार किया।

शिखर-सम्मेलन की सफलता—काफी विचार-विमर्श के बाद 16 मई, 1960 को प्रस्तावित शिखर-सम्मेलन होना निश्चित हुआ। दुर्भाग्यवश सम्मेलन के पूर्व ही मुख्य रूप से दो अपशकुन हो गए—

(i) जर्मनी से सम्बन्धित विवाद, एव (ii) यू–2 विमान काण्ड।

(i) पहला अपशकुन जर्मनी के सम्बन्ध मे हुआ। 14 जनवरी, 1960 को पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर एडेनौर ने आरोप लगाया कि रूसी बर्लिन पर हमला कर रहे हैं तथा शिखर-सम्मेलन का मुख्य विषय जर्मनी के स्थान पर निःशस्त्रीकरण

का प्रश्न होना चाहिए। ख्रुश्चेव ने धमकी दी कि "यदि पूर्व और पश्चिम की वार्ता से बर्लिन की स्थिति मे कोई परिवर्तन न हुआ तो वह पूर्वी जर्मनी से पृथक् सन्धि कर लेगा और पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया के साथ उसकी सीमा का निर्धारण कर देगा।"

फरवरी, 1960 में रूस ने बर्लिन में एक नया संकट पैदा कर दिया। पूर्वी जर्मनी मे विद्यमान पश्चिम देशों के सैनिक मिशनो को दिए जाने वाले वीसा पूर्वी जर्मन सरकार के नाम से जारी कर दिए गए जबकि अब तक ये पूर्वी जर्मनी के सोवियत अधिकारियों द्वारा जारी किए जाते थे। इस नई व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि रूस इस प्रकार पश्चिमी देशों से पूर्वी जर्मनी की सरकार को 'वास्तविक मान्यता' (Defacto Recognition) दिलवाना चाहता था। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के दृढ़ विरोध के पश्चात् अन्त मे 14 मार्च, 1960 को सोवियत रूस इस बात पर सहमत हो गया कि पश्चिमी देशों के सैनिक अधिकारियो को पूर्वी जर्मनी की यात्रा के लिए जो वीसा दिए जाएँगे उन पर सोवियत अधिकार-क्षेत्र (Zone of Soviet Occupation) अंकित रहेगा।

इसके बाद फिर तनाव पैदा हुआ। 16 मार्च को पश्चिमी जर्मन-चान्सलर ने घोषणा की कि 16 मई को शिखर सम्मेलन होने से पहले ही पश्चिमी बर्लिन में इस बात पर जनमत संग्रह लिया जाए कि लोग बर्लिन में यथास्थिति बनाए रखने के पक्ष मे हैं अथवा नही। इसके विरोध मे दूसरे पक्ष की ओर से कहा गया कि इस प्रकार का जनमत संग्रह बर्लिन के दोनो भागो में होना चाहिए।

स्पष्ट ही ऐसे वातावरण मे दोनो पक्षों मे एक-दूसरे के प्रति सन्देह पूर्वापेक्षा अधिक बढ़ गया जिसका कुप्रभाव सम्मेलन पर पड़ा।

(ii) शिखर सम्मेलन के मार्ग मे दूसरा सबसे बडा अपशकुन यू–2 विमान-काण्ड हुआ। 5 मई, 1950 को सोवियत प्रधान मन्त्री ने रोषपूर्ण शब्दो मे घोषणा की कि रूस के हवाई अड्डों की जासूसी करते हुए एक यू–2 अमेरिकी विमान को 1 मई, 1960 को रॉकेट द्वारा नीचे गिरा दिया गया है। रूस ने अमेरिका पर कटु प्रहार किए और बाद में राष्ट्रपति आइजनहॉवर की इस घोषणा ने आग मे घी का काम किया कि "अमेरिका की जासूसी उड़ानें न्याय-संगत हैं और पर्लहार्बर पुनरावृत्ति रोकने के लिए उड़ानें आवश्यक हैं।" सोवियत रूस ने आइजनहॉवर के इस चुनौती भरे शब्दो को अपना राष्ट्रीय अपमान समझा।

यू–2 विमान काण्ड से दोनो महाशक्तियों के बीच तनाव चरम सीमा पर पहुँच गया और शिखर सम्मेलन की सफलता की आशा धूमिल हो गई, लेकिन ख्रुश्चेव की इन घोषणाओं से फिर भी आशा बनी रही कि "अन्तर्राष्ट्रीय दबाव कम करने के प्रयत्नो मे शिथिलता नही आने देनी चाहिए और शिखर-सम्मेलन में यू–2 का विषय नही उठाया जाएगा।"

लेकिन जब 16 मई को शिखर सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो सोवियत प्रधान

मन्त्री ने अचानक ही यू–2 काण्ड के लिए अमेरिका की निन्दा करते हुए निम्नलिखित माँगें पेश करदीं—

(क) अमेरिका को अपने उत्तेजनात्मक कार्य की निन्दा करनी चाहिए, इसके लिए क्षमा माँगनी चाहिए, इस कार्य को वन्द करना चाहिए, और इस काण्ड के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्डित करना चाहिए।

(ख) यदि ऐसा नहीं किया जाता तो रूस की दृष्टि में शिखर सम्मेलन मे अमेरिका के साथ बातचीत करना व्यर्थ है और वह इसमें भाग नहीं ले सकता।

ख्रुश्चेव ने यह भी कहा कि सम्मेलन को 6 या 8 महीने के लिए स्थगित कर दिया जाए ताकि अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनावों के बाद जनवरी, 1961 में यह आयोजित हो सके। आइजनहॉवर द्वारा जासूसी उड़ानों को भविष्य में स्थगित कर देने के आश्वासनों के बावजूद ख्रुश्चेव अपनी माँग पर अड़े रहे। 17 मई को सम्मेलन आरम्भ होने पर ख्रुश्चेव जब नहीं आए तो यह घोषणा करदी गई कि "ख्रुश्चेव द्वारा अपनाए गए रुख के कारण शिखर सम्मेलन आरम्भ करना सम्भव नहीं है।

कैनेडी-युग
(1960–1963)

नवम्बर, 1960 में सीनेटर जॉन एफ. कैनेडी अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। कैनेडी एक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। एक इतिहासकार के शब्दों में, "कैनेडी मे लिंकन का राजनीतिक बोध, थियोडोर रूजवेल्ट का चुम्बकीय आकर्षण और चमत्कारी तेज, एंड्रयू जैक्सन का ठण्डा रोष, विलसन का पैना विवेक तथा वाक्पटुता और फ्रेंकलिन रूजवेल्ट का नीति-कौशल सब एक ही साथ विद्यमान थे।" कई दिशाओं मे कैनेडी इनसे भी बढकर थे। व्यापक ज्ञान, विचारों की सुस्पष्टता, गहरी पैठ, आदर्शवाद और क्रियावाद का सुन्दर सन्तुलन उनकी अपनी ही विशेषताएँ थीं। उनके संकल्पों की दृढ़ता और उनकी कार्य-पद्धति लोगों को चकित कर देती थी। उनकी वाणी मे ओज, उनके विचारों में साहस, उद्देश्यो मे बल और भाषणों में आकर्षण था। राष्ट्रपति पद पर कैनेडी की विजय डेमोक्रेटिक दल की विजय थी।

कैनेडी-युग में अमेरिकी विदेश नीति को नया मोड़

कैनेडी ने कुछ दृष्टियों से अमेरिका की विदेश नीति को नया मोड़ दिया, नई गति दी। विदेश नीति के पुराने तत्त्व भी कैनेडी-युग मे अधिक प्राणवान् बन गए। मूल सिद्धान्तों मे परिवर्तन चाहे न हुए हों, किन्तु कैनेडी के समय वे इतने सजीव बन गए कि ऐसा लगने लगा मानो विदेश नीति मे एक नई जान आ गई हो। कैनेडी-युग की अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य विन्दु ये थे—

1. समझौतो और वार्ताओं द्वारा पूर्व और पश्चिम के मतभेदों को कम किया जाए पर साथ ही साम्यवादी बनने के विरुद्ध साहस और दृढ़ता की नीति अपनाई जाए।

2. विश्व में साम्यवाद के अतिरिक्त गरीबी और अन्य तानाशाहियाँ भी शत्रु है। विश्व की परेशानियो का कारण केवल साम्यवाद ही नही है और अमेरिका को साम्यवाद का मुकाबला करने के साथ-साथ विश्व के आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

3. विश्व मे डॉलर का मूल्य सुरक्षित रखा जाए तथा इसकी साख में कमी न होने दी जाए।

4. ऐसे प्रयत्न बराबर किए जाएँ कि महाशक्तियाँ एक दूसरे के निकट आएँ तथा एक दूसरे को समझें। महाशक्तियाँ अपने पारस्परिक सम्बन्धों को अधिक समय तक ढीला और कटु नही रख सकती।

5. दोनों गुटों के बीच अस्पष्टता और गलत-फहमी के कारण अनेक सकट पैदा हो जाते हैं किन्तु विचारों के स्पष्ट आदान-प्रदान द्वारा इन्हे मिटाया जा सकता है।

6. साम्यवाद को सीमित करने के लिए पूरे विश्व को यहाँ तक कि लौह-दीवार के अन्दर प्रदेशों को भी राजनीतिक एव आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र बनाया जाए।

7 पूर्ण दृढता और साहस की नीति का अनुसरण करते हुए तथा साम्यवादी छल-प्रपंच के प्रति सचेत रहते हुए यथा-साध्य सहअस्तित्व की प्रणाली पर बल दिया जाए।

कैनेडी-युग में विदेश नीति सम्बन्धी मुख्य घटनाएँ

कैनेडी शासनकाल मे अमेरिकी विदेश नीति का विश्लेषण निम्नलिखित सन्दर्भों मे किया जाना उपयुक्त होगा—

मानव-अधिकार और कैनेडी—कैनेडी ने मानव-अधिकारों के प्रति दृढ निष्ठा व्यक्त की और इसे अमेरिकी विदेश-नीति की प्रेरक शक्ति बताया। 20 सितम्बर, 1963 को उन्होने नागरिक अधिकारों के प्रश्न पर सयुक्त राष्ट्रसघ में विचार-विमर्श किया और आशा प्रकट की कि अमेरिका सहित विश्व के सभी राष्ट्र वर्ण-भेद, जाति-भेद आदि को मिटाकर सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समान सुरक्षा प्रदान करेंगे।

शान्ति और सह-अस्तित्व में विश्वास—10 जून, 1963 को अपने भाषण मे कैनेडी ने विश्व-शान्ति को सबसे महत्त्वपूर्ण विषय बतलाते हुए घोषणा की कि यह शान्ति विश्व पर अमेरिकी शस्त्रास्त्रो से थोपी हुई अमेरिकी शान्ति नहीं होगी बल्कि यह ऐसी शान्ति होगी जिससे पृथ्वी पर जीवन जीने योग्य बने और राष्ट्रों तथा व्यक्तियों को विकास का अवसर उपलब्ध हो। कैनेडी ने शान्ति और निःशस्त्रीकरण के प्रति रूसी दृष्टिकोण की भर्त्सना नही की, बल्कि शान्ति की दिशा में रूस के सम्भावित प्रभावों को उभारा। कैनेडी मे सहअस्तित्व की हार्दिक और उत्कट भावना थी।

पुराने मित्रों के प्रति वफादारी—रूसी-साम्यवादी व्यवस्था के प्रति सहग्रस्तित्व का नारा बुलन्द करने के साथ ही कैनेडी ने 'वफादार मित्रों के प्रति निष्ठा' रखने का भी वचन दिया और उसे निभाया भी। उन्होने नाटो (NATO) का आर्थिक और राजनीतिक आधार मजबूत करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाए तथा जर्मनी के प्रश्न पर झुकने से इनकार कर दिया। जून, 1961 में जब ख्रुश्चेव ने पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक् सन्धि पर हस्ताक्षर करने की धमकी दी और कहा कि इससे अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के लिए पश्चिमी बर्लिन में जाने के अधिकार समाप्त हो जाएँगे तो कैनेडी ने सोवियत धमकी का जवाब विवेकपूर्ण अस्वीकृति मे दिया। उनके नेतृत्व मे पश्चिमी शक्तियो ने रूस को स्पष्ट शब्दों मे बता दिया कि रूस की एकपक्षीय कार्यवाही उन्हें किसी भी अवस्था मे मान्य नहीं होगी। अमेरिका और उनके मित्रराष्ट्रो की इस दृढ़ता का परिणाम यह हुआ कि रूस ने अपनी धमकी को कार्यान्वित नही किया।

क्यूबा सकट और कैनेडी—राष्ट्रपति कैनेडी के कार्यकाल मे क्यूबा के सकट ने केवल अमेरिकी राष्ट्र को ही नहीं बल्कि सारे विश्व को हिला दिया। इस घटना में कैनेडी की विदेश नीति की दृढता स्पष्ट रूप से उजागर हुई। क्यूबा लम्बे समय तक अमेरिका का समर्थक था, लेकिन जून, 1959 में फिडेल कास्त्रो के नेतृत्व में हुई एक क्रान्ति के बाद वह रूस-समर्थक बन गया। 9 सितम्बर, 1961 को इस रूसी घोषणा ने भावी संकट का संकेत दिया कि वह क्यूबा को साम्राज्यवादियों से रक्षा के लिए शस्त्रास्त्रों की पूर्ण सहायता देगा। उधर राष्ट्रपति कैनेडी ने कहा कि रूस ने क्यूबा को प्रक्षेपणास्त्रों, पनडुब्बियों तथा रॉकेट आदि से सज्जित किया है जिससे अमेरिका की सुरक्षा को भारी खतरा पैदा हो गया है। 7 सितम्बर को अमेरिकी कांग्रेस ने राष्ट्रपति को डेढ़ लाख रिजर्व सैनिकों को आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सेवा के लिए बुला लेने का अधिकार दिया। 16 सितम्बर, 1962 को कैनेडी ने क्यूबा की हवाई जाँच-पड़ताल के आदेश दिए जिनसे पुष्टि हो गई कि वहाँ प्रक्षेपणास्त्रो का भारी संग्रह हो रहा है। 22 अक्तूबर को कैनेडी ने अपने चेतावनी-पूर्ण भाषण मे स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका की विदेश नीति मे सुरक्षा का नरव कितना प्रबल है और मैत्री तथा सहयोग का आकांक्षी अमेरिका किस हद तक सैनिक कार्यवाही का आश्रय ले सकता है। 23 अक्तूबर को कैनेडी ने क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा कर दी। यह आदेश रूस को स्पष्ट चेतावनी थी कि उसके शस्त्रास्त्रों से सज्जित जहाज क्यूबा नहीं पहुँच सकते, अन्यथा युद्ध होगा।

इस घोर सकट के समय सोवियत प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने भी दूरदर्शिता से काम लिया। 23 अक्तूबर को ख्रुश्चेव द्वारा घोषणा की गई कि रूस क्यूबा से अपने प्रक्षेपणास्त्र वापस मँगाने की आज्ञा दे रहा है और वह उस द्वीप पर स्थित सभी प्रक्षेपणास्त्र अड्डों को सयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख मे समाप्त करने को सहमत है। सोवियत प्रधान मन्त्री ने यह भी कहा कि रूस भविष्य मे इस प्रकार की सामग्री क्यूबा न भेजने का भी आश्वासन देता है। राष्ट्रपति कैनेडी ने ख्रुश्चेव की घोषणा का तुरन्त उत्तर दिया—'यह एक सच्चे नेता सरीखा निर्णय है।"

कैनेडी की दृढ़ता और तत्परता तथा ख्रुश्चेव के विवेक और संयम के फलस्वरूप क्यूबा संकट से उत्पन्न अणुयुद्ध की आशंका टल गई। क्यूबा के अन्तर्राष्ट्रीय संकट के बहुत व्यापक परिणाम हुए—(1) रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ गए। चीन ने आरोप लगाया कि रूस अमेरिका से डर कर पीछे हटा है, (2) क्यूबा-संकट ने भारत पर चीन के आक्रमण को प्रेरित किया। चीन ने सोचा कि अमेरिका और रूस संघर्ष में उलझेंगे, भारत को पश्चिम से सहायता नहीं मिल सकेगी और चीन भारत के बड़े भू-भाग पर कब्जा कर लेगा, (3) क्यूबा-संकट के निवारण के फलस्वरूप पश्चिम से भारत को तेजी से सहायता मिली तथा गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को बल मिला।

अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि, 1963—कैनेडी और ख्रुश्चेव के विवेक से दोनों देशों का विरोध कम हुआ और सन् 1963 में अणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध-सन्धि ने मास्को तथा वाशिंगटन के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण की सृष्टि की। कैनेडी ने निःशस्त्रीकरण के लिए भरसक प्रयास किए। इस सम्बन्ध में अमेरिका की ओर से निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए—(1) सभी राष्ट्र परीक्षणों पर प्रतिबन्ध की सन्धि पर हस्ताक्षर करें। प्रतिबन्ध लगाने की वार्ता शुरू करने के लिए आम निःशस्त्रीकरण होने की प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं है और न करनी चाहिए, (2) शस्त्रास्त्रों में प्रयुक्त होने वाले विस्फोटक पदार्थों का उत्पादन बन्द किया जाए और इस समय जिन राष्ट्रों के पास परमाणु अस्त्र नहीं हैं, उन्हें इन विस्फोटक पदार्थों को हस्तान्तरण न किया जाए, (3) उन राष्ट्रों को परमाणु-अस्त्रों के हस्तान्तरित करने से रोका जाए जिनके पास परमाणु अस्त्र नहीं हैं, (4) परमाणु-अस्त्रों को अन्तरिक्ष में नए युद्ध-क्षेत्र के बीज बोने से रोका जाए, (5) इस समय तक जो परमाणु-अस्त्र बन चुके हैं उन्हें धीरे-धीरे नष्ट कर दिया जाए और उसमें लगी सामग्री को शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रयुक्त किया जाए, (6) परमाणु-अस्त्रों को ले जाने वाले सामरिक महत्त्व के वाहनों के उत्पादन और असीमित परीक्षण पर रोक लगाई जाए व धीरे-धीरे उन्हें भी नष्ट कर दिया जाए।

काफी प्रयत्न के बाद अन्त में 25 जुलाई, 1963 को अमेरिका, ब्रिटेन और रूस के बीच एक परमाणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध-सन्धि पर हस्ताक्षर हो गए जिस पर बाद में फ्रांस और चीन को छोड़कर, विश्व के लगभग सभी राष्ट्रों ने भी हस्ताक्षर कर दिए। सन्धि से कुछ ही दिवस पूर्व 15 अप्रेल, 1963 को अमेरिका और रूस के बीच सीधा टेलीफोन और रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता (U. S. Soviet Hot Line Agreement) हुआ जिसका उद्देश्य क्यूबा जैसे संकटों के समय दोनों देशों में सीधा सम्पर्क स्थापित कर गलती या आकस्मिक घटना से छिड़ने वाले युद्ध के संकट का निवारण करना था।

लेटिन अमेरिका और कैनेडी—कैनेडी ने लेटिन अमेरिका के प्रति एक मैत्रीपूर्ण नीति अपनाई। कैनेडी से पहले 'अमेरिकी राज्यों के संगठन' द्वारा सैनिक तथा कूटनीतिक सहयोग पर अधिक बल दिया जाता था,

आर्थिक सहयोग पर अधिक बल देना शुरू किया। मार्च, 1961 में उन्होंने अमेरिकी गणराज्यों के राजनयिक प्रतिनिधियों के समक्ष 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Progress) का प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार अन्य स्वतन्त्र देशों, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और व्यक्तिगत पूँजीपतियों से मिलकर संयुक्तराज्य अमेरिका ने लेटिन अमेरिका के आर्थिक विकास एवं जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए 20 हजार मिलियन डॉलर की सहायता तथा ऋण देने की पेशकश की। अपने उद्घाटन भाषण में राष्ट्रपति कैनेडी ने पश्चिमी गोलार्द्ध के राष्ट्रों के प्रति एक विशेष प्रतिज्ञा ली कि "वे संयुक्तराज्य अमेरिका के अच्छे शब्दों को 'प्रगति के लिए मैत्री' के रूप में अच्छे रूप मे परिणत करेंगे जिससे स्वतन्त्र लोगो तथा स्वतन्त्र सरकारों को निर्धनता की जंजीरे तोड़ फेंकने मे सहायता दी जा सके।"

कैनेडी ने दक्षिणी अमेरिका के देशों के प्रति सहायता की नीति अपनाई जिसका अच्छा परिणाम निकला। दक्षिणी अमेरिका के देश अल्पकाल में ही आर्थिक और सामाजिक विकास के पथ पर अग्रसर होने लगे।

भारत-पाकिस्तान तथा कैनेडी—कैनेडी ने भारत के प्रति सहानुभूति और सदाशयता की नीति अपनाई, यद्यपि 'दबाव डालने और अमेरिका के पक्ष में लाने' की नीति का परित्याग नहीं किया गया। भारत-भूमि पर उपनिवेशवाद के अन्तिम चिह्न पुर्तगाली बस्तियों को जब भारत द्वारा मुक्त कराया गया तो अमेरिकी प्रशासन की वही उपनिवेशवादी प्रतिक्रिया हुई। न केवल सुरक्षा परिषद् मे भारत के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव लाया गया वरन् अमेरिकी प्रशासन ने भारत की आर्थिक सहायता भी रोक दी। भारत के विरुद्ध कश्मीर के प्रश्न का उपयोग करने का भी यत्न किया गया। जब विश्व बैंक के अध्यक्ष यूजीन ब्लैक द्वारा मध्यस्थता के सुझाव को भारत ने स्वीकार नहीं किया तो कैनेडी ने थोड़े दिनों के लिए भारत की आर्थिक सहायता स्थगित कर अपना रोष प्रकट किया। इस प्रकार मौलिक रूप से कैनेडी प्रशासन भी भारत को अमेरिकी विदेश नीति का दास बनाने की नीति पर चलता रहा। फिर भी कैनेडी का रुख भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपतियों की तुलना मे भारत के प्रति अधिक उदार रहा। सन् 1962 मे चीनी आक्रमण के समय बिना शर्त भारत को अविलम्ब सैनिक सहायता भेजकर कैनेडी ने भारत में अमेरिकी विरोधी भावना को बहुत कुछ शान्त कर दिया।

कैनेडी और वियतनाम—कैनेडी को दक्षिण वियतनाम के विरुद्ध वियतकांग की सफलता सहन नहीं हुई और उन्होने दक्षिण वियतनाम सरकार की सहायता करने का निश्चय किया। सन् 1961 में दक्षिण वियतनाम मे केवल 700 के लगभग अमेरिकी सैनिक थे जिन्हें सन् 1963 मे बढ़ाकर 16,500 कर दिया गया। धन और अस्त्र-शस्त्रों से भी दक्षिण वियतनाम की दियम सरकार की सहायता की गई। कैनेडी की विदेशनीति में यह नया मोड़ था और शीघ्र ही वह समय आ गया जब दक्षिण वियतनाम का युद्ध वास्तव मे अमेरिका का युद्ध बन गया।

जॉनसन युग
(1964–1968)

22 नवम्बर, 1963 को राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या के बाद तत्कालीन उपराष्ट्रपति लिंडन बी. जॉनसन ने संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का पद संभाला और बाद में सन् 1964 के निर्वाचन में विजय प्राप्त कर पुनः राष्ट्रपति पद पर आसीन हुए। राष्ट्रपति पद-ग्रहण करने के तुरन्त बाद जॉनसन ने घोषणा की कि विदेशनीति के क्षेत्र में वे दिवगत राष्ट्रपति कैनेडी की नीति का अनुसरण करेंगे और अमेरिकी विदेशनीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

जॉनसन की घोषणा प्रारम्भ में तो बहुत-कुछ यथार्थ-सी प्रतीत हुई थी, किन्तु बाद में इसकी यथार्थता क्रमशः कम होती गई। जॉनसन ने एक ओर तो शीतयुद्ध के विस्तार को रोकने का दिखावा किया और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उग्र और आक्रामक दृष्टिकोण अपनाया।

जर्मन एकीकरण और बर्लिन सम्बन्धी प्रश्न—जर्मनी और बर्लिन के प्रश्न पर युद्ध के बाद से ही अमेरिका और सोवियत सघ के बीच गम्भीर मतभेद चले आ रहे थे। जॉनसन के प्रशासन-काल में भी अमेरिका की नीति लगभग पहले जैसी ही रही। अमेरिका का कहना था कि जर्मनी के दोनों भागों और बर्लिन में स्वतन्त्र मतदान द्वारा विधान-निर्मात्री सभा की स्थापना की जाए और यह सभा एक केन्द्रीय जर्मन सरकार की स्थापना करे जो विजेता-शक्तियों के साथ सन्धि करे जिससे पोलैण्ड एवं रूस द्वारा हथियाए गए प्रदेशों का अन्तिम बँटवारा हो। इसके विपरीत सोवियत दृष्टिकोण भी पहले के समान ही था कि पश्चिमी देश पूर्वी जर्मनी को एक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य स्वीकार कर लें और फिर पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दोनो गणराज्य अपने एकीकरण के लिए परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता करें। दोनों ही पक्षों की ओर से जर्मन एकीकरण के लिए रचनात्मक कदम उठाए जाने की अपेक्षा कूटनीतिक दाव-पेचों से उलझे हुए सुझाव पेश किए जाते रहे।

साम्यवादी चीन को मान्यता का प्रश्न—जॉनसन ने भी साम्यवादी चीन को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। वह यह मानते रहे कि जिस लाल चीन ने आज तक हिंसा और युद्ध का आश्रय लिया है, संयुक्तराष्ट्रसंघ से युद्ध किया है, तिब्बत की स्वतन्त्रता का अपहरण किया है और जो अमेरिका के विनाश की बात करता है, उसे सघ में प्रवेश के योग्य एक शान्तिप्रिय राष्ट्र नहीं माना जा सकता तथा अमेरिका उसे मान्यता नहीं दे सकता।

निःशस्त्रीकरण का प्रश्न—जॉनसन के शासनकाल में आंशिक परमाणु-परीक्षण रोकने की सन्धि के पश्चात् निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई, यद्यपि इस दिशा में प्रयत्न अवश्य किए गए। परमाणु-शस्त्रों के प्रसार के निषेध के लिए काफी विचार-विमर्श के बाद एक सन्धि का प्रारूप भी तैयार किया गया जो उनके शासनकाल की एक उपलब्धि है।

यूरोपीय सुरक्षा का प्रश्न—यूरोपीय सुरक्षा की दृष्टि से भी जॉ. शासनकाल में अमेरिकी विदेशनीति को काफी हानि उठानी पड़ी। जनरल

के नेतृत्व में फ्रांस अमेरिका के प्रभाव से निकल गया जिसके फलस्वरूप विवश होकर अमेरिका को नाटो का मुख्यालय पेरिस से हटाकर बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्स स्थानान्तरित करना पड़ा।

वियतनाम का प्रश्न—जॉनसन के शासनकाल में वियतनाम-युद्ध को अमेरिका ने अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और उत्तर-वियतनाम पर अधिकाधिक उग्र एवं विनाशकारी बमवर्षा की गई। मार्च, 1968 तक जॉनसन-प्रशासन वियतनाम-समस्या पर झुकने के लिए तैयार नहीं हुआ। सन् 1968 के प्रारम्भ से ही जब उत्तर वियतनामी सेना तथा वियतनामी छापामारों के हाथों अमेरिकी सेना को अपमानजनक पराजय सहनी पड़ी और अमेरिका सहित विश्व के विभिन्न भागों में युद्ध का तीव्र विरोध होने लगा, तो 31 मार्च, 1963 को जॉनसन ने राष्ट्र के नाम अपने एक सन्देश में यह नाटकीय घोषणा की कि वियतनाम में शान्ति-वार्ता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उत्तर वियतनाम पर आंशिक रूप से बमबारी बन्द कर देने के आदेश दे दिए गए हैं और आगामी चुनावों में वह राष्ट्रपति-पद के लिए प्रत्याशी नहीं बनेंगे। यद्यपि इस घोषणा से शान्ति स्थापना के लिए हनोई की शर्तें पूरी नहीं हुई, तथापि इससे राजनीतिक वातावरण में एक निश्चित परिवर्तन आया।

लेटिन अमेरिका सम्बन्धी नीति—जॉनसन प्रशासन लेटिन अमेरिका के संदर्भ में 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Agreement) कार्यक्रम को प्रभावी रूप से *कार्यान्वित करने में असफल रहा। उसकी मौलिक नीति यही रही कि राजनीतिक* प्रतिद्वन्द्वियों की भौगोलिक दूरी का लाभ उठाकर लेटिन अमेरिका को हर तरह से अमेरिकी प्रभाव-क्षेत्र में रखा जाए। स्वर्गीय कैनेडी क्यूबा से चोट खाकर यह नहीं चाहते थे कि लेटिन अमेरिका में साम्यवाद पनपे, लेकिन उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति जॉनसन ने उदार नीति छोड़कर कठोर रवैया अपनाया। लेटिन अमेरिका के प्रति उनकी नीति 'कथनी और करनी' में भिन्न रही।

कोरिया और प्यूब्लो-काण्ड—तोपनौका की अमेरिकी कूटनीति की असफलता का पहला जीता-जागता प्रमाण जॉनसन-प्रशासन-काल में मिला। राष्ट्रपति जॉनसन ने 'अन्तर्राष्ट्रीय चौकीदारी' की नीति को न केवल जारी रखा वरन् उसका कार्यक्षेत्र और भी बढ़ा दिया तथा इस नीति ने शीघ्र ही एक ऐसा संकट पैदा कर दिया जिसमें अमेरिका को बहुत अपमानित होना पड़ा। अमेरिका के जासूसी पोत प्यूब्लो (Peublo) को 23 जनवरी, 1968 को उत्तरी कोरिया ने अधिकारियों व कर्मचारियों सहित अपनी प्रादेशिक जल-सीमा में पकड़ लिया जिसके अन्त में अमेरिका *को लिखित क्षमा-याचना करनी पड़ी। जॉनसन ने उत्तरी कोरिया को भयभीत करने* के लिए विशाल पैमाने पर सैनिक तैयारियाँ कीं, मामले को सुरक्षा परिषद् में उठाने का संकेत दिया, भीषण परिणामों की चेतावनी दी, लेकिन उत्तरी कोरिया नहीं झुका। लाज बचाने के लिए मास्को की सलाह पर अमेरिकी विदेश सचिव डीन रस्क ने कूटनीतिक भाषा में अपनी गलती स्वीकार करते हुए कहा कि "प्यूब्लो जासूसी पोत भूल से उत्तरी कोरिया के प्रादेशिक जल में भटक गया था।" इस स्वीकारोक्ति

से पूर्व अमेरिकी सरकार का यही कहना था कि प्यूब्लो सूचना संग्रह का 'सहायक पोत' था जिसे जापान सागर में समुद्र तट से 25 मील दूर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पकड़ा गया। अमेरिका की स्वीकारोक्ति के बाद उत्तरी कोरिया ने प्यूब्लो को छोड़ दिया।

पश्चिम एशिया का संकट—जून, 1967 के अरब-इजरायल संघर्ष में जॉनसन प्रशासन ने पूर्णत: अरब-विरोधी रुख अपनाया। जॉनसन-प्रशासन की यह नीति पश्चिम एशिया के संकट को अधिक तीव्र करने में सहायक हुई। संघर्ष छिड़ने पर भी अमेरिका ने इस बात से अपनी अनभिज्ञता प्रकट की कि आक्रमणकारी कौन है। सुरक्षापरिषद् में अमेरिका द्वारा यह भी प्रस्ताव रखा गया कि अरब क्षेत्रों से इजरायली सेना की वापसी सशर्त हो। अमेरिका को सोवियत रूस का यह प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ कि इजरायल अरब क्षेत्रों से वापस हटे और इजरायली आक्रमण की निन्दा की जाए।

अरब-इजरायल संघर्ष मे जॉनसन प्रशासन ने जो नीति अपनाई, वह स्वयं अमेरिकी हितों के भी अनुकूल नहीं थी। अमेरिका ने अरब राज्यों की नाराजगी मोल ले ली। अरब देशों ने अमेरिका के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए और अपने देश मे रहने वाले अमेरिकी नागरिकों को अविलम्ब वापस चले जाने के आदेश दे दिए। किन्तु इन सब विरोधो के बावजूद जॉनसन प्रशासन के अरब विरोधी रवैये मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इतना ही नहीं, 25 नवम्बर, 1968 को अमेरिका ने इजरायल को अमेरिकी हथियार बेचने का निर्णय ले लिया। जॉनसन प्रशासन का प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रोत्साहन इजरायल को प्राप्त होता रहा।

भारत-विरोधी रवैया—राष्ट्रपति जॉनसन ने भारत के प्रति उस उदार रवैये को समाप्त कर दिया जो स्वर्गीय कैनेडी ने अपनाया था। सन् 1964 मे तत्कालीन रक्षा मन्त्री चह्वाण जब अमेरिका गए तो उन्हें कहा गया कि भारत को अपनी सुरक्षा-शक्ति अवश्य ही बढ़ानी चाहिए, लेकिन आर्थिक विकास की कीमत पर कुछ नहीं किया जाना चाहिए। भारत को तो यह सीख दी गई जबकि पाकिस्तान को सिर से पैर तक शस्त्र-सज्जित किया जाता रहा। सब तर्कों का सार यह था कि अमेरिका भारत को उन्नत किस्म के हवाई जहाज नहीं देना चाहता था। राष्ट्रपति जॉनसन ने वियतनाम पर अमेरिकी बमबारी सम्बन्धी भारत की आलोचना सहन नहीं की और प्रधान मन्त्री शास्त्री की अमेरिकी यात्रा स्थगित कर दी। पाकिस्तान ने कच्छ के रन में और फिर सन् 1965 के युद्ध में भारत के विरुद्ध अमेरिकी हथियारों का प्रयोग किया, लेकिन जॉनसन प्रशासन का वरदहस्त पाकिस्तान के सिर पर रहा। सन् 1968 में भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता नगण्य हो गई। अमेरिका के भारत विरोधी रवैये से क्षुब्ध होकर ही अक्तूबर, 1968 में संयुक्तराष्ट्र अधिवेशन के लिए न्यूयॉर्क पहुँच कर भी श्रीमती गांधी वाशिंगटन गए बिना ही दिल्ली ... क्योंकि उनके शब्दों में, "वहाँ जाने में कोई सार्थकता नहीं थी।"

कुल मिला कर यह कहना चाहिए कि जॉनसन ...

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोण के कारण न सिर्फ अमेरिका को काफी हानि हुई बल्कि उसे अपनी लोकप्रियता से भी हाथ धोना पड़ा। इस तथ्य को बाद मे स्वय जॉनसन ने भी स्वीकार किया।

निक्सन युग
(1969–अगस्त, 1974)

20 जनवरी, 1969 को रिचार्ड निक्सन संयुक्तराज्य अमेरिका के 37वें राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। अपने उद्घाटन भाषण मे उन्होने विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए दुनिया के हर राष्ट्र के साथ सहयोग करने की इच्छा व्यक्त की और कहा कि जहाँ भी शान्ति अस्थायी है वहाँ वे उसे स्थायी बनाने का प्रयत्न करेगे। निक्सन का कार्यकाल अमेरिका के इतिहास मे 'क्रान्तिकारी' माना जाएगा क्योकि उन्होने *साम्यवादी जगत् के प्रति अमेरिका की नीति को एक नई दिशा प्रदान की थी तथा* और भी अनेक दृष्टियो से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अमेरिकी विदेशनीति को मुखर बनाया। सुदीर्घ-कालान्तर से चला आ रहा वियतनाम युद्ध उन्हीं के कार्यकाल मे समाप्त हुआ (यद्यपि कालान्तर मे यह पुनः भड़क उठा) और महाशक्ति रूस के साथ निःशस्त्रीकरण वार्ताओ में काफी प्रगति हुई। पूँजीवादी और साम्यवादी जगत् मे 'सह-अस्तित्व' की सम्भावनाओ को जितना अधिक बल निक्सन के कार्यकाल मे मिला उतना पहले कभी नही मिला था। कुछ दृष्टियो से निक्सन की विदेशनीति 'खतरनाक बिन्दुओ' को स्पर्श करने लगी, लेकिन इसमे सन्देह नही कि निक्सन ने अमेरिका को 'बहुमूल्य सेवाएँ' अर्पित की। दुर्भाग्यवश निक्सन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रगमच पर 'ईमानदार राजनेता' के रूप मे नही उभर सके और अपने ही देश मे *'वाटरगेट' ने उनकी प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला दिया। संयुक्तराज्य अमेरिका के* सम्पूर्ण इतिहास मे निक्सन पहले राष्ट्रपति थे जिन्हें इस तरह अपमानजनक रूप से पद-त्याग करने के लिए बाध्य होना पडा था और आने वाले राष्ट्रपति को उन्हे क्षमादान देना पड़ा था। निक्सन युग में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे संयुक्तराज्य अमेरिका की गतिविधि तथा विदेशनीति के मुख्य विचार-बिन्दु इस प्रकार है—

यूरोप की सद्भावना यात्रा

राष्ट्रपति बनने के लगभग छः सप्ताह बाद ही निक्सन ने यूरोप की सद्भावना यात्रा की जिसका उद्देश्य एक 'नए यूरोप' की खोज करना था। निक्सन यूरोपीय देशों के नेताओं के साथ वियतनाम, पश्चिमी एशिया आदि समस्याओं पर विचारो का आदान-प्रदान करना चाहते थे तथा अमेरिका के दृष्टिकोण को व्यक्तिगत रूप से *प्रस्तुत कर उनकी प्रतिक्रिया जानना चाहते थे। निक्सन की यात्रा पर यूरोप मे कोई* विशेष उत्साह नही दिखाया गया। फ्रांस मे तीव्र विरोध हुआ तो पश्चिमी जर्मनी अणु-प्रसार-निरोध-सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार नही हुआ। अपनी यूरोपीय यात्रा मे बेल्जियम को छोड़कर हर जगह राष्ट्रपति निक्सन को अमेरिका-विरोधी नारों की गूँज सुनाई दी। निक्सन समझ गए कि शीतयुद्ध मे पश्चिमी यूरोप अब संयुक्तराज्य अमेरिका को अपना पूरा समर्थन नही देगा।

उत्तरी कोरिया में अमेरिकी जासूस

'अन्तर्राष्ट्रीय चौकीदारी' का पृष्ठ पोषण निक्सन-प्रशासन ने भी किया जिसके फलस्वरूप अप्रेल, 1969 में 'प्यूब्लो जासूसी काण्ड' से भी अधिक भयंकर जासूसी घटना घटी। उत्तरी कोरिया ने अमेरिका के एक जासूसी विमान ई. सी. 121 को मार गिराया। अमेरिका का कहना था कि जहाज उत्तरी कोरिया की सीमा में प्रविष्ट नहीं हुआ, जबकि उत्तरी कोरिया का आरोप था कि विमान उसकी सीमा में प्रवेश कर जासूसी कर रहा था। कुछ समय बाद ही निक्सन-प्रशासन ने दम्भपूर्वक घोषणा की कि दक्षिणी कोरिया तथा प्रशान्त महासागर में अमेरिका के हितों की रक्षा के लिए और उत्तरी कोरिया की सैनिक तैयारियों से अवगत रहने के लिए अमेरिका इस प्रकार की जासूसी कार्यवाही भविष्य मे भी जारी रखेगा। 'चोरी और सीनाजोरी' का यह एक अच्छा उदाहरण था।

जर्मनी-समझौते की दिशा में अमेरिकी नीति

निक्सन ने जर्मनी के एकीकरण की समस्या पर यद्यपि वही रुख अपनाया जो जॉन्सन ने अपनाया था, तथापि 3 सितम्बर, 1971 को चतुर्शक्ति बर्लिन समझौता (The Four Power Berlin Settlement) सम्पन्न हो गया जिससे बर्लिन-समस्या का एक उत्साहवर्द्धक समाधान निकल आया। यह समझौता मुख्यतः इसीलिए हो सका कि सोवियत रूस बढती हुई चीनी-अमेरिकी मैत्री से आशंकित था कि कहीं इसका लाभ उठाकर चीन रूस पर अपना दबाव बढाने का प्रयत्न कर, युद्ध का संकट पैदा न कर दे। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ के बीच सम्पन्न हुए इस समझौते के अनुसार पश्चिमी तथा पूर्वी बर्लिन के बीच आवागमन की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करदी गई और यह निश्चय किया गया कि इस क्षेत्र में विवादों का शान्तिपूर्ण ढग से समाधान किया जाएगा। सोवियत संघ को पश्चिमी बर्लिन में राजनयिक प्रतिनिधित्व दिया गया जिसके अनुसार उसने वहाँ अपना महावाणिज्य दूतावास खोला। समझौते मे यह भी घोषणा की गई कि पश्चिमी बर्लिन पश्चिमी जर्मनी का मूल भाग नही है, दोनो क्षेत्रों के बीच सम्बन्धों को विकसित किया जाएगा। समझौते पर अमेरिका के तत्कालीन विदेश मन्त्री रोजर्स की टिप्पणी थी—"हम एक कदम आगे बढ़े है, इससे यूरोप में शान्ति-सुरक्षा की सम्भावना बढ़ गई है।" यदि परिस्थितियों पर विचार किया जाए तो बर्लिन-समस्या का समाधान अमेरिकी विदेश नीति की सफलता का उतना द्योतक नहीं था जितना सोवियत संघ की अपनी पश्चिमी सीमाओं को सुरक्षित करने की चिन्ता से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा का। जर्मन-समस्याओं पर महाशक्तियों के [illegible] एक शुभ परिणाम यह निकला कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में दोनों जर्मनियों (पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी) में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त हो गया और दोनों को विश्व-संस्था की सदस्यता भी प्राप्त हो गई।

निक्सन-प्रशासन और वियतनाम

राष्ट्रपति निक्सन ने आरम्भ में [illegible]

सैनिकों को काफी बड़ी संख्या में स्वदेश वापस बुला लिया; किन्तु साथ ही वियतनाम मे अमेरिकी तकनीकी सामरिक शक्ति को इस ढंग से कायम रखा कि उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम पर हावी न हो सके। पर कुछ ही समय बाद निक्सन का रुख अधिकाधिक कठोर हो गया और दिसम्बर, 1971 में अमेरिका ने उत्तरी वियतनाम पर व्यापक हवाई आक्रमण आरम्भ कर दिए। निक्सन की नीति यह थी कि एक ओर समझौता-वार्ता के लिए द्वार खुले रखे जाएँ और दूसरी ओर सैनिक शक्ति से उत्तर वियतनाम को समझौता करने के लिए विवश किया जाए। वियतनाम उत्तरी अमेरिकी हवाई हमलों के आगे नहीं झुका और 26 अप्रेल, 1972 को निक्सन ने घोषणा की—"हम पराजित नहीं होंगे और न ही हम अपने मित्रों को साम्यवादी आक्रमण के समक्ष घुटने टेकने देंगे।" उत्तरी वियतनाम की राजधानी हनोई भी अमेरिकी हवाई हमले के घेरे मे आ गई। संघर्ष और वार्ता का दौर चलता रहा और आखिर 27 जनवरी, 1973 को वियतनाम मे युद्धबन्दी-समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। पर युद्ध-विराम के उल्लघन की घटनाएँ चालू रहीं और जुलाई-अगस्त, 1974 में तो कुछ गम्भीर झड़पों में दोनों पक्षों के काफी सैनिक भी हताहत हुए। निक्सन-प्रशासन द्वारा दक्षिणी वियतनाम को प्रचुर आर्थिक सहायता दी जाती रही, लेकिन वह अपनी सेना और अर्थ-व्यवस्था मजबूत नही कर सका। वियतनाम युद्ध-विराम स्थायी नहीं रह सका और निक्सन के जाने के कुछ ही माह बाद युद्ध पुनः भड़क उठा।

भूमध्यसागर में अमेरिकी नीति

सन् 1967 के अरब-इजरायल संघर्ष के बाद से ही भूमध्यसागर मे सोवियत नौशक्ति के विस्तार के फलस्वरूप अमेरिकी नौसेना भी इस दिशा में सक्रिय हो गई और आज भूमध्यसागर इन दोनों बडी शक्तियों के नौसैनिक विस्तार की आकांक्षा का केन्द्र बना हुआ है। नाटो के सदस्य-देश भौगोलिक स्थिति के कारण बहुत हद तक इस क्षेत्र से सम्बद्ध हैं। भूमध्यसागर मे अमेरिकी हित बहुत व्यापक हैं। इजरायल के पृष्ठ-पोषण के लिए भी अमेरिका भूमध्यसागर में अपनी नौशक्ति के विकास को आवश्यक मानता है। अगस्त, 1970 में अमेरिका और स्पेन के बीच एक सैनिक समझौता हुआ जिसका उद्देश्य अमेरिकी छठे बेड़े की भूमिका को और अधिक प्रभावशाली बनाना था। भूमध्यसागर में अमेरिकी और यूरोपीय हितों मे कोई समानता नही है; लेकिन सोवियत संघ की चुनौती अमेरिका और यूरोप दोनो के लिए समान है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए भूमध्यसागर के प्रति अमेरिका अपनी नीति निर्धारित करता है। यदि उत्तरी एटलांटिक-सन्धि-सगठन किसी हद तक अपनी भूमिका निभाने के लिए तैयार है, तो भूमध्यसागर मे अमेरिकी बेड़े की सहायता की उसे हर हालत में आवश्यकता होगी।

निक्सन और पश्चिमी एशिया

पश्चिमी-एशिया-सकट पर निक्सन-प्रशासन का रवैया अरब-विरोधी और इजरायल-समर्थक रहा। जनवरी, 1972 में अमेरिका इजरायल को बहुचर्चित

फैंटम विमान पुनः देने का भी निर्णय ले लिया और यह भी ठीक उस समय जब इजरायल स्वय का समझौते के लिए तैयार कर रहा था। अमेरिका की यह कार्यवाही पश्चिमी एशिया की समस्या को और भी जटिल बनाने वाली थी। अक्तूबर, 1973 मे अरब-इजरायल-युद्ध मे इजरायल को अमेरिका का समर्थन प्राप्त हुआ तथा दोनों महाशक्तियों—अमेरिका और रूस की जबरदस्त कूटनीतिक सरगर्मी से युद्ध-विराम सम्भव हुआ। इसके बाद डॉ. कीसिंगर स्थायी समझौता कराने के लिए कूटनीतिक प्रयास करते रहे, पर अगस्त, 1974 में निक्सन के पतन के कारण वांछित परिणाम न निकल सके।

इजरायल के समान ही ईरान को भी अधिकाधिक युद्ध-सामग्री से लैस करने की नीति अपनाई गई। ईरान को अरबों रुपयों के हथियार देने के मूल में 'ईरान-पाकिस्तान धुरी' को शक्तिशाली और स्थिर बनाना था। ईरान के माध्यम से अमेरिकी शस्त्रास्त्रों का भण्डार पाकिस्तान पहुँचना एक बडा जटिल और बहूद्देशीय कूटनीतिक खेल था। वाशिंगटन-पिण्डी-पेकिंग धुरी के समान ही वाशिंगटन-तेहरान-पिण्ड धुरी का निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे विस्फोटक स्थिति पैदा करने वाली चालें थीं। न केवल विपुल सैन्य सामग्री बल्कि अमेरिकी सैनिक-असैनिक प्रशिक्षक भी मई, 1973 से ही अधिकाधिक संख्या में तेहरान पहुँचने लगे। इस दिशा में अमेरिकी विदेश नीति के लक्ष्यों पर 27 मई, 1973 के दिनमान की यह सम्पादकीय टिप्पणी उल्लेखनीय है—

"अपनी इजरायल नीति के कारण तेल-उत्पादक अरब-देशों मे दाल न गलती देख कर अमेरिका ने ईरान के रजाशाह पहलवी को इस क्षेत्र में अपने हितों का पोषक बनाने का फैसला किया है। यद्यपि अमेरिका की प्रमुख रुचि ईरान और फारस की खाड़ी के देश से खनिज तेल का प्रवाह खुला रखने में है, तथापि उसका इतना ही महत्त्वपूर्ण राजनीतिक लक्ष्य भी है—आन्तरिक मतभेदों से त्रस्त पाकिस्तान के लिए गैर-साम्यवादी स्थानीय सरक्षण की तलाश के साथ-साथ भारत और सोवियत सघ से राजनीतिक आर्थिक प्रभाव का विकल्प पैदा करना। अमेरिकी शस्त्रास्त्र पर आधारित ईरान की सामरिक शक्ति अरब-विरोधी भी होगी, क्योंकि ईरान की ईराक से परम्परागत शत्रुता चली आ रही है। इसी तरह अमेरिका ने ईरान को अपना कृपा-भाजन बनाकर इस क्षेत्र में रूस के भारी होते पलड़े को फिलहाल हलका साबित कर दिया है। इस स्थिति के दूरगामी परिणाम काफी दिलचस्प साबित होगे।"

निक्सन की युद्धपोत-राजनीति

युद्धपोत अथवा तोपनौका की अमेरिकी कूटनीति की असफलता का प्रमाण उत्तरी कोरिया मे 'प्यूब्लो-काण्ड' के सिलसिले में मिल चुका था। लेकिन इससे कोई शिक्षा न लेते हुए राष्ट्रपति निक्सन ने अमेरिकी युद्धपोत राजनय का खेल फिर खेला और भारत-पाक युद्ध के समय दिसम्बर, 1971 मे पाकिस्तान के समर्थन के लिए बगाल की खाड़ी में अपना सातवां बेड़ा भेज दिया और बहाना यह बनाया कि ढाका में स्थित 15 अमेरिकियों को जिन्होने सम्भवतः स्वेच्छा से ढाका मे रहने का निर्णय

लिया था, निकालना है। यह समझ मे न आने वाली बात थी कि इने-गिने अमेरिकियों को ढाका से निकालने के लिए शक्तिशाली नौसैनिक बेड़े की क्या आवश्यकता थी जिसमे अमेरिका का एकमात्र परमाणु शक्तिचालित विमानवाही (एण्टरप्राइज) भी शामिल था।

स्वतन्त्र बंगलादेश के दमन में पाकिस्तान को समर्थन देने और पाक-चीन गठबन्धन के साथ स्वयं को भी पूरी तरह जोड़ने के सम्बन्ध मे ही राष्ट्रपति निक्सन ने सम्भवत: भारत के विरुद्ध अपनी युद्धपोत की राजनीति खेली ताकि मनोवैज्ञानिक रूप से भारत भयभीत होकर बंगलादेश से अपनी सेनाएँ हटा ले अथवा पाकिस्तान के साथ अमेरिकी योजनाओं के अनुरूप तुरन्त युद्ध-विराम स्वीकार कर ले और इस प्रकार पाकिस्तान का विभाजन बच जाए।

निक्सन और चीन

राजनीति मे न कोई स्थायी मित्र होता है और न कोई स्थायी शत्रु। जिस साम्यवादी चीन को अमेरिका अपना शत्रु नम्बर एक मानता था उसी के प्रति मैत्री के हाथ बढाकर राष्ट्रपति निक्सन ने अमेरिकी कूटनीति को एक क्रान्तिकारी मोड दिया, इसमें सन्देह नही। अप्रेल, 1971 में अमेरिका के टेबिल टेनिस खिलाडियों का चीन पहुँचना कोई सामान्य मनोरंजन का विषय नहीं था बल्कि राजनयिक क्षेत्रो में यह एक गम्भीर बात थी। इस घटना से जिस 'पिंग-पांग राजनय' का सूत्रपात हुआ, उससे अन्त मे जाकर यह सम्भावना प्रकट हो गई कि दीर्घकालीन दो शत्रु देशो के बीच परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क और सहयोग का सिलसिला शुरू हो गया है। राष्ट्रपति निक्सन ने अत्यन्त साहसी कदम उठाकर चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने की दिशा मे पहल की और विश्व-राजनीति मे यह सम्भावना पैदा कर दी कि अमेरिका और चीन मित्र बनकर विश्व शक्ति-सन्तुलन मे एक अभूतपूर्व क्रान्ति ला देंगे।

राष्ट्रपति निक्सन ने प्रारम्भ मे ऐसे कई कदम उठाए जिससे यह आभास मिला कि अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया से किसी न किसी प्रकार छुटकारा पाना चाहता है, वियतनाम युद्ध से सम्मानपूर्ण पलायन चाहता है और इसके लिए वह चीन के सहयोग का आकांक्षी है। चीन के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति निक्सन ने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कदम उठाए—

(1) "अमेरिकी पर्यटकों को चीन निर्मित वस्तुएँ खरीदने की इजाजत दी गई।

(2) अमेरिकी व्यापारिक सस्थानो की अधीनस्थ व्यापार संस्थाओं को जनवादी चीन के साथ असामरिक वस्तुओं मे व्यापार करने की अनुमति दी गई। पहले न केवल अमेरिकी व्यापारी बल्कि विदेशों मे काम करने वाले उनके आश्रित व्यापारी भी ऐसा नहीं कर सकते थे।

(3) अमेरिका मे निर्मित या अमेरिकी संस्थाओं द्वारा लाइसेंस प्राप्त वस्तुओ विशेषकर मशीनों के पुर्जे इत्यादि चीन को भेजे जाने की अनुमति दे दी गई।

अमेरिकी तेल कम्पनियों को इस बात की अनुमति दी गई कि वे [illegible] देशों के यानों को चीन के बन्दरगाहों तक जाने के लिए तेल बेचें बशर्ते कि इन जलयानों में किसी प्रकार की युद्ध सामग्री न हो।"

एकपक्षीय सुविधाओं द्वारा निक्सन-प्रशासन ने चीन के साथ पहली किस्त में व्यापारिक सम्बन्ध और दूसरी किस्त में राजनीतिक तथा [illegible] स्थापित करने की नीति अपनायी। राष्ट्रपति निक्सन का यह कदम विवेकपूर्ण हो या [illegible] में अपना बोझ हल्का करने और साथ ही चीन के साथ [illegible] कम करने के लिए अमेरिका के लिए चीन को अपने निकट लाना आवश्यक था।

निक्सन प्रशासन ने चीन की ओर मित्रता का जो हाथ बढ़ाया उसके फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन की सदस्यता का मार्ग कुछ सुगम हो गया क्योंकि अनेक देशों पर यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा कि अब लाल चीन की राष्ट्रसंघ की सदस्यता के मार्ग में रोड़े अटकाना लाभप्रद नहीं है। अक्तूबर, 1971 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने राष्ट्रवादी चीन (ताइवान) को संयुक्त राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर उसके स्थान पर जनवादी चीन (कम्युनिस्ट चीन) को सदस्य बनाने का प्रस्ताव [illegible] 35 के विरुद्ध 76 मतों से स्वीकार कर लिया। 26 अक्तूबर, 1971 का महासभा का यह निर्णय अमेरिका की विदेश नीति [illegible] की सबसे बड़ी हार थी और चीन के अध्यक्ष माओत्से तुंग की [illegible] सबसे बड़ी जीत थी। इस घटना से राष्ट्रपति निक्सन स्तब्ध रह गए। [illegible] अमेरिका की ओर से ऐसे कोई प्रयास नहीं किए गए जिनसे राष्ट्रपति निक्सन की [illegible] यात्रा खटाई में पड़ जाए।

अमेरिका और चीन दोनों ने [illegible] के निकट आने की नीति अपनाई थी जिसका [illegible] बंगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन और भारत-पाक संघर्ष के समय मिला। [illegible] के विरुद्ध इससे बड़ी दुरभि-सन्धि और क्या हो सकती [illegible] अमेरिका और चीन ने अपने वैर-भाव भुलाते हुए [illegible] का खुला समर्थन किया—[illegible] दोनों ही देशों ने बंगलादेश [illegible] चुपचाप देखा बल्कि याह्या [illegible] की।

मार्च, 1972 में राष्ट्रपति निक्सन ने पीकिंग-यात्रा की। [illegible] करोड़ रुपया खर्च हुआ। [illegible] ने चीन की मित्रता [illegible] लेने की विशेष [illegible] अमेरिका के साथ [illegible] यह स्पष्ट संकेत है [illegible] ताइवान की [illegible] हिस्सा मान कर, [illegible]

हटाने की इच्छा व्यक्त कर, ताइवान समस्या को चीनी स्वयं सुलझाएँ कहकर, निक्सन ने चीन के प्रति अपनी भावी नीति स्पष्ट कर दी। संयुक्त विज्ञप्ति से यह प्रकट था कि हिन्द-चीन, कोरिया और वियतनाम के प्रश्न पर दोनों देशों में मतभेद बने रहे। अगर कहीं दोनों मे पूरा मतैक्य देखने को मिला तो वह था भारतीय उपमहाद्वीप के प्रश्न पर। विज्ञप्ति मे "न केवल भारत और पाकिस्तान को समान पलड़ों मे रखते हुए उनसे कश्मीर मे अपनी-अपनी सेनाओं को युद्ध-विराम रेखा तक लौट आने का आग्रह किया गया बल्कि भारत के आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप करने की भी धृष्टता की गई।" चीन ने जम्मू-कश्मीर के लोगो के आत्म-निर्णय के अधिकार का भी समर्थन किया। मतैक्य का एक मुद्दा यह भी रहा कि दोनों ही देशों ने बगलादेश के बारे मे कुछ भी नही कहा, मानो इतिहास के सबसे बड़े नरसहार का विश्व-शान्ति और मानवता से कोई सम्बन्ध नहीं था। राष्ट्रपति निक्सन की चीन-यात्रा की सफलता का समस्त मूल्यांकन तो भविष्य मे ही किया जा सकेगा। हाँ, यह अवश्य हुआ कि लगभग 23 वर्ष पुराने वैर-भाव के बावजूद दोनो देशों के बीच सवाद और सम्पर्क के सूत्र कायम हो गए।

प्रश्न उठता है कि लगभग 23 वर्षों से सम्पूर्ण विश्व मे चीन के विरुद्ध मोर्चाबन्दी करने वाले अमेरिकी प्रशासन के मन मे चीन से मैत्री की भावना क्यों प्रबल हुई और चीन भी उसकी तरफ क्यो झुका और आज भी यही प्रवृत्ति क्यों विकासमान है? कारण स्पष्ट है—

1. सोवियत सघ के बढ़ते हुए सैनिक और राजनीतिक प्रभाव ने अमेरिका को विवश किया है कि चीन को अपने पक्ष मे करे।

2. चीन और सोवियत संघ के सम्बन्ध पिछले कुछ वर्षों से काफी तनावपूर्ण हो गए है, अतः अमेरिका ने यह उचित समझा है कि रूस से निबटने के लिए चीन को मोहरा बनाया जाए। चीन भी रूस के साथ अपनी प्रतिद्वन्द्विता मे अमेरिका के सहयोग का आकांक्षी है।

3. अमेरिका दक्षिण-पूर्व एशिया से स्वय हटकर वहाँ चीन की उपस्थिति के अधिक पक्ष मे है। कम से कम चीन और अमेरिका दोनो ही इस बात पर तो सहमत हैं कि दक्षिण-पूर्व एशिया से अमेरिका के हटने के बाद रिक्त स्थान की पूर्ति सोवियत संघ द्वारा नहीं होनी चाहिए।

4 चीन को यह विश्वास हो रहा है कि पूर्वी एशिया मे अमेरिका की सैनिक उपस्थिति अस्थायी है जबकि जापान शक्तिशाली होकर वहाँ स्थायी रूप से छा जाने की कोशिश कर रहा है। इस सन्दर्भ में अमेरिका ही सन्तुलन कायम रख कर सोवियत संघ के मुकाबले पूर्वी एशिया मे चीन की सैनिक उपस्थिति की सम्भावनाओं को दृढ़ कर सकता है। चीन को अपने पक्ष मे रखकर अमेरिका दिन-प्रतिदिन शक्तिशाली बनकर भारत पर अपनी दबाव-नीति जारी रख सकता है।

5. संयुक्त राज्य अमेरिका के व्यापारिक विशेषज्ञ इस बात पर दबाव डालते रहे हैं कि 70 करोड़ की आबादी के किसी देश को अमेरिकी व्यापार के प्रभाव-क्षेत्र

को आक्रामक प्रक्षेपास्त्रों और प्रक्षेपकों का आधुनिकीकरण करने अथवा स्थानापन्न अस्त्र बनाने का अधिकार रहेगा।

5. सन्धि के परिपालन की जाँच के लिए हर राष्ट्र केवल वही विधियाँ अपनाएगा जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हों। दोनों पक्षों ने स्वीकार किया कि वे अस्त्र-शस्त्र-निर्माण को गुप्त रखने के लिए जानबूझ कर ऐसी व्यवस्थाएँ नहीं करेंगे जिनसे सन्धि की भावना को ठेस पहुँचे तथा दूसरे देश को निगरानी रखने में कठिनाई हो।"

दोनों देशों के बीच अन्तरिक्ष-अभियान-सहयोग-सन्धि भी हुई जिसमें निश्चय किया गया कि दोनों देशों के उडनदस्ते एक साथ आकाश-विहार करेंगे और देय जानकारी का आदान-प्रदान करेंगे। एक अन्य सैनिक सन्धि के अनुसार अमेरिका ने रूस की बढ़ी हुई नौसैनिक शक्ति को स्वीकार किया।

जून, 1973 में सोवियत नेता ब्रेझनेव ने अमेरिका-यात्रा की और दोनों देशों में कुछ सन्धियाँ हुईं। एक सन्धि में दोनों देशों ने संकल्प किया कि उनमें से कोई भी परमाणु-युद्ध नहीं करेगा। एक दूसरी सन्धि परमाणु-अस्त्र-शस्त्र की सीमा और परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग से सम्बन्धित थी। निःशस्त्रीकरण की दिशा में यह एक नए दौर का प्रादुर्भाव थी कि दोनों देशों ने सिद्धान्त रूप से सन् 1974 तक परमाणु-आयुधों के निर्माण पर रोक लगाने और परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के क्षेत्र में परस्पर सहयोग करने का निश्चय किया। दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध तब और घनिष्ठ हुए जब 27 जून, 1974 को राष्ट्रपति निक्सन मास्को यात्रा पर गए और 3 जुलाई, 1974 को प्रतिप्रक्षेपास्त्र प्रणालियों तथा आक्रामक-परमाणु अस्त्रों को और सीमित करने तथा भूमिगत परीक्षणों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। इस शिखर-वार्ता में ही 29 जून को दोनों देशों में एक महत्त्वपूर्ण 10 वर्षीय व्यापार समझौता हुआ जिसे सन् 1972 के व्यापार-समझौते का पूरक बनाया गया। सन् 1972 के व्यापार-समझौते पर अमेरिकी कांग्रेस ने यह निर्णय किया था कि जब तक यहूदियों के विस्थापन के बारे में सोवियत संघ उदार नहीं होता तब तक समझौते की पुष्टि नहीं की जाएगी। सोवियत प्रवक्ता ने कहा कि सोवियत-अमेरिकी व्यापार का तथाकथित यहूदी समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में निक्सन तीन मुख्य उद्देश्य लेकर सोवियत संघ की यात्रा पर निकले थे—(1) विश्व की दो महान् शक्तियों के बीच द्विपक्षीय सम्बन्ध विकसित करना, (2) विश्व के कुछ भागों में उनके बीच संघर्ष की सम्भावनाओं को कम करना, एवं (3) परमाणु-अस्त्र परिसीमन के क्षेत्र में कुछ प्रगति करना। कम से कम पहला उद्देश्य प्राप्त करने में वह बहुत कुछ सफल हुए। शेष दोनों उद्देश्यों की दिशा [illegible] त्साहवर्द्धक प्रगति हुई। शिखर-वार्ता में पश्चिमी एशिया [illegible] त के प [illegible] यूरोप में सेनाओं में कटौती, यूरोपीय सुरक्षा अ [illegible] नो [illegible] र ब्रेझनेव के बीच विचार-विमर्श हुआ, किन्तु [illegible] गो [illegible]

1 दिनमान, 7 जुलाई, 1974.

भारत, पाकिस्तान ग्रौर बंगलादेश के प्रति निक्सन का रवैया

निक्सन-प्रशासन-काल में ग्रमेरिका का भारत-विरोधी रवैया विशेष उग्र रहा ग्रौर निक्सन के समय दोनों के बीच सम्बन्ध जितने कटु रहे, पहले उतने कभी नही रहे थे। निक्सन ने भारत को न केवल ग्राथिक सहायता ही रोकी, बल्कि सैनिक साज-सामान देना भी बन्द कर दिया ग्रौर हर प्रकार भारत के प्रति ग्रमैत्री प्रदर्शित की। बगलादेश के मुक्ति-ग्रान्दोलन को कुचलने में तत्कालीन याहिया सरकार को ग्रमेरिका ग्रौर चीन का जो प्रोत्साहन मिला वह लोकतन्त्र के नाम पर कलंक था। भारत-पाक युद्ध छिडने पर ग्रौर चीन द्वारा पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र सहायता दिए जाने पर निक्सन-प्रशासन ने भारत को न केवल किसी प्रकार की सहायता ही देने मे ग्रसमर्थता प्रकट की बल्कि बंगाल की खाडी में ग्रपना शक्तिशाली नौ-वेड़ा भेज कर भारत को ग्रातकित करने की भी कोशिश की। ग्रगस्त, 1974 में राष्ट्रपति निक्सन के पद-त्याग तक ऐसी कोई उज्ज्वल ग्राशा नही बन सकी कि निकट भविष्य मे भारत-ग्रमेरिका सम्बन्धो में ठोस सुधार हो सकेंगे।

राष्ट्रपति फोर्ड ग्रौर ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ग्रमेरिका (ग्रगस्त 1974–जनवरी 1977)

'महाबली' निक्सन को वाटरगेट काण्ड ले डूबा ग्रौर 9 ग्रगस्त, 1974 को उनके ग्रौपचारिक पद-त्याग के बाद उसी दिन उपराष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने ग्रमेरिका के 38 वें राष्ट्रपति के रूप मे शपथ ली। नए राष्ट्रपति ने कहा कि वे इस संकल्प के साथ राष्ट्रपति-पद ग्रहण कर रहे हैं कि ग्रमेरिका ग्रौर विश्व के लिए जो कल्याण-कारी होगा वही करेगे। साथ ही उन्होंने कहा कि शान्ति के लिए निक्सन-प्रशासन ने ग्रब तक जो कुछ किया वे भी उसी मार्ग का ग्रनुसरण करेगे। ग्रमेरिका के इतिहास में 61 वर्षीय फोर्ड दूसरे राष्ट्रपति थे जो इस पद पर निर्वाचित न हो सके। ग्रगस्त, 1974 मे राष्ट्रपति पद सम्भालने के बाद से जनवरी, 1977 में जिम्मी कार्टर के पदारूढ होने तक उनके राष्ट्रपतित्व काल में ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंग-मच पर ग्रमेरिका की भूमिका को ग्रग्रांकित बिन्दुग्रों में रखा जा सकता है —

पश्चिमी एशिया

ग्ररब-इजराइल समस्या के समाधान के लिए ग्रमेरिका के विदेश मन्त्री डॉ. कीसिगर ने ग्रपने कूटनीतिज्ञ प्रयास जारी रखे। मार्च, 1975 तक ये प्रयत्न निराशाजनक रूप से ग्रसफल रहे ग्रौर फोर्ड-प्रशासन ने स्वीकार किया कि इजराइल ग्रौर मिस्र के मतभेद ऐसी स्थिति में पहुंच गए थे कि उन्हे दूर करना सम्भव नही था।[1] फिर भी ग्रमेरिका के शान्ति-प्रयास जारी रहे ग्रौर ग्रन्ततः 4 सितम्बर, 1975 को डॉ. कीसिगर मिस्र ग्रौर इजरायल के बीच एक ग्रन्तरिम समझौता कराने मे सफल हुग्रा। समझौते की मुख्य बाते ग्रग्रलिखित थी[2]—

1 हिन्दुस्तान, 24 मार्च, 1975, सम्पादकीय पृष्ठ 4.
2 दनमान, 7 सितम्बर, 1975, पृष्ठ 33.

को आक्रामक प्रक्षेपास्त्रों और प्रक्षेपकों का आधुनिकीकरण करने अथवा स्थानापन्न अस्त्र बनाने का अधिकार रहेगा।

5. सन्धि के परिपालन की जाँच के लिए हर राष्ट्र केवल वही विधियाँ अपनाएगा जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हों। दोनों पक्षों ने स्वीकार किया कि वे अस्त्र-शस्त्र-निर्माण को गुप्त रखने के लिए जानबूझ कर ऐसी व्यवस्थाएँ नही करेंगे जिनसे सन्धि की भावना को ठेस पहुँचे तथा दूसरे देश को निगरानी रखने में कठिनाई हो।"

दोनों देशों के बीच अन्तरिक्ष-अभियान-सहयोग-सन्धि भी हुई जिसमें निश्चय किया गया कि दोनो देशो के उडनदस्ते एक साथ आकाश-विहार करेंगे और देय जानकारी का आदान-प्रदान करेंगे। एक अन्य सैनिक सन्धि के अनुसार अमेरिका ने रूस की बढी हुई नौसैनिक शक्ति को स्वीकार किया।

जून, 1973 मे सोवियत नेता ब्रेझनेव ने अमेरिका-यात्रा की और दोनों देशों में कुछ सन्धियाँ हुईं। एक सन्धि मे दोनो देशों ने सकल्प किया कि उनमें से कोई भी परमाणु-युद्ध नही करेगा। एक दूसरी सन्धि परमाणु-अस्त्र-शस्त्र की सीमा और परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग से सम्बन्धित थी। निःशस्त्रीकरण की दिशा मे यह एक नए दौर का प्रादुर्भाव थी कि दोनों देशो ने सिद्धान्त रूप से सन् 1974 तक परमाणु-आयुधो के निर्माण पर रोक लगाने और परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के क्षेत्र में परस्पर सहयोग करने का निश्चय किया। दोनो देशों के पारस्परिक सम्बन्ध तब और घनिष्ठ हुए जब 27 जून, 1974 को राष्ट्रपति निक्सन मास्को यात्रा पर गए और 3 जुलाई, 1974 को प्रतिप्रक्षेपास्त्र प्रणालियों तथा आक्रामक-परमाणु अस्त्रों को और सीमित करने तथा भूमिगत परीक्षणों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी समझौतो पर हस्ताक्षर किए गए। इस शिखर-वार्ता मे ही 29 जून को दोनों देशों मे एक महत्त्वपूर्ण 10 वर्षीय व्यापार समझौता हुआ जिसे सन् 1972 के व्यापार-समझौते का पूरक बनाया गया। सन् 1972 के व्यापार-समझौते पर अमेरिकी कांग्रेस ने यह निर्णय किया था कि जब तक यहूदियों के विस्थापन के बारे में सोवियत संघ उदार नही होता तब तक समझौते की पुष्टि नही की जाएगी। सोवियत प्रवक्ता ने कहा कि सोवियत-अमेरिकी व्यापार का तथाकथित यहूदी समस्या से कोई सम्बन्ध नही है। वास्तव मे निक्सन तीन मुख्य उद्देश्य लेकर सोवियत संघ की यात्रा पर निकले थे—(1) विश्व की दो महान् शक्तियों के बीच द्विपक्षीय सम्बन्ध विकसित करना, (2) विश्व के कुछ भागो मे उनके बीच संघर्ष की सम्भावनाओ को कम करना, एवं (3) परमाणु-अस्त्र परिसीमन के क्षेत्र मे कुछ प्रगति करना। कम से कम पहला उद्देश्य प्राप्त करने में वह बहुत कुछ सफल हुए। शेष दोनों उद्देश्यो की दिशा मे भी उत्साहवर्द्धक प्रगति हुई। शिखर-वार्ता में पश्चिमी एशिया, भारत के परमाणु परीक्षण, यूरोप मे सेनाओ मे कटौती, यूरोपीय सुरक्षा आदि महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर भी निक्सन और ब्रेझनेव के बीच विचार-विमर्श हुआ, किन्तु इसके निष्कर्षों को गोपनीय रखा गया।[1]

1 दिनमान, 7 जुलाई, 1974.

भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश के प्रति निक्सन का रवैया

निक्सन-प्रशासन-काल मे अमेरिका का भारत-विरोधी रवैया विशेष उग्र रहा और निक्सन के समय दोनों के बीच सम्बन्ध जितने कटु रहे, पहले उतने कभी नही रहे थे। निक्सन ने भारत को न केवल आर्थिक सहायता ही रोकी, बल्कि सैनिक साज-सामान देना भी बन्द कर दिया और हर प्रकार भारत के प्रति अमैत्री प्रदर्शित की। बगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन को कुचलने में तत्कालीन याह्यिा सरकार को अमेरिका और चीन का जो प्रोत्साहन मिला वह लोकतन्त्र के नाम पर कलंक था। भारत-पाक युद्ध छिड़ने पर और चीन द्वारा पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र सहायता दिए जाने पर निक्सन-प्रशासन ने भारत को न केवल किसी प्रकार की सहायता ही देने में असमर्थता प्रकट की बल्कि बगाल की खाड़ी में अपना शक्तिशाली नौ-बेडा भेज कर भारत को आतंकित करने की भी कोशिश की। अगस्त, 1974 में राष्ट्रपति निक्सन के पद-त्याग तक ऐसी कोई उज्ज्वल आशा नही बन सकी कि निकट भविष्य में भारत-अमेरिका सम्बन्धों में ठोस सुधार हो सकेंगे।

राष्ट्रपति फोर्ड और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमेरिका (अगस्त 1974–जनवरी 1977)

'महाबली' निक्सन को वाटरगेट काण्ड ले डूबा और 9 अगस्त, 1974 को उनके औपचारिक पद-त्याग के बाद उसी दिन उपराष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने अमेरिका के 38 वे राष्ट्रपति के रूप मे शपथ ली। नए राष्ट्रपति ने कहा कि वे इस संकल्प के साथ राष्ट्रपति-पद ग्रहण कर रहे है कि अमेरिका और विश्व के लिए जो कल्याण-कारी होगा वही करेंगे। साथ ही उन्होंने कहा कि शान्ति के लिए निक्सन-प्रशासन ने अब तक जो कुछ किया वे भी उसी मार्ग का अनुसरण करेंगे। अमेरिका के इतिहास मे 61 वर्षीय फोर्ड दूसरे राष्ट्रपति थे जो इस पद पर निर्वाचित न हो सके। अगस्त, 1974 मे राष्ट्रपति पद सम्भालने के बाद से जनवरी, 1977 में जिम्मी कार्टर के पदारूढ होने तक उनके राष्ट्रपतित्व काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रग-मंच पर अमेरिका की भूमिका को अग्रांकित बिन्दुओं में रखा जा सकता है —

पश्चिमी एशिया

अरब-इजराइल समस्या के समाधान के लिए अमेरिका के विदेश मन्त्री डॉ. कीसिगर ने अपने कूटनीतिज्ञ प्रयास जारी रखे। मार्च, 1975 तक ये प्रयत्न निराशाजनक रूप से असफल रहे और फोर्ड-प्रशासन ने स्वीकार किया कि इजराइल और मिस्र के मतभेद ऐसी स्थिति मे पहुँच गए थे कि उन्हे दूर करना सम्भव नही था।[1] फिर भी अमेरिका के शान्ति-प्रयास जारी रहे और अन्ततः 4 सितम्बर, 1975 को डॉ. कीसिगर मिस्र और इजरायल के बीच एक अन्तरिम समझौता कराने में सफल हुआ। समझौते की मुख्य बातें अग्रलिखित थी[2]—

1 हिन्दुस्तान, 24 मार्च, 1975, सम्पादकीय पृष्ठ 4.
2 दनमान, 7 सितम्बर, 1975, पृष्ठ 33.

1. सिनाई पर्वतमाला के दर्रों और उनके आस-पास 8 निगरानी चौकियाँ होंगी—एक चौकी पर इजरायल का पूर्ण नियन्त्रण होगा और एक पर मिस्र का। शेष 6 चौकियों पर अमेरिकी तकनीकी कर्मचारी तैनात रहेंगे। ये निगरानी चौकियाँ किसी भी पक्ष की ओर से किए जाने वाले आक्रमण की पूर्व सूचना देने का काम करेंगी।

2. अबूरुदी तेल क्षेत्र जिससे इजरायल को अपनी आवश्यकता का 55 प्रतिशत तेल प्राप्त होता था मिस्र के अधिकार मे आ जाएगा। इजरायल अब पूरी तरह तेल के आयात पर निर्भर रहेगा लेकिन इस आयात में कोई व्यवधान पड़ने पर अमेरिका उसकी जरूरत पूरी करेगा। मिस्र ने वचन दिया कि वह इजरायल को जाने वाले टैंकरों को रोकने के लिए लालसागर की नाकेबन्दी नहीं करेगा।

3. इजरायल का माल किसी भी तीसरे देश के जहाज में स्वेज नहर में होकर निःशुल्क भेजा जा सकेगा। इजरायल के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सुविधा थी जिसे पिछले 27 वर्षों मे अरबो से चार युद्ध करने के उपरान्त भी वह अभी तक प्राप्त नही कर पाया था।

4. नए गलियारे (बफर क्षेत्र) में मिस्र, अमेरिका, इजरायल और संयुक्त राष्ट्र की शान्तिरक्षक सेनाओं के बीच सहयोग की व्यवस्था होगी।

उपर्युक्त अन्तरिक्ष समझौते पर मिस्र और इजरायल ने संयुक्त राष्ट्र के प्रतिनिधि की साक्षी मे हस्ताक्षर किए। सोवियत सघ ने समझौते के प्रति अपना विरोध व्यक्त करते हुए हस्ताक्षर-समारोह का बहिष्कार किया। सोवियत सघ के विरोध का मुख्य मुद्दा सिनाय मे नियन्त्रण चौकियों पर अमेरिकी तकनीकी विशेषज्ञो की नियुक्ति का प्रावधान था। रूस की दृष्टि मे यह व्यवस्था 'एक नया जटिल तत्त्व' थी। राजनीतिक क्षेत्रो में सिनाय समझौते को अमेरिकी कूटनीति की विजय माना गया। 10 अक्तूबर, 1975 को मिस्र और इजरायल के अधिकारियो ने 4 सितम्बर के समझौते को विधिवत् कार्यान्वित करने और पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापना की दिशा में एक पूर्ण समझौता किया। तदनुसार यह निश्चय किया गया कि अमेरिकी कांग्रेस द्वारा इस समझौते के अनुमोदन के बाद "सिनाय से जो मिस्री और इजरायली सैनिक हटेंगे उनकी जगह अमेरिकी सैनिकों की सात चौकियाँ स्थापित की जाएँगी। ये चौकियाँ, जिन्हें पूर्व सूचना-केन्द्र का नाम दिया गया है, तनाव की दिशा मे एक दूसरे देश को सावधान करेंगी।" यह पूर्ण समझौता हो जाने से इजरायल ने रास सूडार नामक तेलकूपो को मिस्री हितों को देखने वाले अमेरिकी प्रतिनिधियों को हस्तान्तरित कर दिया। इस समझौते के फलस्वरूप वह मतभेद भी बहुत कुछ समाप्त हो गया जो अमेरिकी और अरब पक्षों के बीच पैदा हो गया था। 2 नवम्बर, 1975 को अमेरिका द्वारा मिस्र को नाभिकीय भट्टी देने का निश्चय किया गया। 30 नवम्बर को मास्को में संयुक्त विज्ञप्ति में यह निश्चय प्रकट किया कि पश्चिमी एशिया मे स्थायी शान्ति के लिए इजरायली सेना को सभी अधिकृत क्षेत्रो को खाली करना होगा। 5 मार्च, 1976 को अमेरिका ने इजरायल से आग्रह किया कि उसे पूरा

सिनाय क्षेत्र खाली कर देने पर सहमत हो जाना चाहिए। अमेरिका व मिस्र के सुधरते हुए सम्बन्धों में एक नई कड़ी तब और जुड़ गई जब 15 मार्च, 1976 को मिस्र के राष्ट्रपति सादात द्वारा सोवियत संघ से मैत्री-सन्धि रद्द कर दी गई। 27 मई, 1976 को सीरिया और इजरायल गोलन पहाड़ियों पर संयुक्त राष्ट्र सेनाएँ 6 महीने और रखने पर सहमत हो गए। 30 मई को मिस्र का अमेरिका से 10 करोड़ 20 लाख डॉलर की सहायता का समझौता हुआ। फोर्ड-प्रशासन में अमेरिका और मिस्र के सम्बन्धों में सुधार जारी रहा।

वियतनाम

वियतनाम में फोर्ड प्रशासन निक्सन के पद-चिह्नों पर चलता रहा। सन् 1975 का नया वर्ष वियतनामी जनता के लिए अशुभ सन्देश लेकर आया और युद्ध पुनः तेजी से भडक उठा। अप्रेल के आरम्भ मे यह लगभग स्पष्ट हो गया कि दक्षिण वियतनाम राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के हाथों में चला जाएगा। 11 अप्रेल, 1975 को फोर्ड ने अपने एक विशेष सन्देश मे कांग्रेस से दक्षिण वियतनाम के लिए एक अरब डॉलर की सहायता का प्रस्ताव रखा, पर कांग्रेस ने राष्ट्रपति की इस माँग को अव्यावहारिक ठहराया।[1] आखिर 30 अप्रेल, 1975 को अमेरिका समर्थित दक्षिण वियतनामी सरकार ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और इस प्रकार कई पीढियों से चला आ रहा वियतनाम का ऐतिहासिक युद्ध समाप्त हो गया। जन-धन के भारी बलिदान के बावजूद अमेरिका को वियतनाम से हटना पड़ा। यह महायुद्धोत्तर इतिहास में अमेरिकी विदेश नीति की सबसे गहरी और लज्जाजनक पराजय थी। वियतनाम के प्रति अमेरिका का आक्रोश मिटा नही और अगस्त, 1975 में उसने सुरक्षा परिषद् मे निषेधाधिकार का प्रयोग कर उत्तर वियतनाम तथा दक्षिण वियतनाम के सयुक्त राष्ट्र मे प्रवेश मे बाधा उपस्थित की।[2] अमेरिका का निषेधाधिकार प्रयुक्त करना अप्रत्याशित नही था। अमेरिकी प्रतिनिधि ने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया था कि यदि सुरक्षा परिषद् दक्षिणी कोरिया को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने के लिए सहमत होगी तभी अमेरिका दोनो वियतनामों की सदस्यता का समर्थन करेगा। लेकिन सुरक्षा परिषद् ने उससे पहले ही दक्षिणी कोरिया के आवेदन-पत्र पर विचार करने से इन्कार कर दिया था। अमेरिका ने अपनी कार्यवाही के समर्थन में यह तर्क दिया था कि यह चुनीदा आधार पर सार्वभौमिकता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। अमेरिकी राजदूत डेनियल पैट्रिक मोनिहन ने अपने नपेतुले भाषण मे कहा, "हमे उस चुनीदा सार्वभौमिकता से कुछ लेना-देना नही है जो व्यवहार मे केवल उन्हीं नए सदस्यों को प्रवेश दिलाती है जो अधिनायकवादी राज्यो को स्वीकार्य होते है।" उन्होने कहा कि दक्षिणी कोरिया को यह अधिकार भी नही दिया गया कि उनके मामले पर विचार हो। 1 नवम्बर, 1976 को सुरक्षा परिष

1 दिनमान, 20 अप्रेल, 1975, पृष्ठ 30.
2 दिनमान, 24 अगस्त, 1975, पृष्ठ 32.

में यह प्रश्न पुनः प्रस्तुत हुआ कि वियतनाम गणतन्त्र को संयुक्त राष्ट्रसंघ का 146वाँ सदस्य बना लिया जाए। सोवियत संघ, चीन, ब्रिटेन और फ्रांस ने प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया, किन्तु अमेरिका ने यह स्पष्ट कर दिया कि कि वर्तमान परिस्थितियों में वह वियतनाम को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश के लिए समर्थन देने को तैयार नहीं है। हिन्द-चीन पर साम्यवादियों का पूर्ण अधिकार हो जाने के बाद फोर्ड-प्रशासन अमेरिका की एक विशेष उपलब्धि यह मानी जाएगी कि वह हनोई और वाशिंगटन के बीच किसी न किसी स्तर पर सम्बन्ध बनाए रखने में सफल रहा।

पाकिस्तान को हथियार

भारत के प्रति फोर्ड-प्रशासन का रवैया निक्सन-प्रशासन से भी एक कदम आगे बढ़ा—विशेष रूप से तब जब फरवरी, 1975 में अमेरिकी सरकार ने पाकिस्तान को हथियार देने पर 10 वर्ष से लगी पाबन्दी को हटाने के अपने निर्णय की सूचना औपचारिक रूप से भारत सरकार को दे दी। अमेरिका सरकार ने अपने निर्णय को इस आधार पर उचित ठहराने की कोशिश की कि भारत ने गत वर्ष अणु-विस्फोट किया था और अमेरिका की इस क्षेत्र में शक्ति-सन्तुलन बनाए रखने में गहरी रुचि है। राष्ट्रपति फोर्ड इस तथ्य को भुला बैठे कि मुख्यतः अमेरिकी हथियारों ने ही पाकिस्तान को भारत से बार-बार युद्ध करने के लिए प्रेरित किया है।

अमेरिका के इस कदम की भारत में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और भारतीय विदेश मन्त्री ने अपनी प्रस्तावित अमेरिका यात्रा भी स्थगित कर दी। 13 अप्रेल, 1975 को रक्षा मन्त्री स्वर्णसिंह ने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी कि पाकिस्तान 'अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र' का शिकार हो गया है तथा उसे भारी मात्रा में दिए जा रहे अमेरिकी हथियार स्वयं उसी के लिए खतरा है।[1]

इन व्यवधानों के बावजूद भारत सरकार का यह प्रयत्न रहा कि अमेरिका के साथ सम्बन्ध सुधारे जाएँ। अतः एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए भारत-अमेरिका के बीच वार्ता और आदान-प्रदान कार्यक्रम सन् 1975 में जारी रहा। आम तौर पर यह अनुभव किया गया कि समस्याओं के बावजूद दोनों देशों के बीच राष्ट्रीय हित के स्तर पर कोई विवाद नहीं है। अक्तूबर, 1975 में भारत के विदेश मन्त्री ने अमेरिका की यात्रा की। भारत सरकार ने अमेरिका को स्पष्ट किया कि पाकिस्तान को उन्नत अमेरिकी हथियार मिलने से शिमला समझौते के अन्तर्गत सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया पर बुरा असर पड़ सकता है और इस क्षेत्र में हथियारों की होड़ बढ़ सकती है। सितम्बर, 1976 में श्री केवल सिंह अमेरिका में भारत के नए राजदूत नियुक्त हुए। अक्तूबर, 1976 अमेरिका में राष्ट्रपतीय चुनावों की सरगर्मी का महीना रहा और 3 नवम्बर, 1976 को डेमोक्रेटिक उम्मीदवार जिम्मी कार्टर रिपब्लिकन राष्ट्रपति फोर्ड को हराकर अमेरिका के 39वें राष्ट्रपति चुने गए। भारतीय राजदूत केवलसिंह ने भारत सरकार के

1 हिन्दुस्तान, 13 अप्रेल, 1975, पृष्ठ 1.

संस्थानों तथा अमेरिका स्थित प्रतिष्ठानों को सलाह दी कि वे नए प्रशासन की स्थापना के बाद अमेरिका से व्यापारिक तथा अन्य सम्बन्ध मजबूत बनाने का प्रयास करें। उन्होंने कहा कि कुछ मामलों में नया प्रशासन पुराने प्रशासन से भिन्न होगा और हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि नए प्रशासन के साथ हम अपने सम्बन्ध अधिक मजबूत बनाएँ। श्री केवलसिंह ने कहा कि अमेरिका में, जहाँ कुछ दिनों पूर्व भारत विरोधी रुख बना हुआ था, आज स्थिति बदल रही है। अब भारत की प्रगति की वहाँ भी सराहना की जा रही है। आर्थिक क्षेत्र में हुई प्रगति को सामान्यतया स्वीकार किया गया है।

कम्बोडिया

अमेरिका वियतनाम में भी पिटा और कम्बोडिया मे भी। 18 अप्रेल, *1975 को समाचार प्रकाशित हुए—"कम्बोडिया युद्ध का अन्त*—तामेर सेना का नोमपेन्ह पर कब्जा और सरकार का समर्थन, कार्यवाहक राष्ट्राध्यक्ष व प्रधान मन्त्री भागे।" वस्तुत: कम्बोडिया में भी अमेरिका को किसी प्रकार अपनी इज्जत बचाने की ही चिन्ता रही और वह पराजित सरकार को गुमराह करने वाले आश्वासन देता रहा। अमेरिका की नीति जो भी रही हो, यह प्रसन्नता की बात थी कि पिछले पाँच वर्ष से 70 लाख कम्बोडिया नागरिकों के जीवन को अस्त-व्यस्त कर देने वाला तथा अगणित लोगों की बलि लेने वाला युद्ध समाप्त हो गया।

अमेरिका-रूस : सुधरते सम्बन्धों का मूल्यांकन

सन् 1972 (22 से 30 मई) में रिचर्ड निक्सन ने सोवियत संघ की पहली यात्रा कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नई दिशा प्रदान की थी। उनके *उत्तराधिकारी राष्ट्रपति फोर्ड ने भी इस यात्रा-कूटनीति को जारी रखा और रूस के* साथ सम्बन्ध सुधार के प्रयत्न चालू रहे। 23-24 नवम्बर, 1974 को फोर्ड की सोवियत नेता ब्रेझनेव से पहली भेंट व्लाडीवोस्टक में हुई। इस शिखर-वार्ता के दौरान सामरिक अस्त्र-परिसीमन के लिए समझौते के एक दूसरे चरण की रूपरेखा तैयार की गई और डॉ. कीसिंगर ने कहा कि जून, 1975 में ब्रेझनेव की अमेरिका-यात्रा के समय प्रस्तावित समझौते पर हस्ताक्षर हो जाएँगे। नया समझौता सन् 1977 में प्रथम समझौते की (जो 1972 में हुआ था) अवधि समाप्त होने पर लागू *होगा और सन् 1985 तक* क्रियान्वित रहेगा। राष्ट्रपति फोर्ड ने कहा—"हमने अस्त्र-दौड़ पर रोक लगाई है जिसके कारण सोवियत संघ को अपने नियोजित कार्यक्रम में कटौती करनी होगी और यह कटौती अमेरिकी कार्यक्रम से कुछ अधिक ही होगी।"

सोवियत संघ और अमेरिका के अधिकारियों में विभिन्न स्तरों पर बातचीत का सिलसिला चलता रहा—कभी मास्को से और कभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन-स्थलों पर। जुलाई-अगस्त, 1975 मे हेलसिंकी सम्मेलन को सफल बनाने मे रूस और अमेरिका ने एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझने की कोशिश की। जुलाई, 1975 मे

अन्तरिक्ष-यात्रियों का मिलन वास्तव में रूस और अमेरिका के मध्य बढ़ती हुई सद्भावना का परिचायक था। इस सफल संयुक्त परियोजना से परस्पर मैत्री की भावना दृढ़ हुई और यह आशा की जाने लगी कि दो महाशक्तियों के बढ़ते हुए सहयोग से विश्व-राजनीति में व्याप्त तनाव कम होगा। 9 अप्रेल, 1976 को अमेरिका और सोवियत संघ आणविक परीक्षणों का निरीक्षण करने पर सहमत हो गए और 13 मई, 1976 को शान्ति के लिए परमाणु विस्फोट के आकार आदि पर दोनों पक्षों में एक समझौता हुआ। दोनों महाशक्तियों के आर्थिक सम्बन्ध भी उत्तरोत्तर सुधरते गए। सन् 1976 के मध्य तक उनके बीच व्यापार में चार सौ प्रतिशत से भी अधिक की वृद्धि आँकी गई थी।

अमेरिका-चीन सम्बन्ध : बदलते पहलू

निक्सन ने चीन की ओर अमेरिकी दोस्ती का हाथ बढ़ाया था और फोर्ड ने भी अगस्त, 1974 में सत्तारूढ़ होते ही अगले माह नवम्बर, 1974 में विदेश मन्त्री डॉ. कीसिंगर को पुन. चीन यात्रा पर भेजा था। यह उनकी सातवीं पीकिंग यात्रा थी। लेकिन इस बार ऐसा प्रतीत हुआ कि अमेरिका और चीन के सम्बन्ध ठण्डे हो चले हैं। वास्तव में चीन को यह अच्छा नहीं लगा कि अमेरिका रूस के अधिक निकट आए। फोर्ड-ब्रेझनेव वार्ता के लिए ब्लाडीवोस्टक के चुनाव से चीन की भावनाओं को विशेष ठेस पहुँची क्योंकि यह स्थान कभी चीन का भाग था। चीन ने सोचा कि उसे चिढाने के लिए ब्लाडीवोस्टक को वार्ता-स्थल चुना गया है। चीन के आक्रोश का एक कारण यह भी था कि अमेरिका ने ताइवान के प्रश्न पर शघाई-समझौते पर अमल नहीं किया जो साल भर पहले डॉ. कीसिंगर की छठी यात्रा के समय दोनों पक्षों के बीच हुआ था। चीन के नए विदेश मन्त्री चिआओ कुआनहुआ ने भूतपूर्व राष्ट्रपति निक्सन की सराहना की और कहा कि उन्होंने चीन-अमेरिका सम्बन्ध सुधारने में भारी योग दिया था। इस सराहना के माध्यम से चीनी नेताओं ने राष्ट्रपति फोर्ड को जता दिया कि अब अमेरिका की ओर से चीन को कुछ अनिश्चितता महसूस होने लगी है। चार दिन के प्रवास के बाद कीसिंगर खाली हाथ लौट आए।

डॉ. कीसिंगर की आठवीं चीन यात्रा (19–23 अक्तूबर, 1975) के दौरान भी चीन के नेताओं ने बड़े ठण्डे दिल से अमेरिकी विदेश मन्त्री का स्वागत किया। राजनीतिक क्षेत्रों में यहाँ तक आशंका व्यक्त की गई कि सम्भवतः राष्ट्रपति फोर्ड की चीन यात्रा खटाई में पड़ जाएगी। अध्यक्ष माओ ने भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन की प्रशंसा की और उनसे पुनः मिलने की इच्छा प्रकट करके यह संकेत दिया कि चीन को फोर्ड आचार-विचार पसन्द नहीं है। माओ और अन्य चीनी नेता तो यह चाहते थे कि निक्सन ने चीन-अमेरिका सम्बन्ध की प्रक्रिया जहाँ पर छोड़ी थी फोर्ड वहीं से उसे आगे बढ़ाएँ। लेकिन फोर्ड के सामने नई परिस्थितियाँ थीं और वे निक्सन का अन्धानुकरण नहीं कर सकते थे। डॉ. कीसिंगर के फीके स्वागत के बावजूद राष्ट्रपति फोर्ड ने दिसम्बर, 1975 में चीन की यात्रा की। वह 1 से 4

दिसम्बर तक राजधानी पीकिंग में रहकर इण्डोनेशिया और फिलिप्पीन होते हुए स्वदेश लौट गए। फोर्ड की चीन-यात्रा फीकी रही। यात्रा की समाप्ति पर कोई संयुक्त वक्तव्य प्रसारित नहीं किया गया, क्योंकि दोनों ही पक्षों ने इसकी जरूरत नहीं समझी। चीनी नेताओं ने इस विवेकशील गोपनीयता को 'एक नई शैली' की संज्ञा दी। अमेरिकी राष्ट्रपति के फीके स्वागत के बावजूद चीन-अमेरिका में वार्ता टूटने की नौबत नहीं आई। फरवरी, 1976 मे भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने चीन की यात्रा की जहाँ उन्हें राज्याध्यक्ष जैसा सम्मान दिया गया। रिचर्ड निक्सन के इस सम्मान द्वारा चीनी नेताओं ने अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड को यह सकेत दे दिया कि 'चीन को फोर्ड नहीं निक्सन चाहिए'। 15 अगस्त, 1976 को अमेरिका ने ताइवान की अपेक्षा चीन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय व्यक्त किया।

अमेरिका और जापान

राष्ट्रपति पद की शपथ लेने के बाद 18 नवम्बर, 1974 को फोर्ड की पहली विदेश-यात्रा जापान की राजधानी टोकियो की थी। फोर्ड के पहुँचने से पहले ही टोकियो की सड़को पर फोर्ड विरोधी नारे लगने लगे और वामपंथी युवकों की पुलिस से मुठभेड़ हुई। जब निक्सन आए थे तो भी ऐसा ही हुआ था। जापान में वस्तुतः अमेरिका-विरोधी भावना बहुत उग्र हैं। फोर्ड का स्वागत कड़ी सुरक्षा के अन्तर्गत किया गया। उनकी अगवानी के लिए हवाई अड्डे पर न तो सम्राट् ही आए और न प्रधान मन्त्री ही। जापान को इस बात से गहरा आक्रोश है कि एक तो ओकीनावा द्वीप बहुत विलम्ब से और भारी हील-हुज्जत के बाद लौटाया गया और दूसरे चीन की ओर अपनी दोस्ती का हाथ बढ़ाने से पहले अमेरिका ने जापान को विश्वास मे नहीं लिया। जापानी प्रधान मन्त्री तनाका और फोर्ड के बीच वार्ता में जापान ने अमेरिका से अनाज की माँग की जो अमेरिका ने स्वीकार कर ली। कीसिंगर ने, जो फोर्ड के साथ थे, अपनी पाँच सूत्री योजना प्रस्तुत की जिसमे सभी औद्योगिक राष्ट्रो से अपील की गई थी कि वे मिलकर प्रतिदिन 30 लाख बैरल तेल की खपत कम करें ताकि तेल-सकट को पार किया जा सके। अमेरिका-जापान की सन् 1960 की सुरक्षा-सन्धि को दोनो देशो के बीच मैत्री-सम्बन्धो के लिए पुनः महत्त्वपूर्ण बताया गया।

टोकियो की यात्रा के बाद राष्ट्रपति फोर्ड दक्षिणी कोरिया की यात्रा पर गए और फिर वहाँ ब्लाडीवोस्टक मे रूसी नेताओ से मिले।

लेटिन अमेरिका : क्यूबा के प्रति नीति परिवर्तन

कोस्टारिका की राजधानी सान जोस में 29 जुलाई, 1975 को काफी रात गए अमेरिकी राज्यों के 21 सदस्यीय सगठन मे यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि पिछले 11 सालो से क्यूबा के विरुद्ध जो सामूहिक राजनयिक और व्यापारिक प्रतिबन्ध लगा रखे थे उन्हें अब समाप्त कर दिया जाएगा। अमेरिका समेत 16 देशों ने इस प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया। इस प्रस्ताव मे कहा गया था कि प्रत्येक

अमेरिकी राज्य क्यूबा के साथ अपने व्यापारिक और राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र हैं। उल्लेखनीय है कि विधिवत् तौर पर यह प्रस्ताव पारित होने के पहले कई देशों ने क्यूबा के साथ एकतरफा सम्बन्ध स्थापित कर भी लिए थे। इन देशों का दबाव अमेरिका पर इतना बढ़ गया कि अमेरिकी-राज्य-संगठन में फूट की स्थिति दृष्टिगोचर होने लगी। कई सदस्यों ने अमेरिकी प्रशासन से अनुरोध किया कि वह क्यूबा के विरुद्ध अवास्तविक नीतियों को अपनाना छोड़ दे। कई क्षेत्रों में यह प्रस्ताव अमेरिकी नीतियों की पराजय समझा गया।

राष्ट्रपति कैनेडी ने क्यूबा को अन्य देशों से पृथक् रखने का प्रयास किया था। लेकिन उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। क्यूबा ने केवल लेटिन अमेरिकी देशों में ही नहीं, बल्कि तीसरी दुनिया के देशों में भी सम्मानपूर्ण स्थान बना लिया और गुट-निरपेक्ष देशों का वह एक महत्त्वपूर्ण सदस्य माना जाने लगा। क्यूबा की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को देखते हुए अमेरिकी राजनीतिज्ञों ने प्रशासन पर दबाव डाला कि समय आ गया है जब क्यूबा के साथ सम्बन्ध सुधारे जाएँ। क्यूबा के साथ सम्बन्ध सुधारने का दौर निक्सन-काल से ही शुरू हो गया था और फोर्ड के सत्ता में आने के बाद उन पर दबाव और बढ़ गया।

सन् 1974 में फ्रांस के राजनीतिक जीवन में कई महत्त्वपूर्ण मोड़ आए। अक्तूबर, 1973 में अरब-इजराल-युद्ध के बाद अरब-देशों द्वारा तेल का मूल्य बढ़ाकर तेल आपूर्ति नियन्त्रित करने से विश्व में जब तेल-संकट उत्पन्न हुआ तो अमेरिका ने तेल का उपयोग करने वाले देशों की संयुक्त कार्यवाही द्वारा उसका सामना करने की जो योजना बनाई, फ्रांस के राष्ट्रपति जॉर्ज पोम्पिदू ने उससे फ्रांस को पृथक् रखा। अप्रेल, 1974 में पोम्पिदू की मृत्यु के बाद गिस्टार्ड गिस्तांग राष्ट्रपति चुने गए। उन्होंने भी अरब देशों पर संयुक्त रूप से दबाव डालने के बजाय द्विपक्षीय आधार पर सहयोग की नीति अपनाई। बाद में अमेरिकी राष्ट्रपति श्री फोर्ड के साथ गिस्तांग की भेंट के बाद फ्रांस ने भी तेल उपभोक्ता देशों के साथ सहयोग करने के लिए सहमति व्यक्त कर दी। गिस्तांग 20 मई, 1974 को फ्रांस के नए राष्ट्रपति चुने गए तथा बाद में जैक्स चिराक प्रधान मन्त्री नियुक्त हुए। फ्रांस ने अरब इजरायल युद्धकाल से पश्चिमी एशिया के देशों द्वारा शस्त्रों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिया था जो अगस्त 1974 में उठा लिया गया।

राष्ट्रपति कार्टर और अमेरिकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति *(1977–79)*

20 जनवरी, 1977 को डेमोक्रेटिक पार्टी के 53 वर्षीय जेम्स अर्ल (जिम्मी) कार्टर (जन्म 1 अक्तूबर, 1924, प्लेस जार्जिया) ने अमेरिका के 39वें राष्ट्रपति के रूप में जब सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश वॉरेन बर्जर से शपथ ग्रहण की तो उनकी आँखों में एक विशेष प्रकार की चमक थी जो अमेरिका के भविष्य का सन्देश दे रही थी। कार्टर ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा—

"हम सब को मिल कर परस्पर एकता और विश्वास की एक नई राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात करना है। आप लोगों की शक्ति मेरी कमजोरियों को बल प्रदान करेगी। आप लोगों की बुद्धिमत्ता मेरी गल्तियों को कम करने में सहायक सिद्ध होगी। हम सबको एक साथ मिल कर सीखना है, एक साथ मिल कर हँसना है, एक साथ मिल कर काम करना है और एक साथ ही मिल कर प्रार्थना करनी है। मुझे विश्वास है कि हमको अन्ततः विजय प्राप्त होगी। हमें एक बार फिर अपने देश मे पूर्ण विश्वास की भावना जाग्रत करनी है। हमारा यह भी विश्वास है कि अमेरिका पहले से अच्छा होगा और पहले से हम कही अधिक शक्तिशाली होगे। मानवाधिकारों के प्रति हमारी प्रतिबद्धता पूर्ण होनी चाहिए। हमारे कानून निष्पक्ष होने चाहिए। शक्तिशाली कमजोर का गला न दबाए इस बात का ख्याल रखते हुए हमे मानवीय गरिमा मे वृद्धि करनी चाहिए। विदेशों में हमारा देश तभी शक्तिशाली होगा यदि हम अपने घर मे शक्तिशाली होगे। हम जानते हैं कि अपनी स्वाधीनता और अपनी लोकतन्त्रीय पद्धति एव मूल्यो का इस धरती पर ही हम प्रमाण दे सकते हैं। विदेशो मे हमे इस तरह व्यवहार नही करना चाहिए जिससे हमारे घर के आयामों और नियमों का उल्लघन होता हो। हम एक शक्तिशाली राष्ट्र की शक्ति को बनाए रखेंगे। हम अपनी शक्ति को केवल सघर्ष या युद्ध के क्षेत्र मे ही उजागर नहीं करेगे बल्कि गरीबी, अज्ञानता और अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए इसका प्रयोग करेंगे। हम अपने गौरवपूर्ण आदर्शों के लिए दुनिया भर में जाने जाते हैं लेकिन हमारे आदर्शों का तात्पर्य हमारी कमजोरी नहीं है। हम स्वाधीन है अतः हम अन्य राष्ट्रों की स्वाधीनता की भावना के विरुद्ध नही हो सकते।"

"आज दुनिया अस्त्रो की दौड़ मे लगी हुई है। अपनी शक्ति को वह अस्त्रों के पैमाने से नापती है। हम अपनी ओर से विश्व मे अस्त्रों को सीमित करने के प्रयास की प्रतिज्ञा करते है। हम यह भी प्रतिज्ञा करते है कि इस वर्ष के अन्त तक हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे तथा इस धरती से सभी परमाणु अस्त्रो की समाप्ति कर देंगे। हम सभी देशो और लोगों से इस प्रयास मे सहयोग का अनुरोध करते हैं। इसकी सफलता का अर्थ जीवन है, मृत्यु नही। मेरा विश्वास है कि संसार के राष्ट्र यह कहते पाए जाएँगे कि हमने एक ऐसे शान्तिपूर्ण वातावरण की सृष्टि की है जो युद्ध के अस्त्रो पर आधारित न होकर अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों पर आधारित है जो हमारे बहुमूल्य मूल्यों को प्रतिबिम्बित करती है।"[1]

सितम्बर, 1980 तक कार्टर-प्रशासन का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रवैया क्या रहा इसे हम निम्नलिखित शीर्षको मे व्यक्त कर सकते हैं—

नए रिश्तों की शुरूआत

20 जनवरी, 1977 को सत्ता सम्भालने के बाद राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने चुनाव अभियान मे किए गए वादों पर अमल शुरू कर दिया। पहले उन्होंने वियतनाम

1 दिनमान, 30 जनवरी–5 फरवरी, 1977, पृष्ठ 31.

के युद्ध में जबरन लामबन्दी का विरोध करने वाले लोगों को क्षमादान सम्बन्धी आदेश प्रसारित किया। उपराष्ट्रपति वाल्टर मांडेल को 23 जनवरी से 31 जनवरी तक सात देशों की यात्रा पर भेजा और संयुक्त राष्ट्र में स्थायी प्रतिनिधि एंड्रू यंग को 3 फरवरी से 12 फरवरी की तंजानिया तथा नाइजीरिया की दस दिवसीय यात्रा पर भेजा।

यंग का आश्वासन—एंड्रू यंग ने तंजानिया के राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे को अमेरिका के राष्ट्रपति की सद्भावना व्यक्त करते हुए कहा कि हम अमेरिकी अपने प्रभाव और शक्ति के प्रयोग से दक्षिण अफ्रीका भर में बहुसंख्यक और बहुजातीय शासन की सम्भावनाओं पर विचार कर सकते हैं। दरअसल, दक्षिण अफ्रीका की समस्याओं का समाधान अफ्रीकियों द्वारा स्वयं होना चाहिए, हम लोग तो केवल सहायता कर सकते हैं। इस सहायता में हमें रक्तपात और विनाश के विकल्प के स्थान पर स्थायी शान्ति का विकल्प ढूँढना चाहिए। यंग ने इन अफ्रीकी नेताओं को विश्वास दिलाया कि वह वायरर्ड संशोधन में परिवर्तन करा कर रोडेशिया से क्रोम का आयात बन्द करने की सिफारिश करेंगे। एंड्रू यंग की इस यात्रा से अफ्रीका मे अमेरिका प्रशासन के प्रति एक नई तस्वीर स्थापित होगी।

मांडेल की बातचीत—उपराष्ट्रपति वाल्टर मांडेल ने बेल्जियम, पश्चिम जर्मनी, इटली, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान की नौ दिवसीय यात्रा मे इन देशों से पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में वार्ता की। साथ ही यूरोपीय आर्थिक समुदाय और नैटो के अमेरिका के साथ सम्बन्धों का जायजा लिया। वाशिंगटन वापसी पर उन्होने कहा कि वे आश्वस्त होकर स्वदेश लौटे हैं। उन्होने इटली की जर्जर अर्थव्यवस्था में सुधार का आश्वासन दिलाया और नैटो के प्रति अमेरिका की प्रतिबद्धता व्यक्त की। पश्चिम जर्मनी के नेताओं से द्विपक्षीय और बहुपक्षीय व्यापारिक समझौतों पर वार्ता तथा ब्राजील को परमाणु जानकारी देने के बारे मे विशेष विचार हुआ।

पश्चिमी एशिया और कार्टर-प्रशासन

कार्टर-प्रशासन ने पश्चिम एशिया की समस्या के निदान के लिए पूर्वापेक्षा अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। कार्टर के पदारूढ होने के बाद से ही अरब नेता समस्या के हल के लिए अमेरिका की ओर ताकने लगे थे। अक्तूबर, 1963 के मिस्र-इजरायल युद्ध के बाद दोनो पक्षों में पुन: सशस्त्र संघर्ष को टालने में राष्ट्रपति कार्टर की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही। 1977 में जब राष्ट्रपति सादात अमेरिका पहुँचे तो अमेरिकी नेतृत्व मे उन्हें सम्मानजनक समझौते के प्रति विश्वास दिलाया। वार्ता के दौरान अनवर सादात ने राष्ट्रपति कार्टर को यह बात स्पष्ट रूप से बता दी कि जब तक फिलिस्तीनियों का पृथक् राज्य नही बन जाता तब तक अरब-इजरायल संघर्ष पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकता। यह काम केवल अमेरिका ही कर सकता है। इसके अलावा सादात ने अमेरिकी हथियारों की खरीद के बारे मे भी वार्ता की। राष्ट्रपति सादात और राष्ट्रपति कार्टर ने सन् 1977 के उत्तरार्द्ध में जेनेवा सम्मेलन आयोजित करने के लिए प्रयास करने की बात दोहरायी।

सादात को कार्टर की नीयत पर सन्देह न होना स्वाभाविक था। कार्टर-प्रशासन द्वारा इजरायल को बमवर्षक बेचने की कार्यवाही रद्द करना और विदेश मंत्री साइरस वैंस को पश्चिमी एशिया को तथ्यान्वेषण का उत्तरदायित्व सौंपना, ये दो ऐसी घटनाएँ थीं जिन्हें सादात समस्या के समाधान के प्रति अमेरिकी राष्ट्रपति की ईमानदारी का प्रमाण मान सकते थे।

सादात के अमेरिका-यात्रा के बाद ही पश्चिमी एशिया की राजनीति में तेजी से नए मोड़ आए। अक्तूबर, 1977 में अमेरिका, सोवियत संघ, अरब देश और इजरायल के बीच एक अनौपचारिक समझौता हुआ जिसमें उस गतिरोध को समाप्त कर दिया जो पिछले एक अर्से से जिनेवा सम्मेलन बुलाने में बाधक बना हुआ था। समझौते के अनुसार इजरायल इस बात पर सहमत हो गया कि अरब देशों के प्रतिनिधि-मण्डल में फिलिस्तीनियों का प्रतिनिधि भी सम्मिलित हो सकता है—यानी मिस्र, सीरिया, जोर्डन, लेबनान और फिलिस्तीन का एक संयुक्त प्रतिनिधि-मण्डल भविष्य मे होने वाले जिनेवा सम्मेलन मे अरब पक्ष का प्रतिनिधित्व कर सकेगा। यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी, क्योंकि अब तक इजरायल इस बात पर अड़ा हुआ था कि वह ऐसे किसी सम्मेलन में भाग नहीं लेगा जिसमें फिलिस्तीनी प्रतिनिधि उपस्थित होगा।

कार्टर में विश्वास रखते हुए ही सादात ने समझौते के लिए इजरायल की यात्रा का ऐतिहासिक निर्णय लिया। नवम्बर, 1977 में सादात ने इजरायली संसद् से पश्चिमी एशिया मे शान्ति स्थापित करने मे सहायता का अनुरोध करते हुए एक शान्ति प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया। सादात के बाद इजरायली प्रधान मन्त्री बेगिन ने मिस्र में इस्माइलिया आकर सादात से बातचीत की। राष्ट्रपति कार्टर दोनों पक्षों में समझौते के लिए विशेष प्रयत्न करते रहे और उन्होंने अमेरिका में कैम्प डेविड में सितम्बर, 1978 में सादात-बेगिन-कार्टर शिखर सम्मेलन का आयोजन किया। विश्व राजनय में शायद यह पहला अवसर था जबकि अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपनी प्रतिष्ठा को दाव पर रख किसी मसले को सुलझाने में व्यक्तिगत दिलचस्पी ली हो। 13 दिनों का शिखर सम्मेलन स्थायी शान्ति-सन्धि की दिशा में एक ऐतिहासिक समझौते के साथ समाप्त हुआ। समझौते की क्रियान्विति नहीं हो सकी क्योंकि दोनों पक्षों मे कुछ मुद्दों पर मतभेद पैदा हो गए। अतः वार्ता के दूसरे दौर चले। कार्टर की प्रतिष्ठा दाव पर लग गई और अन्त में कार्टर ने ऐतिहासिक सफलता प्राप्त की और 26 मार्च, 1979 को उनकी उपस्थिति में वाशिंगटन में सादात और बेगिन के हस्ताक्षरों के साथ मिस्र और इजरायल में एक शान्ति-सन्धि सम्पन्न हुई। मिस्र और इजरायल के बीच यह शान्ति-सन्धि सम्पन्न कराने में सफलता प्राप्त कर अमेरिका ने वास्तव मे सोवियत संघ को एक करारी कूटनीतिक मात दी।

कैंप डेविड समझौते द्वारा पश्चिमेशिया में शान्ति की स्थापना को तभी आघात पहुँच गया जब समझौते पर हस्ताक्षर के तुरन्त बाद इजरायल के आतंकवादी गुटों ने खुली चुनौती दे दी कि यदि 1967 में हथियाए गए इलाकों को लौटा

जाएगा तो वे हथियार उठा लेंगे। वास्तव में कैंप डेविड में तीनों पक्षों ने अपने स्वार्थवश फिलिस्तीनी आत्मनिर्णय के अधिकार को नकार कर उचित नहीं किया था। 9 मई, 1979 को इजरायली प्रधान मन्त्री ने इजरायल अधिकृत क्षेत्रों के लिए एक 30-सूत्री योजना घोषित की और स्पष्ट किया कि इजरायल स्वाधीन फिलिस्तीनी राज्य कभी नहीं बनने देगा तथा वह जोर्डन नदी के पश्चिमी तट और गाजापट्टी पर अपनी प्रभुसत्ता बरकरार रखेगा। अक्तूबर, 1979 में इजरायल के विदेश मन्त्री मोशे दायान के त्याग-पत्र से कैंप डेविड समझौते की क्रियान्विति की संभावना को ठेस पहुँची। राजनीतिक क्षेत्रों में कहा जाने लगा कि इजरायल के भीतर उठते हुए विवादों और साथ ही मिस्र तथा इजरायल में कई छोटी-मोटी समस्याओं को लेकर जो स्थिति पैदा हो गई है उसमें एक बार फिर शायद मिस्र के राष्ट्रपति सादात, अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर तथा इजरायली प्रधान मन्त्री बेगिन में शिखर सम्मेलन आवश्यक होगा। जनवरी, 1980 में अमेरिका द्वारा मिस्र को 35 करोड़ डॉलर की सहायता देने का वायदा किया गया और इस प्रकार कार्टर-प्रशासन ने राष्ट्रपति सादात के प्रति अपना समर्थन जताया। 26 फरवरी, 1980 को मिस्र और इजरायल में राजदूतों का आदान-प्रदान होने से दोनों देशों के सम्बन्धों को सामान्य करने की दिशा में कुछ और प्रगति हुई। दोनों देशों में डाक-सेवाएँ भी शुरू हो गई और राष्ट्रपति सादात ने इस बात पर जोर दिया कि शान्ति स्थापना की सभी प्रक्रियाओं को शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न किया जाए ताकि जोर्डन नदी के पश्चिमी किनारे और गाजापट्टी में फिलिस्तीनी स्वायत्तता की स्थापना के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया जा सके। मई, 1980 के प्रारम्भ में फिलिस्तीनियों के अधिकार सम्बन्धी प्रस्ताव पर अमेरिका द्वारा सुरक्षा परिषद् में वीटो का प्रयोग किया गया।

यदि यथार्थ में देखा जाए तो 1979 के कैंप डेविड समझौते के अन्तर्गत पश्चिमेशिया में—खासतौर पर मिस्र और इजरायल में—शान्ति स्थापना की आशा 1980 के मध्य धूमिल पड़ती दीख रही है। इजरायल नेतृत्व को इस दिशा में तीव्र भीतरी विरोधों का सामना करना पड़ रहा है। तथापि मिस्र ने इजरायल से वार्ता जारी रखने के लिए जून, 1980 के अमेरिकी प्रस्ताव को स्वीकार कर समझौते की भावना को अभी बनाए रखा है और यह भावी आशा का एक शुभ संकेत है।

अमेरिका और क्यूबा

अमेरिका और क्यूबा में पहले से ही चली आ रही तनातनी 1979 के मध्य क्यूबा में रूसी सैनिकों की उपस्थिति को लेकर अचानक ही विस्फोटक स्थिति में जा पहुँची। राष्ट्रपति कार्टर ने कैरेबियन में एक अग्रिम सेना (टास्क फोर्स) तैनात करने की घोषणा कर दी। इसके साथ ही कार्टर ने कुछ नए रक्षा-उपायों की भी घोषणा की जिनमें पाँच उपाय प्रमुख थे—

1. क्यूबा में सोवियत सेनाओं की ठीक-ठीक संख्या का पता लगाने के लिए क्यूबा पर निगाह रखने की अमेरिकी उपग्रह व्यवस्था को पुनर्गठित किया जा रहा है। पहले यह व्यवस्था बिल्कुल समाप्त कर दी गई थी।

के संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने में बाधा न डालेगा। पिछली चार बार अमेरिका
ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर वियतनाम को विश्व-संस्था
का सदस्य नहीं बनने दिया। अमेरिका अकेला ही इस बात पर वियतनाम का विरोध
कर रहा श ग। पेरिस-वार्ता में अमेरिका ने वियतनाम से अपने दूतावास स्थापित
करने की बात उठाई। वियतनाम ने दो मुख्य बातों पर जोर दिया। पहली,
अमेरिका र न् 1973 के अमेरिका-वियतनाम समझौते की 29वीं धारा के अनुसार
युद्ध में आ हत देश के पुनर्निर्माण में आर्थिक सहायता दे और दूसरी, अमेरिका
वियतनाम के साथ व्यापार करने पर लगाए गए सब प्रतिबन्धों को तुरन्त हटा ले।
पेरिस बात चीत के दौरान यह प्रश्न उठा कि कौन-सी बात पहले तय की जाए—
अमेरिका द्व ारा एक दूसरे के देश में दूतावास स्थापित करने की बात पहले रखी गई
जबकि विय तनाम में अमेरिका द्वारा की गई क्षति को पूरा करने के लिए अमेरिका
की वियतन ाम को आर्थिक सहायता तथा वियतनाम के साथ व्यापार करने पर लगाए
गए प्रतिबन् धों को उठाने की माँग वियतनाम ने पहले की। जहाँ तक युद्ध में लापता
अमेरिकी सै निकों का प्रश्न था वियतनाम का कहना था कि मृतकों के शव ढूंढना,
उनका पता लगाना तथा उनको अमेरिका भेजना वह अपना कर्त्तव्य समझता है।
इस सम्बन्ध में वियतनाम अब तक बम वर्षा द्वारा गिराए गए अमेरिकी विमानों के
23 चालकों तथा सैनिकों की अस्थियाँ व शव अमेरिकी प्रतिनिधियों को वापस ले
जाने के लिए सौंप चुका है। वियतनाम ने सैगोन पर कब्जा करने के बाद वहाँ शेष
सब अमेरिकि यों को भी वापस अपने देश लौट जाने दिया था। वियतनाम ने युद्ध-
क्षति को पूरा करने के अमेरिका द्वारा मंजूर प्रस्ताव को कार्यान्वित करने पर सबसे
अधिक जोर दिया।[1]

20 सितम्बर, 1977 को संयुक्त राष्ट्र महासभा का 32वाँ अधिवेशन विश्व-
संस्था में दो ए सदस्यों के प्रवेश के साथ आरम्भ हुआ। ये सदस्य थे—वियतनाम
और जिबूती। वियतनाम का रास्ता ठीक दो महीने पहले 20 जुलाई को सुरक्षा
परिषद् की बै ठक में ही साफ हो पाया था जबकि भारत द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव
को सर्वसम्मति से पारित कर परिषद् ने संयुक्त राष्ट्र में वियतनाम के प्रवेश की
अनुमति दी थी।

अमेरिका और पनामा : पनामा को पनामा मिल गई

3 नवम्बर, 1903 तक पनामा दक्षिण अमेरिका के कोलम्बिया राज्य का
एक प्रान्त था। 3 नवम्बर, 1903 को पनामा निवासियों ने विद्रोह कर दिया और
स्वतन्त्र पनामा राज्य की स्थापना की। स्वतन्त्र होने में अमेरिका ने उसकी सहायता
की। 13 नवम्बर को अमेरिका ने पनामा राज्य को मान्यता दे दी। इसके बाद
उसे एक पृथक् राष्ट्र मान लिया गया। पनामा गणराज्य क्षेत्र का क्षेत्रफल 31890
वर्गमील है और उसकी जनसंख्या 10 लाख के लगभग है। इसके बीचों बीच जाने

1 दिनमान, 23-29 अक्तूबर, 1977, पृष्ठ 31.

वाली नहर देश को दो भागों मे विभाजित करती है तथा दोनो ओर के प्रशान्त और अतलातक महासागरों को मिलाती है। नहर क्षेत्र की आबादी 60 हजार के लगभग है। इनमें 38,000 लोग अमेरिकी हैं। नहर के कारण इस राज्य के निवासियों में अनेक जातियो के लोग आकर बस गए हैं। यह नहर सन् 1914 मे बन कर तैयार हुई थी और इसे 15 अगस्त, 1914 को व्यापारिक कार्यों के लिए चालू कर दिया गया था। इससे पूर्व जहाजों को दक्षिण अमेरिका का कई हजार मील का जो चक्कर लगा कर दूसरी ओर जाना पड़ता था, वह बच गया। पनामा नहर के दोनों ओर पांच-पांच मील चौडा और अतलांतक महासागर से प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ क्षेत्र सन् 1904 से अमेरिकी सरकार के अधिकार मे है। इस क्षेत्र का प्रशासन नहर-क्षेत्र सरकार और नहर का संचालन पनामा नहर कम्पनी के हाथों में है। इस नहर कम्पनी की स्थापना 1 जुलाई, 1951 को हुई थी। अमेरिकी नौसेना के मन्त्री के हाथो ही नहर कम्पनी के सारे शेयर रहते है।[1] 11 अगस्त, 1977 को अमेरिका ने पनामा के साथ एक नए समझौते की घोषणा की जिसके अनुसार, समझौता लागू होते ही, पनामा नहर क्षेत्र पर से अमेरिकी सैनिक दबाव धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगा और 31 दिसम्बर, 1999 तक यह समूचा क्षेत्र पूरी तरह पनामा के नियन्त्रण मे आ जाएगा। सन्धि के द्वारा पनामा ने यह स्वीकार कर लिया है कि नहर क्षेत्र पर अमेरिका का नियन्त्रण समाप्त होते ही नहर की रक्षा के लिए पनामा अमेरिका की दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगा। परन्तु बताया जाता है कि इस प्रकार की सन्धि की कोई धारा नही है, इसके लिए अमेरिका से अलग ही समझौता किया जाएगा। सन्धि में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि नहर की तटस्थता को कायम रखा जाएगा और सभी राष्ट्रों के जहाज उसमें आ जा सकेंगे। वर्तमान सन्धि 1903 की सन्धि का स्थान ले लेगी। 1903 की सन्धि ने ही अमेरिका को नहर और उसके सीमा-क्षेत्र के नियन्त्रण का अधिकार हमेशा के लिए दे दिया था।[2]

पनामा के मामले में सबसे बड़ी उलझन पनामा की आर्थिक मांग को पूरा करना था। पनामा की मांग थी कि उसे 46 करोड़ डॉलर का मुआवजा दिया जाए। यह मुआवजा सन् 1903 से आज तक का होगा और आज से इस शताब्दी के अन्त तक, जबकि नहर को पूर्णतः पनामा को दे दिया जाएगा, 15 करोड़ रुपए वार्षिक की पूर्ति की जाए। अगस्त 1977 के नए समझौते के अनुसार सन् 2000 तक पनामा को 4 से 5 करोड डॉलर प्रतिवर्ष तक मुआवजे के रूप मे दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त अमेरिका पनामा को आर्थिक सहायता के रूप में कोई 30 करोड़ डॉलर और सैनिक सहायता के रूप मे 5 करोड़ डॉलर देगा।

1 हिन्दुस्तान, दिनांक 25 अगस्त, 1977—पी. के. हरिवंश का लेख : पनामा पर नियन्त्रण।

2 दिनमान, 21-27 अगस्त, 1977, पृष्ठ 33.

पनामा समझौते से यद्यपि पनामा की प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी पर अमेरिका का नियन्त्रण 2000 तक बना रहेगा। इतने में क्या हो जाए, कौन कह सकता है।

भारत के प्रति कार्टर का दृष्टिकोण

अमेरिका के राष्ट्रपति श्री कार्टर का कहना है कि भारत-अमेरिका सम्बन्धों को वे रचनात्मक रूप देना चाहते हैं। श्री कार्टर ने भारत के नए राजदूत श्री नानी पालकीवाला द्वारा अपना परिचय-पत्र पेश किए जाने के अवसर पर भाषण करते हुए कहा था कि शायद भारत तथा अमेरिका बहुत समय समय से एक-दूसरे को पूर्व निर्धारित दृष्टिकोण से देखते रहे हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति ने बदलती परिस्थितियों तथा बदलते सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए दोनों देशों के बीच सम्बन्ध विकसित करने पर बल दिया। अपनी ओर से श्री पालकीवाला ने भी दोनों देशों के सम्बन्ध घनिष्ठ बनाने के लिए अनुकूल वातावरण की ओर ध्यान आकर्षित किया। श्रीमती गांधी ने भारत में जो आपात्‌कालीन तानाशाही स्थापित की थी, उससे संयुक्त राज्य अमेरिका को क्षोभ था, अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी कि अमेरिकी कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित करके भारत में लोकतन्त्र की पुनः स्थापना का स्वागत किया।

जनता सरकार के अब तक के शासनकाल में भारत-अमेरिका के सम्बन्धों में सुधार हुआ है। वैसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो भारत और अमेरिका के सम्बन्ध तब भी मधुर नहीं थे जब महान् लोकतान्त्रिक पण्डित नेहरू प्रधान मन्त्री थे। नेहरूजी का मानवीय दृष्टिकोण तथा लोकतन्त्रीय मान्यताएँ भी अमेरिका को भारत की नेकनीयती का विश्वास नहीं दिला पाईं। स्पष्टतः उस समय अमेरिकी नेताओं का विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जो उसके साथ नहीं है, वह उनके विरुद्ध है। कुछ ही वर्ष पूर्व राष्ट्रपति निक्सन के शासनकाल तक भारत के प्रति अमेरिका का यही रुख रहा। यह किसी व्यक्ति विशेष की नीति होने के बजाय पूरे प्रशासन का सुविचारित दृष्टिकोण था। देसाई सरकार ने इस बात को महसूस किया कि दोनों पक्षों में रचनात्मक सहयोग के लिए दृष्टिकोण में बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता है।

दोनों पक्षों ने घनिष्ठ सम्पर्क बढ़ाने के लिए तीव्र इच्छा प्रकट की जिसकी चरम परिणति कार्टर और श्रीमती कार्टर की भारत यात्रा में हुई जबकि वे 1 से 3 जनवरी, 1978 तक यहाँ ठहरे। इस यात्रा के दौरान राष्ट्रपति कार्टर ने विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श किया और यह घोषणा भी की कि उन्होंने तारापुर परमाणु बिजली संयन्त्र के लिए श्रेष्ठ यूरेनियम की एक और खेप भेजने का प्राधिकार दे दिया है। इस यात्रा के अन्त में जारी की गई दिल्ली घोषणा में आधारभूत स्वतन्त्रता और लोकतान्त्रिक पद्धति के प्रति दोनों देशों के सम्मान की पुष्टि करते हुए यह बात स्वीकार की गई कि अपनी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नीतियाँ स्वयं निर्धारित करने का प्रत्येक राष्ट्र को अधिकार है। इसके अतिरिक्त दोनों देशों ने पुनः यह वचन लिया कि वे दूसरों के साथ अपने विवाद

क्षेत्र में सहयोगी प्रयत्नों
प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व किया। इस आयोग ने कृषि के प्रायोग कृषि उप-आयोग
को उच्च प्राथमिकता दी और इस उद्देश्य के लिए चौथा उप- उप-आयोगों की रिपोर्ट
स्थापित करने का निर्णय किया। इस आयोग ने अन्य तीनोंकी संख्या में वृद्धि करने
प्राप्त की और उनका अनुमोदन किया। इसने शिक्षावृत्ति हार किया और भावी
के शिक्षा और सांस्कृतिक उप-आयोग की योजनाओं को स्वीकृ निक और प्रौद्योगिकी
आदान-प्रदान कार्यक्रमों पर बातचीत की। उसने वैज्ञा सौर ऊर्जा के क्षेत्र
उप-आयोग द्वारा प्रस्तावित सहयोग के नए क्षेत्रों पर विशेषत व्यवसाय परिषद् की
पर सन्तोष व्यक्त किया। इसने भारत-संयुक्तराज्य अमेरिक -संयुक्तराज्य अमेरिका
गतिविधियों पर भी विचार किया और तीसरे देशों में भार।
वाणिज्यिक सहयोग परिषद् की परियोजना का अनुमोदन किय हथियारों के प्रसार के

श्री वाजपेयी ने स्पष्ट किया कि यद्यपि नाभिकीय त सहमत है, लेकिन
निषेध के विषय में संयुक्तराज्य अमेरिका के उद्देश्य से भा का उद्देश्य वस्तुतः
भारत का दृढ़ विचार है कि यदि इन सुरक्षा सम्बन्धी उपाय तथा विस्तार दोनों
नाभिकीय हथियारों के प्रसार को रोकना है तो इसे ऊँचाधी उपाय नाभिकीय
प्रकार के प्रसारों पर लागू करना होगा। इससे सुरक्षा सम्बन्धी लागू होंगे जिनके
हथियार नहीं रखने वाले राज्यों के साथ-साथ उन राज्यों पर भं दिया कि भारत ऐसे
पास नाभिकीय हथियार हैं। उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में बताया जो भेदभाव-पूर्ण
किसी भी सुरक्षा सम्बन्धी उपाय को कभी भी स्वीकार नहीं करेका को पाकिस्तान
हो। श्री वाजपेयी ने यह सुझाव दिया कि संयुक्तराज्य अमेरि क्षेत्र में नाभिकीय
पर अपनी ओर से पूरी तरह से दबाव डालना चाहिए कि वह इ अमेरिकी नेतृत्व से
हथियारों की होड़ शुरू करने से बाज आए। श्री वाजपेयी ने हाल की घटनाओं
पश्चिम एशिया, दक्षिणी अफ्रीका तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में हुई धिकारी इस बात से
पर भी विचार-विमर्श किया। संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रा ना नहीं हो सकता,
सहमत थे कि पश्चिम एशिया में कोई ऐसा व्यापक शान्ति समझौए। इस सम्बन्ध में
जिसमें फिलिस्तीनी लोगों के वैध अधिकारों की उपेक्षा की जादम है और उन्होंने
मिस्र तथा इजरायल के बीच हस्ताक्षरित करार एक पहला कनाथ अपने सम्बन्धों
यह आशा व्यक्त की कि यह अन्य अरब राष्ट्रों की इजरायल के रख पक्ष की ओर से
को क्रमिक रूप से सामान्य बनाने का आधार प्रदान करेगा। भारतीरिका की नौ-सैनिक
यह भी बता दिया गया कि हिन्दमहासागर में संयुक्तराज्य अमेमिं अन्य देशों की
शक्ति की बढ़ोतरी के कारण निश्चित रूप से इस क्षेत्र,
नौ-सैनिक उपस्थिति में वृद्धि होगी। जो बात दुष्प्रभाव

भारत और संयुक्तराज्य अमेरिका के सम्बन्धों के बीच स्वरूप पाकिस्तान
डाल सकती थी वह थी अफगानिस्तान की घटनाओं के परिणामहले संयुक्तराज्य
को संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा अस्त्र भेजे जाने का निर्णय। 'को ऋण अथवा
अमेरिका ने एक अमेरिकी कानून के परिणामस्वरूप पाकिस्तान या था जो किसी
अनुदान के आधार पर हथियारों की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा दि

नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए उन्होंने चीन को विभिन्न किस्मों के हथियारों तथा विद्युत-आणविक उपकरणों के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों में ढील देने का निश्चय किया। अब तक ये हथियार आम तौर पर निर्यात नहीं किए जाते थे। दोनों कम्युनिस्ट दिग्गज—सोवियत संघ और चीन—कतिपय सूक्ष्म उपकरणों के क्षेत्र में अमेरिकी तकनीकी जानकारी प्राप्त करने तथा प्रौद्योगिकी तैयार माल प्राप्त करने के लिए उत्सुक हैं। सोवियत संघ आमतौर पर तकनीकी जानकारी प्राप्त करने को ही उत्सुक है परन्तु चीन इस आशा के साथ तैयार माल भी प्राप्त करना चाहता है ताकि उसके प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ उस माल से उसके निर्माण की तकनीकी जान सकें।

ताइवान के प्रश्न पर अमेरिका और चीन के बीच मतभेदों की दूरी कम होती गई और मार्च, 1978 के प्रारम्भ में चीन ने अमेरिका को परामर्श दिया कि वह ताइवान से सम्बन्ध विच्छेद कर ले। 15 दिसम्बर, 1978 को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना-चक्र में तब एक बड़ा मोड़ आया जब अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने 1 जनवरी, 1979 से चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की। इसी तरह की घोषणा पीकिंग से भी की गई। राष्ट्रपति कार्टर ने अपने वक्तव्य में यह मान लिया कि चीन केवल एक है और उसकी एक सरकार है। कार्टर ने यह अवश्य स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका गैर-सरकारी तौर पर ताइवान से सम्बन्ध रख सकता है। यह क्षेत्र सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि हो सकते हैं।

चीन के साथ अमेरिका के राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का निर्णय विश्व की महत्त्वपूर्ण घटना मानी गई। इस सम्बन्ध में, चीन-अमेरिका के नए सम्बन्धों और चीन के बदलते दृष्टिकोण तथा चीन के प्रति पाश्चात्य जगत के सम्भावित रवैये आदि के सम्बन्ध में प्रमुख अमेरिकी पत्र 'क्रिश्चियन साइन्स मानिटर' के सम्पादकीय में जो कुछ लिखा गया, वह ध्यान देने योग्य है—

"पश्चिम के सामने आज सबसे बड़ी चुनौती है कि चीन माओवाद की जकड़न से उभर कर एक नए राष्ट्र के रूप में सामने आ रहा है। यह सब बहुत ही नाटकीय ढंग से हो रहा है। आर्थिक क्षेत्र में जापान, पश्चिम यूरोप और अमेरिका के व्यापारी चीन के साथ व्यापार और आर्थिक सहयोग की सम्भावनाओं के प्रति काफी आशावान हैं। विदेश सम्बन्धों की नीति निर्धारित करने वाले विशेषज्ञों को अब इस बारे में जरा भी सन्देह नहीं कि चीन अन्य देशों के साथ सम्बन्धों के बारे में सोवियत संघ के लिए चिन्ता का विषय बन गया है। सोवियत संघ आज कुछ भी कहे पर यह निश्चित है कि आज पीकिंग पूर्व और पश्चिम के बीच तनातनी कम करने के प्रयत्नों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।"

अन्य देशों की तरह अमेरिका भी आज यह देख कर आश्चर्य चकित है कि चीन वैचारिक कट्टरताओं से उभर कर अधिक उदार नीतियाँ अपना रहा है, और अधिनायकवाद के घेरे को तोड़ने का भी प्रयत्न कर रहा है। इसमें भी सन्देह नहीं

कि तकनीकी सहायता और इस क्षेत्र में मार्गदर्शन के लिए चीन आज पश्चिम की ओर देखने लगा है। अभी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता कि चीन के नेता देश को आधुनिकतम रूप देने का अपना लक्ष्य इस शताब्दी के समाप्त होते-होते प्राप्त कर लेंगे। लेकिन पश्चिम को इस बात की सराहना तो करनी ही चाहिए कि चीन ने यह लक्ष्य निर्धारित करके साहस का परिचय दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में हमें चीन को, दुनिया के सभी देशों के साथ सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहन देना चाहिए।

चीन अपनी आन्तरिक और विदेश नीति में जो भी परिवर्तन ला रहा है उसके प्रति पश्चिमी देशों को धैर्य और सन्तुलन का रवैया अपनाना चाहिए। इस समय चीन के प्रति नीति निर्धारित करने में पश्चिमी देशों को बहुत सावधानी से काम लेना है। चीन को अस्त्र-शस्त्र बेचने अथवा इस तरह का कोई सौदा करने से पश्चिमी देशों को बचना चाहिए, क्योंकि अब यह स्पष्ट नहीं है कि चीन के भीतर आज जो घटनाएँ घट रही हैं—वे क्या दिशाएँ लेंगी। पीकिंग के हाल के पोस्टर अभियान से स्पष्ट संकेत मिलता है कि माओ के बाद का चीन अभी भी सत्ता संघर्ष के दौर में है। चीन के सम्बन्ध में पश्चिमी देशों को कोई नीति अपनाते समय सोवियत संघ की प्रतिक्रिया का भी ध्यान रखना होगा। रूस का चीन से आशंकित रहना या उसे संशय की दृष्टि से देखना गलत हो या सही लेकिन स्वाभाविक है। इस बात में भी सन्देह नहीं कि चीन आज उत्तर एटलांटिक सन्धि संगठन के देशों को मास्को के प्रति आक्रामक रवैया अपनाने के लिए उकसा रहा है, लेकिन पश्चिमी देशों का इसमें अपना कोई हित नहीं है, इसलिए उन्हें पीकिंग की इस प्रवृत्ति का शिकार नहीं बनना चाहिए। पश्चिमी देश इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि एशिया तथा विश्व में सोवियत संघ की बजाय चीन का प्रभाव अधिक बढ़ जाए! पश्चिमी देशों को इस प्रकार के प्रभाव बढ़ाने में किसी भी रूप से सहायक नहीं होना चाहिए। साथ ही पश्चिमी देशों को ऐसा भी कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे सोवियत संघ को अपनी सुरक्षा के प्रति सन्देह पैदा हो।

"इन सब प्रश्नों पर विचार करते समय पश्चिम को इस बात का भी ध्यान रखना है कि वह चीन से परस्पर हितों का ध्यान रखे हुए रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करे। इसके लिए अमेरिका सहित सभी पश्चिमी देशों को इतिहास से सबक लेकर बहुत ही निश्चित और ठोस नीति अपनानी चाहिए। चीन के प्रति नीति में वैचारिक कट्टरताओं और पश्चिम के चीन के प्रति अब तक के रवैये का स्थान नहीं होना चाहिए। तभी चीन और अमेरिका के नए सम्बन्ध दोनों देशों के साथ-साथ विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे।"

सन् 1980 में अमेरिका-चीन की बढ़ती निकटता—अमेरिका और चीन की निकटता बढ़ती ही जा रही है, दो पुराने शत्रु एक-दूसरे के समीप आते जा रहे हैं। जनवरी, 1979 मे दोनों देशो मे राजनीतिक सम्बन्धों की स्थापना के बाद फरवरी, 1979 मे डेंग सिआओ पिंग नौ दिन की अमेरिकी यात्रा पर गए। डेंग और कार्टर के संयुक्त वक्तव्य मे कहा गया कि चीन तथा अमेरिका किसी एक देश अथवा कुछ देशों के समूह द्वारा अन्य देशों पर आधिपत्य या बन्धनकारी शक्ति स्थापित करने के विरुद्ध हैं। स्पष्ट है कि यह वक्तव्य रूस को ध्यान में रखते हुए दिया गया है। दोनों देशो ने तेल तकनीक, कम्प्यूटर तथा अन्य औद्योगिक क्षेत्रों मे पारस्परिक सहयोग का निश्चय किया। अमेरिका में फ्रांस द्वारा चीन को दो अणुशक्ति यन्त्र दिए जाने पर अपनी सहमति व्यक्त की। चीन ने अमेरिका के विश्वव्यापी सैनिक गतिविधियों को स्वीकार किया और अमेरिका ने भी यह विश्वास प्रगट किया कि शक्तिशाली और सुरक्षित चीन विश्व सम्बन्धों मे रचनात्मक भूमिका निभा सकता है। जनवरी, 1980 में अमेरिका द्वारा चीन को उपग्रह केन्द्र प्रदान करने का आश्वासन दिया गया। 10 जुलाई, 1980 को टोकियो मे राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर और चीन के नए प्रधान मन्त्री हुआ कुओ फेंग मे पहली बार वार्ता हुई।

अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप का विरोध अमेरिका और चीन ने एक स्वर से किया। अमेरिका और चीन 1980 में जिस प्रकार एक दूसरे के निकट आए हैं उसे वास्तव मे सोवियत संघ के विरुद्ध गठबन्धन मानना चाहिए। इस सम्बन्ध मे जुलाई, 1980 के दिनमान मे जो विवरण और समीक्षा दी गई है, वह पठनीय है—

"एशिया में सोवियत संघ की निरन्तर बढती हुई सैनिक उपस्थिति के विरुद्ध चीन और अमेरिका का गठबन्धन अभी हाल ही मे उभर कर सामने आया है। जापान के स्वर्गीय प्रधान मन्त्री श्री ओहिरा की स्मृति के लिए विभिन्न देशो के प्रमुख नेताओं ने टोकियो मे एकत्र होने के समय 10 जुलाई, 1980 को जिम्मी कार्टर और हुआ की प्रथम बातचीत हुई। 75 मिनट की इस बातचीत को आज की विश्व की राजनीति के सन्दर्भ मे बहुत महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। हालाँकि राष्ट्रपति कार्टर केवल 21 घण्टे के लिए ही जापान की राजधानी में थे और यह अवसर किसी राजनीतिक वार्ता का नहीं था लेकिन एशिया की आज की राजनीतिक स्थिति को देखते हुए चीन के प्रधान मन्त्री और अमेरिकी राष्ट्रपति ने इस अवसर

हैं, कहीं किसी तरह के सैनिक गटबन्धन नहीं है, चीन एक कम्युनिस्ट देश है। सोवियत संघ का विरोधी होते हुए भी उसने कभी भी उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन (नाटो) के लिए अमेरिका का समर्थन नहीं किया। इधर जापान भले ही अमेरिका का मित्र है लेकिन वह उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन जैसे किसी संगठन का सदस्य नहीं है। एशियान के रूप मे दक्षिण पूर्व एशियाई देशों का क्षेत्रीय संगठन भी है जिससे अमेरिका के अच्छे सम्बन्ध हैं, लेकिन यह त्रिकोण कुछ दूसरे ही ढंग से स्थापित हुआ है और नही कहा जा सकता है कि एशिया की राजनीति मे इसकी क्या भूमिका होगी। दिलचस्प बात तो यह है कि वियतनाम सकट के दौरान जिस चीन को अमेरिका अपना स्थायी शत्रु मानता था उसकी नीति को आज अमेरिका बढ़ावा दे रहा है। जापान पहुँचते ही राष्ट्रपति कार्टर ने पत्रकारों के साथ अपनी बातचीत मे कहा था कि चीन और जापान के साथ हमारे इस नए सहयोग से समूचे एशिया में शान्ति स्थापना की सम्भावनाएँ बढ जाएँगी। अमेरिकी सूत्रों का कहना है कि कार्टर और हुआ की बातचीत केवल सोवियत संघ के खतरे का मुकाबला करने तक ही सीमित नही थी बल्कि उन्होंने द्विपक्षीय प्रश्नों पर भी विस्तार से बातचीत की है।

अमेरिकी विदेश मन्त्री श्री मस्की का कहना है कि अफगानिस्तान पर सोवियत आक्रमण से ही अमेरिका और चीन एक दूसरे के निकट आए हैं। जापान मे ही उन्होंने संवाददाताओं को बताया है कि इस बातचीत के महत्त्व से सोवियत संघ उदासीन नही रह सकता। उसे मालूम होना चाहिए कि अफगानिस्तान में उसका आक्रमण चीन और अमेरिका को जितना निकट ला सकता है, उतने वे पहले कभी नहीं थे।

टोकियो बातचीत के बारे में हालांकि कहा गया है कि चीन को अमेरिकी हथियारों को देने के बारे मे कोई विचार-विमर्श नहीं हुआ है लेकिन अभी कुछ समय पहले कार्टर-प्रशासन ने चीन को सैनिक साज-सामान देने का रास्ता साफ कर दिया था। यह एलान अमेरिकी रक्षा मन्त्री श्री हैरल्ड ब्राउन ने ही किया था। चीन के उप-प्रधान मन्त्री इसके लिए अमेरिका गए थे, और वहाँ उन्होंने श्री ब्राउन से बातचीत की थी। इस बातचीत में चीन को अमेरिकी सैनिक प्राविधि उपलब्ध कराने पर भी सहमति हो गई थी।

चीन के प्रति अमेरिकी नीति में परिवर्तन अब से बहुत पहले हो गया था। दोनों देशों के बीच अभी तक व्यापार तथा अन्य असैनिक क्षेत्रों में सहयोग बराबर चलता रहा है। लेकिन सोवियत संघ के खतरे का मुकाबला करने के लिए यह एक नया सहयोग अब दोनों देशों को सैनिक क्षेत्र में भी ले आया है। स्पष्ट है कि सोवियत संघ के खतरे का मुकाबला करने के लिए जापान, चीन और अमेरिका एक हो रहे हैं, परन्तु इससे क्या एशिया अमेरिकी सैनिक गतिविधियों का एक और बहुत बड़ा केन्द्र नही बन जाएगा? और फिर सोवियत संघ इसके जवाब में जो भी कार्यवाही करेगा उससे अन्ततः एशिया की शान्ति खतरे मे नही पड़ जाएगी?

अमेरिका और सोवियत संघ

कार्टर-प्रशासन, बावजूद सामयिक उतार-चढ़ाव और उत्तेजनाओं के, सोवियत संघ के साथ अपने देश के उत्तरोत्तर सम्बन्ध सुधार के लिए सचेष्ट है। पदारूढ़ होते ही कार्टर ने मानवाधिकार का पृष्ठपोषण किया और नैतिकता की राजनीति से लेटिन अमेरिका, अफ्रीका और साम्यवादी देशों को प्रभावित करना चाहा। कार्टर की नैतिकता की राजनीति विशेष रंग नहीं लाई और सोवियत प्रचार माध्यमों ने आरोप लगाया कि कार्टर अन्य देशों में जिन मानवाधिकारों की वकालत कर रहे हैं उनका हनन स्वयं अमेरिका में बड़े पैमाने पर हो रहा है।

कार्टर ने अपने कार्यकाल के कुछ ही महीनों में रूस-अमेरिका सम्बन्धों का समीकरण बदल दिया। अब तक सोवियत संघ यह मानकर चल रहा था कि वह परमाणु अस्त्रों से अग्रता प्राप्त कर लेगा और अपने यहाँ के असन्तुष्टों का अमेरिका की अप्रसन्नता के बिना दमन कर सकेगा। उसे आशा थी कि इस सबके बावजूद अमेरिका के आर्थिक सहयोग से लाभान्वित होता रहेगा। कार्टर ने यह स्पष्ट कर दिया कि परमाणु अस्त्रों के बारे में यह उचित समानता चाहेगा और अमेरिका से आर्थिक सहयोग स्थापित रखने के लिए सोवियत संघ को घर में और बाहर अपना आचरण बदलना होगा। कार्टर की इस नीति ने सोवियत संघ को दुविधा में डाल दिया।

निःशस्त्रीकरण पर कुछ सैद्धान्तिक सहमतियों के बावजूद दोनों पक्षों में गम्भीर मतभेद बने रहे और साल्ट–2 समझौता सम्पन्न होने के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती रहीं। अगस्त, 1978 में सोवियत संघ में अमेरिकी पत्रकारों के विरुद्ध मामला खत्म करने का फैसला कर अपनी ओर से सम्बन्ध सुधार की इच्छा की पुष्टि की। दोनों महाशक्तियों में निःशस्त्रीकरण वार्ता में धीरे-धीरे प्रगति होती रही और अन्त में जून, 1979 में साल्ट–2 समझौता हो गया जिसे राजनीतिक क्षेत्र में अस्त्र परिसीमन की दिशा में एक सीमित पर महत्त्वपूर्ण सन्धि मानी गई है। साल्ट–2 को सीमित कहने का कारण यह है कि इसका उद्देश्य आणविक शस्त्रास्त्रों के उत्पादन अथवा परीक्षण पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना नहीं है। इसमें सिर्फ दूर तक मार करने वाले घातक आणविक प्रक्षेपास्त्रों (मिसाइल) की संख्या सीमित करने की व्यवस्था है। सन्धि के बाद भी अमेरिका तथा रूस के पास अणु तथा हाइड्रोजन बमों से लैस, दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक मार करने वाले घातक प्रक्षेपास्त्र बने रहेंगे। इनकी संख्या जरूर सीमित कर दी जाएगी। किन्तु जितनी संख्या में ये बने रहेंगे, वह भी इस छोटी-सी पृथ्वी पर मानव जाति को अनेक बार पूरी तरह नष्ट करने के लिए काफी होगी। मूलतः साल्ट–2 का उद्देश्य संहार-शक्ति के क्षेत्र में रूस तथा अमेरिका के बीच वर्तमान सन्तुलन को बनाए रखना है। सन्धि में अमेरिका तथा रूस पर आणविक परीक्षण न करने की भी कोई पाबन्दी नहीं लगाई गई है। साल्ट–2 की अवधि 1985 तक है। अतः 6 साल बाद अमेरिका तथा रूस के लिए साल्ट–3 पर दस्तखत करना जरूरी हो जाएगा। इसी बीच दोनों महाशक्तियों के रक्षा-बजट में कोई कमी नहीं आएगी।

अमेरिका और रूस दोनों ही सहअस्तित्व चाहते हैं, लेकिन अविश्वास की भावना दोनों ही ओर बनी हुई है। दोनों महाशक्तियाँ परस्पर अविश्वास से कैसे ग्रस्त हैं, राष्ट्रपति कार्टर की क्या कठिनाई है आदि के बारे में 20 जून, 1979 के हिन्दुस्तान के एक लेख मे श्री विनोद कुमार ने जो विचार प्रकट किए, वे यहाँ उल्लेखनीय हैं—

"इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में साल्ट–1 तथा साल्ट–2 सन्धियों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यह सही है कि जो कुछ होना चाहिए, वह अभी तक नही हो पाया है। किन्तु जो कुछ हुआ है उसके महत्त्व को भी नजरअन्दाज करना न्यायोचित नहीं होगा। अमेरिका तथा रूस में एक-दूसरे के प्रति अभी भी कितनी अविश्वास की भावना है यह अमेरिकी संसद् मे साल्ट–2 विरोधी लाबी के गठन से स्पष्ट हो जाता है। अमेरिकी संसद् सदस्यों का एक वर्ग साल्ट–2 की वर्तमान व्यवस्थाओं को स्वीकार करने के लिए तैयार नही है। इस समूह के नेता सेनेटर हेनरी जैक्सन ने कहा है कि मैं अमेरिकी सेनेट में अगले सप्ताह एक विधेयक पेश करूंगा जिसमे राष्ट्रपति कार्टर से साल्ट-2 की विभिन्न व्यवस्थाओं पर रूस के साथ पुनः समझौता वार्ता शुरू करने की माँग की जाएगी। साल्ट-2 को असली रूप देने के लिए उसे दोनों राष्ट्रों की संसदों की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। विएना में रूसी राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने चेतावनी दी है कि यदि अमेरिकी सेनेट ने साल्ट–2 को परिवर्तित करने की कोशिश की तो इसके खतरनाक नतीजे होगे।"

अमेरिका में जो लोग घातक आणविक शस्त्रास्त्रों के परिसीमन की सन्धि का विरोध कर रहे हैं उनका कहना है कि साल्ट–2 की व्यवस्थाएँ रूस के हित में हैं। यदि उसे असली रूप दिया गया तो आणविक शस्त्रास्त्रों के क्षेत्र मे अमेरिका की तुलना मे रूस की स्थिति ज्यादा सुदृढ़ हो जाएगी। साथ ही उन्हें आशंका है कि रूस साल्ट–2 में लगाई गई पाबन्दियों का पालन नहीं करेगा। किन्तु इस पर पाबन्दी रखने के लिए साल्ट–2 में समुचित व्यवस्था नहीं है। आणविक शस्त्रास्त्र परिसीमन सन्धि विशुद्ध रूप से एक तकनीकी मामला है। इसलिए उनकी विभिन्न व्यवस्थाओं की चर्चा करना सम्भव नही है। किन्तु यह समझने में किसी तरह की कठिनाई नही होनी चाहिए कि अमेरिकी जनता का एक बहुत बड़ा वर्ग रूसी इरादों के बारे में आश्वस्त नहीं है। आणविक आयुधों के निर्माण की होड़ का मूल कारण अविश्वास की भावना ही रही है। वही अविश्वास आज साल्ट–2 को अमेरिकी सेनेट की स्वीकृति के रास्ते में भी बाधक बन रहा है।

रूस तथा अमेरिका के बीच अविश्वास की भावना मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर दोनो महाशक्तियों के बीच मुठभेड़ के क्षेत्रों को सीमित किया जाए। पश्चिमी एशिया, हिन्दमहासागर, रोडेशिया ऐसे स्थल हैं जहाँ रूस और अमेरिका विरोधी खेमे में खड़े हुए हैं। दोनों राष्ट्र जब तक इन समस्याओं के हल में सहयोग नहीं करते हैं तब तक आणविक शस्त्रास्त्रों के निर्माण तथा प्रभाव क्षेत्रों के विस्तार की प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करना सम्भव नहीं होगा। दुनिया के

सभी राष्ट्रों में एक जैसी राजनीतिक प्रणाली तथा आर्थिक व्यवस्था हो, यह तो असम्भव है। विभिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रणालियों के सह-अस्तित्व के अलावा आज दुनिया के सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं है। यह सभी समझते भी हैं। किन्तु सह-अस्तित्व को सार्थक तथा स्थाई रूप देने के लिए पूरे प्रयत्न नही किए गए हैं।

शायद राष्ट्रपति कार्टर तथा राष्ट्रपति ब्रेझनेव से अब ज्यादा कुछ अपेक्षा भी नही की जानी चाहिए। कारण यह है कि ब्रेझनेव की उम्र और स्वास्थ्य उनका साथ नहीं दे रहे हैं। अब ज्यादा समय तक वे रूस को अपने नेतृत्व का लाभ नही दे पाएँगे। दूसरी ओर राष्ट्रपति कार्टर की लोकप्रियता का अमेरिका में निरन्तर ह्रास हो रहा है। मुद्रास्फीति, बेरोजगारी तथा तेल संकट पैदा कर दिया है। श्री कार्टर के सामने अनेक कठिनाइयाँ हैं। वह दुबारा अमेरिका के राष्ट्रपति चुने जाएँगे यह भी संदेहास्पद है। ऐसी स्थिति मे संभवतः साल्ट–2 ही श्री कार्टर के राजनीतिक जीवन की चरम उपलब्धि मानी जाएगी। सोवियत संघ तथा अमेरिका दोनों नए नेताओं का इन्तजार कर रहे हैं।

अफगानिस्तान सोवियत हस्तक्षेप को लेकर रूस-अमेरिका के बीच सुधरते सम्बन्धों में कुछ तनाव आ गया है, तथापि दोनो ही महाशक्तियाँ ऐसी स्थिति से बचने का प्रयत्न करती हैं जिसमे कोई सशस्त्र टकराव हो जाए। जून, 1980 में सोवियत संघ ने यह आरोप लगाया कि पश्चिमी देशों की अडंगेबाजी के कारण साल्ट-वार्ता की गति बहुत धीमी हो गई है।

कार्टर-प्रशासन की विदेश नीति के कुछ अन्य पक्ष

राष्ट्रपति कार्टर ने अमेरिकी विदेश नीति को नया मोड़ देने का प्रयत्न किया है और बावजूद कुछ उत्तेजनात्मक कार्रवाइयो के साम्यवादी देशों के साथ सहयोग और सद्भाव की नीति बढाई है। कुछ कम्युनिस्ट देशो मे अमेरिकी नागरिकों के आने-जाने पर जो पाबन्दियाँ लगी हुई थी, कार्टर ने उन पर ढील दे दी है। पर साथ ही 1 नवम्बर, 1977 को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की सदस्यता से परित्याग करने का अप्रिय निर्णय भी कार्टर ने ही लिया है। इसका मुख्य कारण यह बताया गया कि इस संगठन मे साम्यवादी देशो का दबदबा हो गया था और इजरायल विरोधी अनेक फैसले किए गए। कार्टर ने लेटिन अमेरिका के देशो के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने का प्रयत्न किया है, किन्तु क्यूबा के प्रति उनका रुख कड़ा रहा है। ईरान की 1979 की क्रान्ति और राजतन्त्र का अन्त अमेरिकी विदेश नीति की एक भारी विफलता है, क्योंकि इससे खाड़ी क्षेत्र में उसके वर्षों के मन्सूबों पर पानी फिर गया है। 1967 मे ब्रिटेन द्वारा यह घोषणा करने पर कि 1971 के अन्त तक फारस की खाड़ी से अपने सैनिक बेड़े को हटा लेगा, अमेरिका इस क्षेत्र की 'सुरक्षा' के लिए चिन्तित हो गया किन्तु वियतनाम युद्ध में फँसे रहने के कारण वह प्रत्यक्ष रूप में सामने नहीं आ सका और उसने इस क्षेत्र में अपने 'चौकीदार' खोजने का निश्चय किया। अमेरिकी सरकार के एक प्रवक्ता ने कहा "हमने यह निश्चय किया है कि हम उस क्षेत्र मे दो प्रमुख

अमेरिका और रूस दोनों ही सहअस्तित्व चाहते हैं, लेकिन अविश्वास की भावना दोनों ही ओर बनी हुई है। दोनों महाशक्तियाँ परस्पर अविश्वास से कैसे ग्रस्त हैं, राष्ट्रपति कार्टर की क्या कठिनाई है आदि के बारे में 20 जून, 1979 के हिन्दुस्तान के एक लेख मे श्री विनोद कुमार ने जो विचार प्रकट किए, वे यहाँ उल्लेखनीय हैं—

"इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में साल्ट–1 तथा साल्ट–2 सन्धियों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यह सही है कि जो कुछ होना चाहिए, वह अभी तक नहीं हो पाया है। किन्तु जो कुछ हुआ है उसके महत्त्व को भी नजरअन्दाज करना न्यायोचित नही होगा। अमेरिका तथा रूस में एक-दूसरे के प्रति अभी भी कितनी अविश्वास की भावना है यह अमेरिकी संसद् में साल्ट–2 विरोधी लाबी के गठन से स्पष्ट हो जाता है। अमेरिकी संसद् सदस्यों का एक वर्ग साल्ट–2 की वर्तमान व्यवस्थाओं को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। इस समूह के नेता सेनेटर हेनरी जैक्सन ने कहा है कि मैं अमेरिकी सेनेट मे अगले सप्ताह एक विधेयक पेश करूँगा जिसमे राष्ट्रपति कार्टर से साल्ट-2 की विभिन्न व्यवस्थाओ पर रूस के साथ पुनः समझौता वार्ता शुरू करने की माँग की जाएगी। साल्ट-2 को असली रूप देने के लिए उसे दोनो राष्ट्रों की संसदों की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। विएना में रूसी राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने चेतावनी दी है कि यदि अमेरिकी सेनेट ने साल्ट–2 को परिवर्तित करने की कोशिश की तो इसके खतरनाक नतीजे होगे।"

अमेरिका में जो लोग घातक आणविक शस्त्रास्त्रों के परिसीमन की सन्धि का विरोध कर रहे हैं उनका कहना है कि साल्ट–2 की व्यवस्थाएँ रूस के हित मे हैं। यदि उसे असली रूप दिया गया तो आणविक शस्त्रास्त्रों के क्षेत्र में अमेरिका की तुलना मे रूस की स्थिति ज्यादा सुदृढ हो जाएगी। साथ ही उन्हें आशंका है कि रूस साल्ट–2 मे लगाई गई पाबन्दियों का पालन नहीं करेगा। किन्तु इस पर पाबन्दी रखने के लिए साल्ट–2 में समुचित व्यवस्था नही है। आणविक शस्त्रास्त्र परिसीमन सन्धि विशुद्ध रूप से एक तकनीकी मामला है। इसलिए उनकी विभिन्न व्यवस्थाओ की चर्चा करना सम्भव नही है। किन्तु यह समझने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि अमेरिकी जनता का एक बहुत बड़ा वर्ग रूसी इरादो के बारे मे आश्वस्त नही है। आणविक आयुधों के निर्माण की होड़ का मूल कारण अविश्वास की भावना ही रही है। वही अविश्वास आज साल्ट–2 को अमेरिकी सेनेट की स्वीकृति के रास्ते मे भी बाधक बन रहा है।

रूस तथा अमेरिका के बीच अविश्वास की भावना मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर दोनो महाशक्तियों के बीच मुठभेड़ के क्षेत्रों को सीमित किया जाए। पश्चिमी एशिया, हिन्दमहासागर, रोडेशिया ऐसे स्थल हैं जहाँ रूस और अमेरिका विरोधी खेमे में खड़े हुए हैं। दोनों राष्ट्र जब तक इन समस्याओं के हल में सहयोग नहीं करते हैं तब तक आणविक शस्त्रास्त्रों के निर्माण तथा प्रभाव क्षेत्रों के विस्तार की प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करना सम्भव नहीं होगा। दुनियाँ के

सभी राष्ट्रों में एक जैसी राजनीतिक प्रणाली तथा आर्थिक व्यवस्था हो, यह तो असम्भव है। विभिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रणालियों के सह-अस्तित्व के अलावा आज दुनिया के सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं है। यह सभी समझते भी हैं। किन्तु सह-अस्तित्व को सार्थक तथा स्थाई रूप देने के लिए पूरे प्रयत्न नही किए गए हैं।

शायद राष्ट्रपति कार्टर तथा राष्ट्रपति ब्रेझनेव से अब ज्यादा कुछ अपेक्षा भी नही की जानी चाहिए। कारण यह है कि ब्रेझनेव की उम्र और स्वास्थ्य उनका साथ नही दे रहे हैं। अब ज्यादा समय तक वे रूस को अपने नेतृत्व का लाभ नही दे पाएँगे। दूसरी ओर राष्ट्रपति कार्टर की लोकप्रियता का अमेरिका मे निरन्तर ह्रास हो रहा है। मुद्रास्फीति, बेरोजगारी तथा तेल संकट पैदा कर दिया है। श्री कार्टर के सामने अनेक कठिनाइयाँ हैं। वह दुबारा अमेरिका के राष्ट्रपति चुने जाएँगे यह भी सदेहास्पद है। ऐसी स्थिति में संभवतः साल्ट–2 ही श्री कार्टर के राजनीतिक जीवन की चरम उपलब्धि मानी जाएगी। सोवियत संघ तथा अमेरिका दोनों नए नेताओ का इन्तजार कर रहे हैं।

अफगानिस्तान सोवियत हस्तक्षेप को लेकर रूस-अमेरिका के बीच सुधरते सम्बन्धों में कुछ तनाव आ गया है, तथापि दोनों ही महाशक्तियाँ ऐसी स्थिति से बचने का प्रयत्न करती हैं जिसमें कोई सशस्त्र टकराव हो जाए। जून, 1980 में सोवियत संघ ने यह आरोप लगाया कि पश्चिमी देशों की अड़गेबाजी के कारण साल्ट-वार्ता की गति बहुत धीमी हो गई है।

कार्टर-प्रशासन की विदेश नीति के कुछ अन्य पक्ष

राष्ट्रपति कार्टर ने अमेरिकी विदेश नीति को नया मोड़ देने का प्रयत्न किया है और बावजूद कुछ उत्तेजनात्मक कार्यवाइयो के साम्यवादी देशों के साथ सहयोग और सद्भाव की नीति बढ़ाई है। कुछ कम्युनिस्ट देशों में अमेरिकी नागरिकों के आने-जाने पर जो पाबन्दियाँ लगी हुई थीं, कार्टर ने उन पर ढील दे दी है। पर साथ ही 1 नवम्बर, 1977 को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की सदस्यता से परित्याग करने का अप्रिय निर्णय भी कार्टर ने ही लिया है। इसका मुख्य कारण यह बताया गया कि इस संगठन में साम्यवादी देशो का दबदबा हो गया था और इजरायल विरोधी अनेक फैसले किए गए। कार्टर ने लेटिन अमेरिका के देशों के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने का प्रयत्न किया है, किन्तु क्यूबा के प्रति उनका रुख कड़ा रहा है। ईरान की 1979 की क्रान्ति और राजतन्त्र का अन्त अमेरिकी विदेश नीति की एक भारी विफलता है, क्योंकि इससे खाड़ी क्षेत्र मे उसके वर्षों के मन्सूबों पर पानी फिर गया है। 1967 में ब्रिटेन द्वारा यह घोषणा करने पर कि 1971 के अन्त तक फारस की खाड़ी से अपने सैनिक बेड़े को हटा लेगा, अमेरिका इस क्षेत्र की 'सुरक्षा' के लिए चिन्तित हो गया किन्तु वियतनाम युद्ध मे फँसे रहने के कारण वह प्रत्यक्ष रूप मे सामने नहीं आ सका और उसने इस क्षेत्र मे अपने 'चौकीदार' खोजने का निश्चय किया। अमेरिकी सरकार के एक प्रवक्ता ने कहा "हमने यह निश्चय किया है कि हम उस क्षेत्र में दो प्रमुख

देशों—ईरान तथा सऊदी अरब—को प्रेरित करेंगे और उन्हें सहायता देंगे ताकि ये दोनों देश ब्रिटेन के जाने के बाद इस क्षेत्र में स्थायित्व बनाए रखने में प्रमुख भूमिका अदा कर सकें।" अमेरिका ने इस क्षेत्र में अपने हितों की चौकीदारी करने में ईरान को प्राथमिकता दी और 1971 से 1979 के बीच ईरान को लगभग 10 लाख डॉलर मूल्य के हथियार दिए। किन्तु 1979 की क्रान्ति से, जिसमें ईरान के शाह को देश छोड़कर भाग जाना पड़ा और ईरान की सत्ता धार्मिक नेता आयातुल्ला खोमैनी के हाथ में आ गई, अमेरिका को गहरा आघात लगा। न केवल उसका 'स्तम्भ' गिर गया, बल्कि उसे काफी अपमानित भी होना पड़ा। तेहरान में अमेरिकी दूतावास पर ईरानियों ने कब्जा कर लिया और उसके कर्मचारियों को बधक बना लिया। अमेरिका द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी ये बंधक छोड़े नहीं गए। अमेरिका जैसी महाशक्ति ने अपने को जिस तरह असहाय अनुभव किया वह द्वितीय महायुद्धोत्तर काल के इतिहास की एक अनोखी घटना है और कार्टर की असफलता का एक प्रबल प्रमाण है।

अमेरिका और ईरान की नई सरकार के बीच रस्साकशी का दौर कुछ इतना बढ़ गया कि राष्ट्रपति कार्टर ने कुछ ऐसे कदम उठाए जिन्हे 'खतरनाक' और 'घातक' करार दिया गया। कार्टर ने ईरान से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद कर अमेरिका से ईरानियों को निकाले जाने का आदेश दिया। इसके फलस्वरूप अमेरिका स्थित 40 राजनयिक अधिकारी तेहरान लौट गए। इनके अलावा वायुसेना मे प्रशिक्षण लेने वाले 192 तथा 17 नौसैनिक प्रशिक्षार्थी भी थे। ईरान के प्रति आर्थिक और व्यापारिक नाकेबन्दी लागू कर दी गई। आवश्यकता पड़ने पर बधकों की रिहाई के लिए अमेरिकी सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग किए जाने के भी संकेत दिए गए। अमेरिकी राष्ट्रपति ने यह भी आशा व्यक्त की कि उसके मित्रदेश (नाटो देश मुख्यतया) ईरान से सम्बन्ध विच्छेद कर लेंगे। 25 अप्रेल को अमेरिकी छापामारों ने, 4 नवम्बर, 1979 से राजधानी तेहरान मे बधक 50 लोगों को छुड़ाने का इरादा लेकर जो छापामार प्रहार किया उसमे वे चूक गए। उनके अपने ही दो हेलिकाप्टरों के टकरा-जाने से आठ व्यक्ति मारे गए। राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने अपनी उदासी को बिना छुपाए इस अभियान की असफलता को स्वीकार करते हुए कहा कि हेलिकाप्टरो मे खराबी के कारण इस प्रयास को छोड़ देना पड़ा और सैनिको को वापस लौट आने के आदेश दे दिए गए। आठ व्यक्तियों के अलावा काफी बड़ी सख्या में लोग घायल भी हुए। उनकी सख्या नही बताई गई। लेकिन कुछ राजनीतिक प्रेक्षकों के अनुसार ईरानी विमानरोधक तोपो ने अमेरिकी हेलिकॉप्टरो को मार गिराया। राष्ट्रपति कार्टर ने इस अभियान को 'कठिन और जोखिम भरा' करार दिया। अमेरिकी राष्ट्रपति की इस कार्रवाई पर मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। अधिकांश देशो ने अमेरिकी राष्ट्रपति की इस कार्रवाई को 'घबड़ाहट में उठाया गया कदम' बताया। मिस्र, सूडान को छोड़ सभी अरब देशो ने इस कार्रवाई की निन्दा की। कुछ लोगों का यह भी आरोप है कि छापामारो की यह कार्रवाई इजरायली और

मिस्र की जानकारी में हुई। कुछ प्रेक्षकों ने इजरायली और मिस्री छापामारों की टुकड़ियों की सहायता का भी उल्लेख किया। लेकिन इजरायली प्रधान मन्त्री बेगिन और मिस्री प्रधान मन्त्री मुस्तफा खलील दोनो ने इस तरह की खबरों को निराधार बताया। राष्ट्रपति कार्टर के कदम का विरोध सीनेटर कैनेडी और अमेरिकी कांग्रेस द्वारा भी किया गया। सीनेटर कैनेडी ने कहा कि इस तरह के युद्धस्तर जैसी कार्रवाई करने से पूर्व राष्ट्रपति को सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा से सलाह लेनी चाहिए थी।

25 अप्रेल, 1980 को अमेरिकी छापामार सैनिकों द्वारा 4 नवम्बर, 1979 से तेहरान में बंधक अमेरिकियों को छुड़ाने के असफल प्रयास के बाद राष्ट्रपति कार्टर संजीदा जरूर हो गए हैं लेकिन उन्होने हिम्मत नही हारी। अमेरिकी विदेश मन्त्री साइरस वेन्स ने राष्ट्रपति के कदम के विरोध में त्यागपत्र दे दिया और नए विदेश मन्त्री एडमण्ड मस्की की नियुक्ति कर दी गई। राष्ट्रपति ने बंधकों की रिहाई को लेकर अन्य अनेक प्रयास शुरू कर दिए हैं, किन्तु अक्तूबर, 1980 में प्रथम चरण तक कोई सफलता नही मिली है। ईरान-ईराक-युद्ध से यह समस्या और अधिक उलझ गई है।

अमेरिका को 1979–80 मे उठे अफगानिस्तान संकट मे भी असफलता का मुंह देखना पड़ा है। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों के प्रवेश को वह रोक नहीं पाया है। इस सम्बन्ध में पिछले एक अध्याय में चर्चा की जा चुकी है।

अमेरिका की एशियाई नीति : 1950 से 1978 तक

राष्ट्रपति कार्टर के जनवरी, 1978 मे आगमन के अवसर पर राजनीतिक क्षेत्र मे न केवल भारत अमेरिका सम्बन्धों का वरन् 1950 से 1978 तक अमेरिका की सम्पूर्ण एशियायी नीति का आकलन किया गया था। जनवरी, 1978 में दिनमान में प्रकाशित निम्न लेख अमेरिका की एशियायी नीति के महत्त्वपूर्ण पक्षों को उजागर करता है—

"इस सदी के छठे दशक के अन्तिम वर्षों से अमेरिकी विदेश नीति निर्धारकों के दिमाग मे समय-समय पर यह बात जोर पकड़ती रही है कि एशियाई देशों के प्रति अमेरिकी नीति बदली जाए। सातवें दशक मे अमेरिका की इच्छा के विपरीत बंगलादेश का उदय हुआ। वियतनाम में अपार जनशक्ति और धन नष्ट करने के बाद अमेरिका को वहाँ से हटना पड़ा। कड़े अमेरिकी प्रयत्नों के बावजूद वियतनाम, लाओस तथा कम्बोडिया एक-एक कर साम्यवादी शासकों के प्रभुत्व मे आ गए। अमेरिका को भारत द्वारा परमाणु परीक्षण करने की आशा कभी न थी। उसके द्वारा प्रवर्तित सैनिक सगठन 'सीएटो' तो पूर्णरूप से टूट चुका है एवं 'सैंटो' भी अपनी मौत की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। इस परिप्रेक्ष्य मे विचारणीय प्रश्न है कि आखिर एशिया में अमेरिका को ये दुर्दिन क्यो देखने पड़ रहे हैं? द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया मे उसकी विदेश नीति का स्वरूप क्या था एव समय-समय पर होने वाली घटनाओं पर उसकी प्रतिक्रिया कैसी रही है? क्या वर्तमान मे अमेरिका के एशियायी देशों के साथ वैदेशिक सम्बन्ध वास्तविकताओं पर आधारित समायोजन

करते हुए हैं ? कहीं उसकी विदेश नीति की नजर में एशिया की राजनीतिक तथा सामरिक महत्ता तो वर्तमान मे कम नहीं हुई है ? तथा भविष्य में अमेरिका को अपने सम्बन्धों के सन्दर्भ मे कौन-कौन सी चुनौतियों का सामना करना होगा ?

सन् 1949 में चीन मे साम्यवादी सरकार स्थापित होने के बाद अमेरिका ने सोचा कि एशिया में रूसी चीनी साम्यवादी गठबन्धन अपने प्रभाव का विस्तार करेगा। यह अमेरिकी राज व्यवस्था के लिए गम्भीर चुनौती थी। मूलभूत रूप से इसी को ध्यान मे रखते हुए अमेरिका ने एशिया में साम्यवाद को रोकने की कोशिश जोरों से प्रारम्भ कर दी। उन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अमेरिका ने स्वतन्त्रता, न्याय, लोकतन्त्र, विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा के नारों के सहारे एशियाई देशों को आर्थिक तथा सैनिक सहायता से बाँधा। किन्तु कोरिया और वियतनाम संकट में अमेरिकी रुख से यह स्पष्ट हो गया कि उसकी महत्वाकांक्षा समस्त विश्व को अपने प्रभावक्षेत्र में मानने की है। एशिया में अमेरिकी क्रियाकलाप अथवा उपस्थिति इसी ढंग से देखी जानी चाहिए।

एशिया में सैनिक सन्धियाँ करने और अनेक देशों को आर्थिक मदद देते समय अमेरिका के दो उद्देश्य थे : साम्यवाद का प्रसार रोकना तथा अपनी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को लाभ दिलवाना। व्यवहार में हुआ यह कि इसने बहुराष्ट्रीय निगमो का हित संवर्धन अधिक किया है और साम्यवाद के प्रसार को रोकने का कार्यक्रम दूसरी बात। अमेरिका ने जापान को छोड़ किसी अन्य एशियायी देश को औद्योगिक विकास के मामले में मदद नही की, जबकि सोवियत संघ ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। इस सोवियत नीति का एशियायी देशों पर उसके अनुकूल सकारात्मक प्रभाव पड़ा। इस क्षेत्र में अमेरिका तभी लोहा ले सकता था जब वह भी उसी प्रकार की सहायता उपलब्ध करता। यह नही, सोवियत सघ ने अमेरिका को राजनीतिक आकर्षण और चमक-दमक के मामले मे पीछे छोड़ दिया क्योंकि रूस ने तो औपनिवेशिक देशों में चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति सग्रामों का समर्थन किया और लोकतन्त्र का अगुआ कहलाने वाला अमेरिका चुप्पी साधे रहा।

कुछ लेखकों ने अमेरिकी विदेश नीति का मूल्यांकन एशिया के देशो को अधीनस्थ, ग्राहक एवं प्रतिरक्षा, इन तीन भागों मे बाँट कर करने की कोशिश की है। किन्तु अमेरिकी विदेश नीति इतनी विरोधाभास भरी रही है कि उसका इस प्रकार विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इसलिए यहाँ एशियाई क्षेत्र को पूर्व एशिया, दक्षिण पूर्व एशिया एवं दक्षिण एशिया मे विभाजित करके और देश विशेष के सन्दर्भ में अमेरिकी नीति का विश्लेषण करना समीचीन होगा।

अमेरिका और पूर्वेशिया—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका ने युद्ध से क्षत-विक्षत जापान को उसके आर्थिक पुनर्निर्माण मे भारी मदद की। क्योंकि अमेरिका जापान को एक महत्वपूर्ण एशियाई शक्ति के रूप में उभरने की क्षमता को नजर-अन्दाज नहीं कर सकता था। प्रारम्भ से जापान की सुरक्षा उसके हाथों में रही है किन्तु सातवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों से अनेक जापानवासियों ने महसूस करना

शुरू किया कि अमेरिकी उपस्थित अमेरिका का ही अधिक हितसंवर्धन करती है। जब सन् 1972 में निक्सन-प्रशासन ने जापान सरकार से बिना मशविरा किए चीन के साथ सम्बन्ध जोड़े तो उसको धक्का लगा।

फिलहाल जापान की चीन और सोवियत संघ के प्रति नीति अमेरिका जैसी ही है। जापान चीन दृढ़ सम्बन्धों का लाभ यह होगा कि जापान को चीनी का कच्चा माल उपलब्ध हो जाएगा, जिसकी उसे सख्त जरूरत है। विगत घृणा के बाद भी जापान सोवियत संघ के साइबेरिया क्षेत्र के विकास में सक्रिय है। यह उल्लेखनीय है कि जापान, रूस एवं चीन के साथ सम्बन्ध अमेरिका जापानी मैत्री एवं सुरक्षा सन्धियों (1951) के बलबूते पर ही विकसित कर रहा है। वैसे जापान को अमेरिका की जरूरत है एवं अमेरिका को जापान की। जापान की सुरक्षा तथा ऊर्जा समस्याओं का हल अमेरिका जैसी विश्वशक्ति के सहयोग से ही हो सकता है और भविष्य मे एक स्थायी एशियायी सन्तुलन के लिए अमेरिका को जापान की आवश्यकता है।

उत्तर एवं दक्षिण कोरिया के बीच मतभेद, अमेरिकी विदेश नीति निर्धारकों के लिए सिरदर्द अभी तक बना हुआ है जिसमें चार विश्व शक्तियाँ उलझी हुई हैं। सन् 1950 में हुई मुठभेड़ में अमेरिका तथा जापान ने उत्तर कोरिया तथा सोवियत सघ एवं चीन ने दक्षिण कोरिया का समर्थन किया था। दक्षिण कोरिया का शासक कामरेड किम सुंग अभी भी संयुक्त कोरिया के सपने देख रहा है। चूंकि जापान के लिए दक्षिण कोरिया की सुरक्षा बड़े महत्त्व की है, इसलिए अमेरिका सदैव जापान एवं दक्षिण कोरिया से परामर्श करके हां कोई कदम उठाएगा। सोवियत सघ और चीन दोनो कोरिया समस्या को उग्र रूप से भड़का कर अमेरिका से वर्तमान मे सम्बन्ध नही बिगाडना चाहेंगे। फिर भी कार्टर-प्रशासन के मन में यह बात जरूर होगी कि रूस एव चीन के बीच गहरे मतभेद होने के बावजूद उन्होंने वियतनाम के लाल होने की प्रक्रिया मे पर्याप्त सहायता दी थी और कही भविष्य में यह पुनरावृत्ति कोरिया मे भी न हो जाए। इन्ही बातों को ध्यान मे रखकर कहा जा सकता है कि अमेरिका उत्तर और दक्षिण कोरिया के बीच कोई समझौता कराने का प्रयत्न भविष्य मे करने का प्रयास करेगा। उसके पहले अमेरिका अपनी सैनिक उपस्थिति दक्षिण कोरिया से कभी भी नहीं हटाएगा।

साम्यवादी चीन के प्रति अमेरिकी नीति उसके प्रभाव को रोकने में समर्थ रही है। 'सीएटो' व 'सैंटो' का निर्माण, भारत-चीन युद्ध (1962) मे भारत की मदद तथा सन् 1971 तक चीन का संयुक्त राष्ट्रसघ मे प्रवेश रोके रख कर वैसे छठे दशक के अन्तिम वर्षों में साम्यवादी चीन ने विश्व को अपनी सामरिक शक्ति और आर्थिक विकास के जोर पर यह दर्शा दिया था कि वह भी एक महाशक्ति है। अमेरिका ने इस तथ्य को गम्भीरता से लेकर तथा बढ़ते हुए रूसी प्रभाव को रोकने के लिए सन् 1972 मे अपना हाथ चीन की तरफ बढ़ाया। तत्कालीन राष्ट्रपति निक्सन ने पीकिंग यात्रा भी की। यही से अमेरिका का त्रिकोणीय राजनय शुरू हुआ वैसे सन् 1968–69 के लगभग स्वय चीन को यह मालूम होने लगा था कि उसे

सोवियत संघ के साथ बढ़ते मतभेद कहीं सैनिक मुठभेड़ का रूप धारण न कर लें। इस खतरे को टालने तथा एशिया में बढ़ते रूसी प्रभाव को रोकने के लिए अमेरिका से चीनी सम्बन्ध प्रभावकारी कदम भी था।

हालांकि अमेरिका-चीन सम्बन्धों की शुरूआत के बाद दोनों देशों में दुतरफा व्यापार सन् 1974 मे एक अरब डॉलर तक पहुँच गया, किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि सन् 1975 में यह करीब घट कर आधा हो गया। माओ एव चाउ-एन-लाई के मृत्योपरान्त चीन के नए नेतृत्व की सोवियत सघ के प्रति वही पुरानी शत्रुतापूर्ण नीति है, जिससे निकट भविष्य मे सोवियत-चीन सम्बन्धों मे सुधार के आसार नही लगते। उल्टे नए नेतृत्व ने अमेरिकी बहुराष्ट्रीय निगमों मे दिलचस्पी दिखाई है।

अभी कुछ ही माह पूर्व अमेरिकी विदेश मन्त्री श्री वैंस चीन यात्रा पर गए जो आशानुकूल सार्थक नही रही। चीन चाहता है कि अमेरिका ताइवान से अपनी सैनिक उपस्थिति हटा ले तथा सन् 1954 मे उसके साथ किए गए पारस्परिक सुरक्षा समझौते को तोड़ दे। इसके लिए अमेरिका फिलहाल तैयार नही है। सन् 1976 में ही प्रतिनिधि सभा के 218 सदस्यो ने एक प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किए थे कि अमेरिका चीन से सम्बन्ध दृढ़ करते समय ताइवान के मुद्दे पर किसी भी प्रकार का समझौतावादी रुख न अपनाए। इसलिए कार्टर-प्रशासन निकट भविष्य में इस बारे मे अमेरिकी जनमत से दबा रहेगा। जहाँ तक चीन द्वारा अमेरिकी शस्त्रास्त्रों को प्राप्त करने की ख्वाहिश है, वह आंशिक मात्रा मे ही पूरी हो सकती है। इसका कारण कार्टर-प्रशासन सैनिक शस्त्रो की बिक्री में विगत प्रशासनों की तरह अधिक दिलचस्प नजर नही आता। इसके अलावा चीन को ज्यादा हथियार अमेरिका के एशियायी हितों तथा अमेरिकी तनाव शैथिल्य के लिए अहितकर होंगे। अतः फिलहाल जब तक रूस-चीस तनाव जारी है, अमेरिका-चीन सम्बन्धों की फसल अधपकी ही रहेगी।

अमेरिका एवं दक्षिण-पूर्व एशिया—इसी दशक में वियतनाम के बाद कम्बोडिया एवं लाओस के शासन की बागडोर साम्यवादी हाथों में पड़ने के बाद अमेरिका की प्रतिष्ठा दक्षिण-पूर्व एशिया मे ही नही घटी है बल्कि इसका विश्व-स्तर पर भी प्रभाव पड़ा है। एशिया मे अमेरिका द्वारा घोषित दायित्वो को निभाने की क्षमता के बारे में केवल जापान, कोरिया और ताइवान ही चिन्तित नही हैं, बल्कि थाईदेश, सिंगापुर, मलेशिया, इण्डोनेशिया एव फिलिपीन द्वीपसमूह भी चौकन्ने हुए है। पाँचवें दशक तक दक्षिण-पूर्व एशिया मे अमेरिका तथा जापान के प्रभाव से टक्कर लेने वाली कोई शक्ति नही थी। छठे दशक में सोवियत संघ तथा चीन ने इस क्षेत्र मे बागी आन्दोलनों को भारी मदद देना शुरू किया जिसका प्रभाव सातवें दशक मे अब पड़ा है। अमेरिका द्वारा दक्षिण-पूर्व एशियायी देशो के लिए गढ़ी गई 'डोमिनो थ्योरी' उसके स्वयं द्वारा अपार सैनिक एवं आर्थिक मदद के बावजूद रक्षा न हो सकी। वर्तमान में, साम्यवादी वियतनाम, कम्बोडिया एव लाओस से दक्षिण-पूर्व

एशिया के सभी गैर-साम्यवादी देश आतंकित और भयभीत है कि कहीं उनके यहाँ भी साम्यवादी ताकतें गड़बड़ी करने का सक्रिय प्रयास न करें। अमेरिका के इस क्षेत्र मे जो सैनिक अड्डे थे उनमे से अब वह धीरे-धीरे अपनी फौज कम कर रहा है। थाईदेश ने भी अमेरिका से अपनी सैनिक उपस्थिति हटा लेने की माँग कुछ समय से की है। किन्तु साम्यवादी चीन नही चाहता कि अमेरिका अपने सैनिक अड्डे दक्षिण-पूर्व एशियायी क्षेत्र से पूरी तरह हटाए क्योंकि उसे सोवियत संघ द्वारा यह उसकी जगह ले लिए जाने का खतरा है। सिंगापुर का मत भी चीन के साथ है।

वैसे अमेरिकी विदेश नीति के लिए दक्षिण-पूर्व एशिया मे हिन्द चीन देशों में खोई प्रतिष्ठा को पुनः अर्जित करना तात्कालिक चुनौती है। इनमें सयुक्त वियतनाम को अमेरिकी सहायता महत्त्वपूर्ण होगी। वियतनाम ने चीन के प्रभाव को सन्तुलित करने के लिए रूस से सम्बन्ध दृढ़तर किए हैं तो दूसरी ओर स्वय चीन कम्बोडिया, थाईदेश, मलेशिया, फिलीपीन से ठीक सम्बन्ध बनाए हुए है। इस विकासमान समीकरण को ध्यान में रखते हुए दक्षिण-पूर्व एशिया मे वियतनाम एवं गैर-साम्यवादी तथा खनिज तेल सम्पन्न इण्डोनेशिया, अमेरिकी विदेश नीति के निर्धारण मे महत्त्वपूर्ण कारक बनेंगे।

असल में, दक्षिणपूर्व एशिया मे अभी भी अमेरिका के आर्थिक एव राजनीतिक हित महत्त्वपूर्ण हैं। पाँच देशों के क्षेत्रीय सगठन 'आसियन' (इण्डोनेशिया, मलेशिया, फिलीप्पीन द्वीपसमूह, सिंगापुर एव थाईदेश) मे केवल थाईदेश को छोड़ कर शेष सभी देशों मे अमेरिका की असीमित पूँजी लगी हुई है। इस क्षेत्र की अपार प्राकृतिक सम्पदा उसके आर्थिक हितों का आकर्षण बनी हुई है। इसी कारण 'आसियान' विभिन्न परियोजनाओं की अमेरिका खूब मदद कर रहा है तथा उसके व्यापारिक सम्बन्ध दिन-दूने और रात चौगुने बढ़ते जा रहे है। इससे लगता है कि अमेरिका की सैनिक उपस्थिति का पूरी तरह हटना बहुत दूर की बात है।

अमेरिका और दक्षिण एशिया—शुरू में अमेरिका ने चाहा कि नवोदित राष्ट्र साम्यवादी प्रभाव को रोकने में अमेरिकी सैनिक गठबन्धन में शामिल हो, किन्तु भारत, अफगानिस्तान, श्रीलंका आदि जैसे गुटनिरपेक्ष देशो द्वारा यह करना सम्भव न था। पाकिस्तान सन् 1954–55 मे क्रमश. सीएटो एवं सैंटो का सदस्य बना, जिसे अमेरिका ने चीनी प्रभाव को रोकने का अच्छा साधन माना। बहरहाल, पाकिस्तान ने अमेरिका से शस्त्रास्त्र एवं आर्थिक सहायता पाकर भारत से कश्मीर पर उलझने की कोशिशे तेज कर दीं। अपार मात्रा मे पाकिस्तान को अमेरिकी शस्त्रों ने भारत एवं अफगानिस्तान जैसे बड़े दक्षिण एशियायी देशों को अमेरिका से विमुख किया।

हालांकि सन् 1962 में भारत पर चीन के अचानक फौजी हमले के समय अमेरिका ने भारत की भरपूर मदद की थी तथा कैनेडी-प्रशासन के युग में दोनों के बीच मधुर सम्बन्धों के आरम्भ होने के लक्षण भी दिखाई दिए किन्तु कश्मीर समस्या पर अमेरिका के भारत-विरोधी रुख एवं पाकिस्तान को असीमित फौजी

शस्त्रों के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध में अमेरिका ने दोनों को विदेशी सहायता रोक दी, किन्तु कश्मीर विवाद पर उसने सयुक्तराष्ट्र में भारत विरोधी रुख जारी रखा। सन् 1971 में बंगलादेश को लेकर हुए भारत पाक युद्ध के पूर्व अमेरिका ने यहाँ तक कह दिया कि सम्भावित भारत-पाक युद्ध में यदि चीन कूदा तो भारत को अपनी सुरक्षा स्वयं करनी होगी। इसी ने सन् 1971 मे ही भारत–सोवियत मैत्री एवं सहयोग सन्धि का मार्ग प्रशस्त किया, जिसके प्रति अमेरिका ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

सन् 1971 के भारत-पाक युद्ध में भारत की जीत से अमेरिकी विदेश नीति निर्धारकों को यह बात साफ हो जानी चाहिए थी कि राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक रूप से भारत दक्षिणएशिया की सबसे बड़ी शक्ति है। किन्तु यह नहीं हुआ और उसने पाकिस्तान को सैनिक शस्त्र भेजना समय-समय पर जारी रखा। सन् 1974 में पी. एल. 480 को लेकर अमेरिका ने भारत के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया तथा यह मसला सुलझ गया। लेकिन उसी वर्ष फिर हिन्दमहासागर में बढ़ती अमेरिकी सैनिक गतिविधि तथा भारत द्वारा द्वारा परमाणु परीक्षण से दोनों देशों मे सम्बन्ध मजबूत न हो सके। वैसे अक्तूबर, 1974 के अन्तिम सप्ताह में तत्कालीन अमेरिकी विदेश मन्त्री डॉ. कीसिंगर नई दिल्ली आए। उन्होंने भारतीय गुट-निरपेक्षता तथा परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण कार्यों में उपयोग की प्रशंसा की तथा दक्षिणएशियायी देशो के आन्तरिक मामलों में अमेरिका द्वारा हस्तक्षेप न करने का वादा भी किया। जून, 1975 से भारत मे आन्तरिक आपातस्थिति का दौर चला जिसके प्रारम्भिक दिनो में अमेरिकी प्रतिक्रिया विरोध की थी किन्तु उत्तरोत्तर समय में वह कम होती गई। मार्च, 1977 में भारतीय लोकसभा के आम चुनावो में जनता पार्टी की जीत से भारतीयों को ही नहीं बल्कि अनेक अमेरिकी प्रेक्षको ने भी दोनो देशो के सम्बन्ध मधुर होने की आशाएँ व्यक्त की। सत्ताधारी दल भारत में ही नहीं बल्कि इसी वर्ष अमेरिका में भी बदला था।

भारत अमेरिकी सम्बन्धों के उक्त घटनाक्रम को दृष्टिगत रखते हुए अनेक लेखकों ने अमेरिका की भारत नीति पर विभिन्न तरीके से विश्लेषण किया है। इनमें अमेरिका मे अध्यापन में कार्यरत 'प्रोफेसर बलदेवराज नायर' ने प्रो. लिस्का की एक पुस्तक के उद्धरण को उद्धृत करते हुए हाल ही मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'जिओपोलिटिक्स ऑफ इण्डो-अमेरिकन रिलेशंस' में अच्छा विश्लेषण किया है। उनके अनुसार विश्व-महाशक्ति के सम्मुख किसी देश से सम्बन्ध बनाते वक्त तीन विकल्प रहते हैं—उसको अपनी विदेश नीति का अधीनस्थ बनाना, उसका प्रभाव रोकना एवं उसके साथ समायोजन करना। प्रो. बलदेवराज नायर के इस विश्लेषण में जरूर दम है कि मोटे तौर पर सन् 1954 तक अमेरिका ने भारत को साम्यवादी गुट के खिलाफ जेहाद छेड़ने में आमन्त्रित कर उसे अधीनस्थ बनाने की कोशिश की। जब यह सम्भव न हुआ तो सन् 1954 में पाकिस्तान को असीमित सैनिक एवं आर्थिक मदद देकर भारत के समकक्ष शक्ति के रूप में खड़ा कर उसका प्रभाव

रोकने की नीति अपनाई। किन्तु सन् 1971 मे पाकिस्तान की हार, सन् 1974 मे भारत द्वारा परमाणु परीक्षण के कारण भारत को अमेरिका द्वारा दक्षिणएशिया की सबसे बड़ी शक्ति के रूप मे स्वीकार करना पड़ा। जो सन् 1974 की कीसिंगर की भारत यात्रा और हाल ही मे कुछ दिनों पूर्व अमेरिकी प्रतिनिधि श्री क्रिस्टोफर की यात्रा के दौरान दिए गए भाषण में स्पष्ट होती है, किन्तु सन् 1971 के बाद भारत के साथ अमेरिकी समायोजन सांकेतिक ही समझा जाना चाहिए, क्योंकि इसने अभी तक पूर्ण रूप से मूर्त रूप धारण नहीं किया है।

श्री कार्टर अपनी जनवरी, 1978 की भारत यात्रा के समय उक्त अमेरिकी सांकेतिक समायोजन को पूर्ण रूप से मूर्त नहीं बना पाए। वैसे दोनो देशों के बीच हिन्द-महासागर में बढ़ती अमेरिकी उपस्थिति एवं भारत की आणुविक नीति जैसे स्थूल राष्ट्रीय हितों से जुड़े मसलो के बारे में मतभेद है। भारत तथा अमेरिका दोनों में 1977 के वर्ष में शासक दल का परिवर्तन हुआ है जिनकी राजनयिक (कूटनीतिक) शैली में अपने-अपने विगत प्रशासनो से फर्क है। दोनो मानवीय अधिकारों की रक्षा और लोकतन्त्र की दुहाई पर ज्यादा जोर देते है। यह सही है कि पाकिस्तान में चल रही सैनिक प्रशासन की उहापोहजनक स्थिति से अमेरिकी विदेश नीति की उसमे दिलचस्पी कम हुई है तथा भारत की ओर बढ़ी है। अब देखना यह है कि अमेरिका के राष्ट्रपति के आगामी चुनावो के बाद अमेरिकी नीति मे क्या फेर बदल होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि जहाँ तक एक ओर चीन और अमेरिका एशिया मे सोवियत सघ के प्रभाव को क्षीण करने की कोशिश कर रहे हैं वही दूसरी ओर सोवियत संघ उनका प्रतिकार करने मे लगा हुआ है। यह भी उल्लेखनीय है कि अमेरिका और रूस कभी नही चाहेगे कि चीन एशिया का नेतृत्व करे। इस परिप्रेक्ष्य मे अमेरिकी विदेश नीति सोवियत सघ एवं साम्यवादी चीन दोनों का उपयोग एक दूसरे के प्रभाव को रोकने के लिए करेगी तथा साथ मे दोनों के साथ एक हद तक ठीक-ठीक सम्बन्ध बनाए रखेगी। इसे अमेरिका की विशिष्ट उपलब्धि ही कहा जाएगा क्योंकि अब अमेरिका प्रभाव मानव, आर्थिक और सैनिक खर्चे के द्वारा नही बल्कि विश्व राजनीति को त्रिकोणीय कूटनीति के द्वारा चलाकर प्रभावित करने लगा है।

अमेरिका की एशिया नीति में एक परिवर्तन उसके उद्देश्य प्राप्ति के साधन का हुआ है। पहले अमेरिका को एशिया के भू-भाग पर सैनिक अड्डों की विशेष जरूरत पड़ती थी. किन्तु अब शस्त्रीय टेक्नोलॉजी के विकास के कारण इसकी आवश्यकता कम हो गई है। अब अमेरिका पनडुब्बी से छोडे जाने वाले प्रक्षेपास्त्रों, क्रूज प्रक्षेपास्त्रो और अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रो के द्वारा सैनिक गतिविधियाँ स्थलीय सैनिक अड्डों की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक एवं प्रभावकारी ढंग से चला सकता है जिसमें वह अभी सक्रिय भी है। इसका परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप बदलने के कारण आया है। विगत में अमेरिका मोटे तौर पर साम्यवाद के एशिया मे प्रसार के विरोध पर जोर देता था किन्तु अब वह सोवियत संघ और चीन

बीच मतभेद का फायदा उठाकर एशिया में दोनों का प्रभाव एक-दूसरे के माध्यम से रोकने में लगा हुआ है। तीसरा परिवर्तन यह है कि पहले सोवियत संघ के साथ अमेरिका ने एशियायी देशो के सम्बन्ध में हाथ नहीं मिलाया। किन्तु अब सोवियत अमेरिकी सहाधिकार के कुछ-कुछ लक्षण नजर आ रहे हैं। दोनों महाशक्तियों की एशियायी देशो द्वारा आणविक शक्ति के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध मे क्रमोवेश समान रुख इस तथ्य को उजागर करता है।

अमेरिका की विगत एशिया नीति मे निरन्तरता यह है कि वह यह देखकर किसी देश से सम्बन्ध बनाती एव बिगाड़ती नहीं है कि सम्बद्ध राष्ट्र का शासक अधिनायक है या लोकतन्त्रवादी। लोकतन्त्रीय भारत की उपेक्षा एवं अधिनायकवादी देशों को शस्त्र एवं आर्थिक सहायता तो हमे इसी निष्कर्ष पर पहुँचने को मजबूर करती है। अमेरिकी द्विपक्षीय विदेशी आर्थिक सहायता अभी भी अधिकतर एशियाई दशो को औद्योगिक विकास के लिए नही दी जाती बल्कि उसके द्वारा मनचाही दिशा मे विकास हेतु दी जाती है जो अमेरिका का हित सवर्धन अधिक करती है और प्राप्तकर्त्ता देश का कम। यह स्पष्ट है कि एशिया में अमेरिका की सैनिक उपस्थिति कम हो रही है पर वह सिर्फ राजनीतिक और सामरिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। आखिर अमेरिका विश्व पूँजीवाद का गढ है और उसके व्यापार को आचरणमूलक सिद्धान्त की मान्यता प्राप्त है। ऐसी हालत में अनेक निजी व्यावसायिक हित या बड़ी-बड़ी कम्पनियों के स्वार्थ अमेरिकी राष्ट्रीय हितों के साथ जुड़ जाते हैं। अनेक बहुराष्ट्रीय निगम मूलतः अमेरिकी स्वामित्व एव नियन्त्रण वाली कम्पनियाँ है और इनके क्रियाकलाप गैर-सरकारी भले ही हो, उनका विश्लेषण एशियाई क्षेत्रो मे अमेरिकी उपस्थिति के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए।

उदाहरण के तौर पर हम डॉ. सुकर्णो के बाद (1955) के इण्डोनेशिया को ले सकते हैं। इण्डोनेशिया से न तो कोई सैनिक समझौता है और न ही वहाँ की भूमि पर अमेरिकी सैनिक अड्डा है। इण्डोनेशिया हमेशा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का एक प्रमुख स्तम्भ रहा है, तब भी गैर-सरकारी उपस्थिति के माध्यम से अमेरिका ने वहाँ की राजनीति और अर्थव्यवस्था पर अच्छा खासा प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। 'फ्री पोर्ट सल्फर कम्पनी' पश्चिमी इरियान में निकल की खुदाई का काम करती है और अल्कोआ कम्पनी का इण्डोनेशियाई बॉक्साइट पर अधिकार है। 'वेयर हाउस' और 'इण्टरनेशनल पेपर कम्पनी' को बड़े पैमाने पर सुमात्रा के जगल काटने का ठेका मिला है और अन्य अमेरिकी कम्पनियाँ वहाँ टीन, तेल आदि के उत्खनन के क्षेत्र में सक्रिय हैं और सबसे बड़ा ससाधन इण्डोनेशिया की विपुल जनसख्या है जो अमेरिकी उत्पादन के लिए सस्ते श्रमिक प्रस्तुत करती है।

अमेरिकी आधिपत्य विकासशील देशों में सिर्फ आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहता सांस्कृतिक व शैक्षणिक क्षेत्र मे प्रवर वर्ग को प्रभावित कर नीति निर्धारण को अपने पक्ष मे अनुकूल करने के लिए भी अमेरिका सदैव तैयार रहता है। यह

काम भी हमेशा सरकारी माध्यम से नहीं होता बल्कि विश्वविद्यालयों के रचनात्मक सहयोग से होता है। इण्डोनेशिया, मलेशिया, पाकिस्तान आदि देशों की सहायता के लिए सन् 1954 से अमेरिका विकास परामर्श सेवाएँ चला रहा है। अमेरिकी कौंसिल तथा एम आई.टी. विश्वविद्यालय इस क्षेत्र में सक्रिय है। अमेरिकी फोर्ड फाउण्डेशन, रॉकफेलर फाउण्डेशन एव फुलब्राइट द्वारा गरीब देशों के होशियार बुद्धिजीवियों को भारी राशि मे छात्रवृत्तियाँ और सुविधाएँ देकर पश्चिमी उदार लोकतन्त्र या उनके हितानुकूल अन्य विचारधारा के पक्ष में लिखने में प्रोत्साहन की बात किसी से छिपी नहीं है। गरीब देशों के गरीब पुस्तकालयो में भारी संख्या में सस्ती पुस्तकें भिजवाई जाती है ताकि उनके पाठक एक विशेष राजनीतिक एव सांस्कृतिक तन्त्र से प्रभावित रहें। अधिकांश एशियाई देशों में अमेरिकी दीक्षा प्राप्त, अमेरिकी समर्थक विशेषज्ञ एव परामर्शदाता उपस्थित है। इनके रहते अमेरिकियो को खुद बने रहने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

एशिया और अमेरिका के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण बात अमेरिकी सामरिक एवं राजनीतिक चिन्तन मे एशिया के सम्मिलित मूल्यांकन की है। निश्चय ही अमेरिकी पूंजी सामरिक एवं जातिगत कारणों से, अधिकतर यूरोप में केन्द्रित रही है तथापि समय-समय पर कोरिया, वियतनाम जैसे अनेक सकटों के द्वारा एशिया अमेरिका की विदेश नीति के लिए महत्त्वपूर्ण बना है। प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान् जॉर्ज केनन ने एक बार किसी और सन्दर्भ में कहा था कि अमेरिकी विदेश नीति घड़ी के पेण्डुलम की भांति एकान्तवास एवं हस्तक्षेप के दो छोरों पर झूलती रहती है। यह बात एशिया में अमेरिकी नीति पर और अच्छी तरह लागू होती है। इसके साथ ही जुड़ी हुई एक बात और है कि अक्सर कई एशिया एवं अमेरिकावासियो के एक दूसरे के मन मे अति सरलीकृत धारणाएँ, सामान्यीकरण होते है, शीर्षस्थ नीति निर्धारक भी इनसे मुक्त नही होते। मसलन आम तौर पर यह माना जाता है कि डेमोक्रेटिक प्रशासन एशियावासियो के प्रति अधिक सवेदनशील होता है पर वह तथाकथित आदर्शवादी कैनेडी युग था जिसमें वियतनाम को पाषाण युग में धकेलने की कोशिश की गई, और आणविक एवं सैनिक शस्त्रास्त्रों की अन्धी दौड़ शुरू हुई। इसी प्रकार अमेरिकी भारत को सोवियत सघ का पिछलग्गू मानते हैं। वे भी अपनी निपट नासमझी का ही प्रमाण देते हैं। एक छोटे से उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी। कुछ ही दिनों पहले तक कम से कम भारत में यह माना जाता था कि हेनरी कीसिंगर की चिन्तन प्रक्रिया एशियाई देशों के विरुद्ध है। शक्ति स्पर्द्धा की उनकी पकड़ बडी भौंड़ी एवं स्थूलतः यथार्थवादी समझी जाती रही। पर उनके परिष्कृत उत्तराधिकारी सलाहकार श्री ब्रेझिन्स्की ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनकी प्रख्यात महाद्वीपी योजना मे जापान को छोड़कर किसी एशियाई देश को कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

वस्तुतः एशिया और अमेरिका के सम्बन्धों के बारे में सरलीकरण से

हासिल होने वाला नहीं है। वैसे अमेरिका की विदेश नीति अधिकांश एशियाई देशों को या तो अधीनस्थ बनाने या उसका प्रभाव रोकने की रही है जबकि आदर्श स्थिति दोनों के समायोजन की होनी चाहिए। जैसा कि पं. जवाहरलाल नेहरू ने भारत-अमेरिकी सम्बन्धों के बारे में एक बार कोलम्बिया विश्वविद्यालय मे कहा था कि अमेरिका और भारत एक दूसरे को नकार कर सुखी अन्तर्राष्ट्रीय जीवनयापन नही कर सकते। वैसे ही एशिया और अमेरिका भी परस्पर सहकार एव समझदारी द्वारा ही अपना हित साधन कर सकते है, वैमनस्य की भावना से नही।

अमेरिकी विदेश नीति का मूल्यांकन
(Evaluation of American Foreign Policy)

युद्धोत्तरकालीन अमेरिकी विदेश नीति के विश्लेषण से यही स्पष्ट होता है कि घोषणाओं के अलावा वास्तव मे वह कभी भी उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोधी नही रहा है और यदि कभी उसने ऐसा किया भी है तो राष्ट्रीय स्वार्थों से प्रेरित होकर ही। सत्य तो यह है कि आर्थिक और सैनिक सहायता द्वारा अमेरिका ने अपना एक अदृश्य साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा की है जिसमे वह काफी हद तक सफल भी हुआ है। लेटिन अमेरिका और पूर्वी एशिया उसके साम्राज्य-विस्तार के मुख्य क्षेत्र रहे हैं। उसने विश्व के देशो में अपने अनेक सैनिक अड्डे स्थापित कर रखे है तथा अनेक देशों के साथ असमान आर्थिक और सैनिक समझौते किए हैं। अरब-इजरायल संघर्ष के माध्यम से उसने पश्चिमी एशिया में पाए जाने वाले अपार तेल-भण्डारो पर अपना नियन्त्रण रखने की चेष्टा की है। ट्रूमैन सिद्धान्त, आइजनहॉवर सिद्धान्त, आदि इस उद्देश्य की पूर्ति के ही साधन रहे है। पूर्वी एशिया में भी उसने कुछ समय पूर्व तक पद-दलित शासक च्यांग-काई-शेक को चीन के शासक के रूप मे मान्यता दे रखी थी। वह वियतनाम और कम्बोडिया मे कठपुतली सरकारो का सचालन करता रहा है तथा पश्चिमी एशिया में इजरायल को अपनी हठधर्मी पर अड़े रहने मे सहायता दे रहा है। यूरोप मे वह भूतपूर्व फासिस्टों और नाजियों का समर्थन कर रहा है। उसके इन सब कार्यों के फलस्वरूप विश्व-शान्ति की कड़ियाँ मजबूत होने के बजाय विश्व-युद्ध का तनावपूर्ण वातावरण ही विकसित होता जा रहा है।

पिछले बीस वर्षों मे अमेरिका विश्व की सबसे बड़ी सैन्य-शक्ति के रूप में सामने आया है। उसके पास सबसे बड़ा सशस्त्र सैनिक दस्ता है, चीन से भी बड़ा जो कि संसार का सबसे घना बसा देश है। उसकी सैनिक सख्या अपने निकटतम प्रतिद्वन्द्वी रूस से भी अधिक है। 42 से भी अधिक देशों के साथ उसके सैनिक समझौते हैं और 33 देशों में 2,000 से अधिक स्थानों पर सैनिक अड्डे हैं। पिछले बीस वर्ष में उसने अपने राष्ट्रीय राजस्व का आधे से अधिक भाग इन सैनिक समझौतो पर व्यय किया है। अपने इन दायित्वों को निभाने में अगर वह अब सकोच करता है और यूरोप या सुदूर-पूर्व से वह हटता है तो उसके रिक्त स्थान की

पूर्ति करने को दो अजगर तैयार खड़े है—रूस और चीन। यह बात अमेरिका को सहन नहीं।

अमेरिकी विदेश नीति के अध्येता को ऐसा लगेगा मानो नैतिकता और विश्व-शान्ति के लिए क्या आवश्यक है। इसका निर्णय करने का ठेका केवल अमेरिका ने ही ले लिया है। एशिया में तो अमेरिकी विदेश नीति बडी-बडी गल्तियों की शृंखला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तव में अमेरिका ने एशिया को पाश्चात्य औपनिवेशिक शक्तियों के चश्मे से ही देखने का प्रयत्न किया है और अफ्रेशियायी देशों के प्रति राजनीति के निर्धारण में पुरानी दकियानूसी नीति का प्रयोग कर रहा है। निक्सन-प्रशासन ने जो कुछ किया, फोर्ड-प्रशासन भी उसी लीक पर चला। 20 जनवरी, 1977 को राष्ट्रपति पद जिम्मी कार्टर ने सम्भाला और तब से अमेरिका की नीति फोर्ड-प्रशासन की तुलना में अधिक यथार्थवादी, उदार और कुछ मामलों में उत्तेजनात्मक बनी है। राष्ट्रपति कार्टर की अपनी कार्यशैली है। प्रारम्भ मे कार्टर ने भारतीय उपमहाद्वीप में अमेरिकी शस्त्र नीति पर पुनर्विचार किया और भारत के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया, किन्तु अफगानिस्तान ने रूसी हस्तक्षेप के बाद से वह पाकिस्तान को शस्त्रों से सज्जित करने के सम्बन्ध में वापिस अमेरिका की पिछली नीति के निकट आते दिखाई दे रही है। कार्टर-प्रशासन अपने इस प्रारम्भिक नीति से कुछ डिगने लगा है कि—एशिया में भारत लोकतन्त्र का गढ है और भारतीय हितों की कीमत पर अमेरिका को अपनी सकीर्ण नीतियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। कार्टर की उदार नीति का यह सबल पक्ष रहा है कि उन्होने मानवाधिकार पर बल दिया है और अपनी नैतिकता की राजनीति को विश्व में प्रभावी बनाने की दिशा में भी उन्होंने कदम उठाए हैं। पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापना की दृष्टि से कार्टर-प्रशासन की भूमिका विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। कार्टर-प्रशासन चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने को प्रयत्नशील है। पश्चिम एशिया में रूस के बढते प्रभाव और विशेषकर अफगानिस्तान में रूसी सैनिकों की उपस्थिति से कार्टर इतने आशंकित हो गए हैं कि वे पिण्डी-पेकिंग-वाशिंगटन धुरी को नई शक्ति प्रदान करना चाहते हैं। भले ही इससे भारत महाद्वीप और एशिया मे सघर्ष के बिन्दु पैदा हों। ईरान-ईराक संघर्ष की आड़ मे फारस-खाड़ी-क्षेत्र में अमेरिकी हस्तक्षेप का खतरा बढता जा रहा है।

अमेरिका इस बात से परिचित है कि आज के युग में युद्ध-पूर्व साम्राज्यवादी व्यवस्था को कायम नहीं किया जा सकता किन्तु वह अपने आर्थिक साम्राज्य के प्रसार की आड़ मे दुनिया भर में अपने सैनिक अड्डे स्थापित करने को प्रयत्नशील है। विश्व के अनेक देशों में दोनों महाशक्तियों के सैनिक अड्डे कायम हैं और इस होड मे अमेरिका रूस से बहुत आगे है। अनेक उद्देश्यों के साथ अमेरिका ने असमान आर्थिक और सैनिक सन्धियाँ की हैं जिसके परिणामस्वरूप उन देशों को बहुत कुछ उसी नीति पर चलना पड़ता है जो अमेरिकी प्रशासन को मंजूर हों। अमेरिका

विश्व का महान लोकतन्त्री देश है लेकिन यूरोप के फासिस्ट तत्वों का लेटिन अमेरिका के फासिस्ट शासनतन्त्र को और एशिया के सैनिकवादी राष्ट्रों को उसका पूरा समर्थन प्राप्त होता रहा है। संसार के तटस्थ और गुट-निरपेक्ष राष्ट्र उसकी आँखों के काँटे है और वह अपनी अपार आर्थिक सम्पदा के बल पर उन्हें खरीद लेने का इरादा रखता है। कुल मिलाकर पिछले कुछ अर्से से विश्व में अमेरिकी प्रतिष्ठा को धक्का लगा है और विश्व के पिछड़े राष्ट्र और नवोदित स्वाधीन देश अमेरिका की अपेक्षा रूस के प्रति अधिक मैत्री भाव रखते हैं। अमेरिका के अनेक पुराने साथी भी उसकी नीति से ऊब कर उसके चंगुल से निकलने से इच्छुक हैं। एक अमेरिकी लेखक ने कुछ समय पूर्व ठीक ही टिप्पणी थी कि—"आज एशिया और अफ्रीका में हमारी पहचान स्वतन्त्रता के प्रतीक की हैसियत से नहीं वरन् बन्दूकों से होती है।"



10 सोवियत संघ की विदेश नीति

(Foreign Policy of U.S.S.R.)

"रूस की नीति अपरिवर्तनीय है..........उसके साधनों, उसकी चालों तथा कूटनीति में परिवर्तन आ सकता है, परन्तु उसकी नीति का मार्गदर्शक गृह-विक्रय-प्रभुता, एक अविचल और ध्रुव सत्य है।" —कार्ल मार्क्स

सन् 1917 की वोल्शेविक क्रान्ति के फलस्वरूप वर्तमान साम्यवादी रूस अस्तित्व में आया। रूस के नए शासन ने अपने देश को महायुद्ध से पृथक् कर लिया। दो महायुद्धों के बीच की अवधि में रूस उत्तरोत्तर शक्तिशाली होता गया। द्वितीय महायुद्धकालीन घोर विनाश के बावजूद अन्त में सोवियत रूस ने महान् राजनीतिक और प्रादेशिक लाभ अर्जित किए। महायुद्ध के उपरान्त संयुक्तराज्य अमेरिका की टक्कर का यदि कोई देश था तो वह सोवियत संघ ही था, किन्तु आणविक शक्ति पर एकाधिकार के कारण रूस की अवहेलना करना अमेरिका के लिए आसान था। यह स्थिति कुछ ही वर्ष बाद पलट गई क्योंकि रूस भी अणु-शक्ति का स्वामी बन गया। महायुद्ध के बाद लगभग तीन दशकों के उपरान्त आज स्थिति यह है कि अमेरिका और रूस दोनों लगभग समान टक्कर की महाशक्तियाँ हैं। धन-सम्पन्नता में अमेरिका अग्रणी है, सैनिक दृष्टि से भी कुछ राष्ट्र अमेरिका को उच्चतर समझते हैं, लेकिन यह कहना वस्तुतः कठिन है कि सोवियत शक्ति अमेरिका की तुलना में कहाँ तक कम है। दोनों ही महाशक्तियाँ एक-दूसरे के सम्पूर्ण विनाश में समर्थ हैं और इसलिए विगत कुछ वर्षों से दोनों सह-अस्तित्व की दिशा में अग्रसर हुए हैं। चीन और भारत दो महान् सन्तुलनकारी शक्तियाँ हैं जिनमें चीन अमेरिका के पक्ष में झुकता जा रहा है और भारत तथा रूस घनिष्ठ मित्रता के मार्ग पर अग्रसर हैं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सोवियत संघ की विदेश नीति को दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) उग्रवादी नीति का स्टालिन युग (1945–1953)

(ख) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का स्टालिनोत्तर युग (1953 से अब तक)—मोलेंकोव काल (1953–54), ख्रुश्चेव काल (1954–64), ब्रेजनेव-कोसीगिन काल (1964–80)।

स्टालिन युग
(1945–1953)

महायुद्ध-काल में स्टालिन ने मित्र-राष्ट्रों को पूर्ण सहयोग दिया, लेकिन महायुद्ध के बाद पश्चिम के प्रति शंकालु होकर उसने अत्यन्त उग्र हठी विदेश नीति अपनाई। स्टालिन ने शीतयुद्ध को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। पामर एवं पर्किंस के शब्दों में, "युद्धोत्तर सोवियत नीति कम से कम 8 वर्ष अर्थात् 1953 तक पश्चिम के प्रति शत्रुता, असहयोग और अलगाव की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्तियाँ, सोवियत प्रभाव-क्षेत्र के दृढ़ीकरण तथा सामान्य हठधर्मिता की विशेषताओं से युक्त रही थीं।"[1] जिन प्रमुख कारणों से स्टालिन ने उग्रवादी नीति अपनाई, वे ये थे—

1. महायुद्ध-काल में ही पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत साम्यवाद के विरुद्ध विषैला प्रचार शुरू कर दिया था।

2. पश्चिमी देशों ने रूस को सैनिक सहायता बहुत कम दी। स्टालिन के मन मे यह बात बैठ गई कि पश्चिमी राष्ट्र वास्तव में यह चाहते थे कि रूस जर्मनी के साथ संघर्ष में बिल्कुल कमजोर हो जाए।

3. अमेरिका ने अणु-बम के आविष्कार को सोवियत रूस से गुप्त रखा और और स्टालिन ने इसे विश्वासघात माना।

4. युद्ध के बाद अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सोवियत संघ को 'लैण्ड-लीज एक्ट' के अन्तर्गत दी जाने वाली आंशिक सहायता भी एकाएक बन्द कर दी।

5. युद्ध के बाद अमेरिका और उसके साथी पश्चिमी राष्ट्रों ने जो नीति अपनाई उससे यही प्रतीत हुआ कि वे सोवियत संघ के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं।

6. युद्ध की समाप्ति पर सोवियत संघ की स्थिति सामरिक और अन्य दृष्टियों से बहुत अच्छी थी। रूसी सेनाएँ मध्य यूरोप तक के प्रदेश पर अधिकार जमाए बैठी थीं। पश्चिमी यूरोप आर्थिक संकट में था और साम्यवाद के प्रसार के लिए वहाँ अच्छी सम्भावनाएँ थीं। एशिया और अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध असन्तोष का सागर उमड़ रहा था। अतः स्टालिन ने सोचा कि चारों ओर स्थितियाँ ऐसी हैं कि साम्यवाद अपने पैर जमा सकता है। यदि पश्चिमी देशों और अमेरिका के साथ सहयोग की नीति अपनाई गई तो रूस लूट-खसोट और जोर-जबरदस्ती द्वारा राजनीतिक और प्रादेशिक लाभ उठाने से वंचित रह जाएगा।

इन अनुकूल परिस्थितियों में स्टालिन ने यही उपयुक्त समझा कि पश्चिम पर आरोप लगाए जाएँ, पुरानी बातों को कुरेदा जाए, शीतयुद्ध को तीव्र कर पश्चिम के प्रस्तावों के प्रति अड़गेबाजी की नीति से अधिकाधिक लाभ उठाया जाए। 6 नवम्बर, 1947 को तत्कालीन रूसी विदेश मन्त्री मोलोटोव ने कहा—"हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें सब सड़कें साम्यवाद की ओर जाने वाली हैं।"

1 *Palmer and Perkins* : International Relations, p. 659.

स्टालिनकालीन विदेश नीति के मुख्य तत्त्व या विशेषताएं

स्टालिन युग मे सोवियत विदेश नीति के निम्नलिखित तत्त्व थे—

1. पूर्वी यूरोप मे सोवियत प्रभाव का विस्तार किया जाए।

2. विश्व मे साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार किया जाए।

3. पश्चिमी राष्ट्रो के प्रति विरोधी रुख अपनाकर शीतयुद्ध को तीव्र बना कर अधिकाधिक राजनीतिक लाभ उठाया जाए।

4. लौह-आवरण की नीति को अपना कर ऐसी व्यवस्था की जाए कि साम्यवादी जगत् मे पश्चिमी राष्ट्रो का प्रचार प्रवेश न कर सके।

5. एशिया, अफ्रीका आदि में उपनिवेशवाद का विरोध किया जाए और शान्तिवादी आन्दोलन छेड़ दिया जाए।

6. संयुक्त राष्ट्रसघ को शीतयुद्ध का मच बना दिया जाए, तथा वहाँ बाधा उपस्थित कर राजनीतिक हितों को रक्षा की जाए। सुरक्षा परिषद् मे वीटो के प्रयोग से पश्चिमी राष्ट्रो के प्रस्तावों को निरस्त किया जाए।

सोवियत विदेश नीति के इन तत्त्वो से प्रतीत होता है कि मानो स्टालिन ने ही अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को गन्दा बनाया और पश्चिमी देशों के न्यायपूर्ण दृष्टिकोण को ठुकराया, पर वास्तव मे बात ऐसी नही थी। स्टालिन के सामने रूसी हित तो सर्वोपरि थे ही, पश्चिमी देशो का रवैया भी इस प्रकार का रहा कि स्टालिन को उन पर विश्वास नहीं हुआ। स्टालिन की जगह यदि किसी अन्य व्यक्ति के हाथ मे नेतृत्व होता तो वह भी तत्कालीन परिस्थितियों मे पश्चिमी देशों के साथ सहयोग न कर पाता। विजय के नशे में फूले हुए अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों ने निरन्तर सोवियत रूस को दबाए रखने की नीति अपनाई तथा साम्यवाद के विनाश की चालें खेलीं। बाध्य होकर सोवियत सघ ने भी ईंट का जवाब पत्थर से दिया। स्टालिन अपने शासन काल मे सदैव कठोर और निर्मम रहा था, अतः उससे यह आशा नही की जा सकती थी कि वह पश्चिमी देशों के प्रति उदार होगा।

1. पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुता का विस्तार—द्वितीय महायुद्ध ने रूस को पूर्वी यूरोप मे अपनी प्रभुता के विस्तार के स्वप्न को पूर्ति का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। महायुद्धकाल में पूर्वी यूरोप के लगभग सभी देशों को लाल सेना ने जर्मन-दासता से मुक्ति दिलाई थी और इन देशों की साम्यवादी पार्टियों ने जर्मनी के विरुद्ध छापामार सघर्षों का नेतृत्व किया था। युद्धोपरान्त इन देशों में राजनीतिक सत्ता के साम्यवादियों के हाथ में आई और सोवियत रूस के लिए इस क्षेत्र में अपने प्रभुत्व विस्तार का मार्ग सरल हो गया। युद्ध के उपरान्त सन् 1948 तक की तीन वर्ष [illegible] अल्पावधि मे ही यूरोप के सात देश पूरी तरह 'लाल' बन गए। फरवरी [illegible] याल्टा सम्मेलन मे रूजवेल्ट, स्टालिन और चर्चिल ने 'मुक्त यूरोप सम्बन्धी [illegible]' (Declaration of the Liberated Europe) पर हस्ताक्षर [illegible] स्टालिन ने याल्टा भावना को [illegible] ठुकरा दिया और [illegible]

प्रभुत्व का विस्तार कर लिया। वह फिनलैण्ड को भी आधीन करने से नहीं चूका। सन् 1947 में उसने फिनलैण्ड के साथ शान्ति-सन्धि की और अप्रैल 1948 में मैत्री सन्धि। इन सन्धियों द्वारा स्टालिन ने फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता तो स्वीकार की, लेकिन फिनलैण्ड से यह वचन ले लिया कि वह रूस विरोधी विदेश नीति नहीं अपनाएगा। स्टालिन ने पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारों की स्थापना कर सोवियत राष्ट्रीय सुरक्षा को सुदृढ बनाने में सफलता प्राप्त की। इन देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धो के विकास के लिए समझौते किए गए। सन् 1947 की 'मोलोटोव योजना' में इन देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए औद्योगीकरण पर बल दिया गया। जनवादी गणतन्त्रों की स्थापना अथवा दूसरे शब्दों में साम्यवादी शासन-सत्ता की स्थापना के फलस्वरूप इन देशों का पश्चिम के साथ व्यापार भी पूर्वापेक्षा नगण्य रह गया।

6 मार्च, 1941 को रूस और पोलैण्ड के बीच तथा 12 जुलाई, 1947 को चेकोस्लोवाकिया के साथ व्यापारिक सन्धि सम्पन्न हुई। चेकोस्लोवाकिया के साथ ही सन् 1948 में एक अन्य समझौता हुआ जिसमें रूस ने उसे ऋण के रूप मे एक बड़ी राशि देना स्वीकार किया। सन् 1948 मे हगरी के साथ भी दो व्यापारिक सन्धियाँ की गई। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों के बीच आर्थिक सहयोग को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने के लिए सन् 1949 में 'पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद्' (Council for Economic Mutual Assistance : Com. Con.) की स्थापना की गई। इस 'कोम कोन' को पश्चिम द्वारा स्थापित 'यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम' (European Recovery Programme : E.R.P.) का प्रत्युत्तर कहा जा सकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभाव स्थापित होने का आघात तो पश्चिमी शक्तियों को लगा ही था, आर्थिक क्षेत्र मे भी रूस के व्यापक प्रभुत्व से पश्चिमी देशों और रूस के तनावो में वृद्धि हुई। पूर्वी यूरोप परम्परा से पश्चिमी देशों को खाद्यान्न एवं कच्चे माल का निर्यात करता था। पश्चिम के कुछ देश तो अपनी अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के लिए पूर्वी यूरोप पर आश्रित थे। सोवियत नीति का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि पश्चिमी देशों में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी शासन-तन्त्रो के प्रति पूर्ण कटुता उत्पन्न हो गई। स्टालिन की नीति ने शीतयुद्ध को तेज कर दिया।

सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों के बीच मैत्री और पारस्परिक सहायता की अनेक सैनिक सन्धियाँ भी हुई। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया के साथ तो सैनिक सन्धियाँ युद्धकाल मे ही की जा चुकी थीं। इसके बाद 18 मार्च, 1946 से 16 अप्रेल, 1949 तक 17 द्विपक्षीय सन्धियाँ (Bilateral Treaties) की गई। इन सन्धियों को सम्भावित जर्मन आक्रमणों को रोकने के लिए किया गया। बाद में 14 मई, 1955 को इन देशो ने वारसा पैक्ट पर हस्ताक्षर कर सोवियत सघ के साथ स्वय को और भी घनिष्ठ मैत्री में आबद्ध कर लिया।

2. विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार—द्वितीय महायुद्ध के बाद मास्को ने साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार की नीति का अनुसरण आरम्भ कर दिया। साम्यवादी क्रान्ति को दूसरे देशों में फैलाने के लिए स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ द्वारा सभी प्रकार के उपायों का सहारा लिया गया। यूनान के गृहयुद्ध में यूनानी साम्यवादियों को पड़ोसी साम्यवादी देशों—अल्बानिया, बल्गेरिया और यूगोस्लाविया द्वारा सहायता पहुँचाई गई। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International) के विश्वव्यापी क्रान्ति के कार्यों को प्रतिरुद्ध करने के लिए सन् 1947 मे वारसा में एकत्रित यूगोस्लाविया, बल्गेरिया, रूमानिया, हंगरी, पोलैण्ड, रूस, फ्रांस, चैकोस्लोवाकिया और इटली की साम्यवादी पार्टियों के नेताओं ने 'बेलग्रेड में साम्यवादी सूचना संस्थान' या कोमिनफोर्म (Communist Information Bureau : Cominform) की स्थापना की। इस संस्थान की स्थापना के घोषणा-पत्र में कहा गया था कि "संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा पिछला युद्ध विश्व मण्डियों में प्रतियोगिता की समाप्ति के लिए लड़ा गया था, किन्तु रूस ने यह युद्ध यूरोप मे लोकतन्त्र के पुनर्निर्माण और उसे सुदृढ बनाने के लिए लड़ा था।" कोमिनफोर्म का उद्देश्य विश्वव्यापी साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व करना था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद रूस ने ऐसी नीति का अनुसरण किया जिससे पूर्व और पश्चिम मे रूसी साम्राज्य का विस्तार हो, रूसी सीमाओं पर रूस समर्थक राज्यो की सरकारें स्थापित हों, पुराने बुर्जुआ साम्राज्यों का विनाश हो और इस साम्यवादी विचारधारा के आधार पर नवीन सोवियत साम्राज्य का निर्माण हो। अपने इन्ही उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए स्टालिन ने युद्धोत्तर विश्व समस्याओ के समाधान मे शीघ्रता नही की। वह अड़ंगेबाजी द्वारा शान्ति-व्यवस्था में विलम्ब करना चाहता था ताकि संसार की स्थिति सोवियत संघ के लिए और भी अनुकूल बन जाए।

3. टर्की, ईरान, यूनान और यूगोस्लाविया पर सोवियत दबाव—स्टालिन काल मे सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के पारस्परिक सम्बन्धो मे जहाँ हर प्रकार से सफलता का पलड़ा रूस के पक्ष में भारी रहा, वहाँ रूस को टर्की, ईरान, यूनान और यूगोस्लाविया के सम्बन्ध मे निश्चित असफलताओं का सामना करना पड़ा। सोवियत दबाव की नीति अन्ततोगत्वा सफल न हो सकी।

(क) टर्की—पूर्वी यूरोप के देशो को अनुगामी बनाकर रूस पश्चिम से होने वाले सम्भावित आक्रमणों के प्रति तो सुरक्षित हो गया, लेकिन रूस के विरुद्ध युद्ध करने का दूसरा पुराना मार्ग अभी खुला था और यह मार्ग पूर्वी भूमध्यसागर तथा फारस की खाड़ी के निकटवर्ती देशो-यूनान, टर्की और ईरान से होकर था। दक्षिण से होने वाले आक्रमण के विरुद्ध सोवियत सुरक्षा की मुख्य समस्या बोसफोरस और डार्डनलीज जलडमरूमध्य पर नियन्त्रण की थी। सोवियत नेताओं ने द्वितीय महायुद्ध का आरम्भ होते ही इस समस्या पर विचार किया और समय के साथ अपनी योजना को व्यावहारिक रूप देना शुरू कर दिया। युद्ध-काल में रूस ने जलडमरूमध्य की

संयुक्त सुरक्षा के लिए टर्की से सैनिक अड्डे बनाने की अनुमति चाही, लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस को अपनी पीठ पर देख कर टर्की ने सोवियत माँग ठुकरा दी। यद्यपि फरवरी 1945 में टर्की ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर मित्रराष्ट्रों का साथ दिया, लेकिन 'देरी से अपनाए गए इस रुख के कारण' वह सोवियत दबाव से मुक्त नहीं रह सका। रूसी समाचार-पत्रों ने टर्की के विरुद्ध अपना अभियान छेड़ा, लेकिन टर्की दबाव में नहीं आया—क्योंकि एक तो ब्रिटेन और फ्रांस का उसे समर्थन प्राप्त था और दूसरे टर्की मे साम्यवादी दल के रूप मे 'पंचमार्गी' मौजूद नहीं थे जो रूस के पक्ष में टर्की सरकार पर दबाव डालते। युद्ध के उपरान्त जब 'शीतयुद्ध' आरम्भ हुआ तो पश्चिमी राष्ट्रों ने दृढता से टर्की का समर्थन किया। अक्तूबर, 1946 में सोवियत-टर्की समझौता-वार्ता भग हो गई, पर टर्की रूसी दबाव को सहन कर गया।

(ख) ईरान—यहाँ भी सोवियत नीति असफल रही। सन् 1941 मे रूस और ब्रिटेन की संयुक्त सेना ने ईरान पर अधिकार कर लिया था। युद्ध-काल मे रूस ने अपने अधिकृत प्रदेश में एक गुप्त साम्यवादी दल 'तुदेह दल' को प्रोत्साहित किया जिसने ईरानी अजरबेजान को जो रूसी अजरबेजान के निकट था, पृथक्करण के लिए आन्दोलन किया। युद्धोपरान्त सन् 1946 के प्रारम्भ में अमेरिका और ब्रिटेन की सेनाओं ने ईरान खाली कर दिया, लेकिन सोवियत सेना डटी रही। मामला सुरक्षा परिषद् मे प्रस्तुत हुआ लेकिन प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा 24 मार्च, 1946 को एक समझौता हुआ जिसमें रूस ने उत्तरी ईरान में तेल सम्बन्धी सुविधा प्राप्त कर अपने सैनिकों को ईरान से हटाना स्वीकार कर लिया। सोवियत सेना के लौट जाने के बाद ईरानी सैनिकों ने अजरबेजान-प्रदेश मे प्रवेश किया और पृथकतावादी आन्दोलन को समाप्त कर दिया। इसके बाद ही ईरान की संसद् ने सोवियत रूस को दी गई तेल-सम्बन्धी सुविधा को स्वीकृत करने से इनकार कर दिया। रूस ने ईरान के विरुद्ध प्रचार-अभियान छेड़ा और ईरान में रूसी हस्तक्षेप का खतरा पैदा हो गया, लेकिन अमेरिका ने, जो 'ट्रूमैन सिद्धान्त' के अनुसार पहले से ही यूनान और टर्की को सैनिक तथा आर्थिक सहायता दे रहा था, ईरान को 2 करोड 50 लाख डॉलर की सैनिक सहायता और ईरानी सेना को संगठित करने के लिए सैनिक प्रतिनिधि-मण्डल भेजने का वचन दिया जिसके फलस्वरूप ईरान में रूसी हस्तक्षेप का संकट टल गया।

(ग) यूनान—यहाँ भी साम्यवादी शासन की स्थापना के रूसी प्रयत्न असफल रहे। सन् 1944 में चर्चिल और स्टालिन ने मास्को में यह स्वीकार किया था कि यूनान ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र मे रहेगा, लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद मित्र-राष्ट्रों का सहयोग बिखर गया। सम्भवतः रूसी स्वीकृति से मई, 1946 में साम्यवादियों ने पूरी शक्ति से गृह-युद्ध छेड़ दिया और ब्रिटिश सरकार ने, जो यूनान सरकार को निरन्तर सहायता दे रही थी, अमेरिका को सूचित किया कि वह यूनान को और अधिक सहायता देने में असमर्थ है और अमेरिका ने 'ट्रूमैन सिद्धान्त' के अन्तर्गत यूनान को सहायता देने का निश्चय किया। पर सहायता से पूर्व ही अमेरिका

का एक सैनिक प्रतिनिधि-मण्डल यूनान पहुँच गया ताकि यूनानी सेना की सहायता की जा सके। "साम्यवादियों ने एथेंस की सरकार को अमेरिकी साम्राज्य की कठपुतली कहकर निन्दा की और जनरल मार्को वेफीकेड के नेतृत्व में अस्थायी मुक्त यूनान सरकार ने शक्ति अर्जित करली, लेकिन धीरे-धीरे एथेंस सरकार ने अमेरिकी सरकार की सहायता से अपनी सेना को सुसंगठित कर लिया और अक्तूबर, 1949 में साम्यवादी आन्दोलन समाप्त हो गया।"

(घ) यूगोस्लाविया—सबसे अधिक घातक असफलता रूस को यूगोस्लाविया के मामले में प्राप्त हुई, क्योंकि कुछ समय तक रूसी गुट में बने रहने के बाद यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो ने रूस के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इनकार कर दिया और जून, 1948 में यूगोस्लाविया रूसी गुट से पृथक् हो गया। स्टालिन ने मार्शल टीटो पर हर प्रकार से दबाव डालने की कोशिश की, किन्तु वह टीटो को अपने नियन्त्रण में नहीं ला सका। टीटो को यह बिलकुल पसन्द नहीं था कि यूगोस्लाविया स्थित लाल सेना यूगोस्लाविया के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करे, अतः उसने सोवियत नागरिक और सैनिक अफसरों पर कड़ी निगरानी रखते हुए स्टालिन से स्पष्ट शब्दों में मांग की कि रूसी फौजें यूगोस्लाविया क्षेत्र से हटा ली जाएँ।

स्टालिन और टीटो के मतभेद बढ़ते गए। फलस्वरूप 28 जून, 1948 को कोमिनफोर्म (Communist Information Bureau : Cominform) ने यूगोस्लाव साम्यवादी पार्टी पर यह आरोप लगाकर उसे अपनी सदस्यता से वंचित कर दिया कि उसकी नीतियां मार्क्सवाद एवं लेनिनवाद के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। अरताथ में कुछ और भी आरोप लगाए गए। 29 जून को यूगोस्लाव नेताओं ने कोमिनफोर्म द्वारा लगाए गए आरोपों को अस्वीकार कर दिया। इसके बाद सोवियत संघ और यूगोस्लाविया के बीच शीतयुद्ध की स्थिति पैदा हो गई जो स्टालिन की मृत्युपर्यन्त (मार्च, 1953) चालू रही। वास्तव में स्टालिन ने टीटो को अपने समकक्ष मानने से इनकार कर दिया और उसके प्रति पूर्ण विरोध की नीति अपनाई।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के 'भाईचारे' के विरुद्ध किए गए टीटो के इस विद्रोह का पश्चिमी देशों ने स्वभावतः मुक्त कण्ठ से स्वागत किया। इस विद्रोह को 'सोवियत साम्राज्यवाद के विरुद्ध पूर्वी यूरोप के विद्रोह का सूचक' समझा गया। जुलाई, 1948 में संयुक्तराज्य अमेरिका ने यूगोस्लाविया की 6 करोड़ डालर की सम्पत्ति उसे लौटा दी। यूगोस्लाविया ने भी अमेरिका को 1 करोड़ 80 लाख डालर का भुगतान दिया। अन्य पश्चिमी देशों के साथ भी इसी प्रकार के सद्भावनापूर्ण और लेनदेन की भावना के समझौते किए गए। मार्शल टीटो ने सोवियत रूस से क्षुब्ध होकर पूर्वी यूरोप के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा पश्चिमी देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना आरम्भ कर दिया, किन्तु वह सदैव ध्यान रखा कि उनका राष्ट्र पूर्णतः सोवियत या पश्चिमी प्रभाव से मुक्त एक स्वतन्त्र राष्ट्र

4 **पश्चिम का विरोध और शीतयुद्ध की उग्रता**—सोवियत रूस द्वारा पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी शासन की स्थापना के प्रयत्नों और पश्चिमी शक्तियों द्वारा रूसी प्रभाव के प्रसार को रोकने की चेष्टाओं के कारण सोवियत संघ और पश्चिम की 'विचित्र मैत्री' का अन्त हो गया तथा युद्ध समाप्त होने के तीन वर्ष के अन्तर ही दोनों गुटों में उग्र शीतयुद्ध प्रारम्भ हो गया। पराजित राज्यों के साथ सन्धियों की शर्तें, इटली के उपनिवेशों तथा राष्ट्रसंघ के मेन्डेट वाले प्रदेशों का विभाजन, जर्मनी का नि:शस्त्रीकरण और एकीकरण, पश्चिमी देशों तथा रूस के लोकतन्त्र सम्बन्धी विचारो में मौलिक अन्तर, क्षतिपूर्ति, मध्यपूर्व में प्रभुत्व के लिए तीव्र प्रतियोगिता आदि के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में शीतयुद्ध की तीव्रता बढ़ी। पश्चिमी राष्ट्र कोमिनफोर्म की गतिविधियों और स्टालिन की हठधर्मी से आशंकित हो गए। उधर सोवियत संघ का यह विश्वास दृढ होता गया कि पश्चिमी राष्ट्र उसके उन्मूलन का षड्यन्त्र रच रहे हैं। रूस की दृष्टि मे ट्रूमैन-सिद्धान्त, मार्शल योजना, बर्लिन के घेरे के समय दी गई हवाई सहायता, जापान व जर्मनी का पुन: शस्त्रीकरण, शूमैन एवं प्लेबन योजनाएँ, कोरिया युद्ध आदि कार्य शत्रुतापूर्ण थे।

स्टालिन ने अपनी नीति को शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का जामा पहनाया, परन्तु उसकी कार्यवाहियों से यह स्पष्ट हो गया कि 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' की नीति से उसका अभिप्राय केवल इतना था कि दोनों पक्षों में सशस्त्र युद्ध नही होना चाहिए। एक प्रचारात्मक वाग्युद्ध और कोरिया जैसे स्थानीय युद्धों को वह इस नीति के विरुद्ध नहीं समझता था। स्टालिन की इस नीति का एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे पश्चिमी और साम्यवादी शक्तियों में तनाव बढ़ता चला गया।

5. **लौह आवरण की नीति**—महायुद्ध के उपरान्त स्टालिन ने 'लौह आवरण' (Iron Curtain) की नीति अपनायी ताकि साम्यवादी जगत् को सभी प्रकार के पाश्चात्य प्रभावों से मुक्त रखा जा सके। अमेरिका और उसके पश्चिमी मित्रराष्ट्रों ने साम्यवादी देशों के आसपास अज्ञात रेडियो स्टेशन स्थापित करके साम्यवाद के विरुद्ध जहरीला प्रचार शुरू कर दिया। इन रेडियो स्टेशनों के नाम 'आजाद हंगरी रेडियो', 'आजाद पोलैण्ड रेडियो' आदि रखे गए। स्टालिन समझ गया कि पश्चिमी देश साम्यवादी व्यवस्था का उन्मूलन करना चाहते हैं, अत: उसने पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों और रूस के चारो ओर कठोर प्रतिबन्धों की ऐसी व्यवस्था की कि उसके भीतर अमेरिका एवं अन्य पश्चिमी राष्ट्रों का प्रचार न पहुँच सके। स्टालिन ने निर्णय कर लिया कि वह रूस एवं पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जगत् को गैर-साम्यवादी देशों के सम्पर्क से पृथक् रखेगा। सन् 1945 से ही ऐसे कानून बनाए जाने लगे जिनसे वाह्य जगत् के साथ रूसियों का सम्पर्क रुक जाए। एक कानून के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि युद्ध के समय रूस मे आए हुए विदेशी सैनिकों के साथ जिन रूसी स्त्रियों ने विवाह किया था वे अपने पतियों के साथ विदेश नहीं जा सकेंगी। एक अन्य कानून-द्वारा विदेशियों के साथ सोवियत नागरिकों के विवाहो को

निषिद्ध ठहरा दिया गया। विदेशी राजदूतों तथा पत्र-प्रतिनिधियों के साथ भी बहुत कठोरता का व्यवहार किया गया। विदेशों में स्थित सोवियत राजदूतों पर कठोर अनुशासनात्मक प्रतिबन्ध लगाए गए तथा रूसी प्रेस पर भी कठोर नियन्त्रण लगा दिया गया।

6. अफ्रीका तथा एशिया के प्रति सोवियत नीति एवं शान्ति आन्दोलन—अफ्रीका एवं एशिया के प्रति स्टालिन की नीति विवेकपूर्ण किन्तु अनुदार थी। उसने *मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव में वृद्धि करने की चेष्टा की और दक्षिणी कोरिया को* साम्यवादी बनाने के लिए कोरिया युद्ध की प्रेरणा दी। यद्यपि स्टालिन कम साम्राज्यवादी नहीं था, तथापि उसने एशिया और अफ्रीका में पराधीन राष्ट्रों के स्वतन्त्रता आन्दोलनों का समर्थन किया और साम्राज्यवाद की निन्दा की। पश्चिमी राष्ट्रों का दृष्टिकोण यह रहा कि एशिया और अफ्रीका की जनता को यह महसूस हुआ कि ये राष्ट्र अप्रत्यक्ष रूप से उपनिवेशवाद का समर्थन कर रहे हैं।

साम्राज्यवाद विरोधी नीति के साथ ही सोवियत संघ ने 'शान्ति-आन्दोलन' (Peace Offensive) आरम्भ किया और पश्चिम को युद्ध-लोलुप (War-Monger) कह कर बदनाम करने की चेष्टा की। स्टालिन का 'शान्ति-आन्दोलन' एक चातुर्य-पूर्ण और सफल चाल सिद्ध हुई। सोवियत संघ की प्रेरणा पर सन् 1950 में स्टॉकहोम में विश्व-शान्ति सम्मेलन की बैठक हुई जिसमें आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाने की अपील की गई। अपील में कहा गया—

"हम इस बात की माँग करते हैं कि मानव-जाति के सामूहिक उन्मूलन और आतंक के अस्त्र के रूप में आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। हम यह माँग करते हैं कि इस पर कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाए। हम उस सरकार को युद्ध-अपराधी समझेंगे जो किसी देश के विरुद्ध इस शस्त्र का प्रयोग करने में पहल करेगी।"

प्रचार की दृष्टि से यह आन्दोलन बहुत सफल और लोकप्रिय सिद्ध हुआ। अपील पर कुछ समय में ही लगभग 50 करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षर प्राप्त किए गए। शान्ति आन्दोलन ने एशिया और अफ्रीका की विशाल जनसंख्या को बहुत प्रभावित किया। वे साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए तथा सोवियत रूस को पश्चिम की अपेक्षा अधिक शान्तिप्रिय और उपनिवेशवाद-विरोधी मानने लगे।

7. संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति सोवियत नीति—स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माण में सक्रिय भाग लिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ इसी विश्वास पर आधारित था (और है) कि महाशक्तियाँ, विशेषतः सोवियत संघ और संयुक्तराज्य अमेरिका सहयोग पूर्वक कार्य करते हुए संघ के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक बनेंगी; परन्तु दुर्भाग्यवश यह आशा पूरी न हो सकी। अपने जन्म के कुछ ही समय उपरान्त संघ शीतयुद्ध का प्रधान अखाड़ा बन गया। लगभग प्रत्येक समस्या पर दोनों गुट दो विरोधी दृष्टिकोण लेकर संघ के मंच पर उपस्थित हुए। संघ में पश्चिमी शक्तियों और उनके समर्थकों का स्पष्ट बहुमत था और सोवियत

रूस ने स्वयं को एक स्थायी एवं निरन्तर अल्पमत में पाया। ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा के प्रतिकूल होने वाले निर्णयों को रोकने के लिए उसके पास इसके अतिरिक्त कोई उपाय न था कि वह सुरक्षा परिषद् में अपने निषेधाधिकार का दृढ़ता से प्रयोग करे। कोरिया युद्ध के समय अल्पकाल के लिए रूस ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की बैठकों का बहिष्कार कर दिया लेकिन यह बहिष्कार उसके लिए घाटे का सौदा सिद्ध हुआ, क्योंकि इस बहिष्कार के कारण ही संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ दक्षिण कोरिया की सहायता के लिए भेजी जा सकी। इस घटना से रूस ने समझ लिया कि संयुक्त राष्ट्र सघ से बाहर रहकर प्रयत्न करने की अपेक्षा वह सयुक्त राष्ट्रसघ की कार्यवाहियों में भाग लेकर तथा परिषद् की बैठकों मे उपस्थित होकर पश्चिमी राष्ट्रो के इरादों को अधिक अच्छी तरह विफल कर सकता है। इस अनुभूति के बाद फिर कभी रूस ने सघ की बैठको का बहिष्कार नही किया। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सोवियत सघ ने सुरक्षा परिषद् मे अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से पश्चिम के अनेक अन्यायपूर्ण प्रस्तावों को, जिनमे कश्मीर-प्रस्ताव भी शामिल है, धराशायी किया।

स्टालिन की विदेश नीति का मूल्यांकन

यद्यपि स्टालिन ने पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभुत्व की स्थापना द्वारा रूसी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा कर लिया, परन्तु उसकी हठधर्मी की नीति सोवियत सघ के लिए कुल मिलाकर अलाभकारी ही सिद्ध हुई। स्टालिन की आक्रामक नीति से पश्चिमी शक्तियाँ सशंकित हो गईं और उन्होंने बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को रोकने तथा साम्यवाद के प्रसार को प्रतिरुद्ध करने के लिए अनेक उपाय किए। ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, डकर्क, ब्रूसेल्स सन्धियाँ, नाटो पैक्ट, पश्चिमी यूरोप की एकता के लिए निर्मित विभिन्न संगठन आदि स्टालिन की कठोर नीति का करारा जवाब था। सन् 1945–47 तक यूरोप की स्थिति स्टालिन के लिए अत्यन्त अनुकूल थी, लेकिन सन् 1953 तक यह स्थिति बदल गई। सन् 1949 मे चीन मे साम्यवादी विजय तथा सन् 1950 में कोरिया-युद्ध के प्रारम्भ ने पश्चिमी शक्तियो को कोरिया, जापान, फारमोसा और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए विवश कर दिया। मध्यपूर्व में टर्की और यूनान में हस्तक्षेप के कारण सोवियत रूस को वैसी ही बदनामी हाथ लगी जैसी बाद मे आइजनहॉवर-सिद्धान्त के प्रयोग से अमेरिका को। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति भी स्टालिन की नीति अनुदार रही। अपनी हठधर्मी के कारण वह इन राष्ट्रो की दोनों शक्ति गुटों के प्रभाव से बचने की इच्छा और नीति को नहीं समझ सका। वह उन्हे साम्यवाद का शत्रु मानने लगा। इससे उसने एक बड़ी सीमा तक इन राष्ट्रो का समर्थन खो दिया। तटस्थ देशों के प्रति स्टालिन ने विरोधी नीति का अनुसरण किया। उदाहरणार्थ भारत को उसकी तटस्थता के कारण ही स्टालिन रूस-विरोधी समझता रहा था। इसलिए स्टालिन-काल के रूसी विश्वकोष मे भारत के स्वाधीनता सग्राम को महात्मा गांधी पूंजीवाद का समर्थक बताया गया था।

स्टालिन की उग्रवादी कठोर नीति ने स्वयं साम्यवादी गुट में भी काफी

क्षोभ उत्पन्न कर दिया। जब यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो ने सोवियत संघ का अन्धानुकरण करने से इनकार कर दिया तो स्टालिन के शिकंजे से निकलने के लिए अन्य साम्यवादी देशों मे भी राष्ट्रवादी प्रवृत्तियो को अधिक समर्थन मिलने लगा। इसकी अभिव्यक्ति बाद में सन् 1956–57 मे पोलैण्ड तथा हंगरी के उपद्रवों मे हुई। स्टालिन की 'लोह् आवरण' की नीति से अन्य देशों में रूस के प्रति सन्देह और अविश्वास की धारणाओं को बल मिला। जॉर्ज एफ. केनन (George F. Kennen) का मत है कि सन् 1952 तक सोवियत नीति 'अनुर्वर' हो गई थी और सन् 1953 मे स्टालिन के उत्तराधिकारियों के लिए उसमे परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया।

कुछ लोग स्टालिन की विदेश नीति में रूढिवाद (Conservatism) की झलक पाते हैं। उनके मतानुसार वह पश्चिम पर शक्ति के बल पर हावी नहीं होना चाहता था, बल्कि उसने पश्चिमी शक्ति एवं सम्मान को गिराने तथा अपने साम्राज्य को शक्ति एवं स्थायित्व देने के प्रयास किए। अधिराज्यों मे व्याप्त असन्तोष के प्रति वह सजग था, तो भी उसने सोवियत शक्ति के विस्तार के प्रत्येक अवसर का लाभ उठाया। सन् 1953 का वर्ष पश्चिमी विचारकों द्वारा सौभाग्यशाली माना जाता है जब स्टालिन इस संसार से विदा हो गया। कहा जाता है कि स्टालिन ने रूस जैसे पिछड़े व अविकसित देश को दुनिया की महान् औद्योगिक एवं सैनिक शक्ति बना दिया तथा चंगेजखाँ और तैमूरलंग जैसा साम्राज्य स्थापित कर दिया।

शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता का स्टालिनोत्तर युग : मोलेंकोव काल (1953–54)

स्टालिन की मृत्यु से पूर्व ही सोवियत विदेश नीति में गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, किन्तु बाद में उसकी नीति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और वह फिर से विकासोन्मुखी बनी। स्टालिन के बाद तीन मुख्य बातो ने सोवियत सघ की शक्ति मे वृद्धि की। पहला विकास यह था कि पूर्वी यूरोप में सोवियत साम्राज्य मे स्थायित्व आ गया। दूसरे, सोवियत सघ की आर्थिक तथा सैनिक शक्ति तेजी के साथ बढने लगी। तीसरे रूस के दक्षिणी क्षेत्र मे उसका प्रभाव बढ़ने लगा, मध्यपूर्व दक्षिणी एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश उसके प्रभाव क्षेत्र बन गए। विश्व का सन्तुलन एक प्रकार से साम्यवाद की ओर झुक गया। स्टालिन के बाद यद्यपि सोवियत साम्राज्य में वृद्धि नहीं हुई, सोवियत सघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी उन्नत हो गई जितनी पहले कभी नहीं थी। स्टालिन के उत्तराधिकारियो को जिन चुनौतियो का सामना करना था, वे थी—सोवियत साम्राज्य की रक्षा करना, पूर्वी यूरोप में सोवियत शासन के स्थायित्व पर पाश्चात्य स्वीकृति प्राप्त करना तथा जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक सोवियत सुरक्षा को खतरे मे न डालते हुए देश की शक्ति का विस्तार करना। साम्राज्य की रक्षा करना उसे प्राप्त करने से अधिक कठिन होता है, इसलिए उन्होंने अधिराज्यों को स्थानीय स्वायत्तता प्रदान की, आर्थिक सम्बन्धों को कम शोषणयुक्त बनाया तथा जीवन स्तर के आधुनिक विप को प्रोत्साहन दिया। स्टालिन के बाद सोवियत रूस को बर्लिन-समस्या का ९

करना पड़ा, साम्यवादी चीन के साथ इसका सैद्धान्तिक विवाद बढ़ा, मार्शल टीटो के साथ मतभेदों में उतार-चढ़ाव आया, पोलैण्ड और हंगरी में क्रान्तियाँ हुईं तथा एशिया एवं अफ्रीका महाद्वीपों में क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं संघर्ष हुए और इन सबके कारण सोवियत संघ की विदेश नीति की गति काफी तेज हो गई।

स्टालिन की उग्रतावादी कठोर विदेश नीति के जो परिणाम निकले और पाश्चात्य देशों एवं तटस्थ देशों में उसकी जो प्रतिक्रियाएँ हुईं, उनके फलस्वरूप अब सोवियत नीति का एक नवीन दिशा में उन्मुख होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य था। इसलिए स्टालिन के अविलम्ब उत्तराधिकारी मोलेंकोव ने दिवंगत नेता के अन्त्येष्टि-संस्कार में ही घोषणा की कि—"लेनिन और स्टालिन की शिक्षाओं के अनुसार साम्यवादी तथा पूंजीपति देशों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व स्थापित करने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाएगा।" मोलेंकोव का यह आश्वासन इस बात का संकेत था कि स्टालिन के उत्तराधिकारी पश्चिमी एवं गैर-साम्यवादी देशों के प्रति उग्रता और कठोरता में कमी लाना चाहते थे। इसके तुरन्त बाद ही 15 मार्च, 1953 को सुप्रीम सोवियत में सोवियत प्रधान मन्त्री ने कहा—"अब सोवियत विदेश नीति का संचालन व्यापार की वृद्धि और शान्ति को सुदृढ बनाने की दृष्टि से किया जाएगा। कोई ऐसा विवाद नहीं है जिसे शान्तिपूर्वक हल न किया जा सकता हो। यह सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्र अमेरिका सहित विश्व के सब देशों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" सोवियत रूस की नीति में परिवर्तन का संकेत देने वाली इन विभिन्न घोषणाओं के कारण अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के विरुद्ध प्रचार में कमी आई। इसी के परिणामस्वरूप अब तक पश्चिम के विरुद्ध आग बरसाने वाले रूसी विदेश मन्त्री विशिंस्की ने संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा की बैठक में भाषण देते हुए पश्चिम को निमन्त्रण दिया कि "आप मित्रता की सुरंग में आधे रास्ते तक आगे बढ़कर हमसे मिलें। इसके साथ ही पश्चिमी देशों के विरुद्ध रूस द्वारा किए जाने वाले प्रचार की उग्रता में भी कमी आ गई।"

रूस की नई विदेश नीति के सुखद परिणाम भी शीघ्र ही प्राप्त होने प्रारम्भ हो गए। अक्तूबर, 1952 से चालू कोरियाई युद्ध का गतिरोध खत्म हो गया और 10 अप्रेल, 1953 को पानमुनजोन में रुग्ण एवं घायल युद्धबन्दियों के बारे में उदार नीति अपनाई गई। 15 मई 1955 को आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में शान्ति-सन्धि हो गई। फिनलैण्ड के सैनिक अड्डे सोवियत सैनिकों द्वारा खाली कर दिए गए, सोवियत सेना में 1 लाख 80 हजार सैनिकों की कमी की गई। सन् 1954 में जेनेवा-सम्मेलन द्वारा हिन्दचीन की समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकाला गया। सोवियत संघ ने यूनान और इजरायल के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए। यूगोस्लाविया के साथ मतभेदों को दूर कर उसे पुनः साम्यवादी परिवार में लाने की चेष्टा की गई। 29 अप्रेल, 1953 को मोलेंकोव ने यूगोस्लाव प्रतिनिधि से कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना के सम्बन्ध में बातचीत की और मई, 1953 में दोनों देशों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः कायम हो गए। इसके उपरान्त

सोवियत नेताओं ने यूगोस्लाव साम्यवादी पार्टी के साथ भी अपने सैद्धान्तिक मतभेदों को दूर करने के प्रयत्न किए।

मोलेंकोव के नेतृत्व में सोवियत रूस की लौह आवरण की नीति में भी शिथिलता आई। बाह्य दुनिया में सम्पर्क कायम करने का प्रयास किया गया ताकि सोवियत संघ लोहे की दीवार में बन्द न समझा जाए। स्टालिन विश्व को दो विरोधी गुटों में विभाजित मानता था, लेकिन नई नीति के अनुसार इसको शक्ति-सन्तुलन की प्रक्रिया माना गया और अपने पक्ष में करने के लिए तटस्थ-राष्ट्रों की सद्भावना प्राप्त करने की चेष्टा की गई।

ख्रुश्चेव–काल
(1955-64)

इस समय सोवियत संघ में अन्दर ही अन्दर नेतृत्व के लिए संघर्ष चल रहा था। मोलेंकोव इस संघर्ष में पराजित हुए और 8 फरवरी, 1955 को उन्हें प्रधान मन्त्री पद त्यागना पड़ा। अब मार्शल बुल्गानिन नए सोवियत प्रधान मन्त्री बने तथा ख्रुश्चेव पार्टी के महासचिव नियुक्त हुए।

सन् 1955 से 1963 तक की सोवियत विदेश नीति का युग ख्रुश्चेव युग कहलाता है क्योंकि फरवरी, 1955 से मार्च, 1958 तक के बुल्गानिया के प्रधान-मन्त्रित्व काल में भी वास्तविक प्रभाव एक प्रकार से ख्रुश्चेव का ही था। इस युग में सोवियत विदेश नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

ख्रुश्चेवकालीन विदेश नीति की मुख्य प्रवृत्तियाँ

(1) लौह आवरण की नीति उत्तरोत्तर शिथिल होती गई तथा 'यात्रा-कूटनीति' का महत्त्व बढ़ता गया।

(2) पश्चिम के प्रति उग्र नीति का शनैः-शनैः परित्याग किया जाने लगा। सोवियत नेता शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की ओर अग्रसर हुए। विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा, पर शीतयुद्ध का परित्याग नहीं किया गया। अनुकूल परिस्थितियों में शीतयुद्ध को उभार कर राजनीतिक और प्रचारात्मक लाभों को प्राप्त करने के प्रयत्न चलते रहे।

(3) अल्पविकसित देशों को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनाई गई। इसमें उत्तरोत्तर विकास होता चला गया।

(4) सोवियत प्रभाव-विस्तार की उत्कंठा रखते हुए भी उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को तीव्र कर दिया गया। सोवियत नीति यह रही कि एशिया और अफ्रीका की जनता की अधिकाधिक सहानुभूति प्राप्त कर इन महाद्वीपों में साम्यवाद के प्रसार के अनुकूल वातावरण तैयार किया जाए। सोवियत शक्ति और प्रभाव-विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र तीन क्षेत्र रहे—एशिया, अफ्रीका लेटिन अमेरिका।

(5) अणु आयुधों में अमेरिका से समानता तथा उससे आगे निकल रहने के प्रयत्न अनवरत चलते रहे। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी रण-नीति रची गई।

यह उपयुक्त होगा कि ख़ुश्चेव युग में सोवियत विदेश नीति के मुख्य पहलुओं का विस्तार से विवेचन किया जाए और देखा जाए कि इस नीति का व्यवहार में क्रियान्वयन किस प्रकार हुआ।

1. लौह आवरण में शिथिलता, यात्राओं की कूटनीति—इस युग में सोवियत लौह आवरण की नीति मे पर्याप्त शिथिलता आई और 'यात्रा कूटनीति' का महत्त्व बढा। सोवियत संघ के विभिन्न सांस्कृतिक तथा संसदीय शिष्टमण्डल विदेशों मे जाने लगे और विदेशों के ऐसे ही शिष्टमण्डल साम्यवादी देशों में आमन्त्रित किए जाने लगे। स्टालिन बाह्य देशों के साथ सम्पर्क का घोर विरोधी था और सम्भवतः केवल एक तेहरान सम्मेलन के समय अपने देश से बाहर गया था, अन्यथा युद्ध सम्मेलनों में ही उसकी चर्चिल और रूजवेल्ट से भेंट हुई थी। लेकिन अब ख़ुश्चेव बुल्गानिन आदि उच्चतम स्तर के सोवियत नेता दूसरे देशों की सद्भावना और मैत्री अर्जित करने के लिए विभिन्न देशों की यात्राएँ करने लगे और उन देशों के नेताओं को अपने यहाँ आमन्त्रित करने लगे।

जून, 1955 में भारतीय प्रधान मन्त्री नेहरू सोवियत रूस द्वारा आमन्त्रित किए गए और नवम्बर, 1955 मे ख़ुश्चेव तथा बुल्गानिन ने भारत-यात्रा की। इससे दोनों देशों मे सद्भाव और मैत्री की वृद्धि हुई तथा सोवियत नेताओं में भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति के प्रति स्टालिनकाल से जो सन्देह बना हुआ था वह दूर हो गया। अप्रेल, 1956 में दोनों नेता ग्रेट ब्रिटेन गए। 1959 के प्रारम्भ में प्रथम सोवियत उप-प्रधान मन्त्री मिकोयान ने 15 दिन तक अपने घोर विरोधी समझे जाने वाले अमेरिका की यात्रा की और 27 जनवरी को राष्ट्रपति आइजनहॉवर द्वारा अमेरिका में सन् 1954 में मोलेंकोव के बाद पहली बार व्हाइट हाउस में किसी रूसी राजनीतिज्ञ का स्वागत हुआ। सोवियत उप-प्रधान मन्त्री ने दोनों देशों में व्यापार-वृद्धि को आवश्यक बताया और इस बात पर बल दिया कि 'शीतयुद्ध' (Cold-War) का स्थान 'शान्तिपूर्ण-प्रतियोगिता' (Peaceful Competition) को लेना चाहिए। स्वदेश वापस लौटने पर मिकोयान ने 31 जनवरी, 1959 को सोवियत साम्यवादी पार्टी के 21वें अधिवेशन मे मास्को में कहा कि उन्होंने अमेरिकी राजनीतिज्ञों और नेताओं के साथ जो भी वार्तालाप किया उसमें उन्हें कहीं सोवियत साम्यवाद के 'निरोध' (Containment), 'पीछे धकेलने' (Roll Back) तथा 'साम्यवाद की दासता से मुक्ति' (Liberation) की कोई चर्चा नहीं सुनाई दी। मिकोयान द्वारा अमेरिका की अपनी यात्रा से उपयुक्त वातावरण तैयार कर दिए जाने के बाद सितम्बर, 1959 में सोवियत प्रधान मन्त्री ख़ुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की। फरवरी-मार्च, 1960 मे ख़ुश्चेव ने दक्षिण-

पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों—भारत, बर्मा, इण्डोनेशिया, अफगानिस्तान आदि की यात्रा की।

सोवियत नेताओं द्वारा लौह-आवरण शिथिल किए जाने और विश्व के विभिन्न देशों की यात्रा करने से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में निश्चित रूप से कमी हुई और दोनों विरोधी पक्ष एक दूसरे के प्रति उतने अधिक शंकालु न रहे जितने स्टालिनकाल में थे।

अपनी यात्राओं में रूसी नेताओं ने शासनाध्यक्षों के शिखर-सम्मेलन आयोजित करने पर बार-बार बल दिया। ऐसा एक सम्मेलन जुलाई, 1953 में जेनेवा में हुआ जिसमें हिन्दचीन की समस्या को महत्त्व दिया गया। दूसरा सम्मेलन मई, 1960 में हुआ जो दुर्भाग्यवश यू–2 विमान-काण्ड से उत्पन्न वातावरण का शिकार बनकर असफल हो गया।

2 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान की नीति—स्टालिन की मृत्यु के बाद शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का शुभारम्भ मोलेंकोव के प्रधानमन्त्रित्व-काल में ही हो चुका था, किन्तु इसमें निखार ख्रुश्चेव तथा इसके परवर्ती युग में आया। फरवरी, 1956 में रूसी साम्यवादी दल की 20वीं कांग्रेस ने स्टालिन तथा उसकी नीतियों की कटु आलोचना की तथा इसके और साम्यवादी देशों से युद्ध की अनिवार्यता के लेनिन-सिद्धान्त को संशोधन कर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को सोवियत नीति का आधार बनाया।

ख्रुश्चेव की प्रेरणा से उनके समय जो विदेश नीति अंगीकृत की गई उसकी 5 प्रमुख विशेषताएँ थी—

प्रथम, जहाँ स्टालिन के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अर्थ केवल युद्ध का न होना मात्र था, वहाँ ख्रुश्चेव ने इसका अर्थ यह माना कि सभी गैर-साम्यवादी राष्ट्र, विशेषकर एशिया और अफ्रीका के तटस्थ राष्ट्र सोवियत संघ के शत्रु नहीं हैं।

दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर बल दिया गया।

तीसरे, यात्राओं की कूटनीतिक स्वीकार की गई और यह माना गया कि दूसरे देशों से अच्छे सम्बन्धों की स्थापना करने के लिए सोवियत नेताओं को अन्य देशों की यात्राएँ करनी चाहिएँ तथा लौह-आवरण को शिथिल कर साम्यवादी एवं गैर-साम्यवादी देशों के मध्य सम्पर्क को प्रोत्साहन देना चाहिए।

चौथे, सोवियत संघ द्वारा विश्व के अल्प-विकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता अनुभव की गई।

पांचवें, पश्चिमी शक्तियों को साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी बता कर उसकी निन्दा करते हुए भी उनके साथ खुले संघर्ष की नीति का परित्याग किया गया।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नवीन सोवियत नीति के अनुसार गैर-साम्यवादी देशों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—(1) संयुक्तराज्य अमेरिका, (2) अमेरिका के समर्थक और सहयोगी देश, एवं (3) तटस्थ देश, जैसे—भारत,

इण्डोनेशिया, वर्मा, मिस्र, सीरिया, यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान व स्विट्जरलैण्ड। दूसरे शब्दों में पहले रूस दुनिया में दो रंग के रूप देखता था—लाल और सफेद। अब वह इसमे लाल, पीले, नीले, हरे विभिन्न प्रकार के फूल देखने लगा। पहले उसकी नीति लाल रंग के फूलो के सिवाय सब तरह के फूलों के समूलोन्मूलन की थी, अब वह सबके साथ-साथ रहने के 'शान्तिपूर्ण सह्-अस्तित्व' की बात करने लगा। 12 अक्तूबर, 1954 को सोवियत संघ और चीनी सरकारों की एक संयुक्त घोषणा में स्पष्ट कहा गया कि वे समस्त देशो के साथ पंचशील के सिद्धान्तों के आधार पर मैत्री-सम्बन्ध कायम करना चाहते हैं।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के अन्तर्गत रूसी विदेश नीति मे एक निश्चित लचीलापन (Flexibility) आया। इण्टरनेशनल न्यूज सर्विस एजेन्सी के मुख्य सम्पादक डब्ल्यू आर. हर्स्ट (W. R. Hearst) को एक इटरव्यू मे ख्रुश्चेव ने स्पष्ट किया था कि यदि सयुक्तराज्य अमेरिका का शासक वर्ग इस असंदिग्ध तथ्य को स्वीकार कर ले कि विश्व मे एक समाजवादी जगत् का अस्तित्व है जो अपने आदर्शों के अनुरूप उन्नति के मार्ग पर अग्रसर है एवं इस समाजवादी दुनिया के अतिरिक्त एक पूँजीवादी दुनिया भी है तो वह (सोवियत रूस) इन दो विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओ के बीच सह-अस्तित्व की सम्भावनाओं को स्वीकार कर लेगा। अपने इसी इंटरव्यू में ख्रुश्चेव ने दृढ़ शब्दो मे यह स्पष्ट कर दिया कि रूस इस बात को किसी दशा मे स्वीकार नही कर सकता कि ससार के प्रत्येक देश पर सयुक्तराज्य अमेरिका हावी होने की चेष्टा करे।

स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान और सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानने के सोवियत रूस ने निश्चित प्रमाण भी प्रस्तुत किए। उदाहरणार्थ, जुलाई, 1953 को कोरिया युद्ध की समाप्ति मे रूसी सहयोग प्राप्त हुआ, जनवरी-फरवरी, 1954 मे चार बड़ों के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसके निश्चय के अनुसार अप्रेल मे जो जेनेवा सम्मेलन हुआ, उसमे वियतनाम की समस्या को शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाया गया। 15 मई, 1955 को आस्ट्रिया के साथ शान्ति स्थापित हुई। जुलाई, 1955 मे चार बड़ों का शिखर-सम्मेलन हुआ जो सन् 1945 के पोट्सडाम सम्मेलन के बाद चार बड़ों की पहली बैठक थी। इसमे हिन्दचीन के प्रश्न का शान्तिपूर्ण समाधान हुआ। इसी बीच 15 जून, 1954 को सोवियत संघ ने कालेसागर के प्रदेश में टर्की के विरुद्ध अपनी प्रादेशिक माँगों का परित्याग करने की घोषणा की।

सोवियत सघ ने सयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव की नियुक्ति पर अपने पहले के दुराग्रही रवैये को छोड़कर डाग हैमरशोल्ड को महासचिव के रूप मे स्वीकार कर लिया। 1 जुलाई, 1955 मे भारत के प्रयत्नों और रूस के समर्थन से साम्यवादी चीन ने 11 बन्दी अमेरिकी विमान चालको को रिहा कर दिया। रूस द्वारा अपनाई गई इस सहयोगपूर्ण और उदार नीति का सयुक्त राष्ट्रसंघ पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। रूसी सहयोग से वह अब अधिक प्रभावशाली रूप मे कार्य करने लगा।

नवम्बर-दिसम्बर, 1955 में एक तरफ सोवियत रूस ने और दूसरी तरफ फ्रांस, ब्रिटेन एवं संयुक्तराज्य अमेरिका ने यह निश्चय किया कि एक दूसरे के द्वारा प्रस्तावित राज्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने के प्रस्तावों का विरोध नहीं करेंगे। इस निश्चय के परिणामस्वरूप 8 दिसम्बर, 1955 को 18 राज्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान की गई। सोवियत नेताओं ने दूसरे देशों की सद्भावना यात्राएँ करना आरम्भ किया। 18 अप्रेल, 1956 को कोमिनफोर्म को भंग कर दिया गया। जुलाई-अगस्त, 1963 में अणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध-सन्धि सम्पन्न की गई जिसे सन् 1922 की वाशिंगटन सन्धियों के पश्चात् निःशस्त्रीकरण के प्रयत्नों की दिशा में प्रथम सफलता कहा जा सकता है। अगस्त में ही मास्को और वाशिंगटन के मध्य *सीधा टेलिफोन तथा रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता* (U. S. Soviet Hot Line Agreement) सम्पन्न हुआ जिसका उद्देश्य यह था कि किसी भी संकटकालीन स्थिति में दोनों राष्ट्रों के अध्यक्ष एक-दूसरे से सीधी वार्ता द्वारा विश्व को आणविक युद्ध का शिकार होने से बचा सकेंगे।

ख्रुश्चेव काल में 'पूर्व और पश्चिम' के सम्बन्धों में निश्चित रूप से सुधार हुआ, किन्तु राजनीतिक शत्रु के रूप में दोनों की स्थिति यथापूर्व रही और कूटनीतिक दावपेचों द्वारा अपना-अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने में दोनों ही पक्ष अग्रसर रहे। मूल अन्तर केवल यही रहा कि स्टालिनशाही उग्रवादी नीति का स्थान चातुर्यपूर्ण और गहन कूटनीतिक उदार नीति ने ले लिया जिसमें प्रत्येक अनुकूल अवसर से लाभ उठाने की चेष्टा जारी रही। *मौके-बेमौके ऐसे अवसर उपस्थित होते रहे और ऐसी* घटनाएँ घटीं जिनसे समय-समय पर शीतयुद्ध में तेजी आई और दोनों पक्षों में कटुता व्याप्त हुई। उदाहरणार्थ 1955 से स्वेज नहर और हंगरी के प्रश्न पर दोनों गुटों में अत्यधिक उग्रता उत्पन्न हो गई। मई, 1960 में यू-2 विमान की घटना ने शीतयुद्ध में उबार ला दिया और सन् 1962 में क्यूबा के संकट ने दोनों महाशक्तियों को संघर्ष के इतने निकट ला दिया कि तृतीय महायुद्ध के विस्फोट की सम्भावना से विश्व की सम्पूर्ण शान्तिप्रिय जनता आशंकित हो उठी। फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि संकट के प्रत्येक अवसर को टालने में न्यूनाधिक रूप से दोनों ही पक्षों ने विवेक और धैर्य का परिचय दिया तथा रस्सी को इतना नहीं खिंचने दिया कि वह टूट जाए।

3. अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहयोग—मोलेंकोव और ख्रुश्चेव युग में सोवियत संघ ने भी अल्प-विकसित देशों को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनाई जो आज तक सोवियत विदेश नीति का एक प्रमुख थंभ बनी हुई है। संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा सन् 1948 से ही ट्रूमैन सिद्धान्त और मार्शल *योजना के अन्तर्गत अल्प-विकसित देशों के लिए आर्थिक सहायता का कार्यक्रम चालू* था ताकि उन देशों के बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव को रोका जा सके। इसके प्रत्युत्तर में स्टालिनोत्तर युग में सोवियत रूस ने अल्पविकसित देशों को विकसित करने की अपेक्षा उनमें साम्यवाद के प्रचार और तोड़-फोड़ के सिद्धान्त को अपनाया था।

परन्तु स्टालिनोत्तर युग में नवीन नीति का प्रारम्भ हुआ जिसके अनुसार रूस द्वारा अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास पर बल दिया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप जनवरी, 1954 से जनवरी, 1963 तक दोनों ही देशों द्वारा अल्पविकसित एवं अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देने की एक प्रतियोगिता-सी प्रारम्भ हो गई।

अविकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की नीति अपनाने के साथ सोवियत रूस ने उत्पादन और सैनिक शक्ति में स्वयं को पश्चिमी देशों से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास किया। ख़ुश्चेव का स्पष्ट मत था कि, "अब सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या पूँजीवाद को पराजित करना है जो बड़े पैमाने पर उत्पादन के द्वारा अधिक पैदा करेगा वह विजयी होगा।" इस नीति के फलस्वरूप रूस के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। सैनिक शक्ति में भी सोवियत संघ तेजी से आगे बढ़ा। सन् 1957 में स्पूतनिक और सन् 1961 में 50 मेगावाट बम का निर्माण कर वह रॉकेट तथा आणविक शस्त्रों की दौड़ में संयुक्तराज्य से भी आगे निकल गया।

4. उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध—ख़ुश्चेव ने एशिया और अफ्रीका के देशों तथा असलग्न विश्व (Uncommitted World) की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद-विरोधी प्रचार को और भी तीव्र कर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्यत्र वह साम्राज्यवादी शक्तियों की तीव्र निन्दा करने लगा और उपनिवेशों तथा गुलाम राष्ट्रों को स्वतन्त्र करने के सभी प्रस्तावों और आन्दोलनों को पूर्ण समर्थन प्रदान करने लगा। रूसी नेताओं की मान्यता थी कि इस नीति से उन्हे दोहरा लाभ मिलता है। पहला तो वह कि उसे एशिया और अफ्रीका की साम्राज्यवाद से पीड़ित जनता की सहानुभूति प्राप्त होती है और दूसरे, साम्राज्यवाद के विघटन से रूस के प्रबल एवं कट्टर शत्रु पूँजीवादी पश्चिम की प्रभुता क्षीण होती है।

वास्तव में स्टालिन की मृत्यु के बाद ही विशेषकर ख़ुश्चेव के प्रभाव मे आने के उपरान्त से एशिया और अफ्रीका के अल्पविकसित या अविकसित देशों और उपनिवेशो के प्रति सोवियत नीति के प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित थे—

(i) भूतपूर्व उपनिवेशी अथवा अर्द्ध-उपनिवेशी देशों के सन्देह एवं राष्ट्रीय सम्मान का अच्छी प्रकार से ध्यान रखते हुए इनके प्रति पूरी तरह मित्रता एव सौहार्द्र प्रदर्शित करना;

(ii) इन देशों के पश्चिम के साथ अतीत के कटु सम्बन्धो का लाभ उठाकर इन्हें पश्चिम से विमुख करना;

(iii) न केवल उपनिवेशवाद विरोधी वरन् जातिवाद विरोधी प्रवृत्तियों को भी उभारना;

(iv) राजनीतिक तटस्थता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना;

(v) औद्योगीकरण द्वारा उनकी अपनी अर्थ-व्यवस्था को विकसित करने की

महत्त्वाकांक्षा को बल देना; हो सके तो सोवियत एवं पारस्परिक व्यापारों के सम्बन्धो की ओर उनको झुकाना;

(vi) उनके पश्चिम के साथ प्रत्येक सम्भावित विवाद को उकसाना;

(vii) विदेशी पूंजी या सहायता को उनकी स्वतंत्रता एवं सम्मान के विरुद्ध बता कर सन्देह की भावना उकसाना;

(viii) उनकी आँखों के सामने सोवियत रूस के द्रुत औद्योगीकरण को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना ताकि स्थानीय लोग यह समझ सकें कि केवल साम्यवाद ही बहुत कम समय में ऐसी उपलब्धियों को साकार कर सकता है।

सोवियत संघ के शक्ति एवं प्रभाव के विस्तार के मुख्य आकर्षक केन्द्र तीन है—अफ्रीका, एशिया एवं लेटिन अमेरिका। शिपलोव (Shepilove) ने पूर्व के सम्बन्ध मे कहा था कि सोवियत जनता पूर्वी राष्ट्रों के समाप्त प्राय: उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष को सहानुभूति तथा सम्मान प्रदान करती है। उन्होंने एक बार कहा था कि हमारा विश्वास है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा आत्म-निर्णय प्रत्येक देश की जनता (People) का अभिन्न अधिकार है।

ख्रुश्चेव का पतन, उसकी नीति का मूल्यांकन

ख्रुश्चेव के समय सोवियत नीति मे जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह जिन नई दिशाओ की ओर उन्मुख हुई उसका विवेचन किया जा चुका है। ख्रुश्चेव ने सोवियत नीति को जो मोड़ दिया वह उसके पतन के बाद भी जारी रहा। बाद मे सोवियत नेताओं की नीति ख्रुश्चेववादी ही रही। प्रधान मन्त्री कोसीगिन एवं राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने रूस की इस सह-अस्तित्व एव शान्तिवादी नीति को गति प्रदान की। गत वर्षों के इतिहास से इस आशा का संचार हुआ है कि सोवियत रूस अपनी उदार नीति पर आरूढ रहेगा।

श्री हुये और उन्ही के समान कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि उदारवाद रूस की अल्पकालीन नीति है अर्थात् उनकी मूल नीति मे कोई परिवर्तन नही आया है। स्टालिन के समय के शुद्धि-आन्दोलनों मे अनेक बड़े नेताओं की जो पदावनति होती थी, वह आज भी होती है। रूस के मामलों मे विशेष रूप से सिद्धहस्त अनेक पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों की मान्यता है कि रूसी विदेश नीति का प्रमुख ध्येय पूंजीवादी समाज का उन्मूलन है जिसमें शायद ही कोई मूल परिवर्तन आए। पर आज का रूस तो व्यवहार में स्वयं को सह-अस्तित्व का सच्चा समर्थक सिद्ध कर रहा है और अनेक मसलो पर पश्चिमी राष्ट्रों तथा अमेरिका की अपेक्षा अधिक शान्तिवादी होने का परिचय दे रहा है।

ब्रेझनेव-कोसीगिन काल
(1964–1980)

ख्रुश्चेव के पतन के बाद अक्तूबर, 1964 मे सोवियत संघ का नेतृत्व ब्रेझनेव और कोसीगिन के हाथो में आया। यह आशंका व्यक्त की गई कि नया नेतृत्व स्टालिनवादी होगा और सोवियत नीति में पुन: प्रतिगामी परिवर्तन आएगा।

लेकिन नए सोवियत नेताओं ने ख़ुश्चेववादी नीति अपनाते हुए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर चलने का आश्वासन दिया और उसे निभाया भी। ब्रेझनेव-कोसीगिन ने सोवियत कूटनीति को कुछ नई दिशाएँ भी प्रदान की हैं। वर्तमान जटिल और परिवर्तनशील अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सोवियत विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य साम्यवादी चीन और संयुक्तराज्य अमेरिका के दोहरे खतरे का मुकाबला करते हुए साम्यवादी जगत् मे रूसी नेतृत्व और विश्व में सोवियत प्रतिष्ठा को कायम रखना है। चीन-अमेरिका-धुरी के सफल मुकाबले के लिए भारत की मैत्री के महत्त्व को हाल ही के वर्षों में सोवियत नेता भली-भाँति आँक चुके हैं और पाकिस्तान-भारत सम्बन्धो में वर्तमान सोवियत विदेश नीति का बहुत कुछ इसीलिए पुनर्मूल्यांकन हुआ है।

सह-अस्तित्व और यात्रा-कूटनीति—रूस के नए नेतृत्व ने ख़ुश्चेवकालीन यात्राओं की कूटनीति जारी रखी है। अक्तूबर, 1966 में सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको ने राष्ट्रपति जॉनसन से मिलकर निःशस्त्रीकरण और वियतनाम के प्रश्न पर वार्ता की। जून, 1967 में अमेरिका और रूस के सर्वोच्च नेताओं का शिखर सम्मेलन हुआ तथा पश्चिमी एशिया के संकट पर संयुक्तराष्ट्र महासभा के अधिवेशन मे भाग लेने के लिए रूसी प्रधान मन्त्री कोसीगिन स्वयं उपस्थित हुए। ग्लासबरो मे जॉनसन और कोसीगिन ने विभिन्न समस्याओं पर विचारों का आदान-प्रदान किया। इसके बाद भी यही क्रम चालू रहा और सोवियत नेताओं ने भारत-पाकिस्तान,अमेरिका तथा अरब प्रदेशो की यात्राएँ की। इन यात्राओं में सोवियत नेता विश्व के राष्ट्रों के समक्ष सोवियत विदेश नीति के विवादग्रस्त पहलुओं की स्पष्ट व्याख्या दे सके जिससे सह-अस्तित्व और समस्याओ के शान्तिपूर्ण निदान का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

ताशकन्द : सोवियत कूटनीति में नया मोड़—सितम्बर, 1965 मे भारत-पाक संघर्ष का अन्त कराने मे उल्लेखनीय प्रयास करने के उपरान्त दोनों देशों के बीच विवाद सुलझाने के लिए मध्यस्थता कर रूस ने अपनी विदेश नीति के नए पैंतरे से समूचे राजनीतिक विश्व को स्तब्ध कर दिया। सोवियत सघ ने इससे पूर्व अान्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान मे मध्यस्थता के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया था। जनवरी, 1966 में 'ताशकन्द वार्ता' को सफल बनाने मे सोवियत कूटनीति अत्यन्त सक्रिय रही जिसके फलस्वरूप 10 जनवरी, 1966 को रात्रि के लगभग 9 बजे तालियों की गड़गड़ाहट के बीच तत्कालीन पाक-राष्ट्रपति अयूब खाँ और भारतीय प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री ने सोवियत प्रधान मन्त्री कोसीगिन की उपस्थिति मे एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसे 'ताशकन्द घोषणा' (Tahskent-Declaration) कहा गया। इस समझौते के कारण उस समय कश्मीर-विवाद ठण्डा पड़ गया, भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध सामान्य होने लगे तथा यह निश्चय हुआ कि दोनों पक्षों की सेनाएँ उन स्थानों पर लौट आएँगी जहाँ वे अगस्त, 1965 मे युद्ध प्रारम्भ होने से पहले थीं। सभी मतभेदो पर बातचीत चालू करने का निर्णय किया गया।[1] सोवियत

1. *Grenville* : The Major International Treaties 1914-73, p. 435.

राजनय की इस सफलता के मूल में प्रमुख कारण थे—(i) भारत और पाकिस्तान को एक निष्पक्ष वातावरण मे समझौता-वार्ता के लिए क्रियाशील करना, (ii) समझौता कराने के प्रश्न को सोवियत रूस द्वारा अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेना, (iii) सोवियत रूस की भौगोलिक स्थिति और एशिया मे शान्ति-व्यवस्था रखने में उसकी रुचि, एव (iv) पाकिस्तान को चीन-अमेरिकी गुट में जाने से रोकने की प्रबल रूसी उत्कण्ठा।

पाकिस्तान के प्रति नवीन दृष्टिकोण किन्तु शीघ्र ही भूल-सुधार – ताशकन्द समझौते के मूल में सोवियत सघ की भारत और पाकिस्तान के प्रति बदलती हुई नीति के बीज छिपे थे—यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया। रूस के नए नेतृत्व का रुख ताशकन्द समझौते के उपरान्त कुछ वर्षों तक भारत के प्रति उतना मैत्रीपूर्ण नही रहा जितना ख्रुश्चेव के समय था। कश्मीर के प्रश्न पर भी सोवियत रूस मे पाकिस्तान के पक्ष मे कुछ नरमी आई। जुलाई, 1968 में रूस ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का जो निर्णय किया वह भारत की मित्रता और आशाओ पर एक करारी चोट थी। सोवियत रवैये ने भारत को इस बात के लिए विवश किया कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई किसी का स्थायी मित्र या शत्रु नही होता।" फिर भी भारत का रुख सहनशीलता और 'प्रतीक्षा करो और देखो' का रहा। उधर सोवियत नेता पाकिस्तान की दुरंगी चालो से क्षुब्ध हो गए। उनकी यह धारणा बनी कि अमेरिका, चीन और रूस तीनों में से पाकिस्तान किसी का विश्वसनीय मित्र नही हो सकता। जो हथियार दे, वही उसका मित्र है। पाकिस्तान ने ताशकन्द समझौते के जो गम्भीर उल्लघन किए उससे भी पाकिस्तान की ईमानदारी मे सोवियत नेताओं का विश्वास टूट गया। दूसरी ओर भारत की गम्भीरता और दृढ़ता ने तथा रूस के प्रति अपरिवर्तित दृष्टिकोण ने सोवियत नेताओ को यह अनुभव करा दिया कि रूस के लिए अमेरिकी और चीनी खतरे के विरुद्ध भारत जैसे शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रों के हाथो मे कितनी सन्तुलनकारी शक्ति है। जब बंगलादेश (उस समय पूर्वी पाकिस्तान) की घटनाएँ घटी तो रूसी सहानुभूति भारत और बंगलादेश के न्यायपूर्ण पक्ष की ओर रही।

भारत और सोवियत विदेश नीति—स्टालिन ने, जो कठोर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का समर्थक था, भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को निर्बल तथा अवसरवादी नीति का ही प्रतिरूप समझा। भारत के पश्चिमी देशो के साथ सहयोग स्थापित करने के प्रयत्न की सोवियत रूस मे आलोचना हुई, लेकिन सन् 1949 के अन्त तक भारत और रूस के सम्बन्धो में सुधार होने लगा। मास्को मे भारतीय राजदूत डॉ. राधाकृष्णन् के सद्प्रयासों से दिल्ली-मास्को के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के विकास मे बहुत सहायता मिली।

इस बढ़ती हुई मैत्री को जून, 1950 मे कोरिया-युद्ध छिड़ने पर झटका लगा। भारत न्याय और निष्पक्षता के पक्ष मे था, अतः उसने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने मे कोई हिचक नही दिखाई। इससे सोवियत संघ मे

भारत के प्रति रोष पैदा हो गया, किन्तु जब कोरिया-समस्या के आगामी चरण में भारत ने संयुक्त-राष्ट्रसंघीय सेनाओं को 38वीं अक्षांश रेखा पार करने तथा चीन को आक्रमणकारी घोषित करने की चेतावनी दी तो स्टालिन को विश्वास हो गया कि भारत की निर्णय-शक्ति स्वतन्त्र है, वह पश्चिम के दबाव से प्रेरित नहीं है। दोनों देश इसलिए भी एक-दूसरे के निकट आए कि सितम्बर, 1951 में भारत ने जापानी शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया क्योंकि यह सन्धि जापान को साम्राज्यवादी शिकंजे में जकड़ने की एक चाल थी।

मोलेंकोव और फिर बुल्गानिन-ख्रुश्चेव काल में भारत और रूस के सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ रहे। सन् 1954 में रूस ने 'पंचशील' के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। जून, 1955 में श्री नेहरू ने सोवियत संघ की यात्रा की तथा रूसियों को अपने सह-अस्तित्व की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित किया। सन् 1955–56 में बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों पर दोनों देशों के दृष्टिकोण समान थे। कश्मीर विवाद पर सोवियत संघ भारत को खुला समर्थन देता रहा और सुरक्षा-परिषद् में भार विरोधी पश्चिमी राष्ट्रों के प्रस्ताव पर 'वीटो' का प्रयोग करता रहा। निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में भी दोनों देशों के दृष्टिकोण में समानता रही।

अक्तूबर, 1962 में चीनी आक्रमण के प्रारम्भ में रूसी रुख भारत के लि- निराशाजनक रहा, लेकिन धीरे-धीरे भारत पर चीनी आक्रमण के सम्बन्धो सोवियत दृष्टिकोण बदलने लगा और दिसम्बर, 1962 में तो सुप्रीम सोवियत के सामने श्री ख्रुश्चेव ने भारत पर चीनी आक्रमण की खुली निन्दा तक की। सन् 1963 में चीन द्वारा कोलम्बो प्रस्ताव ठुकरा देने पर भी रूस ने चीन की कटु आलोचना की। रूस द्वारा भारत को मिग विमान दिए गए और रूसी सहयोग से मिग-विमान का कारखाना भी भारत में स्थापित किया गया।

26 अक्तूबर, 1964 को ख्रुश्चेव के पतन के पश्चात् रूस में ब्रेझनेव और कोसीगिन के नए नेतृत्व का उदय हुआ जो आज भी सत्तारूढ़ है। बाद में कुछ वर्षों में भारत को रूस का वैसा समर्थन प्राप्त नहीं हो सका जैसा ख्रुश्चेव ने दिया था। सितम्बर, 1665 में भारत-पाक संघर्ष के समय सोवियत नेतृत्व की नीति किसी न किसी प्रकार संघर्ष को शान्त करने की रही और रूस ने पाकिस्तान के कार्यों का पहले के समान विरोध नहीं किया।

ताशकन्द समझौते के बाद दोनों देशों के सम्बन्धों में थोड़ा सा तनाव तब आया जब रूस ने पाकिस्तान को हथियार बेचने का निश्चय किया। सोवियत कूटनीति की यह 'नई दिशा' भारत के हितों पर विपरीत प्रभाव डालने वाली थी। सौभाग्यवश रूस को अपने 'दिशा-भ्रम' का शीघ्र ही अहसास हो गया और भारत-रूस सम्बन्धों में उत्तरोत्तर विकास होता रहा। बंगलादेश के सम्बन्ध में रूस का रवैया भारत-समर्थक था। सन् 1971 में पाकिस्तान ने बंगलादेश के जन आन्दोलन को कुचलने में कोई कसर नहीं रखी और रूस ने पाकिस्तान को स्पष्ट कर दिया

कि वह नरसंहार समाप्त कर समस्या के राजनीतिक हल के पक्ष मे बंगलादेश सकट काल मे पेकिंग पिण्डी-वाशिंगटन धुरी के निर्माण की सम्भावनाओं और उससे उत्पन्न खतरे को देखकर भारत ने 9 अगस्त, 1971 को सोवियत संघ के साथ मैत्री-सन्धि कर हस्ताक्षर किए। इस तरह भारत और सोवियत सघ चीन-अमेरिकी सम्बन्धो से भविष्य मे उत्पन्न होने वाले परिणामो का सामना करने के लिए और अधिक निकट आ गए। इस सन्धि द्वारा केवल भारत ही लाभान्वित नही हुआ अपितु सोवियत संघ भी एशिया मे एक महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया और यह उसकी वर्तमान विदेश नीति की एक बड़ी सफलता मानी जा सकती है।

इस सन्धि की सबसे बड़ी बात इस निश्चय मे है कि यदि कोई तीसरा देश दोनों मे से किसी एक पर आक्रमण करता है तो वे उसके प्रतिकार के लिए एक दूसरे से परामर्श करेंगे। इसका सीधा अभिप्राय यह अवश्य ही नही है कि उनमे से एक आक्रमणकारी पर आक्रमण कर देगा, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह अर्थशून्य है। जब आक्रमण होगा तो आक्रमण के प्रतिकार का उपाय सोचा जाएगा। इसका अर्थ सैनिक सहायता भी हो सकता है। सहायता का कोई अन्य स्वरूप भी हो सकता है। लक्ष्य आक्रमण के निराकरण का है। यदि यह पूर्ण हो जाता है तो शान्ति के लिए और क्या अभीष्ट है।

दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध तथा बंगलादेश के उदय के समय यह पुनः स्पष्ट हो गया कि भारत की स्वतन्त्र निर्णय शक्ति पर किसी भी अकुश अथवा सन्देह की कल्पना करना भ्रामक है तथा सोवियत रूस भारत का सच्चा हितैषी और सकट मे काम आने वाला मित्र है। सुरक्षा-परिषद् मे भी रूस ने पाकिस्तान और उसके 'बड़े आका' अमेरिका के मनसूबों पर पानी फेर दिया। युद्ध के दौरान उसने स्पष्ट चेतावनी दी कि कोई भी विदेशी ताकत हस्तक्षेप करने का दुस्साहस न करे। इतना ही नही, जब अमेरिका सातवां बेड़ा 'रहस्यमय इरादे' से बगाल की खाड़ी की ओर चल पड़ा तो रूस ने भी हिन्द महासागर मे अपने युद्धपोत इस दृष्टि से तैयार कर दिए कि भारत के विरुद्ध अमेरिका द्वारा नौ-सैनिक कार्यवाही करने पर उसका उचित उत्तर दिया जाए। रूसी सहयोग के फलस्वरूप अमेरिका और चीन को यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि भारत-सोवियत मैत्री सन्धि कोरी कागजी कार्यवाही नही है वरन् एक सच्ची सन्धि है। सन् 1972, 1973 एव अगले वर्षों में इस मैत्री-सन्धि की वर्षगाँठें मनाकर दो महान् राष्ट्र एक दूसरे के और भी नकट आए हैं।

भारत और सोवियत संघ की मैत्री नवम्बर, 1973 मे ब्रेझनेव की भारत यात्रा से और अधिक पुष्ट हुई। ब्रेझनेव ने भारत की सिद्धान्तनिष्ठ नीतियो की सराहना की और राजनीतिक क्षेत्रो में स्पष्ट मत व्यक्त किया गया कि सोवियत नेता की इस यात्रा से एशियाई देशों के शान्ति और सुरक्षा के लिए सामूहिक सघर्ष के प्रयासों को और बल मिला है। ब्रेझनेव की इस यात्रा से स्पष्ट हो गया कि भारत-

सोवियत संघ मैत्री 'दो देशों की परस्पर-सन्धि' के दायरे से बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सहयोग के क्षेत्र में प्रवेश कर रही है और आर्थिक तथा विकास सम्बन्धी योजनाओं के क्षेत्र मे देश अधिकाधिक रूप पर निर्भर करने लगा है। रूसी नेता की चार दिवसीय ऐतिहासिक यात्रा के दौरान 30 दिसम्बर, 1973 को भारत और सोवियत संघ के बीच एक 15 वर्षीय आर्थिक और व्यापारिक समझौता हुआ जिसमें यह निश्चय किया गया कि सोवियत संघ भारत को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के लिए भारी उद्योगों व विकास-कार्यक्रमों के लिए विशाल सहायता देगा। समझौते के अन्तर्गत यह निश्चय प्रकट किया गया कि सन् 1980 तक दोनों देशों के बीच व्यापार को डेढ गुना या दुगुना बढ़ा दिया जाएगा और इसके लिए दोनों देश आवश्यक कदम उठाएँगे। 30 नवम्बर को ब्रेझनेव वापस अपने देश लौट गए। विमान से रवाना होने के बाद उन्होंने श्रीमती इन्दिरा गांधी को विमान पर से सन्देश भेजा कि "हमारी बातचीत एशिया और समूचे विश्व की स्थिति पर ठोस प्रभाव डालेगी तथा दोनो देशों के बीच मैत्री-सम्बन्ध अधिक विकसित तथा सुदृढ़ करने के लिए जोरदार प्रेरणा का काम करेगी।"[1] दोनों देशों का सहयोग उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। जब फरवरी, 1975 मे पाकिस्तान को अमेरिकी हथियार प्रदान करने की घोषणा की गई तो रूस ने इस पर गहरी चिन्ता व्यक्त की और इसे भारतीय उपमहाद्वीप की शान्ति के लिए घातक बताया।

भारत और सोवियत संघ के बीच मित्रता, सूझ-बूझ और परस्पर लाभकारी सहयोग के सम्बन्ध निरन्तर विकसित और सुदृढ होते गए। मास्को मे दोनो देशों के बीच नवम्बर, 1975 मे विदेश कार्यालयों के बीच नियमित द्विपक्षीय वार्षिक परामर्श हुआ तथा वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर पारस्परिक हित की दृष्टि से लाभकारी आदान-प्रदान हुआ। सर्वोच्च सोवियत की सर्वोच्च परिषद् के उपाध्यक्ष एस. बी. नियाजवैकोव के नेतृत्व में एक सोवियत संसदीय प्रतिनिधि-मंडल ने 10 से 17 अप्रेल, 1975 तक भारत की यात्रा की। दीर्घकालीन व्यापार समझौता वार्ता के सम्बन्ध में भारत के वाणिज्य मंत्री श्री चट्टोपाध्याय नवम्बर, 1975 में मास्को गए। विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में भी भारत को उल्लेखनीय सोवियत सहयोग मिला। अप्रेल, 1975 में सोवियत रॉकेट की सहायता से भारत पहला कृत्रिम उपग्रह (आर्यभट्ट) सोवियत संघ से छोडा गया। यह उस समझौते के अन्तर्गत था जो दोनों देशों के बीच मई, 1972 में हुआ था। कृत्रिम उपग्रह और अन्तरिक्ष खोज के पर्यवेक्षण सम्बन्धी पारस्परिक सहयोग के कार्यक्रम पर दोनों देशों के बीच नवम्बर 1965 में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। जनवरी, 1976 में दोनों देशों ने 1976 व 77 दो वर्षों के लिए एक प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किए जिसका विषय–कृषि एवं जन्तु विज्ञान में वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग था। 1976 से 80 की अवधि के लिए अप्रेल, 1976 में एक नया व्यापार-समझौता हुआ जिससे भारत से परम्परागत

1. दिनमान, 25 अप्रेल–1 मई, 1976, पृष्ठ 19.

निर्यात वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुओं के निर्यात का मार्ग भी खुल गया जिनका सम्बन्ध आधुनिक मशीन और उपकरण-निर्माण से है। इसे भारत की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कहा जाएगा क्योंकि अभियान्त्रिकी के क्षेत्र मे भारत की प्रगति को सोवियत सघ जैसे विकसित देश और पूर्वी यूरोप के अन्य देशो मे मान्यता प्राप्त हुई है।

भारत और सोवियत संघ के बीच मैत्रीपूर्ण एवं परस्पर लाभकारी सहयोग के सम्बन्धो मे अनेक उच्चस्तरीय यात्राओ के विनिमय तथा महत्त्वपूर्ण करारों पर हस्ताक्षर के माध्यम से और भी प्रगति हुई। इनमें व्यापार, व्यापारिक नौ परिवहन और सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रम समझौते शामिल है। उच्चस्तरीय यात्राओ के माध्यम से भी निकट सम्बन्धों को कायम रखा गया। इन यात्राओ में जून, 1976 में प्रधान मन्त्री और मंगोलियाई लोक गणराज्य की यात्रा के अवसर पर विदेश मन्त्री की सोवियत संघ की यात्रा भी सम्मिलित है। अप्रैल, 1977 मे सरकार के नए नेताओं से विचार विनिमय के लिए सोवियत विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको भारत आए। इस यात्रा से अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ तथा आपसी हित के मामलों पर विचार-विनिमय करने का अवसर मिला। इस यात्रा के दौरान आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग, व्यापार एव दूर सचार सम्बन्धों की स्थापना से सम्बन्धित तीन समझौतो पर हस्ताक्षर हुए। इनसे दोनो देशो के बीच सहयोग वृद्धि की और भी सम्भावना बढ़ी। यात्रा के दौरान दोनो देशो के नेताओ ने सस्कृति, कला, साहित्य, शिक्षा, खेल-कूद और पर्यटन के क्षेत्र मे अपने सम्बन्धो को और भी सुदृढ़ बनाने और विकसित करने की इच्छा व्यक्त की गई। बातचीत के दौरान अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के बारे में दोनो देशो के समान विचार पाए गए।

अक्तूबर, 1977 मे प्रधान मन्त्री और विदेश मन्त्री सोवियत संघ की राजकीय यात्रा पर गए। दोनो पक्षों ने यह नोट किया कि भारत-सोवियत मित्रता किन्ही अस्थायी मान्यताओ पर आधारित नहीं है वस्तुतः यह मित्रता एशिया और समस्त विश्व में शान्ति और स्थिरता के लिए महत्त्वपूर्ण घटक है। यह महत्त्वपूर्ण समझा गया कि इस मित्रता को न सिर्फ कायम रखा जाए बल्कि मजबूत किया जाए। आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग से सम्बद्ध भारत-सोवियत संयुक्त आयोग के अधीन हो रहे कार्य की प्रगति पर सन्तोष व्यक्त किया गया। इस बात पर सहमति हुई कि वर्ष 1978 के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था और द्विपक्षीय व्यापार आदान-प्रदान के विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर लाभपूर्ण आर्थिक सहयोग के लिए एक दीर्घकालीन कार्यक्रम तैयार किया जाना चाहिए। सयुक्त विज्ञप्ति में भारत और सोवियत संघ ने शस्त्रों के लिए दौड़ को समाप्त करने, आणविक युद्ध को टालने और निःशस्त्रीकरण समझौता कराने के काम को महत्त्वपूर्ण बताया। दोनो पक्षों ने आणविक निरस्त्रीकरण सहित सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण की उपलब्धि के लिए अवसर पैदा करने के लिए अपना दृढ विश्वास दोहराया। दोनो पक्षों ने यह माना कि एशियायी देशों के बीच आपसी लाभ के सहयोग को अवश्य बढ़ावा दिया

चाहिए और इस क्षेत्र में शान्ति और स्थिरता को मजबूत बनाने के लिए इसका विस्तार किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से देशों के बीच बल-प्रयोग या बल प्रयोग की धमकी को त्यागने, एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने, पूर्ण समानता, आपसी लाभ और प्रत्येक देश की जनता द्वारा अपनी राजनीतिक व सामाजिक प्रणालियों को चुनने के अधिकार के आधार पर आर्थिक और अन्य क्षेत्रों में सहयोग जैसे सर्वमान्य सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए। यह कहा गया कि एक-दूसरे देश के साथ सम्बन्धों की स्थापना में इन सिद्धान्तों को स्वीकार किए जाने से एशिया को स्थायी शान्ति का महाद्वीप बनाने और सारे विश्व में शान्ति को मजबूत करने में योगदान मिलेगा। हिन्द महासागर की स्थिति पर विचारों के आदान-प्रदान के दौरान दोनों पक्षों ने इस क्षेत्र के देशों की जनता की हिन्द महासागर में शान्ति क्षेत्र बनाए रखने की इच्छा का समर्थन किया। दोनों ने हिन्द महासागर से सभी वर्तमान सैनिक अड्डों को हटाने और नए अड्डे बनाने पर रोक लगाने की माँग की। दोनों पक्षों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ और विश्व-शान्ति तथा राष्ट्रों की सुरक्षा को बनाए रखने मे इसकी प्रभावशीलता को और मजबूत करने और संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र के सिद्धान्तों और उद्देश्यों का कड़ाई से पालन करने के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढावा देने के अपने संकल्प को फिर से दोहराया।

मई, 1978 में रक्षा मन्त्री श्री जगजीवनराम की रूस यात्रा के दौरान रक्षा के भारत-सोवियत सहयोग की समीक्षा की गई। सितम्बर, 1978 में अपनी रूस यात्रा के दौरान भारतीय विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने यह स्पष्ट किया कि किसी अन्य देश के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने के भारत के प्रयासों से सोवियत संघ सहित अन्य देशों के साथ विद्यमान मित्रतापूर्ण सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ने दिया जाएगा। 1978 में दोनो देशों के बीच आदान-प्रदान का सिलसिला बढा और विभिन्न क्षेत्रों में भारत-सोवियत सहयोग और अधिक महत्त्वपूर्ण बना। 1979 और 1980 में भारत-रूस सम्बन्धों में उत्तरोत्तर सुधार होता गया है, दोनों देशों की एक-दूसरे के प्रति सद्‌भावना बढ़ी है और अनेक क्षेत्रों में दोनों पक्षों के पारस्परिक सहयोग का विस्तार हुआ है। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के अन्य देशों के साथ भारत के सम्बन्ध उच्चतम स्तर की यात्राओं के आदान-प्रदान तथा इन देशों के साथ स्थापित संयुक्त क्रियाकलापों के माध्यम से सतत् सुदृढ हुए हैं।

सोवियत संघ की मन्त्रि-परिषद् के अध्यक्ष, श्री ए. एन. कोसीगिन ने 9 से 18 मार्च, 1979 तक भारत की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान हुई बातचीत से यह प्रकट हुआ कि प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भारत और सोवियत संघ के विचार समान हैं। इस यात्रा के अन्त में जारी की गई संयुक्त विज्ञप्ति मे इस बात की पुनः पुष्टि की गई कि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों के आधार पर भारत सोवियत संघ के सम्बन्धों को सुदृढ करना दोनों देशों की विदेश नीति का मूलाधार

है। दक्षिण एशिया के देशों के साथ अपने सम्बन्धों को सामान्य बनाने की भारत की पहल की सोवियत संघ ने प्रशंसा की।

इस यात्रा के दौरान कई करारों तथा प्रोतोकोलों पर हस्ताक्षर हुए, जिनमें निम्नलिखित करार/प्रोतोकोल भी शामिल हैं—चिकित्सा विज्ञान तथा जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र में सहयोग से सम्बद्ध करार, सूरतगढ़ राजकीय फार्म के लिए कृषि सम्बन्धी मशीनों की भेंट तथा मोटर गाड़ियों की सप्लाई से सम्बद्ध प्रोतोकोल, 1979 और 1980 के लिए सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम और वर्ष 1979 के दौरान पारस्परिकता के आधार पर कुछ अतिरिक्त जिन्सों के संभरण सम्बन्धी करार।

दोनों देशों के बीच सहमत सबसे महत्त्वपूर्ण दस्तावेज का सम्बन्ध 10-15 वर्ष की अवधि के लिए आर्थिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग से सम्बद्ध एक दीर्घावधि कार्यक्रम से है। यह भारत में अपनी तरह का पहला कार्यक्रम है जिसके द्वारा विविध क्रियाकलापों के लिए भविष्य में द्विपक्षीय सहयोग की व्यवस्था की जाएगी। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत मछली-पालन, लुगदी तथा कागज और खाद्य उद्योग के क्षेत्रों में विशेषज्ञों के दल भारत से सोवियत संघ की यात्रा पर गए और सोवियत संघ से कोयला खनन, मशीन निर्माण और लौह-धातु कर्म के विशेषज्ञों ने भारत की यात्रा की। सोवियत संघ नीचे लिखी महत्त्वपूर्ण परियोजनाओं में भी भारत को सहयोग देने पर सहमत हुआ—भारत के पूर्वी तट पर अल्युमीनियम संयंत्र कुछ विशिष्ट कोयला क्षेत्रों का संगठन और विस्तार तथा सिंचाई के क्षेत्र में सहयोग।

पेट्रोलियम तथा रसायन मन्त्री श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा ने 28 मई से 2 जून, 1979 तक सोवियत संघ की यात्रा की। उन्होंने तेल उत्पादन के क्षेत्र में भावी सहयोग के बारे में विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श किया। विशेष रूप से पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा और कावेरी तट के क्षेत्रों में इस प्रकार के सहयोग की प्रक्रिया तथा सीमा के सम्बन्ध में एक प्रोतोकोल पर हस्ताक्षर किए गए।

भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई तथा भूतपूर्व विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी 10 से 14 जून तक सोवियत संघ की यात्रा पर गए। यात्रा के अन्त में जारी संयुक्त वक्तव्य में भारत और सोवियत संघ के इस संकल्प की पुनः पुष्टि की गई है कि दोनों देशों के आपसी सहयोग को और मजबूत बनाना चाहिए क्योंकि इससे न केवल इन दोनों देशों के हितों की रक्षा होती है अपितु इससे विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में भी मदद मिली है। विज्ञप्ति में कहा गया कि दोनों देशों के बीच लम्बी अवधि के आर्थिक वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग के समझौते, संयुक्त आयोग की बैठक, 'भास्कर' उपग्रह के प्रक्षेपण तथा विशाखापट्नम इस्पात कारखाने सम्बन्धी समझौता इस बात के सबूत हैं कि दोनों पक्ष आर्थिक मामलों में और अन्य क्षेत्रों में सहयोग बनाए रखना चाहते हैं। विज्ञप्ति में भारत और सोवियत संघ दोनों ने हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने पर बल दिया और किसी भी बहाने से वहाँ बड़े राष्ट्रों द्वारा सैनिक अड्डे बनाए जाने के

प्रयत्नों की निन्दा की तथा की तथा यह माँग की कि इस क्षेत्र में जो विदेशी सैनिक तथा नौ-सैनिक अड्डे इस समय हैं, उन्हें खत्म किया जाए। भारत ने इस सम्बन्ध में सोवियत संघ के अमेरिका से बात करने के प्रस्ताव का हार्दिक स्वागत किया। आशा की जाती है कि वियना में कार्टर-ब्रेझनेव वार्ता के दौरान इस प्रश्न पर भी विचार-विमर्श होगा। यह एक ऐसा मुद्दा है कि जिस पर सोवियत संघ को अपना रवैया बदल देना पड़ा है। हिन्द महासागर में अपनी सैनिक उपस्थिति के लिए कोई बहाना ढूंढना चाहिए—यह दोनों महाशक्तियों पर लागू होगा। तनाव-शैथिल्य की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

दूसरा महत्त्वपूर्ण मुद्दा जिस पर भारत और सोवियत संघ ने एक-जैसे विचार प्रकट किए वह है अफगानिस्तान का मामला। दोनों देशों ने अफगानिस्तान के अन्दरूनी मामलों में बाहरी ताकतों के हस्तक्षेप की निन्दा की और अफगानिस्तान की जनता की आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति प्रकट की। दोनों देशों ने अफगानिस्तान के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्धों तथा सहयोग का विकास करने की इच्छा प्रकट की। यद्यपि इस सम्बन्ध में पाकिस्तान का जिक्र नहीं किया गया तथापि इसका संकेत मुख्य रूप से उसी की तरफ था। विज्ञप्ति में इस बात का इशारा भी नहीं किया गया है कि भारत और सोवियत संघ अफगानिस्तान की सहायता के लिए क्या कदम उठाएँगे। यद्यपि विज्ञप्ति में कम्पुच्या का नाम लेकर उल्लेख नहीं किया गया तथापि दक्षिण-पूर्व एशिया की स्थिति पर चिन्ता प्रकट की गई। कम्पुच्या को मान्यता देने के सम्बन्ध में भारत सोवियत संघ से अलग राय रखता है। इसके विचार में कम्पुच्या की नई सरकार को यह तभी मान्यता देगा जब उसका पूरे कम्पुच्या पर कब्जा हो जाएगा।

दोनों पक्षों ने साल्ट–2 समझौते पर सन्तोष व्यक्त किया और यह आशा की कि निरस्त्रीकरण की दिशा में भविष्य में और भी कदम उठाए जाएँगे। साल्ट–3 के लिए शायद वियना सम्मेलन में कुछ न कुछ कदम उठा लिया जाए—इसमें निश्चित रूप से अणु युद्ध की सम्भावनाएँ कम करने में मदद मिलेगी। फौजी बजटों में कमी होने से जो रुपया बचेगा वह विकासशील देशों के विकास कार्यों पर खर्च किया जा सकता है। तनाव-शैथिल्य में निर्गुट राष्ट्रों की भूमिका की तो सराहना की गई, लेकिन जैसा कि कोलम्बो सम्मेलन से स्पष्ट हो गया है, बड़े राष्ट्र इस मंच को भी अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए काम में लाना चाहते हैं। पश्चिमी एशिया की समस्या पर भी दोनों पक्षों ने अरब-भूमि से इजरायली सैनिकों की पूरी-पूरी वापसी पर बल दिया और फिलिस्तीन की अरब जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने तथा अलग-अलग राज्य बनाए जाने के उनके अधिकार को स्वीकार किए जाने की माँग की। इस समस्या के हल के लिए वार्ता में फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे को शामिल करने पर बल दिया गया। विज्ञप्ति में इस बात का आभास मिला कि दोनों देशों की बातचीत सफल रही तथा जिन वार्ताओं पर कुछ मतभेद रहे, वे भी आगे चल कर खत्म हो जाएँगे। इतनी बात तो निश्चित है कि सोवियत नेताओं ने

अफगानिस्तान के मामले में भारतीय नेताओं से सहयोग की बार-बार अपील की लेकिन यह पता नहीं चल सका कि भारतीय नेताओं ने इस सम्बन्ध में पाकिस्तान पर दबाव डालने के लिए कोई आश्वासन दिया या नहीं। क्या भारत ऐसी स्थिति में है कि वह पाकिस्तान पर किसी प्रकार का दबाव डाल सके।

भारत सोवियत संयुक्त आयोग की जून, 1979 में ही मास्को में हुई बैठक के दौरान सोवियत सहयोग से विशाखापट्टनम में एक इस्पात संयन्त्र लगाने के लिए भी एक करार पर हस्ताक्षर किए गए। आयोग ने यह निर्णय किया कि श्री ए. एन. कोसीगिन की यात्रा के दौरान सहमत सहयोग के कार्यक्रमों की प्रगति पर ध्यान रखने तथा उसके क्रियान्वयन पर सुझाव देने के लिए एक दल का गठन किया जाए। इसी मास लोकसभा के अध्यक्ष श्री के. एस. हेगड़े के नेतृत्व में एक संसदीय शिष्टमण्डल ने सोवियत संघ की यात्रा की। सोवियत समाजवादी गणतन्त्र संघ की सर्वोच्च सोवियत के उपाध्यक्ष श्री पी. वाई. स्ट्राटमेनिस के नेतृत्व में सोवियत-भारत मैत्री संघ का एक मैत्री शिष्टमण्डल अगस्त में भारत आया। इस यात्रा के दौरान हुई बातचीत में उन्हें इस बात का आश्वासन दिया गया कि भारत-सोवियत मित्रता को बढ़ाने के लिए भारत विश्वास और सहयोग की उसी भावना से काम करता रहेगा जो दोनों देशों के बीच घनिष्ट और मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के रूप में पहले से विद्यमान है। श्री ए. एन. कोसीगिन सितम्बर, 1979 में अपनी विदेश यात्रा के दौरान बम्बई रुके। विदेश मन्त्री श्री श्यामनन्दन मिश्र ने श्री कोसीगिन का स्वागत किया और आपसी हित के मामलों पर उनके साथ विचार-विमर्श किया।

विदेश मन्त्री श्री नरसिंह राव ने 3-7 जून, 1980 तक मास्को की यात्रा की और इस यात्रा के दौरान वे राष्ट्रपति ब्रेझनेव तथा अन्य सोवियत नेताओं से मिले। इस यात्रा के दौरान पारस्परिक हित के मामलों पर हुए विचार-विमर्श में एक दूसरे के विचारों को अच्छी तरह समझा गया। इस यात्रा से भारत तथा सोवियत संघ के अपने पारस्परिक सम्बन्धों को दिए जाने वाले महत्त्व को प्रतिपादित किया गया, जो निरन्तर सुदृढ़ तथा विकसित होते रहे हैं।

पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी देशों के प्रति सोवियत नीति—रूस पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जगत् पर अपना संयुक्त प्रभाव बनाए रखने के पक्ष में है ताकि वहाँ से पश्चिमी यूरोपीय राजनीति में प्रभावपूर्ण ढंग से हस्तक्षेप किया जा सके। अतः पूर्वी यूरोपीय देशों में पनप रही सोवियत विरोधी प्रवृत्तियों का सामना करने के लिए उसने वारसा पैक्ट को पहले की अपेक्षा और अधिक कठोर तथा शक्तिशाली बना लिया है। सन् 1968 में चैकोस्लोवाकिया में रूस विरोधी विद्रोह को कुचलने में उसके तथा अन्य वारसा पैक्ट के देशों द्वारा निर्वाह की गई भूमिका से यह स्पष्ट है। सोवियत नेताओं का कहना है कि रूस और उसके साथियों का सैनिक हस्तक्षेप चैकोस्लोवाकिया में साम्यवाद के विरुद्ध की जाने वाली क्रान्ति को विफल बनाने के लिए आवश्यक था।

वास्तव में सन् 1967 से ही चैकोस्लोवाकिया में उदारवादी प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी थी और जनवरी, 1968 में दुबचेक के नेतृत्व में चैकोस्लोवाकियाई साम्यवादी दल ने समाजवादी लोकतन्त्रीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार कर, उदारवाद के पक्ष में बहुत से सुधार प्रस्तावित किए थे। जब चैकोस्लोवाकिया के नेताओं ने रूसी अप्रसन्नता की कोई परवाह नहीं की तो 21 अगस्त, 1968 की रात्रि को सोवियत रूस तथा वारसा पैक्ट के चार अन्य देशों—पोलैण्ड, हंगरी, पूर्वी जर्मनी और बल्गेरिया की शक्तिशाली सेनाओं ने चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर कुछ ही घण्टों में राजधानी प्राग सहित अन्य बड़े नगरों पर अधिकार कर लिया। अन्त में काफी विचार-विमर्श के बाद मास्को में दोनों पक्षों के बीच एक समझौता हुआ जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि चैकोस्लोवाकिया सरकार ने वचन दिया कि वह चैकोस्लोवाकिया में समाजवाद को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक कदम उठाएगी। सितम्बर, 1968 के मध्य तक प्राग से सोवियत सेनाएं वापस लौट गईं। अप्रेल, 1969 में दुबचेक के नेतृत्व का अन्त हो गया और सोवियत रूस समर्थक सरकार की स्थापना हुई। आक्रमण की कटु स्मृतियां धीरे-धीरे धूमिल पड़ गईं और आज दोनों देशों के सम्बन्ध सामान्य हैं। अल्बानिया अवश्य चीन के प्रभाव में है, किन्तु रूमानिया में रूस ने अपनी स्थिति पुनः सम्भाल ली है। पोलैण्ड, हंगरी, पूर्वी जर्मनी, बल्गेरिया आदि देशों के साथ रूस के सम्बन्ध यथावत हैं।

यद्यपि साम्यवादी शिविर में स्वैच्छिक एकता का तो अभाव ही रहा है तथापि 1977 का वर्ष इस दृष्टि से नई आशाओं का सचार करने वाला रहा। पिछले तीन वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनय में कई समीकरण बने और बिगड़े, उनमें कई उतार-चढ़ाव आए और महाशक्तियों ने सीधे सशस्त्र संघर्ष को टालने के लिए 'शीतयुद्ध' और फिर 'देतां' की कूटनीति अपनाई। स्वाभाविक था कि इस दौर में कम्युनिस्ट देश भी अपने पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते और शायद पुनर्विचार का ही यह परिणाम था कि कम्युनिस्ट युद्ध में आपसी विवादों का अन्त करने की चिन्ता उत्पन्न हुई। इसलिए यह कोई संयोग नहीं था कि यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो एक लम्बे अन्तराल के बाद अगस्त, 1977 की 16 तारीख को आठ दिन की राजकीय यात्रा पर सोवियत संघ गए और वहां से उत्तर कोरिया होते हुए 30 अगस्त को पहली बार चीन पहुँचे। अवश्य ही यह एक संयोग था कि जिन मार्शल टीटो ने अठारह वर्ष पूर्व सन् 1949 में सोवियत संघ से सम्बन्ध विच्छेद कर कम्युनिस्ट गुट में स्वतन्त्र नीति अपनाने की बुनियाद रखी थी वही टीटो अब कम से कम तीन शिविरों में विभक्त कम्युनिस्ट जगत् की एकता की मुहिम पर निकले।

साम्यवादी आन्दोलन को संगठित करने अथवा कम से कम उसे और विघटन से रोकने की भूमिका में मार्शल टीटो कम्युनिस्ट जगत् में अपना विशेष महत्त्व रखते थे। सोवियत संघ उनसे संवाद स्थापित करने की पहल भी कर चुका था। इस संवाद को शुरू करने का अवसर जुटाया कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टियों के सम्मेलन ने, जो 28 जून, 1976 को बर्लिन में हुआ था। उस सम्मेलन के अवसर पर ब्रेझनेव

और टीटो के बीच 'मैत्री वार्ता' हुई थी। इस वार्ता का परिणाम शीघ्र ही सामने आया। युगोस्लाविया के टीटोवाद-विरोधी लगभग 130 सोवियत समर्थकों को टीटो सरकार द्वारा दण्डित किए जाने के बावजूद श्री ब्रेझनेव 15 नवम्बर, 1976 को श्री टीटो से बातचीत करने बेलग्रेड पहुँचे। सोवियत संघ सन् 1975 से ही यूगोस्लाविया में नौसेना के लिए बन्दरगाह की तथा कुछ अन्य सुविधाएँ देने का अनुरोध कर रहा था। ब्रेझनेव ने सितम्बर, 1977 की अपनी बेलग्रेड यात्रा के अवसर पर दिए गए इस आश्वासन को दोहराया कि सोवियत संघ यूगोस्लाविया की स्वाधीनता का आदर करता रहेगा और यात्रा के बाद जारी की गई विज्ञप्ति में दोनों देशों के बीच 'स्वैच्छिक सहयोग' की बात अंकित की गई। सोवियत संघ ने एक तरह से समाजवाद का अपना मार्ग अपने आप तय करने के यूगोस्लाविया के आग्रह को मान्यता दे दी।

16–24 अगस्त, 1977 के अपने मास्को प्रवास के समय मार्शल टीटो ने सोवियत नेताओं से पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर व्यापक विचार-विमर्श किया। दोनों देशों की इस शिखर वार्ता में समूचे विश्व की गहरी रुचि थी। स्वागत समारोहों तथा प्रीतिभोज के अवसर पर सोवियत नेता श्री ब्रेझनेव ने विश्व में मित्रता और सद्भाव का वातावरण स्थापित करने के साथ-साथ सभी प्रकार के आक्रमणों और शीतयुद्ध चालू रखने के प्रयत्नों की कड़े शब्दों में निन्दा की। श्री ब्रेझनेव का कहना था कि आज के विश्व में क्रान्तिकारी और प्रगतिशील आन्दोलनों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। समाजवादी देशों और गुट-निरपेक्ष देशों को आज सक्रिय होना चाहिए, क्योंकि उनका उद्देश्य साम्राज्यवादियों का मुकाबला करना और शान्तिपूर्ण प्रयत्नों द्वारा विश्व में शान्ति स्थापित करना है। श्री ब्रेझनेव का यह भी कथन था कि कुछ साम्राज्यवादी देशों ने समाजवादी देशों के विरुद्ध अपना प्रचार तेज कर दिया है। इस प्रचार का उद्देश्य दुनिया में तनाव कायम रखना है। ये साम्राज्यवादी देश चाहते हैं कि विश्व के दो शिविरों में परस्पर विश्वास न बढ़े और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में तनाव बना रहे। श्री ब्रेझनेव ने अपने भाषण में अमेरिकी राष्ट्रपति श्री कार्टर के इस वक्तव्य का भी उल्लेख किया कि अमेरिका सोवियत संघ से अपने सम्बन्ध घनिष्ठ बनाना चाहता है। श्री ब्रेझनेव का कहना था कि अमेरिका की ओर से पहले भी इस प्रकार के प्रयत्न होते रहे हैं, लेकिन इन विचारों को जब तक कार्यरूप में परिणित न किया जाए तब तक इनका कोई अर्थ नहीं है। हम चाहते हैं कि अमेरिका सोवियत संघ की समस्याओं के समान समाधान के लिए सहमत हो। जहाँ तक यूगोस्लाविया का सम्बन्ध है हमारे सम्बन्ध परस्पर विश्वास, स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। सोवियत संघ और यूगोस्लाविया समान लक्ष्य के लिए कार्य कर रहे हैं। हमारी पार्टियाँ केवल समाजवाद को समर्पित हैं। दोनों देशों की पार्टियों में कोई मतभेद नहीं है। सोवियत नेता का यह भी कहना था कि यूरोपीय सुरक्षा, पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण अफ्रीका जातिभेद के विरुद्ध संघर्ष जैसे प्रश्नों पर यूगोस्लाविया और सोवियत " दृष्टिकोण समान है।

पश्चिमी सूत्रों के अनुसार यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो की कम्युनिस्ट देशों की यह यात्रा विश्व कम्युनिस्ट शिखर सम्मेलन की तैयारी के सम्बन्ध मे थी। मार्शल टीटो विश्व के कम्युनिस्ट आन्दोलन को विघटन से बचाने के लिए चीन और सोवियत नेताओं से गम्भीर विचार-विमर्श करने के पक्ष में थे। इस समय दुनिया का साम्यवादी आन्दोलन तीन भागों में बँट गया है—सोवियत साम्यवाद, माओवादी साम्यवाद और यूरोपीय साम्यवाद। सोवियत संघ पिछले कई वर्षों से विश्व साम्यवादी सम्मेलन के लिए प्रयत्नशील रहा है, लेकिन दुनिया की साम्यवादी पार्टियों में मतभेद इतने उग्र थे कि वे इस प्रकार के सम्मेलन मे भाग लेने के लिए तैयार नहीं हुए। काफी समय से दुनिया की साम्यवादी पार्टियो की धारणा बनी हुई है कि किसी भी साम्यवादी विश्व सम्मेलन को सोवियत प्रभुत्व से नही बचाया जा सकता। इसी आशंका को दूर करने के लिए यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो काफी समय से प्रयत्नशील थे। इधर यूरोपीय साम्यवाद विषयक नई प्रवृत्तियों से सोवियत संघ काफी चिंतित रहा है क्योंकि अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व सोवियत संघ ही करता रहा है। अभी कुछ समय पहले यूरोपीय साम्यवादी नेताओं का सम्मेलन पूर्वी बर्लिन में हुआ था जिसमें इस आशय के निबन्ध पढ़े गए थे कि हर देश को अपने-अपने ढंग का साम्यवाद लाने का अधिकार है। इन प्रवृत्तियों से चिन्तित होकर सोवियत संघ ने साम्यवादी जगत् मे तनाव कम करने के अभियान का सूत्रपात किया। मार्शल टीटो ने इसमे स्वयं को अग्रणी रूप से प्रतिष्ठित किया। सोवियत संघ का सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार कर लिया कि हर देश को अपने-अपने ढंग का साम्यवाद लाने का पूर्ण अधिकार है। यह साम्यवादी इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।[1]

लेटिन अमेरिका तथा अफ्रीका के सम्बन्ध में सोवियत नीति—वर्तमान समय मे सोवियत संघ ने अपना ध्यान यूरोप और एशिया की ओर केन्द्रित रखा है। लेटिन अमेरिका और अफ्रीका के सम्बन्ध में उसकी विदेश नीति विशेष सक्रिय नहीं है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—प्रथम, लेटिन अमेरिका और अफ्रीका भौगोलिक दृष्टि से सोवियत संघ से बहुत दूर हैं। द्वितीय, इन क्षेत्रों मे स्थित कांगो, क्यूबा, घाना, सूडान आदि देशों मे उसे यह कटु अनुभव हो गया है कि साम्यवाद का स्वागत करने के लिए लेटिन अमेरिकी और अफ्रीकी देश अभी पूर्ण रूप से तैयार नहीं हैं।

सोवियत रूस के अमेरिका तथा पश्चिमी गुट से सम्बन्ध—सोवियत-अमेरिकी सम्बन्धों का इतिहास मुख्यतः तनाव और संघर्ष का इतिहास रहा है जिसमे कुछ समय से सहयोग के बीज अंकुरित हो रहे हैं। रूसी नेताओं का यह विश्वास पनपा है कि अमेरिका और साथी-राष्ट्रों से सोवियत संघ को कोई तत्कालीन सैनिक या राजनीतिक खतरा नहीं है। अमेरिका के साथ उलझने और शीतयुद्ध को पुनः तीव्र करने के अवसर आए हैं, लेकिन सोवियत नेताओं ने, स्टालिन के समान, स्थित को ...ड़ने का प्रयास नहीं किया है। उत्तरी कोरिया में जॉनसन और निक्सन-प्रशासन

1 ...न, सितम्बर 1977, पृष्ठ 33.

केसमय हुए अमेरिकी जासूसी काण्डों के समय भी सोवियत रूस ने संयम ही प्रदर्शित किया और ऐसी कोई कार्यवाही नहीं की जिससे युद्ध का खतरा बढ़े अथवा शीतयुद्ध का प्रसार हो। वियतनाम-समस्या पर भी रूस का यही रुख रहा कि वार्ता द्वारा समस्या का समाधान हो जाए। उत्तर वियतनाम को विशाल सैनिक सहायता देते हुए भी रूसी नेताओं ने ऐसा वातावरण उत्पन्न नही किया जिससे अमेरिका के साथ समझौता-वार्ता के द्वार बन्द हो जाएँ। सन् 1972 में लम्बे गतिरोध के उपरान्त, वियतनाम समस्या पर जो पेरिस-वार्ता हुई वह बहुत कुछ सोवियत राष्ट्रपति श्री पोदगर्नी की हनोई यात्रा और अमेरिका तथा रूस की मास्को वार्ता का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। दोनो देशो के नेताओ द्वारा सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने के फलस्वरूप ही सितम्बर, 1971 मे 'बर्लिन समझौता' सम्पन्न हो सका। अमेरिकी विदेश नीति के सन्दर्भ मे विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

पश्चिमी एशिया का सकट, जर्मनी की समस्या, निःशस्त्रीकरण का प्रश्न, परमाणु शक्ति का विस्तार आदि सभी पहलुओ पर दोनो पक्षो की ओर से अनुकूल वातावरण बनाने की चेष्टा की जाती रही है। सयम बरतने की इस कूटनीति से यही सकेत मिलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सहअस्तित्व की बढती हुई भावना के हाथो सुरक्षित है। तनाव के केन्द्र खड़े होते हैं, जैसे दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान हिन्दमहासागर मे अमेरिका और रूसी जहाजी बेड़ों की हलचल से उत्पन्न हुए थे, लेकिन दोनो पक्ष दूरदर्शिता से काम लेकर स्थिति को अधिक बिगड़ने से बचाने का प्रयास करते है। यह विश्व-शान्ति की दिशा मे एक शुभ सकेत है।

महाशक्तियो के बीच शीर्षस्थ नेताओ के सम्पर्क ने तनाव-बिन्दुओं को शिथिल बनाया है और सहअस्तित्व के आयाम को विस्तृत किया है। इससे निःशस्त्रीकरण के प्रयासों को भी बल मिला है। 22 मई, 1972 को भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन की मास्को-यात्रा अपने आप में एक ऐतिहासिक घटना थी। किसी भी अमेरिकी राष्ट्रपति की सोवियत संघ मे यह पहली यात्रा थी और इस प्रथम यात्रा के दौरान ही तीनों देशो के बीच कई महत्त्वपूर्ण सन्धियों पर हस्ताक्षर हुए। 23 मई को शिखर-वार्ता मे कैंसर तथा हृदय रोगों और वायु तथा जल-दूषण के विरुद्ध संघर्ष मे सहयोग के लिए दो समझौते हुए और 24 मई को बाह्य अन्तरिक्ष की खोज तथा विज्ञान एवं टैक्नोलॉजी के क्षेत्र मे सहयोग सम्बन्धी दो अन्य समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। 26 मई को दोनों देशों के बीच 'यौद्धिक शस्त्रास्त्र परिसीमन सन्धि' (Strategic Arms Limitation Treaty—SALT) सम्पन्न हुई जिसमे दोनों महाशक्तियो ने एक-दूसरे की शक्ति के सामने झुकते हुए भय मिश्रित आत्म-विश्वास का एक नया सन्तुलन कायम किया। इन सभी सन्धियों का विस्तृत विवेचन संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति से सम्बन्धित अध्याय में किया जा चुका है। निक्सन की यात्रा की समाप्ति पर संयुक्त विज्ञप्ति में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए घोषित किया गया कि सैनिक संघर्ष को टालने के लिए दोनों देश यथाशक्ति प्रयत्न करते रहेंगे।

मतभेदों के बावजूद 1972 के वर्ष में दोनों देशों के सम्बन्धों में और अधिक सुधार हुआ। अगस्त, 1972 में सोवियत संघ ने भारी मात्रा में गेहूँ खरीदने के लिए अमेरिका से एक दीर्घकालीन समझौता किया और 18 अक्तूबर, 1972 को दोनों देशों के बीच हुई एक व्यापारिक सन्धि में रूस ने सहमति व्यक्त की कि द्वितीय महायुद्ध के समय उसने अमेरिका से जो उधार-पट्टा-ऋण लिया था उस राशि को वह चुका देगा। इस सन्धि के बाद हुई एक अन्य सन्धि में तय हुआ कि अगले तीन वर्षों में दोनों देशों के आपसी व्यापार में तीन गुना वृद्धि कर दी जाएगी। ये दोनों व्यापारिक सन्धियाँ इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण थीं कि द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही दोनों देशों के बीच आर्थिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध नगण्य थे।

अगले ही वर्ष 18 जून, 1973 को सोवियत साम्यवादी पार्टी के महासचिव ब्रेझनेव ने अमेरिका की नौ दिवसीय यात्रा की। हवाई अड्डे पर स्वागत करते हुए निक्सन ने कहा कि सैद्धान्तिक मतभेदों और सामाजिक प्रणालियों में अन्तर के बावजूद दोनों देश सामान्य सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। उत्तर में सोवियत नेता ने कहा कि सोवियत-अमेरिकी सम्बन्धों में सुधार किसी भी रूप में किसी तीसरे देश के हितों के विरुद्ध नहीं है। ब्रेझनेव की अमेरिकी यात्रा के समय भी दोनों देशों के बीच कुछ महत्त्वपूर्ण समझौते हुए। सिद्धान्ततः यह स्वीकार कर लिया गया कि सन् 1974 तक दोनों महाशक्तियाँ परमाणु शस्त्रों के निर्माण पर स्थायी रोक लगा देंगी तथा परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के क्षेत्र में सहयोगपूर्वक काम करेंगी। व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध बढ़ाने का संकल्प भी किया गया जिसके कारण अन्य क्षेत्रों में भी परस्पर सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ। विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में सहयोग करने का निश्चय किया गया। दोनों देशों के बीच अनिश्चित काल के लिए एक सन्धि भी हुई जिसका उद्देश्य परमाणु युद्ध को रोकना था। सन्धि के अन्तर्गत दोनों पक्षों की ओर से यह संकल्प किया गया कि उनमें से कोई भी परमाणु युद्ध नहीं करेगा, परस्पर एक-दूसरे को अथवा साथी देशों या अन्य देशों को न तो धमकी देगा और न ही बल-प्रयोग करेगा। दोनों देशों ने युद्ध की स्थिति उत्पन्न न होने देने और परमाणु युद्ध भड़क उठने जैसी कार्यवाही न करने का भी संकल्प किया। इन संकल्पों की सत्यता तो समय की कसौटी पर ही परखी जा सकेगी, लेकिन दोनों महाशक्तियों के शीर्षस्थ नेताओं की इस वार्ता की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि 'युद्ध से नहीं बल्कि पारस्परिक सहयोग से दोनों को लाभ हो सकता है' के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। अगस्त, 1973 में दोनों देशों के बीच पुनः एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सन् 1975 में दोनों देशों द्वारा संयुक्त अन्तरिक्ष उड़ानों का कार्यक्रम चालू करने का निश्चय किया गया। आपसी तनाव कम करने और सम्पर्क व सहयोग-सूत्र जारी रखने के लिए 27 जून, 1974 को राष्ट्रपति निक्सन ने पुनः सोवियत संघ की यात्रा की और इस अवसर पर भी दोनों देशों के बीच कुछ समझौते सम्पन्न हुए। अमेरिका की विदेश नीति के सन्दर्भ में इन समझौतों का विवेचन किया गया है। नवम्बर, 1975 के ब्लाडीवोस्टक में फोर्ड-ब्रेझनेव शिखर वार्ता हुई।

जुलाई, 1975 में अपोलो-सोयुज संयुक्त अन्तरिक्ष कार्यक्रम में दोनों ने सहयोग किया। 1980 के मध्य तक दोनों देशों के सम्बन्ध, बावजूद सामयिक उत्तेजनाओं के, संयम और सुधार का दिशा-संकेत देते रहे हैं, तथापि सम्बन्धों में उतनी सौहार्द्रता नहीं है जितनी निक्सन और फोर्ड-प्रशासन के दौरान रही थी। क्यूबा में सोवियत सलाहकारों की उपस्थिति, अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों के प्रवेश आदि की घटनाओं को लेकर दोनों देशों के बीच कटुता बढ़ी और मतभेद तीव्र हुए, लेकिन दोनों ही पक्षों ने संयम और सहनशीलता की राजनीति अपनाकर विश्व-शान्ति बनाए रखने में योग दिया है। रूस-अमेरिकी सम्बन्धों की हाल ही की प्रवृत्तियों का वर्णन संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश नीति वाले अध्याय में किया जा चुका है। दिसम्बर, 1979 में अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर ने ब्रेझनेव से सेना हटाने का आग्रह किया और उसके बाद जनवरी, 1980 के प्रथम सप्ताह में अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप के मुद्दे पर लगभग 43 देशों द्वारा सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलाने का आह्वान किया गया। 8 जनवरी, 1980 को अमेरिका द्वारा 17 रूसियों के निष्कासन को लेकर दोनों देशों के बीच तनाव और अधिक बढ़ गया और उसी दिन सुरक्षा परिषद् द्वारा अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पर रूस ने अपने वीटो के अधिकार का प्रयोग किया। तथापि 15 जनवरी, 1980 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पारित कर दिया। अफगानिस्तान में, वहाँ की वर्तमान सरकार के आग्रह पर, सोवियत सैनिक शक्ति बड़ी मात्रा में टिकी हुई है, तथापि इस मुद्दे पर रूस-अमेरिका के बीच तनाव उतना तीव्र नहीं रहा है जितना पहले था। ईराक-ईरान युद्ध में दोनों देशों ने हस्तक्षेप की नीति अपनाई हुई है और 7 अक्तूबर, 1980 के समाचारों के अनुसार राष्ट्रपति कार्टर सोवियत संघ के राष्ट्रपति ब्रेझनेव को व्यक्तिगत पत्र लिखकर ईराक-ईरान युद्ध के बारे में सम्पर्क बनाए हुए हैं।[1] राष्ट्रपति कार्टर ने यह विश्वास व्यक्त किया है कि सोवियत संघ खाड़ी क्षेत्र में युद्ध को बढ़ावा नहीं देना चाहता। तथापि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि सोवियत संघ के ईरान अथवा खाड़ी को नियन्त्रित कर सकने वाले किसी भी क्षेत्र में दखल करने से अमेरिकी सुरक्षा को सर्वाधिक खतरा उत्पन्न होगा।[2]

यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों के साथ भी सोवियत रूस ने सामान्य और सद्भावनापूर्ण विकसित करने के प्रयत्न जारी रखे। जून, 1973 में वाशिंगटन से स्वदेश लौटते हुए ब्रेझनेव फ्रांस में राष्ट्रपति पोम्पिदू से मिले। फ्रांस ने सोवियत नेता को यह अहसास करा दिया कि रक्षा-सेनाओं में कटौती और यूरोप के भविष्य के बारे में वियना के आगामी सम्मेलन में भाग लेने के विषय में भी फ्रांस ने कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई, तथापि दोनों शीर्षस्थ नेताओं के मिलने से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावनाओं को बल मिला। दोनों देशों के सम्बन्ध सुधरते रहे

1-2 हिन्दुस्तान, 8 अक्तूबर, 1980.

इस दिशा में लियोनिद ब्रेझनेव का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यही कारण है कि फ्रांस के अलावा पश्चिम जर्मनी के साथ वह अपने सम्बन्धों को अच्छे और महत्त्वपूर्ण मानते हैं। लेकिन रूसी नेता को इन पश्चिमी देशों के राजनेताओं से इतनी शिकायत नहीं जितनी साम्यवादी पार्टी से है। यूरोप में साम्यवादी पार्टियों का जिस तरह विकास हो रहा है उससे सोवियत नेता अधिक खुश नहीं हैं। स्पेन, इटली और फ्रांस की साम्यवादी पार्टियों ने सोवियत संघ की साम्यवादी पार्टी से अलग रवैया अपनाना शुरू कर दिया है। इनसे सोवियत संघ हीनता का अनुभव करता है। शायद यही कारण था कि पेरिस में होते हुए भी ब्रेझनेव फ्रांसीसी साम्यवादी पार्टी के नेता जॉर्ज मार्शे से नहीं मिले। पहले ऐसा कभी नहीं होता था। शायद इन नेताओं की आकांक्षा है कि यदि सोवियत संघ पश्चिमी देशों के प्रति उदार नीति अपना रहा है तो इस तरह की नीतियाँ अपनाने का अवसर हंगरी, चैकोस्लोवाकिया, बुल्गारिया आदि देशों को भी दिया जाना चाहिए।

रूस और बंगलादेश—बंगलादेश के प्रति रूस की आरम्भ से ही सहानुभूति रही। बंगलादेश के मुक्ति-संघर्ष के लिए रूस ने अपना नैतिक और राजनीतिक समर्थन दिया और एक स्वाधीन गणराज्य के रूप में बंगलादेश का उदय होते ही उसे मान्यता प्रदान की। यही नहीं, रूस ने बंगलादेश के आर्थिक पुनर्निर्माण में रुचि लेकर पारस्परिक आयात-निर्यात सम्बन्धी समझौता भी सम्पन्न किया। मार्च, 1972 में शेख मुजीब ने सोवियत संघ की यात्रा के समय रूसी नेताओं से महत्त्वपूर्ण मामलों पर विचार-विमर्श किया और राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक सभी क्षेत्रों में दोनों देशों के बीच पारस्परिक सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ। दोनों पक्षों के बीच एक समझौता भी हुआ जिसके अन्तर्गत रूस ने बंगलादेश को 3 अरब 33 करोड़ रुपये की सहायता देने का आश्वासन दिया। रूस ने यह आश्वासन भी दिया कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ में बंगलादेश को प्रवेश दिलाने का पूरा प्रयत्न करेगा। विश्व संस्था में बंगलादेश के प्रश्न पर जो संघर्ष हुआ उसमें रूस ने बंगलादेश को पूर्ण समर्थन दिया था और आज बंगलादेश संयुक्त राष्ट्रसंघ का सम्मानित सदस्य है।

रूस और जापान—द्वितीय महायुद्ध के शत्रु इन दोनों राष्ट्रों में विगत कुछ वर्षों से परस्पर निकट आने की उत्सुकता होती जा रही है। जापान के कुछ राजनीतिक क्षेत्रों का तर्क है कि रूस के साथ आर्थिक सहयोग न बढ़ाया जाए अन्यथा चीन की नाराजगी बढ़ेगी जिससे जापान के लिए कुछ अन्य आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी, लेकिन अधिसख्यक राजनीतिक क्षेत्रों का विश्वास है कि सोवियत संघ के साथ आर्थिक सहयोग जापान के हित में है। इससे जापान की स्थिति काफी सुदृढ़ होगी और चीन जापान से सम्बन्ध सुधारने का प्रयत्न करेगा।

रूस और भूमध्यसागर—पश्चिमी एशिया पर अपना प्रभाव जमाने के लिए रूस प्रारम्भ से ही भूमध्यसागर में प्रवेश का इच्छुक रहा है और जून, 1967 के अरब-इजरायल-संघर्ष के बाद से सोवियत संघ के नौसैनिक बेड़े को इस सागर में

अपने विस्तार के लिए पर्याप्त सुविधाएँ तथा अवसर सुलभ हो गए हैं। रूसी प्रयत्न यह है कि इस क्षेत्र मे उसके समर्थक देश भूमध्यसागर से अमेरिका की उपस्थिति समाप्त करने की नीतियाँ अपनाएँ। सोवियत संघ चाहता है कि वह भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था पूर्वी यूरोप के देशों जैसी बना दे ताकि इन देशों के साथ मास्को के सम्बन्ध पूर्वी यूरोप के देशों जैसे हो जाएँ। भूमध्यसागर मे अधिकाधिक प्रवेश से सोवियत संघ ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में काफी वृद्धि करली है और यदि इस क्षेत्र की उन्नति के बारे में कोई योजना सामने आए तो सोवियत संघ का इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।

सोवियत रूस और एशियायी सुरक्षा तथा एशिया में रूसी लक्ष्य—एशिया में अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए सोवियत कूटनीति ने हाल ही के कुछ वर्षों मे ब्रेझनेववाद का सहारा लिया है। यह विचार सन् 1969 मे सोवियत नेता श्री ब्रेझनेव ने रखा था जिसमे अस्पष्ट रूप से एशियाई देशों के लिए एक सुरक्षा योजना प्रस्तुत की गई थी। सन् 1972 में इस योजना को पुन: प्रस्तुत किया गया और अफगान-प्रधान मन्त्री के स्वागत पर बोलते हुए कोसीगिन ने कहा—"एशिया की सुरक्षा का सही उपाय सैनिक गुट नहीं है और न ही कुछ राष्ट्रो द्वारा दूसरे का विरोध करना, बल्कि यह उपाय देशो के बीच अच्छे पड़ोसी का वातावरण पैदा करना है।" पर साथ ही उन्होने यह भी जोड दिया कि शान्ति स्थापित करने का सोवियत संघ का तरीका सबसे अच्छा है। उन्होने कहा—"सोवियत विदेश नीति को सबसे महत्त्वपूर्ण दिशा राष्ट्रों की आजादी और स्वशासन का अतिक्रमण करने वाले साम्राज्यवादियो को पराजित करने के लिए युद्ध और संघर्ष स्थलो को समाप्त करना है।" इस व्याख्या से यह आभास होता है कि रूसी नेताओ का सुरक्षा सिद्धान्त एक नया 'पंचशील' होने के बावजूद सैनिक हस्तक्षेप या सैनिक समाधान से रहित नही है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि ब्रेझनेव अथवा कोसीगिन ने एशियाई सुरक्षा की इस योजना को यहीं तक सीमित रखा, लेकिन उनके सलाहकारो और प्रतिनिधियों ने योजना को स्पष्टतः पश्चिम-विरोधी रंग दिया। सोवियत प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य प्रो. गफरोव ने इस सुरक्षा-योजना पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि हिन्दमहासागर चारों ओर से साम्राज्यवादियो के सैनिक अड्डो से घिरा हुआ है, अतः सभी शान्तिप्रिय देशों की सामरिक सुरक्षा आवश्यक है। नवम्बर, 1973 मे अपनी भारत यात्रा के समय ब्रेझनेव ने पुनः एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना पर चर्चा की। भारत ने अभी इस योजना के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाया है और यह नहीं कहा जा सकता कि यह योजना साकार रूप ले सकेगी।

एशियाई देशों के प्रति सोवियत मैत्री और सहयोग स्वागत योग्य है तथापि एशिया के देशो को रूस का सही सद्परामर्श अपेक्षित है कि वे किसी भी प्रकार की सैनिक गुटबन्दी मे न उलझें। हाल ही के कुछ वर्षों में एशिया में नए शक्ति-सन्तुलनो का विकास हुआ है। ब्रेझनेव सिद्धान्त में एशियाई सुरक्षा-व्यवस्था तो निहित है, साथ ही इसके लक्ष्य अमेरिका और चीन भी हैं। पुनश्च, रूस हिन्दमहासागर

पर अपने प्रभाव का आकांक्षी है। 'लन्दन टाइम्स' ने इस क्षेत्र में रूसी लक्ष्यों पर टिप्पणी करते हुए कहा था—"हिन्दमहासागर में रूसी नौसेना की मौजूदगी का मुख्य कारण पश्चिमी स्वार्थों को चुनौती देना नहीं बल्कि चीन के विरुद्ध भारत को समर्थन देना और सामान्यतः एशिया तथा अफ्रीका में चीनी प्रभाव को रोकना है।" रूस इस तथ्य से परिचित है कि हिन्दमहासागर पर जिसका नियन्त्रण हो जाएगा उसी का प्रभाव प्रशान्त महासागर पर भी शीघ्र ही पड़ने लगेगा। एशिया में अपने पैर मजबूत करने के लिए हिन्दमहासागर पर अपना प्रभाव बढ़ाने के साथ-साथ रूस ने दक्षिण पूर्व के देशों के साथ भी अपने सम्बन्ध तेजी से सुधार लिए हैं।

वियतनाम के प्रति सोवियत नीति—30 अप्रेल, 1975 को वियतनाम युद्ध की समाप्ति और वहाँ से अमेरिका के पलायन के बाद वियतनाम की संघर्षपूर्ण कहानी समाप्त हो चुकी है। दक्षिण और उत्तर वियतनाम के संघर्ष में साम्यवादी शक्तियाँ उत्तरी वियतनाम की पीठ पर रही थीं। सोवियत रूस ने वियतनाम को भरपूर सैन्य-सामग्री पहुँचाई। अनुमानतः उत्तर वियतनाम को दी जाने वाली सैन्य-सहायता में रूस का भाग 80 प्रतिशत और चीन तथा साम्यवादी देशों का लगभग 20 प्रतिशत था। उत्तर वियतनाम को लगभग 10 अरब डॉलर की सहायता रूस और चीन से मिली जो दक्षिण वियतनाम को अमेरिका से मिलने वाली सहायता की तुलना में काफी कम थी। सोवियत नीति वियतनाम-संघर्ष के शान्तिपूर्ण समाधान की थी और सन् 1972 में सोवियत राष्ट्रपति पोदगर्नी ने अपनी हनोई यात्रा में उत्तर वियतनामी नेताओं को इस बात के लिए सहमत किया कि वे शान्ति-वार्ता का द्वार खुला रखें। रूस-अमेरिका के समझौतावादी रुख और वियतनाम के सम्बन्धित पक्षों के विवेक के फलस्वरूप जनवरी, 1973 में युद्ध-विराम हुआ और ऐतिहासिक पेरिस समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। लेकिन जनवरी, 1976 में पेरिस समझौता भंग हो गया तथा वियतनाम-युद्ध पुनः भड़क उठा। अन्त में राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की अन्तिम विजय के साथ ही वियतनाम-युद्ध समाप्त हो गया। सोवियत भूमिकाओं की इस दृष्टि से सराहना की जाएगी कि अमेरिका के समान सोवियत सैनिकों ने उत्तर वियतनाम की ओर से युद्ध में प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया और इस प्रकार वियतनाम-युद्ध के विस्तार को सीमित रखा।

सोवियत रूस और अरब जगत—पश्चिमी एशिया से ब्रिटेन के हटने के बाद से ही यह क्षेत्र रूस और अमेरिका के प्रभाव-विस्तार का अड्डा बनता जा रहा है। रूसी नीति अरब राष्ट्रों को कूटनीतिक, आर्थिक और सैनिक सहयोग देने की रही है जबकि अमेरिका इजरायल को हर प्रकार की सहायता देता आया है। सन् 1948 के फिलिस्तीनी संघर्ष में रूस ने इजरायल का समर्थन करते हुए अरब-आक्रमण की निन्दा की थी, लेकिन इसके बाद रूस ने अनुभव किया कि मध्यपूर्व के अरब राष्ट्रों के लिए रूसी सहयोग के द्वार खुल गए और बाद के सभी अरब-इजरायल संघर्षों में रूस अरबों के पक्ष में रहा। सन् 1967 के युद्ध में अरबों की घोर पराजय हुई और वे इस बात पर क्रुद्ध थे कि अरब देशों को सोवियत संघ का वाञ्छित सैनिक समर्थन नहीं मिल सका। अतः अरबों को प्रसन्न करने के लिए ही जून, 1967 में सोवियत

राष्ट्रपति ने स्वयं काहिरा पहुँच कर संयुक्त अरब गणराज्य को आधुनिकतम शस्त्रास्त्र देने का आश्वासन दिया। सितम्बर, 1967 मे रूस ने एक शान्ति-योजना प्रस्तावित की जो इजरायल ने स्वीकार नही की। 28 मई, 1971 को मिस्र और रूस के बीच एक 15 वर्षीय मैत्री-सन्धि सम्पन्न हुई, लेकिन सन् 1972 मे दोनो देशों के सम्बन्धो में तनाव आ गया और जुलाई मे राष्ट्रपति सादात ने रूसी सैनिक विशेषज्ञो को मिस्र छोड़ देने का आदेश देकर रूस को आघात पहुँचाया। मिस्र का आरोप था कि रूस ने उसे अति-आधुनिक हथियार नहीं दिए। बिगाड़ का यह दौर अधिक नही चला और जब अक्तूबर, 1976 मे चौथा अरब-इजरायल युद्ध हुआ तो अरबो ने रूसी शस्त्रास्त्रो की सहायता से अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुन. प्राप्त कर ली।

युद्ध-विराम के बाद अमेरिका तथा सोवियत रूस के प्रयास से 21 दिसम्बर, 1973 को जेनेवा में पहली बार अरब-इजरायल शान्ति वार्ता प्रारम्भ हुई। सीरिया ने इसमे भाग नही लिया। मिस्र तथा इजरायल के बीच स्वेज क्षेत्र से सेना पीछे हटाने पर समझौता हो जाने के बाद सीरिया तथा इजरायल के बीच गोलन क्षेत्र में भी सेना को पृथक् करा दिया गया। सन् 1974 मे सोवियत रूस तथा अमेरिका की ओर से समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए लगातार प्रयत्न किए जाते रहे। इस बीच अरब देशों ने तेल का राजनीतिक अस्त्र के रूप मे प्रयोग कर तेल के लिए अरब देशों पर निर्भर रहने वाले अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के देशो पर दबाव डालना शुरू कर दिया। इस नए राजनीतिक अस्त्र के प्रयोग से यूरोप के देशों ने इजरायल के समर्थन में ढील दिखाई और वे अरब देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने को उत्सुक दिखाई देने लगे। अरब-इजरायल समस्या के समाधान मे अमेरिका रूस से बाजी मार ले गया और अनेक अरब तेल उत्पादक देशों ने सन् 1974 मे अमेरिका पर से तेल सम्बन्धी प्रतिबन्ध उठा लेने का निश्चय कर लिया। अमेरिकी विदेश नीति के अध्याय में बताया जा चुका है कि सितम्बर, 1975 मे अमेरिका, अरब और इजरायल के बीच एक अन्तरिम समझौता कराने मे सफल हुआ। मिस्र पर प्रभाव के सन्दर्भ में रूसी कूटनीति अन्ततोगत्वा अमेरिकी कूटनीति के समक्ष परास्त हो गई लगती है जिसका सबसे ज्वलन्त प्रमाण यह है कि 14 मार्च, 1976 को मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने सोवियत संघ से अपनी पाँच वर्षीय मैत्री-सधि को भंग कर दी। सादात की इस कार्यवाही से विश्व के राजनीतिक क्षेत्रों मे कई तरह की प्रतिक्रिया हुई। सोवियत संघ ने मिस्र की इस कार्यवाही की आलोचना की जबकि अमेरिका, इजरायल, चीन आदि देशों मे इस पर प्रसन्नता व्यक्त की गई। सादात की इस कार्यवाही से निश्चित रूप से रूस के हितों को ठेस पहुँची है। क्या इस सन्धि के भंग होने का प्रभाव अरब जगत् के अन्य देशों पर भी पड़ेगा—यह तो वक्त ही बतलाएगा लेकिन मिस्र के विदेश मन्त्री ने यह जरूर कहा है कि मैत्री-सन्धि मे हथियारों के फालतू पुर्जे देने की जो धारा दर्ज थी उस पर अमल न होने के कारण ही इस मैत्री सन्धि को भंग किया गया है।[1] राष्ट्रपति सादात ने मिस्र को

1 दिनमान, 28 मार्च, 1976, पृष्ठ 28.

360 सदस्यीय संसद् मे अपने नीति सम्बन्धी वक्तव्य में कहा कि "वह सोवियत संघ के बिल्ली-चूहे खेल से तंग आकर पाँच अरब डॉलर के ऋण की पुनः व्यवस्था मे भी झिझक रहा था। अब स्थिति यह है कि अगले 18 महीनों मे सोवियत सैनिक साज-सामान मिस्र के लिए कबाड़ बन कर रह जाएगा। जब उन्हे सन्धि के अनुसार फालतू पुर्जे नहीं मिलते है तो इस सन्धि का उनके लिए कागज के एक टुकड़े से अधिक महत्त्व नही है और कागज के इस टुकड़े को हम अपने पास नही रखना चाहते।"

मिस्र और सोवियत संघ के इस सन्धि-विच्छेद का प्रभाव अन्य अरब देशों पर रूस के प्रतिकूल नही पड़ा, क्योंकि उनके साथ रूस की गहरी दोस्ती बनी रही। रूस के अरब दोस्तों मे ईराक, लीबिया, सीरिया आदि प्रमुख हैं। मार्च, 1976 मे मिस्र-सोवियत संघ समझौता भग हुआ और उसके तुरन्त बाद ही लीबिया और सोवियत सघ में सैनिक समझौते का विस्तार हुआ। सीरिया और सोवियत संघ की मैत्री और अधिक सुदृढ हुई तथा रूसी हथियारो के सीरिया में आने से अमेरिका की चिन्ता बढ गई। जोर्डन भी सोवियत सघ के निकट आता गया और 1976 मे रूस निर्मित सैम विमानभेदी प्रक्षेपास्त्र जोर्डन में लगाए गए। फिलिस्तीनी छापामारो को भी बडे पैमाने पर रूसी हथियार प्राप्त होते है और उनके लिए अरबो की भूमि या सोवियत सघ मे अन्य कई प्रशिक्षण केन्द्र भी हैं। कुवैत का झुकाव भी रूस की ओर रहा है। मार्च, 1976 मे ही कुवैत और रूस में भी हथियारों का एक समझौता हुआ। सोमालिया मे भी रूसी प्रभाव बढ़ा और अल्जीरिया मे रूस की मदद से एक इस्पात कारखाना लगाया गया। सन् 1977 में रूस और मिस्र के सम्बन्धो में सुधार के संकेत मिले। मिस्र के विदेश मन्त्री ने जून, 1973 मे मास्को की यात्रा की। लेकिन पहले की सी मित्रता का कोई रचनात्मक आधार प्रस्तुत नहीं हो सका। मिस्र को यह विश्वास हो गया कि इजरायल-अरब समस्या का समाधान अमेरिका के प्रभाव से ही हो सकता है, रूस के प्रभाव से नहीं। सितम्बर, 1978 मे अमेरिका मे कैम्प डेविड मे राष्ट्रपति कार्टर की उपस्थिति में जो बेगिन-सादात समझौता हुआ उसने मिस्र की धारणा की पुष्टि कर दी और राजनीतिक क्षेत्रो मे यह माना जाने लगा कि कार्टर-प्रशासन पश्चिम एशिया में रूसी प्रभाव को कम करने मे आगे बढा है। कैम्प डेविड समझौते का कार्यान्वयन नहीं हो सका क्योंकि दोनो पक्षों मे कुछ व्याख्यात्मक मतभेद उठ खड़े हुए। इससे सोवियत राजनीतिक क्षेत्र और उसके साथ ही अरब राष्ट्रों की इस आशा को कुछ बल मिला कि फिलहाल इजरायल और मिस्र के बीच सम्भवतः ऐसा समझौता नही हो सकेगा जो शेष अरब राष्ट्रों को मान्य हो। लेकिन कार्टर ने अपनी प्रतिष्ठा दाव पर लगा दी और वार्ताओं के अनेक दौरो के बाद अन्त मे मार्च, 1979 मे वाशिंगटन मे मिस्र और इजरायल के बीच शान्ति सन्धि हो गई। राजनीतिक क्षेत्रों में इसे कार्टर की कूटनीतिक विजय और कोसीगिन ब्रेझनेव की कूटनीतिक पराजय के रूप मे स्वीकारा गया। इस शान्ति सन्धि का अन्य अरब राष्ट्रों ने विरोध किया है और मिस्र अकेला पड़ .

है। अन्य अरब राष्ट्रों को रूस का पूरा समर्थन प्राप्त है। यह विश्वास किया जाता है कि रूस बड़े पैमाने पर आर्थिक और सामरिक सहायता देकर अन्य अरब राष्ट्रों को अपने प्रभाव में बनाए रखेगा और चाहेगा कि मिस्र अरब जगत् में कितना अलग-थलग पड़ जाए कि उसे अमेरिका-परस्त नीति पर पुनर्विचार करना पड़े।

रूसी-टर्की मैत्री का शुभारम्भ सन् 1975 का वर्ष सोवियत संघ और टर्की के सम्बन्धों में मैत्री और सहयोग के संकल्प का नया अध्याय जोड़ने के साथ समाप्त हुआ। वर्ष के अन्तिम दिनों में सोवियत प्रधान मन्त्री कोसीगिन लगभग 10 वर्ष के अन्तराल के बाद पुन. टर्की गए और उन्होंने चार दिन (26 से 29 दिसम्बर, 1975) के अंकारा प्रवास के दौरान दोनों देशों की मित्रता का शिलान्यास किया। 28 दिसम्बर, 1975 को सोवियत प्रधान मंत्री ने टर्की के भूमध्यसागरीय बन्दरगाह सिकन्दरिया मे सोवियत सहायता से निर्मित इस्पात संयंत्र का उद्घाटन किया। अंकारा प्रवास के दौरान कोसीगिन ने टर्की के प्रधान मन्त्री सुलेमान दमिरेली तथा अन्य प्रमुख नेताओं से विस्तृत विचार-विमर्श किया। उनकी यात्रा की समाप्ति पर जो संयुक्त-वक्तव्य प्रसारित किया गया वह इस तथ्य का द्योतक है कि कोसीगिन ने अपनी नौ वर्ष पहले की टर्की यात्रा के समय दोनों देशों के सम्बन्ध सुधारने की दिशा मे जो पहल की थी उसमे अन्ततः उन्हे सफलता मिली। रूस के साथ मैत्री के शुभारम्भ के बावजूद टर्की और अमेरिका के बीच मैत्री सम्बन्ध फीके नहीं पड़े और 26 मार्च, 1976 को दोनों देशों के बीच एक चार वर्षीय सैनिक समझौता हुआ। फिर भी राजनीतिक क्षेत्रों मे यह माना जा रहा है कि टर्की अब पहले की तरह अमेरिका के प्रभाव मे नहीं रहा है और नाटो, सेण्टो जैसे सैनिक संगठनो से मुक्ति के लिए प्रयत्नशील है। टर्की के प्रधान मंत्री ने सन् 1978 के मध्य के लगभग मास्को यात्रा की जिससे दोनों देशों के सम्बन्धो में और भी निकटता आई है।

पश्चिमी जर्मनी के साथ समझौता—शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का उपयोग करते हुए सोवियत रूस ने पश्चिमी जर्मनी के साथ अपने सम्बन्धों मे सुधार किया है। यूरोप मे तनाव कम करने की दिशा मे पश्चिमी जर्मनी के चाँसलर श्री विली ब्रांट की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सामान्य सम्बन्ध बनाने की आकाँक्षा से ही 12 अगस्त, 1970 को मास्को मे विली ब्रांट तथा कोसीगिन ने एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किए जिसे 'मास्को-बोन सन्धि' कहा जाता है। युद्धोत्तरकाल मे सोवियत कूटनीति की यह सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है। इस सन्धि से सोवियत संघ को सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि बोन ने जर्मनी की वर्तमान सीमाओं को मान्यता प्रदान कर दी जिसका स्पष्ट आशय है कि बोन सरकार ने पहली बार पोलैण्ड तथा पूर्वी जर्मनी की ओडरनिसी नदी सीमा को स्वीकार कर लिया है तथा यह भी माना है कि युद्ध पूर्व के जर्मनी के वे क्षेत्र जो ओडरनिसी नदियों के पूर्व में थे – पोलैण्ड के अग हैं, लेकिन ओडरनिसी सीमा रेखा को मान्यता देने का यह अर्थ नही है कि पश्चिमी जर्मनी ने पूर्वी जर्मनी को राजनयिक मान्यता दे दी है। इस सन्धि में निहित अर्थ है कि पश्चिमी जर्मनी ने जर्मनी के पूर्वी भाग

समाचार को निराधार बताया कि उनकी इच्छा किसी भी अफ्रीकी देश में किसी प्रकार का सैनिक अड्डा स्थापित करने की है। रूसी सहायता का अर्थ दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं है।

अफ्रीका महाद्वीप के देशों में सभी बड़ी शक्तियाँ चीन, अमेरिका और सोवियत संघ अपना प्रभाव बढ़ाने की कोशिश में हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा अपने प्रतिनिधि एंड्र यग को अफ्रीकी देशों की यात्रा पर भेजने का उद्देश्य कालों का सहयोग और समर्थन प्राप्त करना था। उसके बाद बेयर्ड विधेयक में संशोधन कर उन्होंने अपने आश्वासन को विश्वास का रूप दे दिया। इस कानून के स्वीकृत होने से अमेरिका रोडेशिया से क्रोम और क्रोम उत्पाद नहीं खरीदेगा। निकोलाई पोदगर्नी ने इन देशों को यंग जैसा विश्वास तो दिलाया ही रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका सरकार के विरुद्ध लड़ने वाले राष्ट्रीय मोर्चों को भी धन और शस्त्र दोनों को देने का वायदा किया। सोवियत नेताओं की मान्यता है कि पश्चिमी देश रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका में बहुसख्यक कालों को सत्ता सौंपने के प्रयास में ईमानदारी का रवैया नहीं अपना रहे हैं। अगर ऐसा होता तो जिनेवा सम्मेलन के कुछ न कुछ परिणाम अवश्य निकलते। अमेरिका के प्रभाव को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से रूसी नेता के मार्क्सवादी देशों को अपनी मैत्री का पूरा यकीन दिलाना चाहते हैं। उन्होंने इथियोपिया और सोमालिया को इस तरह का विश्वास दिलाया है। सम्भवतः सोवियत संघ के आग्रह पर ही फिडेल कास्त्रो ने सोमालिया की यात्रा की थी। शायद यही कारण है कि बरबरा स्थित सोमालिया में रूसी साज-सामान जैसे एक हवाई अड्डा, एक शुष्क बन्दरगाह, ईंधन, टैंक, सचार-केन्द्र तथा अस्त्र भण्डार आदि अधिक हैं। अन्य कई देशों में रूसियों को सुविधाएँ तो अवश्य प्राप्त हैं, लेकिन अमेरिका की भांति उनके अड्डे नहीं है। अंगोला में युद्ध का समर्थन करने के लिए रूस ने कोनाकरी, गिनी और पोटे-नोमर (कांगो) बन्दरगाहों का प्रयोग किया था। जब युगांडा में ईदी अमीन ने अमेरिकियों के प्रति जेहाद छेड़ा था तो अमेरिका ने मोबासा और केन्या स्थित अपने अड्डों को सतर्क कर दिया था। युगांडा को रूस का मित्र माना जाता है। कुछ प्रेक्षकों का यह भी मत है कि रूसी सक्रियता का कारण अफ्रीकी बन्दरगाहों में अमेरिकी और पश्चिमी देशों के असैनिक बेड़ों पर दृष्टि रखना है। लेकिन इस तरह के विचार को उन्नीसवी सदी की विचारधारा माना जाता है। आज तो किसी एक देश का दूसरे देशों के जहाजों से टकराव का अर्थ युद्ध है। यही कारण है कि आज कोई देश इस तरह की स्थिति पैदा नहीं होने देना चाहता। आजकल आर्थिक व सामरिक सहायता तथा लम्बी अवधि के समझौतों द्वारा बड़ी शक्तियाँ छोटे तथा गरीब और विकासशील देशों में अपना प्रभाव स्थापित रखना चाहती है।

राष्ट्रपति पोदगर्नी ने तंजानिया की राजधानी दारेस्सलाम से अपनी चार दिवसीय यात्रा (23 मार्च से 26 मार्च, 1977) शुरू की। उन्होंने राष्ट्रपति

जूलियस न्येरेरे को यह स्पष्ट रूप से कहा कि सोवियत संघ किसी तरह की रियायतें, सैनिक अड्डे और विशेषाधिकार न तो किसी अफ्रीकी देश में और न ही अन्य कहीं चाहता है। इस तरह की अफवाह पश्चिमी देशों की 'शरारत' है। हम समान सहयोग के आधार पर मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य निजी स्वार्थ नहीं बल्कि पूरी मानव स्वाधीनता और शान्ति स्थापना का प्रयास है। सोवियत संघ और तांजानिया साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के समान हितों की दिशा में प्रयास करने के लिए संकल्परत है। तांजानिया के कभी चीन से बहुत अच्छे सम्बन्ध थे और चीन ने उसे 35 करोड़ 80 लाख डॉलर की सहायता दी थी जबकि रूस और अमेरिका से कुल 20 करोड़ डॉलर की सहायता मिली। बहुचर्चित तान-जा रेल भी चीन की सहायता से बन रही है। इस बात की भी चर्चा है कि पोदगर्नी की यात्रा ढाई वर्ष पहले हो जानी चाहिए थी, लेकिन रूस द्वारा दीर्घकालीन मैत्री समझौते पर जोर और न्येरेरे की इनकारी की वजह से यह सम्भव नहीं हो सकी। पोदगर्नी की इस यात्रा काल में तांजानिया क्रान्तिकारी पार्टी के क्षेत्रीय सचिव अब्दुल पर सुलेमान का यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण था—"अफ्रीका यह सीख रहा है कि समाजवादी संसार से सहयोग के बिना न तो साम्राज्यवाद का प्रभावकारी प्रतिरोध किया जा सकता है और न ही आर्थिक विकास सम्भव है।"

तांजानिया के बाद पोदगर्नी की जांबिया की राजधानी लुसाका की यात्रा (26 से 29 मार्च, 1977) भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। दोनों नेताओं में परस्पर मैत्री और सहयोग का जायजा लेते हुए जांबिया द्वारा अफ्रीका में अदा की जाने वाली भूमिका की प्रशंसा की। डॉ कैनेथ काउंडा ने नवम्बर, 1974 में रूस की यात्रा की थी। दोनों देशों में आर्थिक, तकनीकी और सांस्कृतिक समझौते के प्रसार पर भी जोर दिया गया। दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण रोडेशिया की नस्ली अमानवीय नीतियों की भर्त्सना करते हुए कहा गया कि जब तक अफ्रीकी बहुसंख्यकों को सत्ता नहीं सौंपी जाती तब तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और मानवीय सुरक्षा को खतरा बना रहेगा। दक्षिण अफ्रीका से नामीबिया को स्वतन्त्रता देने तथा स्मिथ से बिना शर्त कालों को सत्ता सौंपे जाने की मांग की। नामीबिया के बारे में संयुक्त राष्ट्र के फैसले को पूरी तरह लागू करने की मांग की गई। जब तक दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया में बहुसंख्यक कालों का शासन नहीं होगा तब तक अंगोला, बोत्स्वाना, मोजांबिक तथा जांबिया जैसे पड़ोसी देशों में हमेशा खतरा बना रहेगा। दोनों देशों ने घोषणा की कि इन अवैध सरकारों के खिलाफ न्यायपूर्ण संघर्ष में सभी देशों को राष्ट्रीय आन्दोलनों को सहयोग देना चाहिए। इसके साथ ही स्पष्टवादी काउंडा अंगोला के गृहयुद्ध में सोवियत संघ और अंगोला के हस्तक्षेप पर भी अपना रोष व्यक्त किए बिना नहीं रहे। आज स्थिति यह है कि अंगोला रूसी ऋण-भार से दबा जा रहा है। रूस ने अंगोला को 30 करोड़ डॉलर की सहायता दी और इस समय लगभग 12,000 क्यूबाई सैनिक और तकनीकी अधिकारी हैं।

मोजांबिक के राष्ट्रपति और फ्रेलिमो पार्टी के नेता समोरा माशेल से भी पोदगर्नी ने परस्पर और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर वार्ता की। मोजांबिक के साथ 15 वर्षीय मैत्री-समझौता भी किया गया है। अफ्रीका के वर्तमान राजनीतिक दौर में मोजांबिक ने जो स्थिति प्राप्त कर ली है उसका भी जायजा लिया गया। पोदगर्नी ने अपने भाषणों मे मोजांबिक द्वारा अपनाए जाने वाले वैज्ञानिक समाजवाद का भी उल्लेख किया। प्रारम्भ में मोजांबिया का झुकाव चीन के प्रति था, लेकिन आज वह सोवियत संघ की निरन्तर मित्रता की ओर हाथ बढाता जा रहा है। मोजांबिक में रोडेशिया के लगभग आठ हजार छापामारों का अड्डा है जिसे सोवियत संघ का समर्थन मिल रहा है।

एशिया में सोवियत संघ का प्रभाव-विस्तार : एक मूल्यांकन
वियतनाम और अफगानिस्तान रूस का सिरदर्द

एशिया मे सोवियत सघ के प्रभाव को लेकर पश्चिमी देशो के समाचार-पत्रों मे प्राय: चर्चा होती रहती है। अभी हाल ही में चीन के सन्दर्भ मे प्रसिद्ध फ्रांसीसी पत्र लार्द ने वियतनाम और अफगानिस्तान को सोवियत सहायता मे वृद्धि पर एशियाई देशों मे सोवियत प्रभाव का विश्लेषण किया है। पत्र के विचार में चीन के साथ सोवियत सघ के सम्बन्धो को देखते हुए वियतनाम और अफगानिस्तान आज सोवियत सघ का सिरदर्द बन गए हैं। अपने ताजा सम्पादकीय मे पत्र ने लिखा है[1]—

पिछले कुछ सप्ताहो मे सोवियत संघ ने वियतनाम और अफगानिस्तान के लिए अपनी सैनिक सहायता मे अचानक काफी वृद्धि कर दी है। इन दोनो देशों की सीमा चीन से मिलती है। काबुल और हनोई दोनों के प्रति सोवियत सघ कुछ इस तरह वचनबद्ध है कि उनके मामलों के अप्रत्यक्ष रूप से उलझता ही जा रहा है। अफगानिस्तान मे नूर मुहम्मद तराकी को सोवियत संघ से इस समय पूर्ण समर्थन मिल रहा है। सम्भवत: वह कबीलो और विद्रोहियों के खिलाफ अफगानिस्तान सरकार को हथियार आदि भी दे रहा है। इस सिलसिले मे पूर्व यूरोपीय देशो से कुछ सलाहकार भी अफगानिस्तान भेजे गए हैं। उधर सोवियत सघ के अखबार अमेरिका, पाकिस्तान और ईरान के प्रभावशाली लोगों को प्रतिक्रियावादी कह कर उनके खिलाफ काफी जहर उगल रहे हैं। पश्चिम जर्मनी, चीन और मिस्र के खिलाफ भी सोवियत समाचार-पत्रों का प्रचार अचानक तेज हो गया है। सोवियत समाचार पत्रो मे प्राय: यही कहा जाता है कि इन देशो मे प्रतिक्रियावादी सक्रिय हो उठे है और वे क्रान्ति विरोधी शक्तियों की मदद कर रहे हैं। उधर सोवियत सेना के राजनीतिक विवाद के अध्यक्ष एलेक्सी एपीशेव अभी हाल ही मे काबुल मे थे। सोवियत सघ की सरकार हर हालत में अफगानिस्तान की कम्युनिस्ट समर्थक सरकार को बरकरार रखना चाहती है। उधर अफगानिस्तान भी एक संधि के जरिए

1. दिनमान, 3 मार्च, 1974, पृष्ठ 25-27.

सोवियत संघ से जुड़ा हुआ है जिसमें उसके लिए सैनिक सहायता की भी व्यवस्था है। कुल मिला कर सोवियत संघ चीन के चारों तरफ अपना घेरा रखना चाहता है।

कुछ समय पहले श्री ब्रेझनेव ने एशियाई सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त निकाला था लेकिन उसे एशिया में ही समर्थन प्राप्त नही हुआ जिससे सोवियत संघ का निराश हो उठना स्वाभाविक ही है। अततः अफगानिस्तान और वियतनाम को विश्वास मे लेकर सोवियत संघ इस क्षेत्र में अपनी सैनिक शक्ति को बढाने पर तुला हुआ है। इस तरह वियतनाम और अफगानिस्तान दोनो मे ही एक जैसी स्थिति है। चीन की दक्षिणी सीमा पर स्थित वियतनाम की स्थिति अभी भी विस्फोटक है। वहाँ सैनिक सरगर्मियाँ जारी हैं। चीन के विरुद्ध हनोई के युद्ध प्रयत्नो मे सोवियत संघ बराबर सहायता दे रहा है। सेनाएँ एक मोर्चे से दूसरे मोर्चे की तरफ आ जा रही हैं और उन्हे सोवियत सघ से हथियार तथा खाने पीने की चीजे बराबर मिल रही हैं। यहाँ तक कि सैनिक परिवहनो का सचालन भी सोवियत सिपाही ही करते दिखाई पड़े।

लेकिन हिन्द चीन के हाल ही के युद्ध के दौरान प्रशान्त की तरफ अपना बेड़ा भेजने के लिए वियतनाम ने अपने यहाँ कोई अड्डा बनाने की सोवियत संघ को अनुमति नही दी। प्रशान्त की ओर जाने वाले बेड़े में परमाणु पनडुब्बियाँ भी थी जिससे जापान को भी खतरा हो सकता था। इस मामले में वियतनाम ने जो रवैया अपनाया, उससे यही लगता है कि वह कुछ हद तक ही सोवियत सघ को अपना सहायक मानता है। उधर वियतनाम नेता अपने देश को गुट-निरपेक्ष बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह बात सोवियत संघ के लिए कम चिन्ताजनक नही है। यदि वियतनाम का यह रवैया जारी रहा तो इतनी सारी मदद के बावजूद दक्षिण पूर्व एशिया में सोवियत संघ अपनी सैनिक कार्यवाही का कोई अड्डा नही बना सकता।

शायद सोवियत सघ इसी उद्देश्य के लिए वियतनाम की सहायता कर रहा है। चाहे जो भी है इन दो देशो की सैनिक सहायता में सोवियत संघ का अचानक वृद्धि करना समूचे एशिया के लिए चिन्ताजनक है जो देश दक्षिण पूर्व एशियाई सगठन यानी एशियान में शामिल हैं, उनके लिए तो यह स्थिति और भी चिन्ताजनक है। जाहिर है कि संगठन के देश अपने को बड़े देशो के प्रभाव से मुक्त रख कर स्वतन्त्रतापूर्वक अपना विकास करना चाहते हैं। मस्क्वा का एशिया में यह खेल इस सगठन के देशों के हितों के सर्वथा विरुद्ध है। स्पष्ट है कि अपने हितों की रक्षा के लिए एशियान के सभी देश मस्क्वा के प्रभाव को बढ़ने नही देंगे भले ही इस समय सोवियत संघ, अफगानिस्तान और वियतनाम को अपना मित्र बना कर कितना ही प्रयत्न करता रहा, एशियाई देशों को अपने हितों के प्रति जागरुक रहना चाहिए।

महाशक्तियों द्वारा प्रभाव क्षेत्रों का नहीं, सद्भाव क्षेत्रों का विस्तार हो

बंगलादेश से लेकर हिन्दमहासागर के आसपास दक्षिण अफ्रीका तक इस समय असन्तोष और संघर्ष की लहर फैली हुई है। इस समूची प्रक्रिया को तरह-तरह के नाम दिए जा रहे हैं। कुछ लोग कहते हैं कि दुनिया के दो बड़े देश अमेरिका और सोवियत संघ अपना-अपना प्रभाव जमाने के लिए इन क्षेत्रों में कुछ न कुछ गड़बड़ कराते रहते हैं। पश्चिमी देशों के समाचार-पत्रों और प्रचार साधनों द्वारा तो बराबर यही कहा जाता है कि पश्चिम को नीचा दिखाकर सोवियत संघ अपना प्रभाव जमाने के लिए इस पूरे क्षेत्र में आग लगा रहा है। इन सब परिभाषाओं और अटकलों के सन्दर्भ में अभी हाल ही में अमेरिकी प्रसिद्ध दैनिक 'क्रिश्चियन सायंस मानिटर' ने अपना एक बहुत दिलचस्प सम्पादकीय लिखा है, और स्थिति का व्यापक रूप से विश्लेषण किया है। दोनों ही देशों के अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने के प्रयत्नों के सन्दर्भों में पत्र का कहना है।[1]

"यदि सोवियत संघ किन्हीं क्षेत्रों में अपना प्रभाव जमाने की कोशिश कर रहा है तो क्या उसका प्रतिकार करने की आवश्यकता है? पश्चिमेशिया, दक्षिण अफ्रीका तथा अन्य जगहों पर असन्तोष और उपद्रव की स्थिति के लिए हम क्या बिला वजह सोवियत संघ को दोषी ठहरा रहे हैं? दोनों ही प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। अगर इस सम्बन्ध में कई गलत निष्कर्ष निकाले गए तो इस क्षेत्र के लिए अमेरिका गलत नीतियाँ भी अपना सकता है। मिसाल के तौर पर 'साल्ट' वार्ता के बारे में अगर यही कहा जाता है कि उसमें सोवियत संघ ही रुकावट बन रहा है, तो वार्ता में प्रगति नहीं हो सकती।

हमारे विचार में इन क्षेत्रों में गड़बड़ी और असन्तोष के लिए सोवियत संघ को दोषी ठहरा कर उनके समाधान का प्रयत्न करना ही गलत है। देखना यह होगा कि क्या इन सभी क्षेत्रों में लोगों के परिवर्तन की इच्छा के कारण सारा संकट पैदा हो रहा है या सोवियत संघ अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है? इसमें तो कोई शक नहीं कि सोवियत संघ हर मौके का फायदा उठाना चाहेगा। वह अपना प्रभाव भी बढ़ाना चाहता है। अगर वह पश्चिम के प्रभाव को रोकना चाहता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? स्वाभाविक ही है कि जब कभी कहीं साम्यवादी सरकार बनती है या कुछ हद तक साम्यवादी सत्ता में आते हैं तो प्रसन्नता होगी ही। पश्चिमेशिया से तेल प्राप्त करते रहने की सुविधा से सोवियत संघ क्यों वंचित रहना चाहेगा? इसी प्रकार दक्षिण अफ्रीका में जो बड़े-बड़े प्राकृतिक साधन हैं उनका लाभ सोवियत संघ क्यों उठाना चाहेगा? लेकिन इन सब चीजों से अथवा सोवियत संघ की इस तरह की महत्त्वाकांक्षाओं से स्वतन्त्र विश्व के देशों का चिन्तित हो उठना भी स्वाभाविक ही है। सोवियत संघ के मुकाबले

1 दिनमान, फरवरी-मार्च, 1979.

पश्चिमी देशों का अपना प्रभाव रखने का हर प्रयत्न छोड़ देना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। लेकिन यदि सभी चीजों को सन्तुलित ढंग से किया जाए तो उसमें लोगों का भला भी हो सकता है। मात्र प्रभाव जमाने की भावुकता से ही जनता का भला नहीं होता। अफगानिस्तान सोवियत प्रभाव मे आ चुका है। उधर ईरान पर भी धीरे-धीरे सोवियत प्रभाव बढ रहा है। लेकिन ऐसा कोई सकेत नहीं मिलता कि सोवियत संघ ने ही दोनों जगह गड़बड़ की स्थिति पैदा की हो या परदे के पीछे कोई डोर खींची हो। 'हार्न ऑफ अफ्रीका' और अंगोला मे सोवियत प्रभाव का कोई बहुत बड़ा राजनीतिक फायदा उसे नही मिला। यह बात भी याद रखने की है कि सोवियत संघ इन जगहो पर अनिश्चित रूप से जमे रहने की अपनी किसी चाल मे सफल नही हुआ। सूडान, गिनी, घाना, मिस्र, भारत और सोमालिया आदि से सोवियत सघ का प्रभाव धीरे-धीरे अपने आप ही कम हो गया। हो सकता है कुछ समय के लिए यह प्रभाव रहा हो, लेकिन अन्ततः ऐसा कुछ नहीं है कि सोवियत संघ किसी रूप मे वहाँ जमा हुआ हो।

ईरान को ही लें—यह बात नही भुलाई जा सकती कि ईरान की हाल ही की राजनीतिक घटनाओं ने सोवियत सघ को कुछ अवसर दिया है। ऐसी स्थिति में अमेरिका का वहाँ की घटनाओ पर निगाह रखना जरूरी ही है। आज जो परिस्थितियाँ है उन्हें देखते हुए अमेरिका को अपने हित मे ईरान की घटनाओं पर कुछ न कुछ प्रभाव तो डालना ही होगा। लेकिन उसका यह मतलब नही है कि अपना प्रभाव जमाने के उत्साह में अमेरिका या कोई पश्चिमी देश लोगों में परिवर्तन की आकांक्षा को रोके। परिवर्तन तो होता ही रहेगा। इसलिए नहीं कि सोवियत सघ ऐसा चाहता है कि लेकिन स्थानीय परिस्थितियों और अन्य बहुत कारणों से असन्तोष और उपद्रव की स्थिति पैदा होती है। आज भी अनेक देशों के औपनिवेशिक और सामन्तवादी प्रवृत्तियो के विरुद्ध संघर्ष कर के सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय स्वाधीनता लाने के सघर्ष कर रहे है। ये लोग अधिकाधिक राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके अपने जीवन को बेहतर बनाना चाहते हैं। ईरान के लोग आज अपने देश मे एक ऐसी लोकतान्त्रिक सरकार चाहते हैं जो धार्मिक मान्यताओं का सम्मान करे। नामीबिया के लोग स्वतन्त्रता चाहते हैं। रोडेशिया की अफ्रीकी जनता अपना शासन आप चलाना चाहती है। लोगों की इन उमगों का ध्यान रखते हुए अमेरिका को इन्हे पूरा करने मे सहायक होना चाहिए। यही उसके लिए उचित रास्ता हो सकता है। अमेरिकियो को यह भी नही भूलना चाहिए कि अमेरिकी समाज भी आज परिवर्तन के लिए संघर्षरत है। वह अपने आपको ऐसे संसार के अनुकूल बनाना चाहता है जहाँ बहुत समय से चली आ रही किसी सत्ता को चुनौती भी दी जा सके। एक ऐसा विश्व जहाँ कोई शक्तिशाली देश विश्व के किसी भाग में भी अपना नियन्त्रण कायम न कर सके और न अपने हितो के अनुरूप किसी घटना विशेष को दिशा दे सके। आज देश अपनी बात स्वय कहना चाहते हैं। नई शक्तियाँ उभर रही हैं। पुरानी मान्यताओं और वफादारियों में परिवर्तन आ रहा है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया में संघर्ष स्वाभाविक है।

किसी देश की घटनाओं को लेकर सोवियत संघ को बलि का बकरा बना देना उचित नही। अमेरिका को उस समय शान्त रह कर विवेक से काम लेना चाहिए। पश्चिमेशिया मे भी अमेरिका को अपनी नीतियों पर नए सिरे से विचार करना होगा। इस क्षेत्र मे जो भी कुछ उभर कर सामने आ रहा है। यह बिलकुल नया है। सामूहिक सुरक्षा की भी नई प्रणालियाँ अपनानी होंगी। किसी एक देश पर निर्भर रह कर अपनी सुरक्षा बनाए रखने का पुराना तरीका अमेरिका को छोड़ना होगा। अब अमेरिका को अन्य देशो के बारे मे एक ऐसी नीति अपनानी होगी जिसमें वह उस देश के विरोधी दलों से भी सम्पर्क रख सके। हर देश को उसके ऐतिहासिक और वहाँ की स्थानीय स्थिति के सन्दर्भ में देखना होगा। इस समय देशो की अपनी अलग परिस्थितियाँ हैं और उन परिस्थितियों को सामने रखते हुए उनके प्रति अमेरिका को अपना रवैया निश्चित करना होगा। कुल मिला कर अनिश्चितता और चिन्ता की विकट परिस्थितियाँ आने वाली है। इन परिस्थितियो का ध्यान रखना होगा लेकिन इतना निश्चित है कि आज जिन एशियायी अफ्रीकी क्षेत्रों में असन्तोष है उन्हें अमेरिका और सोवियत संघ दोनो से ही सहयोग करके लाभ पहुँच सकता है। अमेरिकी जनता को आज यह समझना चाहिए कि इस प्रकार की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप उन्हें अन्य देशो से सद्भाव और शान्ति के सम्बन्ध बनाने है।"

सोवियत विदेश नीति के कुछ नवीनतम कदम

सीरिया के साथ मैत्री सन्धि (8 अक्तूबर, 1980)

सोवियत सघ ने सीरिया के साथ मैत्री और सहयोग की 20 वर्षीय सन्धि पर 8 अक्टूबर, 1980 को हस्ताक्षर करके पश्चिम एशिया में अपने प्रभाव को बनाए रखने की दिशा मे प्रमुख कदम उठाया है।

'तास' ने बताया कि अरब नेता के तीन-दिवसीय मास्को यात्रा पर आने के तुरन्त बाद ही क्रेमलिन मे सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव और सीरिया के राष्ट्रपति हफीज असद ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर किए।

सन्धि मे कहा गया है कि दोनो मे से किसी भी देश की सुरक्षा या शन्ति को खतरा होने की स्थिति में सोवियत सघ और सीरिया बिना कोई विलम्ब किए सहायाता करेंगे।

तास के अनुसार सन्धि मे सोवियत-सीरिया के बीच आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों को बढ़ाने पर सहमति व्यक्त की गई है।

ईराक-ईरान युद्ध के सन्दर्भ में ब्रेझनेव की चेतावनी (9 अक्तूबर, 1980)

सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव ने कहा है कि सोवियत सघ ईरान और ईराक युद्ध में यद्यपि हस्तक्षेप नही कर रहा है तथापि साम्राज्यवादियों द्वारा ईरान पर प्रभुत्व जमाने के लिए किए गए प्रयासों का वह दो टूक जवाब देगा।

श्री ब्रेझनेव 9 अक्टूबर, 1980 को सीरिया के राष्ट्रपति हफीज असद के

सम्मान मे दिए गए रात्रि भोज में बोल रहे थे। इससे पूर्व दोनों ने मैत्री और सहयोग की एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए।

सोवियत नेता ने कहा कि अरब देशो और वहाँ के लोगो की सुरक्षा को उनसे खतरा है जो उनके विरुद्ध आक्रमण और लूटपाट की साँठगाँठ करने को कोशिश कर रहे हैं। उन्होने पश्चिम पर अरब देशो का ब्लैकमेल करने का आरोप लगाया।

श्री ब्रेझनेव ने फिलिस्तीनियों के लिए स्वतन्त्र देश बनाने और पूर्वी यरूशलम वापस करने की माँग भी की।

उन्होने कहा कि सीरिया के साथ हुई सन्धि सोवियत सीरिया सम्बन्धों को, जो तेजी से बढ़ रहे हैं, नई दिशा देगी।

उन्होने कहा कि यह सन्धि तीसरे देशो के विरुद्ध नही है। यह सन्धि शान्ति के लिए की गई है युद्ध के लिए नही।

पश्चिम एशिया मे शान्ति स्थापित करने के सम्बन्ध मे श्री ब्रेझनेव ने कहा कि 1967 में इजरायल द्वारा अरबो की जिन भूमियो पर कब्जा किया गया था उन्हें बिना शर्त वापस लौटा देना चाहिए। इनमे यरूशलम का पूर्वी भाग भी शामिल है।

सोवियत विदेश नीति का मूल्यांकन
(Evaluation of Soviet Foreign Policy)

युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की जटिलताओं मे सोवियत विदेश नीति अभी तक जितनी सफल और प्रभावकारी रही है, उतनी अमेरिकी विदेश नीति नही। पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया, पूर्वी यूरोप आदि सभी क्षेत्रो मे सोवियत रूस ने अपना प्रभाव बढ़ाया है और अमेरिका तथा उसके साथी राष्ट्रो की चुनौतियो का सफलतापूर्वक मुकाबला किया है। महायुद्ध के बाद तीन वर्षों में ही सोवियत रूस ने पूर्वी यूरोप को लाल बना देने में सफलता प्राप्त की। पश्चिमी एशिया मे अरब जगत् पर सोवियत रूस आश्चर्यजनक ढग से छा गया और भारत तो उसका प्रगाढ़ मित्र है। भारत के साथ रूसी मैत्री की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रूस ने भारत की गुट-निरपेक्षता को पूरा सम्मान देते हुए उसकी मित्रता स्वीकार की है। भूमध्यसागर और हिन्दमहासागर मे सोवियत नौ-शक्ति का प्रभावी वर्चस्व है। जापान के साथ भी रूस के सम्बन्ध मधुर बनते जा रहे हैं और दोनो पक्षों मे आर्थिक सहयोग की नीव पर राजनीतिक सम्बन्धों का महल खड़ा किया जाने लगा है। पश्चिमी जर्मनी से समझौता करके भी रूस ने अपनी स्थिति सुदृढ़ की है। फ्रांस गत कुछ वर्षों से रूस के पक्ष मे जितना झुका है वह स्थिति अमेरिकी गुट की अपेक्षा रूस के लिए अधिक उत्साहवर्द्धक है। अमेरिका के अतिरिक्त केवल चीन ही रूसी विदेशी नीति के लिए सबसे बड़ी चुनौती है, लेकिन अमेरिका और रूस मे पर्दे के पीछे परस्पर सहयोग और सहअस्तित्व की जो गुप्त वार्ताएँ चल रही है उनसे अधिकतर यही अनुमान है कि निकट भविष्य मे चीन रूस के साथ प्रतिद्वन्द्विता त्याग कर पुनः सहयोग की नीति का अनुसरण करने लगेगा। भारत जिस शक्तिशाली रूप मे उभरा है उससे भी चीन की मनोवृत्ति मे परिवर्तन होगा, इस सम्भावन से भी इनकार नहीं किया जा सकता।

11 द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत की विदेश नीति—गुट-निरपेक्षता के विशेष सन्दर्भ सहित

(The Foreign Policy of India Since World War II with Special Reference to Non-alignment)

"जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो अथवा जहाँ आक्रमण होता हो वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।" —जवाहरलाल नेहरू

भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र हुआ, किन्तु भारत की विदेश नीति का सूत्रपात्र 2 सितम्बर, 1946 से माना जा सकता है जबकि एक 'अन्तरिम सरकार' का निर्माण हो गया और यह समझा जाने लगा कि भारत वास्तव मे अपनी विदेश नीति का अनुसरण करने मे स्वतन्त्र है।

भारतीय विदेश नीति का ऐतिहासिक आधार

मार्च, 1950 मे लोकसभा मे भाषण देते हुए पण्डित नेहरू ने कहा था—"यह नही समझा जाना चाहिए कि हम विदेश नीति के क्षेत्र मे एकदम नई शुरूआत कर रहे हैं। यह एक ऐसी नीति है जो हमारे अतीत के इतिहास से और हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित है। इसका विकास उन सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है जिनकी घोषणा अतीत मे हम समय-समय पर करते रहे हैं।"

भारतीय विदेश नीति का निर्धारण तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो से ही नही हुआ वरन् इसके निर्माण में भारतीय प्राचीन प्रणाली की प्राचीन परम्परा और स्वाधीनता संग्राम के उच्च आदर्शों का भी ध्यान रखा गया। भारतीय चिन्तन और दर्शन में सदैव भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों को स्वीकार किया गया है और सहिष्णुता उसका स्वभाव रहा है, अतः जब भारत ने अपनी विदेशी नीति में गुट-निरपेक्षता और विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के तत्त्वों को सर्वोपरि महत्त्व दिया तो इसका कारण भारत की यही परम्परा थी। भारतीय विदेश नीति में उपनिवेशवाद, जातिवाद, फासिज्म आदि का विरोध सन्निहित है, उसे भी स्वाधीनता

संघर्ष काल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अनेक प्रस्तावों द्वारा स्पष्ट कर चुकी थी। इस प्रकार यह दावा करना सर्वथा उपयुक्त है कि भारत की विदेश नीति कोई आकस्मिक उपज नहीं है, बल्कि इसके ऐतिहासिक आधार हैं। पामर एवं पर्किन्स के शब्दों में, "भारत की विदेश नीति की जड़ें विगत कई शताब्दियों में विकसित सभ्यताओं के मूल में छिपी हैं और इसमें चिन्तन-शैलियों, ब्रिटिश नीतियों की विरासत, स्वाधीनता आन्दोलन तथा वैदेशिक मामलों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पहुँच, गांधीवादी दर्शन के प्रभाव, अहिंसा तथा साध्य और साधनों के महत्त्व के गांधीवादी सिद्धान्तों आदि का प्रभावशाली योग रहा है।"[1]

भारतीय विदेश नीति के आधारभूत उद्देश्य और लक्ष्य

भारत की विदेश नीति के आधारभूत उद्देश्य सरल और स्पष्ट हैं। भारत सरकार के एक प्रकाशन 'स्वतन्त्र भारत के बढ़ते कदम' के अनुसार इन उद्देश्यों में स्वतन्त्रता की प्राप्ति से अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। ये उद्देश्य हैं—

प्रथम, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखना और उसे प्रोत्साहन देना।

द्वितीय, सभी पराधीन देशों की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देना क्योंकि भारत की दृष्टि से उपनिवेशवाद केवल मूल मानव अधिकारों का उल्लंघन ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का सतत् कारण भी है।

तृतीय, जातिवाद का विरोध और ऐसे साम्यवादी समाज के विकास का समर्थन जिसमें रंग, जाति और वर्ग के किसी भेदभाव के लिए कोई स्थान न हो।

चतुर्थ, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्ति एवं समझौते द्वारा समाधान।

पंचम, इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए और सम्पूर्ण मानवता के व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए सभी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्रसंघ को सक्रिय योगदान देना।

पामर एवं पर्किन्स ने भारतीय विदेश नीति के आधारभूत लक्ष्य इस प्रकार गिनाए हैं[2]—

(1) जातीय भेदभाव और साम्राज्यवाद का प्रबल विरोध;

(2) साम्यवाद अथवा शक्ति-राजनीति की अपेक्षा राष्ट्रों के आधारभूत आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास पर बल;

(3) एशियायी देशों की उपेक्षा न करने और उन पर बलात् कुछ न थोपने पर आग्रह;

(4) स्वतन्त्रता अथवा असंलग्नता की नीति पर बल;

(5) संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में विश्वास;

(6) शीतयुद्ध और क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों से बचना; एवं

(7) अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने वाले और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की सम्भावनाएँ बढ़ाने वाले प्रयत्नों में आस्था।

1-2 *Palmer and Perkins* : International Relations, p. 709

भारत की विदेश नीति के उपर्युक्त उद्देश्यों और लक्ष्यों मे आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी नीतियों से राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि महत्त्व देता है और विदेश नीति की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी इस बात मे है कि वह राष्ट्रीय हित की रक्षा करने मे कहाँ तक सफल हुई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 30 वर्षों मे, घोर कठिनाइयों के बावजूद, भारत की विदेश नीति ने राष्ट्रीय हितों का पोषण और संवर्द्धन किया है। इजरायल के विरुद्ध अरब राष्ट्रों का समर्थन, हंगरी और चैकोस्लोवाकिया में रूसी दमन-चक्र के विरोध मे शिथिलता, अमेरिका की तुलना में सोवियत संघ को प्राथमिकता, आदि कुछ बातों के कारण भारतीय विदेश नीति में विरोधाभास का आरोप लगाया जाता है। लेकिन गम्भीरता से सोचने पर विदित होगा कि भारत ने प्रत्येक अवसर पर गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का अनुपालन किया है। भारत ने सदैव न्याय का पक्ष लिया है और इस दृष्टि से ही अपना समर्थन और विरोध प्रकट किया है। यदि कभी कुछ विरोधभास या व्यतिक्रम दिखाई भी दिया है तो उसके मूल में राष्ट्रीय हित सर्वोपरि रहा है। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से किसी देश की विदेश नीति को कठोरता का जामा नही पहनाया जा सकता। यदि राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए विदेश नीति में सामयिक मोड़ दिए जाते हैं तो यह सर्वथा युक्ति सगत है। पर ये सामयिक हेरफेर विदेश नीति के आधारभूत उद्देश्यो और तत्त्वो को नष्ट नही करते। भारत सन् 1947 मे गुट-निरपेक्ष देश था और आज भी गुटनिरपेक्ष है। भारत ने सन् 1957 मे सह-अस्तित्व मे विश्वास प्रकट किया था और वर्तमान में भी वह सह-अस्तित्व का प्रबल समर्थक है। इसी प्रकार भारत ने सदैव जातिवाद, उपनिवेशवाद, रंगभेद आदि का विरोध किया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ मे भारत ने जो आस्था रखी है और संघ के कार्यों में जो सहयोग दिया है वह अपने आप मे एक उदाहरण है। किसी भी देश की विदेश नीति का मूल्यांकन करते समय श्री नेहरू के ये शब्द, जो उन्होंने 4 दिसम्बर, 1947 को संविधान की सभा में कहे थे, सदैव ध्यान मे रखने होंगे—

"आप चाहे कोई भी नीति अपनाएँ, विदेश नीति का निर्धारण करने की कला राष्ट्रीय हित के सम्पादन मे ही निहित है। हम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सहयोग और स्वतन्त्रता की चाहे कितनी ही बातें करें और उनका कैसा ही अर्थ लगाएँ, किन्तु अन्ततोगत्वा एक सरकार अपने राष्ट्र की भलाई के लिए ही कार्य करती है और कोई भी सरकार ऐसा कोई कदम नही उठा सकती, जो उसके राष्ट्र के लिए अहितकर हो अतः सरकार का स्वरूप चाहे साम्राज्यवादी हो या साम्यवादी अथवा समाजवादी, उसका विदेश मन्त्री मूलतः राष्ट्रीय हित में ही सोचता है।"

पुनश्च, पैडलफोर्ड एवं लिंकन के शब्दों में—

"विदेश नीतियों का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता, वरन् ये राष्ट्रीय हितो के क्रियात्मक विचारो का परिणाम होती हैं।"

भारत की विदेश नीति के मौलिक तत्त्व आज भी वही हैं जो पहले थे। अन्तर केवल इतना ही आया है कि नेहरू युग में आदर्शवाद पर अधिक बल रहा, यद्यपि अपने जीवन की संध्या मे नेहरू भी यथार्थवाद को महत्त्व देने लगे, शास्त्री युग मे यथार्थवाद को अधिक महत्त्व देकर तुष्टिकरण की नीति के दुर्बल चिह्नों को मिटाया जाने लगा और तत्पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में भारत की विदेश नीति मे आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर सन्तुलन दृष्टिगोचर हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं को श्रीमती गाँधी ने अच्छी तरह समझा और देश की विदेश नीति के आदर्शवादी सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए उसे पहले की तुलना में अधिक व्यावहारिक, दृढ और आत्मविश्वासपूर्ण बनाया। पहले बगला देश के संदर्भ मे, फिर पाकिस्तान के प्रति और साथ ही रूस एवं अमेरिका जैसी महाशक्तियों के प्रति श्रीमती गाँधी ने विदेश नीति का कुशल सचालन किया। भारत ने उपनिवेशवाद और जातिभेद का विरोध किया और गुट-निरपेक्षता तथा सह-अस्तित्व के आन्दोलन को पूर्वापेक्षा सबल बनाया।

मार्च, 1977 में कांग्रेस शासन के पतन के साथ ही जनता पार्टी की सरकार सत्ता में आई। प्रधान मन्त्री पद श्री मोरारजी देसाई ने और विदेश मन्त्री पद श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सम्भाला। विदेश नीति के सन्दर्भ मे नई सरकार ने अपना स्पष्ट और सुदृढ़ विचार व्यक्त किया कि भारत सक्रिय गुट-निरपेक्षता के मार्ग पर चलता रहेगा। 4 अप्रेल, 1977 को राष्ट्र के नाम सन्देश प्रसारित करते हुए प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने कहा—

"हम पूरे दिल से शान्ति कायम रखने मे विश्वास रखते हैं, शान्ति के नारे मे नहीं। हम शान्ति को ऐसा साधन मानते हैं जो हम सबके लिए कल्याणकारी है और जिससे इस पृथ्वी की सुरक्षा हो सकती है। मैं यह भी कहना चाहूँगा कि शान्ति हम तभी रख सकते हैं जब हम बिना किसी डर या पक्षपात के या किसी का बुरा सोचे बिना, गुट-निरपेक्षता के सही रास्ते पर चलें। दुनिया की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को मिलकर और आपसी सहयोग से हल करने का सिद्धान्त ही हमारी विदेश नीति का निर्देशक सिद्धान्त होगा। दुनिया के शेष भागों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर और सहयोग की भावना रखकर इस मार्ग का अनुसरण करेंगे और दुराग्रह नहीं रखेंगे। आने वाले समय में बढ़ते हुए आर्थिक और मानवीय सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनीतिक सम्बन्धों की जगह लेंगे। हम इस विकास में अपनी भूमिका तभी निभा सकते हैं जब हम खुद आर्थिक दृष्टि से मजबूत हों।"[1]

सितम्बर, 1980 मे दिल्ली मे राष्ट्र-मण्डल शासनाध्यक्षों के सम्मेलन में भारत ने पुन: स्पष्ट कर दिया कि वह किसी भी देश में बाह्य हस्तक्षेप का विरोधी है और गुट-निरपेक्षता का हामी है। जब अक्तूबर, 1980 के प्रथम सप्ताह में अमेरिका के खुफिया विभाग की रिपोर्ट पर अमेरिका ने यह आरोप लगाया कि भारत ईराक-

1. भारत सरकार प्रेस विज्ञप्ति, 4 अप्रेल, 1977.

ईरान युद्ध में ईराक का पक्ष ले रहा है और उसे सैनिक सहायता दे रहा है तो भारत सरकार ने इस बेबुनियाद और बहुधा आरोप पर अपनी कठोर प्रतिक्रिया व्यक्त की तथा आरोप का स्पष्ट खण्डन करके भारत गुट-निरपेक्ष नीति का पुनः हवाला दिया। इस सम्बन्ध में 10 अक्तूबर, 1980 के हिन्दुस्तान का यह सम्पादकीय पठनीय है जिससे इस बात का संकेत मिलता है कि किस प्रकार भारत की गुट-निरपेक्ष नीति पर आक्रमण किया जा रहा है और अरब देशों में भारत को बदनाम करने की कोशिश हो रही है—

"अमेरिका के खुफिया विभाग को दाद देनी पड़ेगी, जिसने अपनी सरकार को रिपोर्ट दी है कि भारत, पूर्वी यूरोप के देशो तथा लेबनान के कुछ जहाजों को जोर्डन के बंदरगाह पर माल उतारने के लिए मोड़ दिया गया है और उनमें से कुछ में सैन्य साज-सामान के पुर्जे व हिस्से भी हो सकते है। ऐसी ही किसी सूचना के आधार पर अमेरिका सरकार के एक अज्ञात अधिकारी ने कहा कि जहाज अकावा बदरगाह को मोड़े गए हैं और जल्दी ही यह पता चल जाएगा कि उनमे क्या लदा है।

अमेरिका के जिस भी स्तर के अधिकारी ने यह बयान दिया है, उसके पीछे दुर्भावना झलकती है। भारत पर यह आरोप लगाने की कोशिश की गई है कि ईराक व ईरान के युद्ध में भारत ईराक का पक्ष ले रहा है और सैनिक सहायता दे रहा है। इससे ज्यादा निराधार व बेहूदा आरोप कोई नही हो सकता। हाँ अमेरिका की सरकार की अक्ल का दीवाला ही निकल गया हो, तो बात अलग है।

क्या अमेरिका को नही मालूम कि भारत निर्गुट देश है और वह अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं व विवादो को शान्तिपूर्वक तथा बिना युद्ध के हल करने का समर्थक है? क्या वह कोरिया व वियतनाम के युद्धों के सन्दर्भ मे भारत की भूमिका को भूल गया है? उसे इतना तो मालूम ही होगा कि ईराक व ईरान दोनो से भारत के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं और दोनो से उसके घनिष्ट आर्थिक सम्बन्ध है। दोनो देशों के पुनर्निर्माण मे हजारो भारतीय डॉक्टर, इजीनियर, वैज्ञानिक और दक्ष कारीगर सहयोग दे रहे हैं। अनेक जहाज भारतीय माल लेकर दोनो देशो को जाते-आते रहते है और कई तो युद्ध के कारण फारस की खाड़ी के बन्दरगाहो मे रुके खड़े है।

भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय के प्रवक्ता ने अमेरिकी सवाद समिति द्वारा दी गई इस आशय की खबर का खण्डन करके अच्छा ही किया है, क्योकि आरोप *ईरान से हमारे सम्बन्ध खराब करवाने की नीयत से लगाया गया है।* अमेरिकी प्रवक्ता ने यह बात भी दुर्भावनावश कही है कि भारत ईराक से अपने नागरिको को वापस बुला रहा है, जबकि युद्धक्षेत्र से निकल कर आने वाले कुछ भारतीयो के स्वदेश लौटने के लिए विमानों की व्यवस्था मात्र की गई है।

लगता है कि ईरान मे 50 अमेरिकी बंधकों की रिहाई में नाकामयाब होने तथा वहाँ से पैर उखड़ने के कारण अमेरिका काफी बोखला गया है। उसे पश्चिम एशिया के युद्ध मे दखल देने, ईरान से बदला लेने और सोवियत सघ को नीचा दिखाने का मौका हाथ नही लग रहा है।

भारत की विदेश नीति के मौलिक तत्त्व आज भी वही हैं जो पहले थे। अन्तर केवल इतना ही आया है कि नेहरू युग में आदर्शवाद पर अधिक बल रहा, यद्यपि अपने जीवन की सध्या मे नेहरू भी यथार्थवाद को महत्त्व देने लगे, शास्त्री युग मे यथार्थवाद को अधिक महत्त्व देकर तुष्टिकरण की नीति के दुर्बल चिह्नों को मिटाया जाने लगा और तत्पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में भारत की विदेश नीति में आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर सन्तुलन दृष्टिगोचर हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं को श्रीमती गाँधी ने अच्छी तरह समझा और देश की विदेश नीति के आदर्शवादी सिद्धान्तो की रक्षा करते हुए उसे पहले की तुलना में अधिक व्यावहारिक, दृढ़ और आत्मविश्वासपूर्ण बनाया। पहले बंगला देश के संदर्भ मे, फिर पाकिस्तान के प्रति और साथ ही रूस एवं अमेरिका जैसी महाशक्तियों के प्रति श्रीमती गाँधी ने विदेश नीति का कुशल सचालन किया। भारत ने उपनिवेशवाद और जातिभेद का विरोध किया और गुट-निरपेक्षता तथा सह-अस्तित्व के आन्दोलन को पूर्वापेक्षा सबल बनाया।

मार्च, 1977 मे कांग्रेस शासन के पतन के साथ ही जनता पार्टी की सरकार सत्ता में आई। प्रधान मन्त्री पद श्री मोरारजी देसाई ने और विदेश मन्त्री पद श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सम्भाला। विदेश नीति के सन्दर्भ में नई सरकार ने अपना स्पष्ट और सुदृढ़ विचार व्यक्त किया कि भारत सक्रिय गुट-निरपेक्षता के मार्ग पर चलता रहेगा। 4 अप्रैल, 1977 को राष्ट्र के नाम सन्देश प्रसारित करते हुए प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने कहा—

"हम पूरे दिल से शान्ति कायम रखने मे विश्वास रखते हैं, शान्ति के नारे में नही। हम शान्ति को ऐसा साधन मानते हैं जो हम सबके लिए कल्याणकारी है और जिससे इस पृथ्वी की सुरक्षा हो सकती है। मै यह भी कहना चाहूँगा कि शान्ति हम तभी रख सकते हैं जब हम बिना किसी डर या पक्षपात के या किसी का बुरा सोचे बिना, गुट-निरपेक्षता के सही रास्ते पर चलें। दुनिया की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को मिलकर और आपसी सहयोग से हल करने का सिद्धान्त ही हमारी विदेश नीति का निर्देशक सिद्धान्त होगा। दुनिया के शेष भागो के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर और सहयोग की भावना रखकर इस मार्ग का अनुसरण करेंगे और दुराग्रह नही रखेंगे। आने वाले समय में बढते हुए आर्थिक और मानवीय सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में राजनीतिक सम्बन्धों की जगह लेंगे। हम इस विकास में अपनी भूमिका तभी निभा सकते हैं जब हम खुद आर्थिक दृष्टि से मजबूत हों।"[1]

सितम्बर, 1980 मे दिल्ली मे राष्ट्र-मण्डल शासनाध्यक्षों के सम्मेलन में भारत ने पुनः स्पष्ट कर दिया कि वह किसी भी देश में बाह्य हस्तक्षेप का विरोधी है और गुट-निरपेक्षता का हामी है। जब अक्तूबर, 1980 के प्रथम सप्ताह में अमेरिका के गुप्तिया विभाग की रिपोर्ट पर अमेरिका ने यह आरोप लगाया कि भारत ईराक-

1. भारत सरकार प्रेस विज्ञप्ति, 4 अप्रैल, 1977.

ईरान युद्ध मे ईराक का पक्ष ले रहा है और उसे सैनिक सहायता दे रहा है तो भारत सरकार ने इस बेबुनियाद और बहुधा आरोप पर अपनी कठोर प्रतिक्रिया व्यक्त की तथा आरोप का स्पष्ट खण्डन करके भारत गुट-निरपेक्ष नीति का पुनः हवाला दिया। इस सम्बन्ध में 10 अक्तूबर, 1980 के हिन्दुस्तान का यह सम्पादकीय पठनीय है जिससे इस बात का संकेत मिलता है कि किस प्रकार भारत की गुट-निरपेक्ष नीति पर आक्रमण किया जा रहा है और अरब देशों मे भारत को बदनाम करने की कोशिश हो रही है—

"अमेरिका के खुफिया विभाग को दाद देनी पड़ेगी, जिसने अपनी सरकार को रिपोर्ट दी है कि भारत, पूर्वी यूरोप के देशों तथा लेबनान के कुछ जहाजों को जोर्डन के बंदरगाह पर माल उतारने के लिए मोड दिया गया है और उनमे से कुछ मे सैन्य साज-सामान के पुर्जे व हिस्से भी हो सकते है। ऐसी ही किसी सूचना के आधार पर अमेरिका सरकार के एक अज्ञात अधिकारी ने कहा कि जहाज अकावा बंदरगाह को मोड़े गए हैं और जल्दी ही यह पता चल जाएगा कि उनमे क्या लदा है।

अमेरिका के जिस भी स्तर के अधिकारी ने यह बयान दिया है, उसके पीछे दुर्भावना झलकती है। भारत पर यह आरोप लगाने की कोशिश की गई है कि ईराक व ईरान के युद्ध मे भारत ईराक का पक्ष ले रहा है और सैनिक सहायता दे रहा है। इससे ज्यादा निराधार व बेहूदा आरोप कोई नहीं हो सकता। हाँ अमेरिका की सरकार की अक्ल का दीवाला ही निकल गया हो, तो बात अलग है।

क्या अमेरिका को नहीं मालूम कि भारत निर्गुट देश है और वह अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ व विवादो को शान्तिपूर्वक तथा बिना युद्ध के हल करने का समर्थक है? क्या वह कोरिया व वियतनाम के युद्धो के सन्दर्भ मे भारत की भूमिका को भूल गया है? उसे इतना तो मालूम ही होगा कि ईराक व ईरान दोनो से भारत के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं और दोनों से उसके घनिष्ट आर्थिक सम्बन्ध हैं। दोनों देशों के पुनर्निर्माण मे हजारो भारतीय डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक और दक्ष कारीगर सहयोग दे रहे हैं। अनेक जहाज भारतीय माल लेकर दोनो देशो को जाते-आते रहते है और कई तो युद्ध के कारण फारस की खाड़ी के बन्दरगाहो मे रुके खड़े हैं।

भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय के प्रवक्ता ने अमेरिकी संवाद समिति द्वारा दी गई इस आशय की खबर का खण्डन करके अच्छा ही किया है, क्योंकि आरोप ईरान से हमारे सम्बन्ध खराब करवाने की नीयत से लगाया गया है। अमेरिकी प्रवक्ता ने यह बात भी दुर्भावनावश कही है कि भारत ईराक से अपने नागरिको को वापस बुला रहा है, जबकि युद्धक्षेत्र से निकल कर आने वाले कुछ भारतीयो के स्वदेश लौटने के लिए विमानों की व्यवस्था मात्र की गई है।

लगता है कि ईरान मे 50 अमेरिकी बंधकों की रिहाई मे नाकामयाब होने तथा वहाँ से पैर उखड़ने के कारण अमेरिका काफी बोखला गया है। उसे पश्चिम एशिया के युद्ध मे दखल देने, ईरान से बदला लेने और सोवियत संघ को नीचा दिखाने का मौका हाथ नही लग रहा है।

भविष्य में भी अरब देशों में भारत को बदनाम करने का प्रयत्न किया जा सकता है, क्योंकि पश्चिम एशिया में भारत का बढ़ता हुआ प्रभाव अमेरिका तथा उसके एक मित्रदेश को कतई नहीं भाता है। दोनों अफगानिस्तान के सवाल पर भारत द्वारा अपनाए गए रुख के कारण भी रुष्ट हैं। इसलिए अपनी पश्चिम एशिया नीति पर दृढ़ रहते हुए भारत सरकार को फूँक-फूँक कर कदम रखना चाहिए। उसने ईराक और ईरान दोनों से युद्ध-विराम करने तथा अपने विवाद शान्तिपूर्वक तय करने की अपील करके अच्छा ही किया है।"[1]

भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व

भारत की विदेश नीति के भौगोलिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, वैचारिक आदि तत्त्वों पर विस्तृत विवेचन अपेक्षित है—

भौगोलिक तत्त्व

भारत एक सुविशाल देश है जिसकी लगभग 2500 मील लम्बी समुद्री सीमा और 8200 मील लम्बी स्थल सीमा है। समुद्री सीमा का तीन दृष्टियों से विशेष महत्त्व है—प्रथम, हिन्द महासागर पर अधिकार रखने वाली शक्तियाँ भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न कर सकती हैं, द्वितीय, भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार हिन्दमहासागर द्वारा होता है, एवं तृतीय, विशाल समुद्र तट की रक्षा के लिए अनिवार्य है कि भारत शक्तिशाली नौ-शक्ति का विकास करे। भारत की स्थल सीमाएँ पाकिस्तान, चीन, नेपाल, अफगानिस्तान और बर्मा से मिलती हैं। हिमालय अब देश की सुरक्षा का विश्वसनीय प्रहरी नहीं रहा है, चीन के आक्रमण ने भारत की आँखें खोल दी हैं।

अपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत की विदेश नीति का निर्धारण निम्नलिखित हितों को ध्यान में रखकर हुआ है—(1) जिन सीमावर्ती एवं अन्य देशों से देश की सुरक्षा को भय हो, उनके साथ तटस्थता अथवा मित्रता का व्यवहार। ये देश हैं—ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, हिन्द-चीन, साम्यवादी चीन आदि। (2) मध्यपूर्व, वर्मा, डच, ईस्ट इण्डीज, आदि से तेल की प्राप्ति। (3) सीमावर्ती राज्यों में बसने वाले भारतीयों का कल्याण और भारतीय व्यापार का विस्तार। (4) हिन्दमहासागर मे भारत की सुरक्षा और व्यापार के आधारभूत समुद्री तथा हवाई मार्गों की सुरक्षा। (5) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तथा प्रभुतासम्पन्न राष्ट्रों के मामलों मे अपने देश के इतिहास, हित और संस्कृति के अनुरूप महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करना।

आर्थिक एवं सैनिक तत्त्व

सदियों की गुलामी में भारत का आर्थिक शोषण होता रहा, अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की विदेश नीति के निर्धारण में आर्थिक और सैनिक तत्त्वों का विशेष महत्त्व रहना स्वाभाविक था और आज भी है। यह बात निम्नलिखित तथ्यों से अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

1 हिन्दुस्तान, दिनांक 10 अक्तूबर, 1980.

(i) भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाई ताकि विश्व-शान्ति को प्रोत्साहन देते हुए वह दोनों गुटों से आर्थिक सहायता प्राप्त करता रहे।

(ii) भारत के नीति-निर्माताओं ने यह भली प्रकार समझ लिया कि उनका देश विश्व के पूँजीवादी और साम्यवादी शिविरों के बीच सन्तुलनकारी भूमिका निभाकर दोनों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। अतः भारत ने यही नीति अपनाई कि किसी भी पक्ष के साथ सैनिक सन्धि में न बँधा जाए, किसी भी गुट के साथ ऐसी सन्धि न की जाए जिससे देश की गुट-निरपेक्षता और सम्प्रभुता पर आँच आए। भारत ने विदेशों से जो भी आर्थिक और प्राविधिक सहायता प्राप्त की वह राजनीतिक शर्तों से मुक्त रही।

(iii) नवोदित भारत सैनिक दृष्टि से निर्बल था, अतः विदेश नीति के निर्धारकों ने यह उपयुक्त समझा कि दोनों गुटों की सहानुभूति अर्जित की जाए। वह तभी सम्भव था जब गुट-निरपेक्षता और सह-अस्तित्व की नीति अपनाई जाती।

(iv) भारत जैसे सुविशाल और महान देश के लिए यह स्वाभाविक था कि वह ऐसी विदेश नीति का अनुसरण करता जिससे उसकी स्वयं की निर्णय-शक्ति पर कोई विपरीत प्रभाव न पड सके।

जिन आर्थिक और सैनिक तत्त्वों ने सन् 1947 में भारत की विदेश नीति के निर्धारण में योग दिया वे तत्त्व आज भी उतने ही सजीव हैं। सन् 1979 का भारत आर्थिक और सैनिक दृष्टि से सन् 1947 के मुकाबले कहीं अधिक सबल है, लेकिन गुट-निरपेक्षता और शान्ति की नीति भयंकर कठिनाइयों में भी भारत के लिए इतनी हितकारी सिद्ध हुई है कि उसके परित्याग का कोई प्रश्न नहीं उठता। पाकिस्तान अपने जन्मकाल से ही सैनिक गुटों से प्रतिबद्ध रहा है लेकिन इस नीति के परिणाम उसके लिए दुःखदायी सिद्ध हुए हैं। वह चीन, अमेरिका जैसे राष्ट्रों के हाथ लगभग बिक चुका है तथा उनके शिकंजे से निकलना उसके लिए यदि असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। विश्व के अनेक दूसरे देशों का इतिहास भी साक्षी है कि गुटों के साथ बँधकर उन्होंने अपनी राजनीतिक सम्प्रभुता के साथ खिलवाड़ की है। एक गुट-निरपेक्ष देश के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमंच पर भारत की जो आवाज है वह सैनिक सन्धियों और गुटों में आबद्ध अधिकांश देशों की आवाज से कहीं अधिक बलशाली और प्रभावकारी है।

ऐतिहासिक परम्पराएँ

अतीत से ही भारत सहिष्णु और शान्तिप्रिय देश रहा है। इतिहास साक्षी है कि भारत ने कभी किसी देश पर राजनीतिक प्रभाव लादने या उसकी प्रादेशिक अखण्डता को भंग करने की चेष्टा नहीं की। यह ऐतिहासिक परम्परा भारत की विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण निर्माणक तत्त्व है। स्वाधीन भारत के तीन दशक पूरे हो गए हैं और इस सम्पूर्ण अवधि में भारत ने सभी देशों के साथ समानता और मित्रता की नीति निभाई है। पाकिस्तान ने भारत पर एक के बाद एक आक्रमण किए किन्तु फिर भी भारत की नीति उसके साथ मैत्री और सह-अस्तित्व की

है। प्रत्येक युद्ध मे भारत ने पाकिस्तान को हराया, किन्तु फिर भी उस पर अपनी शर्तें नहीं लादीं। सन् 1965 के युद्ध मे पाकिस्तान का जो भू-भाग छीन लिया गया था वह ताशकन्द के समझौते द्वारा लौटा दिया गया। सन् 1971 मे पाकिस्तान को मुँह की खानी पड़ी, लेकिन शिमला समझौते द्वारा भारत ने समस्त हस्तगत भूमि पुनः पाकिस्तान को सौंप दी, यहाँ तक कि अनेक रियायतें और सुविधाएँ देकर भी पाकिस्तान की मित्रता की आकांक्षा की। इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा कि पाकिस्तान भारत की तुष्टिकरण की नीति को, शान्तिपूर्ण और सह-अस्तित्व की विचारधारा को उसकी दुर्बलता का चिह्न मानता है। पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधान मन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो युद्ध की धमकियाँ देते रहे है, भारत से हजार वर्ष लड़ने की बात करते रहे है, फिर भी भारत भड़काने मे नही आता, पाकिस्तान के प्रति एक बड़े भाई जैसा आचरण करता है। लेकिन यदि सिर पर ही पड़ी तो अब की बार, जैसा कि हमारे नेता चेतावनी दे चुके है, पाकिस्तान को ऐसा सबक सिखाया जाएगा कि वह हमेशा के लिए याद रखेगा। साम्यवादी चीन ने भी भारत के प्रति घोर शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाया है। सन् 1962 में अचानक विशाल पैमाने पर आक्रमण कर चीन ने एक मित्र की पीठ मे छुरा भौंका और भारत की कुछ भूमि हड़प ली। उस समय भारत सैनिक दृष्टि से सबल नही था, लेकिन वह किसी भी आक्रमण का मुँह तोड उत्तर देने मे सक्षम है तथापि शान्तिवादी भारत ने यह कभी प्रत्यन नही किया कि सैनिक शक्ति के बल पर अपनी भूमि वापस प्राप्त की जाए। यह बात भारत की दुर्बलता का चिह्न नही है बल्कि एक महान् देश की सहनशीलता का प्रमाण है।

वैचारिक तत्त्व

सहिष्णुता, उदारता आदि तत्त्वों को ऐतिहासिक परम्परा के साथ वैचारिक तत्त्वो में भी रखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त भारत की विदेश नीति गांधीवाद से काफी प्रभावित है। इस पर मार्क्सवाद का प्रभाव भी कम नही है। समाजवादी शिविर के प्रति भारत की सहानुभूति बहुत कुछ मार्क्सवादी प्रभाव का परिणाम मानी जा सकती है। गृह-नीति के क्षेत्र में भी भारत ने समाजवादी ढाँचे के समाज की स्थापना का लक्ष्य सामने रखा है। पश्चिम के उदारवाद का भी भारत की विदेश नीति पर काफी प्रभाव पड़ा है। हमारी विदेश नीति के कर्णधार श्री नेहरू पाश्चात्य लोकतन्त्रीय परम्पराओ से बहुत प्रभावित थे। पश्चिमी लोकतन्त्रवाद और साम्यवाद दोनों की अच्छाइयों को पसन्द करते थे और उनकी बुराइयों से बचना चाहते थे। इस प्रकार की समन्वयकारी विचारधारा ने गुट-निरपेक्षता की नीति को प्रोत्साहित किया।

राष्ट्रीय संघर्ष

भारत के स्वाधीनता संघर्ष ने विदेश नीति के निर्धारण में उल्लेखनीय योग दिया क्योंकि—(i) इसके कारण भारत में महाशक्तियों के संघर्ष का मोहरा बनने से बचने का विचार उत्पन्न हुआ; (ii) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में गुट-निरपेक्ष

रहते हुए महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदा करने की भावना जाग्रत हुई; (iii) हर प्रकार के उपनिवेशवाद, जातिवाद और रंगभेद का विरोध करने का अद्भुत साहस उत्पन्न हुआ; एवं (iv) स्वाधीनता-आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई।

वैयक्तिक तत्त्व

भारत की विदेश नीति पर वैयक्तिक तत्त्वों का, विशेषकर पण्डित नेहरू का व्यापक प्रभाव रहा है। पं. नेहरू साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और फासिस्टवाद के विरोध तथा विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के समर्थक थे। वे मैत्री, सहयोग और सह-अस्तित्व के पोषक थे, लेकिन अन्यायपूर्ण आक्रमण को रोकने के लिए शक्ति के प्रयोग को भी उतना ही महत्त्व देते थे। महाशक्तियों के संघर्ष में भारत के लिए वे असंलग्नता की नीति को सर्वोत्तम मानते थे। अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप उन्होंने भारत की विदेश नीति का निर्माण किया। इसका वर्तमान स्वरूप पंडित नेहरू के विचारों का ही प्रतीक है। पण्डित नेहरू के अतिरिक्त डॉ. राधाकृष्णन्, कृष्णमेनन, पणिक्कर के नाम भी उन विशिष्ट व्यक्तियों में सम्मिलित किए जाते हैं जिन्होंने भारत की विदेश नीति को प्रभावित किया। साम्यवादी चीन के प्रति भारत की प्रारम्भिक नीति के निर्धारण मे सरदार पणिक्कर का विशेष हाथ रहा था। उनके गलत मूल्यांकन के कारण ही तिब्बत और चीन के बारे में भारत की विदेश नीति *पथ-भ्रष्ट हो गई तथा चीन पर अन्धविश्वास कर बैठी। पणिक्कर चीन मे भारत* के राजदूत थे और उनकी रिपोर्टों के आधार पर पण्डित नेहरू चीन के प्रति भारत की नीति का निर्धारण करते रहे। सन् 1962 के चीनी आक्रमण ने सभी की आँखे खोल दी और उसके पश्चात् विदेश नीति यथार्थवाद की ओर उन्मुख हुई। श्री लालबहादुर शास्त्री और श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में भारत की विदेश नीति मे अधिक निखार आया और सन् 1978 में प्रधान मन्त्री श्री देसाई और विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व मे अपने मौलिक तत्वों को पूर्ववत् कायम रखते हुए, यह पिछले किसी भी समय की तुलना मे अधिक व्यावहारिक हुई। भारत की शान्ति-प्रियता, सहिष्णुता, मैत्री और सहयोग की भावना आज भी उतनी ही बलवती है, जितनी पहले थी। केवल अन्तर यह आया है कि भारत इस बात को समझ चुका है कि केवल शान्ति के नारों से काम नहीं चल सकता, शत्रु-राष्ट्रों से रक्षा के लिए भारत को एक शक्तिशाली सैनिक राष्ट्र भी बनना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भारत की आवाज तभी बुलन्द रह सकेगी जब सैनिक दृष्टि से भी वह सुदृढ हो। *भारत की किसी प्रकार की आक्रामक या विस्तारवादी* महत्त्वाकांक्षा नही है, लेकिन आत्म-रक्षा के लिए सैनिक सुदृढ़ता अनिवार्य है।

राष्ट्रीय हित

विदेश नीति का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता। यह राष्ट्रीय हितों के क्रियात्मक विचारों का परिणाम होती है। भारत की विदेश नीति मे राष्ट्रीय हित को सदैव सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है और दिया जाता रहेगा। राष्ट्रीय हित समय और परिस्थितियों के साथ परिवर्तित होते रहते हैं, अतः भारत

की विदेश नीति में कभी जड़ता नहीं आई है। भारत न किसी साम्राज्य का आकांक्षी है, न उसे अपने किसी उपनिवेश की रक्षा करनी है। भारत ने न अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवाद-माओवाद की क्रान्ति का बीड़ा उठाया है और न ही किसी विचारधारा अथवा शासन-प्रणाली के विरोध में कोई सैनिक संगठन स्थापित किया है। भारत का राष्ट्रीय हित तो इस बात मे निहित है कि राष्ट्र की एकता, अखण्डता और स्वतन्त्रता की रक्षा की जाए, देश में लोकतन्त्र को सुदृढ़ बनाया जाए, देश के नागरिकों को आर्थिक और सामाजिक न्याय प्रदान किया जाए एवं अन्य राष्ट्रों के साथ यथासम्भव मैत्री का विकास किया जाए। भारत ने स्वाधीनता के अपने 31 वर्षों में इन्हीं लक्ष्यों की साधना की है। बाह्य आक्रमण से रक्षा करना राष्ट्र के अस्तित्व की पहली शर्त है और इतिहास साक्षी है कि भारत ने देश पर आए हर संकट का मुँहतोड़ जवाब दिया।

गुट-निरपेक्षता और सह-अस्तित्व की नीति के प्रयोग का सर्वेक्षण (1947–1980)

सन् 1947 मे जब भारत का स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे उदय हुआ, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर दो विरोधी शक्तियाँ विद्यमान थी। अपनी परम्परा के अनुरूप भारत ने सभी शक्ति-गुटों से तटस्थ या पृथक् रहने और किसी का पिछलग्गू न बनने का निर्णय किया। प. नेहरू ने कहा था—"जहाँ तक सम्भव हो, हम उन शक्ति-गुटो से अलग रहना चाहते है जिनके कारण पहले भी महायुद्ध हुए हैं और भविष्य मे भी हो सकते है।"

किन्तु गुटों से पृथक् रहने की नीति का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे तटस्थता कदापि नहीं है। निश्चित रूप से इसका यह भी अर्थ नहीं है कि हम ससार की घटनाओं से उदासीन रह कर तमाशा देखते रहेंगे और दुनिया से कटे रहेगे। इसका मतलब है ऐसी स्पष्ट, क्रियात्मक तथा रचनात्मक नीति अपनाना जिससे ससार मे शान्ति स्थापना को बल मिले। वास्तव में सामूहिक सुरक्षा इसी पर निर्भर है। वस्तुतः गुट-निरपेक्षता का अर्थ है अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति का अनुसरण। गुटों से अलग रहने से हर प्रश्न के औचित्य-अनौचित्य को देखा जा सकता है। किसी गुट के साथ मिलकर, उचित-अनुचित का ख्याल किए बिना उसका अन्धानुकरण करना होता है।

गुट-निरपेक्षता की नीति पर कायरता का आरोप निराधार है। जो नीति स्वतन्त्रता, न्याय और मानव मूल्यो का अपमान न सह सकती हो, अन्याय के विरुद्ध शक्ति के प्रयोग से भी पीछे न हटती हो, हर कीमत पर राष्ट्रीय हित की रक्षा करने मे समर्थ हो, उसे कायरता की सज्ञा नहीं दी जा सकती। गुट-निरपेक्षता के सम्बन्ध मे पण्डित नेहरू के ये शब्द आज भी सजीव हैं—

"जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो अथवा जहाँ आक्रमण होता हो, वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।"

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से ही भारत ने जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सक्रिय भूमिका निभाई है, आर्थिक और सैनिक उपनिवेशवाद का विरोध किया है, जातिवाद और रंगभेद से लोहा लिया है, मुक्ति-आन्दोलनों को समर्थन दिया है, विश्व-संस्था के मंच से एशिया और अफ्रीका की आवाज को बुलन्द किया है, पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगलादेश) की जनता को पश्चिमी पाकिस्तान के अत्याचारों से मुक्त कर उसे स्वाधीन राष्ट्र के रूप मे उदय होने मे ऐतिहासिक भूमिका अदा की है, उन सबसे यही सिद्ध होता है कि गुट-निरपेक्षता निर्भीकता की नीति है, साहस और आत्म-विश्वास की नीति है, नैतिक मूल्यों की रक्षा करते हुए राष्ट्रीय हितों का पोषण करने की नीति है। गुट-निरपेक्षता और सह-अस्तित्व की नीति शान्तिवाद में विश्वास करती है, लेकिन अन्याय और आक्रमण के विरुद्ध तलवार उठाने में भी संकोच नहीं करती। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से कुछ प्रमुख घटनाचक्रों के प्रति भारत का जो रुख रहा उससे गुट-निरपेक्षता की नीति के कार्यान्वियन पर भली प्रकार प्रकाश पड़ सकेगा।

प्रारम्भिक अस्पष्टता (1947–1950)—स्वाधीनता प्राप्ति के तुरन्त बाद के कुछ वर्षों में भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति अस्पष्ट-सी रही। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे भारत का झुकाव पश्चिमी देशो की ओर रहा। इसके कई कारण थे—प्रथम, सुरक्षा के मामले मे भारत पूरी तरह पश्चिमी गुट पर आश्रित था; द्वितीय, भारतीय शिक्षित वर्ग की सहानुभूति ब्रिटेन और उसके साथी राष्ट्रों के साथ थी; तृतीय, भारत के तत्कालीन व्यापारिक सम्बन्ध केवल पश्चिमी देशो के साथ थे और देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सहायता मुख्यतः ब्रिटेन और अमेरिका से ही प्राप्त हो सकती थी; चतुर्थ, सोवियत संघ का कर्णधार स्टालिन था जो उग्र और दुराग्रही था और भारत के नेता आश्वस्त नही थे कि भारत-रूस सहयोग का विकास हो सकेगा।

उपर्युक्त परिस्थितियो मे सन् 1947 से 1950 तक भारत का झुकाव अमेरिका और पश्चिमी देशों के प्रति रहा। इसके समर्थन मे कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। विभाजित जर्मनी में एक को (पश्चिमी जर्मनी को) जो पश्चिमी-गुट से सम्बन्धित था कूटनीतिक मान्यता प्रदान की गई जबकि पूर्वी जर्मनी को मान्यता नही दी गई। भारत का यह तर्क वजनदार नही था कि पूर्वी जर्मनी को यदि मान्यता दी जाती तो इसका अर्थ जर्मनी के विभाजन को स्वीकार कर लेना होता। कोरिया-युद्ध के प्रारम्भ मे भी भारत का रुख कुछ पक्षपातपूर्ण सा रहा। अमेरिका और पश्चिमी देशों की भांति भारत ने भी तुरन्त उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित कर दिया जबकि वस्तु-स्थिति यह थी कि पश्चिमी देश आज तक अपने कथन के समर्थन में पूर्ण विश्वसनीय प्रमाण नहीं दे सके हैं। यह बहुत सम्भव है कि आक्रामक दक्षिणी कोरिया रहा हो। भारत का निर्णय कोण्डापी की रिपोर्ट पर आधारित था और यह रिपोर्ट उसके व्यक्तिगत विचारों से अत्यधिक प्रभावित थी।[1]

1 *Karunakar Gupta*: Indian Foreign Policy, p. 11.

कोरिया-युद्ध में बाद की भूमिका—भारत ने उत्तर कोरिया का आक्रामक घोषित करने में जल्दबाजी दिखाई, लेकिन कुल मिलाकर कोरिया-युद्ध के समय उसे दुनिया के सामने अपनी गुट-निरपेक्षता की नीति प्रदर्शित करने का पहला अवसर मिला। भारत ने उस समय युद्ध-बन्दियों को लौटाने के लिए तटस्थ राष्ट्रों के प्रत्यावर्तन आयोग के अध्यक्ष की हैसियत से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और एक अति कठिन कार्य को बड़ी सफलतापूर्वक पूरा कर दिखाया।

गुट-निरपेक्षता की नीति में निखार, रूस के साथ सम्बन्धों में सुधार का आरम्भ—कोरिया-युद्ध के बाद से ही भारत की विदेश नीति में अधिक निखार आने लगा। सोवियत सघ की तुलना में पश्चिमी देशों की ओर अधिक झुकाव की प्रवृत्ति कम होने लगी। सन् 1953 में स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत सघ मे कुछ उदार तत्त्वों का समावेश हुआ और भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को सोवियत नेता कुछ अधिक विश्वास और सम्मान की दृष्टि से देखने लगे। उधर अमेरिका ने पाकिस्तान को भारत के विरुद्ध शक्तिशाली बनाने की नीति पर अमल शुरू कर दिया। सन् 1954 मे अमेरिका और पाकिस्तान के बीच एक सैनिक सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत भारत के विरोध के बावजूद पाकिस्तान को विशाल पैमाने पर शस्त्रास्त्र देने का निर्णय किया गया। गोआ-समस्या के प्रति अमेरिका का रवैया भी भारतीय जनमत को विक्षुब्ध करने वाला था। विदेश सचिव जॉन फोस्टर डलेस ने सार्वजनिक रूप से गोआ में पुर्तगाल की उपनिवेशवादी सरकार का समर्थन किया। अमेरिका और उसके साथी पश्चिमी राष्ट्रों की वास्तविक सहानुभूति भारत के प्रति नहीं रही। भारतीय नेताओं ने इस स्थिति का मूल्यांकन किया और समझ लिया कि देश के लिए यही हितकर है कि भारत गुट-निरपेक्षता की नीति पर आरूढ़ रहे। पश्चिमी देशों की तुलना में सोवियत सघ के प्रति उदासीन रहना भारत के लिए हितकर था। सोवियत संघ ने गोआ के प्रश्न पर भारत का समर्थन किया और दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्धों में भी वृद्धि हुई। भारत को सोवियत संघ से ठोस आर्थिक सहायता भी प्राप्त होने लगी। इस तरह पश्चिम पर भारत की निर्भरता कम होती गई। दोनों गुटों से आर्थिक सहायता प्राप्त होते रहना भारत की गुट-निरपेक्ष नीति की सफलता की द्योतक थी। भारतीय प्रधान मन्त्री नेहरू को सोवियत रूस जाने और सोवियत नेता ख्रुश्चेव की भारत-यात्रा से भी रूस और भारत के बीच सहयोग मे वृद्धि हुई।

हिन्द-चीन का संकट—भारत की गुट-निरपक्ष नीति की उपयोगिता को प्रदर्शित करने का एक ठोस अवसर हिन्द-चीन सघर्ष के समय (फ्रांस और हिन्द-चीनी देशभक्तों मे) मिला। यद्यपि भारत जेनेवा कांफ्रेंस का सदस्य नहीं था, किन्तु शान्ति के लिए जो समझौता हुआ उसमे उसने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। सन् 1954 के जेनेवा समझौते को कार्यान्वित कराने में भारत का पूर्ण सहयोग रहा। हिन्द-चीन-विवाद के शान्तिपूर्ण हल के लिए भारत ने एक छः सूत्री योजना प्रस्तुत की। जेनेवा समझौते का पालन कराने के लिए जो अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग बना उसका भारत चेयरमैन बनाया गया।

पंचशील—गुट-निरपेक्षता की नीति द्वारा शान्ति-क्षेत्र-विस्तार के भारत के सकल्प का चरम उत्कर्ष सन् 1954 में हुआ, जब उसने सह-अस्तित्व के सिद्धान्त की घोषणा की। श्री नेहरू ने कहा—"गरम या ठण्डा चाहे जैसा युद्ध हो, इसका विकल्प शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व ही है।" 29 अप्रेल, 1954 को भारत और चीन के तिब्बत-क्षेत्र के बीच व्यापार और आवागमन आदि के बारे मे भारत-चीन समझौते द्वारा इस विचार को प्रतिष्ठा मिली और इसे विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त हुई। इस समझौते की प्रस्तावना मे 5 सिद्धान्तों का समावेश किया गया जो आगे चलकर 'पचशील' के नाम से विख्यात हुए। ये हैं—एक दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता तथा प्रभुसत्ता का सम्मान; अनाक्रमण; एक दूसरे के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करना; समानता तथा एक-दूसरे के हित का ध्यान और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व। इन सिद्धान्तों के बारे मे श्री नेहरू के ये शब्द आज भी सजीव है—"मैं समझता हूँ कि यदि इन सिद्धान्तों को सभी देश स्वीकार कर ले तो आज की दुनिया की बहुत-सी मुसीबतें शायद काफी हद तक दूर हो जाएँगी।"

अप्रेल, 1955 मे बाण्डुंग सम्मेलन मे पंचशील के इन सिद्धान्तों को पुन: विस्तृत रूप दिया गया। बाण्डुंग सम्मेलन के बाद विश्व के अधिसख्य राष्ट्रों ने पचशील के सिद्धान्तो को मान्यता दी और उसमे आस्था प्रकट की।

पंचशील के सिद्धान्तो की श्रेष्ठता से कोई इनकार नहीं कर सकता। प्रथम तीन सिद्धान्त घोषित करते हैं कि सभी राष्ट्रों को एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्चता का सम्मान करते हुए परस्पर आक्रमण और आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। चौथे सिद्धान्त का आशय है कि प्रत्येक राष्ट्रो को छोटे-बड़े सभी राज्यो के साथ समानता का व्यवहार करते हुए पारस्परिक हितो को आगे बढ़ाना चाहिए। पाँचवां शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त तो आधुनिक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की माँग है। सह-अस्तित्व को ठुकराने का विकल्प केवल महविनाश ही हो सकता है। विभिन्न पद्धति वाले राष्ट्रो मे शान्तिपूर्ण और रचनात्मक प्रतियोगिता चल सकती है, विनाशक प्रतियोगिता नही।

पचशील के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए नि:सन्देह आदर्श भूमिका का निर्माण करते हैं, पर इनका मूल्य तभी है जब विश्व के राष्ट्र इनमे व्यावहारिक आस्था रखे। एक राष्ट्र तो इनका पालन करे और दूसरा राष्ट्र इन्हें ठुकराए तो बात नही बन सकती। भारत पर पाकिस्तान और चीन के आक्रमण यह सिद्ध कर चुके है कि केवल शब्द-जाल से ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना नहीं की जा सकती। किन्तु हमें यह नही भूलना चाहिए कि किसी सिद्धान्त का यदि कोई पालन न करे तो इसमे सिद्धान्त का दोष नही है। यह तो अपनी इच्छा पर है कि हम किसी आदर्श की रक्षा करें या उसे ठुकरा दें। पंचशील के सिद्धान्त पारस्परिक विश्वास के सिद्धान्त हैं और यदि पारस्परिक विश्वास की भावना ही किसी को पसन्द न हो तो क्या किया जा सकता है।

यदि भारत-भूमि पर आक्रमण होता है, भारत की अखण्डता पर आघात होता है, भारत की प्रभुता को हानि पहुँचाई जाती है, भारत की मैत्री-भावना को कमजोरी का चिह्न समझा जाता है तो पंचशील के सिद्धान्त यह नही कहते कि भारत अपने हितों की रक्षा के लिए सन्नद्ध न हो। पंचशील के सिद्धान्त वे आदर्श हैं जिन्हें व्यावहारिक जीवन में उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। इनसे हमें नैतिक शक्ति मिलती है और नैतिकता के बल पर हम न्याय और आक्रमण का प्रतिकार कर सकते है। पाकिस्तान के आक्रमणों का मुँह तोड़ उत्तर देकर भारत ने जहाँ अपने मान-सम्मान की रक्षा की है, वहाँ पहले ताशकन्द समझौते और फिर शिमला समझौते द्वारा अपनी दोस्ती का हाथ बढ़ा कर उसने पचशील के सिद्धान्तों मे आस्था भी प्रदर्शित की है।

हंगरी की घटना, 1955 तथा स्वेज-सकट, 1956—इन दोनो घटनाओं के सन्दर्भ मे भारत की भूमिका ने उसकी गुट-निरपेक्षता की पुष्टि की। सन् 1955 मे हंगरी मे सोवियत संघ के हस्तक्षेप पर भारत ने नैतिक विरोध प्रकट कर यह सिद्ध कर दिया कि वह अपने स्वतन्त्र निर्णय में किसी गुट से प्रभावित नहीं है। इस घटना से दोनों देशों के सम्बन्धों मे कुछ तनाव अवश्य पैदा हो गया, लेकिन वह अल्पकालिक ही रहा क्योंकि सोवियत संघ इस बात को समझ गया कि भारत का कार्य अमैत्रीपूर्ण नही था। दोनों देशो के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के विकास में कोई विशेष उलझन पैदा नहीं हुई और दोनों के बीच आर्थिक तथा राजनीतिक सहयोग बढ़ता चला गया।

सन् 1956 में स्वेज पर ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल के आक्रमण की संसार भर में भारी प्रतिक्रिया हुई। भारत सरकार ने एंग्लो-फ्रैंच आक्रमण की तीव्र आलोचना की और आक्रमण को समाप्त करने तथा मिस्र से आक्रमणकारी सेना को हटाने के मामले में सोवियत संघ के साथ पूर्ण सहयोग किया। इस संकट के समाधान मे भारत की भूमिका बडी महत्त्वपूर्ण थी। अन्त मे जो समझौता हुआ उसमें वही सिद्धान्त थे जो भारत ने सुझाए थे।

चीन का आक्रमण, 1962—नवम्बर, 1962 में भारत पर चीन का विश्वासघाती आक्रमण हुआ और गुट-निरपेक्षता की नीति की अग्नि-परीक्षा हुई। अधिकांश क्षेत्रों में यह माँग की जाने लगी कि गुट-निरपेक्षता की नीति असफल हो चुकी है, अतः इसका यथाशीघ्र परित्याग होना चाहिए। लेकिन प्रधान मन्त्री नेहरू ने स्पष्ट घोषणा की कि भारत अपनी गुट-निरपेक्षता की नीति पर आरूढ़ होगा। आकस्मिक आक्रमण के कारण भारत को कुछ गम्भीर सैनिक पराजयों का सामना करना पड़ा। भारत की अपील पर अमेरिका तथा ब्रिटेन से काफी मात्रा मे सैनिक सामग्री प्राप्त की गई। विरोधियो ने आरोप लगाया कि भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति अव्यावहारिक है क्योंकि एक ओर तो भारत साम्यवादी गुट के प्रमुख सदस्य चीन के साथ युद्धरत है और दूसरी ओर उसका सामना करने के लिए अमेरिकी गुट से सैनिक सहायता ले रहा है। पण्डित नेहरू विरोधियों के सामने परास्त नहीं

हुए। चीन का आक्रमण उनके लिए एक गहरा आघात था, लेकिन उन्होंने गुट-निरपेक्षता की नीति में दृढ़ विश्वास प्रकट किया। उनका सबल तर्क यह था कि आक्रमणकारी का मुकाबला करने के लिए भारत ने जो भी शस्त्रास्त्र की सहायता ली है, उसके साथ किसी प्रकार की राजनीतिक या अन्य शर्त नहीं है। किसी बन्धनमुक्त सहायता लेने का अभिप्राय गुट-निरपेक्षता की नीति से दूर हटना नहीं कहा जा सकता। पण्डित नेहरू ने यह भी कहा कि यदि इस नीति का परित्याग कर दिया गया तो भारत और चीन का सीमा-संघर्ष शीतयुद्ध का एक अंग बन जाएगा और भारत-चीन विवाद का कोई शान्तिपूर्ण समाधान नहीं निकल सकेगा। उन्होंने आगे कहा कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि गुटों की नीति कभी भी सही रूप में फलदायक नहीं हो सकी है। अमेरिका के समर्थन के बावजूद न तो कोरिया और जर्मनी का एकीकरण हो सका है और न ही पाकिस्तान को कश्मीर मिल सका है। इसलिए यह आशा करना निरी मूर्खता होगी कि यदि भारत पाश्चात्य राष्ट्रों के गुट में या साम्यवादी गुट में मिल गया तो इसे उसके खोए हुए प्रान्त वापस मिल जाएँगे। भारत सरकार की ओर से एकदम स्पष्ट कर दिया गया कि देश अपनी रक्षा के लिए सभी मित्र राज्यों से सहायता लेगा, परन्तु गुट-निरपेक्षता की नीति का परित्याग नहीं करेगा।

पाकिस्तान का आक्रमण, 1965—सितम्बर, 1965 में भारत और पाकिस्तान के युद्ध में गुट-निरपेक्षता की नीति की शक्ति एक बार फिर सही सिद्ध हुई। पाकिस्तान सीएटो और सैंटो जैसे शक्तिशाली सैनिक गुटों का सदस्य होने पर भी किसी से कोई प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त नहीं कर सका। टर्की और ईरान ने उसे सैनिक सहायता देने का आश्वासन तो दिया, किन्तु अन्य राज्यों के विरोध के कारण पाकिस्तान की सहायतार्थ स्वयं नहीं आए। इस युद्ध से पाक दृष्टिकोण के बारे में यह सिद्ध हो गया कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए गुटों में सम्मिलित होने की नीति गलत है। बात यहीं तक सीमित नहीं रही। पाकिस्तान के बहुत बड़े समर्थक संयुक्तराज्य अमेरिका ने भारत और पाकिस्तान दोनों पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिए और यह घोषणा की कि जब तक दोनों पक्ष युद्ध बन्द नहीं कर देंगे तब तक उन्हें किसी भी प्रकार की सैनिक सहायता नहीं दी जाएगी। स्पष्ट ही अमेरिका ने अपनी इस घोषणा द्वारा एक साथी-राज्य और गुट-निरपेक्ष राज्य को एक ही कोटि में रखा। जब गुटों में सम्मिलित होने से पाकिस्तान को भी लाभ नहीं पहुँच सका तो फिर भारत को लाभ पहुँचने की क्या आशा की जा सकती थी। वास्तव में यह गुट-निरपेक्षता की नीति का ही परिणाम था कि संकट की अवस्था में भारत को अनेक क्षेत्रों से पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ और युद्ध के समय उसकी कूटनीतिक स्थिति किसी तरह कमजोर नहीं हुई। सुरक्षा परिषद् में युद्ध पर बहस के दौरान भी सोवियत संघ से उसे पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ। भारत-पाक युद्ध ने असंलग्नता की नीति को [illegible] सिद्ध कर दिया।

वास्तव में 27 मई, 1964 को भारत के महान् नेता श्री नेहरू की मृत्यु के बाद यह आशंका व्यक्त की गई थी कि भारत गुट-निरपेक्षता की नीति पर नहीं चल पाएगा, लेकिन उनके उत्तराधिकारी श्री लालबहादुर शास्त्री ने इस प्रकार की आशंकाओं को निर्मूल सिद्ध कर दिया। न केवल युद्ध-काल में बल्कि युद्ध के बाद भी ताशकन्द समझौते के माध्यम से गुट-निरपेक्षता की नीति की पुष्टि हुई। समझौते से भारत को काफी हानि हुई तथापि वह भारत की गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का परिचायक था। श्री शास्त्री अपने अल्प प्रधानमन्त्रित्व काल मे किसी भी महाशक्ति के दबाव मे नही आए। उन्होने अपने देश की स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति को प्रतिष्ठा प्रदान की।

श्रीमती गांधी के नेतृत्व में गुट-निरपेक्षता की नीति (1966–मार्च, 1977)—जनवरी, 1966 में श्री शास्त्री के आकस्मिक निधन के बाद पण्डित नेहरू की इकलौती पुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने प्रधान मन्त्री पद सँभाला और उनके नेतृत्व मे भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति और भी सशक्त रूप में निखरी। श्रीमती गांधी ने गुट-निरपेक्षता की नीति के आधारभूत सिद्धान्तो की रक्षा करते हुए अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार उसे बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों मे सफलतापूर्वक सचालित किया। विभिन्न दबावो के बावजूद श्रीमती गांधी किसी भी महाशक्ति अथवा गुट-विशेष के प्रभाव से दूर रहीं। आवश्यकतानुसार उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रों की भी आलोचना की और सोवियत सघ की भी। अमेरिका की अप्रसन्नता के बावजूद वियतनाम मे भारत ने अपनी पूर्ववर्ती नीति जारी रखी तो चैकोस्लोवाकिया की घटना पर भारत रूसी कार्यवाही के विरुद्ध अपना गहरा क्षोभ प्रकट करने से नही चूका।

प्रारम्भ से ही अमेरिका ने श्रीमती गांधी के प्रति दबाव की नीति अपनायी लेकिन वह उन्हे अपनी धमकियों मे नही ला सका। बगलादेश के सन्दर्भ मे श्रीमती गांधी ने अमेरिका को कूटनीतिक पराजय दी तो दूसरी ओर रूस के मैत्रीपूर्ण रुख का स्वागत किया। रूस के साथ अगस्त, 1971 मे मैत्री-सन्धि की गई, लेकिन गुट-निरपेक्षता और स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति पर आँच नहीं आने दी। सन्धि की धारा 4 मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि सोवियत संघ भारत की गुट-निरपेक्ष नीति को स्वीकार करता है और उसे विश्व-शान्ति के लिए उपयोगी मानता है। सन्धि के सभी अनुच्छेदों की शब्दावली शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की विचारधारा को पुष्ट करने वाली, सैनिक गठबन्धनो का विरोध करने वाली तथा विवादों को 'पारस्परिक सम्मान और सूझबूझ द्वारा द्वि-पक्षीय ढंग से' निपटाने की समर्थक है। सन्धि सम्पन्न होने के उपरान्त अभी तक दोनो पक्षों की ओर से ऐसी कोई बात नहीं हुई है जो गुट-निरपेक्षता के विपरीत हो या किसी भी रूप में सैनिक गठबन्धन को समर्थन देती हो। दिसम्बर, 1971 मे बगलादेश के प्रश्न पर जो भारत-पाक युद्ध हुआ उसने गुट-निरपेक्षता की नीति को पुनः सही सिद्ध कर दिया, पाकिस्तान को हथियार देने वाले, पाकिस्तान को अँगूठा दिखा गए और देखते-देखते पाकिस्तान अपने एक भू-खण्ड को अपनी ही मूर्खता से खो बैठा।

उत्तर-वियतनाम के साथ जनवरी, 1979 में दौत्य सम्बन्धों की घोषणा कर श्रीमती गांधी ने अपनी स्वतन्त्र नीति का परिचय दिया। अक्तूबर, 1973 मे चौथा अरब-इजरायल युद्ध छिड़ने पर भारत का स्पष्ट मत रहा कि तनाव का मूल कारण इजरायल का अड़ियल रुख था। चूंकि अरबों का असन्तोष विस्फोटक सीमा तक पहुँच चुका था, अतः युद्ध के दायित्व के लिए उन्हें दोषी नहीं माना जा सकता। भारत का दृष्टिकोण यह था कि इजरायल अरब क्षेत्र से हट जाए, इजरायल को प्रभुत्वसम्पन्न देश के रूप में जीवित रहने का अधिकार प्राप्त हो और फिलिस्तीनी जनता के अधिकारों का समुचित समाधान खोजा जाए। भारत का यह दृष्टिकोण सन्तुलित और निष्पक्ष था और पहले ही की भाँति गुट-निरपेक्ष नीति के अनुरूप था। युद्ध के बाद अरबों ने अपने 'तेल-अस्त्र' का प्रयोग कर विश्व के देशों के लिए विशेष-कर अल्प-विकसित राष्ट्रों के लिए—संकट उत्पन्न कर दिया। भारत के प्रति भी कोई रियायत नहीं की गई। एक मित्रदेश के प्रति इस प्रकार के व्यवहार से भारतीय लोकमत काफी क्षुब्ध हो गया, किन्तु फिर भी भारत अरबों को अपना कूटनीतिक समर्थन देता रहा। अप्रैल, 1975 मे कम्बोडियाई और वियतनामी युद्ध की समाप्ति और वहाँ से अमेरिका की लज्जाजनक पराजय ने भारत के इस मत की पुष्टि की कि बड़े राष्ट्रों को दूसरे देशों के घरेलू मामलों मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और यदि छोटे देश गुट-निरपेक्ष नीति का अनुसरण करें तो इस प्रकार के हस्तक्षेप से बहुत कुछ बचा जा सकता है। पाकिस्तान और चीन के साथ सम्बन्ध सामान्य करने के लिए सन् 1976 मे भारत ने जो पहल की वह इस नीति के प्रयोग का पुनः स्पष्ट प्रमाण था। 24 मई, 1976 को संसद् मे विदेश मन्त्रालय के कार्यों पर बहस के समय आम तौर से स्वीकार किया गया कि भारत और पाकिस्तान के बीच *राजनयिक सम्बन्ध पुनः कायम करने तथा चीन के साथ राजनयिक सम्बन्धों* का दर्जा बढ़ाने का निर्णय भारत की विदेश नीति की प्रभावशाली उपलब्धि है। जुलाई, 1976 मे भारत-पाक के बीच विधिवत् राजदूत स्तर पर सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गए और 20 सितम्बर, 1976 को जनवादी चीन गणराज्य के राजदूत श्री चेन चाऊ युवान ने भारत के राष्ट्रपति को अपना परिचय-पत्र प्रस्तुत कर दिया।

श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में गुट-निरपेक्षता की नीति (1977-80)—प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने अपनी सरकार द्वारा गुट-निरपेक्षता और सह-अस्तित्व की नीति का अनुसरण करते रहने की घोषणा की। कुछ राजनीतिक क्षेत्रों में यह महसूस किया जा रहा था कि नई सरकार सामयिक समस्याओं पर तटस्थ राष्ट्रों के दृष्टि बिन्दु के प्रति मित्रतापूर्ण दृष्टिकोण नहीं रखेगी, गुट-निरपेक्षता की नीति पर पहले की भाँति न चलकर अमेरिका परस्त हो जाएगी, आदि। लेकिन प्रधान मन्त्री श्री देसाई और विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने इन भ्रान्तियों को दूर कर दिया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि भारत की विदेश नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होगा। अप्रैल, 1977 में नई दिल्ली मे 25 राष्ट्रों के तटस्थ सम्मेलन में नई सरकार की घोषणा की जाँच हुई। 25 सदस्यों के ब्यूरो को सम्बोधित करते हुए

ने स्पष्ट शब्दो में कहा कि गुट-निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा बन गई है। भारत के लिए यह राष्ट्रीय मतैक्य की बात है और भारत सच्चे अर्थ में गुट-निरपेक्ष रहेगा। विदेश मन्त्री ने कहा कि कोलम्बो शिखर सम्मेलन के निर्णय को ठोस और समन्वित ढग से क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि गुट-निरपेक्ष देशों के समक्ष आज चुनौती इस बात की है कि अपनी सामूहिक आकांक्षाओ की पूर्ति के लिए उनमे कितनी प्रबल शक्ति है, कितनी समन्वय शक्ति है, कितनी आपस में बांट लेने की शक्ति है और यदि आवश्यकता पड़ जाए तो सामूहिक प्रयास और आत्म-विश्वास के माध्यम से इन्हें प्राप्त कर लेने के लिए कितना त्याग करने की शक्ति है। भारत का यह विश्वास है कि विकासशील देशों को पारस्परिक सहयोग तथा आत्मविश्वास के माध्यम से अपने हितों की रक्षा करनी चाहिए, लेकिन यह भी आवश्यक है कि पारस्परिक लाभ पर आधारित न्यायोचित अन्योन्याश्रयता विकसित की जाए जिससे ऐसी नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के द्वार खुलें जिसमे समग्र शान्ति और समृद्धि पर आधारित आर्थिक और राजनीतिक स्थिरता की नींव रखी जा सके।

नई सरकार के नेतृत्व मे जून, 1979 की समाप्ति तक यह बात निःसंदिग्ध रूप में स्पष्ट हो गई है कि भारत गुट-निरपेक्षता की नीति पर दृढ है। विश्व के समक्ष निर्गुट नीति की अनिवार्यता में कोई सन्देह नही रहा। निर्गुट-नीति पर चलते हुए ही महाशक्तियों के साथ भारत के सम्बन्धों मे तेजी से सुधार हो रहा है और रूस तथा अमेरिका के शीर्षस्थ नेतृत्व ने भारत की तथा भारत के शीर्षस्थ नेतृत्व ने दोनों देशों की यात्राएँ की हैं। जून, 1979 में प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने सोवियत संघ की यात्रा में पारस्परिक सहयोग के कुछ समझौते सम्पन्न किए। विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने विदेशों मे भारत की गुट-निरपेक्ष नीति की साख जमाई। जनवरी, 1980 में श्रीमती गांधी पुनः सत्तारूढ हो गई और भारत सरकार की गुट-निरपेक्षता की नीति जारी रही। कांग्रेस और गैर-कांग्रेस दोनों ही सरकारो के शासनकाल में गुट-निरपेक्षता की नीति को निखारा गया जिससे यह बात स्पष्ट हो गई कि गुट-निरपेक्षता की सार्थकता को न सिर्फ अनुभव में ही अधिकाधिक रूप मे सार्थक सिद्ध किया है बल्कि कभी जो इसके कट्टर विरोधी थे वे भी आज की खतरनाक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में उसकी सार्थकता और आवश्यकताओं के कायल नजर आते हैं। श्रीमती गांधी के वर्तमान नेतृत्व-काल में भारत सरकार की गुट-निरपेक्षता की नीति और अधिक सक्रिय और सशक्त बनी है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी है।

उल्लेखनीय है कि भूतपूर्व विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने अक्तूबर, 1977 मे सयुक्त राष्ट्रसघ में एक भाषण दिया था जो भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के सम्बन्ध में विशेष महत्त्वपूर्ण है। अतः यह उचित होगा कि हम श्री वाजपेयी के उस नीति सम्बन्धी भाषण के प्रमुख अंशों को उद्धृत करें जो अक्तूबर, 1977 में दिया गया था। इसके पश्चात् हम भारत सरकार के विदेश

मन्त्रालय की 1979–80 की रिपोर्ट की प्रस्तावना प्रस्तुत करेंगे जिससे देश की गुट-निरपेक्ष नीति के निष्पादन का और अच्छा प्रकाश पड़ सकेगा ।

संयुक्तराष्ट्र महासभा में विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी का नीति सम्बन्धी भाषण

न्यूयॉर्क मे 4 अक्तूबर, 1977 को सयुक्त राष्ट्र महासभा को सम्बोधित करते हुए विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने जो भाषण दिया, उसके नीति सम्बन्धी कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

"महासभा के इस 32वें अधिवेशन के अवसर पर मैं संयुक्त राष्ट्रसंघ मे भारत की दृढ़ आस्था को पुन: व्यक्त करना चाहता हूँ। हमारा विश्वास है कि सयुक्त राष्ट्रसघ विश्व मे शान्ति और सुरक्षा कायम रखने और राष्ट्रो के बीच सहयोग के माध्यम से समानता, न्याय और समता पर आधारित शान्तिपूर्ण प्रगति को प्रोत्साहित करने का उपकरण बनेगा।"

"जनता सरकार शान्ति, गुट-निरपेक्षता और सब देशो के साथ मैत्री की नीति का दृढता से अनुसरण कर रही है। ये नीतियाँ सदा से भारत के राष्ट्रीय मतैक्य और परम्परा पर आधारित रही हैं। गुट-निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे राष्ट्रीय सम्प्रभुता का विस्तार है। इसका मूल तत्त्व तटस्थता न होकर स्वाधीनता है जो उपनिवेशवाद के विरुद्ध हमारे राष्ट्रीय सघर्ष और दासता तथा दमन से मानव-चेतना की मुक्ति का सहज परिणाम है। हम राष्ट्रों की सच्ची स्वतन्त्रता मे विश्वास रखते हैं। हमारी मान्यता है कि हर देश को अपने सर्वोत्तम राष्ट्रीय हितो के अनुकूल नीति का अनुसरण करने तथा प्रत्येक समस्या पर गुणो के आधार पर विचार करने तथा निर्णय लेने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।"

"नई सरकार के शासन सम्भालते ही न केवल गुट-निरपेक्षता के मार्ग पर चलते रहने की अपितु उसके मौलिक तथा सकारात्मक रूप को पुन: प्रतिष्ठित करने की घोषणा की। यह सन्तोष का विषय है कि वास्तविक गुट-निरपेक्षता पर हमारे द्वारा दिए गए जोर और इस नीति को उत्साह और गतिशीलता से आगे बढ़ने के हमारे निर्णय को सही अर्थों मे देखा और समझा गया है।"

"वसुधैव कुटुम्बकम्' की परिकल्पना पुरानी है। भारतवर्ष में सदा से हमारा इस धारणा मे विश्वास रहा है कि संसार एक परिवार है। अनेकानेक प्रयत्नों और प्रयोगो के बाद सयुक्त राष्ट्रसघ के रूप मे इस स्वप्न के अब साकार होने की सम्भावना है क्योंकि संयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता लगभग विश्वव्यापी हो गई है और वह 400 करोड़ लोगो का जो विभिन्न जातियो, रगों और समुदायों के हैं, प्रतिनिधित्व करता है, तथापि यह आवश्यक है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ केवल सरकारी प्रतिनिधि-मण्डलो का मिलन मंच मात्र न रहे। हमे इस लक्ष्य को ध्यान में रखना चाहिए किसी प्रकार राष्ट्रों की महासभा मानवता के सामूहिक विवेक और इच्छा प्रतिनिधित्व करने वाली मानव की संसद का रूप ले सके।"

"संयुक्त राष्ट्रसंघ का घोषणा-पत्र केवल राष्ट्रों की ओर से या राष्ट्रों के लिए किया गया आह्वान मात्र नही है। यह संसार के समस्त लोगों द्वारा किया गया उद्घोष है कि अपनी भावी पीढ़ियों की युद्ध की विभीषिका से रक्षा की जाए और वास्तविक स्वतन्त्रता के वातावरण एक नई विश्व-व्यवस्था की रचना की जाए।"

"हमारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निरन्तर सर्वोच्च स्थान मनुष्य, उसके सुख और कल्याण तथा मानव की आधारभूत एकता को मिलना चाहिए। मेरा अभिप्राय किसी आकृतिहीन मानव से नहीं है जो अतीतकाल से निरंकुशता को थोपने का बहाना रहा है, मेरा मतलब जीते-जागते मानव से है। उसकी संवेदनाएं और अपेक्षाएँ, उसका सुख और दु:ख हमारे प्रयत्नो का केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए।"

"हम विश्व-शान्ति के, ऐसी शान्ति के जो जीवन्त है, प्रबल समर्थक हैं। विश्व-शान्ति हमारे सब प्रयत्नों की आधारशिला है। शान्ति की परिभाषा केवल युद्ध न होना मात्र ही नही है। विश्व-शान्ति का ताना-बाना किसी समय भी छिन्न-भिन्न हो सकता है। उसका संरक्षण तो केवल उन सामूहिक प्रयत्नों से हो सकता है जो राष्ट्रों के बीच विद्यमान असमानता और असन्तुलन को मिटा सकें, एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के प्रभुत्व और शोषण का अन्त कर सकें, और संसार के समस्त लोगो को समानता के आधार पर अवसर और अधिकार प्रदान कर सकें।"

"नि:सन्देह हर देश अपने राष्ट्रीय हितो का संरक्षण और संवर्धन करना चाहता है। पर कोई देश सबसे अलग-थलग होकर अपनी चाहरदीवारी के भीतर नही रह सकता। हमें यह समझना होगा कि विश्व के देशो में पारस्परिक निर्भरता के अतिरिक्त कोई और चारा नहीं है। इसी मे विश्व के मानव का कल्याण है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम सब अपने-अपने राष्ट्रीय क्षितिजों के पार दृष्टि दौड़ाएं। पारस्परिक सहकारिता और त्याग की प्रवृत्ति को बल देकर ही मानव-समाज प्रगति और समृद्धि का पूरा-पूरा लाभ उठा सकता है।"

"अध्यक्ष महोदय, महासभा के समक्ष जो कार्यसूची है उसमें संसार की कई महत्त्वपूर्ण समस्याएँ सम्मिलित हैं। मैं इनमे से कुछ ऐसे विशिष्ट प्रश्नों का उल्लेख करना चाहूँगा जिनका तात्कालिक महत्त्व है और जिनको हमारे इस सामूहिक विचार-विनिमय में प्राथमिकता दी जानी चाहिए।"

"हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या दक्षिणी अफ्रीका में मानव अधिकारों और स्वतन्त्रता के लिए हो रहे महान् संघर्ष की है। भारत ने सदैव ही राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे अनावश्यक रक्तपात और हिंसा का विरोध किया है। हम अहिंसा मे आस्था रखते है और चाहते हैं कि विश्व के संघर्षों का समाधान शान्ति और समझौते के मार्ग से हो। पराधीनता के अन्धकारपूर्ण काल मे भी भारत कतिपय आधारभूत सिद्धान्तों पर दृढ था। ये सिद्धान्त थे औपनिवेशवाद का तीव्र विरोध और रंगभेद के प्रत्येक रूप तथा मानव-अधिकारो के प्रत्येक हनन की पूर्ण अस्वीकृति। इन सिद्धान्तो के प्रति स्वतन्त्र भारत की श्रद्धा आज भी अधिक गहरी है।"

"अफ्रीका में चुनौती स्पष्ट है। प्रश्न यह है कि किसी जनता को स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा से रहने का अपरिहार्य अधिकार है या रंगभेद में विश्वास रखने वाला अल्पमत किसी विशाल बहुमत पर हमेशा अन्याय और दमन करता रहेगा। निःसंदेह रंगभेद के सभी रूपों का जड़ से उन्मूलन होना चाहिए। रंगभेद निश्चित रूप से समाप्त होना चाहिए। इसका अस्तित्व मानवता पर कलंक और संयुक्त राष्ट्रसंघ पर गम्भीर आक्षेप है।"

"भारत चाहता है कि जिम्बाब्वे की समस्या का शान्तिपूर्ण ढंग से अतिशीघ्र समाधान हो। भारत ने इसी सन्दर्भ में आँग्ल अमेरिकी प्रस्तावों के उन अंशों का स्वागत किया है जो विशिष्ट समयावधि में वास्तविक बहुमत शासन की स्थापना की ओर इंगित करते हैं। आशा है कि इस विषय पर हाल ही में सुरक्षा परिषद् में स्वीकृत प्रस्ताव से युद्ध-विराम होगा और अन्ततोगत्वा समस्या का समाधान निकलेगा। यह अधिकांश इस बात पर निर्भर है कि इयान स्मिथ का अवैधानिक शासन दुराग्रह और अकड़ त्यागने तथा विवेकशील दृष्टिकोण अपनाने को तैयार है या नहीं।"

"जब तक स्मिथ सरकार हटा नहीं दी जाती और जब तक लम्बे समय से त्रस्त जनता को स्वाधीनता पुनः प्राप्त नहीं हो जाती, हम यह कैसे आशा कर सकते हैं कि स्वतन्त्रता के सेनानी अपने हथियार रख देंगे। भारत जिम्बाब्वे में अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत देशभक्त-शक्तियों के प्रति अपने ठोस समर्थन की पुनः पुष्टि करता है जो अत्यन्त विषम परिस्थितियों में अपनी मुक्ति के लिए बहादुरी से संघर्ष कर रहे हैं। अगर सत्तारूढ़ बने रहने के निष्फल प्रयास में इयान स्मिथ विश्व-जनमत की जानबूझ कर अवहेलना करेगा तो संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपने समस्त अधिकारों का प्रयोग कर अवैधानिक और अल्पमत वाली सत्ता और उसके समर्थक दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध अनिवार्य प्रतिबन्धों को अधिक व्यापक बनाना होगा। इसी से अवैधानिक शासन का अन्त निकट आएगा और जिम्बाब्वे की जनता को अपने भाग्य के स्वयं निर्णय का अधिकार प्राप्त होगा।"

"नामीबिया में भी, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र का स्तर प्राप्त है, संयुक्त राष्ट्रसंघ की सत्ता, विश्वसनीयता और प्रतिष्ठा को चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। अभी यह देखना शेष है कि पाश्चात्य देशों के प्रयत्न दक्षिण अफ्रीकी सरकार को नामीबिया छोड़ने के लिए कहाँ तक तैयार करते हैं ताकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव क्रियान्वित हो सकें। वालविस बे को, जो नामीबिया का एक भाग है, में स्मिथ के प्रान्त में शामिल करने के दक्षिण अफ्रीका के निर्णय की हम निन्दा करते हैं। उसी तरह नामीबिया के एक क्षेत्र का अणु परीक्षण के लिए कथित उपयोग करने की योजना की भी हम भर्त्सना करते हैं।"

"हम पूर्ण रूप से स्वापो (दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीकी जन संस्था) के साथ हैं और सभी देशों को उनके प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप को स्वीकार करने ... करते हैं। यदि स्वतन्त्रता प्राप्ति का यही एक मात्र उपाय रह जाता ... नामीबिया की जनता से यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि वह ...

"इसमें सन्देह नही कि विकसित देशो की अपनी आन्तरिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ हैं। लेकिन उनके लिए अपने दृष्टिकोणों और नीतियों को तात्कालिक तथा सकीर्ण राष्ट्रीय हितों के ऊपर उठाना आवश्यक है। यह पूछा जा सकता है कि क्या विकसित देशों के आर्थिक ढांचे की समस्याओं के समाधान का युक्तिसंगत और प्रबुद्ध उपाय यह नहीं है कि इन देशों से विकासशील देशों में विशिष्ट मात्रा में वित्तीय और प्रौद्योगिक क्षमता का स्थानान्तरण किया जाए। समृद्ध देशो की वेरोजगारी और आर्थिक उथल-पुथल का समुचित समाधान संसार के तीन अरब लोगों की क्रय-शक्ति मे वृद्धि होने पर ही हो सकता है।"

"*भारत ने इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विमर्श में उत्साह और* ईमानदारी से भाग लिया है। हमारी मान्यता रही है कि संसार के आर्थिक रोगो का निवारण सघर्ष की भावना को बल देने से नही, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक निर्भरता और सहयोग की नई भावना जाग्रत करने से होगा।"

"भारत सब देशों से मैत्री चाहता है और किसी पर प्रभुत्व नहीं चाहता। जनता सरकार सभी देशो के साथ स्नेह, सहयोग और समझदारी के सेतु निर्माण करने के लिए सक्रिय है। सर्वप्रथम हमारा ध्यान निकटस्थ पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध सुदृढ करने की ओर गया है। मैं यह मैत्री-सन्देश लेकर हाल ही में नेपाल, बर्मा और अफगानिस्तान गया था। पाकिस्तान के साथ सम्बन्धो को सामान्य बनाने की *प्रक्रिया को हम सुदृढ़ करना चाहते है जिससे न केवल स्थायी शान्ति कायम हो* बल्कि लाभदायक सहयोग मे भी वृद्धि हो।"

"चार दिन पूर्व 30 सितम्बर, 1977 को भारत और बगलादेश के प्रतिनिधियों ने गगाजल की समस्या पर हुए एक समझौते पर प्रथम हस्ताक्षर किए हैं। यह एक व्यापक समझौता है जिसमे अल्पकालीन समस्या का समाधान किया गया है और दीर्घकालीन समस्या के समाधान की नींव डाली गई है। इससे दोनो देशों की समुचित आवश्यकताओ की पूर्ति हो सकेगी।"

"पिछले एक वर्ष में दक्षिण एशिया के देशों में अनेक राजनीतिक परिवर्तन हुए है। फिर भी इन देशों के लोगो को इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि दक्षिण एशिया पिछले कई दशकों की अपेक्षा आज तनाव से अधिक मुक्त है। यदि सचमुच दक्षिण एशिया मे शान्ति और सहयोग का मार्ग प्रशस्त हो जाए, तो हम सब, जिन पर विकास का समान बोझ है, अपने विकास की ओर अधिक ध्यान दे सकेंगे और अपने ससाधनो को विनाश से हटाकर विकास मे लगा सकेंगे।"

"वस्तुतः हम यह विशेष अपील करते हैं कि हमारे चारो तरफ के हिन्द-*महासागर के विशाल क्षेत्र को बड़ी शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता और सैनिक अड्डों से* मुक्त रखा जाए जिनका उपयोग आक्रमण के लिए हो सकता है। विस्तृत परिप्रेक्ष्य मे भारत तनाव-शैथिल्य के प्रयत्नो का स्वागत करता है। भारत चाहता है कि तनाव-शैथिल्य केवल यूरोप तक ही सीमित न रहकर विश्वव्यापी हो और लाभ विश्व के सब देशो और लोगों को प्राप्त हों।"

"वर्षानुवर्ष संयुक्त राष्ट्र में अनगिनत प्रस्ताव पारित किए गए हैं जिनमे पूर्ण निःशस्त्रीकरण, विशेषकर आणविक निःशस्त्रीकरण की मांग की गई है। अणु शस्त्रों की दौड़ बहुत भयावह स्थिति मे पहुँच गई है। विनाशकारी हथियारो के अम्बार ने संसार को भारी दुविधा मे डाल दिया है। हमसे कहा जाता है कि युद्ध रोकने के लिए आणविक शस्त्र आवश्यक हैं और यह कि इन शस्त्रों के प्रयोग का डर ही युद्ध की रोकथाम करने में समर्थ हो सकता है। हम इस दावे को स्वीकार नही करते।"

"हमारी धारणा यह है कि आणविक शस्त्र खतरनाक हैं, भले ही वे एक देश के पास हों। हम केवल आणविक शस्त्रो के विस्तार के विरुद्ध नहीं हैं, वस्तुतः हम तो आणविक शस्त्रों के विरुद्ध हैं। भारत सदा से ही आणविक शस्त्रो को प्राप्त करने और उन्हें विकसित करने का विरोधी रहा है।"

"भारत न तो आणविक शस्त्र-शक्ति है और न बनना चाहता है। नई सरकार ने असदिग्ध शब्दों में इस बात की पुनर्घोषणा की है। हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने कहा कि यदि विश्व के अन्य देश आणविक शस्त्रो का निर्माण करने लगें तब भी भारत आणविक शस्त्रो के निर्माण की ओर अग्रसर नही होगा। हमने अणु-शस्त्रों के प्रसार को रोकने वाली सन्धि (एन. पी टी) पर हस्ताक्षर नही किए क्योंकि हम उसे एक असमान और भेदमूलक सन्धि समझते हैं। यह सन्धि दस वर्ष पूर्व तैयार हुई थी। जब से अब तक ऐसी घटना नही घटी जिसके कारण हमे अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव हुई हो।"

भारत सरकार विदेश मन्त्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 1979–80
(प्रस्तावना)

गुट-निरपेक्षता की नीति के प्रति भारत सदैव पूर्णतः प्रतिबद्ध रहा है और आज भी है क्योकि इसमे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सुरक्षित होती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सर्वाधिक सम्भावनाएं निहित होती है, और इसके साथ ही, विश्व समस्याओं के रचनात्मक एवं शान्तिपूर्ण समाधान मे भी इनसे सहायता मिलती है।

भारत ने इस बात के महत्त्व पर हमेशा बल दिया है कि गुट-निरपेक्षता की नीति की वैधता राष्ट्रो की प्रभुसत्ता एव समानता की स्वीकृति पर और प्रत्येक देश के इस अधिकार पर आधारित है कि उसे अपनी सामाजिक और राजनीतिक पद्धतियां स्वय तय करने की और यह निश्चित करने की भी आजादी हो कि वह पारस्परिक सम्मान के आधार पर दूसरे राष्ट्रों के साथ जिस तरह चाहे सहयोग करे। युद्ध के बाद विश्व के इतिहास ने यह दिखा दिया है कि प्रत्येक देश चाहे वह कितना ही कमजोर या कितना ही छोटा क्यों न हो, यह अधिकार-भाव वह सजोए रहता है कि अपने आन्तरिक मामलों मे और बाहरी सम्बन्धों मे उसे अपने विवेक से काम लेने की स्वतन्त्रता हो। कभी यह धारणा सब ओर फैल गई थी कि दो तन्त्रों में से अथवा दो विचारधाराओं मे से किसी एक को अपना लेना अपरिहार्य है, अथवा

यह जो सोचा जाता था कि सैनिक प्रबन्ध की आवश्यकता अनिवार्य है, जोकि राष्ट्रों की आर्थिक और सामाजिक तथा विदेश नीति पर एक बाहर से निर्धारित अनुशासन थोपता है, अब वह गलत सिद्ध हुआ है। इतना ही भ्रान्त यह विश्वास था कि चूंकि विचार-तन्त्र अलग-अलग है इसलिए विश्व संघर्ष होकर ही रहेगा। इसके विपरीत युद्धोपरान्त इतिहास ने यह भी दिखाया है कि सभी प्रकार के आर्थिक और राजनीतिक प्रभावों से काम लेकर भी बड़े राष्ट्र लोकतन्त्रात्मक और उपनिवेशवाद विहीन राष्ट्र राज्य व्यवस्था के छोटे-छोटे देशों के साथ सच्ची मित्रता और उनका विश्वास पाने में असफल रहे।

हम चाहे दीर्घकालिक पृष्ठभूमि में देखें, अथवा नवीन परिप्रेक्ष्य में, अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों को सुरक्षित रखने में और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अशान्त वातावरण में गुट-निरपेक्षता की नीति देश के लिए पथ आलोकित करती रही है। भारत की विदेश नीति की हाल ही की प्रवृत्तियों पर भारत सरकार की 1979–80 की रिपोर्ट इस प्रकार है—

"वर्ष 1979–80, भारत में, इसके आसपास के देशों में और कुल मिलाकर संसार में घटने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं का साक्षी है।

जहाँ तक स्वयं भारत का प्रश्न है, 1977 में निर्वाचित सरकार ने अगस्त, 1979 में इस्तीफा दे दिया और इसके बाद एक मिली-जुली सरकार ने कार्यभार सम्भाला जो जनवरी, 1980 के मध्यावधि चुनावों तक कार्य करती रही। इन चुनावों में भारत की जनता ने श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व वाली वर्तमान सरकार को भारी बहुमत दिया और 14 जनवरी, 1980 को इस सरकार ने कार्य-भार सम्भाल लिया। उसी दिन श्री पी. वी. नरसिंह राव ने विदेश मन्त्री का कार्यभार सम्भाला।

सत्ता का हस्तान्तरण अत्यन्त सुचारु और शान्तिपूर्ण हुआ। सभी राजनीतिक पार्टियों ने जनता के निर्णय को बहुत ही शालीनतापूर्वक स्वीकार किया और यह सिद्ध कर दिया कि भारत की जनता लोकतान्त्रिक मूल्यों में और लोकतान्त्रिक पद्धति के प्रति पूर्णतः वचनबद्ध है। अपनी विशाल जनसंख्या, भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामरिक स्थिति और स्थाई राजनीतिक पद्धति, जिसके माध्यम से इस देश के लोग बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के गुट-निरपेक्षता तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों पर सतत् अपनी वचनबद्धता निबाहते हुए अपनी नियति का निर्णय स्वयं करते हैं और इस प्रकार भारत क्षेत्रीय और सार्वभौम शान्ति की दिशा में अधिक सार्थक योगदान देने में सक्षम देश के रूप में उभरा है।

आज की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की विशिष्टता यह है कि शक्तिशाली राज्यों ने अपनी सीमाओं को लाँघकर, अपने हित साधन के लिए सैन्य बल का निरन्तर प्रसार किया है। वर्ष 1979–80 के दौरान नए सैनिक/नौ-सैनिक अड्डे और सुविधाएँ स्थापित करने की, और जहाँ ये पहले से मौजूद हैं वहाँ इन्हें मजबूत करने की, विस्फोटक परिस्थितियों में दूरस्थ स्थानों पर तुरन्त मोर्चा लेने वाले सैन्य बलों

का गठन करने की, और बड़े राष्ट्रों की नौसैनिक उपस्थितियों में वृद्धि की (खास तौर पर हिन्द महासागर के क्षेत्रों में अमेरिकी नौसैनिक उपस्थिति में) कोशिश की गई। सैनिक हस्तक्षेप की धमकियों अथवा वास्तविक बाहरी हस्तक्षेप के वातावरण में नई और पुरानी प्रतिद्वन्द्विताओं के बढ़ने और तेज होने की वजह से जटिलताएँ पैदा होना अवश्यम्भावी था। इस सन्दर्भ में कहना होगा कि कतिपय आधारभूत राजनीतिक यथार्थों को, और उन लोगों के हितों को भी अनदेखा किया गया जो शक्तिशाली राज्यों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के दायरे से बाहर थे। संसार को हथियार जमा करने अथवा ऐसे क्षेत्रों, प्रदेशों और देशों में हथियारों का जमाव करने या पहुँचाने की निरर्थकता को स्वीकार करना होगा जहाँ की आन्तरिक और गतिशील, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक शक्तियाँ राजनीतिक परिवर्तन की आकांक्षी हैं। अनुभव ने यह दिखा दिया है कि पराश्रित राज्य दूसरों के द्वारा खड़ी की गई सशस्त्र सुरक्षा की दीवार के पीछे बहुत दिनों तक अपने आप को सुरक्षित नहीं रख सकते। बाहरी सुरक्षा की छतरियों के साये में पलने वाले राष्ट्रों-राज्यों के अपने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थायित्व पर अन्ततः बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और इससे उनकी अपनी स्वतन्त्रता खतरे में पड़ सकती है, बल्कि उस पर बुरा असर भी पड़ सकता है। इस प्रक्रिया में समूचा क्षेत्र तनाव और अस्थिरता की परिधि अथवा वातावरण से घिर जाता है जो वहाँ के लोगों के शान्तिपूर्ण विकास के हित में नहीं होता।

गुट-निरपेक्षता की सार्थकता को न सिर्फ अनुभव ने ही अधिकाधिक रूप से सार्थक सिद्ध किया है बल्कि कभी जो इसके कट्टर विरोधी थे वे भी आज की खतरनाक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में इसकी सार्थकता और आवश्यकताओं के कायल नजर आते हैं। तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने और सार्वभौम रूप से स्वीकृत गुट-निरपेक्षता की नीति को सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक सिद्धान्तों को उस संयुक्त घोषणा में शामिल किया गया है जिस पर फ्रांस गणराज्य के राष्ट्रपति और भारत की प्रधान मन्त्री ने हाल ही में अर्थात् जनवरी, 1980 में फ्रांस के राष्ट्रपति, श्री वलेरी जिस्कार्द द स्तैंग की भारत यात्रा के दौरान हस्ताक्षर किए थे। इस संयुक्त घोषणा में दूसरी बातों के अलावा आन्तरिक सम्बन्धों में शक्ति के प्रयोग को, स्वतन्त्रता प्राप्त राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप अथवा दखलन्दाजी को या तनाव के क्षेत्रों में इसे और अधिक बढ़ने से रोकने की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इसके लिए यह जरूरी है कि ये राज्य कोई ऐसी कार्रवाई न करें जिससे कि बड़ी शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता तीव्र हो और हथियारों के गम्भीर भण्डारण से शीतयुद्ध पुनः शुरू होकर नाजुक क्षेत्रों की शान्ति और स्थायित्व के लिए खतरा बने। इसमें ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने की आवश्यकता पर पुनः बल दिया गया है जिनमें सभी राज्यों की स्वतन्त्रता, प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा हो सके और उनके देशवासियों का अपनी नियति का निर्णय स्वयं बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के, स्वतन्त्र रूप से करने का अधिकार सुरक्षित रहे। और अन्त

में, इस घोषणा में सभी राज्यों से, खास तौर से सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यों से यह अपील की गई है कि वे खतरों की गम्भीरता को समझें और इन खतरो को टालने का प्रयत्न करें।

अफगानिस्तान की हाल की घटनाओं को, जो कि 1979 के अन्त मे घटी हैं, बिगड़ते हुए सार्वभौम एव क्षेत्रीय वातावरण की व्यापक पृष्ठभूमि मे देखा जाना चाहिए। इन घटनाओं से विभिन्न क्षेत्रों मे और ससार-भर में तनाव बढ जाना अवश्यम्भावी था और यह भारत के लोगों के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय है, एक ऐसा विषय जिससे स्वाभाविक तौर पर सरकार भी चिन्तित है।

पड़ोसियों के बीच और स्वयं राष्ट्रों के भीतर भी तनाव और समस्याएँ बनी रही है। लेकिन बडी शक्तियाँ अपनी सार्वभौम नीति के अन्तर्गत फायदा उठाने की दृष्टि से, अथवा हस्तक्षेप या दखलन्दाजी करने अपने हित पूरे करने के उद्देश्य से जब ऐसी परिस्थितियों का लाभ उठाने की कोशिश करती है तो ये परिस्थितियाँ अत्यन्त खतरनाक रूप धारण कर लेती हैं। अफगानिस्तान की सरकार और वहाँ की जनता के साथ भारत के निकट और मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हैं। भारत अपने मित्र-देश अफगानिस्तान की सुरक्षा, स्वतन्त्रता, प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखण्डता मे और उसकी परम्परागत गुट-निरपेक्षता मे गहरी दिलचस्पी रखता है। भारत की सरकार ने बार-बार यह आशा व्यक्त की है कि अफगानिस्तान के लोग अपनी आन्तरिक समस्याओं को बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के स्वय सुलझा लेंगे। भारत इस बात के खिलाफ है कि किसी एक देश मे किसी दूसरे देश के सैनिक रहें या अड्डे स्थापित करें। इसी भावना से भारत सरकार ने, जो कि इस सिद्धान्त पर दृढतापूर्वक चलती है, यह आशा व्यक्त की है कि सोवियत सघ की सेनाएँ अफगानिस्तान से वापस हट जाएँगी।

इसी प्रकार, वर्तमान स्थिति और अधिक न भड़के इसके लिए यह जरूरी है कि कोई राज्य कोई ऐसी कार्रवाई न करे जिससे दक्षिण एशिया के क्षेत्र मे बड़ी शक्तियो की प्रतिद्वन्द्विता तीव्र हो और शीतयुद्ध का जमाना फिर लौटे। इस सवेदनशील क्षेत्र में खास तौर पर भारी मात्रा मे हथियारो के जमाव से शान्ति और स्थायित्व के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है। इस सन्दर्भ में, यह कहते हुए खेद होता है कि चीन, सयुक्तराज्य अमेरिका और कुछ दूसरे देशों ने पाकिस्तान की सैनिक क्षमता सवर्धित करने मे सहायता देने की प्रतिक्रियात्मक कार्रवाइयाँ शुरू कर दी हैं। इन देशों की ऐसी कार्रवाइयो से इस उपमहाद्वीप में बड़ी शक्तियो की लड़ाई का, सघर्ष का एक मंच बन जाने का खतरा है जो भारत की सुरक्षा के लिए खतरनाक होगा। इसके अतिरिक्त भारत सरकार का यह दृढ़ विचार है, और उसका यह विचार उसके अतीत के दुर्भाग्यपूर्ण अनुभवो पर आधारित है, कि पाकिस्तान को हथियार पहुँचाने का अर्थ है सामान्यीकरण की प्रक्रिया को विपरीत दिशा मे मोड़ना जबकि भारत और पाकिस्तान की सरकारें शिमला समझौते की भावना के अनुरूप इसके लिए सतत् प्रयत्नशील रही हैं।

संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के विशेष दूत जनवरी, 1980 में जब नई दिल्ली आए थे तब भारत सरकार के विचारों से उन्हें अवगत करा दिया गया था ताकि उनके माध्यम से हमारे विचार उच्चतम स्वर तक पहुँच सकें। पूर्वी और पश्चिमी यूरोप, एशिया और अफ्रीका के अन्य अनेक देशों के विदेश मन्त्रियों के साथ हुई बातचीत से यह पता चला है कि भारत की इस दलील पर किसी हद तक उत्साहवर्द्धक प्रतिक्रिया हुई है कि अफगानिस्तान की घटनाओं से उत्पन्न स्थिति को बढ़ने से रोका जाना चाहिए ताकि इस उपमहाद्वीप की शान्ति और स्थायित्व की सम्भावनाओं पर इसका बुरा असर न पड़े।

पुरानी प्रथा के अनुरूप, सोवियत समाजवादी गणतन्त्र संघ की सरकार ने भारत में नई सरकार द्वारा पदभार ग्रहण करने के बाद उच्चस्तर पर विचार-विनिमय करने की पहल का स्वागत किया। सोवियत समाजवादी गणतन्त्र संघ के विदेश मन्त्री, श्री ग्रोमिको जनवरी, 1980 में जब नई दिल्ली आए थे तब उन्हें भारत की नीति से अवगत कराया गया और उस समय जो विचार-विमर्श हुआ उससे एक-दूसरे पक्ष को ज्यादा अच्छी तरह से समझने में सहायता मिली। उनकी इस यात्रा से दोनों देशों के बीच विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान स्थायी और परस्पर सहकारी सम्बन्धों की एक बार पुनः पुष्टि करने का अवसर मिला। इस यात्रा से यह प्रकट हुआ कि दोनों पक्ष इस विचार को मानते हैं कि भारत-सोवियत सम्बन्धों का संवर्धित होना इस क्षेत्र की शान्ति और स्थायित्व के दीर्घकालिक हित में होगा।

कुछ मामलों में मतभेद के बावजूद भारत, संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक लाभ को लिए सम्बन्धों को निरन्तर विस्तार और विविधता प्रदान कर रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत और संयुक्तराज्य अमेरिका के लोगों के बीच, जो कि लोकतान्त्रिक पद्धति के प्रति वचनबद्ध हैं, विविध क्षेत्रों के सम्पर्कों से दोनों देशों के बीच सहयोगी सम्बन्धों का एक अच्छा आधार मिलता जिनमें उनके सम्बन्धों में गुणात्मक सुधार करने की क्षमता है।

यह सन्तोष की बात है कि भारत ने अपने पड़ोसी देशों, यानी अफगानिस्तान, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, बंगलादेश, श्रीलंका और दूसरे देशों के साथ प्रधान मन्त्री के विशेष दूत भेजकर अथवा इन देशों के उच्च स्तरीय प्रतिनिधि-मण्डलों की दिल्ली यात्रा के दौरान और राजनयिक सम्पर्कों के माध्यम से परामर्श करने में जो पहल की उसमें मोटे तौर पर यह पता चलता है कि ये सभी देश यह महसूस करते हैं कि इस क्षेत्र में हालात खतरनाक स्थिति में है हालाँकि इस बारे में कुछ मतभेद हैं कि इस स्थिति से निपटने के लिए क्या और कैसे उपाय किए जाएँ। जनवरी, 1980 में विदेश सचिव की पाकिस्तान यात्रा के दौरान भारत के इस आश्वासन को पुनः दोहराया गया है कि वह पाकिस्तान की प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखण्डता का तथा पाकिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्तों का पूरा-पूरा सम्मान करता है। इस क्षेत्र की घटनाओं के प्रति पाकिस्तान की जो चिन्ता है उसके प्रति भारत उदासीन नहीं है। 1976 के शिमला समझौते की व्यवस्थाओं के अनुरूप,

जिसके प्रति दोनों ही देश वचनबद्ध हैं, भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों में सर्वतोमुखी सुधार के लिए जनवरी, 1980 में बातचीत का जो सिलसिला शुरू किया गया था, उसे आगे बढ़ाने के निमित्त भारत निरन्तर प्रयत्न करता रहेगा। जनवरी, 1980 में बंगलादेश के महामान्य राष्ट्रपति की भारत यात्रा के दौरान जो विचार-विमर्श हुआ था उससे भारत और बंगलादेश के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को और सवंधित करने की दिशा में ठोस कार्रवाई का आधार मिला। भारत और भूटान के बीच पुरानी और निकट मित्रता की परम्परागत रूपरेखा में भूटान के महामहिम नरेश की भारत यात्रा में, जो उन्होंने 22 से 25 फरवरी, 1980 तक की, दोनों देशों के बीच पारस्परिक निर्भरता और संयुक्त हितों पर आधारित सहयोग की सम्भावनाओं में वृद्धि हुई। नेपाल के महामहिम महाराजाधिराज ने 6–8 मार्च, 1980 तक भारत की यात्रा की; उनकी इस यात्रा से भारत और नेपाल के बीच इतिहास-सिद्ध निकट सम्बन्धों की पुन: पुष्टि का मौका मिला और इस अवसर पर दोनों देशों के लोगों के पारस्परिक लाभ के लिए रचनात्मक द्विपक्षीय सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया गया। भारत की सरकार सभी पड़ोसियों के साथ अपने सम्बन्धों में मित्रता की नीति पर चलना चाहती है क्योंकि वह इस ओर से पूरी तरह सजग है कि हमारे इस क्षेत्र में संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है और उनका इस्तेमाल इस क्षेत्र के विशाल जनसमुदाय के लिए किया जाना चाहिए ताकि वे अपनी शक्ति का प्रयोग क्षेत्रीय स्थायित्व के लिए तथा इस क्षेत्र के देशों के बीच सहयोग को सवंधित करने के लिए कर सकें।

भारत और चीन दोनों ने पचशील के सिद्धान्तों के आधार पर दोनों देशों के बीच सम्बन्धों को सुधारने की इच्छा व्यक्त की है लेकिन इस पारस्परिक इच्छा को दोनों देशों के पारस्परिक लाभ के लिए ठोस सच्चाई का रूप देने की दिशा में काम होना अभी बहुत हद तक बाकी है।

अफ्रीका के देशों के साथ भारत के परम्परागत राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्धों को और विविधता प्राप्त हुई तथा ये सम्बन्ध और गहरे हुए। जातिवादी दमन के सभी रूपों के पूर्ण विरोध की अपनी नीति के अनुरूप भारत, जिम्बाब्वे (रोडेशिया), नामीबिया और दक्षिण अफ्रीका के स्वतन्त्रता संघर्षों को भौतिक और नैतिक सहायता देता रहा। भारत ने जिम्बाब्वे की जनता के बहुमत के आधार पर वहाँ निर्वाचित सरकार के गठन का स्वागत किया। भारत सरकार ने जिम्बाब्वे की नई सरकार को उसकी अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण में पूरा सहयोग देने का वचन दिया है।

भारत पश्चिम एशिया के देशों के साथ द्विपक्षीय आधार पर निकटतर सम्बन्ध विकसित करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहा, खास तौर पर इन देशों के विकास कार्यों के लिए कुशल जनशक्ति और विशेषज्ञ प्रदान करके। भारत ने बात पर चिन्ता व्यक्त की कि कैम्प डेविड समझौते ने अरब संसार को विभक्त किया है और इससे फिलिस्तीनी समस्या का समाधान नहीं हुआ है। उसकी

धारणा है कि फिलिस्तीनी मसलों का स्थायी समाधान कभी निकल सकता है, जबकि अरब के उन प्रदेशों को खाली कर दिया जाए जिन पर इजरायल ने गैर-कानूनी तौर पर कब्जा कर रखा है और फिलिस्तीनी लोगों की यह वैध आकांक्षा पूरी की जाए कि उनका भी अपना एक राज्य हो। ईरान की घटनाओं ने वहाँ के लोगो के इस दृढ़ सकल्प को प्रदर्शित किया है कि वे अपनी नियति को अपनी मर्जी से रूप देना चाहते है, जिसमे बाहरी दबाव और प्रभाव न हो। ईरान की इस इच्छा को भारत स्वीकार करता है कि समानता और पारस्परिक लाभ के आधार पर सहयोग के सम्बन्ध विकसित किए जाएँ।

दक्षिण-पूर्वी एशिया मे भारत ने विभिन्न क्षेत्रों में लाभदायक सहयोग के माध्यम से वियतनाम और लाओस के साथ अपने सम्बन्ध मजबूत किए। भारत ने 'एशियन' और उसके सदस्य देशों के साथ पारस्परिक लाभ के लिए सम्बन्ध विकसित करने की दिशा में भी कार्य किया। भारत इस क्षेत्र के राज्यो के बीच परस्पर विश्वास और सद्भाव पर आधारित क्षेत्रीय सहयोग का हिमायती है क्योंकि इससे तनाव कम करने मे और विश्व के इस भाग मे स्थायित्व लाने मे सहायता मिलेगी।

जहाँ तक आर्थिक क्षेत्र का प्रश्न है, उत्तर-दक्षिण के सम्बन्धो मे कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। अंकटाड–V अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो के पुनर्निर्माण से सम्बद्ध किसी भी महत्त्वपूर्ण उपाय पर सहमत नही हो सका। लेकिन सामूहिक आत्म-निर्भरता के 'अरुशा कार्यक्रम' के स्वीकृत हो जाने से और उसके बाद हवाना मे आयोजित गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन में विकासशील देशों के बीच आत्म-निर्भरता की भावना को मजबूत करने के विषय मे नीति निर्देश से सम्बद्ध सकल्प के पूरा होने से दक्षिण-उत्तर सहयोग को प्रोत्साहन मिला। हमेशा की तरह गुट-निरपेक्ष देशो ने विभिन्न क्षेत्रो के विकासशील देशो के बीच आर्थिक सहयोग का एक व्यापक कार्यक्रम स्वीकार करके अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के लिए प्रेरणा प्रदान की है। इन देशों ने एक सकल्प भी पारित किया जिसमें कच्ची सामग्री और ऊर्जा, व्यापार और विकास, मुद्रा और वित्त से सम्बद्ध विषयो पर सर्वदेशीय वार्ताओं का प्रस्ताव रखा गया है। बाद मे सर्वदेशीय वार्ताओ के इस प्रस्ताव को आमसभा मे एक सकल्प के माध्यम से स्वीकार किया गया।

इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय विकास नीति निर्धारित करने के लिए तैयारियाँ होती रही। हालाँकि इसका कोई खास ठोस परिणाम नही निकला।

भारत 1 अक्तूबर से 77 देशो के समूह का अध्यक्ष हो जाने के नाते और नई अन्तर्राष्ट्रीय विकास नीति के लिए महासभा द्वारा गठित तैयारी समिति का अध्यक्ष और इसका एक प्रतिनिधि चुने जाने से इन घटनाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है।

नई सरकार अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग पर, विशेष रूप से विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग पर बल, देने के लिए कृतसंकल्प है। यह बात सत्तारूढ़ पार्टी के घोषणा-पत्र से स्पष्ट होती है, जिसमे दूसरी बातो के अलावा यह बात भी

कही गई है कि व्यापार, प्रौद्योगिकी के स्थानान्तरण, पूंजीगत सामान और संसाधन आदि के स्थानान्तरण की समस्याओं के सन्दर्भ मे विकसित देशों की स्थिति को ध्यान मे रखते हुए एक-दूसरे विकासशील देशो के साथ और स्वय विकासशील देशों के बीच परस्पर सामूहिक आत्म-निर्भरता को सुदृढ करने की कोशिश करनी चाहिए।

सयुक्त राष्ट्र के महासचिव को हाल ही में प्रस्तुत एक रिपोर्ट मे, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त व्यक्तियो की एक सस्था द्वारा तैयार की गई है, यह अनुमान लगाया गया है कि ससार मे सिर्फ हथियारो के निर्माण पर लगभग चार खरब पचास अरब अमेरिकी डॉलर व्यय किए जाते हैं, जबकि गरीबी, बीमारी और भुखमरी जैसी सदियो पुरानी बुराइयों को, जिनसे कि अधिकांश मानवता पीडित है, दूर करने पर सिर्फ 20 अरब अमेरिकी डॉलर खर्च किए जाते है। इस बात से यह पता चलता है कि आज के दुखी ससार में प्राथमिकताएं किस विचित्र तरीके से स्थिर की जा रही हैं और उनमें कितना असन्तुलन है। आज के युग मे खतरनाक शस्त्रास्त्रो को अधिकाधिक सूक्ष्मता प्रदान करने और अत्याधुनिक बनाने के काम को पूर्ण सार्वभौम और प्रभावकारी निरस्त्रीकरण के मुकाबले में अधिक प्राथमिकता दी जा रही है। आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए सार्थक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के वातावरण के स्थान पर आज के घटते हुए भौतिक ससाधनों के युग में विकसित और विकासशील देशों के बीच संघर्ष का युग पनप रहा है। जहाँ कही भी कोई झगड़ा या विवाद है उसे शान्तिपूर्ण बातचीत द्वारा निपटाने के दृष्टिकोण के स्थान पर प्रभावशील देशों की राजधानियों में विचार और अभिव्यक्ति के स्तर पर सैन्यीकरण का व्यापक समर्थन किया जा रहा है जिसे देखकर बहुत चिन्ता होती है। अवश्यम्भावी विनाश के युग में भीषण सैनिक कार्रवाइयो की शंकाओं का पुन. उठना और पुराने शीतयुद्ध का वातावरण पुनः तैयार होना, सयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत समाजवादी गणतन्त्र संघ के सम्बन्धों की वर्तमान अवस्था की विशेषता बन गया है। आज के युग में सभी देशों को सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की होनी चाहिए कि वे तनाव-शैथिल्य के अकाट्य तर्क का अहसास दूसरों को भी कराएँ जिसे कि विश्व में और अधिक प्रचारित-प्रसारित करने की आवश्यकता है। इस काम के लिए यह बहुत जरूरी है कि निरस्त्रीकरण की दिशा में प्रगति हो। भारत ने नाभिकीय अस्त्रों का उत्पादन और उनके इस्तेमाल को रोकने तथा सभी राज्यों द्वारा उनके प्रशिक्षण पर प्रतिबन्ध लगाए जाने के महत्त्व पर हमेशा बहुत बल दिया है। निरस्त्रीकरण और विकास के बीच की कड़ी की ओर इंगित करते हुए भारत ने इस बात पर भी बल दिया है कि हथियारों पर जो अपार धनराशि खर्च की जाती है उसे विकास कार्यों पर खर्च किया जा सकता है। आज समूची मानवता, शान्ति स्थायित्व और विकास के लिए त्राहि-त्राहि कर रही है। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रति सच्ची वचनबद्धता ही भारत का लक्ष्य होना चाहिए।"

वर्ष 1979–80 की रिपोर्ट का परिशिष्ट

"मार्च 1980 के अन्त में विदेश मन्त्रालय की रिपोर्ट के प्रेस में जाने के बाद

के तीन महीने अनेक गहन राजनयिक गतिविधियों से भरपूर रहे हैं जिसमें भारत ने शान्तिपूर्वक सक्रिय भूमिका निभायी है। इन तीन महीनों की अवधि की दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थीं—जिम्बाब्वे की स्वतन्त्रता (18 अप्रैल) तथा यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो की मृत्यु (4 मई)। इन दोनो समारोहो मे प्रधान मन्त्री ने हिस्सा लिया और विश्व के अनेक नेताओं से वहाँ विचार-विमर्श किया जिनमे निम्नलिखित नेता भी शामिल हैं : सोवियत सघ के राष्ट्रपति ब्रेझनेव, यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति कोलिसेवस्की, पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया, जाम्बिया के राष्ट्रपति कोंडा, तजानिया के राष्ट्रपति न्येरेरे, पोलैंड के राष्ट्रपति जाेएरेक, रूमानिया के राष्ट्रपति चौसेस्कू, ईराक के राष्ट्रपति सादाम हुसैन, नाइजीरिया के राष्ट्रपति शेशू शगारी, गिनी के राष्ट्रपति सेको तोरे, क्यूबा के उपराष्ट्रपति, जर्मन संघीय गणराज्य के चान्सलर हेलमत शिमड्त, यूगोस्लाविया के प्रधान मन्त्री जुरेनोविक, जिम्बाब्वे के प्रधान मन्त्री रॉबर्ट मुगाबे, गुयाना के प्रधान मन्त्री वर्नहम, ब्रिटेन की प्रधान मन्त्री श्रीमती थैचर, जापान के प्रधान मन्त्री ओहिरा, चीन के प्रधान मन्त्री हुआ गुओ फॅग, सयुक्त राष्ट्र के महासचिव वाल्दहीम, और जर्मन सघीय गणराज्य के भूतपूर्व चान्सलर विली ब्राँट। इन बैठको में इस बात पर बल दिया गया कि मानवता की सकट की इस महान् घडी में विभिन्न राष्ट्रो के बीच की दरारो को भरने मे भारत से महत्त्वपूर्ण योगदान की आशा की जाती है।

हमारे क्षेत्र मे विद्यमान तनाव के अन्तर्निहित कारण कटुतर बनते जा रहे हैं जैसा कि अफगानिस्तान, ईरान तथा पश्चिम एशिया की परस्पर उलझी हुई स्थिति से स्पष्ट होता है। इस अवधि के दौरान अफगानिस्तान के मामले पर उत्पन्न मतभेदों को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं की अनेक महत्त्वपूर्ण बैठकें भी हुईं। इन बैठको से भारत की इस नीति की पुष्टि हुई कि राजनीतिक हल के अलावा इसका कोई और विकल्प नही है।

भारतीय नेताओ की विदेश यात्राओ तथा विदेश के गणमान्य अतिथियो की भारत यात्रा से भारत की चिन्ता तथा प्रतिबद्धता स्पष्ट होती है। विदेश मन्त्री श्री पी. वी नरसिंह राव ने मार्च मे पेरिस और बोन की यात्रा की; सरदार स्वर्ण सिंह ने अप्रैल मे इस्लामाबाद की यात्रा की; विदेश सचिव, श्री आर. डी. साठे मई मे काबुल गए तथा विदेश मन्त्री ने 3 से 7 जून तक मास्को की यात्रा की और इस यात्रा के दौरान वे राष्ट्रपति ब्रेझनेव तथा अन्य सोवियत नेताओ से मिले। इस यात्रा के दौरान पारस्परिक हित के मामलों पर हुए विचार-विमर्श में एक-दूसरे के विचारो को अच्छी तरह समझा गया। इस यात्रा से भारत तथा सोवियत सघ के अपने पारस्परिक सम्बन्धो को दिए जाने वाले महत्त्व को प्रतिपादित किया गया, जो निरन्तर सुदृढ़ तथा विकसित होते रहे हैं।

इस अवधि के दौरान हमने क्यूबा, यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, बल्गारिया, हंगरी तथा रूमानिया के विदेश मंत्रियो का भी स्वागत किया। यूरोपीय आर्थिक सघ आयोग के अध्यक्ष, श्री राय जेंकिन्स, राष्ट्रमण्डल सचिवालय के महासचिव

डॉ. रामफल और बलगारिया की पोलित ब्यूरो के सदस्य, श्री गिशा फिलिपोव ने भी भारत की यात्रा की।

सालिसबरी मे राष्ट्रपति जिया-उल-हक के साथ प्रधान मन्त्री की बैठक मित्रता-पूर्ण सहयोग तथा पारस्परिक सद्भाव की सभावनाओं की सूचक थी। लेकिन जनवरी तथा मई में इस्लामी विदेश मत्रियो के सम्मेलनो में राष्ट्रपति जिया द्वारा काश्मीर के मामले के अनावश्यक उल्लेख से भारत को दुख और निराशा हुई क्योंकि हमारे विचार से ऐसा उल्लेख शिमला समझौते की भावना के अनुरूप नही था।

बगलादेश ने क्षेत्रीय सहयोग को बढाने के लिए छह दक्षिण एशियाई देशों का एक शिखर सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव किया। भारत ने इसका स्वागत किया है और शिखर सम्मेलन की सफलता के लिए सावधानीपूर्वक प्रारम्भिक कार्रवाई करने की आवश्यकता पर बल दिया है।

मई के पहले सप्ताह मे श्री एरिक गोन्साल्वेज, सचिव (पूर्व) बर्मा के विदेश मन्त्री से विचार-विमर्श के लिए रंगून गए। उनकी इस यात्रा से इस पडोसी देश के साथ सहयोग तथा सम्पर्कों की समीक्षा का एक अवसर मिला।

श्री रमेश भंडारी, सचिव (ई आर) ने फरवरी मे ईरान की यात्रा की और राष्ट्रपति बनी सदर तथा अन्य ईरानी नेताओं के साथ बातचीत की। जून, 1980 मे ईरान इस्लामी गणराज्य के वाणिज्य मन्त्री, श्री रजा सदर के साथ विदेश उपमन्त्री सहित वहाँ के विभिन्न मन्त्रालयों के अनेक उपमन्त्रियो ने नई दिल्ली की यात्रा की जो भारत और ईरान के बीच घनिष्ठ सम्बन्धो तथा दोनो देशों के बीच नए आर्थिक सम्बन्धों को स्थापित करने की उनकी इच्छा की प्रतीक है।

मार्च मे नई दिल्ली स्थित फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को पूर्ण राजनयिक दर्जा प्रदान किया गया। इस सगठन के अध्यक्ष यासिर अराफत ने प्रधान मन्त्री के निमन्त्रण पर भारत की यात्रा की। अरब देशों के साथ भारत के सम्बन्धो मे ये दो घटनाएँ महत्त्वपूर्ण थी।

फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के एक प्रतिनिधि मण्डल ने संयुक्त समिति की पहली बैठक मे भाग लेने के लिए मई मे भारत की यात्रा की। इसमे भारत और फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन के बीच व्यापक सहयोग पर भी बातचीत हुई। इस अवधि मे ओमान, ईराक, तूनिसिया, अल्जीरिया और मिस्र के विशेष दूत भारत की यात्रा पर आए। श्री रमेश भडारी, सचिव (ई आर) ने सऊदी अरब, सयुक्त अरब अमीरात, कुवैत और कातार की यात्रा की।

ईराक के तेल मन्त्री, श्री तायेह अब्दुल करीम ने अप्रैल मे भारत-ईराक संयुक्त आयोग के छठें अधिवेशन के लिए ईराक के एक प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व किया।

राष्ट्रपति कार्टर ने तारापुर के लिए समृद्ध यूरेनियम की आपूर्ति को करने के लिए जून मे एक अधिशासी आदेश जारी किया। लेकिन, ...

के इस अधिशासी आदेश को कांग्रेस में निरन्तर साठ दिन तक रखा जाएगा और यह तब प्रभावी होगा जब तक कि कांग्रेस के दोनों सदन इसे अस्वीकार न कर दें।

प्रधान मन्त्री राबर्ट मुगाबे के निमन्त्रण पर जिम्बाब्वे के स्वतन्त्रता समारोह के अवसर पर प्रधान मन्त्री ने सालिसबरी की यात्रा की। भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल के साथ, जिसमे विदेश मन्त्री भी शामिल थे, बड़े ही मित्रतापूर्ण और हार्दिक ढग से व्यवहार किया गया और राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री तथा नई सरकार के अन्य विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा उसकी अगवानी और विदाई की गई। पारस्परिक बातचीत के दौरान पुनर्वास के कार्य मे नवोदित देश को सहायता देने के लिए भारत की तत्परता से उन्हें अवगत करा दिया गया। 18 अप्रैल को सालिसबरी मे भारतीय सम्पर्क मिशन का दर्जा बढाकर हाई कमीशन का दर्जा दे दिया गया। राष्ट्रमण्डल मे जिम्बाब्वे की सदस्यता भी एक स्वागत योग्य घटना है। जिम्बाब्वे जाते समय प्रधान मन्त्री और विदेश मन्त्री ने 16 और 17 अप्रैल को तजानिया की राजकीय यात्रा की।

जिम्बाब्वे द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद अब अफ्रीका मे विश्व के अन्य देश निश्चय ही अपना ध्यान नामीबिया और स्वत: दक्षिण अफ्रीका की ओर देंगे। प्रधान मन्त्री सालिसबरी में स्वापो के नेता श्री साम नजोमा से मिली।

इस अवधि के दौरान जिन तीन अफ्रीकी राज्याध्यक्षों ने भारत की यात्रा की वे हैं : जाइर के राष्ट्रपति मोबुतु सेसे सेको (31 मार्च से 2 अप्रैल), जाम्बिया के राष्ट्रपति कोंडा और सेशेल्स के राष्ट्रपति फ्रांस अलबर्ट रेने। भारत निकट भविष्य मे ही माहे (सेशेल्स) मे एक आवासी मिशन खोलेगा।

15 से 16 मई, 1980 तक कुआलालम्पुर मे आधिकारिक स्तर पर पहली भारत-'एसियन' बातचीत हुई। भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व श्री एरिक गोन्साल्वेज, सचिव (पूर्व) ने किया। 'एसियन' और विकासशील देशों के बीच इस प्रकार की यह पहली बातचीत थी। व्यापारिक, औद्योगिक और वैज्ञानिक सहयोग के क्षेत्रों में क्या कार्यवाही की जानी है इसके बारे मे एक व्यापक संयुक्त कार्यक्रम पर सहमति हुई। भारत-'एसियन' बातचीत के प्रारम्भिक कदम के रूप मे भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल ने सभी 'एसियन' देशों की राजधानियों की यात्रा की और लाभदायक विचार-विमर्श किया।

औषधियों और बच्चों की खाद्य-सामग्री के अतिरिक्त चावल और बीज के लिए धान भेजकर भारत ने कम्पूचिया मे अन्न की कमी को दूर करने मे सहायता करने का प्रयत्न किया है। हेग समरीन शासन को मान्यता देने के प्रश्न पर सरकार सक्रिय रूप से विचार कर रही है।

वियतनाम के प्रधान मन्त्री श्री फाम वान डोंग ने 7 से 12 अप्रैल तक भारत की राजकीय यात्रा की। सरकार से सरकार के आधार पर वियतनाम को चल स्टाक और औद्योगिक अतिरिक्त पुर्जों की खरीद के लिए भारत 5 करोड़ रुपये का ऋण देने के लिए सहमत है।

प्रधान मन्त्री सालिसबरी में चीन के विदेश मन्त्री, श्री हुआंग हुआ और बेलग्रेड में चीन के प्रधान मन्त्री श्री हुआ गुओ फॅग से मिलीं। चीन के विदेश मन्त्री इस वर्ष के उत्तरार्द्ध में भारत की यात्रा पर आने वाले हैं। श्री गोन्साल्वेज, सचिव (पूर्व) ज। जून के मध्य में पीकिंग की यात्रा पर गए तो प्रारम्भिक बातचीत हुई थी। भारत ने यह स्पष्ट कर दिया है कि चीन के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने की कार्यवाही किसी दूसरे देश के साथ अपनी मित्रता की कीमत पर नहीं की जाएगी।

पूर्व एशिया के अन्य देशों के साथ सम्बन्धों को बनाए रखा गया। जापान के प्रधान मन्त्री के विदेश दूत, श्री एस. सोनोदा ने मार्च में और कोरिया गणराज्य के तत्कालीन विदेश मन्त्री श्री तोंग जिन पार्क ने मार्च के अन्त में भारत की यात्रा की। श्री गोन्साल्वेज जून में प्योंग यांग और टोकियो की यात्रा पर गए।

हाल के बिगड़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए कुछ गुट-निरपेक्ष देशों ने जुलाई, 1980 में एक असाधारण मन्त्री स्तरीय बैठक का प्रस्ताव किया। लेकिन प्रस्तावित सम्मेलन के स्थान, कार्यसूची और समय के बारे में मतैक्य नहीं था। 18 जून, 1980 को न्यूयॉर्क में गुट-निरपेक्ष देशों के दल की बैठक में भारत के इस समझौता प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया कि गुट-निरपेक्ष देशों का नियमित मन्त्री स्तरीय सम्मेलन जो नई दिल्ली में 1981 में होने वाला था, उसकी तिथि को 1981 के प्रारम्भिक सप्ताहों में कर दिया जाए जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक और आर्थिक स्थिति की समीक्षा की जाए।

भारत ने तीसरी विकास दशब्दी के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विकास नीति के प्रतिपादन के लिए चल रही बातचीत में और विश्वव्यापी बातचीत की तैयारी में सक्रिय रूप से भाग लिया। विश्वव्यापी बातचीत की कार्यसूची, समय और प्रक्रियाओं के लिए ग्रुप-77 के प्रस्तावों पर अपने रवैये को अंतिम रूप देने के लिए ग्रुप-77 के मन्त्रियों की बैठक मार्च, 1980 में न्यूयॉर्क में हुई। विदेश मन्त्री श्री पी. वी. नरसिंह राव ने इस बैठक में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व किया।

भारत ने 26 मई से 2 जून, 1980 तक संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के तत्वावधान में विकासशील देशों के बीच तकनीकी सहयोग के बारे में एक उच्च-स्तरीय बैठक में भाग लिया। टी सी. डी सी के कार्यक्षेत्र में वृद्धि और टी. सी. डी. सी. की कार्यवाही को सुदृढ बनाने के लिए वित्तीय संसाधनों के बारे में भारत की पहल को स्वीकार कर लिया गया और इसे बैठक के दस्तावेजों में भी शामिल किया गया।

चंचल सरकार समिति की रिपोर्ट सहित विदेश मन्त्री ने मार्च में विदेश प्रचार प्रभाग के कार्यों का पुनरीक्षण किया। मन्त्रालय इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि चचल सरकार समिति की सभी सिफारिशों को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। मन्त्रालय आगामी तीन वर्षों में विदेश स्थित भारतीय मिशनों में सूचना अनुभागों की संख्या में वृद्धि करना चाहता है। इन मिशनों में पच्चीस नए सूचना अनुभाग खोले जाने की उम्मीद है बशर्ते कि इसके लिए ससाधन उपलब्ध हों। मुद्र... मुद्रण की अधिक सुविधाओं सहित एक सम्पादकीय एवं पुनर्लेखन डेस्क ह

करने के प्रस्ताव पर विचार किया जा रहा है ताकि अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश और जर्मनी में प्रचार सामग्री तैयार की जा सके। काहिरा और मास्को में क्रमशः अरबी और रूसी भाषा में सामग्री तैयार करने वाले हमारे केन्द्रों को भी सुदृढ किया जाएगा।

मार्च, 1980 से विदेश स्थित हमारे मिशनों को बहुत से निर्देश जारी किए गए हैं जिसमे विदेश जाने वाले भारतीय यात्रियों के साथ व्यवहार करने के बारे मे और सही परिप्रेक्ष्य में भारतीय घटनाओं की व्याख्या करने के बारे में मार्ग-निर्देश भी शामिल है। सूचना और प्रसारण मंत्रालय आकाशवाणी, पर्यटन विभाग और शैक्षिक एवं अन्य संस्थाओं के साथ सम्पर्क भी स्थापित किया गया है जिसमे संस्थानात्मक स्वरूप के अंतर्गत प्रचार प्रयत्न सम्बन्धी कार्य भी शामिल है। सभी पुस्तकालयों, वाचनालयों और दृश्य-श्रव्य प्रचार कार्यों के लिए विदेश स्थित हमारे सभी मिशनों मे उपलब्ध उपस्करों और सुविधाओं मे सुधार के लिए भी कार्रवाई शुरू कर दी गई है। विगत कुछ वर्षों में विदेश-प्रचार के क्रियाकलापों की आलोचना और मूल्यांकन को ध्यान मे रखते हुए हमारे विदेश प्रचार प्रयत्नों को प्रभावी, सोद्देश्य और त्वरित बनाने पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।"

अफगानिस्तान के मामले मे या सितम्बर-अक्तूबर, 1980 के ईराक-ईरान युद्ध में भारत ने जो नीति अपनाई है वह उसकी गुट-निरपेक्षता की पुनः पुष्टि करती है। भारत सरकार ने यह बारम्बार स्पष्ट कर दिया है कि वह किसी भी देश मे बाह्य हस्तक्षेप को अच्छा नही समझती और अफगानिस्तान मे, वर्तमान अफगानिस्तान सरकार के निमन्त्रण पर, जो सोवियत सैनिक उपस्थित हैं, उन्हें यथाशीघ्र वापस लौट जाना चाहिए और समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान किया जाना चाहिए। इसी प्रकार ईराक-ईरान युद्ध मे भी भारत सरकार यह स्पष्ट कर चुकी है कि दोनों देशों से इसके मैत्रीपूर्ण राजनयिक सम्बन्ध हैं और घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध हैं और भारत चाहता है कि दोनों पक्ष युद्ध-विराम करके अपने विवाद शान्तिपूर्वक तय कर लें तथा कोई भी विदेशी शक्ति हस्तक्षेप न करे।

पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्ध

भारत के विभाजन की कीमत पर अगस्त, 1947 मे पाकिस्तान अस्तित्व मे आया। यह आशा की गई थी कि देश के विभाजन से शान्ति और मैत्री को प्रोत्साहन मिलेगा लेकिन दुर्भाग्यवश पाकिस्तान का रवैया उसके जन्मकाल से अब तक भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रहा है। सीमा-उल्लघन, तोड़-फोड़, जासूसी आदि की घटनाओं की तो गिनती ही नहीं, भारत के विरुद्ध पाकिस्तान चार बार आक्रामक कदम भी उठा चुका है—पहली बार सन् 1947 मे, दूसरी बार अप्रेल, 1965 मे कच्छ पर आक्रमण द्वारा, तीसरी बार सितम्बर, 1965 मे और चौथी बार दिसम्बर, 1971 मे। भारत ने इन आक्रमणों के बावजूद भी पाकिस्तान के प्रति मैत्री, सहयोग और उदारता का परिचय दिया है। ताशकन्द और शिमला समझौते इस बात के जीते-जागते प्रमाण हैं; तथापि इसे पुनः दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि भारत के प्रति

पाकिस्तान का रवैया फिर भी शत्रुतापूर्ण है और युद्ध तथा धमकी की भाषा में बात करता है। हाल ही में फरवरी, 1975 में श्री भुट्टो ने भारत को युद्ध की धमकी देते हुए 'विश्व युद्ध होने से भी संकोच न करने' तक की चेतावनी दे डाली थी। इसका उत्तर रक्षा मन्त्री सरदार स्वर्णसिंह ने इन शब्दों में दिया था—"हम शान्ति चाहते हैं, किन्तु यदि कोई खुदकशी पर आमादा हो तो सिवाय लड़ाई के हमारे पास क्या चारा है ? पाकिस्तान हमला करेगा तो उसको ऐसी सजा मिलेगी जो अब तक नहीं मिली।"[1]

भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों का हम तीन युगों में विभाजन करके अध्ययन कर सकते हैं—नेहरू युग, शास्त्री युग और इन्दिरा युग।

नेहरू युग (अगस्त, 1947–मई, 1964)

प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने अपने शासन-काल मे पाकिस्तान के प्रति मैत्री, सहानुभूति और भाईचारे की नीति अपनाई, लेकिन उन्हें मृत्युपर्यन्त पाकिस्तानी रवैये से निराशा ही हाथ लगी। नेहरू का प्रधान मन्त्रित्व-काल भारत की विदेश नीति का 'आदर्शवादी युग' था। यद्यपि चीनी आक्रमण के बाद नवम्बर, 1962 से इसने यथार्थवादी मोड़ लिया।

जूनागढ़ और हैदराबाद का भारत में विलय—भारतीय क्षेत्र की रियासत जूनागढ़ के नवाब ने जब अपनी रियासत को पाकिस्तान के साथ मिलाना चाहा तो जनता ने विद्रोह कर दिया। जूनागढ़ का नवाब पाकिस्तान भाग गया और रियासत के दीवान तथा वहाँ की पुलिस (जिनके हाथों में प्रशासन था) की प्रार्थना पर 9 नवम्बर, 1947 को भारत सरकार ने रियासत का शासन अपने हाथों में ले लिया। फरवरी, 1948 को जनमत-संग्रह मे भारत के पक्ष में 1 लाख 90 हजार से भी अधिक मत आए जबकि पाकिस्तान के पक्ष मे कुल 91 मत पड़े। पाकिस्तान ने सुरक्षा परिषद् में प्रश्न उठाया, किन्तु उसकी चाल सफल नहीं हुई।

हैदराबाद की रियासत भी पूरी तरह भारतीय क्षेत्र में थी। नवम्बर, 1947 मे निजाम ने भारत के साथ एक 'यथा-पूर्व-स्थिति' का समझौता किया। यह निश्चय हुआ कि नया समझौता होने तक दोनो के बीच वही सम्बन्ध कायम रहेंगे जो पहले ब्रिटिश सरकार और हैदराबाद रियासत के बीच थे। लेकिन हैदराबाद की सरकार मे प्रभावशाली मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन 'मजलिस-ए-ईत्तादउल' के रजाकारों ने रियासत में भीषण अराजकता की स्थिति उत्पन्न करदी और तब सितम्बर, 1948 में जनता तथा निजाम की सुरक्षा हेतु भारत ने पुलिस कार्यवाही की। रजाकारों ने आत्म-समर्पण कर दिया। हैदराबाद-सरकार ने समस्या को सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत कर दिया था, अतः समस्या का अन्तिम समाधान तब हुआ जब दिसम्बर, 1948 मे भारत ने परिषद् में स्पष्ट कह दिया कि वह अब इस प्रश्न पर वाद-विवाद में कोई भाग नहीं लेगा।

1 हिन्दुस्तान, 21 अप्रेल, 1975.

ऋण भुगतान का प्रश्न—स्वतन्त्र भारत ने पुरानी सरकार के पूरे ऋण का भार सम्भाला जिसके अनुसार उसे 5 वर्ष में पाकिस्तान से 300 करोड़ रुपया लेना था, लेकिन पाकिस्तान ने ऋण चुकाने का नाम तक नहीं लिया जबकि भारत ने पाकिस्तान को दिए जाने वाले 55 करोड़ रुपये का चुकारा कर दिया।

विस्थापित सम्पत्ति तथा अल्पसंख्यकों की रक्षा का प्रश्न—सन् 1947 से 1957 तक लगभग 90 लाख मुसलमान भारत से पाकिस्तान गए और इतने ही गैर-मुस्लिम पाकिस्तान से भारत आए। दोनों ही क्षेत्रों के लोग अपने पीछे विशाल मात्रा मे अपनी चल और अचल सम्पत्ति छोड़ गए। अनुमानतः भारतीयों ने पाकिस्तान में 3 हजार करोड़ रुपये की और मुसलमानों ने भारत में 300 करोड़ रुपये की सम्पत्ति छोड़ी थी। पाकिस्तान समस्या के समाधान के सभी सुझावों को ठुकराता रहा क्योंकि उसकी नीयत तो 27 सौ करोड़ रुपये की सम्पत्ति को हड़प लेने की थी।

दोनों देशों के समक्ष अल्पसंख्यकों की रक्षा की समस्या भी विद्यमान थी। विभाजन के बाद पाकिस्तानी अत्याचारों के फलस्वरूप भारत में शरणार्थियों का तांता लगा रहा। अप्रैल, 1950 में साम्प्रदायिक उपद्रवों को रोकने और अल्पसंख्यकों में सुरक्षा की भावना उत्पन्न करने के लिए देशों के प्रधान मन्त्रियों के बीच 'नेहरू-लियाकत समझौता' हुआ, जिसका पाकिस्तान की ओर से कभी पालन नहीं किया गया और पीड़ित हिन्दू शरणार्थी भारत में आते रहे।

नहरी विवाद—भारत और पाकिस्तान के मध्य एक अन्य समस्या नदियों के पानी के सम्बन्ध में थी। पंजाब के विभाजन के कारण सिंचाई वाली नहरों के पानी के प्रश्न पर कठिन परिस्थिति पैदा हो गई। सतलज, व्यास और रावी नदियों के हैड वर्क्स भारत में रह गए, लेकिन नहरों की दृष्टि से 25 में से केवल 20 नहरें भारत में आईं और एक नहर दोनों देशों में। भारत के हिस्से में पंजाब का जो भी भाग आया उसकी कृषि-भूमि पैदावार की दृष्टि से अच्छी नहीं थी, क्योंकि वहाँ सिंचाई की व्यवस्था नहीं थी जबकि पाकिस्तान के हिस्से में आने वाले भाग में सिंचाई की भरपूर व्यवस्था थी।

दोनों राष्ट्रों की सहमति से यह विवाद मध्यस्थता के लिए विश्व-बैंक को सौंप दिया गया जिसके प्रयत्नों से 19 सितम्बर, 1960 को भारत और पाक में सिन्ध बेसिन के पानी के दोनों राष्ट्रों में समान बँटवारे के बारे में 'नहरी पानी समझौता' (Indo-Pak Canal Water Treaties) सम्पन्न हुआ। इस समझौते के अनुसार जो कि नदियों के विभाजन पर आधारित है, यह निश्चय किया गया कि 10 वर्ष की अवधि के बाद जो पाकिस्तान की प्रार्थना पर 3 वर्ष के लिए बढ़ाई जा सकेगी तीनों पूर्वी नदियों का पानी भारत के अधिकार में और तीनों पश्चिमी नदियों का पानी पाकिस्तान के अधिकार में रहेगा, केवल इनका सीमित पानी उत्तर की ओर के जम्मू और कश्मीर प्रान्त में प्रयोग किया जाएगा। यह तय हुआ कि 10 वर्ष तक भारत पूर्वी नदियों (सतलज, रावी और व्यास) से पाकिस्तान को प्रत्येक वर्ष

की आज्ञा दे दी। भारत सरकार ने भी पाकिस्तानी अधिकारियों को भारत से निष्कासित कर दिया। पाकिस्तान ने इसे वदले की कार्यवाही कहकर भारत के विरुद्ध खूब विष-वमन किया।

इन घटनाओं के कारण दोनों देशों के बीच तनाव वढ़ता गया। 24 अक्तूबर, 1963 को पाकिस्तान सरकार के आदेश से ढाका तथा राजशाही मे भारतीय पुस्तकालय बन्द कर दिए गए। 21 नवम्बर को राजशाही मे भारतीय हाईकमान का कार्यालय भी वन्द कर दिया गया। पाकिस्तानी समाचार-पत्र घोषणा करने लगे कि पाकिस्तान कश्मीर की युद्धविराम रेखा को मान्यता नही देता। 4 दिसम्बर को पाक अधिकृत कश्मीर के राष्ट्रपति खुर्शीद ने अपने उत्तेजनात्मक भाषण मे कहा कि युद्धविराम रेखा के निकट रहने वाले नागरिको में 10 हजार रायफलें बाँट दी गई हैं तथा और भी बाँटी जाएँगी। वास्तव में पाकिस्तान इस प्रकार का वातावरण वनाने लगा जिससे भारत भयभीत होकर दवाव मे आ जाए और पाकिस्तान की वातों को मान ले।

हजरत बाल-काण्ड और पाकिस्तान की शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियाँ—पाकिस्तान ने एक और घटना के सम्बन्ध में भारत के विरुद्ध अपनी जन्मजात शत्रुता का खुला परिचय दिया। 28 दिसम्बर, 1963 को श्रीनगर की हजरत बाल मस्जिद से पैगम्बर मुहम्मद साहव का पवित्र वाल चोरी चला गया। यद्यपि यह बाल मिल गया, पर पाकिस्तान ने इस घटना को लेकर बड़ा साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाया।

कश्मीर पर भारत-पाक संघर्ष—पाकिस्तान ने अपने जन्म के लगभग 2 माह वाद ही 22 सितम्बर, 1947 को कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। कश्मीर के महाराजा ने अपनी रियासत को भारत मे विलय करने का समझौता किया और भारतीय सेनाएँ कश्मीर की रक्षा के लिए दौड़ पड़ी। भारत ने पाकिस्तान के साथ पूरे युद्ध की स्थिति से बचने के लिए 1 जनवरी, 1948 को सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत की कि पाकिस्तान की सहायता से कवाइलियों ने भारत-भूमि पर आक्रमण किया है, अतः उन्हें रोका जाए। सुरक्षा परिषद् ने 20 जनवरी, 1948 को एक प्रस्ताव द्वारा जाँच कमीशन नियुक्त किया जिसने 13 अगस्त, 1948 को सुझाव दिया कि दोनों देशों के बीच युद्ध-विराम हो और कश्मीर के भविष्य का निर्णय जनता की राय से किया जाए। 1 जनवरी, 1949 से कश्मीर में युद्ध वन्द हो गया और तत्पश्चात् भारत व पाकिस्तान के बीच संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से तथा सीधे परस्पर वार्ता होती रही।

श्री नेहरू की गुट-निरपेक्ष नीति से खिन्न संयुक्तराज्य अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद् में पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया, अतः समस्या का कोई समाधान नहीं निकल सका। पाकिस्तान ने निम्नलिखित मुख्य तर्कों का सहारा लिया—(1) कश्मीर का भारत मे विलय भारत द्वारा प्रयोग की गई शक्ति और भय-प्रदर्शन का परिणाम था, (2) कश्मीर का भारत में विलय जनमत-संग्रह की

(11) पाकिस्तानी दुराग्रह स्वीकार करने का अर्थ सम्पूर्ण देश और कश्मीर की शान्ति भंग करना तथा भारत में कश्मीर-विलय के कश्मीरी जनता के निर्णय का अपमान करना है। भारत ने स्पष्ट रूप से यह स्थिति स्पष्ट करदी कि जम्मू-कश्मीर राज्य भारतीय संघ का अभिन्न अंग है।

पाकिस्तान के शासकों ने न तो श्री नेहरू के प्रधान मन्त्रित्व-काल में अपनी भारत-विरोधी नीति छोड़ी और न बाद में ही। 27 मई, 1964 को श्री नेहरू की मृत्यु हो गई। श्री नेहरू ने भारत की विदेश नीति की आधारशिला मजबूती से जमा दी थी और यह स्पष्ट कर दिया था कि भारत का हित गुट-निरपेक्ष नीति का अनुसरण करने में ही है। भारत जैसे नवोदित लोकतान्त्रिक राष्ट्र के लिए असंलग्नता की नीति पर चलते हुए विश्व के साम्यवादी और पूंजीवादी दोनों शक्तिशाली गुटों की मैत्री अर्जित करने का प्रयत्न श्लाघनीय था। यदि श्री नेहरू तत्कालीन परिस्थितियों में सैनिक गुटबन्दी का आश्रय लेने की नीति पर भारत को ले जाते तो भारत उसी प्रकार एक पर-निर्भर राष्ट्र बन जाता जिस प्रकार पाकिस्तान आज भी बना हुआ है। नेहरू की कमजोरी यह रही कि उन्होंने पाकिस्तान के प्रति आवश्यकता से अधिक तुष्टिकरण की नीति अपनायी।

शास्त्री युग (मई, 1964–जनवरी, 1966)

श्री नेहरू की मृत्यु (27 मई, 1964) के पश्चात् श्री लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधान मन्त्री बने और जनवरी, 1966 अपनी मृत्युपर्यन्त उन्होंने भारत की विदेश नीति का बड़ी कुशलता से संचालन किया। श्री नेहरू के आदर्शवाद को निभाते हुए श्री शास्त्री ने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यथार्थवादी नीति अपनाकर अपनी कूटनीतिज्ञता का सुन्दर परिचय दिया।

पाकिस्तान के साथ युद्ध न करने का प्रस्ताव— श्री शास्त्री ने 15 अगस्त, 1964 को स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर पाकिस्तान के साथ 'युद्ध न करने का समझौता' करने के लिए एक बार फिर प्रस्ताव रखा, लेकिन पाकिस्तान के शासकों के कानों में जूं तक नहीं रेंगी। कच्छ पर और बाद में कश्मीर तथा भारत पर होने वाले पाकिस्तानी आक्रमणों ने सिद्ध कर दिया कि पाकिस्तानी नेता भारत के प्रति शत्रुता और युद्ध की नीति से तब तक डिगने वाले नहीं हैं जब तक उन्हें ईंट का जवाब पत्थर से नहीं दिया जाएगा।

कच्छ के भारतीय प्रदेश पर पाकिस्तान का आक्रमण—सन् 1965 में पाकिस्तान ने भारत पर दो प्रबल सैनिक आक्रमण किए, इनमें पहला आक्रमण मार्च-अप्रेल, 1965 में कच्छ पर हुआ, दूसरा अगस्त-सितम्बर, 1965 में कश्मीर पर। कच्छ की खाड़ी (The Rann of Kutch) का क्षेत्रफल 9 हजार वर्गमील है। यह एक दलदलीय क्षेत्र है। जब पाकिस्तान ने इस प्रदेश के उत्तरी हिस्से में पहले एक सड़क बना ली और बाद में भारतीय सीमा में कंजरकोट, डींग एवं विगोकाट नामक स्थानों पर अपनी स्थायी चौकियाँ स्थापित करलीं तो उसने भारत के विरोध-पत्रों की न केवल उपेक्षा कर दी बल्कि गुजरात के एक बड़े क्षेत्र पर भी अपने अधिकार

का दावा किया। पाकिस्तान का यह दावा ऐतिहासिक और वैधानिक रूप से अवैध था क्योंकि इस क्षेत्र में भारत और पाकिस्तान के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पहले से निर्धारित हो चुकी थी, किन्तु पाकिस्तान ने इस खाड़ी को समुद्र मान कर उसके मध्य भाग को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा माने जाने का दावा किया।

दोनों देशों के बीच वार्ता चालू थी कि 9 अप्रेल, 1965 को पाकिस्तानी सेना की एक टुकड़ी ने सरदार नामक भारतीय चौकी पर हमला बोल दिया। 24 अप्रेल, 1965 को पाकिस्तान की पूरी एक ब्रिगेड (3500 सैनिक) ने अमेरिकी टैंकों के साथ कच्छ पर भीषण आक्रमण कर दिया जिसका मुकाबला केवल 225 भारतीय सैनिकों द्वारा ऐतिहासिक वीरता के साथ किया गया। बाद मे भारत की ओर से तुरन्त ही प्रभावकारी सैनिक कुमुक भेजी गई। कच्छ सीमा पर भारत-पाक संघर्ष को रोकने के लिए ब्रिटेन ने युद्ध विराम (Cease Fire) का प्रस्ताव रखा जिसे भारत ने मान लिया लेकिन पाकिस्तान ने अस्वीकार कर दिया।

अन्त मे, लन्दन में होने वाले राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन के अवसर पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विल्सन के प्रयत्नो से भारत और पाकिस्तान के बीच कच्छ के प्रश्न पर 30 जून, 1965 को एक समझौता हो गया जिसमे निम्नलिखत बातो का उल्लेख था—

1. 1 जुलाई, 1965 से युद्ध बन्द कर दिया जाए।

2. दोनो देशों की सेनाएँ 7 दिन के भीतर पीछे हटा ली जाएँ और अपनी 1 जनवरी, 1965 वाली स्थिति पर लौट जाएँ।

3. सीमा-विवाद के प्रश्न का समाधान पहले मन्त्रियों की वार्ता द्वारा किया जाए और इस प्रकार की वार्ता सफल न होने पर यह प्रश्न एक निष्पक्ष न्यायाधिकरण (Tribunal) को सौंपा जाए। न्यायाधिकरण के तीन सदस्य हो जिसमे एक-एक सदस्य भारत तथा पाकिस्तान द्वारा नियुक्त किया जाए और अध्यक्ष के नाम पर यदि दोनो देशो मे सहमति न सके तो सयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव उसका नाम प्रस्तावित करे।

समझौता होने के बाद कच्छ सीमा पर भारत और पाकिस्तान दोनों देशो ने अपनी-अपनी सेनाएँ 1 जनवरी, 1965 वाली स्थिति पर हटा ली। पाकिस्तान द्वारा उठाए गए सीमा निर्धारण के प्रश्न पर विचार हेतु एक न्यायाधिकरण की नियुक्ति कर दी गई जिसमें भारत द्वारा यूगोस्लाविया के न्यायाधीश को प्रस्तावित किया गया और पाकिस्तान द्वारा ईरान के न्यायाधीश को। दोनों ही देशो के मतभेद के कारण अध्यक्ष की नियुक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव द्वारा की गई। न्यायाधिकरण द्वारा दोनों देशो को आदेश दिए गए कि वे कच्छ के सम्बन्ध में अपने-अपने दावे प्रस्तुत करें।

सितम्बर, 1967 में न्यायाधिकरण ने अपना काम शुरू किया और 19 फरवरी, 1968 को उसने अपना निर्णय दे दिया। इस निर्णय के अनुसार विवाद-ग्रस्त क्षेत्र का 90 प्रतिशत भाग भारत को दिया गया और शेष 320 वर्ग

मील का प्रदेश पाकिस्तान को प्राप्त हुआ। इस प्रदेश में कंजरकोट का वह विनष्ट किला भी सम्मिलित था जहाँ से सन् 1965 का युद्ध आरम्भ हुआ था। इसके अतिरिक्त छारबेट की ऊँची भूमि और नगरपरकार के क्षेत्र भी पाकिस्तान को दिए गए भाग में शामिल थे। स्पष्ट है कि पाकिस्तान को महत्त्वपूर्ण सामरिक क्षेत्र प्राप्त हो गया। यद्यपि न्यायाधिकरण का निर्णय कुल मिला कर भारत के पक्ष मे था, तथापि पाकिस्तान के साथ विशेष रियायत की गई थी। रहीम के बाजार में दक्षिणी क्षेत्र को पाकिस्तान को सौंपने का कोई कारण नहीं था। न्यायाधिकरण का फैसला न्याय पर उतना आधारित नहीं था जितना राजनीति पर। भारत सरकार ने इस निर्णय को 'राजनीतिक कारणों से प्रेरित' बता कर इसकी निन्दा की। भारत के अनेक राजनीतिक दलों ने इस निर्णय को ठुकरा देने का अनुरोध किया, पर चूंकि भारत सरकार पहले ही यह शर्त मान चुकी थी कि न्यायाधिकरण जो भी निर्णय देगा, वह उसे मान्य होगा, अतः भारत के सामने वचन निभाने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। भारत सरकार ने कूटनीतिक चालबाजी की जगह नैतिकता को उच्च समझा।

कश्मीर-विवाद और भारत-पाक युद्ध, 1965—30 जून, 1965 को होने वाले कच्छ समझौते की स्याही सूखने भी न पाई थी कि अगस्त मे पाकिस्तान ने कश्मीर में हजारों सादा वस्त्रधारी सशस्त्र घुसपैठिये भेज दिए जिनका उद्देश्य राज्य मे व्यापक तोड़-फोड़ करना, अराजकता फैलाना और यातायात केन्द्रों, सैनिक-ठिकानों तथा उद्योग स्थलों को नष्ट करना था। इस पर भारतीय सेना ने तेजी से घुसपैठियों का सफाया कर युद्धविराम रेखा के उन महत्त्वपूर्ण पहाड़ी और जंगली प्रतिष्ठानों पर कब्जा कर लिया जहाँ से घुसपैठिये भारत में प्रवेश करते थे।

कश्मीर को हथियाने के अपने इस प्रयास में असफल होकर पाकिस्तान एक हारे जुआरी की तरह बौखला गया। 1 सितम्बर, 1965 को पाकिस्तान ने विपुल टैंक शक्ति के साथ कश्मीर के छम्ब क्षेत्र पर अचानक ही भीषण आक्रमण कर दिया, यह क्षेत्र पाकिस्तान की प्रधान सैनिक छावनियों के निकट और आक्रमण की दृष्टि से पाकिस्तान के अनुकूल था। यदि अखनूर पर पाक फौजें अधिकार कर लेतीं तो पाकिस्तान जम्मू को जीतकर जम्मू-कश्मीर की भारतीय सेना को शेष भारत से विलग कर सकता था। किन्तु पाकिस्तान के मनसूबे खाक में मिल गए। भारत के भीषण प्रत्याक्रमण ने पाकिस्तान को छठी का दूध याद करा दिया। भारत ने पाक के विरुद्ध सम्पूर्ण-सीमा पर नए मोर्चे खोल दिए। 15 सितम्बर तक पाकिस्तान की वायु-शक्ति की कमर टूट गई। पाकिस्तान को प्राप्त अमेरिकी पैटन-टैंकों का कब्रिस्तान बन गया और पाकिस्तान की पराजय सन्निकट दिखाई देने लगी।

'अपने छोटे भाई' और 'अजीज दोस्त' को पिटते हुए देखकर 'बड़े आका' चीन ने 16 सितम्बर को भारत को तीन दिन का अल्टीमेटम भेजते हुए यह बेहूदा आरोप लगाया कि भारत ने सिक्किम-तिब्बत पर चीनी प्रदेश में अपने सैनिक अड्डे कायम कर लिए हैं और 59 याक तथा 800 भेड़ें चुरा ली हैं, अतः उसे तीन दिन

में अड्डों को नष्ट कर पशुओं को वापस कर देना चाहिए अन्यथा उसे गम्भीर परिणाम भुगतने होंगे। भारत ने इन सैनिक अड्डों के निरीक्षण के लिए कई प्रस्ताव रखे, लेकिन चीन ने उन्हें ठुकरा दिया। ठुकराता भी क्यों नहीं ? आखिर कोई अड्डे होते तभी तो उनका निरीक्षण किया जाता। चीन के अल्टीमेटम का उद्देश्य तो पाकिस्तान को अपने समर्थन की आशा दिलाकर भारत के साथ युद्धरत रहने की प्रेरणा देना था। चीनी अल्टीमेटम का वास्तविक उद्देश्य कुछ भी रहा हो, लेकिन 19 सितम्बर को इसकी अवधि की समाप्ति पर चीन ने अल्टीमेटम की अवधि 3 दिन और बढा दी। इस बढ़ी हुई अवधि की समाप्ति पर एक तरफ तो सुरक्षा परिषद् में युद्ध-विराम का निर्णय हुआ और दूसरी तरफ चीन ने यह विचित्र घोषणा करदी कि भारत ने चीनी सीमा में बने हुए सैनिक अड्डे स्वयंमेव तोड़ दिए हैं, अतः अल्टीमेटम के अनुसार अगली कार्यवाही करने की आवश्यकता नहीं है। चीनी अल्टीमेटम पाकिस्तान को खुश करने का दिखावा मात्र था, अन्यथा चीन यह भली-भाँति समझ चुका था कि भारत अब सन् 1962 का भारत नहीं था। चीनी कार्यवाही से यह पुनः सिद्ध हो गया कि पाकिस्तान और चीन में 'चोर-चोर मौसेरे भाई' का सम्बन्ध है।

भारत-पाक युद्ध 23 सितम्बर, 1965 तक चला और अन्त में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से 23 सितम्बर को 3½ बजे प्रातःकाल युद्ध-विराम हो गया। युद्ध-समाप्ति पर लगभग 740 वर्गमील पाकिस्तानी क्षेत्र भारत के अधिकार में था जबकि आकस्मिक आक्रमण का लाभ उठा लेने के कारण 240 वर्गमील का भारतीय क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार मे रह गया था। भारत ने निरन्तर विजयी होते हुए भी युद्ध-विराम स्वीकार कर यह सिद्ध कर दिया कि वह एक शान्तिप्रिय राष्ट्र है। युद्ध से यह पुनः स्पष्ट हो गया कि साम्यवाद के विरोध के नाम पर पाकिस्तान को दी गई विशाल अमेरिकी सैनिक सहायता का किस प्रकार एक शान्तिप्रिय लोकतान्त्रिक राष्ट्र के विरुद्ध दुरुपयोग किया जा सकता है। घटनाओं ने भारत का यह आरोप भी सत्य प्रमाणित कर दिया कि इस उप-महाद्वीप में शक्ति-सन्तुलन को बिगाड़ने का मुख्य उत्तरदायित्व अमेरिका और उसके मित्रराष्ट्रों का है।

भारत-पाक युद्ध के गम्भीर परिणाम और प्रभाव सामने आए। प्रथम, यह स्पष्ट हो गया कि भारत की धर्म-निरपेक्षता का आधार बड़ा ठोस है और कश्मीर के मुस्लिम नागरिक भारत के प्रति पूर्ण देशभक्त हैं। दूसरे, भारतीय एकता पुनः सुदृढ़ और सम्पुष्ट हुई तथा उसमें एक नया रूप और नया निखार आया। तीसरे, भारत में अपूर्व स्वाभिमान जागा तथा आत्मनिर्भर बनने की बलवती भावना जाग्रत हुई। चौथे, भारत की सन् 1962 में खोई हुई प्रतिष्ठा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बहुत कुछ पुनर्जीवित हो गई। पाँचवें, भारत को अपने मित्र और शत्रु देशों का अच्छी तरह पता चल गया। अमेरिकी और ब्रिटिश रवैया तो पहले ही स्पष्ट था; इण्डोनेशिया, टर्की, ईरान आदि राष्ट्रों का भी भारत-विरोधी रवैया प्रकट हो गया। मलाया के अतिरिक्त अन्य किसी भी राष्ट्र ने पाक-आक्रमण की स्पष्ट रूप से निन्दा नहीं की

छठे, संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपयोगिता पुनः सिद्ध हो गई। यद्यपि विश्व-संस्था का रवैया पक्षपातपूर्ण रहा, तथापि यह पुनः प्रकट हो गया कि यदि महाशक्तियाँ सहयोग से काम करें तो संयुक्त राष्ट्रसंघ को पूरी सफलता प्राप्त हो सकती है। सातवें, इस संघर्ष ने सोवियत कूटनीति को एक नया मोड़ लेने का अवसर प्रदान किया। दो राष्ट्रों के विवाद को सुलझाने में मध्यस्थ के रूप में रूस पहली बार आगे आया। सोवियत कूटनीति के जादू ने ताशकन्द समझौता करा ही दिया।

युद्ध-विराम उल्लंघन और ताशकंद समझौता, 1966—युद्ध-विराम के बाद भी पाकिस्तान भड़काने वाली कार्यवाहियों से बाज नहीं आया और आए दिन सीमा-उल्लंघन की घटनाएँ जारी रहीं। यह आशंका बनी रही कि कहीं दोनों ही पक्षों में युद्ध फिर न भड़क उठे। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए यद्यपि अमेरिका सहित पश्चिमी राष्ट्र और महासचिव ऊथांट सक्रिय थे, तथापि सोवियत कूटनीति विशेष रूप से सफल हुई। सोवियत प्रधान मन्त्री कोसीगिन ने दोनों देशों के शीर्षस्थ नेताओं की प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा ताशकन्द समझौते की व्यवस्था की। ताशकन्द वार्ता 4 जनवरी से 10 जनवरी, 1966 तक चालू रही। पाकिस्तानी दुराग्रह के कारण ताशकन्द सम्मेलन की सफलता पूर्ण संदिग्ध थी, किन्तु रूसी प्रधान मन्त्री की अन्तिम दिन की अथक् दौड़-धूप के कारण 10 जनवरी को 9 बजे रात्रि को श्री अयूब खाँ और श्री शास्त्री ने एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए जो 'ताशकन्द घोषणा' (Tashkent Declaration) के नाम से विख्यात हुआ। इस समझौते के मुख्य तत्त्व ये थे—

(1) दोनों देश परस्पर अच्छे पड़ोसियों के सम्बन्ध कायम रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार पूरा प्रयास करेंगे और शक्ति प्रयोग न कर आपसी विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाएँगे।

(2) दोनों देशों के सब सशस्त्र सैनिक 25 फरवरी, 1966 तक उन स्थानों पर लौट जाएँगे जहाँ वे 5 अगस्त, 1965 के पहले थे। दोनों ही पक्ष युद्ध-विराम रेखा पर युद्ध-विराम की शर्तों का पालन करेंगे।

(3) दोनों देश एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार बन्द कर देंगे और ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन देंगे जिससे मैत्री मे वृद्धि हो।

(4) दोनों देशों के उच्चायुक्त अपनी-अपनी जगह लौट जाएँगे तथा सामान्य राजनयिक सम्बन्ध पुनः स्थापित किए जाएँगे। राजनयिक व्यवहार मे सन् 1961 के वियना समझौते का सम्मान किया जाएगा।

(5) दोनों देशों के बीच आर्थिक सम्बन्ध, व्यापार, संचार और सांस्कृतिक सम्पर्क कायम करने पर विचार किया जाएगा और दोनों ही देश वर्तमान समझौते को कार्यान्वित करेंगे।

(6) दोनों शीर्षस्थ नेता अपने अधिकारियों को युद्धबन्दियों की वापसी का आदेश देंगे।

(7) दोनों पक्ष शरणार्थियों, निष्कासितों और गैर-कानूनी रूप से बसने वालों की समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों पर वार्ता जारी रखेंगे और ऐसी स्थिति पैदा करेंगे कि लोगों का देश से पलायन बन्द हो। संघर्षकाल में दोनों पक्षों ने जिस माल या सम्पत्ति पर अधिकार किया है उसके लौटाने के बारे में बातचीत की जाएगी।

(8) जिन मामलों का दोनों देशों से सीधा सम्बन्ध है, उन पर विचार के लिए दोनों पक्षों की सर्वोच्च तथा अन्य स्तरों पर बैठकें होती रहेंगी। दोनों ही पक्षों ने 'भारत-पाकिस्तान संयुक्त समितियाँ' नियुक्त करने पर भी सहमति प्रकट की जो अपनी-अपनी सरकारों को बताएँगी कि आगे और क्या कदम उठाए जाएँ।

ताशकन्द समझौते की विभिन्न क्षेत्रों में कटु आलोचना की गई। पाकिस्तान में आलोचना का मुख्य आधार यह था कि समझौते से पाकिस्तान को अपने मुख्य लक्ष्य कश्मीर प्राप्त करने में कोई सफलता नहीं मिली। राष्ट्रपति अयूब खाँ ने प्रत्युत्तर में यह तर्क दिया कि समझौते से कश्मीर की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया है क्योंकि शान्ति-स्थापना के बाद अब यह प्रश्न सुरक्षा परिषद् में उठाया जा सकेगा। भारत में आलोचना के मुख्य कारण ये थे—(1) कश्मीर के महत्त्वपूर्ण दर्रों से फौजें हटा लेना भारतीय सेना के साथ विश्वासघात और भावी आक्रमण के खतरे को मोल लेना है, (2) पाक-चीन गुटबन्दी के प्रकाश में शत्रु को रियायत देना गलत है, (3) समझौता रूसी दबाव में आकर किया गया है, एवं (4) समझौते से शान्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं हुआ है। सरकारी पक्ष ने समझौते को उचित ठहराते हुए कहा कि इससे पाक-चीन गुटबन्दी के फलस्वरूप भावी युद्ध का संकट टल गया है तथा दोनों देशों का संयुक्त मोर्चा बनने का खतरा कम हो गया है। यह भी कहा गया कि भारतीय विदेश नीति के सन्दर्भ में यह उचित था कि भारत शान्ति की भावना से काम करता। कश्मीर के महत्त्वपूर्ण दर्रों से सेनाएँ हटाना इसलिए उचित समझा गया क्योंकि पाकिस्तान ने महाशक्ति रूस की साक्षी में शक्ति का प्रयोग न करने का आश्वासन दिया था। समझौते का एक कारण सुरक्षा परिषद् का प्रस्ताव और रूस का प्रबल अनुरोध भी था। सुरक्षा परिषद् के 20 सितम्बर के प्रस्ताव के अनुसार दोनों देश यह स्वीकार कर चुके थे कि वे अपनी सेनाएँ 5 अगस्त से पूर्व की स्थिति में लौटा लेंगे।

ताशकन्द समझौता भारत की उदारता और सहिष्णुता का प्रतीक था, लेकिन भावी इतिहास ने सिद्ध कर दिया कि पाकिस्तान भारत के प्रति अमैत्रीपूर्ण कार्यवाहियों से बाज आने वाला नहीं था। यद्यपि उस समय तो दोनों देशों के सैनिक 5 अगस्त, 1965 से पूर्व की स्थिति में लौट गए और दोनों देशों का प्रचार-युद्ध भी बन्द हो गया, लेकिन कुछ ही समय बाद भारतीय सीमान्त पर पा[illegible] सैनिकों की हलचल पुनः शुरू हो गई। श्री शास्त्री ने पाकिस्तान के [illegible] नीति अपनाकर भी अन्त में तुष्टिकरण की नीति का इसलिए प्राश्रय [illegible] की विदेश नीति गुट-निरपेक्षता, शान्तिवाद और समस्याओं को [illegible]

सुलझाने की है। श्री शास्त्री का प्रधान मन्त्रित्व बहुत ही अल्पकालीन रहा, अतः उन्हें विदेश नीति को पूर्ण यथार्थवादी धरातल पर ला खड़ा करने का समुचित समय नहीं मिल सका और वे श्री नेहरू के आदर्शवाद से अभिभूत रहे। जो भी हो, यह श्रेय श्री शास्त्री को जाता है कि उन्होंने भारतीय विदेश नीति को दृढ़ता और यथार्थवादिता की ओर मोडने मे पहल की तथा पाकिस्तान को बता दिया कि भारत सन् 1962 का भारत नहीं है। श्री शास्त्री ने देश को पूर्ण प्रतिष्ठा दिलाने मे बहुत-कुछ सफलता प्राप्त की।

इन्दिरा युग (जनवरी, 1966–मार्च, 1977)

श्री शास्त्री के आकस्मिक निधन के बाद पं. जवाहरलाल नेहरू की पुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी भारत की प्रधान मन्त्री बनी। श्रीमती गांधी ने अपना स्थान सुदृढ़ करने के बाद यह स्पष्ट संकेत दे दिया कि भारत यद्यपि किन्हीं भी परिस्थितियों में अपनी गुट-निरपेक्ष और शान्तिवादी नीतियों का परित्याग नहीं करेगा, तथापि वह राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए यथार्थ की उपेक्षा भी नही करेगा। श्रीमती गांधी ने भारतीय विदेश नीति की भ्रान्तियों को दूर कर उसे एक नई दिशा प्रदान की और आज सभी क्षेत्रो में यह स्वीकार किया जाता है कि श्री नेहरू द्वारा विरासत मे दी गई भारतीय विदेश नीति को जितनी अच्छी तरह श्रीमती गांधी ने समझा है और जिस रूप में उसके विविध पक्षो को उजागर किया है, वह स्तुत्य है। इन्दिरा युग में भारत-पाक सम्बन्धों का जो ताना-बना रहा वह निम्नानुसार है—

पाकिस्तान का भारत-विरोधी दृष्टिकोण पूर्ववत्—अल्पकालीन शान्ति के बाद पाकिस्तान ने भारत के साथ पुनः छेड़छाड़ प्रारम्भ कर दी। जुलाई-अगस्त, 1966 में पाक-सैनिको ने सीमान्त पर अपनी हलचल पुन. आरम्भ कर दी। तनाव कम करने के भारतीय प्रयासों के फलस्वरूप सितम्बर, 1966 में दोनों देशों के सैनिक अधिकारियों द्वारा यह निश्चय किया गया कि यदि सीमान्तो पर कोई सैनिक गतिविधि हो तो इसकी पूर्व सूचना वे एक-दूसरे को दे दें पर पाकिस्तान के मन मे ती कुटिलता भरी थी, अतः वह न केवल सीमान्त पर छुटपुट छेड़छाड़ करता रहा बल्कि भारत की वायु सेना का भी अतिक्रमण करता रहा। विवश होकर भारत ने पुनः कठोर रुख अपनाया। सन् 1967 के प्रारम्भ में भारतीय क्षेत्र मे एक पाकिस्तानी विमान मार गिराया। इससे दोनों देशों में तनाव फिर बढ़ गया। मई, 1967 मे अखनूर क्षेत्र में भारत और पाकिस्तान के सैनिको के बीच एक मुठभेड़ भी हुई। पहल पाकिस्तान ने की, अतः आकस्मिक आक्रमण के कारण 7 भारतीय सैनिक मारे गए।

कश्मीर पर पाकिस्तानी रवैया पूर्ववत् रहा। अप्रेल, 1966 में पाकिस्तान कश्मीर समस्या को पुनः सुरक्षा परिषद् मे ले गया। कश्मीर में हुए दगों को पाकिस्तान ने 'कश्मीरियों के विद्रोह' की सज्ञा देते [illegible] की। भारत ने पाक आरोपो [illegible] के हस्तक्षेप की माँग [illegible] न कर सकी।

अन्त में, यही प्रस्ताव पारित होकर रह गया कि दोनों पक्ष प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए प्रयास करें।

याहिया खाँ द्वारा सत्ता-ग्रहण और पाक-शत्रुता में वृद्धि—ताशकन्द समझौते के बाद में ही पाकिस्तान के प्रति रवैये में कुछ परिवर्तन आया और जुलाई, 1968 में रूस ने उसे सैनिक सहायता देने का निश्चय किया। तत्कालीन परिस्थितियों मे भारत की चिन्ता और प्रतिक्रिया का रूस ने कोई ख्याल नहीं किया। इसी समय पाकिस्तान की आन्तरिक राजनीति में उथल-पुथल शुरू हुई और अप्रेल, 1969 में अयूबखां से सत्ता निकल कर जनरल याहिया खां के हाथों में आ गई। यह आशा की गई कि नया प्रशासन भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण रुख अपनाएगा, लेकिन कुछ समय शान्त रहने के बाद जनरल याहिया खाँ ने भारत के प्रति घोर शत्रुतापूर्ण नीति अपनानी शुरू की जिसकी परिणति दिसम्बर, 1971 में भारत-पाक युद्ध और पाकिस्तान के विभाजन मे हुई।

रबात सम्मेलन और पाक रवैया—22 सितम्बर, 1969 में मोरक्को की राजधानी रबात में इस्लामी शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ। पाकिस्तान के विरोध के कारण सम्मेलन के आयोजकों ने भारत को निमन्त्रण नहीं भेजा। इस पर भारत की ओर से कूटनीतिक प्रयत्न किए गए और अन्ततोगत्वा 23 सितम्बर को उसे सम्मेलन मे भाग लेने का निमन्त्रण प्राप्त हो गया। केन्द्रीय मन्त्री फखरुद्दीन अली अहमद के नेतृत्व में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल रबात पहुँचा। सम्मेलन में भारत को आमन्त्रित करने के विरोध में 24 सितम्बर को याहिया खाँ द्वारा सम्मेलन का बहिष्कार कर दिया गया और तब भारत को न केवल सम्मेलन में भाग लेने से वंचित कर दिया गया वरन् उसके साथ सामान्य शिष्टाचार ही नहीं बरता गया। यह सब पाकिस्तानी कूटनीति का परिणाम था। पाकिस्तानी सम्मेलन ने भारत के भाग लेने पर सम्मेलन के बहिष्कार करने और लौट जाने की धमकी दी और मोरक्को, जोर्डन आदि उसके अरब मित्रों ने उसका पूरा साथ दिया। केवल संयुक्त अरब-गणराज्य का ही समर्थन भारत के पक्ष में रहा। वास्तव में रबात में जो कुछ हुआ वह भारत का राष्ट्रीय अपमान था। 14 अक्तूबर को मोरक्को और जोर्डन से अपने राजदूत वापस बुला लिए गए।

विमान अपहरण-काण्ड—पाकिस्तान निरन्तर भारत विरोधी कार्यवाहियाँ करता रहा। 30 जनवरी, 1971 को इण्डियन एयर लाइन्ज के एक यात्री-विमान का अपहरण कर जबरन लाहौर हवाई अड्डे पर उतारा गया। पाकिस्तान ने अपहरणकर्त्ताओं को राजनीतिक शरण दी, विमान के यात्रियों को लौटा दिया, लेकिन अपहरणकर्त्ताओं द्वारा आग लगवाकर विमान जलवा दिया। भारत में तीव्र रोष की लहर दौड़ गई और सरकार ने पाकिस्तानी विमानों के भारतीय प्रदेश से होकर उड़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यह स्पष्ट कह दिया गया कि पाक विमानों की भारतीय वायु प्रदेश के ऊपर से उड़ानों पर तब तक प्रतिबन्ध लगा रहेगा तक पाकिस्तान ध्वस्त किए गए विमान का मुआवजा नहीं देता और [illegible] को सौंप नहीं देता।

विमान अपहरण-काण्ड और भारत द्वारा बदले की कार्यवाही से सीमान्त पर प्रतिरोध का वातावरण और अधिक गम्भीर हो गया तथा पाकिस्तान में नागरिक सुरक्षा के अभ्यास हुए और लोगों को युद्ध का प्रशिक्षण लेने का आग्रह किया गया। वैसे भी जनरल याहिया खाँ 22 दिसम्बर, 1970 को ही पाकिस्तान के 18 से 21 वर्ष के युवकों के लिए अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण की घोषणा कर चुके थे। पाकिस्तानी शासक यह समझे बैठे थे कि उनका एकमात्र संबल धर्मान्धता और भारत-विरोध है।

बगलादेश में मुक्ति आन्दोलन का विस्फोट और भारत-पाक सम्बन्धों में तेजी से बिगाड़—पाक जनता की जनतान्त्रिक आकांक्षाओं के उठते हुए तूफान को शान्त करने के लिए जनरल याहिया खाँ ने सत्ता ग्रहण करते समय यह घोषणा की थी कि वे शीघ्र ही नए चुनाव सम्पन्न करवा कर जन-प्रतिनिधियों को शासन सौंप देंगे। विवशता की बेड़ियों से जकड़े हुए याहिया खाँ ने दिसम्बर, 1970 में चुनाव कराए जिनमें शेख मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में गठित पूर्वी बंगाल की आवामी लीग को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ तथा पश्चिमी पाकिस्तान में जुल्फिकार अली भुट्टो के नेतृत्व में गठित पीपुल्स पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आई। आवामी लीग की विजय उसके छः सूत्री कार्यक्रम के आधार पर हुई थी जिसका प्रमुख आधार पूर्वी बगाल के लिए पूर्ण स्वायत्तता की माँग थी, अतः आवामी लीग द्वारा पूर्वी बगाल के लिए पूर्ण स्वायत्तता की माँग की गई जिसे जनरल याहिया खाँ और भुट्टो द्वारा अस्वीकार कर दिया गया और 25 मार्च को समझौता वार्ता भंग कर शेख मुजीबुर्रहमान को गिरफ्तार कर लिया गया तथा जनता के शान्तिपूर्ण असहयोग आन्दोलन को कुचलने के लिए नृशंस सैनिक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी गई। बाध्य होकर आवामी लीग ने पूर्वी बगाल की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और पाकिस्तानी सैनिक आक्रमण से नवजात 'बंगलादेश' की रक्षा के लिए जनता ने सशस्त्र प्रतिरोध शुरू कर दिया।

पाकिस्तानी शासकों ने जनता के मुक्ति आन्दोलन को भारत के षड्यन्त्र का परिणाम बतलाया और एक तरफ तो इसे भारत-पाक समस्या के रूप में विश्व जनमत के सम्मुख रखने का प्रयास किया गया और दूसरी तरफ बगालवासियों पर घोर अत्याचार एवं अभूतपूर्व हत्याकाण्ड का क्रम चालू रखा, जिससे शरणार्थियों के जत्थे के जत्थे भारत आने लगे। लगभग एक करोड़ शरणार्थी भारत आए। इस प्रकार पाकिस्तान ने एक तरह से भारत के विरुद्ध भीषण आर्थिक युद्ध छेड़ दिया। भारत की अर्थव्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ने लगा और बंगलादेश की समस्या उसके लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गई। भारत ने समस्या की भीषणता को सही रूप मे विश्व-जनमत के सम्मुख रखा तथा पाकिस्तान की बर्बरतापूर्ण कार्यवाहियों से दुनिया को परिचित कराया। भारत ने विश्व के देशों से अपील की कि जब तक बगलादेश की समस्या का सफल समाधान न हो जाए तब तक वे पाकिस्तान को किसी भी प्रकार की सैनिक और आर्थिक सहायता न दें। भारत की ओर से अनेक

प्रतिनिधियों ने एवं स्वयं श्रीमती गांधी ने विदेश-यात्रा की तथा बंगलादेश की समस्या के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। सोवियत संघ और विश्व के अनेक राष्ट्रों ने भारतीय दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति प्रकट की तथा पाकिस्तान को सहायता बन्द कर दी, किन्तु अमेरिका और चीन ने बंगलादेश के प्रश्न को पाकिस्तान का घरेलू मामला बता कर उसे सैनिक और आर्थिक सहायता देने का क्रम बराबर जारी रखा।

जब परिस्थिति बहुत ही विकट हो गई और शरणार्थियों का अथाह प्रवाह भारत में आता रहा तो भारत सरकार ने पाकिस्तान के प्रति कठोर रवैया अपनाते हुए बंगलादेश से जन-आन्दोलन को अपना पूर्ण समर्थन देने का निश्चय कर लिया। पाकिस्तान में भारत से युद्ध छेड़ने का उन्माद प्रबल होता गया और पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही सीमान्तों पर पाक-सेनाएँ आए दिन छुटपुट हमले करने लगी। फिर भी भारत ने पूर्ण संयम से काम लेते हुए पर्याप्त प्रयत्न किया कि युद्ध के बादल छँट जाएँ, लेकिन जो होनी थी वह होकर रही। जनरल याहिया खाँ ने भारत पर आक्रमण करके न केवल अपनी राजनीतिक हत्या करली बल्कि पूर्वी बंगाल के पृथक्करण को सुनिश्चित बना दिया और बंगलादेश-गणराज्य का उदय होकर रहा।

भारत-पाक युद्ध, दिसम्बर, 1971—चीन और अमेरिका से भेंट में प्राप्त विपुल सैनिक सहायता के बल पर युद्ध के नशे में चूर पाकिस्तान ने 3 दिसम्बर, 1971 को सायंकाल भारत के विभिन्न हवाई-अड्डों पर अचानक ही भीषण हवाई आक्रमण कर दिया। भारत की स्थल और जल सेना पूर्ण सक्रिय हो गई। भारत ने पाकिस्तान को एक न भूलने वाला सबक सिखाने का निश्चय करके विद्युत गति से प्रत्याक्रमण किया और पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही मोर्चों पर जल, थल और नभ में पाकिस्तान के सैन्य तन्त्र को भीषण क्षति पहुँचाई। पश्चिमी मोर्चों पर युद्ध पाकिस्तान की भूमि पर लड़ा गया और पूर्वी मोर्चे पर भारतीय सेना तथा 'मुक्ति-वाहिनी' की संयुक्त कमान ने भारतीय ले. जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के नेतृत्व में कहर ढा दिया।

युद्धकाल में 5 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद् की आपातकालीन बैठक में पाकिस्तान ने भारत पर आरोप लगाया कि वह 'पूर्वी पाकिस्तान' में क्रान्तिकारियों को सहायता देकर पाकिस्तान की क्षेत्रीय अखण्डता पर प्रहार कर रहा है। भारतीय प्रतिनिधि समरसेन ने पाक आरोपों का तीव्र विरोध किया। सोवियत रूस के बार-बार 'वीटो' के कारण सुरक्षा परिषद् में भारत-विरोधी प्रस्ताव पारित नहीं सका। इसी बीच 6 दिसम्बर को श्रीमती गांधी ने भारतीय संसद् में गणराज्य' के उदय की सूचना दी। 'बंगलादेश' को मान्यता देकर समस्या को बिलकुल एक नया मोड़ दे दिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ व को बता दिया कि भारत किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन को नहीं

राज्य की वैध सरकार को सहायता दे रहा है जिसके साथ 'नाटो' जैसा कोई सैनिक समझौता न होने पर भी भारत की पूर्ण सहानुभूति है।

भारत-पाक-युद्ध केवल 14 दिन चला और 16 दिसम्बर, 1971 को बंगलादेश की राजधानी ढाका में पाक सेना के ले. जनरल ए. ए के. नियाजी ने आत्म-समर्पण के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर कर दिए। पूर्वी मोर्चे पर लगभग 1 लाख पाक फौजों ने आत्म-समर्पण किया और पश्चिमी मोर्चे पर पाकिस्तान की लगभग 14 सौ वर्गमील भूमि पर कब्जा कर लिया। पाक फौजों के आत्म-समर्पण के तुरन्त बाद ही श्रीमती गांधी ने 17 दिसम्बर को रात्रि के 8 बजे 'एकपक्षीय युद्ध-विराम' की घोषणा करते हुए पाक-राष्ट्रपति जनरल याहिया खाँ से युद्ध बन्दी-प्रस्ताव को स्वीकार करने की अपील की। पाकिस्तान के लिए तो यह एक वरदान था जिसे याहिया खाँ ने स्वीकार कर लिया। भारत-पाक युद्ध के दौरान अमेरिका ने अपना शक्तिशाली सातवाँ जहाजी बेड़ा बंगाल की खाड़ी में भेजा था जिसका उद्देश्य किसी न किसी रूप में पाकिस्तान की सहायता करना था, किन्तु भारतीय हितों के रक्षार्थ हिन्दमहासागर में रूसी युद्ध-पोतों की उपस्थित ने अमेरिका को कोई ऐसा कदम न उठाने के लिए विवश कर दिया जिससे दोनों महाशक्तियों के टकराने का भय पैदा हो जाए। भारत के एकपक्षीय युद्ध-विराम ने भी अमेरिकी मनसूबों पर पानी फेर दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति निक्सन को विदेश नीति के क्षेत्र में गहरी कूटनीतिक पराजय दी। इतिहास का यह मजाक ही कहा जाएगा कि लोकतन्त्र की रक्षा के लिए वह रूस आगे आया जिसे अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्र लोकतन्त्र का शत्रु कहते आ रहे थे। अपने आपको महान् लोकतान्त्रिक देश कहने वाले अमेरिका ने याहिया खाँ की अमानुषिक तानाशाही को समर्थन दिया और जनता के एक महान् लोकतान्त्रिक आन्दोलन के दमन में परोक्ष-अपरोक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया।

युद्ध के परिणाम—दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले—

1. भारत की विदेश नीति में एक नया परिवर्तन आया। उसने पूर्वापेक्षा अधिक यथार्थवादी और आत्मविश्वासपूर्ण रूप ग्रहण किया। पाकिस्तान के प्रति तुष्टिकरण की नीति के स्थान पर दृढ़ता और आवश्यक कठोरता की नीति अपनाई जाने लगी। इस नीति का प्रारम्भ तो पहले ही हो चुका था, लेकिन अब यह एक कदम और आगे बढ़ गई। विदेश नीति में इस परिवर्तन का सामान्यतया स्वागत किया गया।

2. भारत के प्रति अमेरिकी विदेश नीति की कुटिलता का अच्छी तरह पर्दाफाश हो गया। यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका भारतीय हितों की कोई परवाह ~ करता, एक महान् लोकतन्त्र के प्रति शत्रुता और तानाशाही राज्य के प्रति

मित्रता का व्यवहार कर सकता है। भारत में अमेरिका के विरुद्ध तीव्र असन्तोष व्याप्त हो गया और भारत सरकार का यह निश्चय और भी दृढ हो गया कि अमेरिकी सहायता पर आश्रित न रहा जाए। अब भारत मे आत्म-निर्भरता का एक आन्दोलन-सा उठ खड़ा हुआ।

3. सोवियत संघ और भारत की मैत्री और अधिक घनिष्ठ हो गई। भारतीय नेतृत्व ने जनता को यह विश्वास दिला दिया कि जिन राष्ट्रो के साथ भारत के हित सम्बद्ध हैं, भारत उन्ही राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्ध और मजबूत बनाएगा। इस प्रकार के लक्षण स्पष्ट हो गए कि सोवियत संघ भारत का एक विश्वसनीय मित्र है, अमेरिका पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता और भारत को चीन से डरने की कोई आवश्यकता नही है।

4. इस युद्ध के फलस्वरूप न केवल पाकिस्तान विखण्डित हुआ, बल्कि अमेरिका और चीन के राजनीतिक हितों को भी गहरी ठेस पहुँची। अमेरिका और पाकिस्तान पहले की तुलना मे और अधिक निकट आए क्योंकि अमेरिका के लिए एशिया में अब टूटे हुए पाकिस्तान के अलावा और कोई सहारा नही रहा।

5 अमेरिका और चीन का यह इरादा स्पष्ट हो गया कि वे भारत को एक कमजोर राष्ट्र के रूप मे देखना चाहते हैं। दोनों को यह बात सहन नही थी कि अफगानिस्तान से लेकर मलेशिया तक के विस्तृत भू-भाग मे भारत एक महाशक्ति के रूप मे उदित हो।

6. एक प्रबल सैनिक शक्ति के रूप में भारत की प्रतिष्ठा से छोटे पड़ोसी राष्ट्रों के मन मे यह आशंका घर कर गई कि कही भारत उनके प्रति दबाव की नीति न अपनाए, लेकिन भारत ने इस प्रकार की आशकाओ को निर्मूल कर दिया। उदाहरणार्थ, कच्चादिवू श्रीलका को सौंप कर भारत ने महान् उदारता का परिचय दिया

7 पाकिस्तान में सैनिक शासन के प्रति तीव्र असन्तोष उत्पन्न हो गया और अन्त मे पाकिस्तान की बागडोर असैनिक राजनीतिज्ञ श्री भुट्टो के हाथ मे आई।

8. नवोदित बंगलादेश और भारत के बीच मैत्री का निरन्तर विकास होता चला गया।

9. राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे तो इस युद्ध के फलस्वरूप श्रीमती गाँधी को एक शक्तिशाली राष्ट्रीय नेतृत्व प्राप्त हुआ। भारतीय यह महसूस करने लगे मानो सदियो के बाद भारत को एक ऐसा नेता मिला है जो उसे विश्व मे एक महान् राष्ट्र के रूप मे प्रतिष्ठित करने को कटिबद्ध है।

शिमला-समझौता, जुलाई 1972

भारत ने पराजित और विखण्डित पाकिस्तान की दुर्दशा का कोई अनुचित लाभ न उठा कर इस बात का प्रयत्न किया कि दोनों देश पारस्परिक वार्ता द्वारा अपने सभी विवादो का समाधान कर उपमहाद्वीप मे मैत्री के एक नए युग का सूत्रपात करें। काफी विचार-विमर्श के बाद आखिर भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला

राज्य की वैध सरकार को सहायता दे रहा है जिसके साथ 'नाटो' जैसा कोई सैनिक समझौता न होने पर भी भारत की पूर्ण सहानुभूति है।

भारत-पाक-युद्ध केवल 14 दिन चला और 16 दिसम्बर, 1971 को बंगलादेश की राजधानी ढाका में पाक सेना के ले. जनरल ए. ए. के. नियाजी ने आत्म-समर्पण के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर कर दिए। पूर्वी मोर्चे पर लगभग 1 लाख पाक फौजों ने आत्म-समर्पण किया और पश्चिमी मोर्चे पर पाकिस्तान की लगभग 14 सौ वर्गमील भूमि पर कब्जा कर लिया। पाक फौजों के आत्म-समर्पण के तुरन्त बाद ही *श्रीमती गांधी ने 17 दिसम्बर को रात्रि के 8 बजे 'एकपक्षीय युद्ध-विराम'* की घोषणा करते हुए पाक-राष्ट्रपति जनरल याहिया खाँ से युद्ध बन्दी-प्रस्ताव को स्वीकार करने की अपील की। पाकिस्तान के लिए तो यह एक वरदान था जिसे याहिया खाँ ने स्वीकार कर लिया। भारत-पाक युद्ध के दौरान अमेरिका ने अपना शक्तिशाली सातवाँ जहाजी बेड़ा बंगाल की खाड़ी में भेजा था जिसका उद्देश्य किसी न किसी रूप में पाकिस्तान की सहायता करना था, किन्तु भारतीय हितों के रक्षार्थ हिन्दमहासागर में रूसी युद्ध-पोतों की उपस्थित ने अमेरिका को कोई ऐसा कदम न उठाने के लिए विवश कर दिया जिससे दोनों महाशक्तियों के टकराने का भय पैदा हो जाए। भारत के एकपक्षीय युद्ध-विराम ने भी अमेरिकी मनसूबों पर पानी फेर दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति निक्सन को विदेश नीति के क्षेत्र में गहरी कूटनीतिक पराजय दी। इतिहास का यह मजाक ही कहा जाएगा कि लोकतन्त्र की रक्षा के लिए वह रूस आगे आया जिसे अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्र लोकतन्त्र का शत्रु कहते आ रहे थे। अपने आपको महान् लोकतान्त्रिक देश कहने वाले अमेरिका ने याहिया खाँ की अमानुषिक तानाशाही को *समर्थन दिया और जनता के एक महान् लोकतान्त्रिक आन्दोलन के दमन में परोक्ष-अपरोक्ष* रूप से प्रोत्साहन दिया।

युद्ध के परिणाम—दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय *राजनीति की दृष्टि से कई महत्वपूर्ण परिणाम निकले*—

1. भारत की विदेश नीति में एक नया परिवर्तन आया। उसने पूर्वापेक्षा अधिक यथार्थवादी और आत्मविश्वासपूर्ण रूप ग्रहण किया। पाकिस्तान के प्रति *तुष्टिकरण की नीति के स्थान पर दृढ़ता और आवश्यक* कठोरता की नीति अपनाई जाने लगी। इस नीति का प्रारम्भ तो पहले ही हो चुका था, लेकिन अब यह एक कदम और आगे बढ़ गई। विदेश नीति में इस परिवर्तन का सामान्यतया स्वागत किया गया।

2. भारत के प्रति अमेरिकी विदेश नीति की कुटिलता का अच्छी तरह पर्दाफाश हो गया। यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका भारतीय हितों की कोई परवाह नहीं करता, एक महान् लोकतन्त्र के प्रति शत्रुता और तानाशाही राज्य के प्रति

मित्रता का व्यवहार कर सकता है। भारत में अमेरिका के विरुद्ध तीव्र असन्तोष व्याप्त हो गया और भारत सरकार का यह निश्चय और भी दृढ हो गया कि अमेरिकी सहायता पर आश्रित न रहा जाए। अब भारत में आत्म-निर्भरता का एक आन्दोलन-सा उठ खडा हुआ।

3. सोवियत संघ और भारत की मैत्री और अधिक घनिष्ठ हो गई। भारतीय नेतृत्व ने जनता को यह विश्वास दिला दिया कि जिन राष्ट्रों के साथ भारत के हित सम्बद्ध हैं, भारत उन्हीं राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्ध और मजबूत बनाएगा। इस प्रकार के लक्षण स्पष्ट हो गए कि सोवियत संघ भारत का एक विश्वसनीय मित्र है, अमेरिका पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता और भारत को चीन से डरने की कोई आवश्यकता नही है।

4. इस युद्ध के फलस्वरूप न केवल पाकिस्तान विखण्डित हुआ, बल्कि अमेरिका और चीन के राजनीतिक हितों को भी गहरी ठेस पहुँची। अमेरिका और पाकिस्तान पहले की तुलना मे और अधिक निकट आए क्योंकि अमेरिका के लिए एशिया में अब टूटे हुए पाकिस्तान के अलावा और कोई सहारा नहीं रहा।

5. अमेरिका और चीन का यह इरादा स्पष्ट हो गया कि वे भारत को एक कमजोर राष्ट्र के रूप मे देखना चाहते हैं। दोनो को यह बात सहन नही थी कि अफगानिस्तान से लेकर मलेशिया तक के विस्तृत भू-भाग मे भारत एक महाशक्ति के रूप मे उदित हो।

6. एक प्रबल सैनिक शक्ति के रूप में भारत की प्रतिष्ठा से छोटे पड़ोसी राष्ट्रों के मन मे यह आशका घर कर गई कि कही भारत उनके प्रति दबाव की नीति न अपनाए, लेकिन भारत ने इस प्रकार की आशकाओं को निर्मूल कर दिया। उदाहरणार्थ, कच्चादिवू श्रीलका को सौप कर भारत ने महान् उदारता का परिचय दिया

7 पाकिस्तान में सैनिक शासन के प्रति तीव्र असन्तोष उत्पन्न हो गया और अन्त में पाकिस्तान की बागडोर असैनिक राजनीतिज्ञ श्री भुट्टो के हाथ मे आई।

8. नवोदित बंगलादेश और भारत के बीच मैत्री का निरन्तर विकास होता चला गया।

9. राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे तो इस युद्ध के फलस्वरूप श्रीमती गाँधी को एक शक्तिशाली राष्ट्रीय नेतृत्व प्राप्त हुआ। भारतीय यह महसूस करने लगे मानो सदियों के बाद भारत को एक ऐसा नेता मिला है जो उसे विश्व मे एक महान् राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित करने को कटिबद्ध है।

शिमला-समझौता, जुलाई 1972

भारत ने पराजित और विखण्डित पाकिस्तान की दुर्दशा का कोई अनुचित लाभ न उठा कर इस बात का प्रयत्न किया कि दोनो देश पारस्परिक वार्ता द्वारा अपने सभी विवादों का समाधान कर उपमहाद्वीप मे मैत्री के एक नए युग का सूत्रपात करें। काफी विचार-विमर्श के बाद आखिर भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला

राज्य की वैध सरकार को सहायता दे रहा है जिसके साथ 'नाटो' जैसा कोई सैनिक समझौता न होने पर भी भारत की पूर्ण सहानुभूति है।

भारत-पाक-युद्ध केवल 14 दिन चला और 16 दिसम्बर, 1971 को *बंगलादेश* की राजधानी ढाका में पाक सेना के ले. जनरल ए. ए. के. नियाजी ने आत्म-समर्पण के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर कर दिए। पूर्वी मोर्चे पर लगभग 1 लाख पाक फौजों ने आत्म-समर्पण किया और पश्चिमी मोर्चे पर पाकिस्तान की लगभग 14 सौ वर्गमील भूमि पर *कब्जा कर लिया। पाक फौजों के आत्म-समर्पण के तुरन्त बाद ही* श्रीमती गांधी ने 17 दिसम्बर को रात्रि के 8 बजे 'एकपक्षीय युद्ध-विराम' की घोषणा करते हुए पाक-राष्ट्रपति जनरल याहिया खां से युद्ध बन्दी-प्रस्ताव को स्वीकार करने की अपील की। पाकिस्तान के लिए तो यह एक वरदान था जिसे याहिया खां ने स्वीकार कर *लिया। भारत-पाक* युद्ध के दौरान अमेरिका ने *अपना शक्तिशाली* सातवां जहाजी बेड़ा बंगाल की खाड़ी में भेजा था जिसका उद्देश्य किसी न किसी रूप में पाकिस्तान की सहायता करना था, किन्तु भारतीय हितों के रक्षार्थ हिन्दमहासागर में रूसी युद्ध-पोतों की उपस्थित ने अमेरिका को कोई ऐसा कदम न उठाने के लिए विवश कर दिया जिससे दोनों महाशक्तियों के टकराने का *भय पैदा* हो जाए। भारत के एकपक्षीय युद्ध-विराम ने भी अमेरिकी मनसूबों पर पानी फेर दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति निक्सन को विदेश नीति के क्षेत्र में गहरी कूटनीतिक पराजय दी। इतिहास का यह मजाक ही कहा *जाएगा कि लोकतन्त्र की रक्षा के लिए वह रूस आगे आया जिसे अमेरिका और* उसके पिछलग्गू राष्ट्र लोकतन्त्र का शत्रु कहते आ रहे थे। अपने आपको महान् लोकतान्त्रिक देश कहने वाले अमेरिका ने याहिया खां की अमानुषिक तानाशाही को समर्थन दिया और जनता के एक महान् लोकतान्त्रिक आन्दोलन के दमन में परोक्ष-*अपरोक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया।*

युद्ध के परिणाम—दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले—

1. *भारत की विदेश नीति में एक नया परिवर्तन आया।* उसने पूर्वापेक्षा अधिक यथार्थवादी और आत्मविश्वासपूर्ण रूप ग्रहण किया। पाकिस्तान के प्रति तुष्टिकरण की नीति के स्थान पर दृढ़ता और आवश्यक कठोरता की नीति अपनाई जाने लगी। इस नीति का प्रारम्भ तो पहले ही हो चुका था, लेकिन अब यह एक कदम और आगे बढ़ गई। *विदेश नीति में इस परिवर्तन का सामान्यतया स्वागत* किया गया।

2. भारत के प्रति अमेरिकी विदेश नीति की कुटिलता का अच्छी तरह पर्दाफाश हो गया। यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका भारतीय हितों की कोई परवाह नहीं करता, एक महान् लोकतन्त्र के प्रति शत्रुता और तानाशाही राज्य के प्रति

मित्रता का व्यवहार कर सकता है। भारत में अमेरिका के विरुद्ध तीव्र असन्तोष व्याप्त हो गया और भारत सरकार का यह निश्चय और भी दृढ हो गया कि अमेरिकी सहायता पर आश्रित न रहा जाए। अब भारत मे आत्म-निर्भरता का एक आन्दोलन-सा उठ खड़ा हुआ।

3. सोवियत संघ और भारत की मैत्री और अधिक घनिष्ठ हो गई। भारतीय नेतृत्व ने जनता को यह विश्वास दिला दिया कि जिन राष्ट्रो के साथ भारत के हित सम्बद्ध हैं, भारत उन्हीं राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्ध और मजबूत बनाएगा। इस प्रकार के लक्षण स्पष्ट हो गए कि सोवियत संघ भारत का एक विश्वसनीय मित्र है, अमेरिका पर कोई विश्वास नही किया जा सकता और भारत को चीन से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।

4 इस युद्ध के फलस्वरूप न केवल पाकिस्तान विखण्डित हुआ, बल्कि अमेरिका और चीन के राजनीतिक हितों को भी गहरी ठेस पहुँची। अमेरिका और पाकिस्तान पहले की तुलना मे और अधिक निकट आए क्योकि अमेरिका के लिए एशिया मे अब टूटे हुए पाकिस्तान के अलावा और कोई सहारा नही रहा।

5 अमेरिका और चीन का यह इरादा स्पष्ट हो गया कि वे भारत को एक कमजोर राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं। दोनों को यह बात सहन नही थी कि अफगानिस्तान से लेकर मलेशिया तक के विस्तृत भू-भाग में भारत एक महाशक्ति के रूप मे उदित हो।

6. एक प्रबल सैनिक शक्ति के रूप में भारत की प्रतिष्ठा से छोटे पड़ोसी राष्ट्रो के मन में यह आशका घर कर गई कि कही भारत उनके प्रति दबाव की नीति न अपनाए, लेकिन भारत ने इस प्रकार की आशकाओं को निर्मूल कर दिया। उदाहरणार्थ, कच्चादिवू श्रीलंका को सौंप कर भारत ने महान् उदारता का परिचय दिया

7. पाकिस्तान मे सैनिक शासन के प्रति तीव्र असन्तोष उत्पन्न हो गया और अन्त में पाकिस्तान की बागडोर असैनिक राजनीतिज्ञ श्री भुट्टो के हाथ में आई।

8. नवोदित बंगलादेश और भारत के बीच मैत्री का निरन्तर विकास होता चला गया।

9. राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे तो इस युद्ध के फलस्वरूप श्रीमती गांधी को एक शक्तिशाली राष्ट्रीय नेतृत्व प्राप्त हुआ। भारतीय यह महसूस करने लगे मानो सदियो के बाद भारत को एक ऐसा नेता मिला है जो उसे विश्व मे एक महान् राष्ट्र के रूप मे प्रतिष्ठित करने को कटिबद्ध है।

शिमला-समझौता, जुलाई 1972

भारत ने पराजित और विखण्डित पाकिस्तान की दुर्दशा का कोई अनुचित लाभ न उठा कर इस बात का प्रयत्न किया कि दोनों देश पारस्परिक वार्ता द्वारा अपने सभी विवादों का समाधान कर उपमहाद्वीप में मैत्री के एक नए युग का सूत्रपात करें। काफी विचार-विमर्श के बाद आखिर भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला

(भारत) में जून, 1972 के अन्तिम सप्ताह में एक शिखर सम्मेलन के आयोजन का निश्चय हुआ। शिमला-वार्ता 28 जून से 3 जुलाई तक चली। 3 जुलाई को दोनों देशों के बीच ऐतिहासिक शिमला-समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। इस समझौते के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश निम्नलिखित हैं—

1. भारत व पाकिस्तान की सरकारों का संकल्प है कि वे दोनों देशों के बीच अब तक चले आ रहे विद्वेष और विवादों को समाप्त कर पारस्परिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों व उपमहाद्वीप में स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए काम करेंगी ताकि दोनों देश अपने साधनों व शक्ति का उपयोग अपनी जनता के हित में कर सकें।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारत व पाकिस्तान की सरकारें इन बातों पर सहमत है—

(क) दोनों देशों का संकल्प है कि वे अपने मतभेदों को द्विपक्षीय वार्ता द्वारा शान्तिपूर्ण उपायों से या ऐसे शान्तिपूर्ण उपायों से जिनके बारे में दोनों देशों के बीच सहमति हो गई हो, हल करेंगे। जब तक दोनों देशों की समस्या का अन्तिम रूप से समाधान न हो जाए, कोई भी एक पक्ष स्थिति को नहीं बदलेगा और दोनों देश इस बात का प्रयास करेंगे कि ऐसा कोई काम न हो जिससे शान्तिपूर्ण सम्बन्धों को आघात पहुँचे।

(ख) संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा के अनुसार दोनों राष्ट्र एक दूसरे के विरुद्ध बल प्रयोग नहीं करेंगे तथा वे न तो एक दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करेंगे और न राजनीतिक स्वतन्त्रता में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करेंगे।

2. दोनों ही सरकारें अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक दूसरे के प्रति घृणापूर्ण प्रचार नहीं करेंगी। दोनों राष्ट्र उन सभी समाचारों को प्रोत्साहन देंगे जिनके माध्यम से आपसी सम्बन्धों में सुधार की आशा हो।

3. आपसी सम्बन्धों में सामान्यता लाने की दृष्टि से—(क) दोनों राष्ट्रों के बीच डाक-तार-सेवा तथा जल एवं वायु मार्गों द्वारा पुनः संचार-व्यवस्था स्थापित की जाएगी। (ख) एक दूसरे के नागरिक और निकट आएँ, इसके लिए नागरिकों को आने-जाने की सुविधाएँ दी जाएँगी। (ग) जहाँ तक सम्भव हो सके व्यापारिक एवं अन्य आर्थिक मामलों में सहयोग का क्रम शीघ्रातिशीघ्र आरम्भ होगा। (घ) विज्ञान एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में आदान-प्रदान बढ़ाया जाएगा।

4. स्थायी शान्ति स्थापना की प्रक्रिया का क्रम आरम्भ करने के लिए दोनों सरकारें सहमत हैं कि (क) भारतीय और पाकिस्तानी सेनाएँ अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा में लौट जाएँगी। (ख) दोनों देश बिना एक दूसरे की स्थिति को क्षति पहुँचाए जम्मू-कश्मीर में 17 दिसम्बर, 1971 को हुए युद्ध-विराम की नियन्त्रण रेखा को मान्यता देंगे। (ग) सेनाओं की वापसी इस समझौते के लागू होने के 30 दिन के अन्दर पूरी हो जाएगी।

5. दोनों देशों की सरकारें इस बात पर सहमत हैं कि उनके राष्ट्राध्यक्षों की सुविधाजनक अवसर पर भविष्य में पुनः भेंट होगी। इस बीच दोनों देशों के

प्रतिनिधि स्थायी शान्ति की स्थापना और सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लिए आवश्यक व्यवस्थाओं के बारे में विचार-विमर्श करेंगे। इनमे युद्ध-बन्दियों एवं नागरिकों की वापसी, जम्मू-कश्मीर के अन्तिम हल व कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रश्न शामिल है।

शिमला-समझौते के बारे में भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए गए। आलोचकों ने 'जवानों के बलिदान की उपेक्षा' और 'जीती हुई भूमि' लौटाने के निश्चय पर तीव्र विरोध प्रकट किया। जनसंघी नेता श्री वाजपेयी ने इस समझौते में सरकारी बुद्धि का दिवालियापन देखा कि पाकिस्तान 69 वर्गमील क्षेत्र खाली करेगा जबकि भारत 5,139 वर्गमील पाकिस्तानी इलाका देगा। लोकसभा मे 31 जुलाई, 1972 के अपने भाषण में श्री वाजपेयी ने शिमला-समझौते को 'देश के हित के साथ विश्वासघात' बताया और कहा कि भारत ने पाकिस्तान के साथ स्थायी शान्ति का बहुत अच्छा अवसर गँवा दिया है। समझौते द्वारा यही सिद्ध होता है कि देश यद्यपि युद्ध में जीता है, लेकिन कूटनीति मे सरकार मुट्ठी से हार गई है। श्री वाजपेयी ने देशभक्ति के ओज भरे स्वर में कहा कि हम यह मानते हैं कि हमे पाकिस्तान की भूमि नही चाहिए, लेकिन कश्मीर में पाकिस्तान ने जिस क्षेत्र पर कब्जा कर रखा है उसे खाली कराए बिना क्षेत्र को लौटाना हम कैसे सहन कर सकते हैं।

इसमें तनिक भी सन्देह नही कि विरोधी पक्ष की आलोचनाओं में देशभक्ति की गूँज थी, मातृभूमि के लिए तड़प थी और देश के सम्मान तथा जवानों के बलिदान के प्रति उमग थी। किन्तु शिमला-समझौते का मूल्यांकन करते समय हमें यह नही भूलना चाहिए कि समझौते मे भारत ने कोई ऐसा काम नही किया जिससे राष्ट्रीय सम्मान को किसी प्रकार की कोई क्षति पहुँची हो। इस समझौते से वातावरण के सुधार में सहायता मिली। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने 13 जुलाई, 1972 के अपने भाषण मे लोकसभा में यह विश्वास प्रकट किया कि शिमला-समझौते में दोनों ओर से यह अहसास किया गया है कि दोनों देशों का भला मिलकर चलने मे ही है। भारत को शान्ति के लिए लड़ना है और उसे ऐसे कदम उठाने चाहिए जो शान्ति की ओर ले चलें। भारत किसी भी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तैयार है, किन्तु इस बात पर अवश्य विचार करना चाहिए कि क्या शान्ति सम्भव नही है। श्रीमती गाँधी ने कहा कि आज ऐसी स्थिति हो गई है कि पाकिस्तान चाहे भी तो भारत के विरुद्ध अधिक कुछ नही कर सकता। यह देखना भारत का काम है कि यह स्थिति कायम रहे और कठोर रुख से यह स्थिति कायम नहीं रह सकती। यदि यूरोप के देशों ने पहले विश्व-युद्ध के बाद जर्मनी के साथ वैसा ही व्यवहार किया होता जैसा कि भारत ने पाकिस्तान के साथ किया है, तो सम्भवतः हिटलर का उदय न हुआ होता।

शिमला-समझौते के बाद से मार्च, 1977 तक

शिमला-समझौते के बाद भारत और पाकिस्तान तथा पाकिस्तान और बंगलादेश के बीच सम्बन्ध सुधारने की एक प्रक्रिया शुरू हो गई। बाधाओं के

बावजूद धीरे-धीरे प्रगति हुई। पाकिस्तान के दुराग्रही रवैये के कारण कई बार तनावों में वृद्धि हुई लेकिन फिर स्थिति में सुधार हुआ और यही क्रम अभी तक चल रहा है।

शिमला-समझौते की पुष्टि और ठाकुर-चौक के बारे में समझौता—शिमला से लौटते ही श्री भुट्टो ने पाकिस्तान की राष्ट्रीय एसेम्बली की एक बैठक बुलाई और कहा कि समझौते मे पाकिस्तान ने किसी भी सिद्धान्त का परित्याग नही किया। अन्त मे. एसेम्बली ने समझौते की पुष्टि कर दी और 7 अगस्त, 1972 को पाकिस्तान ने 6770 भारतीय नागरिकों को मुक्त करने की घोषणा भी कर दी। शिमला-समझौते के कार्यान्वयन के बारे मे अगस्त, 1972 के अन्तिम सप्ताह में दोनो देशों के अधिकारियों की बैठक हुई। वार्ताओं और कठिनाइयों का दौर चला। ठाकुर-चौक नामक गाँव के प्रश्न पर काफी विवाद हुआ। अन्त में, 7 दिसम्बर, 1972 को ठाकुर-चौक के बारे मे समझौता हो गया और 11 दिसम्बर को जम्मू-कश्मीर मे पुनः रेखांकन सम्बन्धी मानचित्रो पर भी दोनो पक्षो ने हस्ताक्षर कर दिए। तत्पश्चात् पाकिस्तान ने ठाकुर-चौक भारत को सौंप दिया और भारतीय सेनाएँ पश्चिमी क्षेत्र मे सिन्ध तथा पजाब में सियालकोट क्षेत्रो से पीछे हट गई। जम्मू-कश्मीर में वास्तविक नियन्त्रण-रेखा को अन्तिम रूप मे अंकित करने के उपरान्त दोनो पक्षों की सेनाएँ अपने-अपने स्थानो पर लौट गई।

पाकिस्तान द्वारा विश्व अदालत में फरियाद, मई, 1973—प्रत्येक समस्या पर पाकिस्तान का आचरण अड़ियल रहा। उसने शिमला-समझौते की भावना का अनादर किया। युद्ध-बन्दियों का प्रश्न विवाद का एक बड़ा मुद्दा बन गया। पाकिस्तान चाहता था कि उसके सभी युद्धबन्दी तत्काल छोड़ दिए जाएँ, किन्तु बंगलादेश की यह न्यायोचित माँग थी कि पाकिस्तान से बगालियो और बगलादेश से बिहारी मुसलमानो की वापसी के प्रश्न पर भी बातचीत हो। 18 अप्रेल, 1973 को भारत तथा बगलादेश के विदेश मन्त्रियो ने उपर्युक्त तीनो समस्याओ के समाधान के लिए एक त्रि-सूत्री प्रस्ताव रखा, किन्तु पाकिस्तान ने परस्पर बातचीत द्वारा कोई समझौता करने की जगह मई, 1973 मे इस त्रिसूत्री प्रस्ताव के विरुद्ध विश्व-अदालत मे फरियाद की। पाकिस्तान ने कहा कि सन् 1948 के जिनवा समझौते के अनुसार नरसंहार के अपराधियो को सजा देने का अधिकार पाकिस्तान को है, भारत को इस पर कोई कार्यवाही नही करनी चाहिए।

मानवीय समस्याओं पर दिल्ली समझौता, अगस्त, 1973—विरोधो और कठिनाइयो के बावजूद पाकिस्तानी युद्धबन्दियो तथा अन्य मानवीय समस्याओ पर अनेक स्तरों पर बातचीत के दौर चले और अन्त मे 28 अगस्त, 1973 को भारत और पाकिस्तान ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार पाकिस्तान से सभी बगालियो, बगलादेश से काफी बड़ी संख्या मे पाकिस्तानी नागरिको और भारत से उन 195 युद्धबन्दियो को छोड़कर जिन पर बंगलादेश मे मुकदमा चलाया जाना था, शेष सभी युद्धबन्दियों की जल्दी ही एक साथ अदला-बदला करने का

निर्णय लिया गया। यह समझौता करने में भारत सरकार बंगलादेश की सरकार से निरन्तर परामर्श करती रही। 195 युद्धबन्दियों के विषय में समझौते मे यह प्रावधान रखा गया कि प्रत्यावर्तन (अदला-बदली) की प्रक्रिया के बीच किसी पर कोई मुकदमा नही चलाया जाएगा और ये युद्धबन्दी भारत मे ही रहेंगे। यह तय हुआ कि बाद में इस समस्या के समाधान के लिए त्रिपक्षीय विचार-विमर्श होगा।

दिसम्बर, 1973 मे पाकिस्तान ने 195 युद्धबन्दियो सम्बन्धी अपना आवेदन-पत्र विश्व-अदालत से वापस ले लेने का निर्णय किया। पाकिस्तान की इस कार्यवाही का स्वागत करते हुए भारत ने आशा प्रकट की कि अब इन युद्धबन्दियो के मामले को निपटाने की दिशा में पारस्परिक वार्ता से कोई उपयुक्त कदम उठाया जा सकेगा, दिल्ली-समझौते के अधीन प्रत्यावर्तन का कार्य, कुछ बाधाओं के बावजूद पूरा हो गया।

कश्मीर के प्रश्न पर महासभा में श्री भुट्टो की रट, सितम्बर, 1973—शिमला-समझौते मे यह तय हुआ था कि कश्मीर के प्रश्न का स्थायी समाधान पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण और पूर्ण शान्ति स्थापना के बाद ही निकालना है, किन्तु सितम्बर, 1973 मे श्री भुट्टो ने संयुक्तराष्ट्र महासभा के समक्ष अपने भाषण मे फिर कश्मीर की रट लगाई। भारतीय विदेश मन्त्री ने स्पष्ट रूप से कहा कि इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्रसंघ में उठाने की कोई तुक नहीं है क्योंकि शिमला में दोनों पक्षो मे इस बात पर सहमति हो गई थी कि प्रश्न का द्विपक्षीय वार्ता से समाधान किया जाएगा। नवम्बर, 1973 में पाक प्रधान मन्त्री ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के दौरे के समय कुछ ऐसे बयान जारी किए जो शिमला-समझौते के प्रावधानों के विपरीत थे, विशेष रूप से उन प्रावधानों के जिनमें एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की बात कही गई है। पाकिस्तान सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया और यह बात स्पष्ट कर दी गई कि पाकिस्तान का उच्चतम प्राधिकारी अगर ऐसे वक्तव्य देता है तो शिमला-समझौते पर अमल के बारे मे पाकिस्तान के इरादो के प्रति भारत मे आशंका उत्पन्न हो सकती है।

बंगलादेश को पाकिस्तानी मान्यता, फरवरी, 1974—भारत और पाकिस्तान और पाकिस्तान और बंगलादेश के बीच तनाव का एक मुख्य कारण यह भी रहा कि पाकिस्तान ने बंगलादेश को कूटनीतिक मान्यता प्रदान नही की। अगस्त, 1973 के दिल्ली-समझौते के बाद यह दिखाई देने लगा कि पाकिस्तान बंगलादेश को शीघ्र ही मान्यता दे देगा। जब फरवरी, 1974 में लाहौर मे अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी सम्मेलन आयोजित हुआ तो बंगलादेश को भी, जहाँ मुसलमानों की आबादी लगभग 7 करोड़ है, सम्मेलन मे आमन्त्रित किया गया। किन्तु शेख मुजीब ने स्पष्ट कह दिया कि जब तक पाकिस्तान बिना शर्त बंगलादेश को मान्यता नही देता, तब तक पाकिस्तान की भूमि पर हो रहे किसी सम्मेलन मे बंगलादेश भाग नही ले सकता। शेख मुजीब के इस उत्तर पर इस्लामी राज्यों में कूटनीतिक वार्ताओं का दौर चला। कुवैत के विदेश मन्त्री के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि-मण्डल ने ढाका जाकर शेख मुजीब और अन्य नेताओं से बातचीत की। अन्त मे 22 फरवरी को पाकिस्तान ने बंगलादेश को

मान्यता दे दी और शेख मुजीब भी दल-बल सहित इस्लामी सम्मेलन में भाग लेने के लिए 23 फरवरी को लाहौर पहुँच गए। पाकिस्तान की मान्यता के तुरन्त बाद ईरान और टर्की ने भी बंगलादेश को मान्यता देने की घोषणा कर दी। बंगलादेश को मान्यता देकर पाकिस्तान ने भारतीय उपमहाद्वीप की एक वास्तविकता को स्वीकार किया जिससे इस क्षेत्र में शान्तिपूर्ण समाधान की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला। पाकिस्तान द्वारा मान्यता के बाद यह प्रायः निश्चित हो गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में बंगलादेश के प्रवेश का चीन और पाकिस्तान विरोध नहीं करेंगे और 195 युद्ध-अपराधियों की भी रिहाई हो जाएगी।

दिल्ली के दो समझौते, अप्रैल, 1974—भारत, बंगलादेश और पाकिस्तान के विदेश मन्त्रियों ने 9 अप्रेल, 1974 को दिल्ली में एक त्रिपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर किए। समझौते के अनुसार बंगलादेश ने विवादग्रस्त 195 पाकिस्तानी युद्ध-अपराधियों को मुक्त करने का निर्णय लिया। पाकिस्तान ने स्वीकार किया कि बंगलादेश में पाक-सैनिक अपराधियों ने अपराध किए होंगे। पाकिस्तान ने बंगलादेश से तीन प्रकार के पाकिस्तानी नागरिकों को वापस लेने की बात मान ली—(i) जो पश्चिमी पाकिस्तान के निवासी थे, (ii) जो पाकिस्तान सरकार के कर्मचारी थे, तथा (iii) जो विभाजित परिवार के सदस्य थे। संख्या की कोई सीमा निश्चित नहीं की गई। त्रिपक्षीय समझौते के अवसर पर ही भारत और पाकिस्तान के बीच एक द्विपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अन्तर्गत उन भारतीय और पाकिस्तानी नागरिकों के आदान-प्रदान का निश्चय किया गया जो वर्षों से उन दोनों देशों की जेलों में बन्दी थे। ये दोनों समझौते महत्त्वपूर्ण थे क्योंकि इनके द्वारा न केवल कुछ गम्भीर मानवीय समस्याओं का समाधान हुआ बल्कि उप-महाद्वीप में शान्ति की शक्तियों को भी प्रोत्साहन मिला। राजनीतिक क्षेत्रों में यह आशा व्यक्त की गई कि इन समझौतों से एक ओर भारत तथा पाकिस्तान में और दूसरी ओर पाकिस्तान तथा बंगलादेश में मैत्री और सद्भाव का एक नया अध्याय शुरू होगा।

भारत के परमाणु-विस्फोट पर पाकिस्तान की बौखलाहट, मई, 1974—विदेश नीति के क्षेत्र में पाकिस्तान की रण-नीति कुछ विचित्र रही है। पूरी तरह युद्ध में अपमानित होकर पाकिस्तान समझौते के द्वार पर पहुँचता है। द्वार पर पहुँचने के बाद फिर अड़ंगेबाजी करता है और तब फिर समझौता कर लेता है। इसके बाद अपनी शान्तिप्रियता का ढिंढोरा पीटता है और फिर लड़ने, गाली-गलौज करने, निराधार आरोप लगाने के मार्ग पर चल पड़ता है। सुधरते हुए सम्बन्धों को बिगाड़ लेने में पाकिस्तान का नेतृत्व अपनी सुरक्षा का अनुभव करता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि पाकिस्तानी नेतृत्व को अपने ही देश में अपनी जनता का विश्वास प्राप्त नहीं है और जन-भावनाओं को भारत के विरोध में उकसा कर अपनी गद्दी बचाने की फिक्र से लगा रहता है। अप्रेल, 1974 में दोनों दिल्ली-समझौतों के बाद पाकिस्तान ने फिर तनाव का वातावरण बनाना शुरू कर दिया। 18 मई, 1974 को भारत ने अपना प्रथम परमाणु-परीक्षण किया और मियाँ भुट्टो

चीख उठे कि यदि भारत अणु-बम बनाता है तो पाकिस्तान भी अणु-बम बनाएगा, चाहे उसे घास-पात खाकर या भूखा रहकर ही जीवित रहना पड़े। पाकिस्तान की बौखलाहट ऐसी लगती थी कि मानो एक पागल का प्रलाप हो। श्रीमती गांधी ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत अणु-शक्ति का विकास रचनात्मक उद्देश्यों के लिए कर रहा है, किन्तु पाकिस्तान और उसके हिमायती राष्ट्रों के गले यह बात नहीं उतरी। श्रीमती गांधी ने श्री भुट्टो को एक पत्र लिखकर दोनों देशों के बीच अनाक्रमण सन्धि का प्रस्ताव रखा, लेकिन पाकिस्तान ने इसे तुरन्त ठुकरा दिया। 'कमजोर, गुस्सा ज्यादा' वाली कहावत ही चरितार्थ हुई। पाकिस्तानी रवैये से दोनों देशों के सम्बन्धों में पुनः कटुता आ गई।

संचार और यात्रा-सुविधाएँ जारी करने के बारे में समझौता, सितम्बर, 1974—युद्ध के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच डाक, दूर-सचार और यात्रा सुविधाएँ समाप्त हो गई थीं। सितम्बर, 1974 में इस्लामाबाद में दोनों पक्षों ने तीन समझौतों पर हस्ताक्षर करके इन सुविधाओं को तत्काल जारी करने का निर्णय लिया। इन समझौतों से दोनों देशों के बीच फिर सामान्यीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई, किन्तु कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनः स्थापना अभी बहुत दूर की कौड़ी थी।

वर्ष 1975 में भारत-पाक सम्बन्ध—1975 के वर्ष में भारत पाकिस्तान के साथ मतभेदों को शान्तिपूर्वक दूर करने और उसके साथ सामान्य सम्बन्ध विकसित करने के लिए अपनी ओर से निरन्तर रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाता रहा ताकि इस उपमहाद्वीप में स्थायी शान्ति स्थापित रह सके लेकिन पाकिस्तान की ओर से अनुकूल दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया। जब फरवरी, 1975 में अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड ने पाकिस्तान को पुनः अमेरिकी हथियार प्रदान करने की घोषणा की तो श्री भुट्टो भारत के साथ दो-दो हाथ करने की बात करने लगे। लन्दन स्थित पश्चिमी सैनिक विशेषज्ञों तक ने स्वीकार किया कि पाकिस्तान जिस प्रकार शस्त्रास्त्रों का संग्रह कर रहा है और अपने रक्षा व्यय में वृद्धि कर रहा है वह उसकी वर्तमान आवश्यकताओं की दृष्टि से बिलकुल असन्तुलित है। श्री भुट्टो की धमकियाँ तब शान्त हुई जब भारत के रक्षा मन्त्री ने चेतावनी दी कि "यदि पाकिस्तान माँगे हुए हथियारों के बल पर भारत पर आक्रमण करेगा तो लड़ाई भारतीय क्षेत्र में नहीं होगी अपितु हम पाकिस्तान की भूमि पर लड़ेंगे। हम पर यदि पाकिस्तान आक्रमण करेगा तो यह निर्णय हम करेंगे कि लड़ाई कहाँ करनी है।"

2. मई, 1975 से पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध निराधार और निन्दात्मक प्रचार आन्दोलन शुरू कर दिया जिससे वातावरण और विक्षुब्ध हो गया। अप्रेल में भारत ने संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद् का चुनाव लड़ने के लिए जब अपनी उम्मीदवारी की घोषणा कर दी तो पाकिस्तान ने भी भारत के खिलाफ चुनाव लड़ने का निश्चय किया। पाकिस्तान के सरकारी-प्रचार माध्यमों ने तथा विदेशों में स्थित उसके मिशनों ने यह मिथ्या प्रचार शुरू कर दिया कि भारत अपनी आन्तरिक स्थिति से ध्यान हटाने के लिए पाकिस्तान के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही कर सकता है।

15 अगस्त को बंगलादेश में शेख मुजीबुर्रहमान की सरकार को हिंसापूर्वक हटा दिए जाने के बाद पाकिस्तान के प्रचार माध्यमों ने अपने भारत-विरोधी आन्दोलन को एक नया रूप देते हुए यह कहा कि हो सकता है भारत बंगलादेश मे हस्तक्षेप करे। भारत सरकार ने इस वैमनस्यपूर्ण एवं निन्दात्मक प्रचार-आन्दोलन की ओर पाकिस्तान का ध्यान आकृष्ट किया क्योंकि यह शिमला समझौते के विपरीत था और सम्बन्धों को सामान्य बनाने के मार्ग में अड़चन सिद्ध हो रहा था। जो भी हो पाकिस्तान में सरकारी प्रचारतन्त्र और वहाँ के अखबारों ने यह आन्दोलन जारी रखा।

3. भारत और पाकिस्तान के बीच मई, 1975 में वायुमार्ग सम्बन्धी समझौते के लिए जो उच्चस्तरीय वार्ता हुई वह भी सफल नहीं हुई क्योंकि पाकिस्तान इस आग्रह पर डटा रहा कि हवाई मार्गों की सुविधा के सम्बन्ध में दोनों देशों के बीच व्यापक समझौता होने के बाद ही पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संस्था से भारत के विरुद्ध दायर किए गए अभियोग को वापस लेगा। भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल की यह समझाने की कोशिश व्यर्थ हुई कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में अभियोग के चलते हुए दोनों देशों के बीच स्वस्थ और मित्रतापूर्ण वातावरण पैदा हो सकता। इसके लिए आवश्यक है कि पाकिस्तान अभियोग वापस ले।

4. भारत की पहल पर विदेश सचिवों की बैठक में एक अन्य विषय पर भी वार्ता हुई जिसका सम्बन्ध सन् 1960 की सिन्धु जल-सन्धि के अनुसार सलाल मे चिनाव नदी पर पन बिजली-विद्युत परियोजना के निर्माण से था। भारत ने यह सुझाव दिया था कि पाकिस्तान में इस परियोजना के डिजाइन के सम्बन्ध में जो शंकाएँ उठाई गई हैं उन्हें दूर करने के लिए द्विपक्षीय वार्ता हो। मई, 1975 मे विदेश सचिवों की बैठक मे कुछ बातो पर सहमति हो गई, तथापि अन्त में पाकिस्तान सरकार ने निश्चय किया कि यह मामला किसी तटस्थ विशेषज्ञ के सामने रखा जाए।

5. जहाँ तक व्यापार का मामला है, दोनों देशों के बीच व्यापार पुनः शुरू करने के बारे में जनवरी, 1975 में समझौता हो जाने के बाद भारत ने विदेशी मुद्रा में लगभग 25 करोड़ रुपये मूल्य की 2 लाख सूत की गाँठें क्रय करने का अपना वचन पूरा किया। पाकिस्तान 1975 के वर्ष में भारत से सामान खरीदने के लिए कोई समझौता करने में असफल रहा।

6. वर्ष 1975 के पाकिस्तान जम्मू तथा कश्मीर के उस प्रदेश की स्थिति एकतरफा तरीके से बदलने के प्रयत्न करता रहा जिस पर उसका अवैध कब्जा है। भारत सरकार के विरोधों के बावजूद पाकिस्तान इस दिशा में आगे बढ़ता रहा और अगस्त, 1975 में उसने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के लिए एक परिषद् की स्थापना की जिसके अन्तर्गत पाकिस्तान सरकार के पास अधिकृत कश्मीर पर अपने नियन्त्रण को पहली बार संस्थागत व्यवस्थित रूप दिया। भारत सरकार

ने पाकिस्तान सरकार से कहा कि इस परिषद् की स्थापना करने और उसकी कार्यवाही शिमला समझौते का उल्लंघन है क्योंकि यह जम्मू तथा कश्मीर के पाकिस्तान अधिकृत प्रदेशों की स्थिति मे एकपक्षीय परिवर्तन है। दोनों ओर से पत्रों के आदान-प्रदान मे भारत सरकार ने यह स्पष्ट किया कि इन अधिकृत प्रदेशों मे लागू 'अन्तरिम संविधान' मे निहित तत्त्वो की दृष्टि से इस परिषद् की स्थापना एक बहुत बड़ा सांविधानिक परिवर्तन है जिसे मात्र प्रशासनिक प्रबन्ध नहीं माना जा सकता।

7. कश्मीर की समस्या को शान्तिपूर्वक द्वि-पक्षीय तरीके से सुलझाने के लिए शिमला-समझौते की शर्तों के अनुसार वचनबद्ध होने के बावजूद पाकिस्तान सरकार ने संयुक्त राष्ट्र के निर्जीव प्रस्तावों में पुनः अन्तर्राष्ट्रीय रुचि जगाने की कोशिश की। टर्की और कम्बोडिया के राज्याध्यक्षों की पाकिस्तान-यात्राओं की समाप्ति पर जारी की गई संयुक्त विज्ञप्तियों मे भी इस आशय का उल्लेख किया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शिमला-समझौते मे सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रस्तावो का कोई उल्लेख नही है क्योंकि कश्मीर की परिस्थितियों मे और उसकी स्थिति मे आधारभूत परिवर्तन हो जाने के कारण यह प्रस्ताव पहले ही निर्जीव और निष्क्रिय हो चुका है। इस प्रकार पाकिस्तान शिमला-समझौते के शब्दों की एक पक्षीय और गलत व्याख्या करके अन्य देशों को भ्रमित करने की चेष्टा करता रहा।

वर्ष 1976–77 (मार्च, 77) तक सामान्य सम्बन्धों की स्थापना—जुलाई, 1972 में शिमला-समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद से भारत ने इस उप-महाद्वीप मे स्थायी शान्ति की स्थापना के उद्देश्य से दोनों देशो के बीच सम्बन्ध सामान्य करने के लिए स्वयं अपनी ओर से विभिन्न कदम उठाए। इसके परिणाम स्वरूप बहुत-सी समस्याओं का समाधान हो गया।

27 मार्च, 1976 को पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री ने भारत के प्रधान मन्त्री को सूचित किया कि 'सम्बन्धों को सामान्य बनाने हेतु आवश्यक प्रोत्साहन देने' के इरादे से पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय सिविल विमानन सगठन से अपना मुकदमा वापस लेने को तैयार है। सम्बन्धो के सामान्यीकरण की प्रक्रिया को प्रगति के उद्देश्य से भारत ने पहले ही ऐसी कार्यवाही करने के लिए कहा था। भारत को इस दृढ आस्था के अनुरूप कि शिमला-समझौते मे स्थायी शान्ति की स्थापना और समस्त द्विपक्षीय सम्बन्धो की सुदृढ़ रूपरेखा सन्निहित है, प्रधान मन्त्री ने 11 अप्रेल, 1976 को इसका उत्तर देते हुए सुझाव दिया कि दोनो देशो के विदेश सचिवो की बैठक हो और इस बैठक में वे न सिर्फ सिविल विमानन के मामलों पर विचार-विमर्श करें बल्कि रेल और सड़क-संचार भी पुनः चालू करने के बारे मे तथा दोनों देशो के बीच राजनयिक सम्बन्ध पुनः स्थापित करने के बारे मे भी विचार-विमर्श करें। पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री ने इन सुझावो को स्वीकार कर लिया और इसके परिणामस्वरूप 12 से 14 मई, 1976 तक इस्लामाबाद मे भारत और पाकिस्तान के विदेश सचिवों की वार्ता

हुई और इस अवसर पर संयुक्त वक्तव्य प्रसारित किया गया जिसमें दोनों पक्षों के बीच यह समझौता निहित था कि दोनों देशों के टूटे हुए सम्बन्ध पुनः प्रारम्भ किए जाएँगे। दोनों पक्षों ने निजी क्षेत्र में द्विपक्षीय व्यापार चालू करना भी स्वीकार किया।

इस संयुक्त वक्तव्य में निहित अधूरा समझौता 17 से 24 जुलाई, 1976 के बीच कार्यान्वित होना शुरू हो गया। दोनों देशों के बीच हवाई सम्पर्क 21 जुलाई से पुनः चालू हुआ, 22 जुलाई को अमृतसर से पहली रेलगाड़ी लाहौर के लिए रवाना हुई और दोनों देशों के राजदूतों ने अपने-अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किए।

समीक्षाधीन वर्ष के उत्तरार्द्ध में भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधि-मण्डल नई दिल्ली और इस्लामाबाद में मिले और इस अवसर पर उन्होंने जम्मू और कश्मीर राज्य में चिनाब नदी पर सलाल पन-बिजली से विद्युत पैदा करने के लिए इसके उपयोग के बारे में वार्ता की, बशर्ते कि इन संयन्त्रों का डिजाइन, निर्माण और संचालन सन्धि में निर्धारित मानदण्डों के अनुरूप हो। यह मामला पिछले छः वर्षों से स्थाई सिन्धु आयोग के विचाराधीन है जिसमें भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। चूँकि आयोग के माध्यम से कोई समझौता नहीं हो सका, इसलिए जुलाई, 1976 में पाकिस्तान ने यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि सन्धि की शर्तों के अनुसार इस मामले को किसी तटस्थ विशेषज्ञ को परामर्श के लिए सौंप दिया जाए, किन्तु भारत ने यह सुझाव दिया कि ऐसा करने से पूर्व इस मामले पर द्विपक्षीय विचार-विमर्श कर लिया जाए। पाकिस्तान ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया। अक्तूबर, 1976 में नई दिल्ली और इस्लामाबाद में वार्ता के दो दौर चले। यह बातचीत सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में हुई तथा रचनात्मक और लाभदायक रही। इस्लामाबाद में हुई वार्ता के पश्चात् प्रसारित संयुक्त वक्तव्य में यह आशा प्रकट की गई है कि नई दिल्ली में इस वार्ता का जो तीसरा दौर होगा उसमें कोई अन्तिम समझौता हो जाएगा।

सामान्यीकरण की प्रक्रिया मोटे तौर पर सुचारु ढंग से चलती रही और कई दिशाओं में सम्पर्क पुनः स्थापित हुए जो बीच के कई वर्षों में रुके रहे थे। इन घटनाओं का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में बहुत स्वागत हुआ।

जनता पार्टी का शासन (मार्च, 1977–दिसम्बर, 1979)

भारत में नई सरकार के गठन के बाद मैत्रीपूर्ण सन्देशों का आदान-प्रदान हुआ। अप्रैल, 1977 में पाकिस्तान के प्रतिनिधि-मण्डल की भारत यात्रा के बाद उसी महीने मे दोनों देशों ने यह निश्चय किया कि दोनों देशों के बीच व्यापार की समीक्षा करने और उसमें वृद्धि के उद्देश्य से एक संयुक्त आयोग की स्थापना की जाएगी। अप्रैल, 1977 में ही विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने पाकिस्तान के सामने युद्ध न करने के समझौते का प्रस्ताव रखा। इस समय इस प्रस्ताव का फिर से रखा जाना इस बात का परिचायक था कि नई सरकार पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिए दृढ़ संकल्प है और उसका विश्वास है कि भारत-पाक

सम्बन्धों में द्विपक्षीय नीति को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इस प्रस्ताव द्वारा भारत के इस अभिमत की पुनः पुष्टि हो गई कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान किया जाना चाहिए। पाकिस्तान की ओर से इस प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति पुनः टाल दी गई। 5 जुलाई, 1977 को एक रक्तहीन क्रान्ति के फलस्वरूप पाकिस्तान में फिर सैनिकशाही की स्थापना हो गई और भारत का प्रस्ताव खटाई में पड़ गया।

अपने पड़ोसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित करने की अपनी नीति के अनुसरण में भारत ने पाकिस्तान के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति का पूरी ईमानदारी के साथ पालन करते हुए उसके साथ अपने सम्बन्ध सामान्य करने की दिशा मे प्रयास किया। पाकिस्तान की घटनाओं पर दिलचस्पी के साथ निगाह तो रखी गई, लेकिन उन्हें पूरी तरह पाकिस्तान के आन्तरिक मामले के रूप में देखा गया और भारत ने दूसरे देशों के घरेलू मामलों में अहस्तक्षेप की अपनी नीति पुनः दोहरायी। इस नीति की चरम परिणति हुई फरवरी, 1978 में विदेश मन्त्री की पाकिस्तान यात्रा के रूप में। विगत 12 वर्षों में किसी भारतीय विदेश मन्त्री की पाकिस्तान की यह पहली यात्रा थी। विदेश मन्त्री ने अपनी इस यात्रा के दौरान पाकिस्तान को यह आश्वासन दिलाया कि भारत शिमला समझौते के प्रति अब भी प्रतिबद्ध है और इस क्षेत्र में न किसी नेतृत्व की कामना करता है और न दावा रखता है और कोई ऐसी भूमि को हथियाना तो कदापि नहीं चाहता। इसके अतिरिक्त भारत सामान्यीकरण की गति को तेज करने का इच्छुक है। लेकिन यह गति सिर्फ उतनी ही तेज हो सकेगी जितनी कि सम्बद्ध देश इसे तेज करना पसन्द करेगा। पाकिस्तान ने दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की भारत की नीति की सराहना की तथा अपने अपेक्षाकृत छोटे देशों के प्रति उसके रवैये की भी। इस यात्रा के दौरान जिन विषयों पर बातचीत हुई उनमें व्यापार, वीसा पद्धति और सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा संयुक्तराष्ट्र महासभा के निरस्त्रीकरण सम्बन्धी विशेष अधिवेशन की तैयारी के सम्बन्ध में सहयोग सहित विभिन्न बहुपक्षीय मामले भी शामिल थे। कश्मीर के सम्बन्ध मे भी विचार-विनिमय हुआ और दोनों पक्षों ने इस सम्बन्ध में अपने-अपने विचार रखे। पाकिस्तान ने कहा कि वह सलाल परियोजना के सम्बन्ध में बातचीत वहाँ से आगे बढाने के लिए तैयार है जहाँ वह अक्तूबर, 1976 में छोड़ दी गई थी। बातचीत के परिणामस्वरूप यह निश्चय किया गया कि व्यापार के सम्बन्ध में जो बातचीत होने वाली थी वह अब जल्दी ही की जाएगी। सलाल परियोजना के विषय में विचार-विमर्श पुनः शुरू होगा और दोनों देशों की राजधानियों में पत्रकार तैनात किए जाने की अनुमति दी जाएगी। सीमा पर स्थिति 1977 में पूरे वर्ष के दौरान सामान्य बनी रही। भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापार भी इस वर्ष के दौरान बढ़ा। 1977 की एक नई विशेषता थी दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का शुभारम्भ।

अप्रेल, 1978 में पाकिस्तान के वैदेशिक मामलों के सलाहकार श्री आगाशाही की यात्रा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण रही, जबकि सलाल पन बिजली परियोजना के सम्बन्ध मे एक करार पर हस्ताक्षर हुए, यह एक ऐसी समस्या थी जो विगत 8 वर्षों से अनसुलझी चली आ रही थी। व्यापार संवर्धन, नजरबन्द लोगों को देश प्रत्यावर्तन तथा व्यापार सुविधाओं को उदार बनाए जाने के सम्बन्ध मे भी विचारों का आदान-प्रदान हुआ। दोनों देशों के बीच सड़क, रेल और हवाई मार्ग में सामान्य यातायात होता है और दोनो देशो की सीमा पर भी स्थिति शान्तिपूर्ण बनी रही। एक-दूसरे के देश में प्रधान कोसलावास के खोलने के निर्णय के पीछे उद्देश्य यह है कि दोनो देशों के बीच यात्रा और वाणिज्यिक सम्पर्क सुविधाजनक बनाया जाए और पारस्परिक सम्बन्ध और सामान्य बनाने की दिशा में योगदान मिले। भारत और पाकिस्तान के बीच 1975 के व्यापार करार की समीक्षा करने के लिए दोनो देशो के व्यापार दलो की 1978 में दो बार बैठक हुई। इस बातचीत के परिणामस्वरूप इस बात पर सहमति हुई कि जब तक नए व्यापार करार को अन्तिम रूप नहीं दिया जाता तब तक पाकिस्तान की ओर से व्यापार सार्वजनिक अभिकरणों के माध्यम से किया जाता रहेगा। जबकि भारत की ओर से सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही प्रकार के अभिकरणों के माध्यम से कारोबार किया जाएगा। विभिन्न क्षेत्रों मे दोनों देशों के प्रतिनिधियों के बीच सम्पर्क से दोनों देशो मे सहयोग बढ़ा है। दोनो देशो के खाद्य और कृषि मन्त्रियों की बातचीत के परिणामस्वरूप सितम्बर, 1978 मे एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत भारत पाकिस्तान को 5270 टन गेहूँ का बीज देगा।

जनरल जिया की सैनिक सरकार के साथ भारत ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने की कोशिश 1979 में बदस्तूर जारी रखी और कोई ऐसा कदम नही उठाया जिससे दोनो देशों के बीच सुधरते हुए सम्बन्धों मे व्यवधान पैदा हो। अप्रेल, 1979 में जब पाकिस्तान के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री भुट्टो को फांसी लगाई गई, तब भी प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने कोई अपील जारी न कर 'दूसरों के मामलों मे हस्तक्षेप न करने के रवैये' का परिचय दिया, यह अलग बात है कि हम इसे मानवीय आधार पर अनुचित मानें। लेकिन पाकिस्तान की सैनिक तैयारियों ने भारत मे पुनः चिन्ता पैदा कर दी है जिसका दोनो देशो के सुधरते सम्बन्धों पर पुनः प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। 19 जून, 1979 को भारत के रक्षा मन्त्री श्री जगजीवनराम ने सेना-कमाण्डरों के एक सम्मेलन मे कहा भी—"भारत के लिए वर्तमान घटना-चक्रों में सबसे अधिक चिन्ताजनक विषय इस्लामाबाद द्वारा सेना के लिए आणविक क्षमता का विकास करना है।" उन्होंने अपने भाषण मे कहा कि अफगानिस्तान के मामले में बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप एक अशुभ लक्षण है।

पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्धों को सामान्य बनाने और इसे आगे बढ़ाने की दिशा में निर्बाध प्रयास जारी रहे और इस सम्बन्ध मे कुछ क्षेत्रो मे प्रगति हुई। बहुत से द्विपक्षीय राजनीतिक, वाणिज्यिक और दिन-प्रतिदिन के अन्य

कार्यात्मक मामलों के सम्बन्ध में दोनों देशों के नेताओं और अधिकारियों के बीच उच्चस्तरीय सम्पर्क के जरिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अपने-अपने प्रतिनिधि-मण्डलों के बीच परामर्श और सहयोग के माध्यम से और दोनो देशों की जनता द्वारा एक दूसरे के देश की अधिकाधिक यात्रा के द्वारा भारत ने पारस्परिक सद्भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया।

यद्यपि पाकिस्तान के भीतर होने वाली घटनाओं के बारे में देश-विदेश में सरकार का विचार जानने के लिए काफी दबाव डाला गया, लेकिन भारत ने पाकिस्तान के आन्तरिक मामलों पर टिप्पणी करने से इन्कार किया। अपने पड़ोसियों के आन्तरिक मामलों पर टिप्पणी करने से इन्कार किया। अपने पड़ोसियों के आन्तरिक मामलों के बारे में किसी भी प्रकार की आलोचना न करने की भारत की सैद्धान्तिक नीति के कारण पाकिस्तान ने इस नीति की सराहना की।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के दौरान भारत के प्रधान मन्त्री और विदेश मन्त्री ने पाकिस्तान के राष्ट्रपति और विदेशी मामलों के सलाहकार के साथ द्विपक्षीय विचार-विमर्श किया और अनेक द्विपक्षीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर विचारो का आदान-प्रदान भी हुआ। मई, 1979 में प्रथम बार दोनों देशों के विदेश सचिवों की किसी विशेष कार्यसूची अथवा समस्या के बिना ही मुलाकात हुई। इस प्रकार भारत-पाक सम्बन्धों की समीक्षा करने के लिए समय-समय पर परामर्श करने की प्रक्रिया की शुरुआत हुई।

पाकिस्तान द्वारा सेन्टो छोड़ने के बाद उसके प्रति अपनी सद्भावना स्वरूप भारत ने कोलम्बो में हुई ब्यूरो की बैठक तथा हवाना में हुए शिखर सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में उसके प्रवेश का समर्थन किया। न्यूक्लीय मसलों जैसे अनेक जटिल मामलों पर फरवरी-मार्च में प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई तथा राष्ट्रपति जिया-उल-हक के बीच तथा फिर अगस्त मे उनके और प्रधान मन्त्री चरणसिंह के बीच पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। इस मामले को उस समय भी उठाया गया जब सितम्बर, 1979 में हवाना और न्यूयार्क मे विदेश मन्त्री श्री श्याम नन्दन मिश्र की मुलाकात पाकिस्तान के राष्ट्रपति श्री जिया-उल-हक तथा पाकिस्तान के विदेशी मामलों के सलाहकार श्री आगाशाही से हुई।

श्रीमती गाँधी के पुनः सत्तारूढ़ होने के बाद भारत-पाक सम्बन्ध (अक्तूबर, 1980 के मध्य तक)

जनवरी, 1980 में भारत की नई सरकार द्वारा कार्यभार सम्भालने के अवसर पर राष्ट्रपति श्री जिया-उल-हक ने प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को एक हार्दिक और मैत्रीपूर्ण सन्देश भेजा। इस सन्देश में शिमला समझौते के प्रति पाकिस्तान की प्रतिबद्धता को दोहराया गया और भारत तथा पाकिस्तान के बीच सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया को तेज करने की आशा प्रकट की गई। अपने उत्तर में प्रधान मन्त्री ने शिमला समझौते के प्रति प्रतिबद्धता के दोहराए जाने पर

अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। यह समझौता उनके द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। इसके अतिरिक्त उन्होने भी अपनी ओर से भारत पाकिस्तान सम्बन्धों को पूर्ण सुदृढ़ करने की इच्छा अभिव्यक्त की।

विदेश सचिव श्री आर. डी. साठे ने भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों मे और सुधार करने पर विचार-विमर्श के लिए फरवरी, 1980 में पाकिस्तान की यात्रा की। राष्ट्रपति जिया-उल-हक उनसे मिले और श्री साठे ने राष्ट्रपति को प्रधान मन्त्री श्रीमती गांधी का एक पत्र दिया। पाकिस्तान के विदेश सचिव तथा अन्य नेताओं के साथ अपनी बातचीत के दौरान द्विपक्षीय मामलों, क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की समीक्षा की गई और इस अवसर का लाभ उठाते हुए पाकिस्तान की स्वतन्त्रता, प्रभुसत्ता तथा प्रादेशिक अखण्डता के प्रति भारत की प्रतिबद्धता तथा पाकिस्तान के आन्तरिक मामलो में दखलन्दाजी न करने के भारत के सिद्धान्तो का, जो कि शिमला-समझौते मे दिए गए हैं, पालन किए जाने की बात को दोहराया गया। पाकिस्तानी पक्ष ने विदेश सचिव की इस यात्रा द्वारा विचारो क मुक्त और स्पष्ट रूप से आदान-प्रदान के लिए जो अवसर प्राप्त हुआ उसकी सराहना की और इसे एक दूसरे की विचारधाराओं को बेहतर ढग से समझने के लिए उपयोगी माना।

एक नया व्यापार करार तैयार करने के लिए प्रयास किए गए और पाकिस्तान के साथ व्यापार की मदों का पता लगाने के लिए विशेषज्ञों के एक प्रतिनिधि-मण्डल ने 15 सितम्बर को इस्लामाबाद की यात्रा की। नए व्यापार करार को अन्तिम रूप दिए जाने तक, भारत-पाक व्यापार जारी रहा लेकिन किसी करार के अभाव मे व्यापार की मात्रा में कमी आई। भारत ने पाकिस्तान के साथ पारस्परिक लाभ के लिए आर्थिक सम्बन्धो को बढाने की अपनी इच्छा व्यक्त की है।

कराची और बम्बई मे दोनों देशों के कौंसलावास खोलने के समझौते के अनुसार कराची मे भारत के प्रधान कौंसल के कार्यालय ने फरवरी, 1979 से कार्य करना शुरू कर दिया। जनवरी, 1980 तक इस कौंसलावास ने भारत मे विभिन्न स्थानो की यात्रा के लिए 1,61,289 राष्ट्रिको को पाकिस्तानी वीजा प्रदान किए और जनवरी, 1979 से जनवरी, 1980 तक इस्लामबाद स्थित भारतीय राजदूतावास तथा कराची स्थित भारत के कौंसलावास द्वारा कुल 2,14,526 वीजा दिए गए। इस्लामाबाद स्थित भारतीय राजदूतावास तथा कराची स्थित भारत के प्रधान कौंसलावास ने 25 जुलाई, 1979 तक 1,00,000 वीजा प्रदान किए और पाकिस्तान मे 1,00,000वें वीजा धारक को दिल्ली-लाहौर की यात्रा के लिए भारतीय एयरलाइन्स कार्पोरेशन की ओर से पुरस्कार स्वरूप वापसी टिकट दी गई। दोनों देशों की सरकारों के बीच भुगतान समस्याओं के समाधान के लिए एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया जिसके अन्तर्गत भारत सरकार तथा पाकिस्तान सरकार के ऐसे सेवा निवृत्त कर्मचारी, जो 1 जुलाई, 1955 से 31 दिसम्बर, 1960 के दौरान क्रमशः भारत और पाकिस्तान चले आए थे, उनकी पेंशनों के भुगतान के

सम्बन्ध में जुलाई, 1959 के भारत-पाक करार को फिर से लागू करने पर दोनों सरकारें सहमत हुई। सांस्कृतिक और खेल-कूद के क्षेत्रों में आदान-प्रदान जारी रहा।

सालिसबरी में राष्ट्रपति जिया-उल-हक के साथ प्रधान मन्त्री की बैठक मित्रतापूर्ण सहयोग तथा पारस्परिक सद्भाव की सम्भावनाओं की सूचक थी। लेकिन जनवरी तथा मई, 1980 में इस्लामी विदेश मन्त्रियों के सम्मेलनों में राष्ट्रपति जिया द्वारा कश्मीर के मामले के अनावश्यक उल्लेख से भारत को दुख और निराशा हुई क्योंकि हमारे विचार से ऐसा उल्लेख शिमला-समझौते की भावना के अनुरूप नहीं था।

पाकिस्तान द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ मे कश्मीर समस्या की चर्चा पर भारत ने अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए इसे भारत की प्रादेशिक अखण्डता पर आघात बताया है। इस सम्बन्ध में 8 अक्तूबर, 1980 के हिन्दुस्तान में जो समाचार प्रकाशित हुए, वे इस प्रकार हैं—

"संयुक्त राष्ट्र में भारत के स्थायी प्रतिनिधि श्री ब्रजेश मिश्र ने 7 अक्तूबर, 1980 को यहाँ संयुक्त राष्ट्र महासभा मे घोषणा की कि हम बार-बार कह चुके हैं कि जम्मू-कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है। इसलिए पाकिस्तान का इस बारे में यहाँ और अन्य मंचों पर कोई सवाल उठाना भारत की प्रादेशिक अखण्डता पर आघात है।

उन्होने कहा कि पाकिस्तान का यह प्रयास शिमला-समझौते की भी अवहेलना करता है, जिसके अन्तर्गत इन दोनों देशों ने अपनी समस्याएँ बातचीत से सुलझाने और आपसी सम्बन्ध सामान्य बनाने का फैसला किया था।

श्री मिश्र संयुक्त राष्ट्र मे पाकिस्तान के स्थायी प्रतिनिधि श्री नियाज नायक की उस टिप्पणी का उत्तर दे रहे थे जो उन्होने महासभा में भारतीय विदेश मन्त्री श्री नरसिंहराव के भाषण पर की थी।

उन्होने कहा कि पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिला-उल-हक द्वारा जम्मू-कश्मीर का मसला इस्लामी सम्मेलन मे उठाना समीचीन नही था और वह इस्लामी सम्मेलन के विचार क्षेत्र मे तो हरगिज नही आता था।

श्री मिश्र ने कहा कि यहाँ पाक-प्रतिनिधि आज यह कहते हैं कि राष्ट्रपति जिया-उल-हक ने 38 देशो के इस्लामी सम्मेलन में पाकिस्तान के राष्ट्रपति की हैसियत से भाषण किया था। परन्तु दो ही दिन बाद पाकिस्तान के एक प्रवक्ता ने तब घोषणा की थी कि श्री जिया-उल-हक इस्लामी सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में बोल रहे थे।

श्री मिश्र ने कहा कि शिमला-समझौते मे दोनों देशों के बीच हर विवाद का निपटारा आपसी बातचीत से करने की व्यवस्था है और दोनों देशों से यह अपेक्षा की गई है कि वे ऐसा कोई भी फैसला अथवा कार्य नहीं करेंगे जो दोनो देशों के बीच विवाद पैदा करे।

श्री मिश्र ने कहा कि यदि पाकिस्तान की इस वायदे मे निष्ठा होती देशों के सम्बन्ध और सुदृढ़ हुए होते एव ऐसे मसले न उठाए जाते।

श्री मिश्र ने कहा कि राष्ट्रपति जिया-उल-हक तथा श्री नियाज नायक और अन्य पाकिस्तानी प्रतिनिधियों द्वारा विभिन्न मंचों पर कश्मीर का सवाल उठाए जाने से दोनों देशों के बीच सम्बन्धों के सामान्यीकरण को भी आघात पहुँचता है।"[1]

पाकिस्तान की आणविक शक्ति से भारत को खतरा

हाल ही में विभिन्न सूत्रों से ऐसे समाचारों की पुष्टि हुई है कि पाकिस्तान अणुबम का निर्माण कर रहा है। अनुमान का विषय सिर्फ यही रह गया है कि उसे अणुबम का विस्फोट करने मे कब सफलता मिलेगी। सोवियत रूस के समाचार-पत्र 'प्रावदा' ने इस बारे मे विशेष चिन्ता व्यक्त की है क्योंकि पाकिस्तान अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ मुठभेड़ की नीति अख्तियार किए हुए है।

'प्रावदा' ने लन्दन से प्रकाशित होने वाली एक लेबनानी पत्रिका का हवाला देते हुए बताया है कि इस्लामाबाद अणुबम बनाने की अपनी योजना को गुप्त रखना चाहता है। इसीलिए पाकिस्तान के अनुरोध पर चीन ने अपने क्षेत्र ने पाकिस्तानी अणुबम का परीक्षण करने की अनुमति दे दी है।

रूस ने पाकिस्तान और चीन की मिलीभगत का पर्दाफाश इसलिए किया है कि दोनों देश अफगान विद्रोहियों को सक्रिय सहायता पहुँचा रहे हैं। वास्तव मे 'प्रावदा' ने कहा भी है कि पाकिस्तानी शासकों ने अमेरिका तथा चीन को अपनी जमीन से अफगानिस्तान के विरुद्ध अघोषित युद्ध जारी रखने की छूट दे दी है। अफगानिस्तान का मामला बहुत ही पेचीदा है और इस सम्बन्ध के परस्पर-विरोधी विचार प्रकट किए गए हैं। किन्तु ऐसा नही है कि अफगानिस्तान मे रूसी सेना की उपस्थिति से त्रस्त होकर पाकिस्तान अणुबम का निर्माण कर रहा है। वास्तव में पाकिस्तान ने रूस के सैनिक हस्तक्षेप से बहुत पहले अणुबम का निर्माण करने की कोशिश शुरू कर दी थी।

पाकिस्तान यदि आणविक हथियार से लैस हो जाता है तो इससे सबसे ज्यादा खतरा भारत के लिए ही पैदा होगा। चीन, पाकिस्तान तथा अमेरिका आज एक ही खेमे मे है, इस बारे मे सन्देह की कोई गुंजाइश नही है। इन राष्ट्रों के गठबन्धन का मुख्य कारण यही है कि अमेरिका और चीन दोनों ही रूस को अपना सबसे बड़ा शत्रु मानते हैं। पाकिस्तान इस स्थिति का लाभ उठाकर शस्त्रास्त्र इकट्ठे कर रहा है। पाकिस्तान चाहे जितना भी शक्तिशाली क्यों न बन जाए वह रूस से टकराने की हिम्मत नहीं कर सकता है। हाँ, 1965 और 1971 की तरह ही भारत की सीमा पर वह उत्तेजनात्मक कार्यवाहियाँ जरूर कर सकता है। इन नई घटनाओं तथा बदलते शक्ति-सन्तुलन को ध्यान में रखते हुए भारत को भी अपनी सुरक्षा-व्यवस्था पर पुनर्विचार करना पड़ेगा। भारत के लिए परीक्षा की घड़ी आने वाली है।[2]

1 हिन्दुस्तान, 8 अक्तूबर, 1980.
2 हिन्दुस्तान, 29 अगस्त, 1980.

भारत और श्रीलंका

भारत के दक्षिण और हिन्द महासागर में स्थित यह द्वीप राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मई, 1972 में नए संविधान के अनुसार श्रीलंका गणराज्य बन गया है। इसका अंग्रेजी नाम—सिलोनहटा दिया गया है। श्रीलंका ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल का सदस्य है और विदेश नीति में भारत के समान ही गुट-निरपेक्षता की नीति का अनुसरण करता है।

भारत और श्रीलंका के सम्बन्ध उतार-चढाव के रहे है, तथापि कुल मिलाकर दोनों देशो की मैत्री में वृद्धि हुई है और पारस्परिक विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाया गया है। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत भारत ने श्रीलंका के आर्थिक विकास मे सहायता दी थी। सन् 1955 के बाण्डुंग-सम्मेलन में दोनो देशो ने एक-दूसरे के साथ सहयोग किया। सन् 1962 मे भारत पर चीनी आक्रमण के सन्दर्भ मे श्रीलंका ने निष्पक्ष नीति का अवलम्बन न कर भारतीय भावनाओं को ठेस पहुँचाई, तथापि प्रधान मन्त्री श्रीमती भण्डारनायके ने तटस्थ देशों का कोलम्बो सम्मेलन आयोजित किया और सम्मेलन द्वारा पारित कोलम्बो-प्रस्तावों के सम्बन्ध मे पीकिंग तथा दिल्ली की यात्राएँ की। इस प्रकार श्रीलंका का प्रयत्न यह रहा कि भारत-चीन विवाद का शान्तिपूर्ण हल निकल आए। सन् 1965 में दोनों देश तब अधिक निकट आ गए जब श्रीलंका के तत्कालीन प्रधान मन्त्री सेनानायक ने भारत के न्यायोचित पक्ष का समर्थन किया और चीन द्वारा भारत पर आक्रमण करने तथा कोलम्बो-प्रस्तावो को न मानने के लिए उसकी निन्दा की। सन् 1970 मे नेतृत्व पुनः श्रीमती भण्डारनायके के हाथ मे आया। मई, 1971 में उनकी सरकार को उग्रवादी वामपन्थियों के व्यापक विद्रोह का सामना करना पड़ा जिसे दबाने के लिए उन्हे भारत जैसे मित्रदेशो की सहायता भी लेनी पड़ी। भारत के हेलीकोप्टरो ने श्रीलंका के अनेक भागों मे गश्त लगाई और भारतीय जहाज श्रीलका के बन्दरगाह पर लगर डाले खडे रहे ताकि श्रीलंका सरकार को शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में आवश्यक सहायता प्राप्त हो सके। भारत ने श्रीलंका को शस्त्रो की सहायता भी दी।

दोनों देशों के सम्बन्ध उत्तरोत्तर सुधरते गए। श्रीमती गाँधी ने अप्रेल,1972 में श्रीलका की यात्रा की और सयुक्त विज्ञप्ति में दोनों प्रधान मन्त्रियो ने स्वीकार किया कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर दोनों देशों के विचार एक-दूसरे के बहुत निकट है। दोनों देशो के बीच आर्थिक सहयोग सहित अनेक विषयो पर विचार-विमर्श के लिए एक भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल ने अक्तूबर, 1973 में श्रीलंका की यात्रा की। जनवरी, 1973 में श्रीमती भण्डारनायके भारत आई।

दोनो देशों के बीच कुछ ऐसे विवाद भी थे जिनका अब यद्यपि समाधान किया जा चुका है, तथापि अतीत मे वे तनाव का मुख्य कारण रहे। अतः उपयुक्त होगा कि इन विवादों का संक्षिप्त विवेचन कर लिया जाए—

राज्य-विहोन नागरिक—यह विवाद सन् 1939 मे उठा था,

लगभग हल हो चुका है। राज्य-विहीन नागरिकों की श्रेणी में लगभग 11 लाख 40 हजार व्यक्ति आते हैं। किन्तु विवाद उन 7 लाख 66 हजार व्यक्तियों के बारे मे रहा है जो किसी भी देश के नागरिक नहीं हैं। ये भारतीय ही हैं जिन्हें अंग्रेज अपने शासनकाल मे श्रीलंका के चाय और रबर बागानों में मजदूरों के रूप में ले गए थे। तब से इन लोगों के परिवार वहीं पनपे और फले-फूले। भारतीय मूल के नागरिकों के भारत वापस लौटने की माँग श्रीलका में सन् 1939 में आरम्भ हुई। सन् 1949 में दोनो देशों के प्रतिनिधियों में कुछ अस्थायी समझौते हुए, लेकिन समस्या का समाधान नही हो सका। सन् 1954 में श्रीलका के तत्कालीन प्रधान मन्त्री सर जान कोटलावाला और भारतीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरू मे जो समझौते हुए वे भी अल्पकालीन सिद्ध हुए। 26 अक्तूबर, 1964 को श्री शास्त्री और श्रीमती भण्डारनायके मे वास्तविक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत सभी राज्य-विहीन नागरिको को भारत या श्रीलका की नागरिकता प्राप्त करने के आवेदन देने के लिए कहा गया। श्रीलंका सरकार 8 लाख 25 हजार लोगों में से 3 लाख लोगो को अपने यहाँ रखने के लिए सहमत हुई और 5 लाख 25 हजार नागरिको का दायित्व भारत पर डाला गया। इसका आशय यह हुआ कि जहाँ भारत में 7 व्यक्ति आए वहाँ श्रीलका मे 4 व्यक्ति रहे। इस प्रक्रिया को 15 वर्षों के भीतर अर्थात् 1979 तक पूरा किया जाना निश्चित हुआ। चूँकि श्रीलका के अधिकारी प्रत्यावर्तन (अदला-बदली) की गति से सन्तुष्ट नही थे अतः अप्रेल, 1974 में जब श्रीमती गाँधी श्रीलंका के दौरे पर गईं तो उन्होने प्रत्यावर्तन की गति (वार्षिक 35 हजार) मे 10 प्रतिशत की वृद्धि करना स्वीकार कर लिया। सन् 1974 के प्रारम्भ में केवल डेढ़ लाख राज्य-विहीन नागरिक ही ऐसे शेष रहे जिन्हे भारत लौटना था। सन् 1975 मे इस करार के अन्तर्गत 18448 व्यक्ति भारत प्रत्यावर्तित हुए। इस प्रकार 1964 के समझौते के अनुसार कुल मिलाकर 525,000 तथा 300,000 व्यक्तियों मे से 1975 के अन्त तक 157,470 व्यक्ति प्रत्यावर्तित किए जा चुके थे और 891993 को श्रीलंका की नागरिकता प्रदान की जा चुकी थी।

कच्चातिवू—यह विवाद 28 जून, 1974 के समझौते द्वारा निपटाया जा चुका है। कच्चातिवू (या कच्छदीव) भारत और श्रीलका के समुद्री तटो के बीच 200 एकड़ का एक छोटा-सा द्वीप है जिसमे नागफणी के अतिरिक्त और कुछ नहीं उगता। आस-पास मछुवारे मछली अवश्य पकड़ते हैं। इस भूखण्ड की जनसख्या नगण्य है। दोनों देश इस भूखण्ड पर अपना आधिपत्य जताते थे। *विवाद इसलिए* और भी उग्र हो गया क्योकि इस द्वीप के आस-पास तेल के काफी बड़े भण्डार होने की आशा की जाती थी। भारत ने एक महान् पडोसी देश की परम्परा का निर्वाह करते हुए इस छोटे से द्वीप के कारण दोनों देशो के बीच विवाद को लम्बा खीचना उपयुक्त नहीं समझा। 28 जून,1974 को दोनो में एक समझौता सम्पन्न हुआ जिसके अनुसार कच्चातिवू को श्रीलका के अधिकार क्षेत्र में मान लिया गया। पड़ोसी

देशों के साथ सम्बन्धो मे सुधार की दिशा मे श्रीमती गांधी का यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। सन् 1971 मे पाकिस्तान के साथ युद्ध मे भारत की विजय से कई पडोसी देश ग्राशंकित हो उठे थे कि भारत एक महाशक्ति बनकर छोटे देशो को ग्रातकित करेगा। लेकिन कच्चातिवू श्रीलका को सौपकर भारत ने इस प्रकार की ग्राशकाग्रों को निर्मूल सिद्ध कर दिया।

कच्चातिवू-समझौते को भारत ग्रौर श्रीलंका के बीच एक नए सहयोग के युग का प्रादुर्भाव माना जा सकता है। इस समझौते से भारत को कोई क्षति नही हुई है, क्षति हुई है भारत के विरोधियों को। समझौते के बाद मार्च, 1976 तक दोनों देशों के बीच पारस्परिक यात्राग्रो से ग्रार्थिक एव तकनीकी क्षेत्रों मे सहयोग ग्रौर सुदृढ़ हुग्रा है।

ग्रप्रेल, 1976 से 1980 के मध्य तक—23 ग्रप्रेल, 1976 को भारत ग्रौर श्रीलंका के बीच एक सीमा सम्बन्धी समझौता हुग्रा जो शीघ्र ही दोनो देशो द्वारा पुष्टिपत्रों के ग्रादान-प्रदान के साथ लागू हो गया। भारत ग्रौर श्रीलंका के बीच कोई स्थल सीमा नही है, केवल समुद्र है। ग्रत. यह सीमा समझौता वस्तुत. समुद्री सीमा विषयक समझौता ही है। दोनों देशों ने यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक देश के तट के 200 मील तक का समुद्री क्षेत्र उसका ग्रार्थिक क्षेत्र होगा ग्रौर जहाँ दोनो के बीच की दूरी 200 मील से कम होगी वहाँ दूसरे देश की मध्यस्थ रेखा सीमा रेखा होगी। इस समझौते का एक विशेष महत्त्व इस बात मे है कि समुद्री कानून विषयक विश्व सम्मेलन ग्रब तक किसी निर्णय पर नही पहुँचा है, जबकि भारत ग्रौर श्रीलंका ने ग्रपनी समस्या हल भी कर ली है।

ग्रगस्त, 1976 मे गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन के सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री ग्रौर विदेश मन्त्री ने कोलम्बो की यात्रा की जहाँ श्रीलंका सरकार ग्रौर जनता ने उनका हार्दिक ग्रौर मैत्रीपूर्ण स्वागत किया। शिखर सम्मेलन से पूर्व ग्रौर उसके दौरान दोनो पक्षों के बीच निकट ग्रौर निरन्तर सहयोग से दोनों देशो के सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध ग्रौर दृढ हुए।

भारतीय मूल के व्यक्तियों से सम्बद्ध सन् 1964 के समझौते के ग्रन्तर्गत 31 दिसम्बर, 1976 तक 2,37,390 व्यक्ति भारत प्रत्यावर्तित किए गए ग्रौर 1,35,680 व्यक्ति श्रीलका मे नागरिको के रूप मे पंजीकृत किए गए।

मार्च, 1977 मे जैसी जनमत क्रान्ति भारत मे हुई थी वैसी ही 21 जुलाई, 1977 को श्रीलका मे हुई ग्रौर श्रीमती भण्डारनायके की सत्तारूढ़ श्रीलंका फ्रीडम पार्टी को 166 मे से मात्र 8 स्थान प्राप्त हुए। उल्लेखनीय है कि श्रीमती भडारनायके ने 16 मार्च, 1971 को देश मे ग्रापात्कालीन स्थिति लागू कर दी थी ग्रौर 6 वर्ष के ग्रापात्काल में उनकी सरकार की साख बिलकुल गिर गई थी। श्रीमती भडारनायके के पतन के बाद 72 वर्षीय श्री जयवर्द्धन श्रीलका के प्रधान मन्त्री हुए। 1977 में दोनो देशो के बीच एक सांस्कृतिक करार पर हस्ताक्षर हुए ग्रौर भारत ने सामूहिक उपयोग की ग्रनिवार्य वस्तुग्रो तथा मध्यवर्ती साज-सामान की

खरीद के लिए श्रीलंका को 7 करोड रुपये का ऋण दिया। अगस्त, 1977 में श्रीलंका के कुछ भागों में तमिल विरोधी वर्ग हो गए। जिसकी लपेट मे कुछ भारतीय राष्ट्रिक और भारतीय मूल के कुछ ऐसे व्यक्ति भी आ गए जिन्हें भारत प्रत्यावर्तित किया जाना था और इसकी वजह से भारत मे चिन्ता हो गई। स्थिति को सामान्य करने के लिए तमिल समुदाय में विश्वास पैदा करने के लिए श्रीलंका सरकार ने कारगर कदम उठाए जिन पर सन्तोष व्यक्त किया गया। भारत ने इन दंगो से प्रभावित लोगों को राहत और पुनर्वास के लिए अशदान के रूप मे श्रीलंका को 8 लाख रुपये की धनराशि दी। गृह मन्त्री ने श्रीलंका के संशोधित सविधान के अन्तर्गत श्री जे आर. जयवर्धन को प्रथम कार्यकारी राष्ट्रपति बनाए जाने के अवसर पर आयोजित समारोहो मे भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करने के लिए 3 से 6 जनवरी, 1978 तक श्रीलंका की यात्रा की।

अक्तूबर, 1978 मे राष्ट्रपति जयवर्धन की यात्रा और फरवरी, 1979 में प्रधान मत्री श्री मोरारजी देसाई की श्रीलका यात्रा से दोनों देशो के सम्बन्धो में विद्यमान सौहार्द्रता परिलक्षित हुई। दोनों पक्षों ने यह स्वीकार किया कि दोनो देशों के बीच अब कोई समस्या नही है। श्रीलंका के राष्ट्रपति की यात्रा के दौरान इस बात पर सहमति हुई कि भारत और श्रीलका के बीच द्विपक्षीय व्यापार तथा आर्थिक सहयोग बढ़ाया जाए। श्रीलंका में भारतीय मूल के लोगो के भविष्य से सम्बद्ध भारत-श्रीलका करार के काम की भी समीक्षा की गई तथा भारत मे इस करार के अन्तर्गत भारतीय मूल के लोगो के देश प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया को और उनके पुनर्वास को सुचारु रूप देने का निश्चय किया। जनवरी, 1980 मे श्रीमती गान्धी के पुनः सत्तारूढ होने के बाद से दोनो देशों के सम्बन्ध और अधिक दृढ हुए हैं।

भारत और नेपाल

भारत और चीन के बीच हिमालय की गोद में स्थित इस देश के साथ कुछ अपवादो को छोड़कर भारत के सम्बन्ध न्यूनाधिक मैत्रीपूर्ण रहे है। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और भौगोलिक दृष्टि से तो दोनों देश अति निकट है साथ ही, आर्थिक विकास की आवश्यकताओ के कारण भी दोनो मे मैत्री स्वाभाविक है। 31 जुलाई, 1950 की सन्धि द्वारा दोनो देश निश्चय कर चुके थे कि वे शान्ति और मैत्री की नीति का अनुसरण करेंगे। दोनो मे एक व्यापारिक सन्धि भी सम्पन्न हुई जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि नेपाल अपना विदेशी व्यापार भारतीय क्षेत्र से होकर सुचारु रूप से कर सकेगा।

नेपाल मे कुछ भारत विरोधी तत्त्व पहले ही विद्यमान थे। साम्यवादी चीन भी अपने प्रभाव-विस्तार के लिए भीतर ही भीतर नेपाल मे भारत-विरोधी भावनाओ को प्रोत्साहन दे रहा था। अतः नेपाल मे यह विचार बल पकड़ने लगा कि नेपाल को भारत और चीन के मध्य एक अवरोधक (बफर) राज्य की भूमिका निभानी चाहिए। सन् 1955 में राजा त्रिभुवन की मृत्यु के बाद राजा महेन्द्र विक्रमशाह नेपाल की राजगद्दी पर बैठे। राजा महेन्द्र ने अलोकतान्त्रिक कार्यवाही

कर सन् 1960 में संसद् को भंग कर दिया और देश का शासन स्वय सम्भाल लिया। राजा महेन्द्र का यह कार्य यद्यपि भारत को आघात पहुँचाने वाला था, तथापि भारत ने नेपाली राजनीति में कोई हस्तक्षेप नही किया। भारत नेपाल को आर्थिक और औद्योगिक उन्नति के लिए सभी प्रकार से सहयोग प्रदान करता रहा। सन् 1956 मे टंकाप्रसाद आचार्य नेपाल के प्रधान मन्त्री बने। उनका झुकाव चीन की ओर था, अतः नेपाल में भारत-विरोधी वातावरण तैयार करने में उनका प्रत्यक्ष परोक्ष सहयोग रहा। सन् 1956–57 मे अस्पष्ट भाषा का प्रयोग करते हुए उन्होंने कहा कि भारत को नेपाल के राष्ट्रीय विकास मे सहयोग देना चाहिए। इस कथन का अभिप्राय अप्रत्यक्ष रूप से भारत पर यह आरोप लगाना था कि भारत नेपाल को अपना पिट्ठू देश बनाना चाहता है। सन् 1957 में डॉ के आई. सिंह प्रधान मन्त्री बने और सन् 1959 में बी पी कोइराला। इन दोनों ही के प्रधान मन्त्रित्वकाल में भारत-नेपाल सम्बन्धों मे कोई सुधार नही हो सका। डॉ के. आई. सिंह के सुधार-प्रयत्नों को आचार्य-समर्थक समाचार-पत्रों ने सफल नही होने दिया। प्रधान मंत्री कोइराला ने चीन के साथ एवरेस्ट पर्वत शिखर के बारे मे ऐसा समझौता किया जो नेपाल सरकार का भारत के साथ विश्वासघात था। कोइराला-मन्त्रिमण्डल के पतन के बाद भी सन् 1961 तक दोनों देशो के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे। भारत के विरोध के बावजूद राजा महेन्द्र ने काठमाण्डू-ल्हासा-सडक मार्ग बनाने के सम्बन्ध में चीन से समझौता किया। उन्होने चीन के साम्यवादी नेताओं का समर्थन प्राप्त करने और भारत की उपेक्षा करने की नीति अपनाई। सन् 1961 में 6 पृष्ठों की प्रकाशित एक पुस्तिका मे कहा गया कि नेपाल को विदेशों से प्राप्त सहायता मे चीन ने सर्वाधिक उदार और नि:स्वार्थ योग दिया है। सन् 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के प्रति नेपाल ने तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया और इस प्रकार साम्यवादी चीन के प्रति अप्रत्यक्ष रूप में सहानुभूति प्रकट की।

सन् 1964 मे श्री नेहरू की मृत्यु के बाद श्री शास्त्री भारत के प्रधान मन्त्री बने। उन्होने नेपाल की यात्रा की और दोनों देशो के सम्बन्धो मे कुछ सुधार हुआ। राजा महेन्द्र भारत आए और राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णनन नेपाल गए। भारतीय *नेताओं ने नेपाली नेतृत्व को साम्यवादी चीन के वास्तविक खतरे से सचेत किया।* सितम्बर, 1964 मे भारतीय विदेश मन्त्री सरदार स्वर्णसिंह नेपाल गए और एक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत ने 9 करोड़ रुपयो की लागत से नेपाल के लिए एक 128 मील लम्बी सडक बनाने का निर्णय किया। काठमाण्डू से भारतीय सीमा रक्सौल को जोड़ने वाली एक अन्य सड़क योजना भी भारत ने अपने हाथ में ली। इसके अतिरिक्त भारत ने अपने व्यय से कोसी-योजना पूर्ण करने का भी निश्चय किया। अप्रेल, 1965 मे श्री शास्त्री ने कोसी-योजना के पश्चिमी-नहर कार्य का उद्घाटन किया। योजना का उद्देश्य नेपाल को बाढ़ की क्षति से बचाना और बिजली तथा सिंचाई से लाभ पहुँचाना था। दिसम्बर, 1965 मे नेपाल नरेश ने भा… की और एक सयुक्त विज्ञप्ति द्वारा स्वीकार किया कि भारत की ने…

में चल रहे विकास कार्यों की प्रगति सन्तोषजनक है। श्री शास्त्री के बाद श्रीमती गांधी ने भी पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने की नीति को आगे बढ़ाया। अक्तूबर, 1971 में दोनों देशों के बीच कोसी तथा गण्डक परियोजनाओं के निर्माण के लिए समझौता हुआ। श्रीमती गांधी ने नेपाली नेतृत्व के मस्तिष्क मे यह बात बैठाने की कोशिश की कि भारत नेपाल की संप्रभुता का पूर्ण सम्मान करता है तथा उसका सच्चा मित्र है। जनवरी, 1972 में राजा महेन्द्र की मृत्यु हो गई और उनके बाद राजा वीरेन्द्रशाह गद्दी पर बैठे।

भारत नेपाल के विकास कार्यक्रमो में रुचि लेता रहा है। 1973-74 के बजट में नेपाल की विकास सहायता के लिए 9 करोड़ रु. की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त 10 करोड़ रु. के स्टैण्ड बाई क्रेडिट की भी व्यवस्था की गई। राजा वीरेन्द्र का रवैया भारतीय उदारता के बावजूद कई दृष्टियों से अखरने वाला था। सन् 1973 में उन्होंने नई भौगोलिक स्थिति की घोषणा करते हुए कहा कि नेपाल भारतीय उपमहाद्वीप का अग नहीं है। सितम्बर, 1974 मे राजा वीरेन्द्र ने सिक्किम को भारत मे सह-राज्य का दर्जा दिए जाने का खुलमखुल्ला विरोध किया। काठमांडू स्थित चीनी दूतावास द्वारा भारत के विरुद्ध बुलेटिन निकाले गए। नेपाल सरकार की चुप्पी ने चीनी दूतावास द्वारा भारत-विरोधी प्रचार को बढावा दिया। नेपाल के भारतीय स्वयं को असुरक्षित महसूस करने लगे। इन घटनाओ को भारत सरकार ने अत्यन्त गम्भीरता से लिया और विदेश मन्त्रालय ने नेपाल के साथ सम्बन्धों पर पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता अनुभव की। कहा जाता है कि नेपाल से राजदूत वापस बुलाने के प्रश्न पर भी विचार किया गया। अब नेपाल सरकार की बुद्धि पर से भ्रम का पर्दा हटने लगा। नेपाल सरकार ने समझ लिया कि भारत के सहयोग और समर्थन के बिना गाड़ी चलाना कठिन है। सब तरफ से घिरा हुआ (लैण्ड लाक्ड) देश होने के कारण अन्य देशो से सम्बन्धों के लिए नेपाल की भारत पर निर्भरता आवश्यक है। हिमालय की रुकावट के कारण नेपाल चाहते हुए भी भारत से सम्बन्ध नही तोड सकता। नवम्बर, 1974 के लगभग नेपाली पत्र 'मदरलैण्ड' ने कहा कि विश्व के 'लैण्ड लाक्ड' देशो को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं वही नेपाल को भी मिलनी चाहिए। राजनीतिक क्षेत्रों के अनुसार भारतीय विदेश मन्त्री चह्वाण ने नेपाली प्रधान मन्त्री श्री रिजाल को स्पष्ट रूप से बता दिया कि भारत नेपाल को हर प्रकार से सहायता देने को तैयार है, किन्तु सचार एवं बन्दरगाह सुविधाओं को अधिकार के रूप में नही मांगा जाना चाहिए। नेपाल को यह भी नही भूलना चाहिए कि वह इस उपमहाद्वीप की रक्षा-व्यवस्था का एक अंग है।

भारत के कड़े रुख को देखकर नेपाल के महाराजा ने अप्रत्यक्ष और कूटनीतिक क्षेत्रो के माध्यम से भारत से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह किया। भारत सरकार ने सभी आवश्यक सावधानी बरती, लेकिन नेपाल सरकार के प्रति कोई दुराग्रही रुख नही अपनाया और सन् 1975 में दोनों देशों के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण बने रहे। अगस्त, 1975 में नेपाल के विदेश मन्त्री ने नई दिल्ली की

यात्रा की और राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विस्तृत विचार-विमर्श किया। उन्हें यह आश्वासन दिया गया कि भारत नेपाल की पांचवी पंचवर्षीय योजना में अपना योग देगा और हमेशा की तरह नेपाल की व्यापार तथा पारगमन सम्बन्धी समस्याओं पर मित्रतापूर्ण ढंग से विचार करेगा। उन नदियों के जल का सदुपयोग करने में भारत-नेपाल सहयोग पर विशेष रूप से बल दिया गया जो दोनों देशों से होकर बहती हैं। 30 सितम्बर और 1 अक्तूबर, 1975 को नेपाल-नरेश भारत आए। यह यात्रा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि इससे दोनों देशों के नेताओं के बीच उच्चतम स्तर पर विचार-विमर्श का सुअवसर प्राप्त हुआ। जनवरी, 1976 में अपनी नेपाल यात्रा के दौरान भारतीय विदेश मन्त्री श्री चह्वाण ने सहयोग के सम्भावित क्षेत्रों के विषय में तथा विकास एवं तत्सम्बन्धी जल-संसाधनों पर विचार-विनिमय किया।

मार्च, 1976 से 1980 के मध्य तक—सन् 1976 में दोनों देशों के सम्बन्धों की दिशा में काफी ठोस कार्य हुआ। राजनीतिक और सरकारी स्तर पर कई यात्राएँ हुई जिससे दोनों सरकारों के बीच लगातार वार्ता का अवसर प्राप्त हुआ। भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि नेपाल के जो राष्ट्रिक भारत के संरक्षित/प्रतिबन्धित क्षेत्रों का दौरा करना चाहेंगे उन्हें दूसरे विदेशी राष्ट्रों के समकक्ष ही माना जाएगा और इस प्रकार उन्हें भी इस उद्देश्य के लिए पारपत्र (परमिट) प्राप्त करना होगा। इस बात का निश्चय करने के लिए कि इन क्षेत्रों की यात्रा करने वाले वास्तविक नेपाली यात्रियों को किसी प्रकार की असुविधा न हो, परमिट जारी करने के सीधी और सुविधाजनक विधियाँ तय की गई हैं।

वर्ष 1976 में कोलम्बो योजना की 25वीं वर्षगाँठ मनाई गई। इस योजना के अन्तर्गत भारत नेपाल को द्विपक्षीय आधार पर पूँजीगत तथा तकनीकी सहयोग देता रहा है। सन् 1976–77 में नेपाल की विकास-योजनाओं के सहायता अनुदान के रूप में बजट में 10 करोड़ रुपये की राशि की व्यवस्था की गई है।

अप्रेल, 1977 में नेपाल नरेश की भारत यात्रा और उसके बाद जुलाई, 1977 में भारत के विदेश मन्त्री की नेपाल यात्रा और फिर दिसम्बर, 1977 में भारत के प्रधान मन्त्री की नेपाल यात्रा से आपसी आस्था और विश्वास की भावना के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध विकसित करने में सहायता मिली। भारत ने नेपाल को यह आश्वासन दिया कि वह उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता बल्कि वह तो परस्पर सहयोगी सम्बन्ध विकसित करने में दिलचस्पी रखता है। भारत-नेपाली व्यापार के लिए नए प्रबन्धों के विषय में प्रधान मन्त्री ने व्यापार और पारगमन के सम्बन्ध में दो अलग-अलग सन्धियाँ करने के बारे में अपनी तत्परता व्यक्त की और नेपाल ने इसका स्वागत किया। लेकिन साथ ही इस बात पर भी सहमति हुई कि दोनों देश अपनी खुली सीमाओं के आर-पार अनधिकृत व्यापार को रोकने में एक दूसरे को सहयोग देंगे क्योंकि इस तरह के व्यापार से किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुँच सकता है। जनवरी, 1978 में नेपाल

मण्डल की भारत की यात्रा के समय और फरवरी-मार्च 1978 में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल की नेपाल यात्रा के समय मे इन विषयो पर आगे विचार-विमर्श हुआ। इस बारे मे एक व्यापक सहमति हुई जिसके परिणामस्वरूप व्यापार तथा पारगमन के सम्बन्ध मे अलग-अलग सन्धियो पर हस्ताक्षर हुए तथा अनधिकृत व्यापार को रोकने के लिए एक करार पर सहमति हुई। *यह भारत-नेपाल के सम्बन्धों, परस्पर विश्वास,* समझ-बूझ और सहयोग की बढ़ती हुई भावना का द्योतक है। भारत नेपाल के विकास कार्यक्रमों के लिए तकनीकी और वित्तीय सहायता देता रहा।

मार्च, 1978 मे नेपाल के साथ व्यापार और पारगमन के लिए अलग-अलग सन्धियाँ तथा अनधिकृत व्यापार पर नियन्त्रण के लिए सहयोग के सम्बन्ध मे अन्तर-सरकारी करार के सम्पन्न होने से भारत और नेपाल के बीच परस्पर लाभदायक सहयोग को संवर्धित करने के लिए एक अनुकूल वातावरण तैयार हुआ। अप्रेल, 1978 मे नेपाल के प्रधान मन्त्री श्री कीर्तिनिधि विष्ट की यात्रा के परिणामस्वरूप एक करार हुआ जिसके अन्तर्गत दोनो देश नेपाल में सयुक्त औद्योगिक उद्यमो की स्थापना मे सहयोग करेंगे और उनमे तैयार होने वाली चीजे भारत में बेची जा सकेंगी। सितम्बर, 1978 मे उद्योग मन्त्री श्री जार्ज फर्नांडीस ने काठमांडू की यात्रा की और उस समय एक समझौता-ज्ञापन पर हस्ताक्षर करके इस सम्बन्ध मे ठोस प्रस्तावों को अन्तिम रूप दिया गया। अक्तूबर, 1978 में विदेश मन्त्री ने नेपाल की यात्रा की जो कि द्विपक्षीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर दोनो देशों के बीच सावधिक विचार-विमर्श की सामान्य प्रथा की ही एक कड़ी थी।

भारत यह प्रयत्न करता रहा कि नेपाल के साथ पारस्परिक सहयोगात्मक तथा सार्थक सम्बन्ध बनाए रखने के लिए आस्था और विश्वास का वातावरण तैयार किया जाए। वर्ष 1979–80 के दौरान भारत और नेपाल दोनों ही देश अपनी-अपनी आन्तरिक घटनाओ मे व्यस्त रहे। लेकिन अपनी इन समस्याओ के बावजूद सितम्बर, 1979 मे नेपाल के महाराजाधिराज भारत की यात्रा पर आए जिससे दोनों देशो के बीच घनिष्ठ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध तथा विश्वास के वातावरण की पुष्टि होती है।

नेपाल के महाराजाधिराज की इस यात्रा से आस्था और विश्वासपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने मे सहायता मिली। नेपाल से भारत की ओर बहने वाली नदियों की विशाल क्षमता जिसका कि पारस्परिक लाभ के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है, इसके बारे में विचार-विमर्श किया गया और इस बात पर सहमति हुई कि करनाली, पंचेश्वर और राप्ती जैसी कुछ महत्वपूर्ण बहुउद्देश्यीय पन–बिजली परियोजनाओं आदि का शीघ्रता से अध्ययन पूरा किया जाए। पारस्परिक हित के अनेक विषयो पर भी विचार-विमर्श हुआ। इससे भारत नेपाल सम्बन्धो मे आस्था, सद्भावना एव पारस्परिक सहयोग प्रकट हुआ।

नेपाल और भारत के बीच निरन्तर चल रहे *उच्च स्तरीय सम्पर्क की* परम्परा के अनुरूप विदेश सचिव ने 17 से 19 फरवरी, 1980 तक नेपाल की

यात्रा की। आशा की जाती है कि नेपाल नरेश मार्च, 1980 में भारत की राजकीय यात्रा पर आएंगे।

नेपाल के विकास कार्यक्रमों के लिए भारत वित्तीय और तकनीकी सहायता प्रदान करता रहा। इस वर्ष के दौरान जिन योजनाओं के कार्य को हाथ में लिया गया उनका खर्च पूरा करने के लिए 14·60 करोड रुपये की राशि निर्धारित की गई। जिन मुख्य परियोजनाओं के लिए सहायता दी गई थी वे हैं—महेन्द्र राजमार्ग का मध्य क्षेत्र और देवी घाट पनबिजली परियोजना जिसे भारत-टर्न की आधार पर पूरा कर रहा है। दलालघाट-धनकुटा मार्ग के हवाई सर्वेक्षण का काम चालू वित्तीय वर्ष के दौरान पूरा हो जाने की आशा है। नेपाल में धर्मार्थ अस्पताल के विस्तार के लिए एक करार पर हस्ताक्षर किए गए जिसके अन्तर्गत इस काम को पूरा करने के लिए प्राधिकारियों को 17 65 लाख रुपये दिए गए थे। आशा है कि 1981 तक यह काम पूरा हो जाएगा। भारतीय सहायता से सम्बन्धित पत्रों का आदान-प्रदान भी किया गया, नेपाल को आयोडीनयुक्त लवण की सप्लाई और पाटन चरण 4 मे औद्योगिक बस्ती के सुधार से सम्बन्धित करारों की समयावधि भी बढाई गई। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने नेपाल में जिन अन्य परियोजनाओं के लिए अपनी सहमति दी है, उसके बारे मे भी सम्भाव्यता अध्ययन पूरा हो चुका है। इन परियोजनाओ मे नेपाल के लक्ष्मीपुर मे संयुक्त क्षेत्र में एक सीमेंट कारखाना और हिन्दुस्तान मशीन टूल्स (अन्तर्राष्ट्रीय) द्वारा स्थापित की जाने वाली तीन परियोजनाएँ तथा नेपालगज मे क्षेत्रीय प्रशिक्षण संस्थान, हेतौंदा में उत्पादोन्मुखी पालिटेक्निक संस्थान तथा बुतवाल मे एक समुदाय भवन की स्थापना भी शामिल है। आशा है कि नेपाल मे कागज तथा लुग्दी के लिए स्थापित किए जाने वाले कारखानों के लिए सम्भाव्यता अध्ययन भी शीघ्र पूरा हो जाएगा।[1]

भारत और भूटान

भारत की उत्तरी सीमा पर भूटान सन् 1971 से पूर्व तक भारत का संरक्षित राज्य (Protectorate), किन्तु सन् 1971 में भारत ने इस मित्रदेश की सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्नता स्वीकार कर अपनी उदारता का परिचय दिया। भारत के ही सहयोग से भूटान ने सन् 1971 में संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश किया। भूटान की विदेश-नीति, भूटान की सहमति से अभी तक भारत द्वारा ही संचालित होती है। यद्यपि दोनों देशों के बीच समानता के आधार पर सम्बन्ध है और उनमें कभी किस भी अवसर पर कटुता नही आई है। अप्रैल, 1975 मे जब सिक्किम भारत में विलय हुआ तब भी भूटान ने भारत के विरुद्ध कुछ भी नही कहा जबकि सिक्किम के राज-परिवार से भूटान के राज-परिवार के निकट सम्बन्ध हैं। सिक्किम के चोग्याल भूटान की राजमाता के रिश्ते मे भाई होते है। संयुक्त राष्ट्रसंघ मे हर प्रश्न पर भूटान भारत का समर्थन करता रहा है। मतदान के हर अवसर पर भारत और भूटान के

1 भारत सरकार रिपोर्ट, 1979–80.

मत एक ही पक्ष मे पड़े हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भारत भूटान का बड़ा भाई है, किन्तु उसने कभी भूटान पर अपनी इच्छा लादने का प्रयास नहीं किया है। सन् 1949 में दोनों देशों के बीच एक मैत्री और शान्ति-सन्धि द्वारा यह निश्चय हुआ था कि भारत भूटान के आन्तरिक शासन मे कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा और भूटान के विदेश सम्बन्धो तथा प्रतिरक्षा का दायित्व भारत पर रहेगा।

भारत भूटान के योजनाबद्ध विकास में निरन्तर सहायता देता रहा है। भूटानी योजनाओं का लगभग 95 प्रतिशत व्यय भारत ही वहन करता रहा है। वर्ष 1976 में यह निश्चय किया गया कि चौथी पंचवर्षीय योजना (1976–81) के लिए भारत सरकार भूटान को 70·29 करोड़ रुपये की राशि का अनुदान देगी।

कोलम्बो में पाँचवें गुट-निरपेक्ष शिखर-सम्मेलन में शामिल होने के लिए जाते हुए भूटान के महामहिम नरेश ने 13 और 14 अगस्त, 1976 के दो दिन दिल्ली में व्यतीत किए। अपने प्रवास काल में उन्होने भारतीय नेताओं से भेंट वार्ता की। कोलम्बो शिखर-सम्मेलन में भूटान-नरेश ने कहा कि भारत का पड़ोसियो के साथ सम्बन्ध सामान्य करने के भारत के प्रयास से एशिया में शान्ति और स्थिरता की दिशा में सहयोग मिलेगा। भूटान नरेश ने 'अपने श्रेष्ठ मित्र और पडोसी भारत' द्वारा उनके देश को दी गई उदारतापूर्ण वित्तीय और तकनीकी सहायता के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा की।

विगत की भाँति ही दोनों देशो के बीच विभिन्न विकास-क्षेत्रो में सहयोग चालू रहा। यह कार्य भारतीय विशेषज्ञों और जानकारों की भूटान यात्रा और वहाँ किए गए सर्वेक्षणों के माध्यम से हुआ। भूटान-नरेश ने अप्रेल, 1977 में भारत की यात्रा की और नई सरकार के साथ बातचीत की। इस यात्रा से दोनों पक्षों को मित्रता और भाईचारे के अपने विशिष्ट सम्पर्क को पुनः पुष्ट करने का अवसर मिला। भारत भूटान के आर्थिक विकास के प्रयत्नो में उसका भागीदार बना रहा। मार्च, 1978 में भूटान नरेश की भारत यात्रा से दोनों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का और विकास हुआ।

वर्ष 1979 और 1980 में भी भारत और भूटान के सम्बन्धों मे उत्तरोत्तर सुधार होता गया। भारत सरकार की 1979–80 की रिपोर्ट के अनुसार—

"भारत-भूटान सम्बन्ध दोनो देशों के पारस्परिक हित के लिए आस्था, विश्वास एवं सद्भावना के आधार पर विकसित होते रहे। विदेश सचिव, श्री जगतसिंह मेहता, भूटान नरेश से मिलने के लिए अगस्त, 1979 मे कलकत्ता गए। हवाना में आयोजित गुट-निरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन मे भूटान नरेश के साथ विदेश मन्त्री श्री श्यामनन्दन मिश्र तथा विदेश सचिव श्री जगतसिंह मेहता ने विभिन्न मामलों पर परस्पर विचार-विनिमय किया। भारत सरकार के वरिष्ठ अधिकारी भूटान में चल रही परियोजनाओं की प्रगति पर विचार-विमर्श करने और भावी विकास कार्यक्रमो में बेहतर सहयोग के लिए क्षेत्रों का पता लगाने के लिए भूटान गए। इन सभी सम्पर्कों से दोनों देशों के बीच अटूट मित्रता तथा पारस्परिक

निर्भरता और सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने की कोशिशों की पुनः पुष्टि हुई। भारत और भूटान के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान जारी रहा। वर्ष 1979–80 के दौरान पाँच शिष्टमण्डलों के भारत आने की सम्भावना है, जिनमे पन्द्रह-सदस्यीय राष्ट्रीय विधानसभा सदस्यो, ग्राम मुखियाओं/किसानों और कृषि विस्तार कार्यकर्ताओं तथा विद्यार्थियों/अध्यापकों का शिष्टमण्डल महत्त्वपूर्ण है। महामहिम भूटान नरेश फरवरी, 1981 मे भारत की सरकारी यात्रा पर आने वाले हैं।

पिछली दो दशाब्दियो में भूटान के विकास कार्यक्रमों में भारत ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। 1961 से 76 50 करोड़ रुपये के परिव्यय की तीन पंचवर्षीय योजनाएँ भारत की सहायता से सफलतापूर्वक पूरी हो चुकी हैं। इन *विकास योजनाओं से जहाँ एक ओर भूटान की सामाजिक-आर्थिक प्रगति के लिए* भावी कार्यक्रमों का आधार तैयार हुआ है वहीं इनसे भूटान की अर्थव्यवस्था मे भी सुधार हुआ है। भारत सरकार की 70 30 करोड़ रुपये की सहायता से भूटान की चौथी पंचवर्षीय योजना मार्च, 1981 तक पूरी होने वाली है।

योजना व्यय के अतिरिक्त भारत चूखा में एक विशाल पन-बिजली परियोजना का निर्माण कर रहा है और नवें दशक के मध्य मे तैयार हो जाने पर 332 मेगावाट बिजली पैदा की जा सकेगी। चूखा पन-बिजली परियोजना में भारत 60 और 40 प्रतिशत के अनुपात में क्रमशः अनुदान एवं ऋण आधार पर वित्तीय सहायता दे रहा है। इस परियोजना मे काफी प्रगति हो चुकी है। इसके अतिरिक्त भारत की सहायता से 13 50 करोड़ रुपये की लागत से पेनदेन में 300 टन प्रतिदिन सस्थापित क्षमता वाली एक सीमेन्ट परियोजना पूरी हो चुकी है। आशा है कि इसमें शीघ्र ही उत्पादन शुरू हो जाएगा।

भारत दक्षिण भूटान के गेलेम्फूग मे 2 62 करोड़ रुपये की लागत से एक व्यापक लिफ्ट सिंचाई योजना को भी कार्य रूप दे रहा है। यह एक टर्न की परियोजना है और इसके पूरा हो जाने पर इस क्षेत्र मे रहने वाले लोगों को कृषि और उससे सम्बद्ध अन्य कार्यों के लिए सिंचाई की सुविधा उपलब्ध होगी। इसी प्रकार भारत-भूटान के बीच माइक्रोवेव सम्पर्क स्थापित करने का कार्य भी प्रगति पर है।

भूटान की विकास योजनाओं के लिए वित्तीय सहायता देने के अतिरिक्त भारत ने उद्योग, सड़क-निर्माण, खनिज, भू-वैज्ञानिक अन्वेषण, दूर-संचार तथा वन-विकास आदि के अलावा अन्य विभिन्न क्षेत्रों मे भी विशेषज्ञ भूटान भेजे हैं। अनेक भूटानी छात्र भारत मे हमारी सहायता तथा छात्रवृत्तियों से उच्चतर शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।"

भारत और बंगलादेश

बंगलादेश का उदय तो 6 दिसम्बर, 1971 को ही हो गया था, जब भारत ने उसे *मान्यता* प्रदान कर दी थी। व्यवहार मे बगलादेश विश्व के नक्शे पर तब उजागर हुआ जब 16 दिसम्बर, 1971 को ढाका मे पाक सेना के ले. जनरल नियाजी

ने आत्म-समर्पण के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर किए। बंगलादेश के मुक्ति संग्राम और उदय में भारत ने जो ऐतिहासिक भूमिका निभायी और बलिदान किया, उससे स्वभावतः दोनो देशो के बीच मैत्री निरन्तर बढती गई।

सन् 1971–1975 की अवधि—नवोदित बंगलादेश ने भी भारत के ही समान, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, गुट-निरपेक्षता और विश्व-मैत्री को अपनी विदेश नीति की आधारशिला बनाया। भारत ने नवोदित राष्ट्र को प्रत्येक सम्भव सहयोग और समर्थन देने की नीति अपनायी। 17 जनवरी, 1972 को दोनों देशों के बीच पहला अनुदान समझौता हुआ जिसमें यह निश्चय किया गया कि—(1) भारत बगलादेश को 25 करोड रुपये का सम्मान और सेवाएँ प्रदान करेगा, तथा (2) बगलादेश की विदेशी मुद्रा की माँग की पूर्ति के लिए भारत 50 लाख पौण्ड का ऋण भी जुटाएगा।

मार्च, 1972 मे श्रीमती गांधी की बगलादेश यात्रा के दौरान 19 तारीख को दोनों देशो के बीच एक ऐतिहासिक मैत्री-सन्धि हुई। इस समय तक भारतीय सेनाएँ बगलादेश की भूमि से वापस लौट चुकी थी। सन्धि के अनुसार यह निश्चय हुआ कि—(1) दोनों देश एक दूसरे की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता का सम्मान करते हुए एक दूसरे के मामलो में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करेंगे; (2) उपनिवेशवाद और जातिवाद की निन्दा की गई तथा मुक्ति-आन्दोलनो का समर्थन किया गया; (3) आर्थिक, प्राविधिक और वैज्ञानिक क्षेत्र मे पारस्परिक सहयोग के विकास का निश्चय किया गया; (4) सांस्कृतिक आदान-प्रदान का निर्णय किया गया। धारा 8 मे यह स्पष्ट कर दिया गया कि पारस्परिक मित्रता का सम्मान करते हुए दोनों मे से कोई भी देश किसी अन्य देश के साथ ऐसा सैनिक समझौता नही करेगा जो दूसरे के विरुद्ध हो; (5) धारा 9 मे कहा गया कि न तो एक दूसरे की सीमा पर आक्रमण किया जाएगा और न किसी तीसरे देश को आक्रमण के लिए अपनी सीमा का उपयोग करने दिया जाएगा; (6) धारा 10 मे व्यवस्था की गई कि दोनो देश किसी तीसरे देश को ऐसी सहायता नहीं देंगे जो दोनों मे से किसी देश के हितों के विरुद्ध हो और यदि दोनो मे से किसी पर आक्रमण होगा या आक्रमण का खतरा उत्पन्न होगा तो दोनो देश खतरे के निराकरण के लिए विचार-विमर्श करेंगे।

उपर्युक्त ऐतिहासिक सन्धि 25 वर्ष के लिए की गई और दोनो देशों की सहमति पर इसके नवीनीकरण का प्रावधान भी रखा गया। 9 अगस्त, 1972 को बगलादेश ने संयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बनने के लिए प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किया। सघ मे भारतीय और सोवियत प्रतिनिधियों ने बगलादेश का पूर्ण समर्थन किया, लेकिन चीन ने सुरक्षा परिषद् मे वीटो का प्रयोग कर भारतीय प्रयास को असफल कर दिया। 30 दिसम्बर, 1972 को भारत और बंगलादेश के बीच एक सांस्कृतिक समझौता हुआ। इसके द्वारा दोनों ही देशों के मध्य सस्कृति, शिक्षा, विज्ञान और प्राविधिक क्षेत्रों मे सहयोग बढाने की व्यवस्था की गई। बगलादेश में भारत-विरोधी तत्त्वो ने भारत-विरोधी वातावरण उत्पन्न करने के जो प्रयास किए उन्हें मुजीब सरकार ने सफल नहीं होने दिया।

भारत के सहयोग से एक वर्ष से भी कम समय मे बंगलादेश का स्थायी संविधान तैयार कर लिया गया जिसके अन्तर्गत मार्च, 1973 मे प्रथम आम चुनाव हुए और सत्तारूढ़ आवामी पार्टी ने भारी बहुमत प्राप्त किया। मुजीव ने प्रधान मन्त्री का पद सम्भाला। पाकिस्तान के साथ अपने सम्बन्ध निर्धारित करने में भारत ने कभी बगलादेश की उपेक्षा नही की। 18 अप्रेल, 1973 को दोनो देशो ने मिलकर एक त्रिसूत्री कार्यक्रम तैयार किया जिसके आधार पर भारत ने पाकिस्तान के साथ समझौता वार्ता चलाई। भारत और बगलादेश की दृढ़ता तथा कतिपय मुस्लिम-राज्यो के प्रयासों से अन्ततः पाकिस्तान ने 22 फरवरी, 1974 को बगलादेश को मान्यता प्रदान कर दी।

अप्रेल, 1974 मे पाकिस्तान, भारत और बंगलादेश के नेताओं की त्रिपक्षीय वार्ता हुई और 9 अप्रेल को एक त्रिपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार—(1) बगलादेश 195 पाकिस्तानी युद्ध-अपराधियो को लौटाने के लिए सहमत हो गया; (2) पाकिस्तान ने उनके अपराधो की निन्दा करते हुए खेद प्रकट किया; एव (3) पाकिस्तान ने बगलादेश से पाकिस्तानी नागरिकों को वापस ले लेने की बात भी स्वीकार कर ली। यह समझौता भारतीय उपमहाद्वीप में सामान्य स्थिति कायम करने की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कदम था। भारत और बगलादेश के बीच आर्थिक और ऋण सम्बन्धी समझौते भी सम्पन्न हुए। मई, 1974 मे शेख मुजीब ने भारत की यात्रा की। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार के साथ ही फरक्का बाँध और दोनो देशो के बीच आर्थिक सम्बन्धों को सुदृढ बनाने पर मुख्य रूप से विचार-विमर्श हुआ।

25 जनवरी, 1975 को शेख मुजीब ने बगलादेश का प्रधान मन्त्री पद छोड़कर राष्ट्रपति पद सम्भाल लिया। 19 अप्रेल, 1975 को फरक्का बाँध के सम्बन्ध में भारत-बगलादेश समझौता सम्पन्न हुआ। गंगाजल के बँटवारे और फरक्का बाँध को चालू रखने के लिए 12 वर्ष से चले आ रहे विवाद को हल करने की दिशा मे यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। नई दिल्ली मे 29 मार्च से 2 अप्रेल तक विदेश मन्त्री स्तर पर हुई वार्ता में समुद्री-सीमा परिसीमन के प्रश्न पर मतभेदों को दूर कर ऐसी स्थिति तक लाया गया जहाँ दोनो पक्ष आश्वस्त हुए कि अब जल्दी ही एक परस्पर स्वीकार्य समझौता हो जाएगा। दुर्भाग्यवश बगलादेश में 15 अगस्त के बाद हुई घटनाओं के कारण इस दिशा मे आगे वार्ता नहीं हो सकी। बंगबन्धु मुजीबुर्रहमान, उनके परिवार के सदस्यों तथा वहाँ के कई अन्य प्रमुख नेताओ की नृशस हत्या से भारत को गहरा आघात पहुँचा।

1976–1979 को अवधि—मुजीव की हत्या के बाद बगलादेश सरकार का रवैया वस्तुतः खेदजनक रहा और भारत सरकार यह सोचकर अपनी मित्रता का निर्वाह करती रही कि बगलादेश की खोंडाकर-सरकार द्वारा फरक्का को विवाद का विषय बनाए रखने की कोशिश बगलादेश की आन्तरिक स्थिति का नतीजा हो सकता है। फिर भी बड़े पैमाने पर पूँजी-निवेश और कलकत्ता-बन्दरगाह की दृष्टि

से भारत को फरक्का के विषय में कठोर रवैया अपनाना पड़ा और तब अप्रैल में बंगलादेश सरकार ने अपना नकारात्मक रवैया त्याग कर फरक्का के बारे में तकनीकी स्तर पर बातचीत करना स्वीकार कर लिया। कृषि और सिंचाई मन्त्री श्री जगजीवनराम के नेतृत्व मे एक भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल ने फरक्का के मामले पर द्विपक्षीय वार्ता के लिए 6 से 8 दिसम्बर, 1976 तक बंगलादेश की यात्रा की। वार्ता मे एक दूसरे की स्थिति को समझने की दिशा में कुछ प्रगति हुई। जनवरी, 1977 मे ढाका मे वार्ता हुई और फिर नई दिल्ली में लेकिन दुर्भाग्य से इस समस्या का कोई समाधान नहीं निकल सका।

मार्च, 1977 में ऐतिहासिक सत्ता परिवर्तन हुआ और मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार बनी। नई सरकार द्वारा कुछ साहसिक निर्णय लिए जाने के परिणामस्वरूप विशेष रूप से फरक्का और सीमावर्ती घटनाओं के सम्बन्ध मे, भारत और बंगलादेश के सम्बन्धों ने एक नया मोड़ लिया। भारत ने बंगलादेश के आन्तरिक मामलो मे किसी तरह से कोई हस्ताक्षर न करने की तथा उसकी प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता का सम्मान करने की अपनी नीति की घोषणा करने मे तनिक भी समय नहीं गँवाया। 15 अगस्त, 1975 के बाद जो बंगलादेशी राष्ट्रिक भारत मे आ गए थे उन्हे मानवीय आधार पर राजनीतिक शरण देना तो अस्वीकार नहीं किया गया लेकिन भारत ने यह साफ-साफ कह दिया कि इन राजनीतिक शरणार्थियो को इस बात की इजाजत नही दी जाएगी कि ये भारत की भूमि में रहकर अपनी सरकार के खिलाफ प्रचार या कोई और कार्यवाहियाँ करें। इसके परिणामस्वरूप बहुत से बंगलादेशी शरणार्थी अपने देश लौट गए और बंगलादेश मे सीमावर्ती वारदातो को लेकर भारत के खिलाफ आरोप लगाना बन्द कर दिया।

फरक्का पर गंगा के पानी के बँटवारे के सम्बन्ध मे तथा इसके प्रवाह को बढ़ाने के सम्बन्ध मे एक करार हुआ जिस पर 5 नवम्बर, 1977 में ढाका मे हस्ताक्षर किए गए। इस करार में, जो कि शुरू में 5 वर्ष की अवधि के लिए वैध है, फरक्का पर दोनो देशो के बीच पानी के बँटवारे के सम्बन्ध की व्यवस्था और गंगा के प्रवाह को बढ़ाने की दीर्घकालीन समस्या का शीघ्र समाधान खोजने की प्रक्रिया निहित है। इस करार पर हस्ताक्षर होने से एक ऐसा मसला हल हो गया है जिसका पिछले 25 वर्ष से कोई समाधान नही निकल सका था। दोनो देशो के बीच गलतफहमियो को दूर करके आपसी विश्वास कायम करने की दिशा में भारत के प्रधान मन्त्री तथा बंगलादेश के राष्ट्रपति जियाउर-रहमान के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क एक महत्त्वपूर्ण आधार था। ये सम्पर्क लन्दन में राष्ट्रमण्डल प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन मे उनकी मुलाकातों से शुरू हुए और बाद मे निरन्तर चलते रहे। भारत सरकार के निमन्त्रण पर राष्ट्रपति जियाउर-रहमान 19–20 दिसम्बर, 1977 को भारत की राजकीय यात्रा पर आए। उनकी इस यात्रा के दौरान विभिन्न द्विपक्षीय, क्षेत्रीय और आपसी हित की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर भारत के प्रधान मन्त्री और

बंगलादेश के राष्ट्रपति के बीच तथा दोनों देशों के प्रतिनिधि-मण्डलों के बीच विचार-विमर्श हुआ।

अप्रेल, 1978 से मार्च, 1979 तक भारत और बंगलादेश के बीच सम्बन्धों की जो प्रवृत्ति रही, उस पर भारत सरकार की 1978-79 की रिपोर्ट इस प्रकार है—

"बंगलादेश के साथ सम्बन्ध सुधारने की दिशा में भारत निरन्तर कार्य करता रहा और इसमें कुछ सफलता भी मिली। हमने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में बंगलादेश को सदस्य बनाए जाने का समर्थन किया और बंगलादेश को सुरक्षा परिषद् का सदस्य बना लिया गया। इस सिलसिले में जुलाई, 1978 मे बंगलादेश के वाणिज्य मन्त्री श्री सैफुर रहमान की भारत यात्रा और दिसम्बर, 1978 मे वहाँ के विदेश मन्त्री श्री शम्शुल हक की यात्रा से दोनो सरकारों के बीच द्विपक्षीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे व्यापक विचार-विनिमय का अवसर मिला। विदेश मन्त्री के सम्बन्धों के सुधार का वातावरण का बार-बार साक्ष्य प्रस्तुत किया।

फिर भी, कुछ समस्याओं का समाधान अब भी शेष है। दोनों देशों के सीमा सुरक्षा बलों के बीच नियमित बैठकें होने से सीमा सम्बन्धी समस्याएँ कुछ कम होने मे मदद मिली है। लेकिन इससे बंगलादेश से अनधिकृत तौर पर भारत आने वालों का सिलसिला खत्म नहीं हुआ। समीक्षा के वर्ष मे संयुक्त नदी आयोग की दो बार बैठक हुई। खुश्की के मौसम में गंगा के प्रवाह को दीर्घावधि आधार पर संवर्धित करने के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श हुआ किन्तु किसी समझौते की दिशा ने कोई विशेष प्रगति नही हो सकी। तिस्ता नदी के पानी के सम्बन्ध में एक समझौते की रूपरेखा तैयार करने के उद्देश्य से आंकड़े तैयार करने के लिए एक संयुक्त समिति गठित की गई। अन्य समितियाँ सीमावर्ती अन्य नदियों से सम्बद्ध समस्याओं का अध्ययन कर रही हैं। जब सीमा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श हुए और उम्मीद है कि इस सिलसिले मे अगली बैठक निकट भविष्य में होगी।

दोनों देशो के बीच आर्थिक सहयोग में निरन्तर कुछ सुधार होता गया। बंगलादेश को 12 करोड़ रुपये के मूल्य का पूंजीगत सामान के लिए भारत के औद्योगिक विकास बैंक ने एक ऋण समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए। भारत ने बंगलादेश की ऐसी चीजें भी स्वीकार की जो भारत की मण्डियों में प्रचुर मात्रा में सुलभ हैं। भारत ने कृषि के विभिन्न क्षेत्रों में तकनीकी सहायता देना तथा कतिपय औद्योगिक क्षेत्रों मे तकनीकी, आर्थिक अध्ययन करना भी स्वीकार किया। दोनों देशों के बीच परिवहन व्यवस्था मे सुधार के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए कई बैठकें हुई और नेपाल तथा बंगलादेश के बीच स्थल यातायात परिवहन मे सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से एक समझौता ज्ञापन पर भी हस्ताक्षर हुए। भारत बंगलादेश के राष्ट्रिकों को भारी सख्या मे छात्रवृत्तियों और प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी प्रदान करता रहा। हम आशा करते हैं और हमें इसकी उम्मीद भी है कि अब संसदीय ... जाने के बाद सहयोग बढ़ाने की गति मे तेजी आएगी और समस्याओं के ... पहले की अपेक्षा ज्यादा तेजी से निकाले जाएँगे।"

बंगलादेश के राष्ट्रपति श्री जियाउर-रहमान के निमन्त्रण पर भारत के प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने 16 से 18 अप्रैल तक बंगला देश की सद्भावना यात्रा की। संयुक्त विज्ञप्ति में इस बात पर बल दिया गया कि "राष्ट्रों के बीच शान्ति और सद्भाव को बढ़ावा देने में गुट-निरपेक्ष अभियान की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। गुट-निरपेक्ष देशों में एकता बनाए रखने पर बल दिया गया। शान्ति और स्थिरता तभी सुनिश्चित हो सकती है जबकि संयुक्तराष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र का, विशेषकर समान प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता, एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने तथा सभी विवादों के शान्तिपूर्ण हल के सिद्धान्तों का कड़ाई से पालन किया जाए।" इस बात पर सहमति की गई कि "दक्षिण एशिया के देशों के बीच पारस्परिक सम्मान तथा समानता के वातावरण में लाभकारी सहयोग तथा बातचीत के माध्यम से सभी द्विपक्षीय समस्याओं का हल इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति की स्थापना में सहायक होगा।" गंगा के पानी की दीर्घकालीन वृद्धि के लिए पारस्परिक रूप से स्वीकार्य हल जितनी शीघ्र हो सके, निकाला जाना चाहिए। यह कहा गया कि सीमावर्ती कुछ नदियों से सम्बन्धित समस्याओं का हल निकालने के लिए संयुक्त नदी आयोग शीघ्र कार्रवाही शुरू करे। दोनों नेताओं ने भूमि सीमा समझौता 1974 को लागू करने में हो रहे विलम्ब के बारे में भी विचार-विमर्श किया तथा यह तय किया गया कि इस मामले में होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए सभी आवश्यक कदम उठाए जाएँगे ताकि इस समझौते को जितना शीघ्रता से लागू करना सम्भव हो, लागू किया जा सके। यह भी तय किया गया कि दोनों पक्ष पारस्परिक रूप से सन्तोषजनक आधार पर समुद्री सीमा के प्रश्न को भी हल करने के लिए शीघ्र ही बातचीत शुरू करेंगे। दोनों पक्षों ने दोनों देशों के बीच, विशेषकर विद्यमान व्यापार असन्तुलन को दूर करने को ध्यान में रखते हुए, व्यापार को बढ़ाने तथा इसमें विविधता लाने की आवश्यकता पर बल दिया। इस बात पर सहमति हुई कि परिवहन तथा दूर संचार सहित अन्य आधारभूत सुविधाओं में वृद्धि की जानी चाहिए। शिक्षा, संस्कृति, सूचना एवं विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सहयोग के बारे में भी विचार-विमर्श किया गया। यह अनुभव किया गया कि इस क्षेत्र में सहयोग बढ़ाने की बहुत अधिक सम्भावनाएँ विद्यमान हैं।

वर्ष 19798-0 के दौरान दोनों देशों के सम्बन्ध में, बावजूद कुछ मतभेदों के, सम्बन्ध सामान्य रहे और कुछ बातों पर सहमति हुई। भारत सरकार की रिपोर्ट के अनुसार, "1979–80 के दौरान भारत-बंगलादेश सम्बन्धों की एक मिली-जुली तस्वीर देखने को मिली। वर्ष के शुरू में प्रधान मन्त्री की यात्रा से काफी उत्साह पैदा हुआ था लेकिन वर्ष के अन्त में त्रिपुरा सीमा पर गोलाबारी के समाचार आने में कुछ अनिश्चितता की स्थिति बनी रही। हालाँकि ऐसा लगता है कि इससे सम्बद्ध मामला बहुत मामूली किस्म का है जिसे इस क्षेत्र में अपने प्रवाह को बदलते रहने वाली नदी द्वारा रेखांकित सीमा को सीमांकित करके आसानी से सुलझाया जा सकता था। इस घटना से दोनों पक्षों ने इस बात को महसूस किया कि सीमा पर शान्ति

बनाए रखने के लिए विवादास्पद क्षेत्रों के सीमांकिन का काम यथाशीघ्र पूरा कर लिया जाना चाहिए। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि इस क्षेत्र में गोलाबारी 8 जनवरी, 1980 को अचानक बन्द हो गई।

संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन–II के कार्यकारी निदेशक ने राष्ट्रपति जियाउर रहमान को 22 जनवरी, 1980 को सम्मेलन की बैठक मे विशेष आमन्त्रित वक्ता के रूप मे भाषण देने का अनुरोध किया। चूंकि हाल के चुनावो के बाद उसी समय नई सरकार को कार्यभार ग्रहण करना था अतः यह अनुभव किया गया कि इस यात्रा से राष्ट्रपति जिया को प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी से मिलने का अवसर भी प्राप्त होगा। इसलिए इस यात्रा को द्विपक्षीय महत्त्व दिया गया और राष्ट्रपति जिया एक दिन पहले ही नई दिल्ली पहुँच गए। द्विपक्षीय सरकारी यात्रा पर आने वाले अतिथि को सामान्यतः जो सम्मान मिलता है, वह उन्हें दिया गया। इस यात्रा से दोनों नेताओं को परस्पर हित के सभी मामलों पर विचार-विनिमय करने का अवसर मिला।

इस वर्ष के दौरान भारत-बंगलादेश संयुक्त नदी आयोग की बैठकों में गंगा के पानी के प्रवाह को बढाने के लिए किसी सहमत योजना की दिशा मे कोई विशेष प्रगति नही हो सकी।

बगाला देश को भारत द्वारा किए गए निर्यात से द्विपक्षीय आर्थिक सम्बन्धों मे उल्लेखनीय प्रगति हुई। इस उप-महाद्वीप मे भीषण अकाल का सामना करने के लिए मई, 1979 मे बंगलादेश को 20,000 टन खाद्य सामग्री ऋण के रूप मे देने पर भारत सहमत हुआ। वर्ष के दौरान दोनों देशों के बीच होने वाला तदर्थ सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी काफी लाभदायक रहा।"

बंगलादेश ने क्षेत्रीय सहयोग को बढाने के लिए छह दक्षिण एशियाई देशों का एक शिखर सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव किया। भारत ने इसका स्वागत किया और शिखर सम्मेलन की सफलता के लिए सावधानीपूर्वक प्रारम्भिक कार्यवाई करने की आवश्यकता पर बल दिया।

भारत-बंगलादेश संयुक्त नदी आयोग की 18वीं बैठक 27 फरवरी से 29 फरवरी, 1980 तक नई दिल्ली में हुई। विचार-विमर्श के विवरण को अन्तिम रूप नही दिया जा सका। अतः बैठक बातचीत पूरी करने के लिए जल्दी से जल्दी फिर बुलाए जाने की सहमति के बाद स्थगित कर दी गई। इस बात पर आम सहमति हुई कि दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष दृष्टिकोण के ब्यौरे के बारे मे प्रेस को नही बताएगा फिर भी बंगलादेश के मन्त्री महोदय ने ढाका लौटने के बाद इस बातचीत के बारे मे अपना दृष्टिकोण बगलादेश की सरकारी संवाद एजेंसी को बता दिया और कहा कि संयुक्त नदी आयोग की बैठक भारत की हठधर्मी के कारण विफल रही। उन्होने यह भी कहा कि गंगा में जल प्रवाह को बढ़ाने का भारतीय प्रस्ताव यानी भारत में जलाशयो के साथ ब्रह्मपुत्र, गंगालिंक नहर प्रस्ताव न तो कार्य सूची में था न ही वह जरूरी था क्योकि उसका सम्बन्ध अन्तरबेसिन पानी के स्थानान्तरण

से है। वंगलादेश के इस रवैये पर भारत की प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। भारत सरकार ने तुरन्त यह स्पष्ट कर दिया कि बंगलादेश का विवरण न तो सही है और न ही उचित। इस विवाद के सम्बन्ध में भारत सरकार ने 3 मार्च, 1980 की अपनी विज्ञप्ति में जो विवरण दिया, वह पठनीय है--

"गगा मे जल प्रवाह बढ़ाने के मद के बारे में बंगलादेश ने भारत और स्वयं उसके द्वारा रखे गए प्रस्ताव पर विचार के विरुद्ध अपने निषेधाधिकार का प्रयोग किया, ऐसा उसने इस प्रश्न पर नेपाल को शामिल करने और अपने ही शर्त और ढंग पर समस्या का समाधान निकालने का प्रयास करके किया। हालांकि इस सम्बन्ध में अध्ययन भी शुरू नही हुआ था। यद्यपि समझौते में यह व्यवस्था है कि संयुक्त नदी आयोग को तीन वर्ष के भीतर अपना अध्ययन पूरा कर लेना चाहिए, पर बगलादेश के समझौता न करने के रवैये के कारण ढाई वर्ष यों ही बीत चुके हैं।

भारत फरक्का समझौते का पूरी तरह पालन करना चाहता है किन्तु बगलादेश इस समझौते का अपने ही शर्तों पर कार्यक्षेत्र बढाना चाहता है और इस प्रकार उसने इस विवाद पर समझौते के कार्यान्वियन को रोका है। भारत जब भी जरूरी हो, नेपाल से बात करने के लिए बगलादेश के साथ सहयोग करने को सहमत हो गया है, जिससे कि बंगलादेश के प्रस्ताव का अध्ययन हो सके। किन्तु बगलादेश नेपाल को संयुक्त नदी आयोग का सदस्य बनाना चाहता है जो कि दो देशो के बीच हुए फरक्का समझौते के अनुसार जरूरी नही है।

गगा मे असाधारण रूप से प्रवाह की कमी के कारण कलकत्ता बन्दरगाह के लिए कमी के दिनों में अल्पकालिक समझौता विनाशकारी सिद्ध हुआ है। भागीरथी का जल स्तर नीचा हो गया है और नदी में मुश्किल से ही कोई पानी बहुत हो। नौवहन रुक गया है और कई उथले स्थान दीखने लगे हैं। कलकत्ता बन्दरगाह का यातायात रुक रहा है जिसका कि विनाशकारी परिणाम होगा। इसका पूरा असर जून-जुलाई मे इस साल सर्वेक्षण करने के बाद ही स्पष्ट रूप से मालूम हो सकेगा।

गंगा के जल के प्रवाह मे वृद्धि के बारे मे भारत की योजना न केवल गंगा-जल समझौते की सीमा के भीतर ही है बल्कि यह दो देशों की समान नदियो के जल के यथासम्भव अधिकतम विकास के स्वीकृत विचार, जिस पर 1974 में दोनों देशों के बीच दो प्रधान मन्त्रियों के स्तर पर सहमति हुई थी, के अनुरूप भी है।

जिस दूसरे विषय पर विचार किया गया वह तीस्ता नदी के जल के बँटवारे के पहलुओं से सम्बन्धित था। यद्यपि दोनो देशों के बीच इस बात पर सहमति हो चुकी थी लेकिन बंगलादेश ने जल की उपलब्धता, जल की आवश्यकताओं तथा इन आवश्यकताओ की पूर्ति किस ढंग से की जा सकती है, का अध्ययन करने मे सहयोग नही किया। वे बिना किसी वैज्ञानिक आधार के अस्थायी तौर पर ही जल के विभाजन की व्यवस्था को अपनाते रहे। इस प्रकार के दृष्टिकोण से दोनों मे से किसी भी देश में परियोजनाओं के कार्यान्वयन और परिचालन के दौरान अनेक समस्याएँ ही पैदा होगी।

चाहे यह गंगा के पानी के प्रवाह मे वृद्धि करने का मामला हो या तीस्ता नदी के जल के विभाजन का या वास्तव मे समान नदियों के जल का प्रश्न हो, अन्तरिम फरक्का समझौते के वास्तविक अर्थ और महत्त्व को विकृत नहीं किया जाना चाहिए या ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की जानी चाहिए जिससे इस समझौते का भविष्य खतरे मे पड़ जाए।"

भारत और बंगलादेश के बीच सितम्बर, 1980 के अन्तिम सप्ताह में एक नया व्यापार समझौता सम्पन्न हुआ। भारत ने वर्ष 1976–77 से 1978–79 के बीच बंगलादेश को औसतन 50 करोड़ रुपये से कुछ अधिक मूल्य का निर्यात किया। वर्ष 1979–80 के पूर्वार्द्ध में 33 करोड़ रुपये का निर्यात किया गया।

बंगलादेश के विदेश मन्त्री, प्रो. मोहम्मद शमुसुल हक के निमन्त्रण पर भारत सरकार के विदेश मन्त्री, श्री पी. वी. नरसिंह राव ने 16 से 18 अगस्त, 1980 तक बंगलादेश की तीन दिन की यात्रा की बातचीत परस्पर सौहार्द्र, विश्वास और सद्भावना के वातावरण मे हुई। दोनों पक्षों मे द्विपक्षीय सम्बन्धों की समीक्षा की और परस्पर हित के क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयो पर भी विचार-विमर्श किया। दोनों पक्षों ने क्षेत्र और विश्व की शान्ति और सुरक्षा को अधिकाधिक खतरा उत्पन्न करने वाली बिगड़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर गहरी चिन्ता व्यक्त की। दोनो पक्षों ने तनाव और संघर्ष के स्रोतों को समाप्त करने और संयुक्तराष्ट्र घोषणा-पत्र तथा गुट-निरपेक्षता आन्दोलन के सिद्धान्तों को कायम रखने मे शान्तिप्रिय राष्ट्रों की सगठित कार्रवाई की आवश्यकता पर बल दिया। दोनो पक्ष इस बात पर सहमत हुए कि 1974 के स्थल सीमा समझौते पर शीघ्रता से अमल करने के लिए कदम उठाए जाएँ और सीमावर्ती नदी हरियाभंगा के मुहाने पर नए उभर आए द्वीप (द्वीपों) नया मूरो दक्षिणी तलपट्टी (पुरभापा) के सवाल पर भी चर्चा हुई। दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हुए कि दोनों सरकारों के बीच जो अतिरिक्त जानकारी का आदान-प्रदान हुआ है उसके अध्ययन के बाद, शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारा करने की दृष्टि से शीघ्र ही किसी तारीख को दोनों सरकारों के बीच और विचार-विमर्श होगा। फरक्का में शुष्क मौसम में गंगा के प्रवाह को दीर्घकालिक आधार पर बढ़ाने के बारे मे भी विचार-विमर्श हुआ। दोनो पक्ष इस बात पर भी सहमत हुए कि शीघ्र ही परस्पर स्वीकार्य समाधान निकालने के लिए प्रयास और तेज किया जाना चाहिए। दोनों पक्ष इस बात पर सहमत थे कि यह सुनिश्चित करने के लिए प्रयास किए जाने चाहिए जिससे कि सीमा पर अमन-शान्ति बनी रहे। यह फिर पुष्ट किया गया कि भारत और बंगलादेश अपने क्षेत्र का एक-दूसरे के खिलाफ चलाई जा रही शत्रुतापूर्ण गतिविधियों के इस्तेमाल नही होने देंगे। दोनों पक्षों ने सीमा के आर-पार लोगों के गैर-कानूनी ढंग से आने-जाने को रोकने की आवश्यकता पर भी ध्यान दिया और इस बात पर सहमति हुई कि इस सम्बन्ध में वर्तमान व्यवस्था और सहयोग को और अधिक सुदृढ किया जाएगा। इस बात पर ध्यान दिया गया कि पड़ोसी देश होने के नाते दोनों देशों के बीच आर्थिक, वाणिज्यिक, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक क्षेत्रों में सहयोग बढ़ाने

की काफी गुंजाइश है। दोनों पक्ष इन क्षेत्रों में परस्पर लाभ के लिए सहयोग बढाने के लिए प्रयत्न करने पर सहमत हुए। दक्षिण एशियाई मंच बनाने के बंगलादेश के प्रस्ताव और क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने की दृष्टि से इस प्रस्ताव पर विचार-विमर्श करने के लिए एक शिखर सम्मेलन बुलाने के प्रस्ताव पर विचार-विमर्श किया गया। भारतीय पक्ष ने सिद्धान्त रूप में प्रस्ताव का स्वागत किया। इस उद्देश्य के लिए आवश्यक तैयारी करने पर सहमति हुई।

भारत और चीन के सम्बन्ध

भारत और चीन दो घनिष्ठ मित्रों के रूप मे प्रकट हुए थे, लेकिन सन् 1962 में चीन ने भारतीय सीमान्तो पर आकस्मिक आक्रमण कर इस मित्रता को धूल में मिला दिया। आज चीन भारत की कुछ भूमि पर अधिकार जमाए हुए है और भारत की ओर से सम्बन्ध-सुधार के प्रयत्नों के बावजूद भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख अपनाए हुए है।

नेहरू-युग में भारत-चीन सम्बन्ध (1947–मई 1964)

चीन के प्रति मैत्री और तुष्टिकरण की नीति—भारत ने साम्यवादी चीन के प्रति प्रारम्भ से ही मैत्री और तुष्टिकरण की नीति अपनायी। उसने चीन को मान्यता प्रदान की और सयुक्त राष्ट्रसघ मे उसके प्रवेश का जोरदार समर्थन किया। अक्तूबर, 1950 मे ही तिब्बत मे प्रवेश कर चीन ने अपने वास्तविक इरादों का सकेत दे दिया था, लेकिन भारत ने चीनी इरादों को समझने मे भूल की। जब भारत सरकार ने तिब्बत मे उसके प्रवेश की ओर चीनी सरकार का ध्यान आकर्षित किया तो 30 अक्तूबर, 1950 को चीन की ओर से भारत को कठोर शब्दों मे उत्तर दिया गया—"पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति से प्रभावित भारत चीन के अन्तर्देशीय मामलो मे हस्तक्षेप करने का साहस न करे।" चीन द्वारा ऐसी कटु शब्दावली का प्रयोग करने के उपरान्त भी भारत सरकार चीन के प्रति सहानुभूति और तुष्टिकरण का दृष्टिकोण अपनाती रही। 1 फरवरी, 1951 को भारत ने सयुक्त राष्ट्रसंघ मे उस प्रस्ताव का विरोध किया जिसमे चीन को कोरिया मे आक्रमणकारी घोषित किया गया था। सितम्बर, 1950 मे जापानी शान्ति-सन्धि के समय सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन मे भारत मुख्यतः इसीलिए शामिल नही हुआ कि उसमे चीन को आमन्त्रित नही किया गया था।

भारत ने हर अवसर पर चीन के प्रति अपनी सदाशयता प्रदर्शित की, लेकिन चीन दोहरी चाल खेलता रहा। एक ओर तो मीठी बातों से मैत्री का स्वांग भरता रहा और दूसरी ओर भारतीय सीमाओं पर गड़बड़ी फैलाता रहा तथा तिब्बत को अपने शिकजे मे जकड़ता रहा। भारत की तुष्टिकरण की नीति की हद तब हो गई जब 29 अप्रेल, 1954 को चीन के साथ एक व्यापारिक समझौता कर भारत ने तिब्बत मे प्राप्त अपने बहिर्देशीय अधिकार (Extra-territorial Rights) चीन को सौंप दिए और बदले में स्वयं कुछ भी प्राप्त नही किया। तिब्बत मे चीन की प्रभुसत्ता को स्वीकार करना भारत सरकार की भारी भूल थी। समझौते की प्रस्तावना में

दोनों देशों ने पंचशील के सिद्धान्तों में विश्वास प्रकट किया। इन्हीं सिद्धान्तों का सन् 1953 में बांडुंग सम्मेलन में विस्तार किया गया। सन् 1954 में चीनी प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई भारत आए और अक्तूबर, 1954 में पं. नेहरू ने चीन की यात्रा की। चीन विभिन्न रूप से भारत के साथ सीमा-विवाद उठाता रहा और तब 20 अक्तूबर, 1952 को उसने भारत पर विशाल पैमाने पर आकस्मिक आक्रमण कर भारत की मित्रता का बदला चुकाया। प. नेहरू की आशाओं और नीतियों पर यह एक घातक चोट थी।

भारत-चीन सीमा-विवाद—भारत और चीन के बीच व्यावहारिक रूप से मान्य सीमा को मेकमोहन रेखा (McMahon Line) के नाम से जाना जाता है। अप्रेल, 1914 में भारत और तिब्बत तथा तिब्बत और चीन के बीच सीमा-निर्धारण के लिए शिमला में एक सम्मेलन हुआ था जिसमें ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत-सचिव आर्थर हेनरी मेकमोहन ने भाग लिया। शिमला सन्धि में यह तय हुआ कि—(1) तिब्बत पर चीन की Suzerainy रहेगी, लेकिन बाह्य तिब्बत (Outer Tibet) को अपने कार्य मे पूरी स्वतन्त्रता होगी; (2) चीन तिब्बत के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा; एवं (3) चीन तिब्बत को अपने राज्य का कभी प्रान्त घोषित नही करेगा। बाह्य तिब्बत और भारत के बीच ऊँची पर्वत-श्रेणियों को सीमा मानकर एक नक्शे को लाल पेंसिल से चिह्नित कर दिया गया, जिसमे तीनो प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हुए। इसी सीमा को मेकमोहन रेखा (Mc-Mahon Line) की संज्ञा दी गई। जब कभी सीमा विवाद उठा तो चीन ने इसी रेखा का समर्थन किया। सन् 1959 से पूर्व उसने इस विषय में कोई आपत्ति नही उठाई। जहां तक लद्दाख की सीमा का प्रश्न है, जिस सीमा तक भारत और तिब्बत का शताब्दियो से अधिकार रहा है और जिसे भारत न सदैव अपने नक्शे मे दिखाया है, वही परम्परागत सीमा-रेखा मानी जाती रही है। कश्मीर की उत्तरी सीमा को स्पष्ट करते हुए ब्रिटिश अधिकारियों ने सन् 1899 मे चीन को स्पष्ट लिखा था कि इसकी पूर्वी सीमा 80 अक्षांश पूर्वी देशान्तर है। इस लेख-पत्र से सुनिश्चित हो जाता है कि अक्साई चीन भारतीय सीमा के अन्तर्गत है और यह सीमा ऐतिहासिक तथा परम्परागत है।

भारत-चीन सीमा-विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि भारत को स्वाधीनता प्राप्त करने के साथ-साथ उत्तराधिकार के रूप मे तिब्बत में निम्नलिखित बहिर्देशीय (Extra-territorial) अधिकार प्राप्त हुए थे—(1) तिब्बत और ब्रिटिश-भारतीय व्यापारियों के विवादों मे बचाव-पक्ष के देश की विधि लागू होती थी और उसी देश का न्यायाधीश मामले पर सुनवाई में अध्यक्षता करता था; (2) यदि तिब्बत में ब्रिटिश-राज्य के लोगों के बीच विवाद होते थे तो उन विवादों का ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा निर्णय होता था; (3) ब्रिटिश एजेंटो को अपने अधिकारो की रक्षा के लिए कुछ सेना रखने का अधिकार था; (4) गट टुंग के यान टुंग से ग्याण्टसी तक टेलीफोन और टेलीग्राम संस्थाओं पर

भी ब्रिटिश अधिकारियों का अधिकार था; एवं (5) तिब्बत में भारत सरकार के 11 विश्राम-गृह थे। साम्यवादी चीन ने तिब्बत की स्वायत्तता और भारत के बहिर्देशीय अधिकारों का कोई सम्मान न कर 7 अक्तूबर, 1950 को तिब्बत में अपने सैनिक भेज दिए। भारत द्वारा इस ओर ध्यान आकर्षित किए जाने पर 30 अक्तूबर को चीन ने इसकी कठोर शब्दों में उपेक्षा की। चीन ने जो नए नक्शे प्रकाशित किए उसमें भारत की लगभग 50 हजार वर्गमील सीमा चीनी प्रदेश के अन्तर्गत दिखाई और श्री नेहरू द्वारा यह प्रश्न उठाने पर चीनी प्रधान मन्त्री ने कहा कि ये नक्शे राष्ट्रवादी सरकार के पुराने नक्शों की नकल हैं तथा समय मिलते ही इन्हें ठीक कर दिया जाएगा।

चीन भारत के साथ सुनियोजित ढंग से अपने विवादों को उग्र बनाता रहा और भारतीय सीमाओं का अतिक्रमण करता रहा। चीनियों ने अक्साई चीन के पठार में सड़क बना ली और भारत के विरोध के बावजूद लद्दाख में अपनी कई सैनिक चौकियाँ स्थापित कर लीं। जुलाई, 1958 में उन्होंने लद्दाख के खरनाक किले पर भी अपना अधिकार कर लिया। तिब्बत में चीनियों के दमन से आतंकित होकर 31 मार्च, 1957 को दलाईलामा ने भारत में राजनीतिक शरण ली जिसका चीन से अनावश्यक रूप से विरोध किया। अपने एक पत्र में चाऊ-एन-लाई ने भारत को लिखा—"मैकमहोन रेखा चीन के तिब्बत प्रदेश के विरुद्ध अंग्रेजों की आक्रमणकारी नीति का परिणाम थी। कानूनी तौर से इसे वैध नहीं माना जा सकता।" सितम्बर, 1959 के पत्र में चीन ने आरोप लगाया कि भारत तिब्बत में सशस्त्र विद्रोहियों को संरक्षण दे रहा है। इसी पत्र द्वारा चीनी प्रधान मन्त्री ने लद्दाख में भारत के दावों को ठुकरा दिया। यही नहीं, भारत के लगभग 90,000 किलोमीटर प्रदेश पर अपना दावा प्रस्तुत करते हुए चीन सरकार ने यह आरोप लगाया कि भारतीय सेनाएँ इस प्रदेश में घुसकर चीन की प्रादेशिक अखंडता को चुनौती दे रही हैं।

दोनों देशों का सीमा-विवाद उग्रतर होता गया। अप्रेल, 1960 में दिल्ली में भारत और चीन के प्रधान मन्त्रियों ने संयुक्त विज्ञप्ति में स्वीकार किया कि दोनों देशों के बीच कुछ मतभेद विद्यमान हैं। तनाव तब और बढ़ गया जब जुलाई, 1962 में गलवान घाटी की भारतीय पुलिस चौकी को चीनियों ने घेरे में ले लिया। सीमान्त पर चीनी सैनिक कार्यवाही बढ़ने लगी और भारतीय सैनिक चौकियों को घेरा जाने लगा।

चीनी आक्रमण, 1962—20 अक्तूबर, 1962 को प्रात.काल भारत की उत्तरी सीमा के दोनों आँचलों पर चीन ने भीषण आक्रमण कर दिया। भारतीय सेनाएँ इस आकस्मिक आक्रमण से सम्भलें तब तक चीन ने काफी भारतीय भूमि और सैनिक चौकियों पर कब्जा कर लिया। पाकिस्तान ने यह प्रचार किया कि चीन ने भारत पर कोई सैनिक आक्रमण नहीं किया है, बल्कि एक सामान्य सीमा-संघर्ष को भारत ने तिल का ताड बना दिया है। भारत के अनुरोध पर ब्रिटेन और अमेरिका ने इस सकटकाल में तेजी से सैन्य सामग्री भेजी, किन्तु भारत द्वारा सम्भल कर

प्रत्याक्रमण करने से पूर्व ही चीन ने अकस्मात् ही 21 नवम्बर, 1962 को एक-पक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। इसके साथ ही चीन ने एक द्वि-सूत्रीय योजना भी घोषित की—(1) चीनी सेनाएँ 7 नवम्बर, 1959 को 'वास्तविक नियन्त्रण रेखा' (Actual Line of Control) से 20 किलोमीटर अपनी ओर हट जाएँगी। सेना का हटना एक दिसम्बर से प्रारम्भ होगा। (2) चीनी सेनाओं के हटने से जो क्षेत्र खाली होगा उसमें चीन सरकार अपनी असैनिक चौकियाँ कायम करेगी। इन चौकियों की स्थिति का पता भारत सरकार को उसके दूतावास द्वारा दे दिया जाएगा। चीन की ओर से भारत सरकार को इन शर्तों को मान लेने के लिए कहा गया कि वह अपनी सेनाओं को भी 7 नवम्बर, 1959 की रेखा से 20 किलोमीटर अपने ही क्षेत्र में और हटा ले।

विपरीत परिस्थितियों में भारत ने बिना स्वीकारोक्ति के चीन की एकपक्षीय युद्ध-विराम घोषणा को मान लिया, किन्तु द्वि-सूत्रीय योजना को अस्वीकृत करते हुए घोषित किया कि जब तक चीन सेनाएँ 8 सितम्बर, 1962 की स्थिति तक नहीं लौट जाती तब तक दोनों देशों के बीच कोई वार्ता सम्भव नहीं है। 8 सितम्बर, 1962 की यह रेखा वह थी जिसके उत्तर में चीनी सेनाएँ आक्रमण से पहले स्थित थी जबकि चीन द्वारा बताई गई 7 नवम्बर, 1959 की वास्तविक नियन्त्रण रेखा वह थी जहाँ तक आक्रमण के बाद भी चीनी फौजें नहीं पहुँच पाई थीं। जिस स्थान से 20 किलोमीटर वापसी की बात थी उसका तात्पर्य यह था कि चीनी सेनाएँ पश्चिमी क्षेत्र में जहाँ की तहाँ बनी रहें, पूर्वी क्षेत्र में कुछ हटे।

चीन के आक्रमण ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के विरुद्ध आलोचनाओं को प्रोत्साहित किया, किन्तु श्री नेहरू ने पुनः इस नीति में गहरी आस्था प्रकट की। अवश्य ही अब भारत की विदेश नीति में यथार्थवाद की ओर झुकाव शुरू हुआ। प. नेहरू ने घोषणा की कि—"अतीत में हम निर्धनता और निरक्षरता की मानवीय समस्याओं में इतने उलझे रहे कि हमने प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं के प्रति तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम ध्यान दिया। यह स्पष्ट है कि अब हम इस ओर अधिक ध्यान देंगे, हम अपनी सेनाओं को सुदृढ़ बनाएँगे तथा जहाँ तक सम्भव होगा सेना के लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्र तथा सामग्री अपने देश में ही तैयार करेंगे।"

कोलम्बो प्रस्ताव और चीन का दुराग्रह—दिसम्बर, 1962 में श्रीलंका, बर्मा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, मिस्र और घाना ने भारत-चीन वार्ता के लिए कोलम्बो-सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें यह निश्चय किया गया कि सम्मेलम के प्रतिनिधि भारत और चीन जाकर अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करें तथा दोनों देशों के संघर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करें। प्रस्तावों को तब तक गुप्त रखने का निर्णय किया गया जब तक दोनों पक्षों की प्रतिक्रिया ज्ञात न हो जाए। श्रीमती भण्डारनायके स्वयं कोलम्बो प्रस्ताव लेकर पीकिंग और नई दिल्ली गईं और तब 19 जनवरी, 1963 को ये प्रस्ताव प्रकाशित कर दिए गए जिसके मूल तत्त्व ये थे—

भी ब्रिटिश अधिकारियों का अधिकार था; एवं (5) तिब्बत में भारत सरकार के 11 विश्राम-गृह थे। साम्यवादी चीन ने तिब्बत की स्वायत्तता और भारत के अहिर्देशीय अधिकारों का कोई सम्मान न कर 7 अक्तूबर, 1950 को तिब्बत में अपने सैनिक भेज दिए। भारत द्वारा इस ओर ध्यान आकर्षित किए जाने पर 30 अक्तूबर को चीन ने इसकी कठोर शब्दों में उपेक्षा की। चीन ने जो नए नक्शे प्रकाशित किए उसमें भारत की लगभग 50 हजार वर्गमील सीमा चीनी प्रदेश के अन्तर्गत दिखाई और श्री नेहरू द्वारा यह प्रश्न उठाने पर चीनी प्रधान मन्त्री ने कहा कि ये नक्शे राष्ट्रवादी सरकार के पुराने नक्शों की नकल हैं तथा समय मिलते ही इन्हें ठीक कर दिया जाएगा।

चीन भारत के साथ सुनियोजित ढंग से अपने विवादों को उग्र बनाता रहा और भारतीय सीमाओं का अतिक्रमण करता रहा। चीनियों ने अक्साई चीन के पठार में सड़क बना ली और भारत के विरोध के बावजूद लद्दाख में अपनी कई सैनिक चौकियाँ स्थापित कर लीं। जुलाई, 1958 में उन्होंने लद्दाख के खरनाम किले पर भी अपना अधिकार कर लिया। तिब्बत में चीनियों के दमन से आतंकित होकर 31 मार्च, 1957 को दलाईलामा ने भारत में राजनीतिक शरण ली जिसका चीन से अनावश्यक रूप से विरोध किया। अपने एक पत्र में चाऊ-एन-लाई ने भारत को लिखा—"मैकमहोन रेखा चीन के तिब्बत प्रदेश के विरुद्ध अंग्रेजों की आक्रमणकारी नीति का परिणाम थी। कानूनी तौर से इसे वैध नहीं माना जा सकता।" सितम्बर, 1959 के पत्र में चीन ने आरोप लगाया कि भारत तिब्बत में सशस्त्र विद्रोहियों को संरक्षण दे रहा है। इसी पत्र द्वारा चीनी प्रधान मन्त्री ने लद्दाख में भारत के दावों को ठुकरा दिया। यही नहीं, भारत के लगभग 90,000 किलोमीटर प्रदेश पर अपना दावा प्रस्तुत करते हुए चीन सरकार ने यह आरोप लगाया कि भारतीय सेनाएँ इस प्रदेश में घुसकर चीन की प्रादेशिक अखंडता को चुनौती दे रही हैं।

दोनों देशों का सीमा-विवाद उग्रतर होता गया। अप्रैल, 1960 में दिल्ली में भारत और चीन के प्रधान मन्त्रियों ने संयुक्त विज्ञप्ति में स्वीकार किया कि दोनों देशों के बीच कुछ मतभेद विद्यमान हैं। तनाव तब और बढ़ गया जब जुलाई, 1962 में गलवान घाटी की भारतीय पुलिस चौकी को चीनियों ने घेरे में ले लिया। सीमान्त पर चीनी सैनिक कार्यवाही बढ़ने लगी और भारतीय सैनिक चौकियों को घेरा जाने लगा।

चीनी आक्रमण, 1962—20 अक्तूबर, 1962 को प्रातःकाल भारत की उत्तरी सीमा के दोनों आँचलों पर चीन ने भीषण आक्रमण कर दिया। भारतीय सेनाएँ इस आकस्मिक आक्रमण से सम्भलें तब तक चीन ने काफी भारतीय भूमि और सैनिक चौकियों पर कब्जा कर लिया। पाकिस्तान ने यह प्रचार किया कि चीन ने भारत पर कोई सैनिक आक्रमण नहीं किया है, बल्कि एक सामान्य सीमा-संघर्ष को भारत ने तिल का ताड़ बना दिया है। भारत के अनुरोध पर ब्रिटेन और अमेरिका ने इस संकटकाल में तेजी से सैन्य सामग्री भेजी, किन्तु भारत द्वारा सम्भल कर

प्रत्याक्रमण करने से पूर्व ही चीन ने अकस्मात् ही 21 नवम्बर, 1962 को एक-पक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। इसके साथ ही चीन ने एक द्वि-सूत्रीय योजना भी घोषित की—(1) चीनी सेनाएँ 7 नवम्बर, 1959 की 'वास्तविक नियन्त्रण रेखा' (Actual Line of Control) से 20 किलोमीटर अपनी ओर हट जाएँगी। सेना का हटना एक दिसम्बर से प्रारम्भ होगा। (2) चीनी सेनाओं के हटने से जो क्षेत्र खाली होगा उसमें चीन सरकार अपनी असैनिक चौकियाँ कायम करेगी। इन चौकियों की स्थिति का पता भारत सरकार को उसके दूतावास द्वारा दे दिया जाएगा। चीन की ओर से भारत सरकार को इन शर्तों को मान लेने के लिए कहा गया कि वह अपनी सेनाओं को भी 7 नवम्बर, 1959 की रेखा से 20 किलोमीटर अपने ही क्षेत्र मे और हटा ले।

विपरीत परिस्थितियों में भारत ने बिना स्वीकारोक्ति के चीन की एकपक्षीय युद्ध-विराम घोषणा को मान लिया, किन्तु द्वि-सूत्रीय योजना को अस्वीकृत करते हुए घोषित किया कि जब तक चीन सेनाएँ 8 सितम्बर, 1962 की स्थिति तक नहीं लौट जाती तब तक दोनों देशों के बीच कोई वार्ता सम्भव नहीं है। 8 सितम्बर, 1962 की यह रेखा वह थी जिसके उत्तर मे चीनी सेनाएँ आक्रमण से पहले स्थित थी जबकि चीन द्वारा बताई गई 7 नवम्बर, 1959 की वास्तविक नियन्त्रण रेखा वह थी जहाँ तक आक्रमण के बाद भी चीनी फौजें नही पहुँच पाई थी। जिस स्थान से 20 किलोमीटर वापसी की बात थी उसका तात्पर्य यह था कि चीनी सेनाएँ पश्चिमी क्षेत्र में जहाँ की तहाँ बनी रहें, पूर्वी क्षेत्र मे कुछ हटे।

चीन के आक्रमण ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के विरुद्ध आलोचनाओं को प्रोत्साहित किया, किन्तु श्री नेहरू ने पुनः इस नीति मे गहरी आस्था प्रकट की। अवश्य ही अब भारत की विदेश नीति मे यथार्थवाद की ओर झुकाव शुरू हुआ। प. नेहरू ने घोषणा की कि—"अतीत मे हम निर्धनता और निरक्षरता की मानवीय समस्याओं मे इतने उलझे रहे कि हमने प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं के प्रति तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम ध्यान दिया। यह स्पष्ट है कि अब हम इस ओर अधिक ध्यान देंगे, हम अपनी सेनाओं को सुदृढ़ बनाएँगे तथा जहाँ तक सम्भव होगा सेना के लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्र तथा सामग्री अपने देश मे ही तैयार करेंगे।"

कोलम्बो प्रस्ताव और चीन का दुराग्रह—दिसम्बर, 1962 में श्रीलंका, बर्मा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, मिस्र और घाना ने भारत-चीन वार्ता के लिए कोलम्बो-सम्मेलन का आयोजन किया जिसमे यह निश्चय किया गया कि सम्मेलन के प्रतिनिधि भारत और चीन जाकर अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करें तथा दोनों देशो के संघर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करें। प्रस्तावों को तब तक गुप्त रखने का निर्णय किया गया जब तक दोनो पक्षों की प्रतिक्रिया ज्ञात न हो जाए। श्रीमती भण्डारनायके स्वयं कोलम्बो प्रस्ताव लेकर पीकिंग और नई दिल्ली गई और तब 19 जनवरी, 1963 को ये प्रस्ताव प्रकाशित कर दिए गए जिसके मूल तत्त्व ये थे—

(1) युद्ध-विराम का समय भारत-चीन विवाद के शान्तिपूर्ण हल के लिए उपयुक्त है; (2) चीन पश्चिमी क्षेत्र में अपनी सैनिक चौकियाँ 20 किलोमीटर पीछे हटा ले; (3) भारत अपनी वर्तमान सैनिक स्थिति कायम रखे; (4) विवाद का अन्तिम हल होने तक चीन द्वारा खाली किया गया क्षेत्र असैनिक रहे जिसकी निगरानी दोनों पक्षों द्वारा नियुक्त गैर-सैनिक चौकियाँ करें; (5) पूर्वी नेफा क्षेत्र में दोनों सरकारों द्वारा मान्य वास्तविक नियन्त्रण रेखा युद्ध-विराम रेखा का रूप ले, शेष क्षेत्रों के बारे में दोनों देश भावी वार्ताओं में निर्णय करें; (6) मध्यवर्ती क्षेत्र का समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से किया जाए।

कोलम्बो प्रस्तावों का वास्तविक उद्देश्य भारत और चीन के बीच गतिरोध की स्थिति समाप्त कर वार्तालाप का द्वार खोलना था। चीन ने यह आश्वासन दिया कि वह कोलम्बो प्रस्तावों को स्वीकार कर लेगा। भारत को भी कोई विशेष आपत्ति नहीं थी, केवल कुछ स्पष्टीकरण माँगा गया जिससे यह स्पष्ट हो गया कि पूर्वी क्षेत्र में भारतीय सेना मेकमहोन रेखा तक (केवल उन स्थानों को छोड़कर जिनके बारे में मतभेद है) जा सकेगी और चीनी सेना भी अपने पूर्व स्थानों तक जा सकेगी, लेकिन विवाद-ग्रस्त स्थलों से दूर रहना होगा। स्पष्टीकरण के बाद भारत ने प्रस्तावों पर विधिवत् अपनी सहमति दे दी। तब चीन ने कुछ ऐसी शर्तें जोड़ दीं जिनसे प्रस्ताव व्यवहारतः महत्त्वहीन हो गया और चीन की अपरोक्ष स्वीकृति भी स्पष्ट हो गई। चीन ने तटस्थ देशों के इस अनुरोध को ठुकरा दिया कि कोलम्बो प्रस्ताव स्वीकार कर लिए जाएँ। इससे पुनः इस बात की पुष्टि हो गई कि चीन भारत के साथ अपने विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाना नहीं चाहता।

नासिर प्रस्ताव, 1963—भारत-चीन विवाद के गतिरोध को दूर करने के लिए 3 अक्तूबर, 1963 को मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इसमें कोलम्बो प्रस्ताव की शर्तों को दोहराते हुए यह सुझाव दिया गया कि विवाद के अन्त के लिए एक दूसरा कोलम्बो सम्मेलन आयोजित हो, किन्तु इस प्रस्ताव का भी कोई परिणाम नहीं निकला।

बर्मा, श्रीलंका आदि राष्ट्र दोनों देशों के बीच गतिरोध दूर करने के लिए प्रयत्न करते रहे। मई, 1964 में श्री नेहरू की मृत्यु पर श्री चाऊ एन-लाई ने अपना शोक सन्देश भेजा जिसमें यह भी कहा गया कि भारत और चीन के विवाद अस्थायी हैं जिनका समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से होना चाहिए। पर वास्तव में उनके इन शब्दों में कोई ईमानदारी न थी।

शास्त्री-काल में भारत-चीन सम्बन्ध (मई, 1964–जनवरी, 1966)

श्री नेहरू के बाद 10 जनवरी, 1966 तक श्री लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधान मन्त्री रहे। इस काल में भी भारत और चीन के सम्बन्धों में कोई सुधार न आ सका। सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध में चीन ने पुनः अपना शत्रुतापूर्ण रवैया

प्रदर्शित किया। भारत और चीन के सीमा-विवाद ने पाकिस्तान और चीन की मित्रता में वृद्धि की। भारत-पाक संघर्ष के समय चीन ने पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया और भारत को आक्रामक घोषित किया। धमकी द्वारा भारत को पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध से विमुख करने का खेल भी खेला गया। 16 सितम्बर को चीन ने भारत को अल्टीमेटम दिया कि—"तीन दिन के भीतर भारत सिक्किम-चीन सीमा पर गैर-कानूनी ढंग से स्थापित 56 सैनिक प्रतिष्ठानों को हटा ले अन्यथा इसका नतीजा बहुत बुरा होगा।" पत्र में यह मांग की गई कि भारत सीमा पर अपने "सभी अतिक्रमण तुरन्त बन्द कर दे, अपहृत सीमा-निवासियों तथा पकड़े गए मवेशियों को लौटा दे अन्यथा गम्भीर परिणामों के लिए भारत सरकार पूरी तरह उत्तरदायी रहेगी।"

चीन के अल्टीमेटम से ऐसा लगा कि भारत और पाकिस्तान का युद्ध व्यापक रूप ले लेगा और चीन ने यदि भारत पर आक्रमण कर दिया तो सम्भवतः भारत-पाक युद्ध विश्व-युद्ध का रूप धारण कर लेगा, अतः महाशक्तियों ने अविलम्ब चीन को चेतावनी दी कि वह आग के साथ खिलवाड न करे। उधर चीनी अल्टीमेटम के जवाब मे 17 दिसम्बर को श्री शास्त्री ने लोकसभा मे कहा कि सिक्किम-तिब्बत सीमा पर भारत के अतिक्रमण की बात गलत है और भारतीय प्रदेश पर चीन का दावा हमे स्वीकार नही है। चीन की सैनिक शक्ति भारत को अपनी प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा से विचलित नही कर सकती। श्री शास्त्री ने चीन के आरोप के प्रत्युत्तर मे कहा कि यदि चीन-सरकार समझती है कि भारत ने उसके प्रदेश में सैनिक प्रतिष्ठान बना लिए हैं तो वह उन्हें तोड़ सकती है, भारत कोई विरोध नही करेगा। वास्तव में चीन का आरोप निराधार था, भारत के चीनी प्रदेश मे कोई सैनिक प्रतिष्ठान नही थे।

चीन ने सीमा पर सैनिक गतिविधियाँ आरम्भ कर दीं। 19 दिसम्बर को अल्टीमेटम की अवधि फिर तीन दिन के लिए बढा दी, किन्तु बड़े पैमाने पर कोई सैनिक कार्यवाही करने का साहस नही किया। 23 सितम्बर को भारत-पाक युद्ध-विराम हो जाने पर पीकिंग रेडियो ने यह नाटकीय घोषणा की कि "भारतीय सैनिक प्रतिष्ठानो को तोड़कर अपनी सीमा मे वापस लौट गए हैं।"

इन्दिरा-काल में भारत-चीन सम्बन्ध (जनवरी, 1966–मार्च, 1977)

श्री शास्त्री के बाद जवाहरलाल नेहरू की इकलौती पुत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भारत के प्रधान मन्त्री का पद सम्भाला। उन्होने भी चीन के साथ सीमा-विवाद सुलझाने के कूटनीतिक प्रयास किए। श्रीमती गाँधी का यह कहना ठीक ही था कि ताली दोनों हाथों से बजती है, एक हाथ से नहीं। यदि चीन भारत के शान्ति प्रयासों का अनुकूल उत्तर नही देता तो यह उसका दुराग्रह है जिस पर एक दिन उसे अवश्य पुनर्विचार करना पड़ेगा। सन् 1962 और 1975 के भारत मे आकाश पाताल का अन्तर है और चीन भारत को सैनिक शक्ति द्वारा दबाने की बात अब सोच भी नही सकता।

चीन द्वारा पुनः छेड़-छाड़—भारत-पाक युद्ध में विजय से भारत की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और चीन कुछ समय तक सीमा पर विशेष गड़बड़ी करने से रुका रहा। सितम्बर व अक्तूबर, 1967 में चीन ने नाथू-ला के भारतीय प्रदेश पर आक्रमण कर दिया, लेकिन भारी हानि उठाकर उसे पीछे हटना पड़ा। 2 अक्तूबर, 1967 को चीनियों ने चोला की भारतीय चौकी पर अचानक हमला किया, किन्तु फिर गहरी क्षति उठाकर अपने नापाक इरादों से उन्हें हाथ धोना पड़ा। अप्रेल, 1968 में नाथू-ला में चीन की सैनिक गतिविधियों से स्थिति पुनः तनावपूर्ण हो गई, लेकिन कोई विशेष घटना नहीं घटी।

चीन की पिंग-पौंग राजनय और भारत—एशिया और अफ्रीकी देशों ने बढ़ती हुई बदनामी, रूस और भारत के बढ़ते हुए सहयोग, एक सैनिक शक्ति के रूप में भारत के उदय आदि विभिन्न कारणों से सन् 1970 से ही चीन ने सीमान्त की भारतीय चौकियों पर आक्रमणात्मक कार्यवाहियाँ लगभग बन्द कर दी। भारत-विरोधी प्रचार की भाषा में भी कटुता और आरोपों की गम्भीरता क्रमशः कम होने लगी। सन् 1971 के आरम्भ में ऐसे लक्षण दिखाई देने लगे कि दोनों देशों के बीच सम्बन्धों में सुधार सन्निकट है। अप्रेल, 1971 में कैंटन के व्यापारिक मेले में भाग लेने के लिए चीन सरकार ने हांगकांग स्थित भारतीय वाणिज्य आयुक्त को निमंत्रित किया। इसी माह अमेरिका की एक पिंग-पौंग टीम को चीन में मैच खेलने के लिए आमन्त्रित किया गया। चीन-अमेरिका सम्बन्ध मधुर होने लगे और राजनीतिक क्षेत्रों में यह आशा जगी कि चीन की इन नई प्रवृत्तियों का एक परिणाम यह भी निकलेगा कि भारत-चीन सम्बन्धों में सुधार होगा, अतः भारत को भी इस दिशा में अधिक सक्रिय हो जाना चाहिए। भारत के प्रति चीन का रुख कुछ नरम भी दिखाई दिया क्योंकि भारत के आमन्त्रण पर चीनी राजदूत राष्ट्रीय उत्सवों तथा राजनयिक अवसरों में उपस्थित होने लगे। विदेशों की राजधानियों में दोनों देशों के राजदूतों का सम्पर्क बढ़ने लगा। फिर भी चीन की ओर से सम्बन्ध-सुधार के कोई ठोस प्रयत्न दृष्टिगोचर नहीं हुए। 4 अगस्त, 1971 को राज्यसभा में भारतीय विदेश मन्त्री सरदार स्वर्णसिंह ने कहा कि—'भारत चीन के साथ सम्बन्धों में सुधार का स्वागत करता है, लेकिन जब तक चीन की ओर से उचित प्रत्युत्तर नहीं मिलता, हम अकेले कुछ नहीं कर सकते।" 13 नवम्बर, 1971 को पीकिंग में अफ्रेशियाई टेबिल टेनिस प्रतियोगिता का आयोजन किया गया और इसमें भाग लेने के लिए भारत को भी निमन्त्रण दिया गया। जब भारतीय टीम पीकिंग जाने के लिए पालम हवाई अड्डे पर पहुँची तो विदाई देने के लिए चीनी दूतावास के कुछ प्रतिनिधि भी उपस्थित थे। सितम्बर, 1971 में संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन के प्रवेश की बात उठी और भारत ने चीन की सदस्यता का पूर्ण समर्थन किया। दोनों देशों के बीच राजदूतों को नियुक्त करने की बात भी उठी और चीनी प्रधान मन्त्री ने सुझाव दिया कि चूँकि भारत ने अपने राजदूत को पहले वापस बुलाया था, अतः उसकी पुनः नियुक्ति के सम्बन्ध में भारत को ही पहल करनी चाहिए। इसी बीच दिसम्बर,

1971 का भारत-पाक युद्ध छिड़ गया जिससे दोनों देशों के सम्बन्धों में पुनः तनाव उत्पन्न हो गया।

बंगलादेश की समस्या और भारत-पाक युद्ध के प्रति चीनी दृष्टिकोण—सन् 1971 का वर्ष भारत के लिए समस्याओं का वर्ष रहा। बंगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन में भारत का सहयोग चीन को अच्छा नहीं लगा। चीन ने पाकिस्तान की तानाशाही का पूर्ण समर्थन किया और बंगलादेश के मुक्ति आन्दोलन में भारत के सहयोग को पाकिस्तान के अन्तरिक मामले मे हस्तक्षेप बताया। जुलाई, 1971 से श्रीमती गाँधी ने चीनी प्रधान मन्त्री को एक पत्र लिख कर बंगलादेश की घटनाओं से अवगत कराया, लेकिन चीन ने इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश के बाद चीनी प्रतिनिधि ने अपने पहले ही भाषण में आरोप लगाया कि भारत पाकिस्तान के मामले में ठीक उसी तरह हस्तक्षेप कर रहा है जिस तरह उसने तिब्बत में किया था। अगस्त, 1971 की भारत-सोवियत सन्धि ने चीन को और भड़का दिया। दिसम्बर, 1971 में भारत-पाक युद्ध के दौरान सुरक्षा परिषद् की बहसो मे चीनी प्रतिनिधि ने पाकिस्तान का साथ देने में कोई कसर नहीं रखी और भारत को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। यह भी कहा गया कि भारत ने यह आक्रमण सोवियत संघ के संकेत पर किया है। चीन ने भारत को पुनः चेतावनियाँ दीं, किन्तु ये चेतावनियाँ खोखली थीं जिनका मुख्य उद्देश्य यह था कि पाकिस्तान के साथ एकता प्रदर्शित कर उसके मनोबल को ऊँचा रखा जाए और भारत को परेशानी में डाला जाए।

2 जनवरी, 1972 को श्रीमती गाँधी ने चीन के रवैये के बारे में भारतीय प्रतिक्रिया स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की। उन्होंने कहा कि चीन द्वारा पाकिस्तान को समर्थन दिए जाने के बावजूद भारत-चीन सम्बन्ध सुधर सकते हैं। चीन ने भारत-पाक युद्ध पर एक नपी-तुली प्रतिक्रिया व्यक्त की है—उसने पाकिस्तान का समर्थन न तो हमारी आशा से अधिक किया है और न उससे कम।

1973–1977 में भारत-चीन सम्बन्ध—भारत-पाक युद्ध की घटनाओं के बाद भी समय-समय पर भारत-चीन सम्बन्धों में सुधार के आसार प्रकट हुए, किन्तु कोई सुपरिणाम नहीं निकला। चीन के प्रसार-साधन भारत के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण प्रचार करते रहे। चीन सरकार ने 29 अप्रेल, 1975 को एक वक्तव्य प्रसारित किया जिसमें कहा गया कि भारतीय संघ में सिक्किम को राज्य का दर्जा प्राप्त होना 'अवैध अधिग्रहण' है। चूंकि इस मामले का सम्बन्ध किसी अन्य सरकार से नहीं था, इसलिए भारत सरकार ने 1 मई, 1975 को एक संक्षिप्त वक्तव्य जारी कर इसे अपने आन्तरिक मामले में चीन का हस्तक्षेप बताया। चीन बराबर यह दावा करता रहा कि भारत अपने पड़ोसियों के प्रति 'आधिपत्य और विस्तार-वादी आकांक्षाएँ' रखता है और चाहता है कि वह सोवियत संघ के समर्थन से एक 'उप-महा-देश' बन जाए। चीन के इस मिथ्या प्रचार के बावजूद भारत ने किसी प्रकार का कोई प्रचार आन्दोलन नहीं छेड़ा। भारत सरकार चीन के साथ सम्बन्धों

को सामान्य बनाने के लिए सुसंगत नीति का अनुसरण करती रही। 20 अक्तूबर को लगभग 40 चीनी सैनिकों ने पूर्वी क्षेत्र में भारतीय सीमा को पार किया, घात लगाई और भारतीय प्रदेश में हमारे 4 सैनिकों को मार डाला। भारत सरकार ने नई दिल्ली स्थित चीनी राजदूतावास से इस घटना के बारे में तीव्र विरोध प्रकट किया।

वर्ष 1976 भारत और चीन के बीच सम्बन्ध सुधार का सन्देश लेकर आया। राजदूत स्तर के राजनयिक प्रतिनिधित्व की वापसी के बारे में दोनो देशों के बीच सरकारी स्तर पर वार्ता लाभदायक सिद्ध हुई। अप्रेल, 1976 में भारत ने चीन में अपना राजदूत नियुक्त किया और सितम्बर, 1977 मे चीनी राजदूत ने अपने परिचय-पत्र प्रस्तुत किए। प्रधान मन्त्री ने अध्यक्ष, हुआ-कुओ-फेंग को उनकी कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष पद पर नियुक्ति के लिए बधाई भी भेजी और यह आशा व्यक्त की कि भारत और चीन के बीच सम्बन्ध आगामी वर्षों में और अधिक विकसित होंगे। अक्तूबर-नवम्बर, 1976 मे चीन की बैडमिंटन टीम की भारत-यात्रा और डॉ. कोटनिस मेमोरियल हाल के उदघाटन के अवसर पर दिसम्बर, 1976 मे एक गैर-सरकारी भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल की चीन यात्रा से दोनों देशों के बीच बढ़ते हुए सम्बन्धो की प्रवृत्ति परिलक्षित हुई।

जनता शासन-काल में भारत-चीन सम्बन्ध (अप्रेल, 1977–1979)

भारत का एक गैर-सरकारी व्यापार प्रतिनिधि-मण्डल जिसमें राज्य व्यापार सगठनो के प्रतिनिधि भी शामिल हैं, अप्रेल, 1977 मे 'कैण्टन स्प्रिंग फेयर' मे सम्मिलित हुआ। प्रारम्भिक समझौतो पर हस्ताक्षर हुए और यह आशा व्यक्त की गई कि इनसे दोनो देशो के बीच वाणिज्यिक सम्बन्धों को पुन. स्थापित करने मे कुछ वास्तविक प्रगति होगी।

चीन के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने की दिशा मे प्रयत्न जारी रखे गए। करीब 15 वर्ष बाद दोनो देशों के बीच सीधा व्यापार फिर से प्रारम्भ होने से दोनो देशो के बीच बैंकिंग सुविधाओं और मालवाहक जहाजो के आवागमन को प्रोत्साहन मिला। भारतीय सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों के प्रतिनिधियों ने द्विवार्षिक कैण्टन व्यापार मेले मे भाग लिया और इस मेले में लगभग 3 करोड़ रु. की राशि का व्यापारिक लेनदेन किया गया। कृषि, खनन, वन-विज्ञान, चिकित्सा, जन स्वास्थ्य और खेल-कूद जैसे विभिन्न क्षेत्रो मे भी आदान-प्रदान किया गया। फरवरी, 1978 मे चीन के एक व्यापार प्रतिनिधि-मण्डल ने भारत की यात्रा की। इन वार्तों से विकास कार्यों के विभिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे के अनुभवों से लाभ उठाने की दोनों देशों की तत्परता व्यक्त हुई। मार्च, 1978 में, अखिल भारतीय डॉ. कोटनिस स्मारक समिति के निमन्त्रण पर 'विदेशों के साथ मैत्री के लिए चीनी लोकवादी संघ' के अध्यक्ष श्री वांग पिन-तान के नेतृत्व में चीन के एक गैर-सरकारी सद्भावना प्रतिनिधि-मण्डल ने भारत की यात्रा की।

चीन के साथ सीमा का प्रश्न अनिर्णीत रहने के बावजूद भारत सहग्रस्तित्व एवं पंचशील के सिद्धान्तों के आधार पर चीन के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने का प्रयत्न करता रहा। भारत सरकार की रिपोर्ट 1978–79 के अनुसार—

"विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 12 से 18 फरवरी, 1979 तक चीन की यात्रा की। इस यात्रा के लिए चीन के विदेश मन्त्री ने कोई एक वर्ष पूर्व हमारे विदेश मन्त्री को निमन्त्रण दिया था और पहले इसके लिए अक्तूबर, 1978 का समय तय किया गया था। लेकिन विदेश मन्त्री की अस्वस्थता के कारण तब इसे स्थगित करना पड़ा। इस निमन्त्रण को स्वीकार करते समय ही विदेश मन्त्री ने यह स्पष्ट कर दिया था कि यह यात्रा भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति और अपने सभी पड़ोसियों के साथ सम्बन्ध सुधारने की उसकी चाह के अनुरूप वस्तुत: एक अन्वेषी मिशन होगा और इससे अपने सुस्थापित मैत्री सम्बन्धों पर कोई आँच नहीं आने दी जाएगी।

विदेश मन्त्री का चीन के प्रधान मन्त्री हुआ गोफेन, उप प्रधान मन्त्री डेंगजियोपिंग तथा चीन के विदेश मन्त्री हुआं-ग-हुआं के साथ जो विचार-विमर्श हुआ वह भारत की विदेश नीति के इन्हीं आधारभूत सिद्धान्तों पर पूर्णतः आधारित था।

नि:संकोच और सौहार्द्रता के वातावरण में दोनों पक्षों ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर, भारतीय उपमहाद्वीप में और उसके आसपास की स्थिति तथा उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उन मामलों पर विचार विनिमय किया जिनका भारत और चीन के द्विपक्षीय सम्बन्धों पर प्रभाव पडता है।

हिमालय के दक्षिणवर्ती राष्ट्रों में भी परस्पर विश्वास का वातावरण पैदा करने के लिए भारत ने दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के आधार पर क्या कदम उठाए हैं, इस पर प्रकाश डालते हुए विदेश मन्त्री ने यह स्पष्ट बताया कि भारत को पाकिस्तान और चीन के बीच सामान्य द्विपक्षीय सम्बन्धों पर यद्यपि कोई आपत्ति नहीं है लेकिन भारत-चीन सम्बन्धों के सुधार की सम्भावनाओं पर इसका दुष्प्रभाव पड़ेगा, अगर उनके पारस्परिक सम्बन्धों से भारत के वैध हितों पर यदि कोई उनका बुरा असर पड़ता हो। उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया कि चीन सरकार ने कश्मीर के प्रश्न पर जो रुख अपनाया है वह छठे दशाब्द के स्वयं उनके अपने ही रवैये के विपरीत है तथा उससे चीन-भारत सम्बन्धों मे एक अतिरिक्त और अनावश्यक पेचीदगी आ गई। इस सम्बन्ध में उन्होंने कराकोरम हाईवे के निर्माण के सम्बन्ध में भारत की चिन्ता पुनः व्यक्त की।

जहाँ तक द्विपक्षीय सम्बन्धों का प्रश्न है, चीनी नेताओं के साथ [illegible] बातचीत में विदेश मन्त्री ने इस बात पर बल दिया कि भारत-चीन [illegible] का सन्तोषजनक समाधान, पारस्परिक विश्वास पुनः जमाने के [illegible] भारत सम्बन्धों के वातावरण को पूरी तरह से सामान्य बनाने के [illegible] महत्त्वपूर्ण है।

ने मन्त्रिमण्डल की इस विषय पर बुलाई गई एक औपचारिक बैठक मे व मधु लिमये व राजनारायण ने सार्वजनिक रूप से चीन को लेकर अपनी आशकाए व्यक्त की थी।

वास्तव मे विदेश मन्त्री की चीन यात्रा के एक विवाद में परिणत हो जाने के बाद ही उस कूटनीतिविहीन उत्साह पर कुछ लगाम लगाई जा सकी जो सुब्रह्मण्यम स्वामी आदि के वक्तव्यों मे झलक रहा था। शुरू मे विदेश मन्त्री तक ने एक विदेशी एजेन्सी को दी गई भेंट-वार्ता मे कहा था कि भारत सीमा विवाद को ठण्डा रख कर भी चीन से अपने सम्बन्ध मधुर बनाने की कोशिश करेगा। इन सब बातो की जोरदार प्रतिक्रिया हुई और लोगों ने आरोप लगाया कि सरकार सीमा को लेकर कोई सौदा करने जा रही है। उसके बाद ही सरकार ने सीमा के बारे मे कडा रुख अपनाने की घोषणा की।

श्री वाजपेयी की चीन से उल्टे पांव वापसी के बाद अब उस यात्रा की उपलब्धियाँ जो यो भी नगण्य थी अर्थहीन हो जाती हैं। यह कहते हुए कि यात्रा केवल टटोलने के उद्देश्य को लेकर की गई थी यह सन्तोष व्यक्त किया जा रहा है कि दोनो देशो में एक संवाद का आधार तैयार हुआ है। लेकिन उस आधार के लिए जिस परस्पर विश्वास की जरूरत होती है वह इस यात्रा से मजबूत नही हुआ बल्कि कम हुआ है।"

"सीमा विवाद के बाद भारत के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण मसला भारतीय उपमहाद्वीप, दक्षिण एशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देशो से चीन के सम्बन्ध का था। एक लम्बे अर्से से भारतीय उपमहाद्वीप मे चीन की भूमिका भारत विरोधी रही है, जो आज भी कायम है। दक्षिण-एशिया और दक्षिणपूर्व एशिया मे भी वह अपने प्रभाव के विस्तार के लिए शुरू से प्रयत्नशील रहा है। वियतनाम पर आक्रमण इसका सबसे ताजा प्रमाण है। कहा जाता है कि बातचीत के दौरान श्री वाजपेयी ने चीनी नेताओं से कई बार वियतनाम के साथ विवाद को शान्तिपूर्वक हल करने का आग्रह किया था उसका कितना असर पड़ा यह स्पष्ट ही है।"

श्रीमती गान्धी के पुनः सत्तारूढ़ होने के बाद भारत-चीन सम्बन्ध (अक्तूबर, 1980 के मध्य तक)

चीन ने नवम्बर-दिसम्बर, 1979 मे नई दिल्ली मे आयोजित भारत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेले में काफी बड़े पैमाने पर भाग लिया। उसी समय चीन की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संवर्धन सम्बन्ध परिषद् के अध्यक्ष के नेतृत्व मे एक व्यापार प्रतिनिधि-मण्डल ने भारतीय वाणिज्य तथा उद्योग मण्डल महासंघ के अतिथि के रूप मे भारत की दो सप्ताह की यात्रा की। आशा है कि इस यात्रा के परिणामस्वरूप भारत और चीन के बीच बढ़ते हुए व्यापार सम्बन्धो को और अधिक बढ़ाने मे प्रोत्साहन मिलेगा। भारत से चीन को निर्यात की गई मुख्य मदो मे रुई की 30,000 गाँठें शामिल हैं जबकि भारत ने चीन से पर्याप्त मात्रा मे एंटीबायटिक औषधियाँ मँगवाई।

चीन से पत्रकारों का एक पाँच सदस्यीय शिष्ट-मण्डल अक्तूबर में भारत आया। यह शिष्ट-मण्डल तथा व्यापार प्रतिनिधि-मण्डल भारत के निमन्त्रण पर यहाँ आया और भारतीय पक्ष के प्रतिनिधि-मण्डलों की 1978 में चीन की यात्राओं के पश्चात् चीन के प्रतिनिधि-मण्डलों ने भारत की यात्रा की। चीन के शिष्ट-मण्डल ने दोनों देशों के बीच विशेष रूप से परिवार नियोजन तथा कृषि के क्षेत्रों मे सहयोग पर बल दिया। बाद में चीन के एक कृष्टि शिष्ट-मण्डल ने अर्द्ध शुष्क ऊष्ण कटिबद्ध सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय फसल अनुसन्धान (आई. सी आर आई. एस. ए. टी.) के निमन्त्रण पर भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के अतिथि के रूप में भारत की यात्रा की।

अनेक महत्त्वपूर्ण भारतीय पत्रकारों ने इस वर्ष के दौरान चीन की यात्रा की। चीन के अधिकारियों ने भारत के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने की चीन की निरन्तर इच्छा के बारे मे उन्हें बताया। यह आशा प्रकट की गई कि हाल की कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के सम्बन्ध मे मतभेदो का भारत-चीन सम्बन्धों को विकसित करने पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा।

विभिन्न क्षेत्रों के अनेक भारतीय विशेषज्ञों ने उक्त क्षेत्रो से सम्बन्ध सयुक्त राष्ट्रसघ के अभिकरणों के तत्वावधान मे इस वर्ष के दौरान चीन की यात्रा की। चीन के कई शिष्ट-मण्डल अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेने भारत आए।

यद्यपि भारत ने कार्यात्मक आदान-प्रदानों के क्रमिक विकास का स्वागत किया है परन्तु भारत सरकार ने राजनयिक माध्यमों से अपने इस विचार को दोहराया है कि सम्बन्धो को पूरी तरह सामान्य बनाने के लिए सीमा समस्या का सन्तोषजनक समाधान जरूरी है। चीन की सरकार ने अपनी ओर से पंचशील के सिद्धान्तो के आधार पर भारत के साथ सम्बन्ध सुधारने की इच्छा पर जोर दिया।

नई सरकार द्वारा कार्यभार ग्रहण करने पर चीन के प्रधान मन्त्री हुआ गो फेंग तथा विदेश मन्त्री हुआँग हुआ ने क्रमशः प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी और विदेश मन्त्री श्री पी. वी. नरसिंह राव को बधाई सन्देश भेजे। चीन के प्रधान मन्त्री के सन्देश मे इस बात पर खुशी जाहिर की गई है कि पिछले कुछ वर्षों में चीन और भारत के बीच सम्बन्धो में विकास एवं सुधार हुआ है तथा उन्होने यह आशा प्रकट की है कि एशिया मे शान्ति और स्थायित्व के हित मे हमारे सम्बन्ध निरन्तर विकसित होते रहेगे। इसके उत्तर मे प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी ने पचशील के सिद्धान्तो के आधार पर भारत और चीन के बीच सहयोग बढ़ाने की आशा की है।

प्रधान मन्त्री सालिसबरी मे चीन के विदेश मन्त्री, श्री हुआँग हुआ और बेलग्रेड में चीन के प्रधान मन्त्री श्री हुआ गुओ फेंग से मिली। चीन के विदेश मन्त्री इस वर्ष के उत्तरार्द्ध मे भारत की यात्रा पर आने वाले है। श्री गोन्साल्वेज़, सचिव (पूर्व) जब जून, 1980 के मध्य मे पीकिंग की यात्रा पर गए तो प्रारम्भिक बातचीत हुई थी तो भारत ने यह स्पष्ट कर दिया कि चीन के साथ सम्बन्धो को सामान्य

बनाने की कार्यवाही किसी दूसरे देश के साथ अपनी की जाएगी।

वर्तमान वास्तविक नियन्त्रण रेखा के आधार के बारे में चीन की कथित पेशकश के सम्बन्ध मे प्रस्ताव के उत्तर में विदेश मन्त्री, श्री पी. वी नरसिंह लोकसभा मे जो वक्तव्य दिया, वह ध्यान देने योग्य है

"चीन लोक गणराज्य के उप-प्रधान मन्त्री को एक भारतीय पत्रकार से मिले। चीन की सरकारी अनुसार सीमा समस्या के हल के बारे मे उनके प्रकार है—

"जब तक दानो पक्ष निष्ठावान हैं, सीमा की करते हैं और एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु हैं, तब शान्तिपूर्ण समझौते के माध्यम से हल किया जा सकता विवाद के बारे मे बातचीत शुरू हुई है, चीन ने कभी उपनिवेशवादियो द्वारा अवैध रूप से भारत मे मिलाए किया जाए। चीन ने तो यह सुझाव दिया है कि दोनों सीमा रेखा के आधार पर, चीन को पूर्वी क्षेत्र मे और कुछ रियायत देनी चाहिए, जिससे चीन–भारत सीमा जा सके और इस प्रकार पारस्परिक सद्भाव तथा प्रतिपादित किया जा सके।

चीन की सरकार ने हमे इसी प्रकार के सुझाव दिए हैं। इस बार यह सुझाव कुछ अधिक स्पष्ट आधारित है उसे भारत सरकार ने कभी भी स्वीकार न कि चीनी पक्ष पूर्वी क्षेत्र के भू-भाग को छोड़कर रियायत आरोप लगाया है कि यह क्षेत्र भारत मे अवैध रूप से भी हम इस भावी स्थिति का स्वागत करते है कि पूर्वी विशेष कठिनाई के हो रहा है।

जैसा कि सदन को ज्ञात है भारत–चीन पेचीदा है। बहुत अधिक समय बीत जाने के बाद अब एक बार फिर से दिलचस्पी लेनी आरम्भ की है। रचनात्मक कदम है। सम्भव है कि चीन की समाधान के अलावा अन्य कोई तरीका भी और अधिक मुझे विश्वास है कि सदन इस बात पर सहमत होगा कि ध्यान मे रखते हुए हमे सोद्देश्यपूर्ण ढग से आगे बढ़ना चा

आशा है कि राष्ट्रीय सम्मान और दोनो पक्षों समानता के आधार पर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व पर आ की भावना से हम सीमा विवाद को सुलझा सकते हैं।

बनाने की कार्यवाही किसी दूसरे देश के साथ अपनी मित्रता की कीमत पर नहीं की जाएगी।

वर्तमान वास्तविक नियन्त्रण रेखा के आधार पर सीमा-समस्या को सुलझाने के बारे में चीन की कथित पेशकश के सम्बन्ध मे उठाए गए एक ध्यानाकर्षण प्रस्ताव के उत्तर में विदेश मन्त्री, श्री पी. वी. नरसिंह राव ने 2 जुलाई, 1980 को लोकसभा मे जो वक्तव्य दिया, वह ध्यान देने योग्य है—

"चीन लोक गणराज्य के उप-प्रधान मन्त्री डॉग ज्याविंग 21 जून, 1980 को एक भारतीय पत्रकार से मिले। चीन की सरकारी समाचार ऐजेंसी सिन्हुआ के अनुसार सीमा समस्या के हल के बारे मे उनके वक्तव्य का सम्बन्धित अंश इस प्रकार है—

"जब तक दोनों पक्ष निष्ठावान हैं, सीमा की वर्तमान स्थिति का आदर करते हैं और एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु हैं, तब तक चीन-भारत सीमा विवाद शान्तिपूर्ण समझौते के माध्यम से हल किया जा सकता है। वस्तुत: जब से सीमा विवाद के बारे मे बातचीत शुरू हुई है, चीन ने कभी भी यह नही कहा कि प्राचीन उपनिवेशवादियो द्वारा अवैध रूप से भारत मे मिलाए गए सभी क्षेत्रों को वापस किया जाए। चीन ने तो यह सुझाव दिया है कि दोनों देशो को वास्तविक नियंत्रण सीमा रेखा के आधार पर, चीन को पूर्वी क्षेत्र मे और भारत को पश्चिमी क्षेत्र मे, कुछ रियायत देनी चाहिए, जिससे चीन–भारत सीमा प्रश्न समग्र रूप से हल किया जा सके और इस प्रकार पारस्परिक सद्भाव तथा रियायत की भावना को पूर्णतया प्रतिपादित किया जा सके।

चीन की सरकार ने हमें इसी प्रकार के सुझाव पहले भी कई अवसरो पर दिए है। इस बार यह सुझाव कुछ अधिक स्पष्ट है। जिस तथ्य पर यह तर्क आधारित है उसे भारत सरकार ने कभी भी स्वीकार नहीं किया है यानी यह तर्क कि चीनी पक्ष पूर्वी क्षेत्र के भू-भाग को छोड़कर रियायत दे रहा है जिस पर उन्होंने आरोप लगाया है कि यह क्षेत्र भारत मे अवैध रूप से मिला लिया गया है। फिर भी हम इस भावी स्थिति का स्वागत करते हैं कि पूर्वी क्षेत्र का समाधान बिना किसी विशेष कठिनाई के हो रहा है।

जैसा कि सदन को ज्ञात है भारत–चीन सीमा विवाद बहुत पुराना और पेचीदा है। बहुत अधिक समय बीत जाने के बाद अब हमारी दोनों सरकारो ने एक बार फिर से दिलचस्पी लेनी आरम्भ की है। यह अपने आप में एक रचनात्मक कदम है। सम्भव है कि चीन की सरकार द्वारा सुझाए गए समग्र समाधान के अलावा अन्य कोई तरीका भी और अधिक प्रभावकारी सिद्ध हो सके। मुझे विश्वास है कि सदन इस बात पर सहमत होगा कि अपने सर्वोत्तम हितों को ध्यान मे रखते हुए हमें सोद्देश्यपूर्ण ढग से आगे बढ़ना चाहिए।

आशा है कि राष्ट्रीय सम्मान और दोनों पक्षों के हितो के अनुरूप समानता के आधार पर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व पर आधारित पचशील सिद्धान्तों की भावना से हम सीमा विवाद को सुलझा सकते हैं।

उपर्युक्त प्रेस इन्टरव्यू के दौरान उप-प्रधानमन्त्री डेंग ज्यावपिंग ने भारत और चीन के बीच सम्बन्धों को सुधारने और विकसित करने की तीव्र इच्छा भी प्रकट की है क्योंकि इससे निःसन्देह विश्व के सम्बन्धों और विशेष रूप से एशियायी सम्बन्धों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। हम भी पूर्णतया इन भावनाओं के अनुरूप विचार रखते हैं।"

भारत और फ्रांस

आजादी के बाद भी भारत में कुछ फ्रांसीसी और पुर्तगाली बस्तियां रह गई थी। चन्द्रनगर, पाण्डिचेरी, कालीकट, माही और यनाम की बस्तियां फ्रांस के अधीन थी तथा गोआ, दमन और ड्यू पर पुर्तगाल का आधिपत्य था। यह स्वाभाविक था कि भारत अपनी भूमि पर स्थित इन उपनिवेशों को मुक्त कराने की चेष्टा करता।

भारत सरकार ने फ्रांस से अनुरोध किया कि वह भारत स्थित फ्रांसीसी बस्तियों को मुक्त कर दे। फ्रांस ने समझदारी से काम लेते हुए नवम्बर, 1954 मे पाण्डिचेरी, कालीकट, माही और यनाम को तथा मई, 1949 मे चन्द्रनगर को भारत के सुपुर्द कर दिया।

फ्रांस के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित होते रहे। जनवरी, 1976 मे फ्रांस के प्रधान मन्त्री की भारत-यात्रा के समय तकनीकी एवं आर्थिक सहयोग के लिए मन्त्री-स्तर की एक भारत-फ्रांस समिति गठित की गई। दोनों देशों के बीच सहयोग से सम्बन्धित मुद्दों पर प्राथमिक विचार-विमर्श करने के लिए वाणिज्य मन्त्री श्री चट्टोपाध्याय ने जुलाई, 1976 में पेरिस की यात्रा की। उद्योग मन्त्री श्री टी ए. पै और पेट्रोलियम मन्त्री श्री के डी मालवीय ने फ्रांस की यात्रा की और इस बात का संकेत दिया कि भारत फ्रांस के साथ और आर्थिक सहयोग की भावनाएँ खोजने के लिए प्रयत्नशील है। फ्रांस, भारत सहायता संघ (एड इण्डिया कन्सोर्टियम) का पहला सदस्य था जिसने सन् 1976–77 में भारत के साथ विकास सहायता समझौता किया। जून, 1977 में राष्ट्रमण्डल सम्मेलन के बाद भारत लौटते समय प्रधान मन्त्री पेरिस में रुके और उन्होंने फ्रांस के राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री के साथ परस्पर हित के मामलों पर विचार-विमर्श किया। जून, 1977 मे पेरिस में भारत–फ्रांसीसी अन्तरिक्ष करार पर हस्ताक्षर हुए। फ्रांस ने 1977-78 के लिए भारत को 34 करोड फ्रेंच फ्रेंक तक की सहायता दी। जुलाई, 1978 मे फ्रांस के विदेश राज्य मन्त्री की भारत यात्रा के दौरान विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर एक करार सम्पन्न हुआ। दिसम्बर, 1978 में विदेश मन्त्री की यात्रा के दौरान नई दिल्ली में भारत–फ्रांसीसी आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग समिति की बैठक मे दोनो देश इस पर सहमत हुए कि अगले चार वर्षों के अन्दर द्विपक्षीय व्यापार को दुगुना करें और तीसरे देशो मे सयुक्त उद्यम स्थापित किए जाने के लिए सहयोग का बढाएं।

भारत और फ्रांस के बीच मित्रता और सहयोग के सम्बन्ध बने रहे। विदेश राज्य मन्त्री, श्री वेदव्रत बरुआ अक्तूबर, 1979 मे अपनी विदेश यात्रा के दौरान पेरिस रुके और उन्होने फ्रांस के विदेश राज्य मन्त्री श्री ओलीवर स्टर्न से

मुलाकात की। एक फ्रांसीसी प्रतिनिधि-मण्डल नवम्बर में भारत की यात्रा और भारत-फ्रांस सांस्कृतिक करार के अन्तर्गत 1980-82 के निर्धारित किया। वर्ष के दौरान विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में सहयोग सम का अनुसमर्थन किया गया। विदेश आर्थिक सम्बन्ध विभाग के निदेश के नेतृत्व में एक फ्रांसीसी प्रतिनिधि-मण्डल ने पारस्परिक सहयोग के क्षेत्रों का पता लगाने के उद्देश्य से दिसम्बर, 1979 में भारत की यात्रा

फ्रांस के राष्ट्रपति, जिस्कार्द द इस्तेंग ने जनवरी, 1980 में यात्रा की और गणराज्य दिवस समारोहों में भारत के सम्मानीय अति में सम्मिलित हुए। वे भारत की यात्रा पर आने वाले फ्रांस के पहले रा उनके साथ फ्रांस के विदेश मन्त्री श्री जे. फ्रंकोई-पांसे तथा फ्रांस के वि मन्त्री श्री जे. एफ. देन्यू भी भारत आए थे। राष्ट्रपति ने प्रधान मन्त्री इ से मुलाकात की और फ्रांस के दोनों मन्त्रियों ने विभिन्न प्रतिनिधि-मण्डलों बातचीत के अलावा भारत के विदेश मन्त्री तथा विदेश व्यापार मन्त्री से की। इस बातचीत के परिणामस्वरूप फ्रांस के राष्ट्रपति तथा भारत के प्र द्वारा 27 जनवरी, 1980 को संयुक्त घोषणा जारी की गई।

द्विपक्षीय सहयोग को बढ़ाने में यह यात्रा बहुत सफल रही। इस परिणामस्वरूप सात प्रोतोकोलों तथा समझौता-ज्ञापनों पर हस्ताक्षर कि (1) भारत-फ्रांस औद्योगिक तथा व्यावसायिक सहयोग सम्बन्धी (2) कोयला-खनन सम्बन्धी समझौता-ज्ञापन, (3) उड़ीसा में अल्यूमिनिय पर समझौता-ज्ञापन, (4) कृषि तथा ग्रामीण विकास के क्षेत्र में सहयोग प फ्रांस प्रोतोकोल, (5) पेट्रो-रसायन, उर्वरक, औषधियाँ तथा रसायन के प्रोतोकोल, (6) नवीनीकरण योग्य ऊर्जा के क्षेत्र में प्रोतोकोल, (7) विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रोतोकोल। इनके अतिरिक्त इस बात सहमति हुई कि इस्पात-उद्योग, दूर-संचार और दृश्य-श्रव्य तकनीकों के सहयोग की सम्भावनाओं का पता लगाया जाए।

28 जनवरी, 1980 को जारी संयुक्त विज्ञप्ति में दोनों पक्षों ने पर सहमति प्रकट की कि भारत में भारत-फ्रांस विश्वविद्यालय अथवा एक उ शिक्षा संस्थान की स्थापना पर विचार किया जाना चाहिए। राष्ट्रप प्रधान मन्त्री इस बात पर सहमत थे कि दोनों पक्षों की सुविधा को ध्यान मे हुए फ्रांस और भारत में सावधिक परामर्श किया जाना चाहिए। विज्ञप्ति से हुआ कि फ्रांस गणराज्य के राष्ट्रपति और भारत के प्रधान मन्त्री ने सर्भ से सम्बन्धों तथा दोनों पक्षों द्वारा सहयोग बढ़ाने की इच्छा के अनुसार और विकसित करने के उपायों की समीक्षा की। इस लक्ष्य की ओर दोनों पर सहमत थे कि दोनों देशों के बीच सभी स्तरों पर सलाह-मशवरा बढ़ आवश्यकता है जिससे कि एक-दूसरे को एक-दूसरे के दृष्टिकोण की जानकार तथा इस प्रकार के सलाह-मशवरे से यह निश्चित किया जा सके कि शान्ति

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में भारत और फ्रांस क्या योगदान कर सकते हैं। इस बात पर सहमति हुई कि फ्रांस और भारत में बारी-बारी से समय-समय पर सलाह-मशवरे की व्यवस्था की जाएगी। दोनों नेताओं ने लोकतान्त्रिक मूल्यों के महत्त्व पर जोर दिया जिनको कि दोनों देशों की जनता बहुत प्यार करती है। दोनो का विश्वास था कि इन मूल्यो की झलक दोनों राष्ट्रो के सम्बन्धों में विशेषकर सभी देशों की प्रभुसत्ता का ठीक प्रकार से आदर करने और सभी राष्ट्रों द्वारा अपने भाग्य का स्वयं निर्धारण करने के अधिकार को मानने में मिलनी चाहिए। यह आदर राष्ट्रों के बीच शान्ति और सुरक्षा का बुनियादी आधार है। किसी अन्य रास्ते पर चलने से तनाव में वृद्धि हो सकती है और उससे उत्पन्न परिणाम भुगतने पड सकते हैं।

फ्रांस गणराज्य के राष्ट्रपति और भारत के प्रधान मंत्री दोनो ने इस बात की पुन: पुष्टि की कि पश्चिम एशिया मे सभी सम्बन्धित पक्षों की भागीदारी से संघर्ष का सम्पूर्ण समाधान निकालने से ही न्यायोचित और स्थाई शान्ति की स्थापना सम्भव है। इस समाधान का अर्थ अधिकृत क्षेत्रो से इजरायल की वापसी, फिलिस्तीनी लोगों के न्यायोचित अधिकारो की मान्यता तथा विशेषकर अपना स्वदेश बनाने का अधिकार और इस क्षेत्र के सभी देशो का सुरक्षित, मान्य और गारण्टी प्राप्त सीमाओ के भीतर शान्तिपूर्वक रहने के अधिकार को मानना शामिल है। ये सिद्धान्त जो कि एक खत्म न होने वाले अस्तित्व को दर्शाते हैं, फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन सहित इसमें दिलचस्पी रखने वाले सभी पक्षों पर लागू होते हैं।

अफ्रीका की स्थिति पर ध्यानपूर्वक विचार किया गया। फ्रांस गणराज्य के राष्ट्रपति और भारत के प्रधान मन्त्री ने यह दोहराया कि वे जातिगत भेदभाव जिसमें वर्णभेद शामिल है, की व्यवस्था को नापसन्द करते हैं और जो देश स्वशासी नही हैं उनके आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को मानते हैं। इस सम्बन्ध मे उन्होने रोडेशिया–जिम्बाब्वे में शुरू हुए विकास क्रम पर आशा और रुचि के साथ ध्यान दिया। श्री वैलरी जिसकार द एस्तां ने फ्रांस की अफ्रीकी नीति की मुख्य रूपरेखा बताई और बताया कि वे अफ्रीका की सरकारों के साथ निकट और निरन्तर सलाह-मशवरे को बहुत महत्त्व देते हैं जैसा कि फ्रांस–अफ्रीकी सम्मेलनों से जाहिर है। भारतीय पक्ष ने इस उपयोगी बात को बड़ी दिलचस्पी से सुना। शस्त्रों की दौड तेज होने के सभी पहलुओं से चिन्तित होकर, विशेषकर बहुत अधिक हथियारों से सम्पन्न देशों द्वारा ऐसा करने पर फ्रांस गणराज्य के राष्ट्रपति और भारत की प्रधान मन्त्री ने निरस्त्रीकरण के लिए अधिक प्रभावकारी उपाय करने के प्रयास करते रहने के सकल्प की पुष्टि की। दोनो का मत था कि निरस्त्रीकरण के बारे मे यथार्थवादी दृष्टिकोण सभी देशों की सुरक्षा के प्रति अधिकार तथा क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों की मान्यता पर आधारित होने चाहिए। दोनो का विश्वास था कि निरस्त्रीकरण का काम कुछ बड़े देशो की बपौती नही रह सकता।

अप्रल, 1980 मे भारत और फ्रांस के बीच पैट्रोलियम तथा गैस सम्बन्धी

एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार बम्बई हाई ...
निगम के विकास के लिए फ्रांसीसी तेल कम्पनी सी. एफ. पी. और ते...
गैस आयोग के बीच व्यवस्था को और अच्छा बनाया जाएगा। ...
लिए अन्य औद्योगिक परियोजनाओं में भी सहयोग करने का निश्चय ...

भारत और पुर्तगाल

गोआ, दमन और ड्यू पर पुर्तगाल का आधिपत्य था। फ्रांस ... हटने में जितनी अधिक समझदारी दिखाई उतनी ही बेसमझी और ... का परिचय पुर्तगाल ने भारत से न हटने में दिखाया। यही नहीं, ... पुर्तगाल ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं जो भारत की सुरक्षा के ... थी। गोआ में विशाल तैयारियाँ की गईं तथा पुर्तगाली सेनाएँ आए ... सीमा का अतिक्रमण करने लगीं। अन्त में दिसम्बर, 1961 में भारत ... पुर्तगाल को गोआ छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। कुछ ही दि... भारतीय संघ का अंग बन गया। भारत और पुर्तगाल के बीच 31 दिस... को राजनयिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना के परिणामस्वरूप सन् 197... पुर्तगाल सम्बन्धों में सन्तोषपूर्ण विकास हुआ। 19 मई, 1975 को ... पुर्तगाल के विदेश मन्त्रियों के बीच पत्रों का जो आदान-प्रदान ... सन् 1886 के पुर्तगाल-वातिकान धर्मसन्धि (ककोर्डेट) सम्बन्धी अंश ... और वातिकान के बीच हुए अन्य सम्बद्ध समझौते भारत के लिए ... गए। इस प्रकार, भारत के कैथोलिक गिरजाघरों में ऊँचे धार्मिक पदों ... द्वारा पुर्तगाली सरक्षण के अन्तिम चिन्ह भी मिटा दिए गए। दोनों देश ... दूसरे देश की राजधानी में मिशन खोले। लिस्बन में भारत का राजदूत ... अपना पद सम्भाल चुका है।

संयुक्तराज्य अमेरिका और भारत के सम्बन्ध

भारत और अमेरिका विश्व के दो महान् प्रजातान्त्रिक राष्ट्र हैं ... सम्बन्ध काफी उतार-चढ़ाव के रहे हैं और दुर्भाग्यवश विगत कुछ वर्षों से ... कटु बन गए हैं। तथापि दोनों ही देश सम्बन्ध सुधार के लिए ... सन् 1975 के मध्य में ऐसे लक्षण दिखाई दिए हैं कि निकट भविष्य मे ... पुनः मित्रता की दिशा में अग्रसर होंगे।

नेहरू-युग में भारत और अमेरिकी सम्बन्ध (1947–1964)

एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में भारत का उदय होने के बाद से ही ... की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य यह रहा कि भारत को अमेरिकी-शिविर ... जाए और इसके लिए 'दबाव तथा सहायता की नीति' अपनाई गई। जब ... 1947 में कश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण का प्रश्न संयुक्त राष्ट्रसंघ मे ... गया तो अमेरिका ने न्याय का गला घोंटते हुए पाकिस्तान को पूर्ण ... और आज भी इस प्रश्न पर अमेरिका का भारत-विरोधी रवैया पूर्ववत् ...

. ी चीन का उदय हुआ तो अमेरिका ने भारत पर दबाव डाला कि वह मान्यता न दे, किन्तु भारत ने अपनी स्वतंत्र निर्णय शक्ति का उपयोग कर 1949 में चीन को मान्यता दे दी। कोरिया युद्ध के समय भारत ने प्रारम्भ । के साथ मिलकर उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया और रषद् में अमेरिकी प्रस्ताव का समर्थन भी किया। लेकिन बाद में जब कमान के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रीय सेना ने 38वीं अक्षांश रेखा पार कर ि . पर आक्रमण किया तो भारत ने इसका विरोध किया। कोरिया भारत की गुट-निरपेक्ष नीति और शान्ति प्रयासों की अमेरिका ने कटु की। पश्चिमी प्रेस ने पं. नेहरू को 'डॉन क्विकजोट' तक कह दिया। जब 1951 मे जापान के साथ शान्ति-सन्धि के लिए आयोजित सान-फ्रांसिसको ां भारत ने शामिल न होने का निर्णय किया और अमेरिका की इस शान्ति-सन्धि का (जिसमें युद्धकालीन मित्रराष्ट्रों—चीन तथा रूस को ही किया गया था) विरोध किया तो अमेरिका के समाचार-पत्र भारत पर । हिन्द-चीन की समस्या पर भी दोनों देशों के दृष्टिकोण मे मौलिक अन्तर रत शान्तिपूर्ण समाधान के पक्ष में था जबकि अमेरिकी प्रशासन बल प्रयोग । करता था।

ारत मे अमेरिका के प्रति बहुत अधिक क्षोभ फैला जब मई, 1954 में ेस्तान के साथ एक सैनिक सन्धि कर उसे इस बहाने भारी सैनिक सहायता कया कि अमेरिकी हथियारों का प्रयोग साम्यवाद के प्रसार को रोकने के जाएगा। लेकिन सन् 1965 और 1971 के युद्धों ने भारत की इस भली प्रकार सत्य सिद्ध कर दिया कि अमेरिका के हथियारों का प्रयोग , देश भारत के विरुद्ध होना था। अमेरिकी सैनिक सहायता नीति का रते हुए भूतपूर्व राजदूत चेस्टर बाउल्स ने कहा—"विगत 15 वर्षों में हरी हमारी अधिकांश सैनिक सहायता नई सरकार को इस उद्देश्य से क वह अमेरिकी विदेश नीति का समर्थन करे।" सन् 1954 मे अमेरिका न को सीएटो और सेण्टो की भी सदस्य बना लिया। भारत और बीच सैन्य संगठनों पर भी व्यापक मतभेद रहे। श्री नेहरू ने हर प्रकार नों का तीव्र विरोध किया और इनकी स्थापना को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति ।- तथा सयुक्त राष्ट्रसंघ के मूल उद्देश्यो के विपरीत माना। उन्होंने और आइजनहॉवर-सिद्धान्त की कटु आलोचना कर अमेरिकी प्रशासन किया। दोनों देशों के सम्बन्धों में तब और भी बिगाड़ आया जब भारत ौर जोर्डन मे अमेरिकी हस्तक्षेप का विरोध किया।

की समस्या भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रश्न था, किन्तु नवम्बर, ेरिकी विदेश मन्त्री डलेस ने कहा—"जहाँ तक मैं जानता हूँ, सम्पूर्ण को पुर्तगाल के एक प्रान्त के रूप में स्वीकार करता है।" जब दिसम्बर, ।रत ने गोआ को पुर्तगाल की दासता से मुक्त किया तो सुरक्षा परिषद्

में अमेरिका के प्रतिनिधि स्टीवेंसन फूट पड़े—"आज रात्रि को हम उस नाटक के प्रथम अंक को देख रहे हैं जिसका अन्त संयुक्त राष्ट्रसंघ की मृत्यु के साथ हो सकता है।" नीग्रो, निःशस्त्रीकरण, वियतनाम आदि समस्याओं पर भी भारत और अमेरिका में गम्भीर मतभेद रहे हैं। भारत का दृष्टिकोण यह रहा कि अमेरिका को वियतनाम में बमवर्षा बन्द कर शान्ति स्थापना की दिशा मे रचनात्मक कदम उठाना चाहिए।

असहयोग और तनाव के उपर्युक्त प्रमुख बिन्दुओं के बावजूद भारत और अमेरिका मे सहयोग का क्षेत्र काफी रहा है। अमेरिका ने भारत को अपने पक्ष में करने के लिए दबाव-नीति के साथ-साथ आर्थिक और अनाज-कूटनीति का सहारा भी लिया। न केवल अमेरिका से भारत को विशाल आर्थिक सहायता प्राप्त हुई बल्कि मुख्यतः अमेरिकी प्रेरणा से ही विश्व विकास-ऋण-कोष, तकनीकी सहयोग आदि संस्थाओं ने भी ऋण तथा उपहार के रूप में भारत को काफी आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता प्रदान की। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी सहयोग का विस्तार हुआ। फुलब्राइट योजना के अन्तर्गत दोनो देशो ने एक बड़ी संख्या में विद्वानों का आदान-प्रदान किया। अमेरिका ने भारत को आर्थिक सहायता और खाद्य संकट में अनाज देकर उदारता दिखाई, लेकिन साथ ही अपनी गन्दी कूटनीतिक चालों से किए-कराए पर पानी फेरने का काम भी किया। उदाहरणार्थ, कभी तो अनाज के उपहार को ऋण में बदला गया, कभी ऋण के बदले में मैंगनीज की माँग की गई तो कभी सहायता इसलिए स्थगित कर दी गई कि अमुक प्रश्न पर भारत ने अमेरिका का समर्थन नही किया। पं. नेहरू ने अमेरिका की दबाव-नीति का साहस-पूर्वक सामना किया। दिसम्बर, 1959 में अमेरिकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर की भारत-यात्रा से यह आशा की गई कि दोनों देशों के बीच सहयोग के नए युग का प्रादुर्भाव होगा। अमेरिका के राजनीतिक क्षेत्रों में कहा जाने लगा कि भारत का आर्थिक विकास अमेरिकी विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य है। राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने भारत को विशेष सम्मान देते हुए 4 मई, 1960 को वाशिंगटन में भारत के खाद्य मन्त्री श्री एस. के. पाटिल के साथ स्वयं एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते के अन्तर्गत फसल की कमी का सामना करने तथा गल्ले को सुरक्षित रखने के लिए अमेरिका ने भारत को आगामी 4 वर्षों से चावल तथा गेहूँ के भरे हुए 1,500 जलयान भेजने का निश्चय किया। मई, 1960 का यह समझौता ही 'सार्वजनिक कानून 480' (पी. एल. 480) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 4 वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर इस समझौते की अवधि में वृद्धि कर भारत को बड़े पैमाने पर खाद्यान्न सहायता दी जाती रही।

राष्ट्रपति कैनेडी के समय यद्यपि गोआ के प्रश्न पर भारत-अमेरिका सम्बन्धों में काफी कटुता आ गई, तथापि अक्तूबर, 1962 में भारत पर चीन के आक्रमण के उपरान्त इन सम्बन्धों में एकाएक सुधार प्रारम्भ हुआ। भारत के अनुरोध पर अमेरिका ने बड़ी तेजी और तत्परता के साथ भारत को युद्ध-सामग्री

पहुँचाई। अमेरिका की इस संकटकालीन सहायता ने भारतीयों के पिछले सभी घावों को भर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि मतभेदों के बावजूद दोनों राष्ट्र मित्रता के स्थायी आधार-स्तम्भ पर खड़े हैं। अमेरिका ने भारत को यह सहायता बिना किसी शर्त के प्रदान की। चीनी आक्रमण के समय भी भारत जिस प्रकार अपनी गुट-निरपेक्ष नीति पर डटा रहा, उसकी अमेरिकी विदेश सचिव डीन रस्क ने प्रशंसा की। भारत अपनी स्वतन्त्र नीति से डिगा नहीं, इसका एक बड़ा प्रमाण यही है कि एक ओर तो भारत ने अमेरिका से सैनिक सहायता की माँग की, दूसरी ओर उसके एक दिन बाद ही जब सयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन को उसका स्थान देने का प्रश्न उपस्थित हुआ तो भारत ने चीन के पक्ष में मत दिया। मार्च, 1963 में भारत ने लगभग 100 करोड़ डॉलर की अमेरिकी सैनिक सहायता की माँग की, लेकिन अमेरिका ने केवल 6 करोड़ डॉलर दिए। इस तरह मूल रूप में अमेरिका की भारत के प्रति अप्रसन्नता बनी रही।

शास्त्री-काल में भारत-अमेरिकी सम्बन्ध (1964–1965)

राष्ट्रपति कैनेडी के उत्तराधिकारी लिण्डन बी. जॉनसन और प्रधान मन्त्री नेहरू के उत्तराधिकारी लालबहादुर शास्त्री बने। अमेरिकी नेतृत्व का विचार था कि श्री शास्त्री पं. नेहरू के मुकाबले एक कमजोर नेता सिद्ध होंगे, अत. उनको दबाव द्वारा अमेरिका के पक्ष में सरलता से झुकाया जा सकेगा। लेकिन श्री शास्त्री ने गुट-निरपेक्ष नीति का प. नेहरू से भी अधिक दृढ़ता के साथ अनुसरण किया और उसे पहले की तुलना में अधिक यथार्थवादी रूप दिया।

प्रारम्भ में तो दोनों देशों के सम्बन्धों में कोई बिगाड़ नहीं आया, लेकिन उत्तर-वियतनाम पर अमेरिकी बमवर्षा की जब भारत में सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्रों में आलोचना हुई तो अमेरिका जैसे महान् लोकतान्त्रिक राष्ट्र ने अप्रसन्नता का बड़ा निर्लज्ज प्रदर्शन किया। राष्ट्रपति जॉनसन के निमन्त्रण पर श्री शास्त्री ने जब मई, 1965 में अमेरिका जाने का कार्यक्रम निश्चित कर लिया तो अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपनी कार्य-व्यस्तता के बहाने निमन्त्रण को वापस ले लिया। अमेरिका का यह कदम भारत के प्रधान मन्त्री का नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय जनता का सार्वजनिक अपमान था और विदेश मन्त्री सरदार स्वर्णसिंह को कहना पड़ा कि भविष्य में श्री शास्त्री अपनी सुविधा देखकर ही निमन्त्रण स्वीकार करेंगे।

पहले कच्छ के रन में और फिर सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान द्वारा अमेरिकी शस्त्रास्त्रों के प्रयोग से भारत-अमेरिका के सम्बन्धों में अधिक कटुता उत्पन्न हो गई। युद्धकाल में भी अमेरिका का रुख बहुत कुछ भारत-विरोधी रहा। भूतपूर्व रक्षा उत्पादन उपमन्त्री श्री ललित नारायण मिश्र द्वारा अक्तूबर, 1970 में किए गए एक रहस्योद्घाटन के अनुसार सन् 1965 में भारत-पाक युद्ध ˆ दौरान अमेरिका ने अपने 6 जहाजों को, जिनमें भारत के लिए रक्षा सामग्री ˆ भारतीय तट से मात्र 15 मील की दूरी से वापस लौटा लिया। यही नहीं ...रि ने न तो पाकिस्तान को अमेरिकी सैन्य सामग्री का प्रयोग करने से रोका ...

उसकी इस कार्यवाही की निन्दा की। इससे भी बढकर आश्चर्य की बात यह हुई कि जब सन् 1966 मे पाकिस्तान ने चीन से घनिष्ठ मैत्री स्थापित कर ली और चीन से विशाल मात्रा में सैनिक सहायता भी प्राप्त की, तो भी अमेरिकी प्रशासन के पाक-समर्थक रुख में कोई परिवर्तन नहीं आया।

फिर भी, दोनों देशों के सम्बन्धों मे सुधार के प्रयत्न जारी रहे और इसके कुछ सुपरिणाम भी दृष्टिगोचर हुए। एक तो अमेरिका ने यह निर्णय किया कि भारत को खाद्यान्न की सहायता पुन: चालू की जाएगी। दूसरे अमेरिका ने ताशकंद सम्मेलन को आघात पहुँचाने की कोई कार्यवाही नही की।

गाँधी-काल में भारत-अमेरिकी सम्बन्ध (1966–मार्च, 1977)

10 जनवरी, 1966 को श्री शास्त्री के देहान्त के बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की प्रधान मन्त्री बनीं। राष्ट्रपति जॉनसन ने नए प्रधान मन्त्री से अनुरोध किया कि वह शीघ्र ही अमेरिका यात्रा का कार्यक्रम बनाएँ। यह आशा की जाने लगी कि दोनो देशों के बीच मैत्री के नए युग का सूत्रपात होगा, लेकिन अमेरिका की दबाव-नीति ने इस आशा को धूमिल कर दिया। जॉनसन-प्रशासन-काल में दोनों देशों के बीच मतभेद जारी रहे और निक्सन-युग मे तो चरम सीमा तक पहुँच गए।

मार्च, 1966 में श्रीमती गाँधी ने अमेरिका की यात्रा की, किन्तु अनुकूल कोई परिणाम नहीं निकले। अमेरिकी प्रशासन का प्रयत्न रहा कि भारत की आर्थिक कठिनाइयों से लाभ उठाकर नए प्रधान मंत्री को अमेरिका की ओर झुकने पर विवश किया जाए। जॉनसन-प्रशासन ने अपनी दबाव-नीति में उत्तरोत्तर वृद्धि की। खाद्यान्न के मामले में कैनेडी के चार-वर्षीय सहायता-कार्यक्रमों को पुनः लागू नहीं किया गया। उसके स्थान पर अल्पकालीन कदम उठाने की नीति अपनाई गई। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए भी प्रत्यक्ष रूप से दबाव डाला गया। भारत-पाक युद्ध काल में बन्द की गई आर्थिक सहायता यद्यपि पुन: चालू कर दी गई, तथापि यह निराशाजनक थी। कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान की पीठ थपथपाई जाती रही और अप्रेल, 1967 में नागा विद्रोही फिजो को अमेरिका में शरण दी गई। अमेरिकी रक्षा-सचिव मैकनमारा ने भारत-पाक संघर्ष को हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की संज्ञा दी और भारत को अपना विरोध प्रकट करना पडा। सन् 1967 में यह भी रहस्योद्घाटन हुआ कि भारत ने अनेक संगठनो के माध्यम से सी. आई. ए. (अमेरिकी जासूसी विभाग) अपनी भारत-विरोधी कार्यवाही कर रहा था। सन् 1968 मे भारत को अमेरिका की ओर से जो सहायता राशि स्वीकृत की गई वह पिछले 20 वर्षों में सबसे कम थी। अमेरिकी सहायता में कटौती से भारत की आर्थिक योजनाओं पर बुरा प्रभाव पडने लगा, लेकिन श्रीमती गाँधी ने घुटने टेकने से इनकार कर दिया। सन् 1969–70 का वर्ष भारत-अमेरिकी सम्बन्धों में एक प्रकार से शीत-युद्ध का वर्ष था। वियतनाम के प्रश्न पर दोनों में तनाव बढ गया। भारत सरकार ने अमेरिका की अप्रसन्नता की परवाह न कर जनवरी, 1970 में उत्तर

वियतनाम के साथ पूर्ण दौत्य सम्बन्धों की घोषणा कर दी। फरवरी, 1970 में भारत सरकार के एक आदेश के फलस्वरूप अमेरिका को बंगाल और हैदराबाद, लखनऊ, पटना तथा तिरुअनन्तपुरम के अपने सांस्कृतिक केन्द्र बन्द कर देने पड़े। भारत का यह कदम जिनेवा समझौते के नियमों के अनुकूल था जिसमें सभी दूतावासों को उन नगरों में अपने सांस्कृतिक केन्द्रों को बन्द करने का आदेश दिया गया था जहाँ उनके उप-दूतावास नहीं थे। लगभग इसी समय कम्बोडिया में अमेरिकी सेनाओं के प्रवेश का भी भारत द्वारा विरोध किया गया। अगस्त, 1970 में भारत ने 'यूनाइटेड नेशंस एटलस 20' नामक प्रकाशन की ओर अमेरिकी दूतावास का ध्यान आकर्षित करते हुए इस बात पर विरोध प्रकट किया कि भारतीय क्षेत्र से जम्मू-कश्मीर को हटा दिया गया है। दोनों देशों के बीच तनाव इतना बढ़ गया कि जब श्रीमती गाँधी न्यूयार्क यात्रा पर रवाना हुई तो अमेरिकी राजदूत हवाई अड्डे पर उन्हें विदा करने नहीं पहुँचा। न्यूयॉर्क हवाई अड्डे पर भी भारतीय प्रधान मन्त्री के स्वागत के लिए कोई अमेरिकी वरिष्ठ अधिकारी उपस्थित नहीं था। इस स्थिति में स्वभावतः श्रीमती गाँधी ने राष्ट्रपति निक्सन का वाशिंगटन आने का निमन्त्रण ठुकरा दिया और सीधी भारत लौट आई।

सन् 1971 का वर्ष दोनों देशों के सम्बन्धों में विस्फोटक रहा। पाकिस्तानी अत्याचारों से पीड़ित लगभग एक करोड़ शरणार्थियों के भरण-पोषण का भार भारत पर आ पड़ा। पाकिस्तान का भारत पर यह अप्रत्यक्ष आक्रमण था जिसने देश की आर्थिक व्यवस्था पर भार ला टपका। भारत और विश्व के अनेक देशों के अनुरोध के बावजूद अमेरिका ने इस मानवीय समस्या की ओर से आँखें बन्द कर लीं। पाकिस्तान को सैनिक तथा अन्य सहायता प्राप्त होती रही। जब अगस्त, 1971 में भारत और रूस के बीच मैत्री सन्धि हो गई तो अमेरिकी विदेश नीति को काफी धक्का लगा। दिसम्बर, 1971 में भारत-पाक युद्ध काल में सुरक्षा परिषद् में अमेरिका ने भारत-विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किए जो सोवियत वीटो के कारण निरस्त हो गए। अमेरिका ने 'युद्ध-पोत राजनय' की चाल चलकर अपने सातवें बेड़े को बंगाल की खाड़ी में भेजा ताकि बंगलादेश में घिरी पाक फौजों को सहायता प्रदान की जा सके तथा भारत को सैनिक दबाव द्वारा आतंकित किया जा सके। किन्तु अमेरिकी कूटनीति बुरी तरह असफल हुई। हिन्दमहासागर में रूसी नौ-सैनिक बेड़े ने अमेरिका को सचेत कर दिया कि यदि उसने भारत के विरुद्ध नौ-सैनिक कार्यवाही की तो रूस केवल दर्शक मात्र नहीं रहेगा। अमेरिका ने भारत की आर्थिक सहायता रोक दी, किन्तु भारत ने अपने विकास कार्यक्रमों में ढील नहीं आने दी। सन् 1972 के प्रारम्भ में अपनी फ्रांस-यात्रा के समय श्रीमती गाँधी ने वहाँ के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री पियरे मेंडीज से कहा—

"आज संयुक्तराज्य अमेरिका कहता है कि यह हमें आर्थिक सहायता नहीं देगा, कोई बात नहीं। हमें आर्थिक सहायता की जरूरत नहीं और अगर जरूरत होगी तो भी हम यह सहायता अपनी आजादी को खतरे में डाककर नहीं लेंगे। ६

अपनी आजादी को हर कीमत पर कायम रखेंगे। लेकिन हम उन पर निर्भर नहीं करते जो हथियार उन्होंने हमें दिए। उनकी हमने पूरी कीमत चुका दी है।"

फरवरी, 1972 में राष्ट्रपति निक्सन ने कांग्रेस को दिए गए वार्षिक विदेश नीति सन्देश में कहा—"अमेरिका भारत से आर्थिक और राजनीतिक मामलों पर बातचीत के लिए तैयार है, किन्तु उसकी रुचि इस बात में है कि दक्षिण एशिया का यह शक्तिशाली देश अपने पड़ोसियों के प्रति कैसा रवैया अपनाता है।" निक्सन के इस वक्तव्य की भारत में प्रतिकूल प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। भारत सरकार के प्रवक्ता ने कहा कि निक्सन झूठे आरोप दुहराकर दुनिया को बतलाना चाहते हैं कि भारत एक शक्तिशाली देश बनकर पड़ोसियों को दबाना चाहता है। भारत-सोवियत सन्धि के सन्दर्भ में निक्सन की यह भारत को एक प्रकार से धमकी थी जिसमें संकेत दिया गया था कि अमेरिका और भारत के सम्बन्धों में सुधार तभी हो सकता है जब भारत ने सभी महाशक्तियों के साथ समान सम्बन्ध स्थापित करने को सहमत हो अर्थात् सोवियत संघ के साथ भारत के कोई विशेष सम्बन्ध न हों। 21 फरवरी को अमेरिका ने पाकिस्तान का आर्थिक और सैनिक सहायता फिर से शुरू किए जाने की चर्चा की। आर्थिक सहायता पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। लेकिन सैनिक सहायता का अर्थ भारतीय उपमहाद्वीप में पुनः अशान्ति को बढ़ावा देना था। इसके तुरन्त बाद ही निक्सन पीकिंग गए और निक्सन-चाऊ वार्ता के सन्दर्भ में श्रीमती गाँधी ने चेतावनी दी कि यदि अमेरिका और चीन ने एशिया के भविष्य के बारे में कोई निर्णय किया तो उसे अन्य एशियाई देश स्वीकार नहीं करेंगे। श्रीमती गाँधी ने कहा कि यदि अमेरिका-चीन वार्ता शान्ति के लिए हो रही है तो स्वागत योग्य है, लेकिन हमें आशंका है कि इस वार्ता का उद्देश्य एक नए शक्ति गुट का निर्माण करना है। वियतनामी जनता ने सिद्ध कर दिया कि बड़ी शक्तियों द्वारा छोटे राष्ट्रों के भाग्य-निर्णय का सिद्धान्त अब पुराना पड़ चुका है। निक्सन-यात्रा की समाप्ति पर प्रसारित संयुक्त विज्ञप्ति में पाकिस्तानी क्षेत्र से भारतीय सेना की वापसी और जम्मू-कश्मीर की जनता के 'आत्म-निर्णय के अधिकार' की माँग की गई। यह भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप जैसी बात थी, अतः संयुक्त विज्ञप्ति पर भारत ने अपना विरोध व्यक्त कर दिया।

मार्च, 1973 में जब यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निश्चय कर लिया है तो भारत में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार की सम्भावना बहुत कम हो गई। सन् 1973–74 में ईरान को विशाल मात्रा में शस्त्रास्त्र देने की योजना मई, 1973 में प्रकट हुई। भारत ने इस पर चिन्ता प्रकट की क्योंकि सन् 1971 के युद्ध के पश्चात् पाकिस्तान ने ईरान के साथ अपनी मित्रता बढ़ानी शुरू कर दी थी और ईरान ने हर प्रकार से इसकी सहायता का समर्थन भी किया था। दिसम्बर, 1973 में सोवियत नेता ब्रेझनेव की भारत-यात्रा से अमेरिका में यह चिन्ता बलवती हो गई कि यदि भारत-[illegible] सम्बन्धों में सुधार न लाया गया तो अमेरिका को महान् लोकतान्त्रिक देश

की सहानुभूति से हाथ धोना पड़ सकता है। अतः भारत के प्रति कुछ अनुकूल रवैया अपनाया जाने लगा। 13 दिसम्बर, 1973 को पी. एल. 480 के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ। पी. एल. 480 तथा कुछ अन्य ऋणों की मद में भारत द्वारा अमेरिका को 24 अरब रुपये देने थे। समझौते के अनुसार अमेरिका ने 16 अरब 68 करोड़ रुपये पाँचवीं योजना के लिए भारत को अनुदान के रूप में प्रदान कर दिए और शेष रुपया अमेरिकी दूतावास के खाते में तथा नेपाल की सहायता के लिए छोड़ दिया गया। पी एल. 480 की वास्तविकता को देखते हुए अमेरिका का यह कोई अहसान नहीं था, तथापि दोनों देशों के बीच सम्बन्ध-सुधार की दिशा में यह एक शुभारम्भ अवश्य था।

अमेरिका द्वारा हिन्दमहासागर में स्थित ब्रिटिश अधिकृत टापू डियागो गार्सिया में अपना नौ-सैनिक अड्डा स्थापित करने के निर्णय से सन् 1974 में भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में सुधार के प्रयत्नों को पुनः आघात पहुँचा। श्रीमती गाँधी ने इस निर्णय की भर्त्सना की और इसे शान्ति के लिए खतरा बताया। उन्होंने कहा कि हिन्दमहासागर में नौ-सैनिक तथा परिमाणु-अड्डा स्थापित करने का निर्णय संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव के विपरीत है जिससे केवल तनाव में वृद्धि होगी और एशिया में अशान्ति बढ़ेगी। 18 मई, 1974 को एक सफल भूगर्भीय आणविक परीक्षण द्वारा जब भारत परमाणु बिरादरी का छठा देश बन गया तो अमेरिका सहित पश्चिमी देशों की बहुत प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। इससे भी दोनों देशों के बीच तनाव में वृद्धि हुई।

अगस्त, 1974 मे निक्सन के स्थान पर जेराल्ड फोर्ड अमेरिका के राष्ट्रपति बने और यह आशा की गई कि नया नेतृत्व भारत के प्रति सहयोग और मैत्री की नीति अपनाएगा। लेकिन कुछ ही समय में स्पष्ट हो गया कि फोर्ड ने भी निक्सनी रवैया ही अपनाया था। फरवरी, 1975 में अमेरिका ने पाकिस्तान को हथियार देने की निश्चित घोषणा कर दी और भारत को वही पुराना घिसापिटा आश्वासन दिया कि इन हथियारों का प्रयोग भारत के विरुद्ध नहीं किया जाएगा। भारत सरकार ने इसे अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही मानते हुए स्पष्ट कर दिया कि भारत की प्रतिरक्षा नीति इन थोथे आश्वासनों से प्रभावित नहीं हो सकती क्योंकि भूतकाल में पाकिस्तान ने अमेरिकी हथियारों का हर बार भारत के विरुद्ध उपयोग किया है। अप्रेल, 1975 में कम्बोडिया और वियतनाम से अमेरिका के पलायन ने सिद्ध कर दिया कि हिन्द-चीन के प्रति भारत की नीति ठोस थी और अमेरिका का इस प्रश्न पर भारत-विरोध निरर्थक था। यदि अमेरिका वियतनाम में सैनिक हस्तक्षेप न करता अथवा वहाँ से पहले ही हट जाता तो न तो वियतनाम युद्ध इतना लम्बा खिंचता और न अमेरिकी विदेश नीति को ऐसा धक्का लगता।

मतभेदों के बावजूद परिपक्व एवं रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए भारत-अमेरिका के बीच आदान-प्रदान का क्रम सन् 1975 में चालू रहा। आमतौर पर यह

गया कि दृष्टिकोण, प्राथमिकता और समस्यागत अन्तर के बावजूद दोनों देशों के बीच राष्ट्रीय हित के स्तर पर कोई विवाद नहीं है और शान्ति, स्थिरता तथा सहयोग को सुदृढ करने के लिए वे निःसन्देह बहुत कुछ कर सकते हैं। विभिन्न क्षेत्रों मे द्विपक्षीय आदन-प्रदान के लिए एक संस्थात्मक ढांचा बनाने की प्रक्रिया भी जारी रही और इस दिशा मे कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए। अक्तूबर, 1975 में भारत के विदेश मन्त्री ने अमेरिका की यात्रा की और भी कई सरकारी प्रतिनिधि-मण्डल अमेरिका गए। अमेरिका से भारत की यात्रा पर आने वालों में प्रमुख थे वित्त मन्त्री विलियम शाइमस और सिनेटर जॉर्ज मेकगवर्न। सन् 1975 की विशेष उल्लेखनीय बात थी भारत-अमेरिकी संयुक्त आयोग की वार्षिक बैठक में शामिल होने के लिए तथा अमेरिकी विदेश मन्त्री से बातचीत करने के लिए हमारे विदेश मन्त्री का वाशिंगटन जाना। इस बातचीत में तथा बाद में राष्ट्रपति फोर्ड और दूसरे अमेरिकी नेताओं के साथ बातचीत में विदेश मन्त्री ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार-विमर्श किया और इस बात पर जोर दिया कि भारत की नीति भारतीय उपमहाद्वीप में शान्ति और स्थिरता के संवर्द्धन की है। उन्होने यह भी स्पष्ट किया कि भारत किस प्रकार प्रभुसत्तात्मक सम्मान और पारस्परिक समानता के आधार पर अपने पड़ोसियों के साथ पारस्परिक सहयोग एवं सम्बन्ध विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है तथा भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति, एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के सृजन के प्रति उसका समर्थन तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों के आर्थिक, वित्तीय, ऊर्जा, खाद्य एवं सम्बद्ध समस्याओं के प्रति एक रचनात्मक दृष्टिकोण तैयार करने में उसकी क्या भूमिका है। इस उपमहाद्वीप में हथियारों की होड़ के खतरे के प्रति और हिन्दमहासागर को एक शान्ति-क्षेत्र बनाए रखने की आवश्यकता पर भी संयुक्तराज्य अमेरिका का ध्यान आकर्षित किया गया। जहां तक द्विपक्षीय सम्बन्धों का प्रश्न है हमारे विदेश मन्त्री ने भारत की इच्छा की पुनः पुष्टि की कि भारत अमेरिका के साथ पारस्परिक समानता, सम्मान और समझबूझ के आधार पर अच्छे सम्बन्ध चाहता है। राष्ट्रपति फोर्ड और विदेश मन्त्री कीसिंगर दोनो ने शान्ति और गुट-निरपेक्षता के क्षेत्र मे भारत की भूमिका को स्वीकार किया।

दोनों देशो के सम्बन्धों में रचनात्मक सुधार की प्रक्रिया सन् 1976 में भी आगे बढी। भारत ने अमेरिका के साथ समझौता और सहयोग वृद्धि के प्रयत्न चालू रखे। ऐसा महसूस हुआ कि भारत तथा अमेरिका के बीच बहुत कुछ ऐसा था कि दोनों देश शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को सुदृढ करने के लिए प्रयत्न कर सकते थे। भारत-अमेरिका सम्बन्धों में कुछ निश्चयात्मक तत्त्व था दोनों देशों की अपने द्विपक्षीय सम्बन्धों को सुदृढ़ करने, व्यावसायिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में सुधार करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं पर विचारों का आदान-प्रदान करने की इच्छा। समस्त विश्व में तनाव दूर कर, सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृति की दृष्टि से इस बात की आशा की गई कि भारत-अमेरिकी सम्बन्ध भी समानता तथा पारस्परिक मैत्री के आधार पर विकसित और सौहार्दपूर्ण होंगे। इस दौरान दोनो देशों के मन्त्री तथा पदाधिकारियों ने एक दूसरे देश की यात्राएँ कीं।

व्यापार-परिषद् ने, जिसकी बैठक फरवरी, 1977 में वाशिंगटन में हुई थी, इस बात का निर्देश किया कि भारत और अमेरिका के बीच वाणिज्यिक सम्बन्ध दोनों देशों में संयुक्त रूप से व्यापारिक और औद्योगिक सहयोग की वृद्धि द्वारा सुदृढ़ किए जा सकते हैं। परिषद् ने अमेरिका को भारत के साथ व्यापार-सम्बन्धों की सम्भावना से अवगत कराने के लिए कार्यवाही करने का निर्णय लिया। संयुक्तराज्य अमेरिका की स्वतन्त्रता की 200वीं वर्षगाँठ के अवसर पर भारत ने कई कदम उठाए जैसे—उस दिन भारत सरकार ने एक विशेष टिकिट जारी किया, गत 200 वर्षों में भारत-अमेरिकी सम्बन्धों पर एक सचित्र पुस्तक प्रकाशित की और भारत की मैत्रीपूर्ण भावनाओं को अमेरिका की जनता तक पहुँचाने के लिए एक सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डल अमेरिका भेजा। दिवंगत राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद की अन्त्येष्टि पर राष्ट्रपति कार्टर ने अपनी माता श्रीमती लिलियन कार्टर के नेतृत्व में एक विशेष प्रतिनिधि-मण्डल भेजकर सद्भावना व्यक्त की।

देसाई सरकार और अमेरिका (अप्रेल, 1977—दिसम्बर, 1979)

अमेरिका ने भारत मे शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रात्मक तरीके से निष्पक्ष और मुक्त चुनाव द्वारा सरकार बदलने की प्रशंसा की। मई, 1977 मे भारत के वित्त मन्त्री श्री एच. एम. पटेल ने अमेरिका की यात्रा की जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के माध्यम से भारत को अमेरिकी सहायता प्राप्त होने के संकेत मिले। अमेरिका ने एक तरफ पाकिस्तान को ए–7 बमवर्षक देने की घोषणा की तथा दूसरी ओर भारत को जाने वाली यूरेनियम सप्लाई पर प्रतिबन्ध हटा लिया। हिन्दमहासागर के विसैन्यीकरण के बारे मे श्री कार्टर ने सोवियत संघ के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि रूस के इस क्षेत्र से हटने पर अमेरिका भी हट जाएगा। जनवरी, 1978 मे राष्ट्रपति कार्टर और श्रीमती कार्टर ने भारत यात्रा की। दोनों पक्षों में इस बात पर सहमति पाई गई कि अपनी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नीतियाँ स्वयं निर्धारित करने का प्रत्येक राष्ट्र को अधिकार है। दोनो पक्षो ने परस्पर यह वचन दिया कि दूसरों के साथ अपने विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाया जाएगा और नाभिकीय अस्त्रो के प्रसार के खतरे को रोकने के लिए दोनों पक्ष कार्य करेंगे। भारत-अमेरिकी द्विपक्षीय सम्बन्ध, व्यापार, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में सहयोग के माध्यम से निरन्तर विकसित होते रहे। अमेरिका भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार बना रहा। जून, 1978 मे प्रधान मन्त्री देसाई ने अमेरिका की यात्रा की। संयुक्त विज्ञप्ति मे कहा गया कि विश्व-शान्ति के लिए हथियारों की होड़ रोकने हेतु प्रभावशाली उपाय किए जाने चाहिए। दोनों पक्षों ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि जनवरी, 1978 में राष्ट्रपति कार्टर की भारत यात्रा के समय संयुक्त घोषणा-पत्र मे जिन समान सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया था उनके आधार पर दोनों पक्षों के सम्बन्धों को जारी रखना और बढाना चाहिए। दोनों पक्षों ने स्वीकार किया कि मध्य-पूर्व की समस्याओं का व्यापक, न्यायोचित और स्थायी समाधान निकालने की तात्कालिक आवश्यकता है। अफ्रीका की समस्याओं का

समाधान बिना किसी ऐसे बाहरी हस्तक्षेप के किया जाना चाहिए जिसके कारण क्षेत्रीय संघर्ष के गम्भीर होने का खतरा हो। राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि इथियोपिया-सोमालिया विवाद की प्रादेशिक अखण्डता के ढाँचे के भीतर क्षेत्र की जनता की उचित आकांक्षाओं का सम्मान करते हुए और संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अफ्रीकी एकता संगठन के घोषणा-पत्रों में निहित सिद्धान्तों के अनुरूप शान्तिपूर्ण तरीकों से निपटाया जाना चाहिए। राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री ने अफ्रीकी जनता के आत्म-निर्णय और बहुमत शासन की उचित आकांक्षाओं के प्रति समर्थन व्यक्त किया और सभी रूपों में जातिवाद की निन्दा की। उन्होंने जिम्बाब्वे और नामीबिया की जनता के प्रभुसत्ता और स्वतन्त्र विकास के अलंघनीय अधिकारों और संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्तावों की भावना के अनुरूप अफ्रीकी बहुमत को तेजी से सत्ता सौंपे जाने को सुनिश्चित करने की आवश्यकता की पुष्टि की। दोनों पक्षों मे विश्व के औद्योगीकृत और विकासशील राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों की समीक्षा की। दोनों नेता इस बात के पक्ष में थे कि इस सम्बन्ध में अमेरिका तथा भारत के वरिष्ठ अधिकारियों तथा अन्य विकसित तथा विकासशील देशों के बीच और विचारों का आदान-प्रदान होना चाहिए। इस तरह के आदान-प्रदान से विकसित और विकासशील दोनों ही प्रकार के देश विश्वव्यापी आर्थिक प्रणाली के न्यायपूर्ण संचालन के बारे में समान हितों और जिम्मेदारियों के सम्बन्ध में सद्भाव बढ़ा सकते हैं।

विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने 20–25 अप्रेल, 1979 तक अमेरिका की यात्रा की। वे भारत-अमेरिकी संयुक्त आयोग की चौथी बैठक मे भाग लेने के लिए गए थे। विभिन्न क्षेत्रों में दोनों पक्षों द्वारा सहयोग का विस्तार किया गया। भारतीय विदेश मन्त्री ने अमेरिकी नेतृत्व से आग्रह किया कि श्रेष्ठ यूरेनियम की सप्लाई के वचन को अमेरिका निभाए। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि अमेरिका पाकिस्तान पर दबाव डाले कि वह हथियारों की होड़ शुरू न करे। अणुशक्ति विकसित करने के पाकिस्तान के प्रयत्नों पर दोनों देशों ने यह स्वीकार किया कि उसका उद्देश्य शान्तिपूर्ण उपयोग नही है। बातचीत के दौरान पाकिस्तानी राष्ट्रपति जनरल जिया-उल-हक के प्रस्ताव पर भी चर्चा हुई जिसमें उन्होंने कहा था कि भारत और पाकिस्तान अपने-अपने परमाणु ऊर्जा सम्बन्धी संयंत्रों का पारस्परिक निरीक्षण कराने की घोषणा करें। श्री वाजपेयी ने अमेरिकी नेताओं को यह स्पष्ट किया कि अगर पाकिस्तान अपने परमाणु कार्यक्रम के अन्तर्गत अणुशक्ति का प्रयोग गैर-शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए करने पर ही तुला हुआ है तो वैसी स्थिति में उक्त घोषणा का कोई मतलब नहीं रह जाता। इस विषय पर राष्ट्रपति जिया-उल-हक और प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई के बीच बातचीत हो सकती है। अमेरिका ने श्री वाजपेयी को यह आश्वासन दिया कि वह पाकिस्तान को अणुशक्ति विस्फोट के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने से रोकने की गम्भीर कोशिश करेगा। श्री वाजपेयी ने यह भी कहा कि भारतीय जनता दक्षिण एशिया में परमाणु अस्त्र मुक्त क्षेत्र के निर्माण के विरुद्ध उस स्थिति में है जिसमें चीन को उससे अलग रखा जाता है।

कुछ मसलों पर, विशेषतया तारापुर संयंत्र के लिए नाभिकीय ईंधन की सप्लाई के बारे में दोनों देशो में मतभेद बने रहे। इन सबका उल्लेख अमेरिका की विदेश नीति वाले अध्याय में अमेरिका-भारत सम्बन्धों के शीर्षक मे किया जा चुका है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि बावजूद मतभेदों के दोनों देश आपसी सम्बन्ध-सुधार के लिए प्रयत्नशील हैं। सितम्बर, 1980 मे अमेरिकी सेनेट द्वारा भारत को नाभिकीय ईंधन देने की स्वीकृति प्रदान करने के उपरान्त इस ईंधन (संसाधित यूरेनियम की) पहली खेप 5 अक्तूबर, 1980 को अमेरिका से विमान द्वारा बम्बई पहुँच गई और दूसरी खेप भी 9 अक्तूबर, 1980 को आ पहुँची। इस प्रकार दोनों देशों के बीच तनाव उत्पन्न करने वाला एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा लगभग समाप्त हो गया है, बशर्ते कि अमेरिकी सरकार भारत द्वारा ईंधन के लिए भेजे गए दूसरे आवेदन पर अपनी मन्जूरी दे दे जो कि पहले किए गए समझौते के अन्तर्गत है। अफगानिस्तान के मसले पर अमेरिका भारत के दृष्टिकोण को अब समझने लगा है, तथापि यह दुर्भाग्य की बात है कि अक्तूबर, 1980 के प्रथम सप्ताह में अमेरिका के एक अज्ञात अधिकारी ने भारत पर ईराक को सैनिक सहायता देने का निराधार आरोप लगाया है। इस आरोप का प्रतिवाद भारत कर चुका है। भारत के लिए ईराक और ईरान दोनो ही मित्र देश है।

भारत-अमेरिकी सम्बन्धों पर हिन्दुस्तान की टिप्पणी

भारत-अमेरिकी सम्बन्धो की वर्तमान प्रवृत्तियो पर 12 सितम्बर, 1980 के 'हिन्दुस्तान' में जो टिप्पणी है, पढने योग्य है—

"भारत और अमेरिका के बीच हाल मे तनावो में जिस प्रकार की वृद्धि हो रही है, उसका हम कोई प्रत्यक्ष कारण नही समझते। अभी कुछ दिन हुए, राष्ट्र-मण्डलीय देशो के क्षेत्रीय शिखर सम्मेलन के बाद सवाददाता सम्मेलन में एक आस्ट्रेलियाई पत्रकार के शब्दो पर कडी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए हमारी प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा था कि हम न तो अमेरिका के विरोधी हैं और न सोवियत सघ के समर्थक हैं। हम केवल भारत के समर्थक हैं। प्रधान मन्त्री के इन शब्दों मे हमारी विदेश नीति स्पष्ट है। हम हर अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर अपने देश के हित को ध्यान मे रखते हुए निर्णय लेते हैं और हमारा सबसे बड़ा हित इस बात मे है कि हमारे आस-पास के क्षेत्रो में शान्ति रहे और सभी देशो को सामाजिक-आर्थिक विकास का पूरा अवसर मिले। किन्तु कुछ देशों को हमारी यह नीति पसन्द नही है। अमेरिकी प्रतिनिधि सभा और सीनेट की वैदेशिक सम्बन्ध समितियों ने तारापुर अणु-बिजलीघर को समृद्ध यूरेनियम की सप्लाई के विरुद्ध जो मत दिया, उसका यही कारण हो सकता है। उनके इस निर्णय से दोनों देशों के बीच सम्बन्धों में तनाव ही बढ़ सकता है। भारत मे इसकी अनुकूल प्रतिक्रिया होने की आशा नही की जा सकती।

यह उल्लेखनीय है कि यूरेनियम सप्लाई के प्रश्न को लेकर अमेरिका विगत कई वर्षों से हममे कुछ ऐसी शर्तें मनवाना चाहता है, जो हमारे राष्ट्रीय गौरव के

कदापि अनुकूल नहीं। अणु-शक्ति के बारे में हमारी स्पष्ट नीति रही है कि जहाँ सैनिक उद्देश्यों के लिए उसके प्रयोग पर अन्तर्राष्ट्रीय रोक होनी चाहिए, वहाँ शान्तिपूर्ण उद्देश्य से उसके विकास की सभी राष्ट्रों को छूट रहनी चाहिए। ऐसा न होने पर अणु-शक्ति पर कुछ गिने-चुने राष्ट्रों की इजारेदारी रह जाएगी और विकासशील तथा अविकसित देश अपने विकास के लिए उसका उपयोग करने से सदा के लिए वंचित हो जाएँगे। अमेरिका चाहता है कि हम अणु-शक्ति प्रसार निषेध सन्धि पर हस्ताक्षर कर दें और शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए जाने वाले अणु-परीक्षणों को भी अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के लिए खोल दें। किसी भी देश का आत्म-गौरव उसे ऐसा करने से रोकेगा।

अमेरिका हमसे शायद इसलिए भी नाराज है कि अफगानिस्तान और कम्पुचिया पर हम उसकी नीति का अनुसरण क्यों नहीं करते। हम पर दबाव डालने के लिए उसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी गैर-समझौता भी एकपक्षीय रूप से तोड़ दिया है और वह ऐसे प्रतिबन्ध लगा रहा है जिससे अमेरिकी बाजारों में भारत का माल पहुँचना कठिन हो जाएगा। एक प्रकार से यह हमारे आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का प्रयत्न ही कहा जाएगा। कुछ क्षेत्रों का ऐसा भी विश्वास है कि हमारे देश के उत्तर-पूर्व सीमान्त क्षेत्र में जिस प्रकार असन्तोष फैलाया गया है और हाल में विभिन्न नगरों, मुरादाबाद, इलाहाबाद, अलीगढ़ आदि में जिस प्रकार साम्प्रदायिक उपद्रव भड़काए गए हैं, उनके पीछे कुछ विदेशी शक्तियों का हाथ है। इनमें अमेरिका का भी नाम लिया जा रहा है। एक संवाद समिति के अनुसार स्वयं हमारी प्रधान मन्त्री ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के छात्रों के एक प्रतिनिधि-मण्डल को कहा बताते हैं कि देश में साम्प्रदायिक उपद्रव भड़काने में अमेरिका की सी. आई. ए. संस्था प्रमुख भूमिका निभा रही है। यदि यह बात सही है तो यह एक अत्यन्त गम्भीर बात है और शायद इन्दिरा जी ने पहली बार उक्त उपद्रवों के सम्बन्ध में किसी विदेशी संस्था का नाम लिया है।

कुछ भी हो, अमेरिका और भारत दोनों ही लोकतन्त्री मूल्यों में विश्वास करने वाले विश्व के दो सबसे बड़े देश हैं। यदि अमेरिका के वर्तमान रवैये के कारण दोनों देशों के सम्बन्ध बिगड़ते हैं तो इससे लोकतन्त्री शक्तियाँ कमजोर हुए बिना नहीं रह सकतीं। उसे भारत के इस आश्वासन का सम्मान करना चाहिए उसकी विदेश नीति पड़ोसियों के साथ सद्भाव और विश्व शान्ति पर आधारित है। साथ ही उसकी अणु-नीति का उद्देश्य भी शान्तिपूर्ण विकास है, सैनिक कार्यों में उपयोग नहीं। इसी में दोनों देशों का हित है।"

भारत तथा दक्षिणी और मध्य अमेरिका

भारत तथा दक्षिणी और मध्य अमेरिकी तथा कैरेबियाई देशों के बीच विशाल भौगोलिक दूरी के बावजूद इन देशों के साथ भारत के सम्बन्धों में परस्पर सम्पर्क में वृद्धि हुई है ताकि दोनों ओर से समझ-बूझ और सहयोग बढ़ सके।

लेकिन अमेरिका को इस बात का ज्ञान हो गया है कि उसका भाग्य शेष विकासशील विश्व के साथ निकट राजनीतिक तथा आर्थिक सहयोग में ही निहित है। स्थानीय तथा क्षेत्रीय विशेषताओं के बावजूद विदेशी मामलों में अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की इच्छा काफी व्यापक रही है। इस क्षेत्र के कई देशों ने गुट-निरपेक्षता के बारे मे भारत के इस मत को स्वीकार किया कि यह आन्दोलन अर्सैनिक सम्बन्धों तथा सैद्धान्तिक अनुरूपता का प्रतीक है।

लेटिन अमेरिका तथा कैरेबियाई क्षेत्रों की यात्रा पर भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल जाते रहे हैं और वहां के प्रतिनिधि-मण्डल भारत आते रहे हैं। भारत सरकार की 1978-79 की रिपोर्ट के अनुसार कैरेबियाई और लेटिन के देशों के साथ आर्थिक और वाणिज्यिक सम्बन्ध विकसित करने पर अधिक बल दिया है चूंकि यह क्षेत्र इस बात के प्रति सजग है कि भारत एक प्रमुख औद्योगिक देश के रूप में उभर रहा है और वह प्रौद्योगिकी तथा विज्ञान सम्बन्धी सहयोग प्रदान कर सकता है, इसलिए सांस्कृतिक करारों की अपेक्षा व्यापार, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में करार पर जोर दिया गया है। भारत ने 3 नवम्बर, 1978 को डोमिनिका को मिली स्वाधीनता और उसके राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनाए जाने का स्वागत किया है।

वर्ष 1979–80 के दौरान मध्य और दक्षिणी अमेरिका के देशों के साथ भारत के जो सम्बन्ध रहे हैं, उन पर भारत सरकार की रिपोर्ट इस प्रकार है—

"भारत मध्य और दक्षिणी अमेरिका के देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रहा। इसने कैरेबियाई द्वीप, सैंट लूसिया, सैंट बिन्सेंट और ग्रेनाडिनीज द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने और हवाना शिखर सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के पूर्ण सदस्य के रूप में बोलिविया, ग्रेनाडा, सूरीनाम और निकारागुआ के प्रवेश का स्वागत किया।

निकारागुआ में जनता की एक सफल क्रान्ति के परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय पुनर्निर्माण सरकार की स्थापना हुई। भारत ने नई सरकार को अपनी शुभकामनाएं भेजीं और पुनर्निर्माण के अपने कार्यक्रम में सहायता देने की पेशकश की।

भारत ने पनामा नहर के सम्बन्ध में पनामा के लोगों की आकांक्षाओं का निरन्तर समर्थन किया। उसने संयुक्त राज्य द्वारा अक्तूबर, 1979 में नहर का नियन्त्रण पनामा को सौंपने का स्वागत किया।

भारत और क्यूबा में गुट-निरक्षेप आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं पर विशेष रूप से हवाना में गुट-निरक्षेप शिखर सम्मेलन के लिए प्रारम्भिक कार्य के सम्बन्ध मे कई बार विचार-विमर्श हुआ। क्यूबा की राज्य समिति के मन्त्री-अध्यक्ष और राष्ट्रपति कास्त्रो के विशेष दूत, डॉ. जोइलो माइनेल्लो विडोर्रेटा ने हवाना में होने वाले शिखर सम्मेलन के लिए भूतपूर्व प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई को निमन्त्रण देने के लिए अप्रैल में भारत की यात्रा की। क्यूबा राज्य परिषद के उपराष्ट्रपति डॉ. कार्लोस राफेल रोड्रीग्ज ने हवाना शिखर के घोषणा के मसौदे पर विचार-विमर्श

करने के लिए जुलाई में भारत की यात्रा की। उनकी यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच सम्बन्धो पर पुनर्विचार करने और उनमें और आगे सुधार करने का उपाय सोचने का भी अवसर मिला।

भूतपूर्व विदेश मन्त्री श्री एस. एम. मिश्र ने 'कामनवैल्थ ऑफ डोमिनिका' के तूफान पीड़ित लोगो के प्रति सहानुभूति के रूप मे दवाइयाँ और स्नापको के रूप में राहत सामग्री भेजने की घोषणा की।

इस क्षेत्र में स्थित भारतीय मिशनों ने इन देशों के साथ द्विपक्षीय और आर्थिक सम्बन्ध सुधारने के लिए काफी प्रयत्न किए। इससे औद्योगिक और प्रौद्योगिकीय उन्नति एवं योग्यता के बारे में भारत की बढ़ती हुई जानकारी का पता चलता है और बहुत से देशों ने कुछ चुने हुए विषयों में संयुक्त उद्यम स्थापित करने मे रुचि दिखाई।

लातीनी अमेरिकी देशो, विशेषतया वेनेजुएला, मैक्सिको और क्यूबा के साथ सहयोग विकसित करने की सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए कदम उठाए गए। भारत और लातीनी अमेरिकी एवं कैरेबियाई देशों के बीच अधिक आर्थिक और तकनीकी सहयोग की सम्भावनाएँ खोजने की दृष्टि से लातीनी अमेरिकी आर्थिक आयोग के सहयोग और सहभागिता से नई दिल्ली मे जून मे एक बैठक का आयोजन किया गया। भारत और अर्जेण्टीना, ब्राज़ील, चिली, कोलम्बिया, क्यूबा, गुयाना, जमाइका, मैक्सिको, पनामा, पेरू, ट्रिनिडाड और टोबागो, सूरीनाम और वेनेजुएला के प्रतिनिधियों और लातीनी अमेरिकी आर्थिक आयोग के अधिकारियो ने उस बैठक मे भाग लिया। इस बैठक में व्यापार संवर्धन के उपायो पर और सूचना के अन्तरालों को भरने के साधनों पर, पण्यो का सयुक्त विपणन, जहाजरानी, प्रौद्योगिकी और अन्य विकासात्मक कार्यक्रमों मे सहभागिता और तीसरे देशों में सयुक्त सहभागिता, परामर्श में सहयोग, प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण के पहलुओं, अनुसन्धान एव प्रशिक्षण सस्थानों के बीच सम्बन्धो की स्थापना पर विचार-विमर्श हुआ।

अनुवर्ती कार्यवाही के रूप में भारतीय इंजीनियरिंग उद्योग संघ (ए आई. ई. आई) तीसरे देशो आदि मे सयुक्त उद्यमों, परामर्शी सेवाओं, सहयोग के क्षेत्र में सहयोग की सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए एक प्रतिनिधि-मण्डल लातीनी अमेरिकी देशों में भेज रहा है।"

सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध
(Relations with Soviet Union)

स्टालिन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में भारत और रूस के सम्बन्ध कुछ तनावपूर्ण रहे, किन्तु ज्यों-ज्यो भारतीय विदेश नीति के लक्ष्य और भारत की गुट-निरपेक्षता के सही इरादे स्पष्ट होते गए, सोवियत रूस के साथ भारत के सम्बन्धों में सुधार होता गया और आज तो दोनो देश प्रगाढ़ मैत्री के बन्धन मे आबद्ध हैं।

स्टालिन-काल में भारत-रूस सम्बन्ध

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ही उपनिवेशवाद, निःशस्त्रीकरण, अणुबम,

विशेषाधिकार आदि प्रश्नों पर भारत और रूस के बीच इतना मतैक्य था कि अमेरिका के विदेश-सचिव जान फास्टर डलेस ने 18 जनवरी, 1947 को यहाँ तक कह दिया था कि—"भारत में सोवियत साम्यवाद अन्तरिम हिन्द सरकार के माध्यम से अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है।" लेकिन आने वाले समय ने सिद्ध कर दिया कि भारत न तो पूँजीवादी जगत् के शिकंजे मे है और न साम्यवाद के प्रभाव में। सन् 1947 के बाद भारत में साम्यवादी दल ने अपनी विध्वंसकारी गतिविधियाँ प्रारम्भ कर भारत सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी खतरे के विरुद्ध सचेत कर दिया। यूनान और कोरिया के प्रश्नों पर भारत और रूस में कुछ मनमुटाव उत्पन्न हुआ। इसी समय भारत द्वारा ब्रूसेल्स-सन्धि को स्वीकृति प्रदान कर देने से दोनों के सम्बन्ध और भी बिगड़ गए। अप्रेल, 1949 में सोवियत प्रेस ने भारत सरकार पर आरोप लगाया कि वह ब्रिटिश और अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ साँठगाँठ कर रही है।

भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को 'निर्बल अवसरवादी नीति' का ही प्रतिरूप समझा गया। फिर नवोदित भारत अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से पश्चिमी देशों, विशेष रूप से ब्रिटेन और अमेरिका के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाए रखना आवश्यक समझता था। भारत के पश्चिमी देशों के साथ सहयोग स्थापित करने के प्रयत्न सोवियत रूस की आलोचना के विषय बने, किन्तु सन् 1949 के अन्त तक भारत और रूस के सम्बन्धों में सुधार होने लगा। श्री नेहरू पश्चिम के साथ मैत्री-सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए भी रूस की भ्रांतियों को दूर करने का प्रयत्न करते रहे। पश्चिम की अप्रसन्नता की परवाह न करते हुए साम्यवादी चीन को मान्यता देकर श्री नेहरू ने भारत की स्वतन्त्र विदेश नीति का परिचय दिया। मास्को में भारतीय राजदूत डॉ. राधाकृष्णन के सद्प्रयासों से दिल्ली-मास्को के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के विकास में बहुत सहायता मिली। सन् 1949 में ही दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक समझौता सम्पन्न हुआ।

इस बढ़ती हुई मैत्री को जून, 1950 मे कोरिया-युद्ध छिड़ने पर झटका लगा। भारत न्याय और निष्पक्षता के पक्ष में था, अतः उसने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने में कोई संकोच नही किया। इससे सोवियत संघ में भारत के प्रति रोष पैदा हो गया, किन्तु जब कोरिया-समस्या के अग्रिम चरण में भारत ने संयुक्तराष्ट्र संघीय सेनाओं को 38वीं अक्षांश रेखा पार करने तथा चीन को आक्रमणकारी घोषित करने के विरुद्ध चेतावनी दी तो स्टालिन को विश्वास हो गया कि भारत की निर्णय-शक्ति स्वतन्त्र है, पश्चिम के दबाव से प्रेरित नहीं। इस घटना से दोनों के बीच मतभेद पुनः कम हुए। दोनों देश एक-दूसरे के निकट तब और अधिक आए जब सितम्बर, 1951 में भारत ने जापानी शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया क्योंकि यह सन्धि जापान को साम्राज्यवादी शिकंजे में जकड़ने की एक चाल थी। अप्रेल, 1952 में रूस के लौह-शासक स्टालिन ने भारतीय राजदूत डॉ. राधाकृष्णन से भेंट की। यह भेंट इस

विशेष महत्त्वपूर्ण थी कि पिछले दो वर्षों में स्टालिन किसी भी राजदूत से नहीं मिला था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस भेंट को भारत रूस सम्बन्धों में सुधार का प्रतीक माना गया। दिसम्बर, 1952 मे कोरिया के युद्धबन्दियों के प्रश्न पर दोनों देशों के बीच पुनः अल्पकालीन मतभेद पैदा हो गए।

ख्रुश्चेव–काल में भारत-रूस सम्बन्ध

मार्च, 1953 में स्टालिन का देहान्त हो गया। इसके बाद सोवियत शासन की बागडोर पहले मोलेंकोव और फिर बुल्गानिन-ख्रुश्चेव के हाथों में आई। इस काल में अमेरिका ने भारत द्वारा कोरिया के राजनीतिक सम्मेलन में भाग लेने का विरोध किया जिससे रूस और भारत के सम्बन्धो मे अधिक प्रगाढ़ता आई। रूस ने पाकिस्तान को दी जाने वाली सैनिक सहायता का विरोध करके भी भारत की सद्भावना अर्जित की। सन् 1954 में रूस ने 'पंचशील' के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की। दूसरी ओर अमेरिका ने साम्यवाद का प्रसार रोकने के नाम पर सैनिक सगठनों का जो जाल बिछाया, उसकी भारत द्वारा कटु आलोचना की गई। इन घटनाओं से भारत और सोवियत संघ के सम्बन्ध और भी मधुर हो गए। जून, 1955 में श्री नेहरू ने सोवियत संघ की यात्रा की तथा रूसियों को अपने सह-अस्तित्व की विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित किया। संयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया कि दोनों देशों के सम्बन्ध पहले से ही मैत्री और सहिष्णुता पर आधारित हैं तथा भविष्य में भी पंचशील द्वारा निर्देशित होते रहेंगे। सन् 1955–56 में श्री बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। सन् 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद शायद पहली बार कोई रूसी प्रधान मन्त्री सद्भावना-यात्रा पर इस प्रकार अपने देश से बाहर निकला था। रूसी नेताओं की यह यात्रा भारत की असलग्नता की नीति के लिए बहुत सम्मानजनक बात थी। अपनी इस भारत-यात्रा के समय सोवियत नेताओं ने सार्वजनिक रूप से इस बात का समर्थन किया कि गोआ भारत का अभिन्न अंग है।

उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों पर दोनों देशों के दृष्टिकोण समान रहे। सन् 1955 में हंगरी की घटना पर दोनों देशों के सम्बन्धों में कुछ तनाव पैदा हुआ, क्योंकि हंगरी मे की गई सोवियत सैनिक कार्यवाही का भारत मे विरोध हुआ, लेकिन यह तनाव अल्पकालिक ही रहा। इससे दोनों देशों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में कोई विशेष बाधा उत्पन्न नहीं हुई। सन् 1955 के बाद से ही दोनों देशों के बीच आर्थिक सम्बन्ध भी विकसित होने लगे। कश्मीर-विवाद पर सोवियत संघ भारत को खुला समर्थन देता रहा और सुरक्षा-परिषद् में पश्चिमी राष्ट्रों के भारत-विरोधी प्रस्तावों पर 'वीटो' का प्रयोग करता रहा। निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में भी दोनों देशों के दृष्टिकोण में काफी समानता रही। सन् 1959 और 1960 में महासभा के अधिवेशनों में भारत ने निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी रूसी प्रस्तावों का समर्थन किया। सन् 1962 में गोआ-विलय के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् द्वारा भारतीय कार्यवाही पर निन्दा का प्रयत्न 'रूसी वीटो' के प्रयोग द्वारा ही विफल हुआ।

अक्तूबर, 1962 में चीनी आक्रमण के आरम्भ में रूसी दृष्टिकोण भारत के लिए निराशाजनक था। 25 अक्तूबर, 1962 के 'प्रावदा' के सम्पादकीय लेख में खुले रूप से चीन की 24 अक्तूबर वाली शर्तों का समर्थन किया गया था। यह एक प्रकार से बिना भारत की निन्दा किए चीन के पक्ष का समर्थन था। इतना ही नहीं रूस ने भारत को मिग विमानों की सप्लाई रोक दी। इन सब बातों से भारत मे रूस के प्रति प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं का ज्वार-सा आ गया, किन्तु भारत सरकार का यह विश्वास कायम रहा कि वस्तु-स्थिति का ज्ञान होने पर रूस चीन का पक्षपोषण नही करेगा, और हुआ भी यही। धीरे-धीरे भारत पर चीनी आक्रमण के सम्बन्ध में सोवियत दृष्टिकोण बदलने लगा और दिसम्बर, 1962 में तो सुप्रीम सोवियत मे ख्रुश्चेव ने भारत पर चीनी हमले की खुली निन्दा की। सन् 1963 में चीन द्वारा कोलम्बो प्रस्ताव ठुकरा दिए जाने पर भी रूस ने चीन की कटु आलोचना की। भारत को मिग विमानों की सप्लाई की गई और मिग विमानों का एक कारखाना भी भारत में स्थापित किया गया। जुलाई, 1963 मे सोवियत रूस से प्राप्त होने वाली सैनिक सहायता की सम्भावनाओं पर विचार करने के लिए भारत की ओर से एक मिशन सोवियत सघ गया। 4 नवम्बर, 1963 के एक समझौते के अनुसार भारत में तेल एव गैस की खोज तथा उन्हें विकसित करने के लिए रूस द्वारा तकनीशियनो को भेजने का निश्चय हुआ। रूस ने बोकारो कारखाना तथा एक शक्तिशाली रेडियो स्टेशन स्थापित करने मे सहायता देने का भी वचन दिया।

ब्रेझनेव-कोसीगिन काल में भारत-रूस सम्बन्ध (1974—1979)

26 अक्तूबर, 1964 को ख्रुश्चेव के पतन के बाद रूस मे ब्रेझनेव और कोसीगिन के नए नेतृत्व का उदय हुआ जो आज भी सत्तारूढ है। नए नेताओ ने सोवियत राजदूत के माध्यम से भारत को आश्वासन दिया कि उसके प्रति सोवियत नीति मे कोई परिवर्तन नही होगा, लेकिन आगामी कुछ वर्षों में भारत को रूस का वह समर्थन नही मिल सका जो ख्रुश्चेव ने दिया था। सितम्बर, 1965 में भारत-पाक संघर्ष के समय सोवियत नेतृत्व की नीति किसी न किसी प्रकार सघर्ष को शान्त करने की रही और रूस ने पाकिस्तान के कार्यों का पहले के समान विरोध नही किया। संयुक्त राष्ट्रसघ में भी उसकी नीति कुछ इसी प्रकार की रही। किन्तु पर्दे के पीछे जो कूटनीतिक खेल खेले गए उनके प्रति रूस ने खुले रूप में भारत को अपना समर्थन दिया। उदाहरणार्थ, एंग्लो-अमेरिकी गुट का यह प्रयास था कि भारत को आक्रमणकारी घोषित किया जाए और यदि ऐसा न हो तो कम से कम कश्मीर में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना भेज दी जाए, लेकिन सोवियत सघ द्वारा वीटो प्रयोग की धमकी के कारण एंग्लो-अमेरिकी सं-गुट को इस भारत विरोधी षड्यन्त्र का परित्याग करना पड़ा। जब 16 सितम्बर को चीन ने भारत को अल्टीमेटम दिया, तब भी सोवियत सरकार ने यह चेतावनी दी कि विदेशी शक्तियाँ भारत और पाकिस्तान के मामले में हस्तक्षेप कर स्थिति को और बिगाडने का प्रयास न करें। सोवियत रूस ने भारत-पाक संघर्ष के बाद से ही इस प्रकार की नीति का अनुसरण किया कि दोनों

देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम रहें और पाकिस्तान को चीनी प्रभाव से मुक्त कर अपने प्रभाव में लाया जाए तथा शनैः-शनैः इस बात के लिए तैयार किया जाए कि वह भारत-विरोधी रुख छोड़ दे। इसी प्रकार की नीति पर चलते हुए रूस ने जनवरी, 1966 में ताशकन्द सम्मेलन का आयोजन किया और अपने कूटनीतिक जादू से भारत और पाकिस्तान के बीच ताशकन्द समझौता सम्पन्न करा दिया।

ताशकन्द समझौते के बाद दोनों देशों के सम्बन्धों में थोड़ा-सा तनाव तब आया जब रूस ने पाकिस्तान को हथियार बेचने का निश्चय किया। सोवियत कूटनीति की यह 'नई दिशा' भारत के हितों पर विपरीत प्रभाव डालने वाली थी। जुलाई, 1968 में पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निर्णय करते समय रूस ने भारत को यह आश्वासन दिया कि पाकिस्तान को दिए गए रूसी शस्त्रों का प्रयोग भारत के विरुद्ध नहीं हो सकेगा, पर पाकिस्तानी आचरण को देखते हुए रूस के ऐसे किसी भी आश्वासन पर भारत को भरोसा नहीं हो सकता था।

सौभाग्यवश रूस शीघ्र ही समझ गया कि पाकिस्तान जैसे अस्थिर चित राष्ट्र पर विश्वास नहीं किया जा सकता, अतः कुछ ही समय बाद पाकिस्तान को रूसी शस्त्रों की सप्लाई रुक गई। इसके पश्चात् भारत-रूस के सम्बन्धों में उत्तरोत्तर विकास होता गया। बंगलादेश की समस्या पर रूस का दृष्टिकोण भारत से मिलता-जुलता रहा। रूस ने पाकिस्तान को स्पष्ट कर दिया कि वह बंगलादेश में हत्याकांड समाप्त कर समस्या का राजनीतिक हल खोजे।

भारत-सोवियत मैत्री सन्धि, 1971—9 अगस्त, 1971 को भारत और सोवियत संघ के बीच शान्ति, मैत्री और सहयोग की 20 वर्षीय ऐतिहासिक सन्धि सम्पन्न हो गई। इस सन्धि द्वारा भारत को एक महाशक्ति की ठोस मैत्री तो प्राप्त हुई ही, अपितु सोवियत संघ भी एशिया में एक प्रभावी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

यह सन्धि, जिसके दस्तावेजों का आदान-प्रदान मास्को में किया गया, प्रारम्भ में 20 वर्ष के लिए है, लेकिन कोई भी पक्ष सन्धि की अवधि समाप्त होने से 12 महीने पूर्व उसे समाप्त करने का नोटिस दे सकता है। ऐसा नोटिस न दिए जाने पर सन्धि की अवधि स्वतः हर बार 5 साल के लिए बढ़ जाएगी। इसका अर्थ यह है कि यह सन्धि स्थायी रूप से चालू रह सकती है।

सन्धि पर हस्ताक्षर के तुरन्त बाद कुछ क्षेत्रों में आरोप लगाया गया कि भारत गुट-निरपेक्षता की नीति त्याग कर सोवियत संघ के हाथों का खिलौना बन सकता है, लेकिन ये सभी आशंकाएं निर्मूल सिद्ध हुई। दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध और बंगलादेश के उदय के समय यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि भारत की स्वतन्त्र निर्णय शक्ति पर कोई भी सन्देह नहीं किया जा सकता। रूस और भारत की मैत्री-सन्धि कोई सैनिक गुटबन्दी नहीं है। सन्धि में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि भारत पर आक्रमण सोवियत संघ पर आक्रमण माना जाएगा।

सन्धि में केवल यह व्यवस्था है कि "दोनों में से किसी पर आक्रमण का खतरा उपस्थित होने पर दोनों पक्ष शीघ्र ही परस्पर विचार-विमर्श करेंगे ताकि ऐसे खतरे को समाप्त किया जाए और शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखने के लिए प्रभावकारी कदम उठाए जाएँ।" इन शब्दों में सैनिक गुटबन्दी जैसी कोई बात नहीं दिखाई देती। इससे यही प्रतीत होता है कि आक्रमण का खतरा होने पर आक्रमण के प्रतिकार का उपाय सोचा जाएगा। इसका अर्थ सैनिक सहायता भी हो सकता है पर मूल बात आक्रमण या आक्रमण की आशंका समाप्त करने की है। यदि आक्रमण समाप्त हो जाता है तो शान्ति के लिए और चाहिए भी क्या। राजनीतिक क्षेत्रों में आशा प्रकट की गई कि इस ऐतिहासिक सन्धि से भारत और सोवियत संघ न केवल एशिया और विश्व में शान्ति की स्थापना तथा जातिवाद एवं उपनिवेशवाद की समाप्ति की दिशा में पहले से अधिक सहयोग कर सकेंगे बल्कि शिक्षा, संस्कृति और व्यापार के क्षेत्र में भी दोनों के सम्बन्धों का विस्तार होगा। इस मैत्री-सन्धि को हुए छः वर्ष पूरे हो गए हैं लेकिन अभी तक ऐसा एक भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जो यह सिद्ध करे कि भारत सोवियत दबाव में काम कर रहा है या सन्धि से भारत की स्वतन्त्र-निर्णय शक्ति को आघात पहुँचा है। यह सन्धि भारत पर पाकिस्तान या अन्य किसी शत्रु देश के आक्रमण के विरुद्ध एक गारण्टी है। बहुत कुछ इस सन्धि के कारण ही अमेरिका और चीन दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध में उलझने से दूर रहे और भविष्य में भी यह सन्धि भारत और सोवियत संघ दोनों देशों के लिए शत्रुओं से एक रक्षा-कवच का काम देगी। यह समानता पर आधारित मैत्री-सन्धि है जिसकी चौथी धारा में सोवियत संघ ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वह भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति का सम्मान करता है।

भारत-पाक युद्ध 1971 पर सोवियत प्रतिक्रिया—दिसम्बर, 1971 में भारत-पाक युद्ध में सोवियत संघ ने भारत को पूर्ण समर्थन दिया। सोवियत समाचार पत्रों में श्रीमती गांधी के उस भाषण को प्रमुखता प्रदान की गई जिसमें उन्होंने पूर्वी बंगाल का संकट हल करने के लिए वहाँ से पाकिस्तानी सेना की वापसी को आवश्यक बताया था। सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ ने अमेरिका के उस प्रस्ताव पर वीटो का प्रयोग किया जिसमें युद्ध-विराम और सेनाओं की वापसी की माँग की गई थी। बदले में सोवियत संघ ने यह प्रस्ताव रखा कि पूर्वी बंगाल की समस्या का राजनीतिक समाधान निकाला जाए। वीटो के उपरान्त सोवियत सरकार ने सभी देशों से अनुरोध किया कि वे भारत-पाक संघर्ष से दूर रहें और ऐसे कदम न उठाएँ जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारतीय उपमहाद्वीप की स्थिति और भी जटिल बन जाए। संघर्ष को सीमित रखने का यह सोवियत प्रयत्न भारत के हित में था। 6 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद् की दूसरी बैठक में अमेरिका ने पुनः भारत-विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसको चीन ने पूर्ण समर्थन दिया। सोवियत संघ ने पुनः वीटो का प्रयोग कर इसे निरस्त कर दिया। भारत के पक्ष में सुरक्षा परिषद् में रूस को पुनः तीसरी बार भी वीटो का प्रयोग करना पड़ा। इस प्रकार रूसी समर्थन के कारण सुरक्षा परिषद् में

पिण्डी-पीकिंग-वाशिंगटन चाल भारत का अहित नहीं कर सकीं। युद्ध काल में भारत के श्री धर ने मास्को जाकर और सोवियत उप-विदेश मन्त्री श्री कुजनेटसोव ने भारत आकर विचार-विमर्श किया। सोवियत विदेश मन्त्री दिल्ली मे तब तक ठहरे रहे जब तक युद्ध का अन्त नही हो गया। रूस ने श्री धर और कुजनेटसोव के माध्यम से भारत सरकार को पूर्ण आश्वासन दिया कि हर दशा मे भारत की पूर्ण सहायता की जाएगी और मैत्री सन्धि के वचनो को निभाया जाएगा। जब अमेरिका का सातवाँ बेडा बगाल की खाडी की ओर रवाना हुआ तो सोवियत युद्ध-पोत भी हिन्द-महासागर की ओर चल पडे ताकि अमेरिका के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का प्रतिरोध किया जा सके। सोवियत चुनौती के कारण अमेरिका भारत के विरुद्ध 'युद्धपोत राजनय' व्यर्थ हो गया। भारत की एकपक्षीय युद्ध-विराम घोषणा का भी सोवियत सरकार ने खुले दिल से स्वागत किया। इसे शान्ति की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कदम माना गया। सोवियत संघ ने एक लम्बे वक्तव्य मे राष्ट्रो से अपील की कि वे स्थिति के सामान्यीकरण मे योग दें। 18 दिसम्बर को अपने पत्रो मे श्रीमती गांधी ने सकटकाल मे दी गई सहायता के लिए रूस के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की।

सहयोग का बढ़ता हुआ दायरा (1972–मार्च, 1977)— भारत-सोवियत मैत्री उत्तरोत्तर विकसित होती रही। बंगलादेश की समस्याओं के समाधान मे दोनों देशो ने मिल-जुलकर काम करने की नीति अपनाई। शिमला-समझौते को रूस ने अपना पूरा समर्थन दिया। अगस्त, 1972 में सुरक्षा परिषद् में संयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता के लिए जब बंगलादेश के प्रार्थना-पत्र पर विचार हुआ तो भारत और रूस ने बगलादेश को अपना पूर्ण समर्थन दिया। चीन के वीटो के कारण उस समय बगलादेश को सदस्यता प्राप्त नही हो सकी। लगभग इसी समय एक भारत-सोवियत संयुक्त आयोग स्थापित करने का निश्चय हुआ जो आर्थिक क्षेत्र मे दोनों के सहयोग को और अधिक व्यवस्थित कर सके। 2 अक्तूबर, 1972 को दोनो देशो के बीच विज्ञान और तकनीकी सहयोग सम्बन्धी समझौता हुआ। यह समझौता महत्त्वपूर्ण था क्योंकि भारत अभी तक विशेष रूप से पश्चिमी देशो से ही वैज्ञानिक और तकनीकी जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करता रहा था।

दोनों देशों मे सहयोग निरन्तर विकसित होता गया। 26 से 30 नवम्बर, 1973 तक नई दिल्ली में ब्रेझनेव-इन्दिरा की ऐतिहासिक भेंट के बाद तो अल्पकाल मे ही सम्बन्धो मे काफी घनिष्ठता आ गई। लाल किले मे आयोजित अभिनन्दन समारोह मे श्री ब्रेझनेव ने कहा—"हमारी पारस्परिक मैत्री एक पर्वतारोहण की भाँति है। हम जितने भी ऊपर चढते जाते हैं, मैत्री की नई सम्भावनाएँ खुलती जाती हैं।" ब्रेझनेव ने दिल्ली-प्रवास के समय ही 29 नवम्बर, 1973 को दोनो देशों के बीच तीन ऐतिहासिक समझौतों पर हस्ताक्षर हुए जिनके द्वारा व्यापार एवं आर्थिक सहयोग बढाने, दोनों देशों के योजना आयोगों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने तथा एक-दूसरे के सरकारी प्रतिनिधियो को विशेष सुविधाएँ सुलभ कराने की व्यवस्था की गई। सोवियत नेता की यात्रा के फलस्वरूप भारत में भिलाई और

बोकारो इस्पात कारखानों के विस्तार, मथुरा में तेल-शोधक कारखानों की स्थापना तथा मध्य प्रदेश मे तांबा परियोजना के निर्माण में सोवियत सहयोग प्राप्त हुआ। आर्थिक क्षेत्र मे दोनो देशों के बीच सहयोग का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सोवियत सहायता से भारत मे 80 से भी अधिक औद्योगिक एवं अन्य परियोजनाएँ चालू हो चुकी हैं या चालू की जा रही हैं। अक्तूबर, 1974 मे भारत-सोवियत व्यापार प्रतिनिधि-मण्डल वार्ता मास्को में हुई। वर्ष 1975-76 में भारत-रूस सम्बन्ध और विकसित हुए। कई घोषणाओं मे सोवियत नेताओ ने गुट-निरपेक्षता आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण कार्य की पुन: पुष्टि की और विश्व-शान्ति तथा सहयोग में गुट-निरपेक्षता आन्दोलन के अंशदान के महत्त्व को मान्यता दी। भारत ने हेलसिंकी मे यूरोपीय सुरक्षा एव सहयोग के शिखर-सम्मेलन के सफल समापन के लिए सोवियत सघ तथा अन्य समाजवादी देशो के महत्त्वपूर्ण योगदान का स्वागत किया और यह आशा व्यक्त की कि तनाव की भावना को स्थायी रखना तथा प्रभावी बनाने के लिए उसे विश्व के सभी भागो मे फैलाना होगा। मास्को मे दोनो देशों के बीच नवम्बर, 1975 में विदेशी कार्यालयों के बीच नियमित वार्षिक द्विपक्षीय परामर्श मे पारस्परिक हित की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर उच्चस्तरीय लाभकारी विचार-विमर्श का स्वागत-योग्य अवसर प्राप्त हुआ। अप्रेल. 1975 में सर्वोच्च सोवियत के प्रधान मण्डल के उपाध्यक्ष श्री नियाजवेकोव के नेतृत्व में एक सोवियत संसदीय मण्डल ने भारत की यात्रा की।

भारत का पहला कृत्रिम उपग्रह, आर्यभट्ट सोवियत रॉकेट वाहक की सहायता से 19 अप्रेल, 1975 को सोवियत सघ से छोड़ा गया। 1977–78 में सोवियत रॉकेट वाहक की सहायता से दूसरा भारतीय वैज्ञानिक उपग्रह छोडने सम्बन्धी समझौते पर 22 अप्रेल, 1975 को हस्ताक्षर किए गए। कृत्रिम उपग्रह तथा अन्तरिक्ष खोज के पर्यवेक्षण के द्वारा एक अन्तरिक्ष अनुसन्धान सहयोगात्मक कार्यक्रम सम्बन्धी समझौते पर नवम्बर, 1975 में कार्य शुरू किया गया। वर्ष 1975 में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी क्षेत्र में भारत-सोवियत सहयोग में भारी वृद्धि हुई। जनवरी, 1976 में दोनो देशों ने सन् 1976–77 वर्षों के लिए कृषि एव जन्तु-विज्ञान में वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग सम्बन्धी प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किए। सोवियत संघ ने दिसम्बर, 1975 में चसनाला कोयला खान दुर्घटना में अत्यन्त मूल्यवान और तात्कालिक सहायता प्रदान की। 15 अप्रेल, 1976 को दोनो देशो के बीच सन् 1976–80 की अवधि के लिए नए व्यापार-समझौते पर हस्ताक्षर हुए।

अप्रेल, 1977–दिसम्बर, 1979 तक भारत-रूस सम्बन्ध—मार्च, 1977 में ऐतिहासिक चुनाव-क्रान्ति द्वारा सत्ता परिवर्तन हुआ और जनता पार्टी की सरकार सत्ता में आई। कुछ राजनीतिक क्षेत्रो में यह आशंका व्यक्त की गई कि नई सरकार समाजवादी देशों के साथ पहले की तरह सम्बन्धो का निर्वाह करेगी, किन्तु अप्रेल, 1977 में सोवियत विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको की भारत-यात्रा और नई सरकार के

पिण्डी-पीकिंग-वाशिंगटन चाल भारत का अहित नहीं कर सके
के श्री धर ने मास्को जाकर और सोवियत उप-विदेश मन्त्री
आकर विचार-विमर्श किया। सोवियत विदेश मन्त्री दिल्ली
जब तक युद्ध का अन्त नहीं हो गया। रूस ने श्री धर और
से भारत सरकार को पूर्ण आश्वासन दिया कि हर दशा में
की जाएगी और मैत्री सन्धि के वचनों को निभाया जाएगा
सातवाँ बेड़ा बंगाल की खाड़ी की ओर रवाना हुआ तो
हिन्द-महासागर की ओर चल पड़े ताकि अमेरिका के प्रत्यक्ष
किया जा सके। सोवियत चुनौती के कारण अमेरिका भारत
राजनय' व्यर्थ हो गया। भारत की एकपक्षीय युद्ध-विराम घो
सरकार ने खुले दिल से स्वागत किया। इसे शान्ति की दिशा
माना गया। सोवियत संघ ने एक लम्बे वक्तव्य में राष्ट्रों से
के सामान्यीकरण में योग दें। 18 दिसम्बर को अपने
संकटकाल में दी गई सहायता के लिए रूस के प्रति कृतज्ञता

सहयोग का बढ़ता हुआ दायरा (1972–मार्च, 1
मैत्री उत्तरोत्तर विकसित होती रही। बंगलादेश की समस्या
देशों ने मिल-जुलकर काम करने की नीति अपनाई। शिम
अपना पूरा समर्थन दिया। अगस्त, 1972 में सुरक्षा परिष
सदस्यता के लिए जब बंगलादेश के प्रार्थना-पत्र पर विचार
ने बंगलादेश को अपना पूर्ण समर्थन दिया। चीन के वी
बंगलादेश को सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी। लगभग
सोवियत संयुक्त आयोग स्थापित करने का निश्चय हुआ जो
के सहयोग को और अधिक व्यवस्थित कर सके। 2
देशों के बीच विज्ञान और तकनीकी सहयोग सम्बन्धी
महत्त्वपूर्ण था क्योंकि भारत अभी तक विशेष रूप से पश्चि
और तकनीकी जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करता र

दोनों देशों में सहयोग निरन्तर विकसित होता ग
1973 तक नई दिल्ली में ब्रेझनेव-इन्दिरा की ऐतिहा
में ही सम्बन्धों में काफी घनिष्ठता आ गई। लाल कि
समारोह में श्री ब्रेझनेव ने कहा—"हमारी पारस्परिक मै
भाँति है। हम जितने भी ऊपर चढ़ते जाते हैं, मैत्री की न
हैं।" ब्रेझनेव ने दिल्ली-प्रवास के समय ही 29 नवम्बर,
बीच तीन ऐतिहासिक समझौतों पर हस्ताक्षर हुए जिनके
सहयोग बढ़ाने, दोनों देशों के योजना आयोगों में घनिष्ठ
तथा एक-दूसरे के सरकारी प्रतिनिधियों को विशेष
व्यवस्था की गई। सोवियत नेता की यात्रा के फलस्वरूप

एशियायी देशों द्वारा पारस्परिक विचार-विमर्श के माध्यम से समस्याओं को सुलझाने तथा मतभेदों को दूर करने में प्राप्त सफलताओं की सराहना की। संयुक्त घोषणा-पत्र में एशिया में तनाव कम करने के बारे में सोवियत विचार से उत्पन्न एशियायी स्थायित्व की कल्पना को ज्यों का त्यों स्थान दिया गया। कहा गया कि दोनों ही पक्ष यह मानते हैं कि एशिया में शान्ति और स्थायित्व के लिए विभिन्न एशियायी देशों के बीच परस्पर हितकारी सहयोग का विकास किया जाना चाहिए।

जैसाकि सोवियत संघ की विदेश नीति में भारत-सोवियत संघ सम्बन्ध में बताया जा चुका है, वर्ष 1978 में दोनों देशों के पारस्परिक आदान-प्रदान में और बढ़ोत्तरी हुई। रक्षा मन्त्री श्री जगजीवनराम ने मई, 1978 में सोवियत संघ की यात्रा की और सितम्बर, 1978 में विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी रूस गए। मार्च,1979 में सोवियत प्रधान मन्त्री श्री कोसीगिन भारत यात्रा पर आए। श्री कोसीगिन की इस यात्रा में अन्तर्निहित कूटनीतिक पहलुओं का मूल्यांकन करते हुए मार्च, 1979 के दिनमान में जो सम्पादकीय टिप्पणी की गई, वह पठनीय है—

"नौ मार्च, *1979* से शुरू हुई रूस के प्रधान मन्त्री *अलेक्सी कोसीगिन* की एक सप्ताह की भारत यात्रा के अन्त में जो विज्ञप्ति प्रकाशित की गई है उसमें चीन द्वारा वियतनाम पर किए गए आक्रमण के सिलसिले में रूस की बजाय भारत की भाषा में यह माँग की गई है कि चीन तुरन्त, बिना शर्त और पूरी तौर पर वियतनाम की धरती से वापस हटे। अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक था और इसमें भारतीय राजनेताओं की बुद्धिमानी झलकती है। लेकिन जैसा कि अब और अधिक साफ हो गया है दक्षिण पूर्वेशिया की समस्या का कोई तात्कालिक हल निकलने वाला नहीं है। इस बात के संकेत मिल रहे हैं कि अपनी फौजें वापस लौटाता हुआ चीन वियतनाम के उन क्षेत्रों को मुक्त नहीं करेगा जिन पर उसने अपना दावा किया था। इस तरह एक तरफ वह वियतनाम पर एक राजनीतिक और सैनिक दबाव रखेगा दूसरी तरफ एशिया में ऐसी परिस्थितियाँ पैदा किए रहेगा जिनमें बड़ी शक्तियों की एशिया में मौजूदगी अनिवार्य हो जाए। चीन की मौजूदा राजनीतिक दुनिया के देशों में एक महाशक्ति के रूप में अपनी स्वीकृति करवाना है। इस तनाव को बनाए रखने में चीन का उद्देश्य यह है कि इस क्षेत्र के देश अपने आपको किसी एक गुट में शामिल करने को मजबूर पाएँ। ऐसी स्थिति में भारत का दायित्व केवल तटस्थ बने रहने से पूर्ण नहीं हो जाता बल्कि उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे प्रयत्न करे जिससे एशिया के देश अपने आपको स्वतन्त्र बनाए रख सकें।"

"संयुक्त विज्ञप्ति में चीन से सम्बन्धित अंश के एकदम बाद वाले अंश में इन बातों का औपचारिक उल्लेख जरूर है। दोनों देशों की ओर से एशिया उप-महाद्वीप में शान्ति बने रहने की जरूरत पर जोर देते हुए कहा गया कि एशिया के देशों को एक दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान करना चाहिए, स्थापित सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया जाना चाहिए। विवादों के हल में शक्ति के प्रयोग की

साथ उनकी वार्ता के फलस्वरूप इस प्रकार की आशंकाएँ निर्मूल हो गईं। यात्रा की समाप्ति पर प्रसारित संयुक्त विज्ञप्ति और दोनों देशों के बीच हस्ताक्षरित तीन सहयोग समझौतों ने स्पष्ट कर दिया कि जनता पार्टी की सरकार सत्ता में आने से भारत-सोवियत मैत्री पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है, इसके विपरीत यह अधिक समृद्ध हुई है। नई सरकार सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध विकसित करने हेतु निरन्तर महत्त्व देती रही है। इसमें भारत की यह आस्था परिलक्षित होती है कि वे देश भी, जिनकी आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ भिन्न हैं, अपने परस्पर लाभ के लिए सफलतापूर्वक सहयोग कर सकते हैं अगर यह सम्बन्ध शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर आधारित हों।

21 अक्तूबर, 1977 को प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने अपनी रूस-यात्रा के समय मास्को में रात्रि-भोज के अवसर पर कहा—"दोनों देशों के बीच सम्बन्धों को दृढ बनाने की हमारी परस्पर इच्छा समानता पर आधारित है न कि विचारधाराओं पर। दोनो देशो के बीच सम्बन्ध राष्ट्रीय हितो और समान उद्देश्यों पर भी आधारित है। हम दोनो ही राष्ट्र इस बात को मानते हैं कि हम विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता एवं सहयोग के क्षेत्र मे गहरी रुचि रखते हैं। हमारे प्रधान मन्त्री, श्री जवाहरलाल नेहरू की सन् 1955 मे सोवियत सघ की अपनी प्रथम यात्रा के समय दोनो देशो ने सह-अस्तित्व और सहयोग के सिद्धान्तो पर अपनी सहमति की पुष्टि की थी। उस समय कई देशो ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया था कि क्या ऐसे दो राष्ट्र जिनमे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रणाली की भिन्नता है, प्रतिष्ठा, समानता और परस्पर विश्वास के आधार पर सम्बन्धो का विकास कर सकते हैं। आज के समय मे इन सम्बन्धो को कायम रखना दो स्वाभिमानी राष्ट्रो की परिपक्वता का उदाहरण है।

भारत-सोवियत संयुक्त घोषणा-पत्र मे, जिस पर 26 अक्तूबर, 1977 को मास्को मे हस्ताक्षर किए गए पारस्परिक मैत्री और सहयोग को मजबूत बनाने का दृढ़ सकल्प किया गया। विज्ञप्ति में दोनो के नागरिकों के हितो को प्रतिबिम्बित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र और सद्भाव की स्थापना की बात भी कही गई। सयुक्त घोषणा-पत्र मे हिन्द महासागर के प्रश्न पर दोनो पक्षों ने इस क्षेत्र की जनता की हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाए रखने की इच्छा के प्रति समर्थन व्यक्त किया। दोनों पक्षो ने हिन्द महासागर से सभी वर्तमान सैनिक अड्डो को समाप्त करने तथा नए अड्डो की स्थापना पर प्रतिबन्ध लगाने का आह्वान किया। सयुक्त घोषणा-पत्र मे दोनों देशो के बीच सन् 1971 की शान्ति, मैत्री और सहयोगी सन्धि का उल्लेख करते हुए उसे सम्बन्धो के सन्तोषजनक विकास की प्रेरक शक्ति बताया गया। विज्ञप्ति मे व्यक्तिगत सम्पर्कों को सर्वोच्च स्तर तक पहुँचाने को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। ग्यारह पृष्ठो के अंग्रेजी के इस दस्तावेज में कहा गया है कि भारत-सोवियत सम्बन्ध तात्कालिक हितो की दृष्टि से नही, वरन् एशिया और विश्व में शान्ति और स्थायित्व कायम रखने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों पक्षों ने दक्षिण

एशियायी देशों द्वारा पारस्परिक विचार-विमर्श के माध्यम से समस्याओं को सुलझाने तथा मतभेदों को दूर करने मे प्राप्त सफलताओं की सराहना की। संयुक्त घोषणा-पत्र में एशिया मे तनाव कम करने के बारे मे सोवियत विचार मे उत्पन्न एशियायी स्थायित्व की कल्पना को ज्यो का त्यों स्थान दिया गया। कहा गया कि दोनो ही पक्ष यह मानते हैं कि एशिया मे शान्ति और स्थायित्व के लिए विभिन्न एशियायी देशों के बीच परस्पर हितकारी सहयोग का विकास किया जाना चाहिए।

जैसाकि सोवियत सघ की विदेश नीति मे भारत-सोवियत संघ सम्बन्ध में *बताया जा चुका है, वर्ष 1978 मे दोनों देशों के पारस्परिक आदान-प्रदान मे और* बढ़ोत्तरी हुई। रक्षा मन्त्री श्री जगजीवनराम ने मई, 1978 में सोवियत संघ की यात्रा की और सितम्बर, 1978 मे विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी रूस गए। मार्च,1979 में सोवियत प्रधान मन्त्री श्री कोसीगिन भारत यात्रा पर आए। श्री कोसीगिन की इस यात्रा मे अन्तर्निहित कूटनीतिक पहलुओं का मूल्यांकन करते हुए मार्च, 1979 के दिनमान मे जो सम्पादकीय टिप्पणी की गई, वह पठनीय है—

"नौ मार्च, *1979* से शुरू हुई रूस के प्रधान मन्त्री *अलेक्सी कोसीगिन* की एक सप्ताह की भारत यात्रा के अन्त में जो विज्ञप्ति प्रकाशित की गई है उसमें चीन द्वारा वियतनाम पर किए गए आक्रमण के सिलसिले मे रूस की बजाय भारत की भाषा में यह माँग की गई है कि चीन तुरन्त, बिना शर्त और पूरी तौर पर वियतनाम की धरती से वापस हटे। अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक था और इसमे भारतीय राजनेताओ की बुद्धिमानी झलकती है। लेकिन जैसा कि अब और अधिक साफ हो गया है दक्षिण पूर्वेशिया की समस्या का कोई तात्कालिक हल निकलने वाला नही है। इस बात के सकेत मिल रहे हैं कि अपनी फौजे वापस लौटाता हुआ चीन वियतनाम के उन क्षेत्रों को मुक्त नहीं करेगा जिन पर उसने अपना दावा किया था। इस तरह एक तरफ वह वियतनाम पर एक राजनीतिक और सैनिक दबाव रखेगा दूसरी तरफ एशिया में ऐसी परिस्थितियाँ पैदा किए रहेगा जिनमें बडी शक्तियो की एशिया में मौजूदगी अनिवार्य हो जाए। चीन की मौजूदा राजनीतिक दुनिया के देशों में एक महाशक्ति के रूप में अपनी स्वीकृति करवाना है। इस तनाव को बनाए रखने में चीन का उद्देश्य यह है कि इस क्षेत्र के देश अपने आपको किसी एक गुट में शामिल करने को मजबूर पाएँ। ऐसी स्थिति मे भारत का दायित्व केवल तटस्थ बने रहने से पूर्ण नहीं हो जाता बल्कि उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे प्रयत्न करे जिससे एशिया के देश अपने आपको स्वतन्त्र बनाए रख सकें।"

"सयुक्त विज्ञप्ति मे चीन से सम्बन्धित अंश के एकदम बाद वाले अंश में इन बातों का औपचारिक उल्लेख जरूर है। दोनों देशो की ओर से एशिया उप-महाद्वीप मे शान्ति बने रहने की जरूरत पर जोर देते हुए कहा गया कि एशिया के देशों को एक दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान करना चाहिए, स्थापित सीमाओं का अतिक्रमण नही किया जाना चाहिए। विवादों के हल में शक्ति के प्रयोग की

छूट नहीं होनी चाहिए। दूसरे देशों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न किया जाए तथा इन देशों में बराबरी और स्वतन्त्रता के आधार पर आपसी सहयोग हो। स्पष्टतः यह रूस से भी अधिक भारत की चिन्ता का विषय है। चूंकि भारत भौगोलिक रूप से एशिया का अंग है। इसके अलावा चीन, जिसने सीमा विवाद को मुद्दा बनाकर वियतनाम पर आक्रमण किया, भारत का भी पड़ोसी देश है और इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि वह भारत या अपने किसी और पड़ोसी देश के साथ यह व्यवहार दोहराएगा नहीं। इसलिए व्यवहार में भारत संयुक्त विज्ञप्ति में कही गई इन बातों को पूरा करवाने के लिए क्या उपाय सोच रहा है यह बात महत्त्वपूर्ण हो जाती है। भारत अपने दायित्व के प्रति चिन्तित है इसका एक सबूत वह दक्षिण पूर्वेशिया की समस्या के उल्लेख के दौरान कम्पुच्या में एक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना में मदद दिए जाने की मांग करके दे सकता था जो उसने नहीं दिया। बहरहाल यह चाहे भारत की एक स्थायी चिन्ता का विषय है कि वह एशिया की तमाम बड़ी ताकतों, वह यूरोपीय ताकतें हो या एशियायी, से स्वतन्त्र रखने में प्रयत्नशील हो। भविष्य में वह इसके लिए क्या उपाय करता है इसी पर भारतीय विदेश नीति की जाँच होगी।"

"जहाँ तक रूस के प्रधान मन्त्री की इस यात्रा के उद्देश्यों का सवाल है, उसका शायद सबसे प्रमुख उद्देश्य एशिया में अपनी उपस्थिति दिखाना और यह साबित करना था कि एशिया में उसके पास भारत जैसे बड़े और महत्त्वपूर्ण दोस्त हैं। रूस अपने इस उद्देश्य में काफी सफल भी रहा है। जब इस यात्रा की घोषणा की गई थी तब इसका उद्देश्य भारत के विदेश मन्त्री की चीन यात्रा के नतीजों से अवगत होना और यह जाँचना था कि भारत चीन के साथ अपने सम्बन्धों को सामान्य बनाने में कितनी दूर तक जा सकता है। यह बात इससे ही स्पष्ट है कि भारत आने के तुरन्त बाद अलेक्सी कोसीगिन ने भारत के प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई से अपनी पैंतीस मिनिट की अकेले में हुई बातचीत के तुरन्त बाद विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी से उनकी चीन यात्रा के अनुभवों पर बातचीत की। लेकिन इसी बीच वियतनाम पर आक्रमण ने रूस के प्रधान मन्त्री की भारत यात्रा के उद्देश्य को और बढ़ा दिया। भारत की यात्रा पर आते समय कोसीगिन जरूर चाहते होंगे कि भारत चीन के खिलाफ राजनीतिक कार्यवाही में एक प्रमुख भूमिका निबाहे। अपने भाषण में उन्होंने चीन के खिलाफ एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही का स्पष्ट प्रस्ताव किया भी लेकिन रूस के इन तमाम प्रस्तावों पर फिलहाल भारत ने कोई टिप्पणी नहीं की है, जो कि सही भी है। इसकी वजह यह है कि कुल मिला कर रूस भी एक महाशक्ति ही है। यह सही है कि आज भारत को रूस से कोई खतरा या शिकायत नहीं है पर उसकी राजनीति का दूरगामी लक्ष्य बड़ी ताकतों के प्रभाव का विस्तार नहीं हो सकता। चूंकि ऐसा करके वह तीसरी दुनिया के देशों की स्वतन्त्रता को खतरे में ही डालेगा। इस सिलसिले में भारत को यह पहल करनी होगी जैसाकि संसद सदस्यों को सम्बोधित करते हुए श्री कोसीगिन ने भारतीय

संसद् को निमन्त्रण भी दिया और कहा कि उसकी किसी भी पहल की रूस की सर्वोच्च सोवियत का पूरा सहयोग प्राप्त होगा।"

"रूस के प्रधान मन्त्री ने भारत की ससद् में अपने भाषण मे चीन को एक अपराधी घोषित किया। उन्होंने कहा कि आक्रमण, ब्लेकमेल, धौंस की नीति चलाने वाले देशों के खिलाफ संघर्ष में सहयोग न दिया गया तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और दुनिया मे स्थायित्व के लिए कोशिश न की गई तो इतिहास हमें माफ नही करेगा। चीन की कडी निन्दा करते हुए उन्होने आश्चर्य की मुद्रा मे कहा—उस अपराधी को क्या सजा होगी जिसने एक पूरे राष्ट्र के जीवन पर हमला किया हो। इसी तरह के कड़े शब्द उन्होंने अन्यत्र अपने भाषणों में, टेलीविजन पर तथा भारतीय राजनेताओ के साथ एक मंच पर बोलते हुए कहे। यह बात उल्लेखनीय है कि कही भी सोवियत संघ के प्रधान मन्त्री के इन वक्तव्यों पर किसी कोने से कोई विरोध या असहमति जाहिर नहीं की गई। ससद् में जब उन्होंने चीन के आक्रमण की निन्दा की तो इस पर तालियाँ बजी। इससे यह तो साफ हो ही जाता है कि भारत मे चीनी आक्रमण को लेकर बहुत तीखी प्रतिक्रिया है और इसके बावजूद कि एक अन्य महाशक्ति की ओर से चीनी आक्रमण की निन्दा हो रही थी देश के भीतर इसके लिए स्वीकृति ही थी तथा कही भी इसे चीन के विरोध मे रूस की पक्षधरता नहीं समझा गया।"

"श्री देसाई ने भारत और रूस के बीच बढते हुए व्यापार सम्बन्धों पर सन्तोष व्यक्त किया जो 2976 में 750 करोड़ रुपये के मुकाबले इस वर्ष 1978 मे 1250 करोड़ रुपये तक पहुँच गया है। रुपये और रूबल के बीच विनिमय दर निर्धारित हो जाने के बाद अब इस व्यापार के और भी तेजी से बढ़ने की सम्भावना है।"

जून, 1979 मे भारतीय प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने सोवियत संघ की यात्रा की और पारस्परिक सहयोग के कुछ समझौतो पर दोनों पक्षो ने हस्ताक्षर किए। यात्रा की समाप्ति पर जो संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई उसका उल्लेख सोवियत सघ की विदेश नीति के अध्याय मे किया जा चुका है। अगस्त, 1979 मे सर्वोच्च सोवियत के उपाध्यक्ष श्री स्ट्राटमेनिस के नेतृत्व मे 'सोवियत-भारत मैत्री संघ का एक मैत्री शिष्ट-मण्डल' भारत यात्रा पर आया और उसे यह आश्वासन दिया गया कि भारत-सोवियत मित्रता को बढाने के लिए भारत विश्वास और सहयोग की उसी भावना से काम करता रहेगा जो दोनों देशो के बीच घनिष्ठ और मित्रतापूर्ण सम्बन्धो के रूप मे पहले से विद्यमान है।

जनवरी, 1980 से अक्तूबर, 1980 के मध्य तक भारत-रूस सम्बन्ध—जनवरी, 1980 में श्रीमती गांधी के पुनः सत्तारूढ़ होने के बाद से भारत और रूस के बीच सम्बन्ध और प्रगाढ़ हुए है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न समस्याओं पर दोनो देशों मे सहमति बढ़ी है। 3 फरवरी, 1980 को भारत-सोवियत आर्थिक सहयोग की 25वीं वर्षगाँठ के अवसर पर दोनों देशों ने परस्पर बधाई-सन्देशों का आदान-प्रदान किया। श्रीमती गाँधी ने कहा कि "दोनो देशों के बीच श्री जवाहर लाल

नेहरू द्वारा आर्थिक क्षेत्र में की गई एक छोटी-सी शुरुआत ने आज एक व्यापक सहयोग का रूप धारण कर लिया है। भारत के औद्योगिक बुनियादी ढांचे को मजबूत आधार प्रदान करने में सोवियत संघ ने जो उल्लेखनीय योगदान दिया है उसकी हम विशेष रूप से सराहना करते हैं।" सोवियत नेता श्री कोसीगिन ने अपने सन्देश में दोनों देशों के बीच आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग के क्षेत्र में भविष्य में और भी सफलता की कामना की। उन्होंने कहा कि हमारे दोनों देशों के सहयोग में भारतीय भूमि पर इस समय 70 से अधिक औद्योगिक और अन्य महत्त्वपूर्ण परियोजनाएँ तैयार की गई या की जा रही हैं। भारत की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में ये महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। उन्होंने यह भी कहा कि सोवियत जनता आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए संघर्ष में भारतीय जनता की उपलब्धियों पर प्रसन्न है। उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया कि सोवियत संघ और भारत के बहुपक्षीय सम्बन्धों से दोनों की जनता की प्रगति और समृद्धि को बढ़ावा मिलेगा और इससे एशिया तथा सारे विश्व में शान्ति बनाए रखने में मदद मिलेगी।

भारत सरकार के निमन्त्रण पर सोवियत विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको ने 12 से 14 फरवरी, 1980 तक भारत की सरकारी यात्रा की। बातचीत आपसी विश्वास और सद्भावना के वातावरण में हुई जिसमें इस क्षेत्र और इसके आसपास की घटनाओं सहित अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की समीक्षा की गई। उन्होंने अपनी लम्बे समय से चली आ रही तथा परम्परागत मैत्री के सन्दर्भ में और 9 अगस्त, 1971 की हुई शान्ति, मित्रता और सहयोग की भारत-सोवियत सन्धि की भावना के सन्दर्भ में आपसी सम्बन्धों की भी समीक्षा की। दोनों पक्षों ने न केवल दोनों देशों के बीच पारस्परिक लाभ के सम्बन्धों को बनाए रखने बल्कि इनका और विकास करने और इन्हें सुदृढ़ बनाने के अपने दृढ़ निश्चय की फिर से पुष्टि की। दोनों पक्षों ने दोनों देशों के बीच आपसी हितों के मामलों पर एक सतत् आधार पर विचारों के आदान-प्रदान को बनाए रखने पर सहमति व्यक्त की।

भारतीय विदेश मन्त्री श्री पी. वी. नरसिंहराव ने 3 से 7 जून, 1980 तक मास्को की यात्रा की और इस यात्रा के दौरान के राष्ट्रपति ब्रेझनेव तथा अन्य सोवियत नेताओं से मिले। इस यात्रा के दौरान पारस्परिक हित के मामलों पर हुए विचार-विमर्श में एक-दूसरे के विचारों को अच्छी तरह समझा गया। इस यात्रा से भारत तथा सोवियत संघ के अपने पारस्परिक सम्बन्धों को दिए जाने वाले महत्त्व को प्रतिपादित किया गया, जो निरन्तर सुदृढ़ तथा विकसित होते रहे हैं।

भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध

राजनीतिक मतभेदों के बावजूद भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहे हैं। जनवरी, 1950 में स्वयं को गणराज्य घोषित करने के बाद भी भारत ने राष्ट्र-मण्डल से सम्बन्ध कायम रखने का निश्चय किया और आज भी वह राष्ट्र-मण्डल का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य है। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से भारत की सम्प्रभुता पर

किसी तरह की आँच नहीं आती। ब्रिटेन ने भारत की विकास-योजनाओं में समय-समय पर आर्थिक सहायता भी दी है। सन् 1962 में चीनी आक्रमण के समय ब्रिटेन द्वारा भारत को सैनिक सहायता भी प्रदान की गई थी और भारत–चीन विवाद में ब्रिटेन का रुख भारत के पक्ष में ही रहा था।

इस सहयोग के बावजूद कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर ब्रिटेन की नीति भारत के प्रति अन्यायपूर्ण और अमैत्रीपूर्ण रही है। कश्मीर के प्रश्न पर ब्रिटेन और उसके साथी राष्ट्रों का रवैया भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रहा है। इस बात की चर्चा कश्मीर-प्रश्न के सन्दर्भ में विस्तार से की गई है। ब्रिटेन ने भारत के विरुद्ध सदा पाकिस्तान का समर्थन किया है। सन् 1965 में जब भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर के प्रश्न पर युद्ध छिड़ा, तब भी ब्रिटिश प्रेस, रेडियो और सरकार ने भारत के विरुद्ध प्रचार किया और खुलेआम भारत-विरोधी नीति अपनाई। जब 1 सितम्बर, 1965 को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा का उल्लंघन कर पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया, तब तो ब्रिटेन का रवैया भारत के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहा, किन्तु जब भारत ने प्रत्याक्रमण किया तो ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विल्सन ने उसे 'आक्रमण' की संज्ञा दी। ब्रिटिश सरकार का रवैया एकदम पक्षपातपूर्ण था और तभी से ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों में खिंचाव आ गया है।

भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों के इतिहास में सन् 1965 का कच्छ समझौता भी महत्त्वपूर्ण है। जब कच्छ के रण के सम्बन्ध में भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद छिड़ गया और दोनों देशों में सैनिक मुठभेड़ भी हो गई, तब ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री विल्सन के प्रयासों के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच जुलाई, 1965 में समझौता हुआ।

पाकिस्तानी आक्रमण के समय ब्रिटेन के पाकिस्तान-समर्थक रुख के कारण दोनों देशों में जो कटुता पैदा हुई, उसमें एक अध्याय केन्या के प्रवासी भारतीयों के प्रश्न का और जुड़ गया। पूर्वी अफ्रीका से भारत का सम्बन्ध बहुत पुराना है और सन् 1867 से ही भारतीय केन्या जाते रहे थे। सन् 1963 में जब केन्या स्वतन्त्र हुआ तब वहाँ भारतीय प्रवासियों की संख्या लगभग 25 हज़ार थी। केन्या की स्वतन्त्रता के समय भारतीयों के समक्ष उनकी नागरिकता से सम्बन्धित विकट समस्या खड़ी हो गई। उस समय भारत सरकार ने लगभग 4 हज़ार भारतीयों को अपना पारपत्र दिया, शेष भारतीय ब्रिटिश पारपत्र पर केन्या में रहने लगे। किन्तु इस स्थिति में फरवरी, 1968 में खतरनाक बिगाड़ आया जबकि केन्या सरकार ने यह निश्चय किया कि उन एशियायी लोगों के साथ, जो वहाँ के नागरिक नहीं हैं, केन्या में गैर-नागरिक जैसा व्यवहार किया जाएगा। इस निश्चय का स्पष्ट अर्थ यह था कि केन्या निवासी भारतीय जीवनयापन के साधनों से वंचित हो जाएँ।

केन्या-सरकार के निर्णय से प्रवासी भारतीयों में बड़ी चिन्ता व्याप्त हो गई। सन् 1963 में केन्या की स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय अधिकांश प्रवासी भारतीय

ब्रिटिश पारपत्र प्राप्त कर ब्रिटिश नागरिक बन गए थे, अतः यह आशा थी कि ब्रिटेन उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करेगा। किन्तु जब वे असुरक्षा की अवस्था में ब्रिटेन जाने लगे तो ब्रिटिश सरकार ने संसद् में एक विधेयक पेश कर दिया जिसका उद्देश्य 1 मार्च, 1968 के बाद केन्याई भारतीयों के ब्रिटेन में प्रवेश को रोकना था। ब्रिटिश संसद् द्वारा इस विधेयक को स्वीकार कर लिया गया और इस तरह नए कानून के अनुसार उस पारपत्र का कोई मूल्य नहीं रहा जो ब्रिटेन ने केन्या के प्रवासी-भारतीयों को दिया था। ब्रिटिश सरकार का यह कदम अन्यायपूर्ण और अमानवीय था जिससे दोनों देशों में तनाव बढ़ गया। भारत में यह माँग की गई कि भारत राष्ट्रमण्डल का परित्याग कर दे और भारत में जो ब्रिटिश-सम्पत्ति है उसका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए। यद्यपि भारत सरकार ने इस माँग को अव्यावहारिक बताया, किन्तु ब्रिटिश सरकार को स्पष्ट शब्दों में जता दिया कि एशियावासियों को ब्रिटेन में प्रवेश में रोकने वाले अधिनियम का ब्रिटिश-भारत सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यह सौभाग्य की बात थी कि इस समस्या से कोई व्यापक प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई।

सन् 1969 में बी. बी. सी. टेलीविजन फिल्मों में भारतीय जन-जीवन को विकृत रूप में प्रस्तुत किए जाने के प्रश्न पर भी भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों में तनाव आया। भारत सरकार ने एक आदेश द्वारा सितम्बर, 1970 में भारत में बी.बी.सी. को उपलब्ध सभी सुविधाएँ समाप्त कर दीं और दिल्ली स्थित बी. बी. सी. के संवाददाता को निष्कासित कर दिया। सन् 1971 में बंगलादेश के प्रश्न पर दोनों देशों में गलत-फहमी फैली। इसका निवारण तब हुआ जब भारत-पाक युद्ध छिड़ने पर सुरक्षा परिषद् में ब्रिटेन ने भारत-विरोधी प्रस्तावों पर मतदान में भाग नहीं लिया। भारत ने इसे मैत्रीपूर्ण व्यवहार मानते हुए बी. बी. सी. को पुनः भारत में कार्यालय स्थापित करने की अनुमति दे दी। इस प्रकार दोनों देशों के बीच सहयोग के नए युग का सूत्रपात हुआ। जनवरी, 1971 में ब्रिटिश विदेश मन्त्री डगलस ह्यूम ने भारत-यात्रा के अवसर पर कहा—"भारत अब एशिया में एक महान् शक्ति के रूप में उभरा है, यदि चीन से ज्यादा नहीं तो उसके बराबर तो निश्चय ही है।" ब्रिटिश विदेश मन्त्री का यह कथन भारत के प्रति ब्रिटेन के बदलते हुए दृष्टिकोण का पूर्वाभास था। सन् 1974 के मध्यान्तर चुनावों में लेबर पार्टी विजय प्राप्त कर सत्तारूढ़ हुई। श्रम-दलीय सरकार का रवैया अनुदार दलीय सरकार की तुलना में भारत के प्रति अधिक मैत्रीपूर्ण था। अप्रेल-मई, 1975 में किंग्सटन (जमैका) में राष्ट्र-मण्डलीय सम्मेलन में रोडेशिया के स्मिथ प्रशासन को जो अल्टीमेटम दिया गया वह अप्रत्यक्ष रूप में ब्रिटेन पर भी इस बात के लिए दबाव था कि वह रोडेशिया के विरुद्ध कठोर कदम उठाए। दोनों देशों के बीच वार्षिक द्वि-पक्षीय वार्ता हुई जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की सामान्य समीक्षा करने के अलावा व्यापारिक सहायता तथा आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग जैसे द्विपक्षीय मामलों पर बातचीत हुई। सन् 1975 में ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि भारत जैसे देशों को दी जाने वाली

सभी ब्रिटिश सहायता, जिनकी प्रति व्यक्ति आय 200 अमेरिकी डॉलर वार्षिक से कम है, भविष्य में ऋणों के बजाय सीधे अनुदानों के रूप में होगी। सन् 1975–76 के लिए ब्रिटिश सरकार ने लगभग 10 करोड पौण्ड की सहायता का वचन दिया जिससे ब्रिटेन भारत को द्विपक्षीय ऋण देने वाले देशों की सूची में सर्वोपरि हो गया। सन् 1975–76 मे ब्रिटिश ससद् के कई सदस्य सरकारी निमन्त्रण पर भारत आए। भारत-ब्रिटेन आर्थिक सहयोग एव व्यापार संयुक्त समिति के गठन के लिए दोनों देशो के बीच जनवरी, 1976 मे विनिमय-पत्रों पर हस्ताक्षर किए गए।

ब्रिटिश उद्योग संघ के उपाध्यक्ष सर राल्फ बेटमेन के नेतृत्व में एक उच्च-स्तरीय ब्रिटिश औद्योगिक शिष्ट-मण्डल ने अक्तूबर, 1976 में भारत की यात्रा की। इसका उद्देश्य भारत और ब्रिटेन के बीच अधिकाधिक व्यापार एवं औद्योगिक सहयोग तथा तीसरे देशों में सहयोग की सम्भावनाओं का पता लगाना था। व्यापार और आर्थिक सहयोग के लिए भारत-ब्रिटिश संयुक्त समिति की मन्त्रि-स्तरीय बैठक लन्दन में हुई। सन् 1976–77 में भारत को मिलने वाली ब्रिटिश विकास सहायता 1120 लाख पौण्ड (लगभग 170 कराड़ रुपये) थी। यह राशि किसी भी अन्य देश से प्राप्त सबसे बड़ी रकम थी। यह सहायता पूर्णतया अनुदान रूप में दी गई थी।

6 मे 11 जनवरी, 1978 तक ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री जेम्स कैलहन की भारत यात्रा और इस यात्रा के दौरान हुए विचार-विनिमय में भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों में वह हार्दिकता और आपसी समझ-बूझ परिलक्षित हुई। इस यात्रा से भारत और यूनाइटेड किंगडम के समान आदर्शों और महत्त्वाकांक्षाओ का और इस बात का भी स्पष्ट पता चला कि वे राष्ट्रो की अन्योन्याश्रयता को स्वीकार करते हैं और इस बात को भी मानते हैं कि एक बेहतर ससार के सृजन की दिशा में योगदान की सम्मिलित जिम्मेदारी जरूरी है। इसी महीने में 1977-78 के लिए भारत को ब्रिटिश सहायता से सम्बद्ध 228 करोड़ रु की राशि के पाँच करारों पर हस्ताक्षर किए गए। इसमें से 110 8 करोड़ अनुरक्षण सहायता के लिए और शेष प्रमुख प्रयोजनाओं, पूँजी निवेश, माल के आयात, कोयला और बिजली के क्षेत्र और ऋण का भुगतान करने के लिए था। यह सम्पूर्ण राशि अनुदान के रूप मे थी, 1975 से ब्रिटेन अनुदान के रूप में ही सहायता देने की प्रथा पर चल रहा है। मई, 1977 में लन्दन में भारत-ब्रिटेन द्विपक्षीय वार्ता हुई थी जब व्यापार एवं आर्थिक सहयोग से सम्बद्ध भारत-ब्रिटेन संयुक्त समिति की बैठक हुई थी।

जून, 1978 में प्रधान मन्त्री की लन्दन की यात्रा से ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्ध और सुदृढ हुए। बाद में, विदेश मन्त्री भी इस यात्रा में शामिल हो गए थे। जून, 1978 में प्रधान मन्त्री और विदेश मन्त्री की यात्रा के समय जो बातचीत हुई उसमें समान हित के अन्तर्राष्ट्रीय और द्विपक्षीय प्रश्नों पर भी विचार किया गया, जिसमें दक्षिण अफ्रीका, निरस्त्रीकरण और जातीय सम्बन्धों के प्रश्न भी शामिल थे। श्री कैलहन ने पुनः इस बात की पुष्टि की कि उनकी सरकार ब्रिटेन में

समरसतापूर्ण जातीय सम्बन्धों की स्थापना के लिए बराबर प्रतिबद्ध है और ब्रिटेन में रहने वाले किसी भी आप्रवासी समुदाय के प्रति बरते जाने वाले भेद-भाव के विरुद्ध है। भारतीय राष्ट्रिकों के साथ किए गए अनुचित व्यवहार की विशिष्ट शिकायतों पर तत्काल कार्यवाही के लिए ब्रिटिश प्राधिकारियों के साथ प्रश्न उठाया गया। भारतीय लोक सभा के अध्यक्ष के निमन्त्रण पर लॉर्ड लिस्टोवेल की अध्यक्षता मे ब्रिटिश संसद् का एक प्रतिनिधि-मण्डल दिसम्बर, 1978 में भारत आया और इससे दोनों देशों के संसदों की बीच सम्पर्क सुदृढ़ हुए। ब्रिटिश विदेश तथा राष्ट्र-मण्डल कार्यालय के स्थायी अवसर सचिव सर माइकल पेलिसर मार्च, 1979 के प्रारम्भ में विदेश सचिव के साथ सरकारी स्तर पर बातचीत के लिए भारत की यात्रा पर आए।

भारत सरकार की रिपोर्ट 1979-80 के अनुसार—

"ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्ध द्विपक्षीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर समय-समय पर होने वाले विचारों के आदान-प्रदान से पुष्ट होते रहे। ब्रिटेन के विदेश मन्त्री लॉर्ड केरिंगटन जुलाई मे भारत की सरकारी यात्रा पर आए। उन्होने प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई, उप-प्रधान मन्त्री श्री चरण सिंह और उप प्रधान मन्त्री श्री जगजीवन राम तथा विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी से मुलाकात की। विदेश मन्त्री से उन्होने अन्य विषयों के अतिरिक्त रोडेशिया और निरस्त्रीकरण की समस्या पर भी विचार-विनिमय किया। उन्हें भारत की इस चिन्ता से भी अवगत कराया गया कि ब्रिटेन में रहने वाले भारतीयों के साथ भेदभाव अथवा उत्पीड़न का व्यवहार नही किया जाना चाहिए। ब्रिटेन के गृह मन्त्री श्री टीमोथी रायसन, आप्रवासन की प्रक्रिया तथा समस्याओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए अक्तूबर मे भारत आए। उन्होंने विदेश राज्य मन्त्री, श्री वेदव्रत बरुआ से मुलाकात की। बातचीत के दौरान भारत ने इस बात पर जोर दिया कि आप्रवासन सम्बन्धी ब्रिटिश कानून में एशियाई या भारतीय लोगों के प्रति किसी प्रकार का भेदभाव नही बरतना चाहिए।

सितम्बर, 1979 मे लॉर्ड माउन्टबेटन की हत्या पर भारत ने राजकीय शोक मनाया। भारत में उनके प्रति जो सहानुभूति और श्रद्धा प्रकट की गई उससे ब्रिटेन की सरकार और वहाँ के लोग प्रभावित हुए। लन्दन में उनकी अन्त्येष्टि मे भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व भारत के उप-राष्ट्रपति, श्री एम. हिदायतुल्ला ने किया।

ब्रिटेन में मई, 1979 के चुनावों के बाद ब्रिटेन की नई सरकार ने यह आवश्यक समझा कि विदेशी सहायता कार्यक्रमसहित सरकारी खर्च मे कटौती की जाए। भारत को मिलने वाली सहायता की राशि अब लगभग 14 करोड़ 5 लाख पाउण्ड कर दी गई है।

चुनावों के पश्चात् [illegible] यह [illegible] ब्रिटिश विदेश मन्त्री,
[illegible] केरिंगटन ने 16 से [illegible] यात्रा की। उन्होंने

प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी और विदेश मन्त्री, श्री पी. वी. नरसिंह राव से मुलाकात की तथा अन्तर्राष्ट्रीय तथा द्विपक्षीय मामलों पर विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श किया। लॉर्ड कैरिंगटन ने दिसम्बर, 1979 मे अफगानिस्तान में हुई घटनाओं पर इस क्षेत्र की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त किए। इस क्षेत्र में बढ़ते हुए तनाव पर भारत ने अपनी चिन्ता से उनको अवगत कराया। रोडेशिया की स्थिति और ब्रिटेन मे भारतीय समुदाय से सम्बन्धित समस्याओं पर निष्पक्ष एवं मैत्रीपूर्ण वातावरण मे बातचीत हुई। 16 जनवरी, 1980 को ब्रिटिश विदेश मन्त्री लॉर्ड कैरिंगटन की प्रधान मन्त्री श्रीमती गाँधी से नई दिल्ली मे वार्ता हुई जिसमे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ और द्विपक्षीय हितों पर विचार किया गया।"

भारत और पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका

पश्चिमी एशिया के सन्दर्भ में भारत की विदेश नीति का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। अरब-इजरायल युद्धों मे भारत ने सदैव अरब राज्यों का पक्ष लिया है। भारत की सहानुभूति और मैत्री अरब देशों के प्रति बहुत अधिक रहने मे इजरायल को भारत ने अभी तक कूटनीतिक मान्यता नहीं दी है। अरब-देशो के प्रति भारत का नीति को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उपयोगी माना गया है। अरब-राष्ट्रों से प्राप्त होने वाले तेल मे कोई भी बडी बाधा भारत के सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचे को हिला सकती है। स्वेज नहर भारत के विदेशी व्यापार के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इजरायल के विरुद्ध अरबो के दावे अधिक न्यायोचित हैं। फिर भी भारत का दृष्टिकोण सन्तुलित रहा है क्योकि जहाँ भारत ने अरबों के दावो का समर्थन किया है, वहाँ इजरायल के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है।

भारत सरकार की वार्षिक रिपोर्ट 1978-79 मे पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका के साथ भारत के वैदेशिक सम्बन्धों पर जो प्रकाश डाला गया वह इस प्रकार है—

"पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका की घटनाओं मे भारत की गहरी दिलचस्पी रही तथा उसने इस क्षेत्र के देशों के साथ द्विपक्षीय आधार पर सम्पर्क तथा आदान-प्रदान की ओर हाथ बढाने के लिए कार्य किया जिससे कि उनके साथ राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य क्षेत्रों में भी सहयोग संवर्धित हो सके। भारत के मिस्र और इजरायल के बीच कैम्प डेविड समझौते के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में हुए आकस्मिक परिवर्तन को नोट किया। भारत का यह विश्वास रहा है कि पश्चिम एशियाई समस्या का व्यापक समाधान केवल अरब राज्यों की किसी सहमत नीति के आधार पर ही सम्भव है। भारत का यह भी विश्वास है कि यहाँ स्थायी शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जब इजरायल सभी अरब प्रदेशों से अपनी सेनाएँ हटा ले जहाँ उसने अधिकार कर रखा है तथा फिलिस्तीनी लोगों को आत्म-निर्णय का अधिकार तथा अपने राज्य पर अधिकार वापस मिल जाए।

द्विपक्षीय स्तर पर भारत तथा इस क्षेत्र के बहुत से नेताओं के बीच यात्राओं के आदान-प्रदान से विभिन्न क्षेत्रों में निकटतर सम्बन्धों को संवर्धित करने के तरीकों तथा उपायों पर विचार-विमर्श करने के अवसर प्राप्त हुए। अप्रेल, 1978 में सीरिया के राष्ट्रपति असद की यात्रा के परिणामस्वरूप आर्थिक, तकनीकी एवं वैज्ञानिक सहयोग बढ़ाने के लिए बहुत से करार हुए। मई, 1978 में यमन लोकतान्त्रिक जन-गणराज्य के प्रधान मंत्री की भारत यात्रा के दौरान निकटतर द्विपक्षीय सम्बन्धों के संवर्धन के तरीकों और उपायो पर विचार-विमर्श किया गया।

जुलाई, 1978 मे ईराक के उपराष्ट्रपति की भारत यात्रा से ईराक के साथ औद्योगिक उद्यमो और अन्य क्षेत्रों मे ईराक के साथ सहयोग को बल मिला। सितम्बर-अक्तूबर, 1978 मे बगदाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेले मे भाग लेने के लिए वाणिज्य, नागरिक आपूर्ति एवं सहकारिता मन्त्री श्री मोहन धारिया की ईराक यात्रा से तथा दिसम्बर, 1978 में बगदाद में भारत ईराक संयुक्त आयोग के पाँचवे अधिवेशन में भाग लेने के लिए भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल के अध्यक्ष के रूप में पैट्रोलियम, रसायन एवं उर्वरक मन्त्री श्री एच बहुगुणा की यात्रा से भी इन देशों के साथ सद्भावना बढी।

जुलाई, 1978 मे समाजवादी लोक लीबियाई अरब जमहारिया के मेजर अब्दुल सलाम अहमद जालोद की भारत यात्रा से लीबिया के विकास कार्यक्रमो मे और आगे सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस यात्रा के दौरान औद्योगिक एवं आर्थिक सहयोग बढाने के लिए बहुत से करारो पर हस्ताक्षर किए गए। दिसम्बर, 1978 मे उद्योग मन्त्री श्री जार्ज फर्नान्डीज ने भारत-लीबियाई संयुक्त आयोग की प्रथम बैठक के सिलसिले मे लीबिया की यात्रा की। इस आयोग की स्थापना दोनों देशों के बीच मौजूदा सम्बन्धों को एक संस्थागत रूप प्रदान करने के लिए की गई थी। इस यात्रा के दौरान लगभग 1200 करोड़ रुपयों के मूल्य की प्रायोजनाएँ प्राप्त की गईं जिन्हें भारतीय कम्पनियाँ निष्पादन करेंगी।

जुलाई, 1978 मे विदेश सचिव की सऊदी अरब की यात्रा से भारत को अपनी विदेश नीति प्रस्तुत करने तथा भारत और सऊदी अरब के बीच अधिक सहयोग पर गहराई से समीक्षा करने का अवसर प्राप्त हुआ।

पश्चिम एशिया के तेल उत्पादक देशो ने बड़े पैमाने पर विकास योजनाएँ प्रारम्भ की हैं, जिससे भारत द्वारा इस क्षेत्र को निर्यात किए जाने की सम्भावनाएँ पैदा हुई हैं।

ईरान के साथ भारत के आपसी विश्वास और सद्भाव के सम्बन्ध बने रहे हैं। मई, 1978 में विदेश मन्त्री ने ईरान की पहली औपचारिक यात्रा की। यह यात्रा गत वर्ष जनता सरकार द्वारा आरम्भ की गई विभिन्न स्तरों पर यात्राओं के आदान-प्रदान की सतत् प्रक्रिया का हिस्सा थी। इस यात्रा के दौरान इस बात पर सहमति हुई कि इस क्षेत्र में स्थायित्व तथा विश्वास का वातावरण पैदा करने की प्रक्रिया, जो कि आर्थिक सहयोग एवं वाणिज्यिक सम्बन्धों के माध्यम से पहले से

चल रही है, जारी रहनी चाहिए। जून, 1978 में प्रधान मन्त्री जब तेहरान से गुजरते हुए कुछ समय के लिए वहाँ रुके उस समय भी विचारों का आदान-प्रदान हुआ। हमने ईरान की राजनीतिक घटनाओं पर सावधानीपूर्वक निगाह रखी तथा उपयुक्त समय पर अयातुल्ला रुहोल्ला खुमैनी से लोकतान्त्रिक अधिकारों के लिए ईरान की जनता की आकांक्षाओं के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। ईरान में जन-क्रान्ति की सफल पराकाष्ठा होने पर भारत ने डॉ. मेहदी बजरगन की नई सरकार को मान्यता दी। ईरान में राजनीतिक अशान्ति तथा आर्थिक कार्यकलाप में शिथिलता आने का द्विपक्षीय आर्थिक सम्बन्धों पर असर पड़ा। इसके परिणामस्वरूप बहुत से कुशल एवं अकुशल कामगारों को ईरान वापस लौट जाना पड़ा।"

भारत सरकार की रिपोर्ट 1979-80 के अनुसार—

"कैम्प डेविड करारों की इस क्षेत्र में कड़ी आलोचना हुई जिससे अरब देशों में फूट और बढ़ गई। तीव्र मतभेदों और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न तनावों पर चिन्ता व्यक्त करते हुए भारत ने इन घटनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया में दृढ़तापूर्वक यह कहा कि फिलिस्तीन का प्रश्न सारे झगड़े का केन्द्र-बिन्दु है और जब तक उसका कोई ऐसा समाधान नहीं निकल आता, जिस पर फिलिस्तीन के लोग पूरी तरह सन्तुष्ट हों, तब तक इस क्षेत्र में स्थाई शान्ति नहीं हो सकती। अरब-इजरायली विवाद के सम्बन्ध में अपनी पुरानी नीति के अनुरूप ही भारत ने फिर यह कहा कि इस विवाद का कोई ऐसा व्यापक समाधान होना चाहिए जिससे इस बात का सुनिश्चय हो जाए कि इजरायल अधिकृत सभी क्षेत्रों को खाली कर दिया जाएगा और फिलिस्तीनी लोगों को उनके अविच्छेद्य अधिकार पुनः प्राप्त हो जाएँगे जिनमें उनका अपने देश लौटने का अधिकार भी शामिल है जहाँ वे अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर सकें।"

जनवरी, 1979 में सीरिया के वक्फ मन्त्री ने भारत की यात्रा की और उन्हें भारत की धर्म-निरपेक्ष नीति को समझने का अवसर मिला। जोर्डन के युवराज मार्च, 1979 में दिल्ली आए। भारत-जोर्डन द्विपक्षीय सम्बन्धों के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया जिसमें आर्थिक सहयोग का बढ़ता हुआ वातावरण शामिल था। मई, 1979 में मिस्र के उपराष्ट्रपति ने और अगस्त, 1979 में विदेश राज्य मन्त्री ने भारत की यात्रा की। फलस्वरूप भारत को क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर मिस्र के दृष्टिकोण को समझने का अवसर मिला। मई, 1979 में भारत के तत्कालीन विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात, सीरिया और ईराक की यात्रा की। इससे पहले 1973 में श्री स्वर्णसिंह ने इस क्षेत्र की यात्रा की थी। इससे भारत और इन देशों के बीच मित्रता और सहयोग के लिए गहरी समझ-बूझ और इच्छा की पुष्टि हुई। इससे पहले उसी महीने विदेश राज्य मंत्री श्री समरेन्द्र कुण्डु बहरीन और ओमान गए। श्रम मन्त्री, श्री फजलुर्रहमान ने अक्तूबर, 1979 में कुवैत, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात और ओमान में भारतीय श्रमिकों की समस्याओं और सम्भावनाओं के बारे में बातचीत करने के लिए

देशों की यात्रा की। भारत-अरब संयुक्त परिषद् की दूसरी बैठक अक्तूबर, 1979 के शुरू में अबधाबी में हुई।

भारत-ईराकी आर्थिक सम्बन्ध निरन्तर बढ़ते रहे और इसी के क्रम में एक ओर भारत ने ईराक को जहाँ विविध सामग्री का निर्यात किया, वहाँ परियोजनाएँ स्थापित कीं, वहीं दूसरी ओर ईराक सरकार ने भारत की तेल सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने की अपनी तत्परता व्यक्त की। 20 नवम्बर, 1979 को मक्का में काबा की मस्जिद के अभूतपूर्व आतंकवादी अभिग्रहण के समाचार से भारत को अत्यधिक दुःख और रोष हुआ। भारत ने आतंकवादियों की इस कार्यवाही की कड़ी निन्दा की और मक्का के इस पवित्र स्थान की यात्रा करने वाले धर्म-निष्ठ लोगों की सुरक्षा के बारे में अपनी सहानुभूति और चिन्ता व्यक्त की। यमन गणराज्य और यमन लोकतान्त्रिक गणराज्य के साथ भारत के सौहार्द एवं मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बने रहे। भारतीय तकनीकी विशेषज्ञ जिसमें डॉक्टर भी शामिल हैं, इन दोनों देशों की विभिन्न क्षेत्रों में सहायता करते रहे। यमन अरब गणराज्य में बहुत-सी परियोजनाओं का काम कई भारतीय फर्मों को दिया गया। दोनों देशों के बीच वाणिज्यिक आदान-प्रदान बढ़ा और भारत-यमन-अरब गणराज्य के साथ व्यापार एक प्रमुख भागीदार के रूप में उभरा।

सोमालिया के विदेश मन्त्री की 31 मार्च से 4 अप्रेल तक भारत-यात्रा से उस देश के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुए। उनकी यात्रा के दौरान भारत और सोमालिया के बीच भावी सहयोग के क्षेत्रों का पता लगाने का अवसर मिला। इस यात्रा के दौरान एक सांस्कृतिक करार पर हस्ताक्षर हुए।

भारत और अल्जीरिया के बीच उच्चस्तर पर सम्पर्क काफी तेजी से बढ़ा। उपराष्ट्रपति श्री एम हिदायतुल्ला ने नवम्बर, 1979 में अल्जीरियाई क्रान्ति की वर्षगाँठ के समारोह में भारत का प्रतिनिधित्व किया। इससे पहले जून, 1979 में विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी अल्जीरिया गए थे और उन्होंने आपसी हितों के मामलों पर वहाँ के विदेश मन्त्री और अल्जीरिया के राष्ट्रपति से बातचीत की थी। भारत से अल्जीरिया को निर्यात की मात्रा नगण्य राशि से बढ़कर छः से आठ करोड़ रुपये हो गई।

श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा लीबिया द्वारा भारत को तेल सप्लाई करने की सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए लीबिया गए और वे वहाँ 8 से 10 अप्रेल, 1980 तक रहे। भारतीय कम्पनियों को लीबिया सरकार का प्रोत्साहन बराबर मिलता रहा और लगभग 10 अरब रुपये की महत्त्वपूर्ण संविदाएँ और परियोजनाएँ भारतीय सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के उद्यमों को प्रदान की गईं। भारत-लीबिया संयुक्त आयोग का दूसरा अधिवेशन 2 से 7 जुलाई, 1979 तक नई दिल्ली में हुआ जिसमें आर्थिक, वाणिज्यिक तथा अन्य मामलों के बारे में भारत-लीबिया प्रोतोकोल की प्रगति तथा उसके क्रियान्वयन पर विचार किया गया। भवन-निर्माण, उद्योग, कृषि एवं व्यापार के क्षेत्र में बहुत-सी नई परियोजनाएँ तय की गईं।

विदेश राज्य मन्त्री श्री कुण्डु 1979 में ट्यूनीसिया गए। उनकी बातचीत से विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर समझ-बूझ और विचारों की समानता व्यक्त हुई। ट्यूनीसिया के विदेश महासचिव जून मे भारत आए। उन्होंने व्यापार एवं वाणिज्यिक सम्बन्धों को बढ़ाने के उद्देश्य से दोनों ओर से जल्दी-जल्दी यात्रा किए जाने की आवश्यकता का सुझाव दिया।

भारत ने ईरान मे हुई क्रान्ति को ईरान द्वारा अपनी अस्मिता की खोज और अपने राष्ट्रीय आत्माभिमान की रक्षा तथा बाहरी बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप के बिना स्वतन्त्र नीति अपनाने की उनकी इच्छा के रूप मे देखा हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि इस सन्दर्भ में ईरान ने भारत के साथ विभिन्न क्षेत्रों मे आपसी सम्बन्धों को बढ़ाने की इच्छा प्रकट की है, जिसके लिए भारत ने भी पूर्णतः इसी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त की है। श्री अशोक मेहता के नेतृत्व मे एक गैर-सरकारी सद्भावना प्रतिनिधि-मण्डल ने मार्च, 1979 में ईरान की यात्रा की और ईरानी नेताओं के साथ बातचीत की। ईरानी नेताओं ने इस सद्भावना यात्रा की सराहना की। भारत सरकार तथा भारत की जनता की ओर से इस प्रतिनिधि-मण्डल ने वहाँ की सरकार और जनता को बधाइयाँ और शुभकामनाएँ दी, जिसके उत्तर मे वहाँ की सरकार तथा जनता ने भी भारत सरकार तथा भारत की जनता के प्रति बधाइयाँ और शुभकामनाएँ प्रकट की। भारत ने ईरान के सेन्टो से हट जाने और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन मे शामिल होने के निर्णय का स्वागत किया। ईरान में बढ़ती हुई बेरोजगारी की समस्या के कारण उसने यह निश्चय किया कि विदेशी राष्ट्रिकों की सेवाओं को समाप्त कर दिया जाए। इससे ईरान में काम करने वाले बहुत-से कुशल, अर्द्ध-कुशल और अकुशल भारतीय कामगारों को ईरान छोड़ना पड़ा। लेकिन चूँकि चिकित्सा आदि जैसे क्षेत्रों मे ईरान में कुशल व्यक्तियों का अभाव है तथा उनकी विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ईरान मे पर्याप्त संख्या में कार्मिक उपलब्ध नहीं हैं, अतः इन क्षेत्रों मे कार्मिकों की कमी को पूरा करने के लिए ईरान भारत की सहायता चाहता है। तदनुरूप ईरान ने भारत के 1000 चिकित्सा और परा-चिकित्सा कार्मिकों की भर्ती करने की योजना बनाई है। ईरान की तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारतीय डॉक्टरों और परा-चिकित्सा कार्मिक के प्रथम बैच की भर्ती के लिए ईरानी प्रतिनिधि-मण्डल नवम्बर, *1979* मे भारत आया। सितम्बर-अक्तूबर, 1980 के ईराक-ईरान युद्ध में भारत की नीति यही रही कि दोनों पक्ष युद्ध-विराम करके आपसी समस्याओं का शान्तिपूर्वक निपटारा कर लें।

भारत और अफ्रीका (सहारा के दक्षिणी देश)

भारत के अफ्रीका (सहारा के दक्षिणी देश) के देशों के साथ सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं। इन सम्बन्धों के ही विकास पर भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय की सन् 1978–79 की वार्षिक रिपोर्ट में जो प्रकाश डाला गया है, वह पठनीय है।

भारत जिम्बाब्वे तथा नामीबिया की समस्याओं का न्यायपूर्ण समाधान करने के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों मे तथा दक्षिण अफ्रीका के पृथग्वासन तथा जातीय भेदभाव के विरुद्ध अभियान मे सक्रिय भूमिका निभाता रहा। मापूतों में (26 जनवरी–1 फरवरी, 1979) गुट-निरपेक्ष देशों के समन्वय ब्यूरो के विदेश मन्त्रियों की असाधारण बैठक मे, जो सिर्फ दक्षिणी अफ्रीका की स्थिति पर विचार करने के लिए बुलाई गई थी, भारत को सर्व सम्मति से प्रारूपण समिति का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। इस बैठक में विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भारत द्वारा दक्षिणी अफ्रीका की स्थिति के मूल्यांकन को तथा सम्बद्ध मसलों पर भारत की नीति को स्पष्ट किया। उन्होंने इस बात को नोट किया कि अल्पसंख्यक जातिवादी शासन अत्यन्त लम्बे अर्से तक विश्व मत की स्पष्ट अवहेलना करता रहा तथा नैतिकता का इस पर कोई असर नहीं हुआ जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता सेनानियों को अन्त में सशस्त्र संघर्ष का सहारा लेना पड़ा। नामीबिया के सम्बन्ध में उन्होंने इस बात को दोहराया कि संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् अपने संकल्प सं. 435 (1978) के क्रियान्वयन की दिशा में जो प्रयास करेगा उनमें भारत अपना पूर्ण समर्थन देता रहेगा। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध व्यापक एवं प्रदेशात्मक आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के विषय में भी भारत के पूर्ण समर्थन की घोषणा की तथा कहा कि यदि दक्षिण अफ्रीका को नामीबिया पर अपना अवैध कब्जा समाप्त करने के लिए बाध्य करने के सुरक्षा परिषद् के प्रयास विफल हो जाते हैं तो महासभा को स्वयं संयुक्त राष्ट्र चार्टर तथा इसके संकल्पों के अनुसार समुचित कार्यवाही करने के विषय में विचार करना चाहिए।

जिम्बाब्वे के सम्बन्ध में विदेश मन्त्री ने इस बात को नोट किया कि यद्यपि पेट्रिओटिक फ्रन्ट ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप से स्वीकार्य किसी व्यवस्था के लिए बातचीत करने के लिए निरन्तर अपनी तत्परता व्यक्त की है किन्तु इयान स्मिथ के अवैध शासन ने बार-बार वास्तविक बहुमत शासन स्थापित करने के सभी प्रयासों मे बाधा डाली है तथा इसका विरोध किया है। उन्होंने इस बात को दोहराया कि 3 मार्च, 1978 के सेलिसबरी करार में परिकल्पित तथाकथित आन्तरिक समझौते की किसी भी व्यवस्था को वैध बनाने के किसी भी प्रयास का भारत स्पष्ट विरोध करता है। इस सन्दर्भ में, उन्होंने इस बात को दोहराया कि भारत दक्षिणी रोडेशिया के विरुद्ध मौजूदा प्रतिबन्धों की समीक्षा का समर्थक है जिससे कि उन्हें संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 41 के अन्तर्गत घटाया तथा बढ़ाया जा सके। इसके अतिरिक्त इन्होंने इयान स्मिथ के अवैध शासन को समाप्त करने के उपाय के रूप मे दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध व्यापक आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के लिए भी भारत का समर्थन व्यक्त किया। प्रिटोरिया शासन के द्वारा निरन्तर पृथग्वासन की नीति अपनाए जाने के सन्दर्भ में विदेश मन्त्री ने दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध व्यापक शस्त्रास्त्र प्रतिबन्ध लगाए जाने का और दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध तेल के निर्यात पर भी पूर्ण प्रतिबन्ध लगाने का भारत का पूर्ण समर्थन व्यक्त किया।

भारत दक्षिणी अफ्रीका के मुक्ति आन्दोलनों तथा जिम्बाब्वे के पेट्रिओटिक फ्रन्ट, नामीबिया के स्वापो तथा दक्षिण अफ्रीका के ए.एन.सी. को सम्भव सामग्रीगत सहायता प्रदान करता रहा। भारत ने स्वतन्त्रता आन्दोलनों के बीच एकता बनाए रखने की भी अपील की। अप्रैल, 1978 में स्वापो के अध्यक्ष श्री सेमनुजामों ने भारत की यात्रा की।

सयुक्त राष्ट्र महासभा के संकल्प के प्रत्युत्तर में, जिसमें 21 मार्च, 1978 से 21 मार्च, 1979 को संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय पृथग्वासन-विरोधी वर्ष घोषित किया गया था, भारत सरकार ने श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय समिति नियुक्त की। यह समिति पृथग्वासन के विरुद्ध जनमत तैयार करने के उद्देश्य से सगोष्ठियों, प्रकाशनों, फिल्म-शो जैसी गतिविधियों के राष्ट्र-व्यापी कार्यक्रमों को क्रियान्वित कर रही है।

मारीशस के साथ भारत के परम्परागत मैत्रीपूर्ण एवं घनिष्ठ सम्बन्ध उच्चस्तरीय यात्राओं के माध्यम से तथा द्विपक्षीय करार सम्पन्न कर और सुदृढ किए गए। मारीशस से जिन विशिष्ठ व्यक्तियों ने भारत आकर हमें गौरवान्वित किया है वे हैं: प्रधान मन्त्री श्री शिवसागर रामगुलाम जो जनवरी, 1979 में भारत आए थे, वित्त मन्त्री सर वी. रिंगादू, वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्री सम्मानीय डॉ. बसन्तराय, तथा श्रम एवं औद्योगिक सम्बन्ध मन्त्री श्री ए. आर. यूसूफ मोहम्मद। 26 से 27 जनवरी, 1979 तक हमारे विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने मारीशस की यात्रा की। दोनों देशों के बीच आर्थिक, तकनीकी एवं सांस्कृतिक सहयोग करार से सम्बद्ध अनुसमर्थन दस्तावेज का आदान-प्रदान किया गया। इस करार में अन्य बातों के साथ-साथ एक संयुक्त आयोग स्थापित करने की भी व्यवस्था है।

सेशेल्स से विदेश मन्त्री श्री गी सीनों 30 अक्तूबर से 5 नवम्बर, 1978 तक भारत की अपनी प्रथम राजकीय यात्रा पर आए। उनकी यात्रा के दौरान भारत और सेशेल्स के बीच हवाई सेवा से सम्बद्ध एक करार तथा आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग से सम्बद्ध एक करार सम्पन्न किया गया।

सितम्बर, 1978 में विदेश राज्य मन्त्री श्री समरेन्द्र कुण्डु इथोपिया के चौथे क्रान्ति दिवस समारोह के अवसर पर एक भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल को लेकर इथोपिया गए।

अगस्त, 1978 में भारत के प्रधान मन्त्री ने नैरोबी में कीनिया के स्वर्गीय जामो केन्याटा की शव-यात्रा मे भाग लिया। इस यात्रा के दौरान उन्होंने उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति श्री डेनियल अरप मोय के साथ आपसी हित के मामलों पर भी बातचीत की।

4 से 5 फरवरी, 1979 तक विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने नैरोबी की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान उन्होंने कीनिया के विदेश मन्त्री श्री एम. वइयाकी से द्विपक्षीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर विचार-विनिमय किया। 27 दिसम्बर से 8 अक्तूबर तक कीनिया के सहायक वाणिज्य मन्त्री श्री ओकीकी अमायो ने भारत की यात्रा की।

अप्रेल, 1978 में तन्जानिया के उपराष्ट्रपति श्री अबुद जुम्बे भारत की यात्रा पर आए। नवम्बर, 1978 में तन्जानिया के वित्त एवं योजना मन्त्री श्री एडविन मतई भारत-तन्जानिया संयुक्त आयोग के तीसरे अधिवेशन में भाग लेने के लिए अपने देश के प्रतिनिधि-मण्डल को लेकर भारत आए जिसमे द्विपक्षीय सहयोग के और क्षेत्र तय किए गए।

दिसम्बर, 1978 में जाम्बिया के प्रधान मन्त्री श्री डेनियल लिसुलो की भारत की राजकीय यात्रा से तथा फरवरी, 1979 में हमारे विदेश मन्त्री की जाम्बिया यात्रा से जाम्बिया के साथ सम्बन्ध और सुदृढ़ हुए। अपनी यात्रा के दौरान हमारे विदेश मन्त्री ने राष्ट्रपति कैनथ कौंडा के साथ आपसी हित के मामलों पर बातचीत की जिनमें दोनों देशो के बीच सहयोग को और बढ़ाने के तरीके तथा उपाय भी शामिल थे। प्रधान मन्त्री लिसुलो की यात्रा के दौरान एक व्यापार करार पर हस्ताक्षर किए गए तथा भारत जाम्बिया को दस करोड़ रुपयों का ऋण देने के लिए सिद्धान्त रूप में सहमत हुआ। 24 फरवरी, 1979 को भारत और जाम्बिया के बीच दोहरे कराधान से बचने से सम्बद्ध एक करार सम्पन्न हुआ।

जाम्बिया सरकार के निमन्त्रण पर संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय पृथक्वासन-विरोधी वर्ष मनाने से सम्बद्ध भारतीय राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष श्री अशोक मेहता ने 23 से 30 अक्तूबर, 1978 तक जाम्बिया की यात्रा की।

जनवरी-फरवरी, 1979 में विदेश मन्त्री गुट-निरपेक्ष देशों की समन्वय ब्यूरो की बैठक में भाग लेने के लिए मापूतो (मोजाम्बिक) गए। अपनी इस यात्रा के दौरान उन्होने राष्ट्रपति समोरा मेकेल तथा मोजाम्बिक के अन्य नेताओं से भेंट की तथा उनके साथ अन्तर्राष्ट्रीय तथा द्विपक्षीय, दोनों ही क्षेत्रों मे आपसी हित के मामलो पर विचार-विनिमय किया। तकनीकी, आर्थिक एव वैज्ञानिक सहयोग से सम्बद्ध द्विपक्षीय करार के अन्तर्गत 49 भारतीय रेलवे कार्मिक मोजाम्बिक रेलवे मे काम करने के लिए भेजे गए।

विदेश राज्य मन्त्री श्री समरेन्द्र कुण्डु ने जाइर, घाना, लाइबेरिया और सेनेगल की सद्भावना यात्रा की जिसके दौरान उन्होने इन देशो के नेताओं के साथ द्विपक्षीय सहयोग को और विकसित करने की सम्भावनाओं पर उच्च-स्तरीय विचार-विमर्श किया। समीक्षाधीन अवधि में पश्चिमी अफ्रीका से भारत आने वाले मुख्य अतिथि थे लाइबेरिया के योजना मन्त्री श्री फ्रैंकलिन नीत, सेनेगल के उद्योग मन्त्री चेरव अभिदूकेने तथा नाइजीरिया के सेनाध्यक्ष लेफ्टिनेन्ट जनरल टी. वाई. दन्जुमा।

सहारा के दक्षिण अफ्रीकी क्षेत्र के देशों के साथ द्विपक्षीय सम्बन्धों की समीक्षा करने तथा उनमें और सुधार लाने के तरीकों तथा उपायों पर विचार करने के लिए 4 से 7 फरवरी, 1979 तक सहारा के दक्षिणवर्ती अफ्रीका के भारतीय सेनाध्यक्षों का एक सम्मेलन नैरोबी मे हुआ। 4 से 5 फरवरी तक विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की तथा 6 से 7 फरवरी,

1979 तक वाणिज्य मन्त्री श्री मोहन धारिया ने इसकी अध्यक्षता की। इस सम्मेलन में इस बात के विषय में मतैक्य था कि इस क्षेत्र के देशों के साथ अपना आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग और विकसित करने की काफी गुंजाइश है तथा इस उद्देश्य के लिए अफ्रीका में अपने राजनयिक प्रतिनिधित्व को सुदृढ करना आवश्यक है।

भारत सरकार की रिपोर्ट 1979-80 के अनुसार इस अवधि में भारत और अफ्रीका (सहारा के दक्षिण मे) के सम्बन्धों का ब्यौरा इस प्रकार है—

"रोडेशिया (जिम्बाब्वे) की तेजी से बदलती हुई राजनीतिक स्थिति को देखते हुए इस वर्ष विभिन्न देशों का ध्यान दक्षिणी अफ्रीका पर केन्द्रित रहा। इस क्षेत्र के देशों के प्रति भारत की नीति जातिवादी दमन के इसके पारम्परिक रूप के पूर्ण विरोध पर दृढ़ता से आधारित थी। 'आन्तरिक व्यवस्था' के अन्तर्गत अप्रेल, 1979 मे रोडेशिया में अवैध और कपटपूर्ण चुनावों की भारत ने दृढता से निंदा की और जिम्बाब्वे मुक्ति आन्दोलन को नैतिक समर्थन और सामग्रीगत सहायता प्रदान की। इसके साथ ही उसने इस बात पर बल दिया कि यूनाइटेड किंगडम को रोडेशिया में अपने सांविधानिक दायित्व संभालने चाहिए और बहुमत शासन के आधार पर इसे स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए। भारत ने अगस्त, 1979 में लुसाका में आयोजित राष्ट्रमण्डलीय शासनाध्यक्षों के सम्मेलन में रखे गए यूनाइटेड किंगडम के प्रस्तावों का समर्थन किया और उनके शीघ्र कार्यान्वयन की आवश्यकता पर बल दिया। इन प्रस्तावों में यह कहा गया कि इस संघर्ष में उलझे सभी पक्षों को शामिल करते हुए एक स्थायी समाधान निकालने के उद्देश्य से जिम्बाब्वे के लिए एक सांविधानिक सम्मेलन आयोजित किया जाना चाहिए और एक लोकतांत्रिक संविधान स्वीकार किया जाना चाहिए जिससे यूनाइटेड किंगडम की सरकार की समुचित देखरेख में और राष्ट्रमण्डलीय प्रेक्षको के माध्यम से स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनावों द्वारा चुनी गई सरकार के गठन का मार्ग प्रशस्त हो। भारत ने बाद में इस उद्देश्य के लिए लन्दन में आयोजित इस सम्मेलन की सफल समाप्ति का स्वागत करते हुए इसे स्वतन्त्र लोकतान्त्रिक जिम्बाब्वे के आविर्भाव की दिशा में लुसाका बैठक में आरम्भ की गई प्रक्रिया की प्रथम मुख्य उपलब्धि बताया। भारत के भूतपूर्व राजनयिक श्री राजेश्वर दयाल से रोडेशिया में चुनावों के लिए राष्ट्रमडण्लीय महासचिव द्वारा स्थापित राष्ट्रमण्डलीय प्रेक्षक दल के अध्यक्ष के रूप मे कार्य करने के निमन्त्रण को स्वीकार किया। लन्दन सम्मेलन के बाद और संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् द्वारा इस आशय का एक प्रस्ताव पारित करने के बाद कि रोडेशिया के विरुद्ध लगाए गए आर्थिक प्रतिबन्ध उठाए जाने चाहिए, भारत ने उस देश के साथ अपने आर्थिक सम्बन्धों पर लगे प्रतिबन्ध को हटाने और सालसबरी में भारतीय मिशन फिर से खोलने का निर्णय किया।

भारत ने वास्तविक बहुमत शासन पर आधारित स्वतन्त्र नामीबिया की स्थापना को निष्फल करने के लिए दक्षिणी अफ्रीका द्वारा कठपुतली टर्नहाल गण की 'अन्तरिम सरकारें' बनाने की चेष्टा पर अपनी गहरी चिंता व्यक्त की।

मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने नामीबियाई लोगों के साथ मई, 1979 में अन्तर्राष्ट्रीय एकता वर्ष के अनुपालन से सम्बद्ध अपने संदेश मे नामीबियाई लोगों द्वारा अपने देश को स्वतन्त्र कराने के लिए वीरोचित संघर्ष के प्रति भारत के पूर्ण समर्थन और वचनबद्धता की पुनः पुष्टि की। उन्होने कहा कि बहुमत शासन के आधार पर नामीबिया को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की ओर ले जाने का प्रत्यक्ष उत्तर-दायित्व संयुक्त राष्ट्र पर है। भारत ने नामीबिया की स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत दक्षिण पश्चिमी अफ्रीकी लोकतांत्रिक सघ (स्वापो) को नैतिक और सामग्रीगत समर्थन देना जारी रखा।

भारत ने प्रथग्वासन की गर्हित नीति के विरुद्ध दक्षिणी अफ्रीका के मुक्ति आन्दोलन को उसके संघर्ष में नैतिक समर्थन और सामग्रीगत सहायता जारी रखी। विख्यात दक्षिण अफ्रीकी स्वतन्त्रता सेनानी नेल्सन मन्डेला को अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के लिए वर्ष 1979 का जवाहर लाल नेहरू पुरस्कार प्रदान करने के निर्णय से दक्षिण अफ्रीका में स्वतन्त्रता, न्याय और समानता के लिए भारतीय जनता की पारस्परिक गहरी वचनबद्धता को प्रतिबिम्बित करता है।

पूर्वी अफ्रीका और हिन्द महासागर के देशो मे द्विपक्षीय सहयोग के माध्यम से सम्बन्ध और सुदृढ़ हुए। विदेश राज्य मन्त्री श्री समरेन्द्र कुन्डू ने मई-जून, 1979 में युगाण्डा, जाम्बिया, मलावी और सेशेल्स की यात्रा की।

भारत ने युगांडा की नई सरकार को उनके आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सहायता के रूप में भारतीय औद्योगिक विकास वैंक के पांच करोड़ रुपए के ऋण के अतिरिक्त ढाई करोड़ रुपए का और ऋण दिया। युगांडा की तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत द्वारा दवाइयां और चावल भी भेजे गए। कीनिया में भारतीय साझेदारी से स्थापित किए गए बहुत से सयुक्त उद्यमों में संतोषजनक उन्नति हुई है। जाम्बिया और तन्जानिया के साथ आर्थिक और तकनीकी सहयोग के स्तर को भी बनाए रखा गया। दोहरे कराधान से बचने के लिए तंजानिया और जाम्बिया के साथ एक करार भी सम्पन्न किया गया। विश्व बैंक सहायता योजना के अन्तर्गत भारत के इंजीनियरिंग संस्थानो में तंजानियाई विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए व्यवस्थाओं को अंतिम रूप दिया गया। वाणिज्य सचिव दिसम्बर में अदीस अबाबा की यात्रा पर गए और इथोपिया सरकार के साथ लाभदायक बातचीत की और ऐसे क्षेत्र तय किए जिनमें परस्पर लाभ के लिए द्विपक्षीय सहयोग दिया जा सकता है। रोडेशिया मे अवैध सरकार द्वारा जाम्बिया और मोजाम्बिक के अग्र-रेखी राज्यों पर आक्रमण करने के बाद उन्हें चिकित्सा-सामग्री के रूप में आपात्कालीन राहत सहायता प्रदान की गई। बोत्सवाना, मलावी, लिसोथो और मोजाम्बिक के साथ तकनीकी सहयोग के विशिष्ट कार्यक्रम तैयार किए जा रहे हैं।

विदेश राज्य मन्त्री, श्री समरेन्द्र कुन्डू ने सेशेल्स के स्वतन्त्रता दिवस समारोह में भाग लिया। 'आई. एन. एस. शक्ति' ने इस अवसर पर सद्भावना

यात्रा की। सेशेल्स के परिवहन, श्रम और स्वास्थ्य मन्त्री और मुख्य वित्त सचिव, मुख्य आवास सचिव और विदेश सचिव ने भी इस वर्ष के दौरान भारत की यात्रा की।

मन्त्री स्तरीय यात्राओं के आदान-प्रदान और सांस्कृतिक तथा शैक्षिक क्षेत्रो में आदान-प्रदान के माध्यम से मारीशस के साथ सम्बन्ध और सुदृढ़ हुए। मारीशस के प्रधान मन्त्री ने इस वर्ष दो बार भारत की यात्रा की। भारत-मारीशस संयुक्त आयोग की प्रथम बैठक नई दिल्ली में अप्रेल में हुई। इसने दोनों देशों के बीच तकनीकी और सांस्कृतिक सहयोग के बारे में समीक्षा की और जिन क्षेत्रों में और आगे सहयोग हो सकता है उनका पता लगाया। इस बैठक मे अन्य बातो के,साथ-साथ मारीशस को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत से भारतीय तकनीकी और आर्थिक सहयोग (आई. टी. ई. सी.) के अन्तर्गत विशेषज्ञो की प्रतिनियुक्ति करने पर और वाणिज्यिक ऋण और सहायता देने पर भी सहमति हुई।

भारत ने नाइजीरिया और घाना के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखे। मई–जून, 1979 मे नाइजीरिया के उद्योग मन्त्री की भारत यात्रा से उस देश के साथ व्यापक आर्थिक सहयोग को और दृढ करने में सहायता मिली। नाइजीरिया के साथ आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग सयुक्त आयोग स्थापित करने के एक करार को अन्तिम रूप दिया गया।

लाइबेरिया के साथ इस वर्ष की एक नई और उल्लेखनीय घटना यह थी कि भारत, यूरोपीय आर्थिक समुदाय और लाइबेरिया के बीच त्रिपक्षीय कार्यक्रम के अन्तर्गत लाइबेरिया के कारीगरों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई जिसमें *युरोपीय आर्थिक समुदाय इनकी अन्तर्राष्ट्रीय यात्रा-खर्च वहन करेगा और भारत* उनका प्रशिक्षण-खर्च।

अक्तूबर, 1979 मे भारत द्वारा आइवरी कोस्ट पर एक आवासीय मिशन खोलने से फ्रांकोफोन के साथ सम्बन्धो को बढाने की उसकी इच्छा प्रतिबिम्बित होती है। अप्रेल-मई मे सेनेगल के उद्योग मन्त्री की भारत यात्रा के दौरान आर्थिक सहयोग से सम्बद्ध एक प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर हुए। इसमे कई क्षेत्रो मे सहयोग की व्यवस्था है और इससे उस देश के साथ भारत के सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों को दृढ करने में भी सहायता मिली।

भारत ने जाइर को अकाल के समय राहत सहायता के रूप मे गेहूँ, चावल, दवाइयाँ और बच्चो के लिए खाद्य सामग्री भेजी।

भारत ने अफ्रीका आर्थिक आयोग के साथ एक सहयोग करार भी किया। इसमें संयुक्त राष्ट्र अफ्रीकी विकास न्यास निधि के लिए 50 लाख रुपए की व्यवस्था की गई। यह पहला मौका है जब किसी गैर-अफ्रीकी विकासशील देश ने इस प्रकार का दान दिया है।"

अप्रेल, 1980 में जाम्बिया के राष्ट्रपति ने भारत-यात्रा की और भारत के राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने उनके सम्मान में रात्रि-भोज में कहा कि

सदा ही अफ्रीका की आकांक्षाओं का खुले दिल से समर्थन किया है। जिम्बाब्वे की मुक्ति से दक्षिणी अफ्रीका में स्वतन्त्रता के लिए एक नया द्वार खुला है। दक्षिणी अफ्रीका के स्वाधीनता संग्रामों में जाम्बिया तथा राष्ट्रपति कौंडा द्वारा निभाई गई महत्त्वपूर्ण भूमिका की चर्चा करते हुए राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने कहा कि जिम्बाब्वे के मुक्ति संग्राम में जाम्बिया द्वारा की गई निस्वार्थ कुर्बानियाँ अपनी मिसाल आप हैं। श्री रेड्डी ने कहा कि नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की स्थापना किए बगैर विकासशील देशों की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। श्री रेड्डी ने कहा कि दक्षिणी अफ्रीका के स्वाधीनता संग्रामों में श्री कौंडा तथा उनके महान् देश का योगदान सर्वविदित है। जिम्बाब्वे की मुक्ति के लिए जाम्बिया की निस्वार्थ कुर्बानी बेमिसाल है। श्री रेड्डी ने कहा कि हम यह महसूस करते हैं कि अब वह समय आ गया है जबकि नामीबिया में दक्षिण अफ्रीका के गैर-कानूनी शासन का अन्त करने तथा दक्षिण अफ्रीका की जघन्य रंगभेद की प्रणाली को समाप्त करने के लिए अपने प्रयासों में तेजी लाई जाए। श्री रेड्डी ने कहा कि हमारे पड़ौस में हाल ही में उत्पन्न स्थिति से सभी चिंतित हैं। शीतयुद्ध की ओर रूझान और बड़ी शक्तियों के बीच आपसी प्रतिस्पर्धा एक अशुभ लक्षण है। हथियारों की सप्लाई से क्षेत्रीय शान्ति और स्थिरता को खतरा पैदा हो गया है। राष्ट्रपति ने कहा कि दोनों ही देश विकासशील हैं। हमारी मान्यता है कि हमारे जैसे देशों की समस्याओं का अन्तिम समाधान एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के बिना नहीं खोजा जा सकता है। अतः इसीलए भारत और जाम्बिया, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था मे बराबर के साझीदार बन सकते हैं और अपनी पूर्ण विकासीय क्षमता प्राप्त कर सकते हैं।

भारत के राष्ट्रपति, श्री नीलम संजीव रेड्डी के निमन्त्रण पर जाम्बिया गणराज्य के राष्ट्रपति तथा श्रीमती बेटी कौन्डा ने 12 से 15 सितम्बर, 1980 तक भारत की राजकीय यात्रा की। जाम्बिया गणराज्य के राष्ट्रपति और भारत के प्रधान मन्त्री ने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सम्पूर्ण क्षेत्र पर विस्तार से बातचीत की। दोनों नेताओं ने सभी क्षेत्रों मे दोनों देशों के सम्बन्धों और उन्हें और विकसित करने के उपायों की समीक्षा भी की। प्रधान मन्त्री ने भारत की यह बात फिर दोहराई कि वह दक्षिणी अफ्रीका में मुक्ति संघर्ष के उद्देश्य और आकांक्षाओं भलीभाँति समझता है। दोनों पक्षों ने इस बात पर ध्यान दिया कि जिम्बाब्वे के अल्पसंख्यक शासन से मुक्त होने से दक्षिणी अफ्रीका में स्वाधीनता का एक नया क्षितिज खुल गया है। उन्होंने स्वाधीन जिम्बाब्वे के राष्ट्रमण्डल, गुट-निरपेक्ष आन्दोलन और संयुक्त राष्ट्र में प्रविष्ट होने का स्वागत किया। दोनों नेता इस बात से सहमत थे कि नामीबिया के दक्षिण अफ्रीका के गैर-कानूनी आधिपत्य से मुक्त हुए बिना और दक्षिण अफ्रीका में वर्ण-भेद के ढाँचे को समाप्त किए बिना दक्षिणी अफ्रीका में तनाव और टकराव को समाप्त नहीं किया जा सकता और न ही शान्ति स्थापित हो सकती है। उन्होंने नामीबिया के लोगों के स्वतन्त्रता पाने के अमिट अधिकार

के प्रति पूर्ण समर्थन फिर से व्यक्त किया और दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका पीपुल्स आर्गेनाइजेशन, जो कि नामीबिया के लोगों का एक मात्र न्यायपूर्ण और वास्तविक प्रतिनिधि संगठन है, के नेतृत्व मे चल रहे संघर्ष के प्रति एकजुटता प्रदर्शित की। भारत के प्रधान मन्त्री ने दक्षिण अफ्रीकी शासन द्वारा अग्रिम पंक्ति के देशों के खिलाफ बिना किसी कारण के सशस्त्र आक्रमण करने की कार्रवाइयों की भारत की ओर से कठोर निन्दा की।

दोनों नेताओं ने हिन्दमहासागर में महाशक्तियों की सैनिक उपस्थिति और होड़ मे वृद्धि होने पर गहरी चिन्ता व्यक्त की। इनमें दियागो गार्सिया अड्डे को सुदृढ़ किए जाने पर विशेष चिन्ता व्यक्त की गई। तटवर्ती और आन्तरिक देशों की स्पष्ट इच्छा के बावजूद महाशक्तियां सैनिक होड़ करने में लगी है जिसका इस क्षेत्र की शान्ति और स्थिरता पर गम्भीर असर पड़ सकता है। दोनों नेताओं ने हिन्द महासागर में शस्त्र परिसीमन के सम्बन्ध मे सोवियत संघ और अमेरिका के बीच चल रही द्विपक्षीय वार्ता के स्थगन पर सखेद ध्यान दिया। उन्होंने महाशक्तियों तथा हिन्दमहासागर का प्रयोग करने वाले अन्य बड़े प्रमुख देशों से अनुरोध किया कि वे हिन्दमहासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित करने के संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र 1971 पर अमल करवाए जाने की दृष्टि से 1981 मे श्रीलका मे बुलाए जाने वाले हिन्दमहासागर सम्बन्धी सम्मेलन की तैयारी के सम्बन्ध मे तटवर्ती और आन्तरिक देशों के साथ सहयोग करें।

दोनो पक्षो का यह विचार था कि दक्षिण-पश्चिम एशिया में हुई हाल की घटनाओं से तनाव बढा है और महाशक्तियों के टकराव की सम्भावना मे वृद्धि हुई है। फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया कि अफगानिस्तान की स्थिति का बातचीत से और शक्तिपूर्ण राजनीतिक समाधान निकालने की आवश्यकता के बारे मे सामने आ रही आम सहमति एक रचनात्मक घटना है। दोनों पक्षों ने आशा व्यक्त की कि इस दिशा मे हो रहे प्रयत्नो से ऐसा राजनीतिक समाधान निकालने मे मदद मिलेगी जिसके अन्तर्गत इस क्षेत्र मे सभी देशों की प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता, प्रादेशिक अखण्डता और गुट-निरपेक्ष स्थिति का आदर दिया जाएगा।

दोनो पक्षों ने पश्चिम एशिया मे स्थिति के बिगड़ने पर चिन्ता प्रकट की। उन्होंने कहा कि जून, 1967 के बाद से अधिकृत सभी अरब क्षेत्रों से इजराइल को तुरन्त हट जाना चाहिए। दोनो पक्षो ने इस बात की पुष्टि की कि फिलिस्तीन का प्रश्न समस्या का मूल है और जब तक बातचीत में फिलिस्तीन मुक्ति संगठन के समान साझीदार मानकर इसका संतोषजनक समाधान नहीं निकाला जाता, समाधान निकालने के विषय में कोई प्रयास सफल नहीं हो सकता। फिलिस्तीनी लोगों को उनके स्वदेश के सम्बन्ध में अधिकार और अपना ही राष्ट्र-राज्य फिर से करने के अधिकार को माना जाना चाहिए। दक्षिण-पूर्व एशिया मे वर्त स्थिति की समीक्षा की गई। दोनो पक्षों ने आशा व्यक्त की कि संयम और

के रास्ते को माना जाएगा तथा ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जाएगा जिसमे सभी देशों को प्रभुसत्ता और स्वतन्त्र अस्तित्व की पूर्ण सुरक्षा हो सकेगी।

दोनो पक्षों ने दुनिया को परमाणु हथियारो से मुक्त बनाने के लक्ष्य के प्रति अपनी प्रतिवद्धता की घोषणा की। दोनो का विचार था कि परमाणु मुक्त क्षेत्र बनाने या थोपने के सम्बन्ध में किसी उक्त क्षेत्र विशेष को अलग रखने के प्रयास से सर्वव्यापी परमाणु निरस्त्रीकरण का बुनियादी लक्ष्य प्राप्त करने से ध्यान हट जाएगा।

दोनों पक्षों ने गुट-निरपेक्षता की नीति में फिर से आस्था व्यक्त की और इस बात पर ध्यान दिया कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन, जो अब दुनिया भर के करोड़ों की आशाओ और आकांक्षाओ का प्रतिनिधित्व करता है, अब विश्व-शान्ति के लिए एक स्वतन्त्र और रचनात्मक शक्ति बन गया है। दोनो ने आशा व्यक्त की कि गुट-निरपेक्षता के सिद्धान्तों का कडाई से पालन करने और गुट-निरपेक्ष देशों को जोडने वाले बन्धनो को सुदृढ़ करने से यह आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा मजबूत करने और अधिक न्यायोचित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था तैयार करने के लिए समान कार्यनीति अपनाने मे सहायक होगा। दोनों पक्ष 1981 में नई दिल्ली में होने वाले गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन की सफलता के लिए मिलकर कार्य करने के लिए सहमत हुए।

जाम्बिया के राष्ट्रपति और भारत के प्रधान मन्त्री इस बात से सहमत थे कि विश्व आर्थिक स्थिति विकासशील देशों के लिए बिगड़ती जा रही है। उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को सुधारने तथा नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था कायम करने के लिए प्रभावी और तत्काल उपाय किए जाने का आग्रह किया। इस संदर्भ में उन्होने सयुक्त राष्ट्र महासभा के 1981 के उस फैसले का स्वागत किया जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के बारे में बातचीत का नया विश्वव्यापी दौर शुरू करने को कहा गया है।

दोनों नेताओ ने इस बात पर संतोष व्यक्त किया कि भारत और जाम्बिया के बीच आर्थिक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में द्विपक्षीय सम्बन्ध सुचारु रूप से निरन्तर बढ रहे हैं। दोनों ने इस बात पर पारस्परिक संतोष व्यक्त किया कि लघु उद्योगों और अन्य उद्योगों, कृषि और ग्राम विकास तथा व्यापार और सयुक्त उद्यमों के क्षेत्रों मे अधिक निकट सहयोग के लिए समझौता हो चुका है। उनका विचार था कि इस प्रकार का सहयोग उन सिद्धान्तों को दर्शाता है जो छठे गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन के आर्थिक घोषणा-पत्र में दिए गए हैं जिसमें कहा गया था। कि गुट-निरपेक्ष और अन्य विकासशील देशों के बीच विकास के लिए आर्थिक सहयोग, नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था कायम करने के संघर्ष मे महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।

भारत और राष्ट्रमण्डल

राष्ट्रमण्डल प्रभुसत्ता-सम्पन्न देशों का संगठन है जिसकी वर्तमान सदस्य

का आदान-प्रदान भी कर सकते हैं। वैधानिक व कानून सम्बन्धी प्रारूप तैयार करने वालों के प्रशिक्षण के कार्यक्रम भी शुरू किए गए हैं।

विचारों के आदान-प्रदान का उपयोगी मंच

राष्ट्रमण्डल सदस्य-देशों के नेताओं को विचारों के आदान-प्रदान का उपयोगी मच प्रदान करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रमण्डलीय मामलों में उनके बीच अधिक सद्भाव और सहयोग उत्पन्न होता है। एक बार इस छोटे, पर अपेक्षाकृत अधिक सगठित मच पर आम सहमति प्राप्त हो जाने के बाद अपेक्षाकृत बड़े अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जैसे संयुक्त राष्ट्र मे अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य किया जा सकता है। राष्ट्रमण्डल के विकसित देशो की उपस्थिति इस सम्बन्ध मे उपयोगी है क्योंकि सन् 1973 मे ओटावा में हुए राष्ट्रमण्डल के शासनाध्यक्ष सम्मेलन से, यह औपचारिक विचार-विमर्श की बजाय राजनीतिक और आर्थिक विषयों पर उपयोगी व अधिक व्यावहारिक विचार-विनिमय की दिशा मे प्रयत्नशील है। इसका मुख्य उद्देश्य विकसित और विकासशील देशों के बीच अन्यायपूर्ण आर्थिक विषमताओ को दूर करना है। किंगस्टन मे सन् 1975 मे विशेषज्ञों के दल का निर्माण किया गया था जिसका काम विकसित और विकासशील देशों के बीच खाई पाटने के लिए विभिन्न उपाय और साधन सुझाना था।

राजनीतिक क्षेत्र—राजनीतिक क्षेत्र मे राष्ट्रमण्डल ने दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया की जातिभेद की नीतियों का खुलकर और स्पष्ट रूप मे विरोध किया है। जब मोजाम्बिका ने रोडेशिया के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए थे तो राष्ट्रमण्डल ने मोजाम्बिक की सहायता के लिए एक विशेष कार्यक्रम शुरू किया था। इस कार्यक्रम का उद्देश्य आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के कारण मोजाम्बिक की जो हानि हो रही थी, उसकी पूर्ति करना था। इस विषय में बहुत तेजी से कार्यवाही की गई है।

राष्ट्रमण्डल मे भारत की भूमिका

राष्ट्रमण्डल के अधिवेशनों मे भारत को भूमिका सदैव महत्त्वपूर्ण रही है। अप्रेल-मई, 1975 में किंगस्टन (जमैका) मे हुए राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन मे प्रधान-मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की भूमिका बहुत ही उल्लेखनीय थी। श्रीमती गांधी ने 29 अप्रेल के अपने भाषण में कहा कि "राष्ट्रमण्डल ऐसी स्थिति मे है कि वह सदस्य-देशो की समस्याओ को सहानुभूतिपूर्वक समझने और उन्हें दूर करने की दिशा मे कदम उठाने की पहल कर सकता है। पहले राष्ट्रमण्डल की बैठकों मे हम जाति व रगभेद की समस्या पर विचार करते थे। आज हम सर्व-सम्मति से इसे एक घातक रोग मानते है और महसूस करते हैं कि इससे राष्ट्रमण्डल नष्ट हो सकता है। उसी तरह हम आर्थिक विषमता पर विचार कर सकते हैं और मिल-जुलकर कदम उठाने का वातावरण तैयार कर सकते हैं। राष्ट्रमण्डल के वर्तमान अधिवेशन मे तथा भविष्य के अधिवेशनों में इस पर विचार होना चाहिए। आज की मांग सृजनात्मक

दृष्टिकोण अपनाने, सार्थक कदम उठाने तथा ठोस परिणाम प्राप्त करने की है। प्राचीन धारणाएँ समय की चुनौतियों का सामना नहीं कर सकतीं। राष्ट्रमण्डल को सभी सकीर्ण धारणाओं से ऊपर उठकर इन मामलों में साहसपूर्ण ढंग से नेतृत्व करना चाहिए।"[1]

राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन मे जो निर्णय लिए गए उनमें भारतीय प्रधान मन्त्री के विचारों की गहरी छाप रही। उन्होंने इस अवसर का विभिन्न उपयोग राष्ट्राध्यक्षों और प्रधान मन्त्रियों से व्यक्तिगत भेंटवार्ता के लिए भी किया। इस प्रकार अनेक मसलों पर भारत के दृष्टिकोण को राष्ट्रमण्डलीय सदस्यों के सामने भली प्रकार व्यक्त किया जा सका। अगस्त, 1978 के लीमा में गुट-निरपेक्ष विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन में भारत ने राष्ट्रमण्डल के देशों के बीच परस्पर सहयोग की आवश्यकता तथा गुट-निरपेक्ष देशों के बीच एकता पर बल दिया जिससे कि आर्थिक तथा राजनीतिक सहयोग के लक्ष्य की ओर बढ़ा जा सके और समानता तथा न्याय पर आधारित एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था विकसित हो सके।

राष्ट्रकुल सम्मेलन, जून 1977

जून, 1977 में जो राष्ट्रकुल अथवा राष्ट्रमण्डल सम्मेलन हुआ, उसमें भी भारत के विचारों को बड़े ध्यान के साथ सुना गया। 15 जून, 1977 को सम्मेलन की जो संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई, उस पर भारतीय प्रधान मन्त्री और विदेश मन्त्री के विचारों की स्पष्ट छाप थी।

प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने अपने भाषण में राष्ट्रमण्डल के साथ भारत के लगाव की चर्चा करते हुए कहा कि राष्ट्रमण्डल 'लघु संयुक्त राष्ट्रसंघ' है जिसने ग्रहणशीलता तथा गतिशीलता दिखाई है और जो समय के साथ आगे बढ़ा है। इस सम्मेलन मे विविध विषयों पर विचार-विमर्श किया गया जिसमें दक्षिण अफ्रीका, साइप्रस, मध्यपूर्व, हिन्द महासागर से सम्बद्ध स्थितियाँ और समुद्र सम्बन्ध कानून, मानव अधिकार तथा आर्थिक मसले शामिल हैं। राष्ट्रमण्डल के विकसित देशों ने अपने सरकारी विकास सहायता (स. वि. स.) का लक्ष्य, कुल राष्ट्रीय उत्पादन के 0–7 प्रतिशत तक रखने और अपनी सहायता की कोटि में सुधार लाने के प्रति अपनी वचनबद्धता प्रकट की। इस सम्मेलन ने यह विचार प्रकट किया कि यूरोपीय आर्थिक समुदाय को राष्ट्रमण्डल एशियायी देशों के व्यापारिक हितों का फिर से लेखा-जोखा करना चाहिए क्योंकि राष्ट्रमण्डल की प्राथमिकता को धीरे-धीरे कम करने से इन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है और यह सुझाव दिया कि वह विकासशील देशों के उपलब्ध बाजार को विस्तृत करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। इसने तकनीकी सहयोग के लिए राष्ट्रमण्डल निधि में हो रही निरन्तर वृद्धि का स्वागत किया। खेल-कूद के पृथग्वासन विषयक एक विशेष वक्तव्य में

1 हिन्दुस्तान, 30 अप्रेल, 1975, पृष्ठ 1.

निन्दा करते हुए उसे घृणास्पद बताया गया और कहा गया कि सदस्य राष्ट्र मानवीय प्रतिष्ठा को सभी क्षेत्रो मे बढाने की अपनी भरपूर कोशिश करेंगे।

इस सम्मेलन मे आस्ट्रेलिया ने एक प्रस्ताव रखा और भारत ने उसका समर्थन किया जिसके फलस्वरूप दक्षिण-पूर्व एशिया तथा प्रशान्त के शासनाध्यक्षो की एक क्षेत्रीय बैठक 11 से 16 फरवरी, 1978 तक सिडनी मे हुई। भारत तथा आस्ट्रेलिया के अतिरिक्त इस बैठक मे बंगलादेश, फिजी, मलेशिया, सिंगापुर, श्रीलका, न्यूजीलैण्ड, टोगा, वेस्टर्न सोमा, पापुआ, न्यूगिनी तथा नोरू ने भाग लिया। प्रधान मन्त्री तथा विदेश मन्त्री ने इस बैठक मे भाग लिया। बैठक मे प्रमुख राजनीतिक मसलों पर विचार-विमर्श हुआ किन्तु विशेष और क्षेत्रीय आर्थिक मसलों पर बल दिया गया। आतंकवाद की ओर विशेष रूप से इसलिए ध्यान दिया गया कि सम्मेलन शुरू होने की पूर्व-सन्ध्या को ही एक बम विस्फोट हुआ था। सम्मेलन मे यह तय किया गया कि आतंकवाद, व्यापार एव अन्तर्राष्ट्रीय दवाओं के अवैध कारोबार की जांच के लिए अध्ययन दल बनाए जाएँ। जहाँ तक व्यापार का सम्बन्ध है, यह अनुभव किया गया कि इस क्षेत्र के राष्ट्रमण्डल देशो को आपस मे व्यापार बढ़ाना चाहिए। भारत ने "ऊर्जा से सम्बद्ध समस्याओ पर विचार के लिए एक सलाहकार समिति बनाई जाए" इस बात पर जोर दिया। इस बैठक मे क्षेत्रीय राष्ट्रमण्डल के सदस्य को भाईचारे एव समानता के अनौपचारिक वातावरण मे एक-दूसरे की समस्याओं को समझने का अवसर मिला। इसमें यह निर्णय किया गया कि एशिया और प्रशान्त क्षेत्र के राष्ट्रमण्डल देशो के शासनाध्यक्षो की 1980 मे होने वाली अगली बैठक भारत मे होगी।

राष्ट्रकुल सम्मेलन (लुसाका) अगस्त, 1979

विदेश मन्त्री श्री श्यामनन्दन मिश्र ने अगस्त, 1979 मे लुसाका मे आयोजित राष्ट्रमण्डल के शासनाध्यक्षो की बैठक मे भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व किया। इस सम्मेलन की कार्यसूची मे विश्व की राजनीतिक स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास और राष्ट्रमण्डलीय सहयोग के विषय शामिल थे। इस सम्मेलन मे रोडेशिया के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मसले पर विचार-विमर्श किया गया। इसमे भाग लेने वालो ने पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा वास्तविक बहुमत के शासन के आधार पर रोडेशियायी समस्या के समाधान की रूपरेखा तैयार की। समाधान के इस प्रस्ताव का स्वागत करते हुए भारत ने इस ओर ध्यान दिलाया कि कुल मिलाकर जब तक इन प्रस्तावों पर पूर्णतः और तेजी से अमल नही किया जाता तब तक पैट्रियाटिक फ्रन्ट के सहयोग के लिए उचित परिस्थितियो के सुनिश्चित किए जाने को निर्णायक महत्त्व दिया जाए तथा रोडेशिया के विरुद्ध प्रतिबन्धों को बनाए रखने की आवश्यकता को ध्यान मे रखा जाए।

जहाँ तक आर्थिक पक्ष का प्रश्न है, इस सम्मेलन ने एक अधिक तार्किक एव न्यायसगत अर्थ-व्यवस्था की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता पर प्रकाश डाला। इस सम्मेलन मे सभी को कहा गया कि एक संरचनात्मक परिवर्तन स्वीकार करना

चाहिए और ऐसी नीतियाँ अपनानी चाहिए जिससे कि संसार भर मे आर्थिक विकास की सम्भावनाएँ बढ़ें, मुद्रा-स्फीति रुके तथा ससाधनों का पूर्ण इस्तेमाल किया जा सके। यह स्वीकार किया गया कि विकास की गति का तीव्रतर होना अत्यावश्यक है विशेष कर विकासशील देशों के विशिष्ट सन्दर्भ मे। इस सम्मेलन मे ऊर्जा सम्बन्धी समस्याओं और बहुपक्षीय व्यापार समझौतो पर भी विचार-विमर्श किया गया और इस सन्दर्भ में मार्च, 1979 मे बगलौर में हुए राष्ट्रमण्डल के औद्योगिक सहयोग मन्त्रियो की बैठक का भी जिक्र किया गया। यह भी निर्णय किया गया कि राष्ट्रमण्डल सचिवालय के अन्तर्गत एक औद्योगिक विकास यूनिट की स्थापना की जानी चाहिए जिसके पास आगामी तीन वर्षों के लिए 50 लाख डॉलर के प्रस्तावित अतिरिक्त वित्तीय ससाधन हो। भारत ने इस कार्यक्रम की शुरुआत करने मे पहल की।

राष्ट्रमण्डल का क्षेत्रीय सम्मेलन (सितम्बर, 1980)

एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के राष्ट्रमण्डलीय देशो का एक सम्मेलन नई दिल्ली मे 4 सितम्बर से 9 सितम्बर, 1980 तक हुआ। सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए श्रीमती गांधी ने कहा कि हम सच्चे अर्थों मे एक-दूसरे पर निर्भर रहने मे विश्वास रखते हैं लेकिन जब तक सभी के हित समान नहीं होंगे, इस प्रकार की परस्पर निर्भरता का कोई अर्थ नही होगा। राष्ट्र तथा लोगो के हितो की यह पारस्परिक समानता, जिसकी कि परस्पर निर्भर रहने वाले विश्व मे माँग है, का लक्ष्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब तक कि न्याय और समानता पर आधारित एक नई विश्व-व्यवस्था की स्थापना करने मे हम सफल न हो जाएँ। श्रीमती गांधी ने आगे कहा—

"हम सच्चे अर्थों मे एक-दूसरे पर निर्भर रहने में विश्वास रखते हैं लेकिन जब तक सभी के हित समान नही होंगे, इस प्रकार की परस्पर निर्भरता का कोई अर्थ नही होगा। राष्ट्रों तथा लोगो में हितों की यह पारस्परिक समानता, जिसकी कि परस्पर निर्भर रहने वाले विश्व में माँग है, का लक्ष्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब तक कि न्याय और समानता पर आधारित यह नई विश्व-व्यवस्था की स्थापना करने में हम सफल न हो जाएँ लेकिन इस प्रकार की नई विश्व-व्यवस्था की स्थापना हो सकने के लक्षण निराशाजनक है, समृद्ध वर्ग छोटी-सी भी रियायत देने के लिए तैयार नही दिखाई देते है जबकि उनके लिए ऐसा करना कोई त्याग नही माना जा सकता है लेकिन जिनसे हमें काफी लाभ हो सकता है। हमें अपने कच्चे माल के लिए उचित कीमत शायद ही कभी मिलती हो। प्रौद्योगिकी मे प्रगति हो रही है जिससे नए आयाम खुल रहे हैं जिससे नई सम्भावनाओ का जन्म होता है। लेकिन अभी भी हमारी पहुँच उन तक नहीं हो पाती है क्योंकि कदम-कदम पर प्रतिबंधात्मक प्रथाएँ हमारे मार्ग मे रुकावट डालती हैं। परिणामस्वरूप अमीर तथा गरीब देशो के जीवन स्तर में अन्तर बढता जा रहा है। दूसरी ओर, दिन-प्रति-दिन हमारे लोगों की आकांक्षाएँ बढ़ती जाती हैं। विकास का तात्पर्य है भौतिक सुवि

उपलब्ध करना तथा सामाजिक कल्याण। हम लोगों से अच्छे जीवन की उचित आकांक्षाओं को पूरा करने की बात तो दूर, उन्हें अपनी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रतीक्षा करते रहने के लिए कैसे राजी कर सकते हैं ?"

श्रीमती गांधी ने कहा कि "विश्व अर्थव्यवस्था के ढांचे मे गम्भीर तथा बुनियादी असन्तुलन पैदा हो गया है। तेल हमारे बीच तनाव का एक प्रमुख कारण बन गया है। इससे विकासशील देशों का बोझा बढ़ा है जिससे हमारे पुनर्निर्माण के कार्यों की प्रगति को ठेस पहुँची है। भारत निर्यात व्यापार से जितना भी अर्जित करता है, उसका तीन चौथाई से भी अधिक भाग पैट्रोल व पैट्रोलियम उत्पादों के आयात करने में चला जाता है। लेकिन तेल के संकट से विकसित तथा समृद्ध देश भी प्रभावित हुए हैं जो निरन्तर घटते जा रहे इस ससाधन के एक काफी बड़े भाग ही का उपयोग करते हैं। अधिक से अधिक तेल प्राप्त करने के उनके प्रयासों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इससे हमारे क्षेत्र मे सैनिक अड्डों का प्रादुर्भाव हुआ है तथा तनाव मे वृद्धि हुई है।"

पुनश्च, "शान्ति, समझौते और विकास मे हम सबकी एक समान दिलचस्पी है उसी वजह से हम सभी यहाँ एकत्र हुए हैं परन्तु शान्ति की सम्भावनाओं मे कमी आई है और हम सर्वत्र अस्थिरता की स्थिति देख रहे हैं। नौवी दशाब्दी अपशकुन के साथ शुरू हुई है। शक्तिशाली राष्ट्रो के हितों में टकराहट की वजह से हमारे आसपास के देशो की स्थिरता और शान्तिपूर्ण विकास को खतरा उत्पन्न हो गया है। पृथ्वी का कोई भी कोना दूर नही रह गया है। सामरिक महत्त्व के सघर्षों के दबाव से कोई राष्ट्र अकेला नही रह सकता है न ही वह युद्ध की लपट से बचा रह सकता है। जब सबसे अधिक शक्तिशाली देश अपने को असुरक्षित समझ रहे हैं तो हम अपने जैसे देशों की सुरक्षा के बारे मे क्या करें कहे ? अफगानिस्तान का संकट अक्षुण्ण बना हुआ है। हम किसी भी राष्ट्र के अन्दरूनी मामलो मे किसी प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध हैं, लेकिन ऐसी जटिल समस्याओं को, जिनके दूरगामी परिणाम हो सकते हैं, सुलझाने में तरफदारी का रुख या तात्कालिक सम्मेलन राजनीतिक बुद्धिमत्ता का स्थान नहीं ले सकते। कोई भी एक देश बुद्धिमानी या नैतिक श्रेष्ठता के एकाधिकार का दावा नही कर सकता। एक जगह हस्तक्षेप की निन्दा करने तथा दूसरी जगह उसी हस्तक्षेप को बर्दाश्त करने से विश्वसनीयता समाप्त हो जाती है। सौभाग्य से सम्बन्धित देशो की न्यायसगत सुरक्षा का ध्यान रखने वाले राजनीतिक हल की भावना अधिकाधिक बढती जा रही है। दक्षिण-पूर्व एशिया रणस्थली रही है और अभी भी वहाँ अशान्ति है। वहाँ फिर वही बड़ी शक्तियो के स्वार्थ की टकराहट हो रही है। हमेशा से ही हमारी भावनाएँ ही रही हैं कि इस क्षेत्र का प्रत्येक राष्ट्र अपने व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखे तथा इस क्षेत्र के कल्याण के साथ-साथ अपने हित को जोड़े।"

भारत के राष्ट्रपति श्री नीलम सजीव रेड्डी ने सम्बोधित किया कि—

"राष्ट्रमण्डल सम्मेलन का अनौपचारिक और मैत्रीपूर्ण वातावरण हमारे

देश की प्रकृति के बिल्कुल अनुरूप है। हमारा यह विश्वास है कि ऐसे वातावरण में अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के बड़े-बड़े मसलों पर विचार करते समय आपका कार्य बहुत कुछ हल्का हो जाएगा। राष्ट्रमण्डल ने समय के साथ-साथ बदलती हुई प्राथमिकताओं के अनुरूप अपने को ढाला है। यही उसके महत्त्व और निरन्तर लोकप्रियता का रहस्य है। राष्ट्रमण्डल के सचिवालय की स्थापना लन्दन में की गई थी लेकिन कोई भी लन्दन को राष्ट्रमण्डल के केन्द्र के रूप मे नही लेता है। यह ठीक है कि हम दूर-दूर बिखरे हुए हैं। लेकिन सदस्य देशों को दो मुख्य लाभों के कारण राष्ट्रमण्डल की कदर करते हैं। इसका पहला लाभ तो यह है कि वह शीर्ष स्तर से लेकर अलग-अलग देशो तक मे बिना किसी अनावश्यक औपचारिकता या सार्वजनिक विवाद के विचार-विमर्श का मच प्रदान करता है। इसका दूसरा लाभ बाहर क्षेत्रों में कार्यात्मक सहयोग को बढावा देना है। यह बात विकासशील देशो के लिए, जिनका राष्ट्रमण्डल मे बहुमत है, काफी महत्त्वपूर्ण है। हम जिन देशों का प्रतिनिधित्व करते हैं उनमें अनेक असमानताएँ होने के बावजूद अनेक समान हित भी हैं। दो पड़ोसी महासागरों के प्रदेश मे बसे हुए अपने लोगों की उन्नति के लिए अपने ढग से अपने साधनो का विकास करने का प्रयास करके ये देश एक-दूसरे की काफी मदद कर सकते हैं और एशिया-प्रशान्त क्षेत्र के रूप मे अपनी आवश्यकताओं को वाणी दे सकते हैं। हमारे बीच विचार-विमर्श और सहयोग की यह प्रक्रिया अधिक बडे क्षेत्रीय समूहों और यहाँ तक कि विश्व स्तर के मचों पर भी काफी महत्त्वपूर्ण होगी।"

"इस सम्मेलन का यह लाभ भी है कि इसमे हमे दूसरे सदस्यों के साथ अपने आपसी सम्बन्धो को मजबूत करने का अवसर मिलता है। विश्व मे बढ़ती हुई असुरक्षा को ध्यान मे रखते हुए हमें सम्मेलन की राजनीति के तन्त्र का इस्तेमाल राष्ट्रों के बीच विश्वासपूर्ण सम्बन्ध बनाने की आदतो को और मजबूत बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। विज्ञप्तियाँ और शब्द काफी नही है। हमे तो इसकी अपेक्षा रचनात्मक और लाभदायक कार्य करके अपने बारे मे जानकारी देनी चाहिए। विश्वास का वातावरण बनाने में इसका बड़ा प्रभाव पड़ेगा। पड़ोसी देशों के सहयोगी होने के परिणामस्वरूप विश्वास की एक बड़ी लहर पैदा होगी। एशियाई महाद्वीप को, जो विश्व मे सबसे अधिक जनसख्या वाला महाद्वीप है, अपने यहाँ की जनता को बेहतर सुख-सुविधा देने के लिए क्षेत्रीय आधार पर सम्पर्कों को मजबूत बनाने की विशेष आवश्यकता है।"

राष्ट्रमण्डल सम्मेलन वास्तव मे मतभेदो का मंच था। इस सम्बन्ध मे श्री विनोद कुमार मिश्र ने सितम्बर के 'हिन्दुस्तान' मे जो समीक्षा प्रस्तुत की वह यथार्थ सामने ला देती है। श्री मिश्र ने लिखा है कि—

"एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के राष्ट्रमण्डलीय देशों के सम्मेलन में राजनीतिक प्रश्नो पर आम सहमति का विकास हो पाएगा, ऐसी कल्पना तो किसी ने [illegible] की थी। किन्तु क्षेत्रीय राष्ट्रमण्डल सम्मेलन मे औपचारिक विचार-[illegible] जो चित्र सामने आया उससे स्पष्ट हो गया कि विश्व की ज्वलन्त [illegible]

इन देशों में बुनियादी मतभेद हैं। इनके बीच एकता का आधार सिर्फ यही प्रतीत होता है कि सम्मेलन में हिस्सा लेने वाले सभी राष्ट्र कभी ब्रिटिश साम्राज्य के अंग थे।"

"एशिया की भूमि पर अभी अफगानिस्तान तथा कम्पूचिया मुख्य रूप से तनाव के क्षेत्र हैं। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, मलयेशिया तथा सिंगापुर पहले से ही अफगानिस्तान में रूसी सेना के हस्तक्षेप तथा कम्पूचिया मे वियतनामी फौजों के प्रवेश के विरुद्ध हैं। वास्तव में इन सवालों पर चारों देशो के विचार वही हैं जो अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रो के है। भारत ने कम्पूचिया की हेग सामरिन सरकार को मान्यता दे दी है तथा अफगानिस्तान के बारे में उसकी वह घोषित नीति है कि संकट का राजनीतिक हल ढूंढा जाना चाहिए। भारत की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी ने क्षेत्रीय राष्ट्रमण्डल सम्मेलन के प्रारम्भ में ही 16 देशों के नेताओं का स्वागत करते हुए स्पष्ट कर दिया था कि एक देश में सैन्य हस्तक्षेप की भर्त्सना तथा दूसरे में उसे बर्दाश्त करने की नीति का हम समर्थन नही कर सकते हैं। भारत के सर्वविदित दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यदि प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अफगानिस्तान में रूस के सैनिक हस्तक्षेप की निन्दा तथा वियतनाम का बहिष्कार करने की माँग करने वालों के स्वर में अपना स्वर नहीं मिलाया है तो यह स्वाभाविक ही है। आज से लगभग 4 वर्ष पूर्व वियतनाम युद्ध की समाप्ति पर दोनों (देशो) महाशक्तियों के बीच तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया जितनी तेजी से शुरू हुई थी उतनी ही तेजी से उसमें उतार भी आया है। अमेरिकी जन-मानस को वियतनाम में अमेरिकी सेना के हस्तक्षेप से जो चोट पहुँची थी वह अब मिट गई है। अमेरिकी जनता अब पश्चाताप की आग में झुलसने की बजाय अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप के कारण नैतिक क्रोध की अग्नि में सुलग रही है। आणविक शस्त्रास्त्रों में रूस के आगे बढ जाने के कारण अमेरिका के साथ ही अन्य पश्चिमी राष्ट्रो में भी असुरक्षा की भावना के साथ ही खीज भी पैदा हो रही है। शीतयुद्ध का नया और खतरनाक दौर शुरू हो गया है।"

"यह ठीक है कि पिछले अनेक वर्षों के दौरान सैनिक सन्धियों मे बिखराव और कमजोरी आई है। 'सिएटो' तथा 'सैण्टो' सैनिक सन्धियाँ समाप्त हो चुकी हैं। पश्चिमी राष्ट्रों की 'नाटो' सैनिक सन्धि मे भी अनेक नीति सम्बन्धी सवालों पर मतभेद है। वास्तव में इस रुख को शान्ति स्थापना के प्रयासों में सहायक ही माना जाएगा। किन्तु दूसरी ओर गैर-सैनिक सगठनों मे खेमेबन्दी तथा शीतयुद्ध का नया दौर शुरू हो गया है। राष्ट्रमण्डलीय राष्ट्रों का सगठन तथा निर्गुट राष्ट्रों का सम्मेलन भी आज इस खेमेबन्दी का बुरी तरह शिकार है। कम्पूचिया तथा मिस्र-इजरायल समझौते के सवालों पर निर्गुट राष्ट्र सम्मेलन मे पिछले वर्ष जो गम्भीर विवाद पैदा हुआ था वह तो अभी हाल ही की घटना है।"

"निर्गुट राष्ट्र सम्मेलन मोटे तौर पर दो खेमों में विभाजित हो गया है। एक अमेरिका दृष्टिकोण का समर्थन करता है तो दूसरा सोवियत रूस का पक्षधर है।

ारत ने शीतयुद्ध के इस नए दौर मे भी निर्गुटता की नीति पर कायम रहने तथा मस्याओं के समाधान के लिए रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने की कोशिश की है।"

"क्षेत्रीय राष्ट्रमण्डल सम्मेलन मे भारत तथा कुछ अन्य राष्ट्रों के दृष्टिकोणों स्पष्ट अन्तर प्रकट हुआ है। कुछ लोगो ने ऐसी आलोचना भी की है कि सम्मेलन में ारत अलग-थलग पड़ गया है। भारतीय दृष्टिकोण का किस राष्ट्र ने समर्थन किया था किस राष्ट्र ने विरोध, इसका विशेष महत्त्व नही है। ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है क क्षेत्रीय राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलन में भारत ने जो रुख अख्तियार किया है क्या ह मुनासिब था? क्या इससे एशिया मे शान्ति स्थापना के प्रयासो में मदद मिलेगी?"

आधुनिक विश्व की राजनीति इतनी पेचीदा होती जा रही है कि किसी भी मसले पर एक पक्ष को पूर्णतः सही तथा दूसरे को गलत बता देना आसान नही रह गया है। साथ ही एक पक्ष को पूर्ण समर्थन देने तथा दूसरे का पूर्णतः विरोध करने पर समस्या का समाधान निकालने में भी किसी प्रकार की मदद नही मिलती है। कम्पूचिया तथा अफगानिस्तान के मसले इसके अपवाद नही है। सबसे पहले कम्पूचिया को ही लें। इसमें कोई सन्देह नही है कि कम्पूचिया की मौजूदा हेग सामरिन सरकार की स्थापना वियतनामी सेना की सहायता से ही सम्भव हुई है और वियतनाम के पीछे सोवियत रूस का समर्थन है। साथ ही यह भी सर्वविदित है कि कम्पूचिया की जिस सरकार का पतन हुआ है वह घोर अत्याचारी तथा निकम्मी थी और उसे चीन का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। कम्पूचिया के मामले में अमेरिका चीन का ही समर्थन सिर्फ इसीलिए कर रहा है कि वह दक्षिण-पूर्व एशिया मे रूस के प्रभाव का विस्तार नही चाहता है। आदर्श स्थिति तो वही होगी कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के छोटे-छोटे देशों पर अमेरिका, रूस या चीन किसी का भी प्रभाव न हो। किन्तु अभी तक यह सम्भव नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में भारत यदि किसी भी स्थिर सरकार को मान्यता प्रदान करता है तो इस पर आपत्ति प्रकट करने का कोई आधार नजर नहीं आता है। प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिर गांधी ने इस ओर ध्यान भी आकर्षित किया है कि जो राष्ट्र वर्षों तक चीन को राजनयिक मान्यता प्रदान करता है तो इस पर आपत्ति प्रकट करने का कोई आधार नजर नहीं आता है। प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस ओर ध्यान भी आकर्षित किया है जो कि राष्ट्र वर्षों तक चीन को राजनयिक मान्यता देने का विरोध करते रहे वही आज कम्पूचिया को मान्यता देने की खिलाफत कर रहे हैं।

इसी प्रकार अफगानिस्तान में आदर्श स्थिति यही होगी कि अफगानिस्तान के अन्दरूनी मामलों मे किसी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप न हो तथा रूसी सेनाएँ वापस बुला ली जाएँ। किन्तु बाहरी हस्तक्षेप नही होगा, इसकी गारंटी कौन देगा? अफगानिस्तान के सवाल पर भारत ने सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया है। इसके ऐतिहासिक कारण हैं। चीन ने लद्दाख में हजारों वर्गमील भारतीय क्षेत्र पर कब्जा जमा रखा है। वह उसे खाली करने के लिए तैयार नहीं है। कश्मीर के जिस हिस्से पर कब्जा जमा रखा है और जिसे वह आजाद कश्मीर के नाम से

चीन ने काराकोरम राजमार्ग का निर्माण किया है जो पाकिस्तान को चीन से जोड़ता है। भारत की कोई भी सरकार चीन तथा पाकिस्तान के षड्यन्त्र को कभी नजरन्दाज नहीं कर सकती है।

अफगानिस्तान में रूसी फौज की मौजूदगी से बेशक भारत की पश्चिमी सीमा के निकट गम्भीर खतरा पैदा हो गया है, किन्तु चीन और पाकिस्तान तो भारत पर पहले ही व्यापक आक्रमण कर चुके हैं और दोनों ही भारतीय भूखण्ड पर अधिकार जमाए हुए हैं। इन सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, भारत के किसी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी गुट के स्वर में स्वर मिलाकर चलना न तो नैतिक दृष्टि से उचित होगा, न ही यह उसके राष्ट्रहित में होगा।

क्षेत्रीय राष्ट्रमण्डल सम्मेलन विश्व की या एशिया के इस भू-भाग की राजनीतिक समस्याओं का हल निकालने में सफल नहीं हो सकती है। हाँ, इस संगठन के माध्यम से इन देशों के बीच आर्थिक सहयोग बढ़ाने की व्यापक सम्भावनाएँ हैं। इस दिशा में पहल भी की गई है।

भारत और संयुक्त राष्ट्रसंघ

भारत उन देशों में से है जिन्होंने सन् 1945 में सान-फ्रांसिसको में संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के जन्म से ही भारत उसके आदर्शों के लिए निरन्तर कार्य करता रहा है। भारत सदा इस बात का इच्छुक रहा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ सही अर्थों में सारे संसार की प्रतिनिधि संस्था का रूप ले ले। इसी कारण उसने चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्थान देने का समर्थन किया, भले ही चीन के साथ उसके क्षेत्रीय विवाद थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत ने हमेशा शान्ति स्थापना के सभी कार्यों का हार्दिक समर्थन किया है। कोरिया और स्वेज के संकट के समय भारत के कार्य की सर्वत्र सराहना हुई। कोरिया में भारत का मुख्य रूप से बीच-बचाव का काम था। काँगो में भारत ने जो काम किया वह ठोस था। वहाँ उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की अपील पर अपने सैनिक भेजे। कुल मिला कर संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत की विदेश नीति का सार रहा है—हर प्रकार के उपनिवेशवाद, जातिवाद और रंगभेद का विरोध, विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में सहयोग, भारतीय हितों को आघात पहुँचाने वाले प्रस्तावों के विरुद्ध कूटनीतिक मोर्चा, संयुक्त राष्ट्रसंघ की उन अपीलों का सम्मान जो देश के हितों के विपरीत न हों, संघ के निःशस्त्रीकरण के प्रयासों में योगदान, आदि। भारत संघ से सम्बद्ध संस्थाओं के कार्यों में भी प्रमुख भाग लेता आया है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ, यूनेस्को और विश्व-स्वास्थ्य संगठन के कार्यों में उसकी विशेष रुचि रही है। भारत के प्रतिनिधियों ने संघ की विभिन्न शाखाओं तथा उनके विभिन्न आयोगों और विशिष्ट समितियों में सक्रिय भाग लेकर देश का गौरव बढ़ाया है।

भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य-कलापों में कितना सक्रिय रहा है इसका एक अनुमान हमें भारत सरकार की वार्षिक रिपोर्ट वर्ष 1978–79 के अग्रलिखित कुछ अंशों से हो सकेगा—

भारत के विदेश मन्त्री के नेतृत्व में भारत का एक प्रतिनिधि-मण्डल नामीबिया के प्रश्न पर विचार करने के लिए 24 अप्रैल से 3 मई, 1978 तक हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा के विशेष अधिवेशन में भाग लेने के लिए गया। मन्त्री महोदय ने अपने भाषण मे इस बात पर जोर दिया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को इस विशेष अधिवेशन के रूप में यह अन्तिम अवसर प्राप्त हुआ है जब उसे नामीबिया की जनता के लिए सच्ची आजादी दिलाने की दिशा मे ठोस कदम उठाने चाहिएँ। उन्होंने नामीबिया की जनता के मुक्ति संघर्ष के लिए भारत के दृढ़ और स्थायी समर्थन को दोहराया और उस देश के स्वतन्त्रता सेनानियों को हर प्रकार का सम्भव समर्थन करने का वचन दिया। विशेष अधिवेशन मे एक घोषणा पारित की गई और साथ ही एक क्रियाशील कार्यक्रम स्वीकृत किया गया जो शुरू में नामीबिया परिषद् द्वारा तैयार किया गया था जिसका भारत एक सक्रिय सदस्य और उपाध्यक्ष था। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत दक्षिण अफ्रीका द्वारा नामीबिया से पूर्णत. तत्काल और बिना शर्त निकल जाने की माँग की गई। घोषणा मे इस बात को दोहराया गया कि जब तक नामीबिया को सच्चे आत्म-निर्णय का अधिकार और राष्ट्रीय स्वाधीनता नही प्राप्त हो जाती उसका सीधा दायित्व संयुक्त राष्ट्रसंघ पर रहेगा। इसी के अनुसार महासभा ने अपने उस वचन को दोहराया जो उसने नामीबिया जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अपना दायित्व पूरा करने के लिए किया था।

सयुक्त राष्ट्रसघ की महासभा का दसवाँ विशेष अधिवेशन जिसका लक्ष्य निरस्त्रीकरण था, 23 मई से 30 जून, 1978 तक हुआ। प्रधान मन्त्री ने इस विशेष अधिवेशन मे भाग लेने वाले भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व किया। उन्होंने अपने भाषण मे इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि निस्सकोच भाव मे पूर्ण निरस्त्रीकरण की प्रगति के चरम लक्ष्य को ध्यान मे रखा जाए और उन्होने एक ऐसे भेदभाव रहित कार्यक्रम को तैयार करने की आवश्यकता को दोहराया जो सार्वभौम प्रयोग पर आधारित हो और किसी भी प्रकार से एकाधिकारवादी लक्ष्य या तरजीही व्यवहार से रहित हो। उन्होने कहा कि इस दिशा मे पहला कदम यह होना चाहिए कि नाभिकीय प्रौद्योगिकी के सैनिक प्रयोजनों के लिए उपयोग को गैर-कानूनी करार देने, अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के अन्तर्गत नाभिकीय अस्त्र के समूह को स्थिर करने और सभी नाभिकीय अस्त्रों के पूर्ण बहिष्कार की प्राप्ति के उद्देश्यो से शस्त्र भण्डार में क्रमिक कमी करने की घोषणा कर दी जाए। उन्होंने एक ऐसी व्यापक शस्त्र परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि को सम्पन्न करने की वकालत की जिसमें स्वतन्त्र निरीक्षण के द्वारा उसके उल्लंघन को रोकने की भी व्यवस्था हो।

एक निरस्त्रीकरण आयोग की स्थापना की गई। विदेश मन्त्रालय के सचिव श्री एम. ए. वेलोड़ी सर्वसम्मति से सयुक्त राष्ट्रसघ निरस्त्रीकरण आयोग के प्रथम अध्यक्ष चुने गए।

ब्यूनस आयरस में 30 अगस्त से 12 सितम्बर, 1978 तक हुए ... देशों के बीच सहयोग पर सयुक्त राष्ट्रसघ के सम्मेलन मे भारतीय प्रति...

का नेतृत्व योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री डॉ टी. लकड़ावाला ने किया। इस सम्मेलन का उद्देश्य विकासशील देशो में परस्पर सहयोग के माध्यम से राष्ट्रीय तथा सामूहिक आत्म-निर्भरता को बढावा देना था। सम्मेलन ने एक कार्य योजना बनाई जिसमें विकासशील देशों के बीच तकनीकी सहयोग के उद्देश्यों की व्याख्या की गई और विश्व, अन्तर्प्रादेशिक, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तरों पर कार्यवाही करने के लिए सुस्पष्ट सिफारिशें की।

संयुक्त राष्ट्र महासभा के 33वें अधिवेशन मे जो 19 सितम्बर से 21 दिसम्बर, 1978 तक हुआ और फिर 15 से 29 जनवरी, 1979 तक हुआ। भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने किया। विदेश मन्त्री ने अपने भाषण मे, जो उन्होने हिन्दी मे दिया, प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय मसलो के सम्बन्ध मे भारत सरकार की नीति और दृष्टिकोण की रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होने अनुरोध किया कि आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति और सम्पन्नता लाने के लिए इस्तेमाल करके सभी के लिए सुखमय ससार का निर्माण किया जाए। उन्होने आशा व्यक्त की कि आने वाले सकट के वर्षों मे विश्व समुदाय सयुक्त राष्ट्रसघ के माध्यम से स्वतन्त्रता और न्याय पर आधारित विश्व शान्ति का स्वप्न साकार करने के लिए अपने दृढ-निश्चय, यथार्थवाद और सूझ-बूझ का प्रदर्शन करेगा।

"सयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन का पाँचवाँ अधिवेशन 7 मई से 3 जून तक मनीला मे हुआ। इसमें लगभग 170 देशो के प्रतिनिधियो ने भाग लिया। वाणिज्य मन्त्री श्री मोहन धारिया ने भारतीय प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व किया। इस सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि विश्व व्यापार की वृद्धि दर घट गई है। विकासशील देशों की व्यापार सम्बन्धी शर्तें खराब हो गई हैं और इसके साथ ही सरक्षणवादी उपाय तेज किए गए हैं जिसकी वजह से विकासशील देशों मे विनिर्मित वस्तुओ के निर्यात पर बुरा असर पड़ा है। विकासशील देशो पर ऋण का बोझ भी बहुत बढ़ गया है। ये समस्याएँ विश्व अर्थ-व्यवस्था के बुनियादी पुनर्गठन की माँग करती हैं। बहुपक्षीय व्यापार वार्ताओ की ओर ध्यान दिलाते हुए भारत ने कुछ प्रत्यक्ष और सुस्पष्ट खामियो पर चिन्ता व्यक्त की—विशेषकर सुरक्षाओं, परिमाणात्मक प्रतिबन्धो और प्रशुल्क प्रस्तावों के स्वरूप और सीमाओ के क्षेत्र मे। विकसित देशों द्वारा अपनाए गए सरक्षणात्मक उपायों पर गम्भीर चिन्ता व्यक्त करते हुए भारत ने अंकटाड के अन्तर्गत इस सम्मेलन से एक ऐसी रूपरेखा तैयार करने की अपेक्षा की जिसके अन्तर्गत नीतियो के आधार पर ऐसे समझौते किए जा सकें जिनकी कि संरक्षणतावादी ताकतों के और अधिक बलशाली होने से पूर्व समायोजनों में मदद देने के लिए समय-समय पर अपनाए जाने की आवश्यकता है।"

"सयुक्त राष्ट्र महासभा के तेतीसवें अधिवेशन के दौरान स्थापित की गई नई अतर्राष्ट्रीय विकास नीति सम्बन्धी तैयारी समिति के 2 से 3 अप्रेल तक, 11 से

23 जून तक और 17 से 21 सितम्बर, 1979 तक तीन मुख्य अधिवेशन हुए। काफी विचार विमर्श के बाद समिति प्रस्तावना के मसौदे के बारे में सहमत हुई। इस समिति के समक्ष जो अगला कार्य होगा वह है—तीसरे संयुक्त राष्ट्र विकास दशक के लिए नीति सम्बन्धी लक्ष्यों और उद्देश्यों का पता लगाना। इस नीति का प्रयोजन नवें दशक के लिए आर्थिक विकास के बारे में परिमाणात्मक और सैद्धान्तिक इन दोनों ही लक्ष्यों को परिभाषित करना है तथा इस सम्बन्ध में नीति सम्बन्धी उपायों की एक दिशा को लेकर उसकी रूपरेखा तैयार करना है जो इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विशिष्ट क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समझौतों का मार्ग-निर्देशन करेगी और इसके लिए प्रेरित करेगी। भारत ऐसी एक अन्तर्राष्ट्रीय विकास नीति को तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहने का इच्छुक है।"

"भारत 21 जनवरी से 9 फरवरी, 1980 तक नई दिल्ली में आयोजित संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन के तीसरे सम्मेलन के लिए एक मेजवान देश बना। विदेश मन्त्री श्री पी वी. नरसिंह राव को सर्वसम्मति से इस सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया। अपने सर्वोत्तम प्रयत्नों के बावजूद इस सम्मेलन में एक दस्तावेज को लेकर मतैक्य नहीं हो पाया। परिणामस्वरूप ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों, जिनसे नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना में आगे बढ़ा जा सकता था, इसके सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने के लिए किए गए प्रयासों को एक दूसरा धक्का लगा। ये परिणाम इस नवें दशक के विकास दशाब्द के लिए अशुभ हैं।"

वर्ष 1979–80 के दौरान भारत के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध

किसी भी राष्ट्र के वैदेशिक सम्बन्धों का एक प्रमुख पक्ष उसके वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध भी होते हैं। यह उपयुक्त होगा कि हम भारत के हाल ही के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों पर दृष्टिपात करें। भारत सरकार की रिपोर्ट के अनुसार—

वर्ष 1979–80 के दौरान मन्त्रालय, भारत के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों के विकास में सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहा।

विकासशील देशों के साथ तकनीकी सहयोग के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई। विविध क्षेत्रों में विशेषज्ञों तथा अन्य कार्मिकों के लिए अफ्रीकी तथा पश्चिम एशियाई देशों के बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि-मण्डल भारत आए। इन देशों की मांगों को कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग के विदेश कार्य अनुभाग द्वारा संकलित सचार पैनलों की सुस्थापित पद्धति द्वारा पूरा किया गया। रेल इण्डिया टेकनिकल एण्ड इकोनोमिक सर्विसेज लिमिटेड (आर. आई. टी. ई. एस.), टेलीकम्युनिकेशन कन्सलटेंट्स इण्डिया लि., (टी. सी. आई. एल), भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लि., (बी. एच. ई. एल.) जैसी तकनीकी एजेंसियों ने भी इस उद्देश्य के लिए भरती करने वाले संगठनों के साथ विशिष्ट करार सम्पन्न किए। इसके अतिरिक्त भारतीय तकनीकी एवं आर्थिक सहयोग कार्यक्रम (आई. टेक) के अन्तर्गत 70 से अधिक विशेषज्ञ विकासशील देशों में प्रतिनियुक्त किए गए। इन देशों के 78 प्रशिक्षणार्थियों को गैर-सैनिक क्षेत्र में और 411 को रक्षा स्थापनाओं में प्रशिक्षण सुविधाएं प्रदान की गयी।

का नेतृत्व योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री डॉ टी. लकड़ावाला ने किया। इस सम्मेलन का उद्देश्य विकासशील देशों में परस्पर सहयोग के माध्यम से राष्ट्रीय तथा सामूहिक आत्म-निर्भरता को बढ़ावा देना था। सम्मेलन ने एक कार्य योजना बनाई जिसमे विकासशील देशो के बीच तकनीकी सहयोग के उद्देश्यो की व्याख्या की गई और विश्व, अन्तर्प्रादेशिक, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तरों पर कार्यवाही करने के लिए सुस्पष्ट सिफारिशें की।

संयुक्त राष्ट्र महासभा के 33वें अधिवेशन मे जो 19 सितम्बर से 21 दिसम्बर, 1978 तक हुआ और फिर 15 से 29 जनवरी, 1979 तक हुआ। भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने किया। विदेश मन्त्री ने अपने भाषण मे, जो उन्होने हिन्दी मे दिया, प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय मसलो के सम्बन्ध मे भारत सरकार की नीति और दृष्टिकोण की रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होने अनुरोध किया कि आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिक की प्रगति और सम्पन्नता लाने के लिए इस्तेमाल करके सभी के लिए सुखमय संसार का निर्माण किया जाए। उन्होने आशा व्यक्त की कि आने वाले सकट के वर्षों मे विश्व समुदाय सयुक्त राष्ट्रसघ के माध्यम से स्वतन्त्रता और न्याय पर आधारित विश्व शान्ति का स्वप्न साकार करने के लिए अपने दृढ-निश्चय, यथार्थवाद और सूझ-बूझ का प्रदर्शन करेगा।

"सयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन का पाँचवाँ अधिवेशन 7 मई से 3 जून तक मनीला में हुआ। इसमे लगभग 170 देशों के प्रतिनिधियो ने भाग लिया। वाणिज्य मन्त्री श्री मोहन धारिया ने भारतीय प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व किया। इस सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा कि विश्व व्यापार की वृद्धि दर घट गई है। विकासशील देशों की व्यापार सम्बन्धी शर्तें खराब हो गई हैं और इसके साथ ही सरक्षणवादी उपाय तेज किए गए है जिसकी वजह से विकासशील देशो मे विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात पर बुरा असर पडा है। विकासशील देशो पर ऋण का बोझ भी बहुत बढ गया है। ये समस्याएँ विश्व अर्थ-व्यवस्था के बुनियादी पुनर्गठन की माँग करती हैं। बहुपक्षीय व्यापार वार्ताओं की ओर ध्यान दिलाते हुए भारत ने कुछ प्रत्यक्ष और सुस्पष्ट खामियों पर चिन्ता व्यक्त की—विशेषकर सुरक्षाओ, परिमाणात्मक प्रतिबन्धों और प्रशुल्क प्रस्तावों के स्वरूप और सीमाओ के क्षेत्र में। विकसित देशों द्वारा अपनाए गए सरक्षणात्मक उपायो पर गम्भीर चिन्ता व्यक्त करते हुए भारत ने अकटाड के अन्तर्गत इस सम्मेलन से एक ऐसी रूपरेखा तैयार करने की अपेक्षा की जिसके अन्तर्गत नीतियो के आधार पर ऐसे समझौते किए जा सकें जिनकी कि सरक्षणतावादी ताकतों के और अधिक बलशाली होने से पूर्व समायोजनो मे मदद देने के लिए समय-समय पर अपनाए जाने की आवश्यकता है।"

"सयुक्त राष्ट्र महासभा के तेतीसवें अधिवेशन के दौरान स्थापित की गई नई अंतर्राष्ट्रीय विकास नीति सम्बन्धी तैयारी समिति के 2 से 3 अप्रेल तक, 11 से

23 जून तक और 17 से 21 सितम्बर, 1979 तक तीन मुख्य अधिवेशन हुए। काफी विचार विमर्श के बाद समिति प्रस्तावना के मसौदे के बारे में सहमत हुई। इस समिति के समक्ष जो अगला कार्य होगा वह है—तीसरे संयुक्त राष्ट्र विकास दशक के लिए नीति सम्बन्धी लक्ष्यों और उद्देश्यों का पता लगाना। इस नीति का प्रयोजन नवें दशक के लिए आर्थिक विकास के बारे मे परिमाणात्मक और सैद्धान्तिक इन दोनों ही लक्ष्यों को परिभाषित करना है तथा इस सम्बन्ध में नीति सम्बन्धी उपायों की एक दिशा को लेकर उसकी रूपरेखा तैयार करना है जो इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विशिष्ट क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समझौतों का मार्ग-निर्देशन करेगी और इसके लिए प्रेरित करेगी। भारत ऐसी एक अन्तर्राष्ट्रीय विकास नीति को तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहने का इच्छुक है।"

"भारत 21 जनवरी से 9 फरवरी, 1980 तक नई दिल्ली मे आयोजित संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन के तीसरे सम्मेलन के लिए एक मेजवान देश बना। विदेश मन्त्री श्री पी. वी नरसिंह राव को सर्वसम्मति से इस सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया। अपने सर्वोत्तम प्रयत्नों के बावजूद इस सम्मेलन में एक दस्तावेज को लेकर मतैक्य नहीं हो पाया। परिणामस्वरूप ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों, जिनसे नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना में आगे बढ़ा जा सकता था, इसके सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने के लिए किए गए प्रयासों को एक दूसरा धक्का लगा। ये परिणाम इस नवें दशक के विकास दशाब्द के लिए अशुभ हैं।"

वर्ष 1979–80 के दौरान भारत के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध

किसी भी राष्ट्र के वैदेशिक सम्बन्धों का एक प्रमुख पक्ष उसके वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध भी होते है। यह उपयुक्त होगा कि हम भारत के हाल ही के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों पर दृष्टिपात करे। भारत सरकार की रिपोर्ट के अनुसार—

वर्ष 1979–80 के दौरान मन्त्रालय, भारत के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों के विकास मे सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहा।

विकासशील देशों के साथ तकनीकी सहयोग के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई। *विविध क्षेत्रो मे विशेषज्ञों तथा अन्य कार्मिकों के लिए अफ्रीकी तथा पश्चिम एशियाई* देशों के बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि-मण्डल भारत आए। इन देशों की माँगों को कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग के विदेश कार्य अनुभाग द्वारा संकलित संचार पैनलों की सुस्थापित पद्धति द्वारा पूरा किया गया। रेल इण्डिया टेकनिकल एण्ड इकोनोमिक सर्विसेज लिमिटेड (आर. आई. टी. ई. एस.), टेलीकम्युनिकेशन कन्सलटेंट्स इण्डिया लि., (टी. सी. आई. एल), भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लि, (बी. एच. ई. एल.) जैसी तकनीकी एजेंसियों ने भी इस उद्देश्य के लिए भरती करने वाले संगठनो के साथ विशिष्ट करार सम्पन्न किए। इसके अतिरिक्त भारतीय तकनीकी एवं आर्थिक सहयोग कार्यक्रम (आई टेक) के अन्तर्गत 70 से अधिक विशेषज्ञ विकासशील देशों मे प्रतिनियुक्त किए गए। इन देशो के 78 प्रशिक्षणार्थियों को गैर-सैनिक क्षेत्र में और 411 को रक्षा स्थापनाओं मे प्रशिक्षण सुविधाएँ प्रदान की गयी।

विकासशील देशों के साथ आर्थिक सहयोग के क्षेत्र में भी काफी प्रगति हुई। इन देशों को 50,000 टन गेहूँ और 1,50,000 टन चावल के पण्य ऋण के अतिरिक्त 22·40 करोड़ रुपये की कुल राशि के सरकारी ऋण प्रदान किए गए। कुल 28 संयुक्त उद्यम, विशेषकर विकासशील देशों में, अनुमोदित किए गए जिनमें से अधिकांश विकासशील देशों के लिए हैं और भारत ने भी विशेषकर पश्चिम एशिया और उत्तरी अफ्रीकी क्षेत्रों मे अपनी निर्यात परियोजना प्रारम्भ करने में सफलता प्राप्त की। कच्चे तेल, उर्वरक, राक फास्फेट्स, फास्फोरिक ऐसिड जैसी अनिवार्य पण्यों की भारत की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विकासशील देशों के साथ दीर्घावधि प्रबन्ध एवं करार सम्पन्न करने के प्रयत्न जारी रहे।

भारत ने बहुपक्षी प्रक्रियाओं के माध्यम से सहयोग के अवधारणाओं और कार्यक्रमों को विस्तृत करने में भी सक्रिय रूप से भाग लिया। इसने सामूहिक आत्मनिर्भरता के अनुरूप और हवाना में हुए गुट-निरपेक्ष शिखर-सम्मेलन में पारित गुट-निरपेक्ष तथा अन्य विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग के बारे में सक्रिय कार्यक्रम तैयार करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राज्य व्यापार संगठनों के बीच सहयोग की सम्भावनाओं पर विचार करने के लिए विकासशील देशों के अधिकारियों की एक बैठक आयोजित की गई। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास सहयोग ने ससाधनों, स्थायी निधि और औद्योगिक प्रौद्योगिकी क्षमताओं के अनुरूप गुट-निरपेक्ष तथा अन्य विकासशील देशों द्वारा एक-दूसरे की जरूरतों को परस्पर पूरा करने की अधिकतम सम्भावनाओं के बारे में अध्ययन पूरा किया। हवाना में गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन ने इस अध्ययन की तैयारी की सराहना की तथा एक विशेषज्ञ दल को इस रिपोर्ट का विश्लेषण करने और इस सम्बन्ध में कुछ ठोस परियोजनाओं की रूपरेखा तैयार करने का कार्य सौंपा जिन्हें भारत मे 1981 में होने वाले गुट-निरपेक्ष देशों के मन्त्रि-स्तरीय सम्मेलन में प्रस्तुत किया जाएगा। भारत गुट-निरपेक्ष देशों तथा अन्य विकासशील देशों के परामर्शी सगठनों के विशेषज्ञ दल की बैठक मे मेजबान भी था। इस बैठक में परियोजना विकास की सुविधा की स्थापना पर सहमति हुई। इस सम्बन्ध में एक कानून को निकट भविष्य मे विस्तारपूर्वक अन्तिम रूप दिया जाएगा।

दक्षिण एशिया में पड़ोसी देशों के साथ चल रहे सहयोग में सन्तोषजनक प्रगति हुई।

पश्चिम एशिया तथा उत्तर अफ्रीका के देशों ने कुशल और अकुशल कामगारों को भारत से बुलाने तथा विशेषज्ञों की प्रति-नियुक्ति पर विशेष बल दिया। यमन जनवादी लोकतान्त्रिक गणराज्य और सीरिया जैसे गैर-तेल निर्यातकर्त्ता देशों के साथ भारतीय तकनीकी एवं आर्थिक सहयोग कार्यक्रम के अन्तर्गत तकनीकी सहयोग को प्रोत्साहन देकर द्विपक्षीय सम्बन्धों की शुरुआत की गई।

भारत और पश्चिम यूरोप के समाजवादी देशों ने अपने वर्तमान आवश्यकताओं और सहयोग की सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए विशेष रूप से संयुक्त आयोगों की रूपरेखा के अन्तर्गत आर्थिक सहयोग को और अधिक सुदृढ़ एवं संवर्धित करने के उपाय खोजने की प्रक्रिया को जारी रखा।

भारत ने यह प्रयत्न किया कि विकसित देश सरकारी विकास सहायता ऋण सम्बन्धी सहायता के उपाय और व्यापार में उत्पन्न बाधाओं को दूर करने के सम्बन्ध मे अनुकूल निर्णय लें, लेकिन इसके लिए उन्हें राजी करने मे भारत को सफलता नही मिली।

बहुपक्षीय आर्थिक सम्बन्धों के क्षेत्र में भारत ने ऊर्जा विषयक मामलों पर पर्याप्त ध्यान दिया। ऊर्जा के बढते हुए मूल्य के परिणामों और इस समस्या के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया गया। इस मामले को बाद में भी कई बहुपक्षीय मंचों पर उठाया गया। हवाना में हुए गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन में 'विकासशील देशो के बीच सामूहिक आत्मनिर्भरता को सुदृढ़ करने के नीति-निदेशों के बारे में एक महत्त्वपूर्ण संकल्प पारित किया गया। इस संकल्प में अन्य बातों के साथ-साथ सुनियोजित एवं सुनिश्चित आधार पर अपनी-अपनी न्यूनतम आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए अपने निर्यात-योग्य मूल उत्पादों एवं जिन्सों को गुट-निरपेक्ष देशों के बीच एक-दूसरे देश को अग्रता के आधार पर सप्लाई करने का उल्लेख किया गया था। इस निर्णय को 77 देशों के ग्रुप के द्वारा भी पारित किया गया और दिसम्बर में ओपेक की बैठक में इसका समर्थन किया गया। ऊर्जा, कच्चा माल, व्यापार, विकास, धन एवं वित्त से सम्बद्ध मामलों पर विचार-विमर्श करने के लिए विश्वव्यापी वार्ता करने के प्रस्ताव के प्रति समर्थन व्यक्त करते हुए भारत अपने समान विचार रखने वाले देशों के साथ मिलकर विकासशील देशो के बीच आर्थिक सहयोग कायम करने और 77 देशों के समूह द्वारा इस प्रकार की नीति तैयार करने की आवश्यकता पर बल देता रहा है जो विकसित देशों की तुलना मे इन देशों की सौदाकारी की शक्ति को बढ़ाने मे सहायक हो।

भारत ने क्षेत्रीय स्तर पर और 77 के समूह के स्तर पर अंकटाड–V, यू. एन. सी. एस. टी. डी. और यूनिडो III की तैयारी मे सक्रिय रूप से भाग लिया। नवें दशक के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विकास नीति बनाने के बारे में ऐसकेप निवेश की विस्तृत रूपरेखा तैयार करने में भारत ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। भारत अक्तूबर, 1979 से सितम्बर, 1980 तक की अवधि के लिए ग्रुप 77 के देशों के संगठन का अध्यक्ष चुना गया।

भारत की विदेश नीति का मूल्यांकन

भारत की विदेश नीति पर अत्यधिक आदर्शवादी और भावना-प्रधान होने का आरोप लगाया जाता रहा है। यह भी कहा जाता है कि हमारी विदेशी-नीति सोवियत संघ से प्रभावित है और इजरायल, अरब राज्यों आदि के सन्दर्भ में इसका

रवैया पक्षपातपूर्ण रहा है। यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि हमारी नीति राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल सिद्ध हुई है।

भारतीय विदेश-नीति की आलोचनाएँ नेहरू–काल और कुछ-कुछ शास्त्री-काल में अधिक तीव्र थीं। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के मौलिक सिद्धान्तों की पूर्ण रक्षा करते हुए उसे नई दिशा दी, यथार्थवादी चश्मे से देखा और राष्ट्रीय हितों के सर्वथा अनुकूल सिद्ध कर दिखाया। किसी भी नीति की सफलता उसके कुशल क्रियान्वयन पर निर्भर करती है। नेहरू-काल में आवश्यक था कि नवोदित भारत-राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि की आधारशिला रखी जाये, विभाजन-जन्य परिस्थितियों को निपटाया जाये और पडोसी शत्रु राष्ट्रों के प्रति भी तुष्टिकरण की नीति अपनाते हुए युद्ध की सम्भावनाओं को यथा साध्य टाला जाए। इसलिए चीन के साम्राज्यवादी इरादों को कुछ-कुछ भाँपते हुए भी और पाकिस्तान की शत्रुता को भली-भाँति समझते हुए भी श्री नेहरू ने भारत को ऐसे नैतिक धरातल पर खड़ा करने की चेष्टा की जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत को प्रतिष्ठा भी मिले, पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों ही शिविर उसकी आवाज सुनें और उसकी सहायता के लिए तत्पर रहें तथा साथ ही युद्ध की सम्भावना भी टलती रहे ताकि भारत भविष्य में शक्तिशाली बनने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण कर सके। श्री नेहरू को अपनी उद्देश्य में सन् 1962 से पूर्व तक पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। सन् 1962 के चीनी आक्रमण ने उनकी शान्तिवादी नीति को गहरा आघात पहुँचाया, लेकिन गुट-निरपेक्षता की उपयोगिता में उनकी आस्था समाप्त नहीं हुई क्योंकि संकट-काल में सोवियत गुट और पश्चिमी गुट दोनों ने भारत को अपना समर्थन दिया। फिर भी इस आक्रमण ने श्री नेहरू को यह अनुभूति करा दी कि अब विदेश-नीति को यथार्थवाद की ओर मोड़ा जाए तथा गुट-निपेक्षता पर अमल करते हुए सैनिक दृष्टि से भी भारत को शक्तिशाली बनाया जाये। श्री नेहरू यथार्थवादी नीति का अनुसरण कर भारत को शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से आवश्यक आर्थिक और सैनिक उद्योगों तथा कल-कारखानों की आधार-भूमि का पहले ही निर्माण कर चुके थे। अब बीज का वृक्ष रूप में परिणाम होना था।

दुर्भाग्यवश श्री नेहरू का सन् 1964 में आकस्मिक निधन हो गया। उनके उत्तराधिकारी श्री शास्त्री ने नेहरू की नीति को आगे बढ़ाया और भारतीय विदेश-नीति में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय किया। पाकिस्तान को उसके आक्रमण का मुँह तोड़ उत्तर देकर तथा अमेरिका जैसी महाशक्ति के दबाव के आगे न झुककर जहाँ श्री शास्त्री ने यथार्थवादी नीति का परिचय दिया वहाँ ताशकन्द-समझौता करके आदर्शवाद को भी कायम रखा। यद्यपि ताशकन्द समझौता व्यावहारिक रूप से सफल नहीं हुआ, तथापि प्रत्येक युद्ध के बाद इस प्रकार के समझौते न्यूनाधिक हेर-फेर के साथ करने ही पड़ते हैं। यदि पराजित राष्ट्र पर वर्साय की सन्धि जैसा कोई समझौता थोपा जाए तो उसके क्या दुष्परिणाम निकल सकते हैं, इसका इतिहास साक्षी है।

श्री शास्त्री का प्रधानमन्त्रित्व काल इतना अल्प रहा कि उनकी नीति का पूर्ण मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। उनके निधन के बाद भारत की बागडोर श्रीमती इन्दिरा गाँधी के हाथों में आई और हम इस बात से भली प्रकार परिचित हैं कि *बंगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन, बंगलादेश को मान्यता, अमेरिका के प्रति दृढ़ता,* रूस के साथ सम्मानजनक तथा गुट निरपेक्षता पर आधारित मैत्री सन्धि, पाक शत्रुता का मुँह तोड़ उत्तर आदि कार्यों द्वारा उन्होंने भारत के राष्ट्रीय हितों की किस कुशलता से रक्षा की। साथ ही शिमला-समझौते द्वारा उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि भारत साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का बिलकुल समर्थक नहीं है तथा पड़ोसी देशों के साथ और विश्व के हर राष्ट्र के साथ मैत्री का इच्छुक है।

कम्बोडिया और वियतनाम में जो कुछ हुआ उसे भी भारतीय विदेश-नीति की सफलता माना जाएगा। भारत उन गिने-चुने देशों में से है जिन्होंने शुरू से ही कम्बोडिया और वियतनाम के मुक्ति-आन्दोलनों का समर्थन किया था। ऐसा करते हुए भारत ने अमेरिका तथा कुछ अन्य पश्चिमी राष्ट्रों की अप्रसन्नता भी मोल ली, लेकिन बदले मे उसे दक्षिणी-एशिया की जनता से जो सद्‌भावना प्राप्त हुई वह कुछ कम नहीं थी। अब कम्बोडिया का गृह-युद्ध समाप्त हो चुका है, वियतनाम से अमेरिका पलायन कर चुका है और उत्तर तथा दक्षिण वियतनाम का एकीकरण हो चुका है। आरम्भ मे जिन देशों ने दक्षिण एशिया के सन्दर्भ में भारतीय विदेश-नीति को आत्मघाती बताया था, आज वे अवश्य अनुभव कर रहे होंगे कि भारतीय विदेश-नीति नहीं, बल्कि उनकी अपनी विदेश-नीति गलत बुनियाद पर खड़ी थी। *सोवियत संघ के साथ सम्बन्धों का अधिकाधिक दृढ होते जाना भारत की विदेश-*नीति की आश्चर्यजनक सफलता है। वास्तव में भारत का विकास सोवियत विदेश नीति का भी एक आवश्यक अंग बन गया है। सोवियत रूस चाहता है कि एशिया मे चीन एकमात्र महाशक्ति न रहे। उसका मुकाबला करने के लिए कम से कम एक देश का होना जरूरी है। सोवियत नेता इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित हैं कि यह देश केवल भारत ही हो सकता है और इसीलिए न केवल यान्त्रिकी के क्षेत्र मे बल्कि वाणिज्य, उद्योग तथा अन्य क्षेत्रों में भी सोवियत रूस भारत की सहायता कर रहा है। यह कहना गलत होगा कि भारत ने इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। सोवियत रूस से सहायता लेते हुए भी भारत ने अपनी प्रभुसत्ता को दाव पर नहीं लगाया है।

गुट-निरपेक्षता और शान्ति पूर्ण सह-अस्तित्व की व्यापक पृष्ठभूमि में भारत ने अपने पडोसी देशों के साथ तथा विश्व के अन्य देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित करने मे सफलता प्राप्त की है। चीन और पाकिस्तान के प्रति भी भारत का रवैया बहुत ही रचनात्मक रहा है। उसके फलस्वरूप दोनो देशों के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध कायम हो सके है। पड़ोसियों के प्रति भारत की नीति का लक्ष्य सदैव यही रहा है कि परस्पर विश्वास, समझ-बूझ और सहयोग के आधार पर उनके साथ घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध विकसित किए जाएँ। भारत ने विश्व के सभी भागों में

राष्ट्रवादी शक्तियों की विजय का सदैव स्वागत किया है । इसी प्रकार कोरिया और वियतनाम के एकीकरण की प्रक्रिया भारत के लिए स्वागत योग्य रही है । भारत निःसन्देह गुट-निरपेक्ष और विकासशील देशों की आशा बन चुका है । भारत का निश्चित मत है विकासशील राष्ट्रों के सहयोग न केवल वृहतर आत्मविश्वास के लिए अनिवार्य है बल्कि बड़े राष्ट्रों के उस दबाव का मुकाबला करने के लिए भी आवश्यक है जो विकासशील देशों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने के लिए डाला रहा है ताकि विश्व के विभिन्न भागों में उनके अपने हित अधिकाधिक विस्तृत हो सकें। विकासशील देश आत्मविश्वास, सहयोग और विकास के माध्यम से ही शान्ति और स्थिरता की दिशा में अपना योगदान दे सकते हैं और तभी वे एक ऐसी नई आर्थिक व्यवस्था की स्थापना में सहायक हो सकते हैं जो विश्व के सभी राष्ट्रों के बीच सहयोग और मित्रता के आधार पर स्थित हो ।

12 साम्यवादी चीन की विदेश नीति

(The Foreign Policy of Communist China)

"विश्व की शांति चीन पर निर्भर है और जो कोई चीन को समझ सकेगा, उसी के हाथ में आगामी पांच शताब्दियों तक विश्व राजनीति की कुंजी होगी।" —जान हे

वर्तमान साम्यवादी चीन अथवा चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना 1 अक्तूबर, 1949 को हुई। च्यांग-काई-शेक और उसका राष्ट्रवादी दल चीन के गृह-युद्ध में साम्यवादियों के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ। संयुक्तराज्य अमेरिका ने च्यांग-काई-शेक को वर्षों तक भरपूर सहायता दी, लेकिन माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में साम्यवादी सेना ने अमेरिका की मनोकामना पूरी नहीं होने दी। च्यांग-काई-शेक ने भाग कर चीन की मुख्य धरती से कुछ ही मील दूर फारमोसा द्वीप में शरण लेकर वहीं चीन की 'निर्वाचित सरकार' स्थापित कर ली। अमेरिका और संयुक्त राष्ट्रसंघ इसी सरकार को अर्थात् राष्ट्रवादी चीन को मान्यता देते रहे। चीन की मान्यता का प्रश्न सन् 1949 से 25 अक्तूबर, 1971 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख विषय बना रहा। वास्तव में दो चीन की स्थिति कायम रही। दुनिया के लगभग 35 देशों की मान्यता साम्यवादी चीन को प्राप्त थी और 42 देश च्यांग-काई-शेक की राष्ट्रवादी सरकार को मान्यता देते थे। भारत ने प्रारम्भ से ही एक चीन के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए साम्यवादी चीन को मान्यता दे दी थी। आखिर 26 अक्तूबर, 1971 को दो चीन वाली यह स्थिति समाप्त हो गई। संयुक्तराष्ट्र महासभा ने राष्ट्रवादी चीन (ताइवान या फारमोसा) को संयुक्तराष्ट्र से निष्कासित कर उसके स्थान पर जनवादी (साम्यवादी) चीन को सदस्य बनाने का अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 76 मतों से स्वीकार कर लिया। इस प्रकार 22 वर्ष का वह संघर्ष समाप्त हो गया जो साम्यवादी चीन को विश्व संस्था का सदस्य बनाने के लिए चल रहा था। संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में य अवसर था जब सघ के किसी सदस्य और सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस

की सदस्यता से निष्कासित कर उसके स्थान पर किसी अन्य देश को सदस्य बनाया गया हो। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे चीन का रुख सदा आक्रामक रहा है, पर माओ की मृत्यु के बाद नया नेतृत्व कुछ उदार रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्यवादी चीन के उदय के परिणाम

चीन में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की घटना थी जिसने सम्पूर्ण विश्व-राजनीति को गम्भीर रूप से प्रभावित किया और उन परिवर्तनो को जन्म दिया जो विश्व-राजनीति को लम्बे समय तक प्रभावित करते रहेगे—

प्रथम, स्वयं चीन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर भारी प्रभाव पड़ा है। साम्यवादी क्रान्ति से पूर्व भी यद्यपि चीन को पांच बड़ी शक्तियों मे स्थान प्राप्त था, तथापि सही अर्थों में वह एक बडी शक्ति नहीं था। साम्यवादियों के नेतृत्व मे एक सुसंगठित और शक्तिशाली चीन का उदय हुआ जो आज न केवल एक बडी शक्ति है, बल्कि अमेरिका और रूस के बाद तीसरी महाशक्ति भी गिना जाने लगा है।

दूसरे, साम्यवादी चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे एक नया शक्ति सन्तुलन स्थापित कर लिया है। जिधर वह झुक जाए, सन्तुलन का पलडा उधर ही झुक जाएगा। चीन के समक्ष भारत ही एक ऐसी शक्ति है जो चीन-विरोधी पक्ष के साथ मिलकर शक्ति-सन्तुलन के दोनों पलड़ों को बहुत-कुछ बराबर ला सकता है। आज जबकि चीन सोवियत संघ का प्रतिद्वन्द्वी बनकर अमेरिका की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ा रहा है, भारत का एक सन्तुलनकारी शक्ति के रूप मे विशेष महत्त्व हो गया है।

तीसरे साम्यवादी चीन के उदय के फलस्वरूप पश्चिमी देशो की नीति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और चीन की शक्ति तथा प्रभाव आज भी उनकी नीति मे नित नए मोड लाने मे सहायक है। लाल चीन के उदय के उपरान्त साम्यवाद के बढ़ते हुये प्रभाव को रोकने के लिए ही अमेरिका ने ताइवान अथवा फारमोसा में च्यांग की भगोड़ी राष्ट्रवादी सरकार की रक्षा का उत्तरदायित्व सम्भाला, एशिया में साम्यवादी-अवरोध की नीति पर आचरण शुरू किया और गैर-साम्यवादी तत्त्वों को अधिकाधिक आर्थिक तथा सैनिक सहायता दी। साम्यवादी चीन के उदय से सोवियत गुट का शक्ति-सन्तुलन का जो पलड़ा झुक गया उसी से चिन्तित होकर साम्यवाद विरोधी प्रादेशिक सुरक्षा सगठनों की स्थापना के मार्ग का अनुसरण किया गया। आज जब चीन और रूस में तीव्र मतभेद उठ खड़े हुए हैं, अमेरिकी गुट का सर्वोपरि लक्ष्य यही है कि चीन को तोड़ कर पूरी तरह अपने पक्ष में कर लिया जाए। पेकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी के सुदृढ़ और सबल होने की आशंका से रूस का चिन्तित हो उठना और फलस्वरूप भारत की मैत्री के महत्त्व को अधिकाधिक अनुभव करना स्वाभाविक है।

चौथे, लाल चीन के उदय ने अमेरिका और उसके साथी-राष्ट्रों के बीच कुछ मतभेद भी पैदा कर दिये, जो अब कम हो गए हैं। अमेरिका ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया जबकि ब्रिटेन, फ्रांस आदि ने अपने

व्यापारिक लाभों के कारण उसे मान्यता प्रदान की और इसके साथ सम्पर्क बढ़ाये। अतः उनके और अमेरिका के बीच कुछ मन-मुटाव हो जाना स्वाभाविक था। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों से विवश होकर, अमेरिका स्वयं चीन की मैत्री के लिए लालायित है, अतः चीन के सम्बन्ध मे जो मतभेद पैदा हुए थे वे शिथिल पड गये है।

पाँचवें, चीन में साम्यवादियों की विजय सोवियत संघ के लिए वरदान और अभिशाप दोनों ही सिद्ध हुई है। वरदान इसलिए कि इससे जनसंख्या, साधन-स्रोत और सैन्य शक्ति की दृष्टि से साम्यवादी जगत् अत्यधिक शक्ति सम्पन्न हो गया और विश्व मे शक्ति-सन्तुलन स्थापित हुआ। अभिशाप इसलिए कि माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन सोवियत संघ का घोर प्रतिद्वन्द्वी बन गया और आज सैद्धान्तिक संघर्ष की आड़ में दोनो देश शक्ति-संघर्ष के भय से आशंकित है। सन् 1949 तक सोवियत संघ साम्यवादी जगत् का एकछत्र असंदिग्ध नेता था और विश्व के सभी साम्यवादी देश उसके अनुयायी थे, लेकिन साम्यवादी चीन के उदय ने रूसी नेतृत्व को चुनौती दी है।

छठे, *चीन की साम्यवादी क्रान्ति ने एक ओर तो एशिया तथा अफ्रीका मे* राष्ट्रवादी शक्तियों को प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर एशियायी एकता के विकास मे बाधा पहुँचाई। चीन का नेतृत्व 'फूट डालो और अपना उल्लू सीधा करो' की नीति मे विश्वास रखता है। चीन भारत को अपना मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मानकर इस नीति पर चल रहा है कि एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों में भारत-विरोधी वातावरण पैदा करे। भारत उपमहाद्वीप मे शान्ति की स्थापना मे चीन की कोई रुचि नहीं है, इसलिए वह पाकिस्तान को भारी सैनिक सहायता देकर भारत के विरुद्ध उकसाता रहता है।

सातवें, चीन न केवल साम्यवादियों के लिए बल्कि औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देशों के लिये साम्यवादी सिद्धान्त और कुटिल दावपेचों के विकास का परीक्षण स्थल बन गया है।

आठवें, साम्यवादी चीन के उदय का पूर्वी एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीति पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। चीन स्वयं को पूर्ण रूप से एक महाशक्ति के रूप मे *प्रतिष्ठित देखना चाहता है और इसके लिए उसने संघर्ष तथा दबाव-नीति* का मार्ग चुना है। सुदूरपूर्व मे जो संघर्ष है वह बहुत कुछ चीन की महत्त्वाकांक्षा का भी परिणाम है। चीन मे साम्यवाद के उदय ने एशिया में चीन और अमेरिका को तथा अब चीन, अमेरिका और रूस को एक-दूसरे का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बना दिया है जिससे यह प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विस्फोटक-केन्द्र बना हुआ है।

सन् 1921 में जनरल स्मट्स ने कहा था—"रंगमच अब यूरोप से दूर पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर में पहुँच गया है।" ये शब्द सम्भवतः उस समय सत्य नहीं थे, लेकिन साम्यवादी चीन के उदय के फलस्वरूप विश्व-राजनीति में उत्पन्न परिवर्तनों से आज सत्य सिद्ध हो रहे हैं।

साम्यवादी चीन की विदेश-नीति के आधारभूत तत्त्व, साधन और लक्ष्य

साम्यवादी चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे जो नीति अपनाई है उसे भली प्रकार तभी समझा जा सकेगा जब हम चीनी विदेश-नीति के सैद्धान्तिक आधार को समझ लें और इस बात से परिचित हो जायें कि वह किन तत्त्वो, साधनों और लक्ष्यो पर आधारित है।

आधारभूत तत्त्व

साम्यवादी विचारधारा—रूस की भाँति चीन की विदेश-नीति भी मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तो से पूर्णतः प्रभावित है। ल्यूशाओची के शब्दों में, "हमारी सफलताएँ मार्क्सवाद-लेनिनवाद की नवीन पुष्टियाँ और नवीन सफलताएँ हैं।" साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, पूँजीवाद का साम्राज्यवादी रूप आदि से चीन की विदेश-नीति पर्याप्त प्रभावित है, इसलिए एशिया एवं अफ्रीका में साम्यवाद के प्रसार को चीन अपना उत्तरदायित्व मानकर व्यवहार कर रहा है। चीनी नेताओ का विश्वास है कि विजय की प्राप्ति के लिए किसी एक ओर झुकना होगा—साम्राज्वाद की ओर अथवा समाजवाद की ओर। तटस्थता तो केवल धोखा है, तीसरा मार्ग पाया ही नहीं जाता। माओ-त्से-तुंग ने मार्क्स-लेनिन के सिद्धान्तों को चीनी संस्करण का रूप दिया, उनका चीन के इतिहास और उसकी समस्याओ के समाधान में उपयोग किया। माओ की मान्यता थी कि मार्क्सवाद निराधार नहीं है बल्कि ठोस रूप मे है जिसे राष्ट्रीय रूप में ग्रहण किया जाना तथा देशकालीन परिस्थितियों की अनुरूपता के सन्दर्भ में अपनाया जाना चाहिए। राज्य शासक-वर्ग के हाथ में दमन का एक साधन है। माओ की सीख को चीन का वर्तमान नेतृत्व भूला नही है।

राष्ट्रीय हित—चीन की विदेश-नीति में सिद्धान्त तथा राष्ट्रीय हित साथ-साथ चलते है। सिद्धान्त राष्ट्रीय हित को प्रभावित करते हैं और राष्ट्रीय हित के अनुसार ही सिद्धान्तों का निरूपण किया जाता है। चीनी नेतृत्व के प्रत्येक कार्य का मूल लक्ष्य देश के शक्ति-स्तर (Power-status) मे वृद्धि होता है। माओ की स्पष्ट धारणा थी कि जो देश चीन को महान् शक्ति न माने उसे मानने के लिए बाध्य किया जाए अथवा कोई बड़ी शक्ति उसे अपने समान न समझे तो उसको इसका पाठ पढ़ाया जाये। शक्ति की प्राप्ति और अभिवृद्धि के लिए साम्यवादी चीन किसी भी बलिदान को बड़ा नही मानता।

पूँजीवाद का विरोध—चीन की विदेश-नीति पूँजीवादी देशों के साथ घोर प्रतिद्वन्द्विता की है। माओवाद पूँजीवाद के विनाश पर साम्यवाद का महल खड़ा करना चाहता है। विश्व के देशों मे राष्ट्रवादी तत्त्वो को उभार कर वहाँ साम्यवादी क्रान्ति के उपयुक्त वातावरण बनाना चीन की विदेश नीति का मूल सिद्धान्त है।

माओ का अनुगमन—अपने जीवन काल में माओ चीन की सम्पूर्ण नीतियों का निर्माता और संचालक रहा और उसकी सीख को चीन शायद ही कभी भूल सकेगा। माओ ने मार्क्सवाद और लेनिनवाद की नीतियो की व्याख्या की, चीन के

साहित्य और कला के आदर्श एवं स्तर निर्धारित किए तथा सभी राजनीतिक-सैनिक-आर्थिक कार्यवाइयाँ उसी के नाम से प्रचारित होती रही। माओ के नेतृत्व में चीन द्वारा जो नीतियाँ अपनाई गई हैं, वे शायद ही किसी अन्य नेता के नेतृत्व मे अपनाई जा सकती थीं। माओ का यह अभिमत चीनी विदेश-नीति का केन्द्र-बिन्दु है कि राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली से प्रादुर्भूत होती है। आणविक आयुधों से भी माओ के अनुयायियों को भयभीत न होने की शिक्षा दी गई है। माओ का कहना था कि इन आयुधों के प्रयोग के बाद भी इतनी बड़ी संख्या में चीनी बच जाएँगे कि वे अपने स्वप्न की पूर्ति द्वारा एक उत्कृष्ट सभ्यता का सृजन कर सकेंगे। माओ ने विदेश-नीति को लचीला बनाया ताकि परिस्थितियों के अनुसार उसे ढ़ाला जा सके। इसलिए चीन की विदेश-नीति में कभी एकरूपता या स्थायित्व नहीं रहा है।

राष्ट्रवादिता—चीन की विदेश-नीति राष्ट्रवादिता से ओत-प्रोत है। चीनी लोग अपने पूर्वजों, चंगेजखाँ व कुबलाखाँ की विस्तारवादी परम्पराओं के अनुयायी हैं। साम्यवादी चीन को अपने देश की प्राचीन सभ्यता और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पर गर्व है जिसकी पुनः प्राप्ति के लिए वह हर बलिदान के लिए तैयार हैं। माओ ने सन् 1949 में कहा था—"हमारा राष्ट्र अब कभी भी अपमानित राष्ट्र नहीं होगा, हम उठ खड़े हुए हैं।" उग्र राष्ट्रवादिता से ओत-प्रोत होने के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे चीन की नीति किसी दूसरे की नीति से मेल नहीं खाती।

साधन

साम्यवादी चीन विस्तारवाद और साम्राज्यवाद का आकांक्षी है। जिस किसी भी भू-भाग पर चीन का कभी अस्थायी या नाममात्र को भी अधिकार रहा था, उसे वर्तमान चीन अपना 'खोया हुआ भाग' मानता है। चीन की विदेश-नीति के साधन पवित्रता-अपवित्रता जैसी सीमाओं से प्रतिबद्ध नहीं हैं। अपने लक्ष्यों को पाने के लिए चीन निकृष्ट साधन भी अपनाने में संकोच नहीं करता। चीनी विदेश-नीति के मुख्य साधन ये हैं—

युद्ध एवं हिंसा—माओ ने लिखा है—"हम साम्यवादी युद्ध को सर्वव्यापक मानते हैं। युद्ध अनुचित न होकर सर्वथा उचित और मार्क्सवादी हो।" माओ की सीख के अनुसार चीनी नेतृत्व यह मानता है कि सारा संसार केवल बन्दूक की सहायता से ही बदला जा सकता है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति सामान्य के विरुद्ध है तथा संशोधनवाद की प्रतीक है।

लम्बे संघर्ष की योजना—चीन के साम्यवादी नेताओं के अनुसार विश्व में साम्यवाद के प्रसार के लिए संघर्ष की योजना का अनुसरण करना होगा। यह योजना साम्यवादी सिद्धान्तों पर आधारित है, लेकिन इसकी व्याख्या माओ की अपनी है। माओवाद के अनुसार पूँजीवादी देशों मे दृढ़ निश्चय और साहस नहीं होता, अतः जब उनके विरुद्ध सावधानी के साथ अवसर देखकर लम्बा संघर्ष छेड़ा जाएगा तो वे टिक नहीं सकेंगे। साम्यवादी राष्ट्रों के पीछे सिद्धान्त का बल होता है और राजनीति का अवलम्ब, इसीलिए वे पूँजीवादी देशों मे तोड़-फोड़ कर सकते हैं। लम्बे संघर्ष की

योजना के अधीन पश्चिमी देशों का तीव्र विरोध किया जाता है और दूसरे देशों मे साम्यवादी दलो की सहायता की जाती है।

साम्यवादी प्रचार—माओ चीन की विदेश-नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विश्व के सभी गैर-साम्यवादी देशो में—विशेषकर एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीप में साम्यवादी प्रचार का पक्ष-पोषक रहा और नए नेतृत्व का दृष्टिकोण भी कुछ विपरीत प्रतीत नही होता। माओ का कहना था कि विश्व के साम्यवादी आन्दोलन चीन को आदर्श मानकर सशस्त्र रूप धारण कर लेंगे।

सैनिक सहायता कार्यक्रम—साम्यवाद की स्थापना के लिए चीन दूसरे देशों को सैनिक सहायता देने का पक्षधर है, लेकिन उसे यह भरोसा होना चाहिए कि उस देश के लक्ष्य लगभग वही हैं जो स्वयं चीन के हैं तथा चीनी सहायता की प्रतिक्रिया स्वरूप यथासम्भव किसी बडे देश का मुकाबला न करना पडे और सहायता से चीन की सुरक्षा को खतरा पहुँचने की सम्भावना न हो।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व—इस साधन का उपयोग प्रायः लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए किया जाता है। चीनी नेताओं ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति की व्याख्या इस प्रकार की है कि वे समय के अनुकूल युद्ध और शान्ति दोनों ही मार्ग अपनाने के लिए स्वतन्त्र हैं।

दोहरी-नीति—चीन की विदेश-नीति पर विचारधारा और राष्ट्रीय हित इन दो तत्त्वों का विशेष प्रभाव है जिनमें असन्तुलन पैदा हो जाने अथवा सामञ्जस्य न रहने पर जो नीति बन जाती है उसका अनुमान चीन और रूस के सम्बन्धो को देखकर लगाया जा सकता है। इन दोनों देशो की नीति एक ही साथ सहयोग और प्रतिस्पर्द्धा की है। दोनों ही देश साम्यवाद का प्रसार करना चाहते है और दोनों ही पूंजीवाद के शत्रु हैं। लेकिन दोनों ही के हित परस्पर विरोधी हैं। चीन रूसी नेतृत्व का अनुचर नही रहना चाहता। नेतृत्व की होड़ व्यापक राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से अत्यधिक संघर्षपूर्ण हो गई है और दोनों साम्यवादी राष्ट्र एक दूसरे के विरुद्ध तोड़-फोड़ के कूटनीतिक दाव-पेच खेल रहे हैं। सैद्धान्तिक धरातल पर भी सहयोग-असहयोग का विचित्र संघर्ष है। रूस की वर्तमान विदेश-नीति चीनियो की दृष्टि मे संशोधनवादी, बुर्जुआवादी तथा प्रतिक्रियावादी है, पर यह समझ मे नही आता कि चीन फिर क्यों स्वयं अमेरिका की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाने लगा है।

लक्ष्य

सितम्बर, 1949 मे जन-परामर्श सम्मेलन मे साम्यवादी चीन की विदेश-नीति का निरूपण इन शब्दों में किया गया था –

"चीनी गणराज्य की विदेश-नीति का उद्देश्य देश की स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता व प्रादेशिक सम्मान की रक्षा करना, स्थायी विश्व शान्ति को सुरक्षित रखना, विभिन्न राज्यों मे मैत्रीपूर्ण सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा आक्रमण व युद्ध की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करना है। चीनी गणराज्य विदेशो मे बसने वाले चीनियो के उचित अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए भरसक प्रयास करेगा।

वह उन सभी लोगों को राजनीतिक शरण प्रदान करेगा जो जन-हित, शान्ति तथा जनतन्त्र के लिए संचालित संघर्ष में भाग लेने के कारण अपनी सरकारों द्वारा पीड़ित हो।"

जब 1 अक्तूबर, 1949 को चीन की साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई तो विदेश-नीति के ये लक्ष्य घोषित किए गए—(1) चीन की स्वतन्त्रता और अखण्डता की रक्षा करना; (2) स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सब देशों के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग के लिए प्रयत्न करना; (3) उन विदेशी सरकारो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना जो राष्ट्रवादी चीन से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर चुकी हों; (4) साम्राज्यवादियों और विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध संघर्ष मे साम्यवादी देशो का साथ देना; एवं (5) प्रवासी चीनियों के हितों और अधिकारो की रक्षा करना, आदि।

चीनी विदेश-नीति के उपर्युक्त सभी लक्ष्य बड़े आकर्षक हैं, लेकिन इनकी व्याख्या चीन की अपनी स्वेच्छाचारी विस्तारवादी है जिसका कोई भी शान्तिप्रिय राष्ट्र स्वागत नहीं करेगा। स्वतन्त्रता और अखण्डता की रक्षा से अभिप्राय है कि साम्यवादी चीन उन भागों पर भी अपना ही अधिकार मानता है जिन पर अधिराष्ट्रीय सरकार का अधिकार है। वे भाग जिन पर चीन का अधिकार था और जो कालान्तर मे चीन से पृथक् हो गए तथा जिन्हे राष्ट्रीय सरकार वापस नहीं ले सकी, उन्हें भी चीन अपना मानता है। सुदूरपूर्वी मध्य-एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशियायी क्षेत्रों मे साम्राज्यवादी आन्दोलनो को प्रत्येक सम्भव प्रोत्साहन देकर चीन विस्तारवाद की अपनी कुत्सित प्रवृत्तियो को पूरा करना चाहता है। भारतीय जनतन्त्र को वह अपने मार्ग में बाधा समझता है और उसके शत्रुओं को अपना मित्र। वह भारत और बर्मा द्वारा नियन्त्रित सीमावर्ती क्षेत्र तथा मगोलिया और कोरिया पर अपना अधिकार चाहता है। उसने मेकमहोन को मान्यता न देकर भारत के साथ सीमा-संघर्ष छेड़ रखा है। अपनी विदेश-नीति में साम्यवादी चीन ने स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की बात कही है। इस सम्बन्ध में चीन का विशेष मन्तव्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति मे स्थायित्व तभी आ सकता है जबकि विश्व में साम्राज्यवाद की समाप्ति और साम्यवाद की स्थापना हो जाए और इस उद्देश्य की पूर्ति का एकमात्र उपाय युद्ध है। मैत्रीपूर्ण भावना वाले देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना की नीति से साम्यवादी चीन का आशय यह है कि गैर साम्यवादी देशों में अस्थायी मित्रता स्थापित कर साम्राज्यवादी देशों की शक्ति को कमजोर किया जाए। चीनी विदेश-नीति में साम्राज्यवादियो और विशेषतया संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध संघर्ष की चर्चा की गई है। वस्तुतः पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति चीनवासियों की परम्परागत घृणा और विरोध का बदला साम्यवादी चीन अमेरिका से चुकाने पर उतारू है। चीनी युवकों और युवतियो के दिमाग में यह बात ठूँस-ठूँस कर भर दी गई है कि अमेरिका उनका सबसे बड़ा शत्रु है। सोवियत सघ से पूर्ण मित्रता सम्बन्ध बनाए रखने की विदेश नीति भी भ्रामक है, क्योंकि अन्तिम रूप से

विदेश नीति का लक्ष्य विश्व में साम्यवादी चीन के एकछत्र प्रभुत्व की स्थापना है। इस दिशा में चीन रूस का कठोर प्रतिद्वन्द्वी है। चीन की विदेश नीति में प्रवासी चीनियों के हितों की रक्षा का भी उल्लेख है। चीन, मलाया, सिंगापुर, थाईलैण्ड, कम्बोडिया, दक्षिण वियतनाम, उत्तर वियतनाम, इण्डोनेशिया, बर्मा, लाओस आदि देशों को, प्रवासी चीनियों के साथ दुर्व्यवहार करने के आरोप मे आतंकित करता रहा है। किन्तु इसके विपरीत ये प्रवासी उन देशों को खतरा पैदा किए हुए हैं जहाँ वे रह रहे हैं।

चीन की छद्मवेशी विदेश नीति की व्याख्या के उपरान्त हमे उन लक्ष्यों पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा जिनकी पूर्ति के लिए आज चीन प्रयत्नशील है। ये लक्ष्य इस प्रकार हैं—

1. सम्पूर्ण एशिया मे साम्यवाद का प्रसार आज के रूसी ढंग का न होकर विशुद्ध मार्क्सवादी, लेनिनवादी ढंग का शुद्ध साम्यवाद हो।

2. हिंसा, छल, बल और कौशल द्वारा साम्यवादी चीन की सीमाओं का अधिकाधिक विस्तार किया जाए ताकि एशिया मे पूर्वी यूरोपीय ढंग के कठपुतली देशों की स्थापना की जा सके।

3. एशिया के समस्त देशो पर प्रभावशाली राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक नियन्त्रण स्थापित किया जाए।

4. सम्पूर्ण एशिका और सुदूरपूर्व में पश्चिम के, विशेषकर अमेरिका के, प्रभाव को समाप्त कर दिया जाए ताकि उसकी (चीन की) सैनिक महत्त्वाकांक्षाओ की पूर्ति मे कोई बाधा न पड़े।

5. एशिया ही नही अपितु समस्त विश्व का एकछत्र साम्यवादी नेता बनने की दिशा मे हर उपाय से आगे बढ़ा जाए, चाहे इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने जाति-भाइयों से ही संघर्ष क्यों न मोल लेना पड़े। रूस-चीन अन्तर्विरोध का यही एक मुख्य कारण है।

6. सेना को आधुनिकतम और आणविक शस्त्रास्त्रों एवं सैनिक उपकरणों से सुसज्जित करके तथा चीन की राष्ट्रीय शक्ति का सैनिक आधार पर पूर्णतः गठन करके उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त किया जाए।

7. एशिया में प्रभुत्व की स्थापना के लिए भारत को घेरने की नीति अपनाई जाए और इस दृष्टि से पाकिस्तान, श्रीलंका तथा भारत के अन्य पड़ोसी राज्यों को पूरी तरह अपने पक्ष में किया जाए। पाकिस्तान के साथ पूरा सैनिक गठबन्धन करने मे तो चीन सफल हो ही चुका है।

चीनी विदेश-नीति की प्रधान अवस्थाएँ
(Main Stages of China's Foreign Policy)

साम्यवादी चीन की विदेश नीति पर टिप्पणी करते हुए डाक बार्नेट ने ठीक ही लिखा है कि—"पेकिंग की नीति कभी भी केवल चिकनी-चुपड़ी बातों अथवा दबावों की नहीं रही। इसमें प्रलोभन, धमकी और तोड़-फोड़ का विभिन्न अनुपात मे

सम्मिश्रण रहा है।" चीन अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार कभी एक तत्त्व पर तो कभी दूसरे तत्त्व पर विशेष बल देता रहा है। उसका मूलभूत उद्देश्य यही रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों को अधिकाधिक अपने अनुकूल बनाकर उनका भरपूर लाभ उठाया जाए और अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार किया जाए। इस दृष्टि से चीनी विदेश नीति अभी तक चार प्रधान अवस्थाओं में से होकर गुजरी है, चौथी अवस्था जारी है—

(1) आन्तरिक पुनर्गठन एवं उग्र नीति का युग (1949–1953)
(2) उदारवादी युग (1954–1959)
(3) नया उग्रवादी एवं क्रान्तिकारी युग (1959–1969)
(4) सहयोग और मैत्री की नई कूटनीति का काल (1970 से अब तक)

प्रथम युग : आन्तरिक पुनर्गठन का युग (1949–1953)

इस युग मे चीन ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति देश की आन्तरिक व्यवस्था को सुदृढ करने मे लगा दी। इस अवधि मे उसकी विदेश नीति कठोर और उग्र रही—विशेपकर पश्चिमी राष्ट्रो के प्रति। चीन ने सर्वप्रथम दिसम्बर, 1949 में सोवियत सघ से दौत्य सम्बन्ध स्थापित किए और तत्पश्चात् उसके साथ विभिन्न मैत्रीपूर्ण सुरक्षा एव पारस्परिक सहायता सम्बन्धी तथा आर्थिक सन्धियाँ सम्पन्न कीं। चीनी नेताओं ने सोवियत सहायता से विश्व के अन्य देशों में, विशेषकर अफ्रेशियायी राष्ट्रों मे साम्यवाद के प्रसार का बीडा उठाया। इसी उद्देश्य से नवम्बर, 1939 मे ट्रेड-यूनियनो के विश्व-संघ के तत्त्वावधान में पेकिंग में एशिया और आस्ट्रेलिया के देशो का ट्रेड-यूनियन सम्मेलन बुलाया गया। इसमें उपर्युक्त महाद्वीपों के वामपंथी श्रमिक नेता सम्मिलित हुए। सम्मेलन में श्री ल्यू-शाओ-ची द्वारा यह घोषणा की गई कि इस सम्मेलन को सम्पूर्ण एशिया मे राष्ट्रीय मुक्ति-संग्रामों का समर्थन करना चाहिए। श्री ल्यू-शाओ-ची ने वियतनाम, बर्मा, इण्डोनेशिया, मलाया, फिलीपाइन आदि के मुक्ति-संघर्षों की ओर सकेत करते हुए सम्मेलन के प्रतिनिधियों को उपदेश दिया कि—"चीनी जनता के पथ का अनुसरण करते हुए सशस्त्र संघर्ष द्वारा एशिया के अधिकांश भाग में क्रान्ति का प्रसार किया जाना चाहिए।" चीनी नेता ने [illegible] जनता के पथ का स्वरूप भी स्पष्ट किया। उसने इस सम्बन्ध में चार बातों पर विशेष बल दिया—(i) श्रमिक वर्ग को साम्राज्यवाद-विरोधी सभी [illegible] संगठनो के साथ मिल जाना चाहिए, (ii) श्रमिक वर्ग को केन्द्र बनाकर [illegible] के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी संयुक्त मोर्चा स्थापित किया जाना चाहिए और [illegible] साम्यवादी दल होना चाहिए, (iii) साम्राज्यवाद के विरुद्ध [illegible] प्राप्त करने के लिए मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों से पूर्णतया [illegible] से घनिष्ठतम सम्बन्ध रखने वाला साम्यवादी दल होना [illegible] (iv) साम्यवादी दल के नेतृत्व में [illegible] के लिए [illegible] भी किया जाना चाहिए।

आन्तरिक पुनर्गठन की दिशा में चीनी साम्यवादियों ने दो उद्देश्यों पर विशेष बल दिया—चीन से विदेशी प्रभाव को पूर्णतः समाप्त कर देना और चीन का एकीकरण कर सब चीनी प्रदेशों को साम्यवादी शासन के अन्तर्गत लाना। इस समय से ही चीनियों ने रूसियों को छोड़कर अन्य सभी पाश्चात्य देशों के लोगों को चीन से निकालना प्रारम्भ कर दिया। चीन के एकीकरण के लिए 'चीनी प्रदेशों' को साम्यवादी शासन के अन्तर्गत लाने के उद्देश्य से सन् 1950 में पेकिंग द्वारा तिब्बत पर आक्रमण और कोरिया युद्ध में हस्तक्षेप किया गया, तथापि कतिपय कारणों से चीन ने अपनी युद्ध-नीति में परिवर्तन वांछनीय समझा। पहला कारण व्यापारिक प्रतिबन्धों से उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। इन्हें हल करने के लिए अप्रेल, 1952 में मास्को में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन का आयोजन हुआ जिससे साम्यवादी देशों का गैर-साम्यवादी देशो के साथ व्यापार का मार्ग प्रशस्त हुआ। दूसरा कारण सन् 1952 की स्टालिन की यह घोषणा थी कि—"पूँजीवाद और साम्यवाद का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व सम्भव है।" अपने एक लेख में स्टालिन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि समाजवाद के प्रसार के साथ-साथ पूँजीवादी देशों की मण्डियाँ कम हो रही हैं। परिणामतः पूँजीवादी विश्व नाना संकटों और संघर्षों का शिकार बनेगा और अन्ततः समाजवाद से पराजित होगा। अतः साम्यवादियों को पश्चिम के साथ आर्थिक प्रतियोगिता करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बिना युद्ध किए ही पूँजीवाद की इतिश्री हो जाएगी। तीसरा कारण चीन द्वारा यह अनुभव किया जाना था कि एशिया मे संयुक्तराज्य अमेरिका की शक्ति का विस्तार हो रहा है। चौथा कारण कोरिया-युद्ध द्वारा चीन की आर्थिक व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ना था। अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के सफल सचालन के लिए दूसरे देशो का सहयोग अपेक्षित था और इसके लिए उदार नीति अपनाना अधिक उचित था। इन्ही सब कारणों से प्रभावित होकर साम्यवादी चीन के प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद् के सम्मुख भी उपस्थित हुए और उन्होने सन् 1951 से 1953 तक कोरिया में युद्ध विराम सम्बन्धी वार्ताएँ की।

सन् 1949 से 1953 तक की अवधि में साम्यवादी चीन ने विदेश नीति के क्षेत्र में प्रधानतः रूस का अनुसरण किया। उसका अपना कोई स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम नही था। रूस से मित्रता और अमेरिका से शत्रुता—ये दो बातें उनके सम्पूर्ण कार्यों का आधार रहीं।

द्वितीय युग : उदारवादी युग (1954–1959)

यह युग सन् 1954 से 1959 तक रहा, यद्यपि इसका श्रीगणेश सन् 1951–53 में ही हो चुका था। चीन की उग्र और युद्धवादी क्रान्तिकारी नीति में परिवर्तन की पहली सूचना पेकिंग मे अक्तूबर, 1952 में होने वाले एशियायी और प्रशान्त क्षेत्रीय शान्ति-सम्मेलन मे मिली। इसमें सन् 1954 के ट्रेड-यूनियन-सम्मेलन के सर्वथा विपरीत क्रान्ति और हिंसा के स्थान पर शान्ति एवं सह-अस्तित्व की चर्चा की गई। इस सम्मेलन ने सयुक्त राष्ट्रसंघ से अनुरोध कि किया वह वियतनाम,

मलाया एवं अन्य देशों में युद्ध समाप्त कर सन्धि-वार्ता द्वारा न्यायपूर्ण समझौता कराने की दिशा में प्रयत्नशील हो। सम्मेलन में चीनी प्रतिनिधि द्वारा घोषणा की गई कि विभिन्न सामाजिक पद्धतियों का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व सम्भव है। जून, 1953 में कोरिया की युद्ध-विराम-सन्धि से चीन की इस परिवर्तित छद्मवेशी उदार प्रवृत्ति की पुष्टि हुई। सन् 1954 में चीन ने विश्व राजनीति में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया। इस वर्ष उसने जेनेवा सम्मेलन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया और शान्तिवादी नीति का अनुसरण करते हुए 17वीं अक्षांश रेखा पर वियतनाम का विभाजन तथा लाओस और कम्बोडिया की पृथक् व्यवस्था स्वीकार कर ली। अपनी इस स्वीकारोक्ति द्वारा चीन ने अपनी शान्तिवादिता का ढिंढोरा पीटा जबकि वास्तविकता यह थी कि उसने समझौता इसलिए स्वीकार किया था कि इससे आधे वियतनाम के साम्यवादी राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो रही थी और इसे अड्डा बनाकर चीनी साम्यवाद आगे बढ़ सकता था। इस सम्मेलन में तत्कालीन चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ ने यह अनुभव किया कि विभिन्न सरकारों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध और सन्धियों द्वारा चीन की शक्ति-वृद्धि के प्रयास करने चाहिए ताकि अवसर आने पर चीन उस शक्ति का अपने पक्ष में उपयोग कर सके। इस नीति का अनुसरण कर चीन ने सर्वप्रथम अप्रेल, 1954 में तिब्बत के बारे में सन्धि की और पंचशील के सिद्धान्तों में 'हार्दिक' आस्था प्रकट की।

पश्चिमी राष्ट्रों ने चीन की नेकनीयती पर भरोसा नहीं किया और पंचशील की घोषणा को कोरा प्रचार बताया। फिर भी एशिया के विभिन्न देशों को अपने शब्दजाल और अपनी कुशल कूटनीति द्वारा प्रभावित करने में चीन को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई। कोरिया-युद्ध में अमेरिका को टक्कर देकर एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों में अपनी सैनिक शक्ति का आतंक वह पहले ही पैदा कर चुका था, अतः उन्हें शक्तिशाली चीन को अपना मित्र बना लेने में क्या संकोच हो सकता था। चीन को अपनी छद्मवेशी उदार-नीति में सफलता इसलिए प्राप्त हुई कि चीन ने पश्चिमी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध जो जिहाद छेड़ा था उससे सभी एशियायी देशों को सहानुभूति थी क्योंकि वे सब उससे पीड़ित रह चुके थे। चीनी सफलता का एक और भी कारण था। कोरिया-युद्ध के बाद से ही संयुक्त-राज्य अमेरिका साम्यवाद से सुरक्षा के लिए सैनिक-सन्धियों का जाल बुन रहा था और भारत जैसे देशों की मान्यता थी कि इन सैनिक-सन्धियों द्वारा 'शीत-युद्ध' को एशिया के इस भाग में लाया जा रहा है। चीन ने एशियायी राष्ट्रों की इस मनोदशा का पूरा लाभ उठाया। उसने पश्चिम द्वारा समर्पित सैनिक-सन्धियों और अड्डों के विरुद्ध आग उगली, पश्चिम की इस नीति को नवीन साम्राज्यवादी चाल की संज्ञा दी और शान्ति का क्षेत्र विस्तृत करने पर बल देते हुए विदेशों के साथ दौत्य सम्बन्ध विकसित करने प्रारम्भ किए। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों में चीनी राजदूत प्रतिष्ठित हो गए। अप्रेल, 1955 में चीन ने बान्डुंग-सम्मेलन में भाग लिया और एशिया तथा अफ्रीका के 29 राष्ट्रों के सम्मुख अत्यन्त कूटनीतिज्ञता का प्रदर्शन करते हुए अपनी

शान्तिवादी उदार नीति का समर्थन किया। बांडुंग-सम्मेलन में चाऊ-एन-लाई ने दो कार्यों से अपने राष्ट्र को शान्ति-प्रेमी सिद्ध करने में सफलता पाई—(i) प्रवासी चीनियो के बारे में इण्डोनेशिया के साथ सन्धि करके उसने एशियायी देशों को आश्वस्त किया कि उन्हें अपने यहाँ के चीनी प्रवासियो से आशंकित नहीं होना चाहिए, एवं (ii) ताइवान क्षेत्र में तनाव कम करने के लिए चाऊ ने सन्धि-वार्ता का प्रस्ताव रखा। बांडुंग सम्मेलन के अवसर पर चीन की बहुत प्रशंसा हुई और बाद मे सन् 1958 तक चीन की शान्तिप्रियता का यह ढोंग बदस्तूर चलता रहा।

तृतीय युग : नया उग्रतावादी युग (1959 से 1969 तक)

वह युग सन् 1959 से आरम्भ हुआ, यद्यपि इसके लक्षण सन् 1957 के उत्तरार्द्ध से ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। सन् 1957 से ही पश्चिमी देशों के साथ-साथ एशियायी देशो के प्रति चीनी व्यवहार में कठोरता आने लगी। नवम्बर में मास्को में बोल्शेविक क्रान्ति की 40वीं वर्षगांठ के अवसर पर ससार के सभी साम्यवादी दलों मे सम्मेलन मे चीन की नवीन उग्र नीति का स्पष्ट संकेत मिला। माओ-त्से-तुंग ने 18 नवम्बर के अपने भाषण में पूर्व और पश्चिम के सघर्ष पर बल देते हुए चीन की नवीन नीति का सिंहनाद इन शब्दो मे किया—"इस समय विश्व मे दो हवाएँ है—पूर्वी हवा और पश्चिमी हवा।" चीन मे एक कहावत है "यदि पूर्वी हवा पश्चिमी हवा पर हावी नही होगी तो पश्चिमी हवा पूर्वी हवा पर हावी हो जाएगी।" मेरे विचार मे वर्तमान स्थिति की यह विशेषता है कि "पूर्वी हवा पश्चिमी हवा पर हावी है अर्थात् समाजवाद की शक्ति पूंजीवाद की शक्ति से अधिक है।"

अपनी नई उग्रवादी नीति का श्रीगणेश करते हुए चीन ने सर्वप्रथम उन मांगों का प्रबल विरोध किया जिनके अनुसार साम्यवादी नीति मे कुछ संशोधन होना चाहिए था तत्पश्चात् सन् 1958 के लेबनान-सकट मे चीन के तटवर्ती टापुओं के संकट मे तथा सन् 1959 के लाओस सकट मे पेकिंग ने कठोर रुख अपनाया। सन् 1959 से तो चीन की विदेश-नीति में अतिस्पष्ट रूप मे एक नया मोड़ आया और वह अधिकाधिक उग्र, आक्रामक तथा साम्राज्यवादी बनती गई। सन् 1959 मे अपने वचनो का उल्लघन कर चीन ने तिब्बत की स्वायत्तता को नष्ट कर दिया और दलाईलामा को अपना देश छोड़ कर भागना पड़ा। इसी समय से चीन भारत के साथ सीमा-विवाद में कठोर नीति का अनुसरण करने लगा और शनैः-शनैः भारतीय सीमा पर उसके अतिक्रमण बढ़ते गये। सन् 1959 मे ही श्री ख्रुश्चेव ने संयुक्तराज्य अमेरिका की यात्रा की जिसे चीनी नेताओं ने पसन्द नहीं किया और उनका दृष्टिकोण रूस के प्रति आलोचनात्मक हो गया। इसके बाद धीरे-धीरे रूस अधिकाधिक शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का समर्थक बनता गया और चीनी दृष्टिकोण इस नीति तथा रूस का अधिकाधिक विरोधी होता गया। सन् 1962 में अपने मित्र देश भारत पर चीन के आक्रमण ने उसके साम्राज्यवादी स्वरूप को सूर्य के प्रकाश की भांति उजागर कर दिया।

अपनी नवीन उग्र नीति के कारण चीन ने दिसम्बर, 1963 से एक नवीन कूटनीतिक अभियान छेड़ दिया। अफ्रीका महाद्वीप को क्रान्ति के लिए एकदम अनुकूल समझ कर वहाँ अपने प्रभाव का तीव्र गति से विस्तार करने के उद्देश्य से दिसम्बर, 1963 मे चाऊ-एन-लाई ने विभिन्न अफ्रीकी देशों मे 8 सप्ताह की यात्रा की। चीनी प्रधानमन्त्री संयुक्त अरब गणराज्य, अल्जीरिशिया, मलावी,ट्यूनिशिया, घाना, माली, गिनी, सूडान, इथोपिया, सोमालिया आदि देशों मे गए और फरवरी, 1964 में बर्मा, पाकिस्तान और श्रीलंका की यात्रा भी की। अपनी यात्रा के दौरान श्री चाऊ ने इस बात का भरसक प्रयास किया कि प्रथम तो इन देशो पर सोवियत व पश्चिमी प्रभाव क्षीण होकर चीनी प्रभाव में वृद्धि हो जाए और दूसरे भारत और रूस के साथ सीमा-विवाद में उसे इन देशो का समर्थन प्राप्त हो जाए, परन्तु सन् 1965 के अन्त तक होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने चीन की विदेश-नीति और नीवन कूटनीतिक अभियान की असफलताओं को उजागर कर दिया। वह अल्जीरिया मे अफ्रेशियायी राष्ट्रों के बांडुंग जैसा सम्मेलन बुलाने मे असफल रहा। अफ्रीका मे अपने शिष्य बेनबेल्ला द्वारा शासित अल्जीरिया में सम्मेलन का आयोजन कर माओ-त्से तुंग अफ्रेशियायी देशों पर चीन की धाक बैठाना चाहता था, परन्तु सम्मेलन आरम्भ होने से पहले ही बेनबेल्ला का पतन हो गया। सम्मेलन के आयोजन मे सफलता पाने के उद्देश्य से चीन ने अल्जीरिया की नई सरकार का समर्थन किया, परन्तु भारत आदि राष्ट्रों ने सम्मेलन को स्थगित करवा दिया। बेनबेल्ला के विरोधियों का समर्थन कर चीन ने यह सिद्ध कर दिया कि अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए चीन साम्यवाद के सिद्धान्तों की भी उपेक्षा कर सकता है। चीन की स्वार्थपरता ने अफ्रेशियायी देशो मे उसे बदनाम कर दिया। पाकिस्तान के प्रति चीन की सहानुभूति की पोल भी उस समय खुल गई, जब भारत-पाक सघर्ष के समय चीन भारत को केवल धमकी देता रहा और इस तरह उसने पाकिस्तान की आशा को आघात पहुँचाया कि चीन भारत को गहरी क्षति पहुँचाकर पाकिस्तान के प्रति अपनी दोस्ती का सबूत देगा। चीन के इस रुख से पाकिस्तान को मन ही मन बहुत अप्रसन्नता व निराशा हुई। इसके अतिरिक्त साम्यवादी देशों को भी इस बात से बड़ी ठेस पहुँची कि चीन अपने घोर शत्रु संयुक्त-राज्य अमेरिका के पिट्ठू और उससे सैनिक सहायता पाने वाले पाकिस्तान का खुल्लम-खुल्ला समर्थन कर रहा था। सन् 1965 में ही इण्डोनेशिया में चीन के इरादों को मिट्टी में मिला दिया गया। चीन प्रेरित साम्यवादी क्रान्ति असफल हुई और इण्डोनेशियायी सेना ने साम्यवादियों का बुरी तरह दमन किया। विश्व के साम्यवादी दलों मे इण्डोनेशियायी साम्यवादी दल का एक विशिष्ट स्थान था। उसके अधःपतन से विश्व के साम्यवादी आन्दोलन को गहरा आघात पहुँचा और साथ ही पेकिंग-पिंडी-जकार्ता धुरी छिन्न-भिन्न हो गई। अफ्रेशियायी देशों में भी चीन का प्रभाव क्षीण हो गया और वे चीनी साम्यवाद के खतरे को समझने लग गए। दिसम्बर, 1965 मे मालवी के प्रधानमन्त्री डॉ. हेस्टिंग्स बाण्डा ने स्पष्ट शब्दों मे घोषणा की—

"अफ्रीका की रिक्तता के बारे में चीनी यह समझते हैं कि इनकी पूर्ति उन्हीं के द्वारा होनी है। पेकिंग के लोग चंगेजखाँ की कल्पना से भी बड़ा ऐसा साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं जिसमें सम्पूर्ण एशिया तथा अफ्रीका सम्मिलित हो तथा यदि जनता आपत्ति न करे तो इसमें यूरोप और अमेरिका भी सम्मिलित हो। जब मैं अफ्रीका पर विचार करता हूँ तो मुझे रूसियों से उतना भय नहीं है जितना चीनियों से है। समय की गति के साथ रूसी नरम पड़ गए हैं, किन्तु चीनी नरम नहीं पड़े हैं।"

अफ्रीका महाद्वीप में चीन तेजी से अपनी प्रतिष्ठा खोता गया और पेकिंग से कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद का क्रम आरम्भ हो गया। इसी बीच चीन तथा रूस के सम्बन्धों में भी काफी बिगाड़ आ गया। दोनों के सैद्धान्तिक मतभेद उग्र हो गए। चीन सोवियत संघ को संशोधनवादी और सोवियत संघ चीन को कट्टरपंथी कहकर दोनों एक दूसरे को बदनाम करने लगे। वास्तव में साम्यवादी जगत् के लिए नेतृत्व की होड़ शुरू हो गई क्योंकि चीन ने रूसी नेतृत्व अस्वीकार कर दिया। दोनों देशों में कटु सीमा-विवाद भी उत्पन्न हो गए और मार्च, 1969 में सीमा पर सैनिक झड़पें भी हुईं। स्थिति इतनी तनावपूर्ण हो गई कि दोनों देशों के सम्बन्ध-विच्छेद के कगार पर पहुँच गए।

चतुर्थ युग : सहयोग और मैत्री की कूटनीति का युग (1970 से अक्तूबर 1980 तक)

उग्रतावादी एवं क्रान्तिकारी युग में साम्यवादी चीन ने आतंक और तोड़-फोड़ की जिस विदेश नीति का अनुसरण किया उससे वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में काफी बदनाम हो गया और उसके दो घनिष्ठ मित्र भारत और रूस उसके विरुद्ध हो गए। चारों ओर से उसका विरोध होने लगा और वह लगभग अलग-थलग पड़ गया। चीन ने अपनी इस पृथकता की स्थिति को तोड़ने के लिए एशिया और अफ्रीका के छोटे देशों में अपने प्रभाव-विस्तार की चेष्टाएँ की, किन्तु उनमें भी वह लगभग असफल रहा। अरब जगत् ने नासिर के नेतृत्व में चीनी कूटनीति का शिकार होने से स्वयं को बचाए रखा। अतः यह आवश्यक हो गया कि चीन अपनी विदेश नीति का पुनर्मूल्यांकन कर आतंक एवं तोड़-फोड़ के स्थान पर सहयोग, मैत्री एवं सह-अस्तित्व की नीति अपनाए—चाहे मौलिक रूप में उसका इनमें विश्वास नहीं था। 1970 के प्रारम्भ से ही चीन ने अपनी विदेश नीति का संचालन पुनः इस रूप में आरम्भ किया ताकि अधिकाधिक मित्र और समर्थन प्राप्त किया जा सके तथा पुरानी नीति के कारण विदेश-नीति के स्वरूप में जो बिगाड़ पैदा हुए थे, उन्हें सुधार कर विश्व के देशों को अपनी 'सदाशयता' में विश्वास दिलाया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने भी कुछ ऐसी करवट ली कि चीन का मार्ग सुगम हो गया। राष्ट्रपति निक्सन के नेतृत्व में अमेरिका ने अपना चीन-विरोधी रवैया शिथिल कर दिया, चीन की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया तथा अमेरिकी सहयोग से रूसी नेतृत्व का मुकाबला करने के लिए चीन को आकर्षित किया। चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में भी प्रवेश मिल गया

जिससे उसे सुअवसर प्राप्त हुआ। सांस्कृतिक क्रान्ति की सफलता आर्थिक और सैनिक शक्ति में तीव्र विकास तथा महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होने की आकांक्षा ने चीन को प्रेरित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 'बचकाना' हरकतों का रास्ता त्याग दे।

मैत्री, सहयोग और संयम की नयी कूटनीति अपनाते हुए चीन ने एक ओर अमेरिका के साथ सम्बन्ध स्थापित करने शुरू किए तथा दूसरी ओर रूस के विरुद्ध अपना प्रचार अभियान कम किया। सन् 1970 में ही रूस और चीन के बीच पुनः एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसके बाद से एक दूसरे पर कठोर शब्दों का प्रयोग कम होता गया। अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन ने चीन की यात्रा की तथा दूसरे देशों के साथ भी चीन 'पिंग-पांग कूटनीति' के मार्ग पर चलने लगा। भारत के प्रति चीनी रवैया यद्यपि पूर्ववत् रहा तथापि दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक संघर्ष मे सीमा पर सैनिक हलचल करके तनाव पैदा किया गया। 1970 से भारत के सीमान्त पर चीन के साथ सैनिक मुठभेड़ों की वारदातें भी नहीं हुई है। कूटनीतिक क्षेत्र में चीन का भारत विरोधी रवैया किसी भी अनुपात में रहा हो, लेकिन व्यवहार मे उसने भारत को सैनिक दृष्टि से भड़काने वाली कोई कार्यवाही करने में संयम ही बरता है। पाकिस्तान को सैनिक सहायता और कूटनीतिक समर्थन देकर अपने पक्ष में करने की चीनी नीति पूर्ववत् सक्रिय है, लेकिन चीनी नेताओं ने अपने व्यवहार से यह संकेत दे दिया है कि पाकिस्तान को ऐसी कोई आशा नही करनी चाहिए कि उसके कारण वह भारत से सैनिक संघर्ष में उलझने की भूल करेगा। 1976 में पेकिंग में भारतीय राजदूत की नियुक्ति के बाद दोनों देशों में कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गए, जो 1962 के चीनी हमले के बाद टूट गए थे। यह आशा की जाने लगी कि चीन भारत की मैत्री के महत्त्व को स्वीकार कर रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाएगा। नवम्बर, 1977 मे भारत के विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने यह संकेत दिया कि दोनों ही देश परस्पर सम्बन्ध सुधारने को प्रयत्नशील हैं।

कुछ राजनीतिक क्षेत्रों के विरोध के बावजूद भारत के विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी फरवरी, 1979 में पीकिंग गए जहाँ उन्होने चीनी नेताओं से बातचीत की। सरकारी क्षेत्र मे यह आशा की गई थी कि विदेश मन्त्री की चीन यात्रा के अच्छे परिणाम निकलेंगे। लेकिन 17 फरवरी को जब श्री वाजपेयी को वियतनाम पर चीनी आक्रमण की खबर मिली तो वे अपनी शेष यात्रा रद्द कर तुरन्त भारत लौट आए। चीन ने वियतनाम पर आक्रमण करने का वह *समय चुना जब* श्री वाजपेयी पीकिंग में मौजूद थे और उससे भी विचित्र बात यह थी कि भारतीय विदेश मन्त्री को आक्रमण की कोई सूचना तक नहीं दी गई। चीन का यह रवैया भारतीय विदेश मन्त्री का अपमान था और इससे चीन ने यह पुनः स्पष्ट कर दिया कि चीन की विदेश नीति मे भारत का एक सीमित महत्त्व है। वियतनाम पर आक्रमण से चीन ने 1962 की याद पुनः ताजा कर दी और यह पुनः स्पष्ट कर दिया कि उसकी आक्रामकता तथा विस्तारवादिता पर कोई अंकुश नहीं लगा है।

भारतीय विदेश मन्त्रालय के सचिव श्री एरिक गोजाल्विस की पीकिंग में

वार्ता के दौरान चीनी नेताओं ने दोनो देशों के बीच सम्बन्ध सामान्य बनाने और सीमा विवाद को सामान्यीकरण की प्रक्रिया में बाधक न बनने देने की बात पुनः दुहराई। दो दशक तक भारत के प्रति वैर भरे रुख के बाद अब चीन की तर्ज निश्चित रूप से बदली हुई है। इसका कारण चीन की आन्तरिक स्थिति और विकास मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग लेने की उसकी नई नीति है, जिसकी सफलता के लिए वह एशियाई देशो से अपने सम्बन्ध सुधारना चाहता है।

"चीन ने श्री गोंजाल्विस की यात्रा के दौरान एक पत्रिका में सीमा विवाद के बारे मे अपना प्रस्ताव छपवाकर उस पर भारत की टोह लेने का प्रयत्न किया है। प्रस्ताव के अनुसार चीन चाहता है कि भारत लद्दाख मे अकसाईचीन पर चीन ने कब्जा कर लिया है, अपना दावा छोड दे, तो बदले मे वह मध्य हिमालय से उत्तर-पूर्वी सीमान्त तक मेकमोहन सीमा रेखा को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा मान लेगा।

इस तरह का प्रस्ताव न तो नया है और न वह भारत को स्वीकार्य है। यह साम्यवादी चीन का तरीका है, जो उसने भारत के साथ ही नहीं, कई पड़ोसी देशों के साथ अपनाया है। पहले वह पड़ोसी देशो के सीमान्त प्रदेशो पर विचित्र-विचित्र आधारों पर दावे करता है और उन प्रदेशों को अपने नक्शो मे दिखाता है और फिर उन देशों को धौंस मे लेने अथवा झुकाने के लिए आक्रमण करता है। ऐसा वह भारत के साथ ही नहीं, हाल ही मे वियतनाम के साथ भी कर चुका है। भारत सरकार को चीन के झांसे मे आने से बचना चाहिए और लद्दाख के अकसाई चीन प्रदेश पर अपने दावे को नही छोड़ना चाहिए। चीन को आभास होने लगा है और जल्दी ही विश्वास भी हो जाएगा कि वह अपनी प्रसारवादी नीति पर चल कर और पड़ोसी देशो की भूमि पर दावे या कब्जा करके स्वयं भी चैन और शान्ति से नहीं बैठ सकता और न अलगाव मे रहकर अपना विकास ही कर सकता है।

चीन की बदलती हुई तर्ज का एक कारण शायद यह भी है कि वह समझ गया है कि एशिया के नव स्वतन्त्र देश अब सैन्य दृष्टि से उतने कमजोर नहीं हैं, जितने वे 10-15 वर्ष पूर्व थे। उसे सोवियत संघ, भारत तथा अन्य देशो से दुश्मनी की कीमत भी चुकानी पड़ी है।

फिर भी चीन की इस बदली तर्ज को कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाना चाहिए। 18 वर्ष बाद वह कम से कम वार्ता द्वारा सीमा विवाद निवटाने को उत्सुक मालूम पड़ता है, जबकि अब तक उसे अपनी ताकत का गरूर था और अमेरिका को दिन-रात 'कागजी शेर' कहते नहीं अघाता था। भारतीय विदेश मन्त्रालय ने प्रस्ताव पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त न कर दूरदर्शिता का परिचय दिया है। प्रस्ताव का यह अंश ही अभी गौर करने लायक है कि यदि सीमा विवाद अभी हल नहीं होता है, तो उसे यों ही रहने दिया जाए और इस बीच सम्बन्ध सामान्य बनाने के प्रयत्न किए जाएँ। इसमें कोई बुराई नहीं है।

कश्मीर के बारे में भी चीन के रुख में परिवर्तन को नजरन्दाज नही किया जा सकता। चीनी विदेश उपमन्त्री ने कहा है कि वह भारत व पाकिस्तान का ग्रापसी मसला है। चीन ग्रब तक कश्मीरी जनता के ग्रात्म-निर्णय के ग्रधिकार का समर्थन करता रहा है। चीनी ग्रपने को ग्रन्तर्राष्ट्रीय कानून ग्रौर कूटनीति का माहिर मानते हैं, इसलिए उसके साथ बातचीत व सम्पर्क में ग्रत्यधिक सावधानी वरतने की ग्रावश्यकता है।"

चीन के ग्रन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
(International Relations of China)

विश्व के प्रमुख राष्ट्रो के साथ चीन के ग्रन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध रहे हैं उनका विवेचन संयुक्तराज्य ग्रमेरिका, सोवियत मघ ग्रौर भारत की विदेश नीति के सन्दर्भ में विस्तार से किया जा चुका है। ग्रतः यहां चीन के ग्रन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सांकेतिक विवेचन ही ग्रपेक्षित है।

चीन ग्रौर ग्रमेरिका

राष्ट्रपति निक्सन द्वारा चीन के प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाने से पूर्व दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध ग्रत्यन्त शत्रुतापूर्ण थे। ग्रमेरिका ने नवोदित साम्यवादी चीन को न केवल मान्यता देने से इन्कार कर दिया बल्कि संयुक्तराष्ट्र में उसके प्रवेश के विरुद्ध भी मोर्चाबन्दी की। ग्रमेरिका की नीति मुख्यत: यह रही कि साम्यवादी चीन के साथ मैत्री ग्रौर सहानुभूति रखने वाले देश ग्रमेरिका के मित्र नही माने जा सकते। सन् 1950 मे कोरिया युद्ध में संयुक्तराष्ट्र संघीय सेनाग्रों ने ग्रमेरिकी कमान में युद्ध लड़ा। जब संयुक्तराष्ट्र सघीय सेनाएँ 38वीं ग्रक्षांश रेखा को पार कर यालू नामक स्थान पर पहुँची तो उत्तर कोरिया की ग्रोर से चीनी सैनिक टिड्डी-दल की भाँति उन पर टूट पड़े। कोरिया का युद्ध ग्रब प्रधानत: ग्रमेरिका व चीन का युद्ध बन गया। ग्रक्तूबर, 1951 मे माग्रो-त्से-तुंग ने कहा—"हम ग्रपने देश की रक्षा के लिए ही 'साम्राज्यवादी ग्राक्रमणों' के विरुद्ध लड़ रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि यदि ग्रमेरिकी सेनाग्रों ने हमारे ताइवान (फारमोसा) पर कब्जा न किया होता ग्रौर हमारे साम्यवादी मित्र-राज्य पर दक्षिणी कोरिया ने ग्राक्रमण न किया होता तथा स्वयं ग्रपनी कार्यवाहियों का विस्तार हमारी उत्तर-पूर्वी सीमा तक न किया होता तो हम ग्राज ग्रमेरिकी सेनाग्रो के विरुद्ध न लड़ रहे होते।"

कोरिया-युद्ध के फलस्वरूप ग्रमेरिका ने फारमोसा को साम्यवादी चीन के सम्भावित ग्राक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए खुल कर सैनिक सहायता देने का निश्चय कर लिया। ग्रमेरिका के इस निश्चय ने दोनो देशों के सम्बन्धों को ग्रौर भी ग्रधिक कटु बना दिया। चीन में वाशिंगटन-विरोधी प्रचार-ग्रभियान तीव्र कर दिया गया! क्लॉड बस (Claud Buss) के शब्दों मे[1]—"चीनवासियों ने ग्रमेरिका पर

1 *Buss, C. A.*: The Far East, p 53.

जापान में फासिस्टवाद तथा सैनिकवाद की पुनर्स्थापना करने तथा एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए जापान का एक साधन के रूप में प्रयोग करने के आरोप लगाए। इसी तरह उन्होंने अमेरिका को दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति सिगमन री की सहायता करने एवं कोरिया मे गृह-युद्ध छेड़ने के लिए भी दोषी ठहराया।" चीन के साम्यवादी नेताओं ने कोरिया-युद्ध की व्याख्या करते हुए कहा कि—"यह युद्ध कोरिया, फारमोसा, हिन्द-चीन एवं फिलीपाइन्स पर कब्जा करने तथा उसके पश्चात् एशियायी मामलों मे हस्तक्षेप करने के अमेरिकी षड्यन्त्र का ही अग्रिम भाग है।"

साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका ने विभिन्न सैनिक और प्रतिरक्षात्मक सगठनों का निर्माण किया। अमेरिका द्वारा निर्मित और प्रेरित नाटो, सीटो, अंजुस (ANZUS), बगदाद पैक्ट (अब सैंटो) तथा मध्य-पूर्वी कमान सन्धियों की साम्यवादी चीन ने यह कह कर तीव्र भर्त्सना की कि इन सबका उद्देश्य विश्व मे अमेरिकी प्रभुत्व की स्थापना करना है। अमेरिकियों के लिए चीन की मुख्य भूमि के द्वार बन्द कर दिए गए। अनेक बार तो अमेरिकी पत्रकारों तक को प्रवेश की अनुमति नहीं दी गई। चीन-स्थित अमेरिका सम्पत्ति भी जब्त कर ली गई। अमेरिका के साथ व्यापारिक सम्बन्ध पूर्णतः भग कर दिए गए। उसके साथ सभी प्रकार के सम्पर्कों पर—चाहे वे सामाजिक हों, सांस्कृतिक हो या कूटनीतिक हों—रोक लगा दी गई। कोरियाई युद्ध मे जिन अमेरिकी चालकों को बन्दी बना लिया गया था, उन्हें भी सोवियत रूस के आग्रह पर बड़े वाद-विवादों के बाद मुक्त किया गया।

सन् 1954 मे हिन्द-चीन के प्रश्न पर भी दोनों देशों मे काफी तनाव पैदा हो गया। डीन-बिन-फू मे फ्रेंच सेनाओं की निर्णायक पराजय के उपरान्त जब वाशिंगटन ने फ्रांस की सहायतार्थ भारी सख्या मे अपनी सेनाएँ भेजने का निश्चय किया तो अमेरिका और साम्यवादी चीन में प्रत्यक्ष युद्ध का खतरा हो गया। सौभाग्यवश जिनेवा समझौता सम्पन्न हो जाने के कारण यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति टल गई। सन् 1959 में चीन और अमेरिका के बीच सघर्ष के नए कारण उत्पन्न हो गए। लाओस में संघर्ष के लिए चीन ने अमेरिका को उत्तरदायी ठहराया और कहा कि वह वियतनाम के प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य एवं चीन की सुरक्षा को सीधी चुनौती देने के लिए ही सुदूर पूर्व में संघर्ष चाहता है। तिब्बत की क्रान्ति के बारे में सयुक्तराज्य अमेरिका के रवैये से भी चीन को भारी क्षोभ हुआ। इसके अतिरिक्त जनवरी, 1960 मे जापान तथा अमेरिका के बीच जो पारस्परिक सहयोग एव सुरक्षा की सन्धि सम्पन्न हुई, उससे भी चीन के सम्बन्ध कटु बने। चीन ने हर सम्भव प्रयत्न द्वारा जापान व अमेरिका के गठबन्धन को निरस्त करने का प्रयास किया। पेकिंग रेडियो ने अमेरिका पर एशिया मे साम्राज्यवादी षड्यन्त्र रचने का आरोप लगाया। 9 सितम्बर, 1962 को साम्यवादी चीन की वायु सेना ने कुओमितांग सेना के एक यू-2 सैनिक जाँच-वायुयान को चीन की मुख्य भूमि पर मार गिराया। चीन

सरकार ने इस घटना पर एक विस्तृत वक्तव्य प्रसारित किया और अमेरिका को इस विमान की उड़ान के लिए उत्तरदायी ठहराया। अक्तूबर, 1962 में 'क्यूबा-संकट' के समय साम्यवादी चीन द्वारा संयुक्त-राज्य अमेरिका के विरुद्ध भारी विष-वमन किया गया। सम्पूर्ण चीन में क्यूबा समर्थक विशाल प्रदर्शन संगठित किए गए, क्यूबा समर्थक नारे लगाए गए और क्यूबा के नेताओं के चित्रों का प्रदर्शन किया गया। सन् 1962 में संयुक्त-राज्य अमेरिका ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध भारत को जो प्रभावशाली सैनिक सहायता भेजी, उससे भी साम्यवादी चीन के आक्रोश में वृद्धि हुई।

सन् 1965–66 में वियतनाम-समस्या के प्रश्न पर दोनों देशों के सम्बन्धों में कटुता में और भी वृद्धि हुई। वियतनाम में शान्ति-स्थापना के हर प्रयास को चीन ने असफल बनाने की कोशिश की। चीन की प्रेरणा से ही उत्तर-वियतनाम ने सभी शान्ति-प्रस्तावों के विरुद्ध कठोर रुख अपनाते हुए केवल अपने ही प्रस्ताव को मानने पर बल दिया। जब हनोई सरकार शनैः-शनैः पेकिंग की अपेक्षा मास्को के अधिक निकट आने लगी तो यह भी चीन को बुरा लगा और उसका प्रयत्न यही रहा कि हनोई चीन के सैनिक निर्देशन में दक्षिण वियतनाम से युद्धरत रहे।

राष्ट्रपति जॉनसन के समय तक चीन और अमेरिका के सम्बन्ध निरन्तर कटु होते गए। वियतनाम युद्ध का कुप्रभाव सम्पूर्ण अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर पड़ने लगा और डॉलर की स्थिति कमजोर होती गई। इसके साथ ही कूटनीतिक क्षेत्र में सोवियत रूस की सफलता ने विशेषकर मध्यपूर्व क्षेत्र और भारतीय उपमहाद्वीप में रूसी प्रभाव ने, अमेरिका को चिन्तित कर दिया। अतः जॉनसन के उत्तराधिकारी राष्ट्रपति निक्सन ने ऐसे प्रयत्न आरम्भ किए जिनका उद्देश्य चीन से सामान्य सम्बन्ध स्थापित करना था ताकि एक ओर तो वियतनाम-युद्ध से अमेरिका ससम्मान पीछा छुड़ा सके और दूसरे सोवियत प्रमुत्व को सफल चुनौती देते हुए राजनीतिक क्षेत्र में पेकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी का निर्माण कर, शक्ति-सन्तुलन अपने पक्ष में कर ले। अमेरिका की यह लालसा भी रही कि लगभग 70 करोड़ की विशाल जनसंख्या वाले देश से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके अमेरिका व्यापक व्यापारिक और आर्थिक लाभ प्राप्त कर सकेगा। चीन की भी यह आकांक्षा थी कि सोवियत रूस के नेतृत्व को चुनौती देने के लिए वह अमेरिका जैसे सबल राष्ट्र को अपने पक्ष में करले।

सम्बन्ध-सुधार की इन प्रक्रियाओं के फलस्वरूप चीन-अमेरिका के बीच 'पिंगपोंग कूटनीति' का उदय हुआ। अमेरिका ने चीन के साथ व्यापार, यात्रा और जहाजरानी सम्बन्धी कानूनी रुकावटों में ढील दे दी तथा अपनी टेबलटेनिस टीम को पिंगपोंग खेलने के लिए चीन भेजा। सन् 1970 में माओ-त्से-तुंग ने अमेरिकी पत्रकार एडगर स्नो के साथ बातचीत में अमेरिकी राष्ट्रपति का चीन में स्वागत करने की इच्छा प्रकट की। दोनों देशों में सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अनुकूल वातावरण बनाने हेतु वारसा, पेरिस आदि स्थानों पर दोनों देशों के अधिकारियों के बीच वार्ताओं का दौर आरम्भ हुआ जिनकी प्रगति के आधार पर

15 जुलाई, 1971 को बहुत ही नाटकीय ढंग से राष्ट्रपति निक्सन ने मई, 1972 के पूर्व अपनी चीन-यात्रा की घोषणा की। भारत सहित विश्व के अनेक देशों ने इस घोषणा का स्वागत किया और संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में एक नया अध्याय प्रारम्भ करने वाली घटना बतलाया। 21 फरवरी, 1972 को राष्ट्रपति निक्सन दलबल सहित पेकिंग पहुँचे। संयुक्त विज्ञप्ति के अनुसार दोनों देशों में अनेक विषयों पर मतभेदों के बावजूद सौहार्द्रपूर्ण वार्ता हुई। दोनों देशों ने ज्ञान और कला के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक विनिमय और सम्पर्क का निश्चय किया। आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्धों में वृद्धि पर भी विचार-विमर्श किया गया। यह भी निश्चय किया गया कि सामान्य हित के विषयों पर विचार-विनिमय और सम्बन्धों के सामान्यीकरण के लिए विभिन्न माध्यमों से अधिकाधिक सम्पर्क स्थापित किया जाए। निक्सन की पेकिंग यात्रा के बाद दोनों देशों के सम्बन्ध तेजी से सामान्य बनते गए। बंगलादेश के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में दोनों ने आपस में सहयोग किया। फरवरी, 1973 में निक्सन के निजी सलाहकार हेनरी किसिंगर ने पेकिंग में चाऊ-एन-लाई तथा अन्य नेताओं से वार्ता की। अमेरिका और चीन द्वारा एक दूसरे के यहाँ सम्पर्क कार्यालय खोलने का निश्चय किया गया। यद्यपि इन कार्यालयों को दूतावास की संज्ञा नहीं दी गई तथापि व्यवहार में इनका कार्य दूतावास जैसा ही रखा गया। दोनों देशों के बीच अनेक क्षेत्रों में सहयोग में वृद्धि हुई। पारस्परिक व्यापार-विस्तार का एक निश्चित कार्यक्रम बनाया गया। चीन ने अमेरिका के दो बन्दी वायुयान-चालकों को मुक्तकर और अमेरिका ने ताइवान में अपनी सेना में पर्याप्त कटौती का संकेत देकर यह प्रदर्शित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दोनों देश अधिकाधिक निकट आने को उत्सुक हैं।

दोनों देशों के सम्बन्धों में सामान्यीकरण की प्रक्रिया तब कुछ मन्द हो गई जब चीन ने देखा कि अमेरिका रूस के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने के प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण विषयों पर वार्ता में चीन की उपेक्षा कर रहा है। नवम्बर, 1974 में जब अमेरिकी विदेश मन्त्री डॉ. किसिंगर चीन गए तो उनके स्वागत में उदासीनता प्रकट कर चीनी नेताओं ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की। इस अप्रसन्नता के दो प्रमुख कारण थे—अमेरिका द्वारा ताइवान सम्बन्धी उस शंघाई-समझौते को कार्यान्वित न किया जाना जो सालभर पहले दोनों के बीच हुआ था, एवं अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड और सोवियत नेता ब्रेझनेव द्वारा वार्ता के लिए ब्लाडीवोस्तक को चुनना। ब्लाडीवोस्तक कभी चीन का हिस्सा था; अतः चीन ने सोचा कि उसे चिढ़ाने के लिए इसे वार्तास्थल चुना गया है। सन् 1972 की शंघाई विज्ञप्ति में किए गए वायदों में एक महत्त्वपूर्ण वायदा यह था कि अमेरिका ताइवान को चीन का हिस्सा मान लेगा। अप्रेल, 1975 में च्यांग-काई-शेक की मृत्यु के बाद ताइवान अब फिर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आकर्षण केन्द्र बन गया। मार्शल च्यांग के निधन का न केवल ताइवान की आन्तरिक राजनीति पर बल्कि अन्य देशों से सम्बन्धों पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वैसे च्यांग के उत्तराधिकारी उनके पुत्र प्रधानमन्त्री

च्यांग-चुंग-कुश्रो ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह अपने देश पर कभी भी साम्यवाद की छाया नही पड़ने देंगे और चीन की मुख्य भूमि को साम्यवाद से मुक्त करने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहेंगे।

निक्सन के हटने के बाद से ही अमेरिका और चीन के सम्बन्धों में कुछ शिथिलता उत्पन्न हो गई है। जैसा कि अमेरिकी विदेश नीति के सन्दर्भ मे बताया जा चुका है, जब डॉ. किसिंगर ने अक्तूबर, 1975 मे और राष्ट्रपति फोर्ड ने दिसम्बर, 1975 मे चीन की यात्रा की तो उनका बहुत ही फीका स्वागत हुआ।

20 जनवरी, 1977 को अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर श्री जिम्मी कार्टर आरूढ़ हुए और विदेश मन्त्री पद पर उन्होने श्री साइरस वेंस को नियुक्त किया। कार्टर प्रशासन अमेरिकी विदेश नीति को एक नई दिशा देने को प्रयत्नशील है। कार्टर के शासन-काल मे अमेरिका-चीन सम्बन्ध कैसे रहे है इसका विवेचन अमेरिका की विदेश नीति मे किया जा चुका है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि कार्टर ने 1 जनवरी, 1979 से चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा करते हुए यह मान लिया कि चीन केवल एक है और उसकी एक सरकार है। कार्टर ने यह स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका गैर-सरकारी तौर पर ताइवान से सम्बन्ध रख सकता है। कार्टर के समय अमेरिका और चीन एक दूसरे के और नजदीक आए हैं तथा राजनीतिक क्षेत्रों मे यह स्वीकार किया जाने लगा है कि यह प्रवृत्ति रूस के विरुद्ध भावी अमेरिकी-चीनी गठबन्धन का पूर्वाभास है। अमेरिका-चीन सम्बन्ध का 1980 के मध्य तक का विवरण विस्तार से अमेरिकी विदेश नीति वाले अध्याय मे दिया जा चुका है।

चीन और सोवियत संघ

चीन और सोवियत संघ दो महान् साम्यवादी राष्ट्र है। इनके पारस्परिक सम्बन्ध मैत्री और शत्रुता, सहयोग और स्पर्द्धा, भ्रातृत्व और वैमनस्य की कहानियाँ हैं। 1 अक्तूबर, 1949 को साम्यवादी चीन की स्थापना के तुरन्त बाद रूसी-चीनी मैत्री तेजी से विकसित होती गयी, लेकिन कुछ ही वर्ष बाद न केवल सैद्धान्तिक मतभेद उभरे बल्कि सीमा-विवाद भी उठ खड़े हुए और सशस्त्र सीमा-संघर्ष भी चालू हो गए। आज स्थिति यह है कि एक ओर तो चीन और अमेरिका, जो कभी परस्पर शत्रु थे, सोवियत संघ के विरुद्ध हाथ मिला रहे है, तो दूसरी ओर अमेरिका और सोवियत संघ परस्पर सहयोग द्वारा चीन की विस्तारवादी आकांक्षाओं पर अंकुश लगाने को सचेष्ट है। रूस-चीन-अमेरिका का वह त्रिकोणात्मक संघर्ष विश्व-राजनीति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन ला रहा है।

रूस-चीन में सहयोग का काल

चीन मे जनवादी गणतन्त्र की स्थापना होते ही सोवियत रूस ने उसे अपनी मान्यता प्रदान कर दी और माओ-त्से-तुंग ने फरवरी, 1950 में रूस की यात्रा के दौरान 24 फरवरी को दोनों के बीच तीन सन्धियाँ सम्पन्न की—(1) 30 वर्ष के लिए मैत्री सन्धि, (2) च्यांग चुन रेलवे, पोर्ट आर्थर तथा डाइरन से सम्बन्ध सन्धि,

एवं (3) ऋण सम्बन्धी सन्धि। प्रथम सन्धि के अन्तर्गत जापानी अथवा उसके सहयोग से किसी भी विदेशी आक्रमण की स्थिति में दोनों देशों द्वारा एक-दूसरे की सहायता करने तथा पारस्परिक हितों को ठेस पहुँचाने वाली किसी भी सन्धि में सम्मिलित न होने का निश्चय किया गया। जापान के साथ शान्ति सन्धि के लिए प्रयास करने, समान हितों के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर आपसी विचार-विमर्श करते रहने तथा पारस्परिक घनिष्ठ आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने पर भी सहमति प्रकट की गई। द्वितीय सन्धि द्वारा सोवियत संघ ने च्यांग चुन-रेलवे को जापानी शान्ति सन्धि के बाद अथवा अधिक से अधिक सन् 1952 के अन्त तक चीन को हस्तान्तरित करने का वचन दिया। यह भी निश्चित हुआ कि सन् 1952 तक सोवियत सघ की सेनाएँ पोर्ट आर्थर से वापस बुला ली जाएँगी। तृतीय सघ के माध्यम से सोवियत संघ ने चीन को 5 वर्ष की अवधि के लिए 3 करोड़ डॉलर का ऋण देना स्वीकार किया। इस ऋण को 5 किश्तों में दिया जाना तथा 31 दिसम्बर 1954 के पश्चात् 10 किश्तो मे लौटाया जाना तय हुआ।

सन्धिया सम्पन्न होने के उपरान्त कुछ वर्षों तक रूस-चीन मैत्री विकसित होती रही। सितम्बर, 1952 में च्यांग चुन-रेलवे चीन को लौटा दी गई, परन्तु पोर्ट आर्थर के बारे में यह निश्चय हुआ कि वह तब तक नहीं लौटाया जाएगा जब तक कि जापान की रूस और चीन के साथ शान्ति-सन्धि नहीं हो जाती। बाद मे सन् 1954 मे यह तय किया गया कि पोर्ट आर्थर सन् 1954 में चीन को हस्तान्तरित कर दिया जाएगा। मई, 1955 मे इसे चीन को हस्तान्तरित कर दिया गया। इस अवधि में सोवियत सघ द्वारा चीन को दी जाने वाली वित्तीय, वाणिज्य और प्राविधिक सहायता मे भी निरन्तर वृद्धि होती गई। चीन का लगभग 70 प्रतिशत व्यापार रूस के साथ होने लगा जिसमें सन् 1950 के बाद निरन्तर वृद्धि होती चली गई। सन् 1954 में रूस ने चीन को अणुशक्ति में भी सहयोग देना स्वीकार किया, परन्तु साथ ही यह निर्णय भी हुआ कि चीन द्वारा अणु परीक्षण रूस की पूर्व अनुमति के बिना नहीं किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त चीनी-रूसी मैत्री संगठन स्थापित किए गए।

सोवियत संघ ने चीन को सयुक्त राष्ट्रसंघ मे स्थान दिलाने के लिए निरन्तर प्रयास किया। सन् 1954–55 मे दोनों ही देशों ने पश्चिमी शक्तियों, विशेषकर अमेरिका निर्मित प्रादेशिक सैनिक संगठनों की कटु आलोचना की। सन् 1956–57 में दोनों ने मिस्र पर ब्रिटेन व फ्रांस के आक्रमण की निन्दा की। हंगरी मे जब दक्षिणपंथी विद्रोह हुए तब भी दोनों देशों मे नियमित रूप से विचार-विमर्श होते रहे। सन् 1958 मे टीटो के संशोधनवाद की कटु आलोचना भी दोनों देशों द्वारा की गई। सोवियत संघ की भाँति ही अन्य समाजवादी देशों के साथ चीन ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखे

रूस-चीन में मतभेद और तीव्र वैमनस्य का काल

रूस और चीन के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों मे तनाव का बीजारोपण सन् 1954

में ही प्रकट हो गया। सोवियत-साम्यवादी दल की 23वीं कांग्रेस में श्री ख्रुश्चेव ने युद्ध और हिंसात्मक क्रान्ति की अनिवार्यता से इनकार करते हुए विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया और संसदीय तरीके से समाजवाद की स्थापना का समर्थन किया। श्री ख्रुश्चेव की ये मान्यताएँ चीनी नेताओं के गले नहीं उतरी। चीनी साम्यवादी दल ने ख्रुश्चेव पर संशोधनवादी होने का आरोप लगाया और आलोचना-प्रत्यालोचना की खुली शुरूआत हुई। सन् 1956 में और तत्पश्चात् 1961 में रूसी साम्यवादी दल की कांग्रेस में ख्रुश्चेव द्वारा स्टालिन की निन्दा ने दोनों देशों में मतभेद और सैद्धान्तिक संघर्ष उग्र कर दिए। ख्रुश्चेव के स्टालिन विरोधी अभियान को विस्टालिनीकरण की संज्ञा दी गई। जब मास्को यूगोस्लाविया को साम्यवाद भ्रातृत्व में वापस लाने को तत्पर हुआ तो भी चीन को बहुत बुरा लगा। सितम्बर, 1959 में ख्रुश्चेव की अमेरिका-यात्रा चीन ने पसन्द नहीं की और इसलिए चीन की यात्रा के समय सोवियत नेता का कोई विशेष स्वागत नहीं किया गया। सन् 1959 में अपनी चीन यात्रा के समय ख्रुश्चेव ने पुनः यह बात दोहराई कि साम्यवादी चाहे कितने ही सशक्त हो जाएँ, उन्हें पूँजीवादी जगत् के विरुद्ध शक्ति के प्रयोग से बचे रहना चाहिए। चीनी मार्क्सवाद का ख्रुश्चेव को उपदेश 'प्रतिक्रियावादी शक्तियों की प्रगतिवादी शक्तियों पर विजय' जैसा लगा। सन् 1959-60 में भारत-चीन सीमा-विवाद पर ख्रुश्चेव की यह टिप्पणी भी चीनी नेताओं को अखरी कि दोनों देश अपना सीमा-विवाद शीघ्र ही शान्तिपूर्ण ढंग से निपटा लें।

दोनों देशों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद उग्र होते गए। जून, 1970 में बुखारेस्ट में रूमानिया कर्मचारी दल के तृतीय सम्मेलन में ख्रुश्चेव ने पुनः कहा कि लेनिन का 'पूँजीवाद के विरुद्ध युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धान्त' अब लागू नहीं होगा। दूसरी ओर चीनी प्रतिनिधि-मण्डल के नेता ने घोषणा की कि जब तक साम्राज्यवाद विद्यमान है, युद्धों का खतरा बना रहेगा। जुलाई, 1960 में रूस द्वारा चीन की विकास योजनाओं में कार्यरत सोवियत वैज्ञानिकों को वापस बुला लिया गया। चीन को सामग्री, मशीनें आदि भेजना भी बन्द अथवा सीमित कर दिया गया। सन् 1961 में प्रकाशित सोवियत साम्यवादी दल के कार्यक्रम में 20 वर्ष की अवधि में रूस में साम्यवाद की स्थापना का नारा बुलन्द किया गया। इस कार्यक्रम में साम्यवाद का अर्थ वस्तुओं की प्रचुरता बतलाया गया। चीनी साम्यवादी दल के लिए साम्यवाद की यह व्याख्या अत्यन्त आपत्तिपूर्ण थी। सन् 1962 में रूस द्वारा भारत को मिग विमान देने और उन्हें बनाने के कारखानों में सहायता देने का समझौता चीनी नेताओं को खतरनाक लगा। सन् 1962 में ही क्यूबा-काण्ड पर चीनी नेताओं ने कहा कि रूस का पहला दोष था 'दुस्साहस' और दूसरा दोष है 'कागजी शेर अमेरिका' के आगे 'घृणित आत्म-समर्पण' करना। सन् 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के सम्बन्ध में अपनाई गई रूसी नीति ने भी चीन को अप्रसन्न करने में आग में घी का काम किया।

जुलाई, 1963 में मास्को में रूसी और चीनी साम्यवादी दलों की वार्ता न केवल असफल हुई बल्कि दोनों देशों ने एक दूसरे की कटु आलोचना की। रूस ने पश्चिम के साथ सह-अस्तित्व के विचार का समर्थन किया जबकि चीन ने कहा कि साम्राज्यवाद के पूर्ण विनाश के लिए युद्ध अत्याज्य है और तृतीय महायुद्ध अमेरिका तथा रूस को ही समाप्त करेगा, चीन को नहीं। 25 जुलाई को चीन ने 1963 की अणु परीक्षण निरोध सन्धि का बहिष्कार किया तथा रूस पर आरोप लगाया कि वह अमेरिका के साथ मिलकर आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में अपना एकाधिकार कायम करना चाहता है।

अक्तूबर, 1964 में थी ख्रुश्चेव के हटने पर पेकिंग में खुशियाँ मनाई गई, लेकिन जब रूस के नए नेतृत्व ने भी पश्चिमी जगत् के साथ सह-अस्तित्व की नीति में विश्वास प्रकट किया तो चीनियों को घोर निराशा हुई। रूस बोल्शेविक क्रान्ति के 47वें वार्षिक उत्सव मे चीनी प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई की कूटनीतिक वार्ता भी असफल रही क्योंकि रूस ने तो अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की एकता के क्रान्तिकारी प्रयासों में चीन का साथ देने से इन्कार कर शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तों मे आस्था प्रकट की।

सैद्धान्तिक सघर्ष के अतिरिक्त दोनो देशों के बीच सीमा-विवाद भी उभरे जिन्होंने सशस्त्र सीमा-सघर्ष का रूप ले लिया। मार्च, 1969 में पूर्वी एशिया मे उसूरी नदी के टापू दमिश्क के सम्बन्ध मे दोनों पक्षों मे सैनिक मुठभेड़ें हुई। रूस और चीन की वर्तमान सीमाओं का निश्चय रूस के जारों और चीन के मुन्चू सम्राटों के बीच हुई सन्धि द्वारा हुआ था। ये सन्धियाँ सन् 1858 और 1860 मे की गई थी, जिनके अन्तर्गत चीन ने लगभग 5 लाख वर्गमील क्षेत्रफल रूस को सौपा था। चीन ने आरोप लगाया कि उस समय चीनी निर्बलता का लाभ उठाकर रूस ने ये सन्धियाँ लाद दी थी। रूस का कहना है कि ऐसी कोई बात नहीं थी और रूस भूमि ही रूस ने प्राप्त की थी। चीन और रूस मे झगड़े का असली कारण वस्तुत: मगोलिया रहा है। चीन अपनी बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए मगोलिया पर दांत गड़ाए हुए है जो चीन की सरहद पर है तथा बहुत कम बसा हुआ है। मंगोलिया का पूर्वी भाग चीन के पास है और चीनी नेता चाहते है कि दोनो मंगोलिया संयुक्त होकर चीन एक प्रदेश बन जाएँ। रूस इसे मानने को तैयार नही है। पेकिंग ने मगोलिया पर अपना दावा पहले पहल सन् 1964 में किया था कि रूस ने इस स्वतन्त्र राज्य को हड़प लिया है, लेकिन रूसी चीनी दावे को ठुकराते रहे हैं। विवाद तब पराकाष्ठा पर पहुँच गया जब सन् 1965 में पहली बार यह चीनी आरोप पूरी तरह स्पष्ट किया गया कि प्रथम साम्यवादी क्रान्ति का जन्मस्थल सोवियत सघ पूंजीवाद के पुनरुद्धार में सक्रिय रूप से लगा हुआ है और प्रमुख साम्राज्यवादी शक्ति-संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मित्रता के लिए लालायित है। एक ऐसे राज्य के विरुद्ध जो मार्क्सवाद-लेनिनवाद मे विश्वास करता था, सम्भवत: इससे अधिक गम्भीर आरोप नही लगाया जा सकता था इस समय तक स्थिति यह हो गई थी कि दोनो देश

खुल्लम-खुल्ला एक-दूसरे के अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों को विफल करने वाली विदेश-नीतियों का अनुसरण करने लगे थे। दोनों ही देश इस बात के लिए भी प्रयत्नशील थे कि उन्हें साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत अधिकाधिक समर्थन मिले। रूस और चीन के मध्य मतभेदों की खाई निरन्तर गहरी और चौड़ी होती जा रही है। फरवरी, 1979 में वियतनाम पर चीन का आक्रमण यदि लम्बा चलता तो इस बात की पूरी आशंका थी कि चीन के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष में रूसी सैनिक भी वियतनामी सैनिकों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा कर लड़ते।

रूस-चीन विवाद के मुख्य कारण

1. दोनों देशों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद हैं। स्टालिनोत्तर युग की सोवियत नीति विश्व-क्रान्ति और युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास नहीं करती, जबकि लाल चीन क्रान्ति, हिंसा और युद्ध द्वारा पूंजीवाद जगत् के विनाश में विश्वास करता है। रूसी सरकार के सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय पत्र 'इन्टरनेशनल अफेयर्स' के दिसम्बर, 1971 के अंक में एक प्रकाशित लेख में रूसी लेखक जी. एपलिन ने लिखा था कि—"माओ की विदेश नीति लड़ाकू, खतरनाक तथा रक्तरंजित है जिससे चीनी लोकतन्त्र को भारी हानि हुई है। यह न तो मार्क्सवादी है और न ही लेनिनवादी।"

2. नेतृत्व का नशा दोनों ही देशों पर छाया हुआ है। रूस द्वारा साम्यवादी जगत् का एकछत्र नेतृत्व सहन करने को चीन तैयार नहीं है। एशिया में रूस के प्रभाव-विस्तार को चीन सन्देह की दृष्टि से देखता है।

3. भूमध्यसागर रूस और चीन के तनाव का एक केन्द्र है। रूस और अमेरिका के जहाज तो भूमध्यसागर में घूमते ही हैं, चीन की पनडुब्बियों ने भी इस सागर में घूमना आरम्भ कर दिया है। भूमध्यसागर में चीन की कुछ सैनिक और राजनीतिक आकांक्षाएँ हैं। चीन चाहता है कि—(i) भूमध्यसागरीय देशों पर उसकी बात का वजन रहे, (ii) रूसी मंसूबों को हर क्षेत्र में चुनौती दी जाए या उसके मार्ग में कुछ न कुछ बाधा उत्पन्न की जाए, (iii) अल्बानिया जैसे जिन साम्यवादी देशों को चीन ने अपने प्रभाव में ले लिया है उन पर और रौब आतंकित रखा जाए, (iv) प्रक्षेपास्त्रों से सज्जित जिन पनडुब्बियों का विकास चीन कर रहा है उनकी सैनिक गतिविधियों का क्षेत्र पहले से ही तैयार कर लिया जाए ताकि रूस और अमेरिका के मुख्य क्षेत्र चीन की मार में आ सकें।

4. चीन का सन् 1969 से पहले तक नारा था कि विश्व के दो भाग हैं—समाजवादी और असमाजवादी। लेकिन सन् 1969 में चीनी साम्यवादी दल ने जो साम्यवादी व्याख्या की उसने सोवियत रूस को भी असमाजवादी अथवा साम्राज्यवादी राष्ट्रों की श्रेणी में ला दिया।

5. एक परमाणु शक्ति के रूप में चीन के विकास को न केवल रूस बल्कि अन्य देश भी एक बड़े खतरे के रूप में देखते हैं। प्रारम्भ में सोवियत संघ ने … को परमाणुविक जानकारी दी, लेकिन ज्यों-ज्यों चीन के इरादे स्पष्ट होते गए … इस सम्बन्ध में आधुनिकतम प्रविधि के बारे में गोपनीयता बरती। सन् 19…

1957 के उस समझौते को भंग कर दिया गया जिसमें रूस द्वारा चीन को परमाणु बम की प्रक्रिया का ज्ञान कराने का प्रावधान था परमाणु अस्त्रों के प्रश्न पर चीन और रूस के मतभेद बढ़ते ही गए।

6. विवाद की एक बड़ी जड़ मंगोलिया है। चीन अपनी बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए प्रादेशिक विस्तारवाद के मार्ग का अनुसरण कर रहा है। रूसी मंगोलिया पर, जिसे 'स्वतन्त्र मंगोलिया प्रजातन्त्र' कहते हैं, चीन की आँख है। मंगोलिया का पूर्वी भाग चीन के अधिकार में है। चीन चाहता है कि दोनों मंगोलिया एक होकर चीन का प्रदेश बन जाएं। चीन का आरोप है कि रूस ने 'स्वतन्त्र मंगोलिया' को हड़प लिया है। मंगोलिया के कारण दोनो देशों की सीमाओं पर भारी सैनिक जमाव रहता है और कितनी ही बार सैनिक झड़पें भी हो चुकी हैं जिनमें पराजित होकर चीनियों को पीछे हटना पड़ा।

7. अमेरिका भी रूस और चीन के मतभेदों को उकसाने के लिए उत्तरदायी है। जब सन् 1969 के बाद रूस-चीन सीमा पर झड़पें हुईं तो अमेरिकी समाचार-पत्रों में प्रचार किया गया कि सन् 1969 मे रूसी सैनिक अधिकारी इस बात पर विचार कर रहे थे कि चीन पर आकस्मिक हमला किया जाए ताकि उसकी परमाणु शक्ति समाप्त हो जाए। वास्तव में अमेरिका यह तो नही चाहेगा कि रूस और चीन के बीच बड़े पैमाने पर परमाणु युद्ध हो क्योंकि इसका प्रभाव रूस और चीन के बाहर दूर-दूर तक पड़ेगा। इसके अतिरिक्त चीन की समाप्ति से रूस की शक्ति इतनी बढ़ जाएगी कि विश्व मे शक्ति-सन्तुलन बिगड़ जाएगा। मगर अमेरिका यह अवश्य चाहता है कि दोनों देशों के बीच इस प्रकार का तनाव बना रहे जिससे अमेरिका लाभान्वित हो।

8. चीन दुनिया के हर देश मे रूस विरोधी प्रचार कर रहा है। यूरोपीय कम्युनिस्ट देशो में उसने रूस के प्रति आग भड़काने की हर सम्भव चेष्टा की है। अल्बानिया को रूस से विमुख करने में चीन को सफलता भी प्राप्त हुई है। रूसी नेतृत्व चीन की इन कार्यवाहियो से परेशान है और अपने प्रमुत्व की रक्षा के लिए व्यग्र है।

9. चीन को विश्वास होने लगा है कि पूर्वी एशिया में अमेरिका की सैनिक उपस्थिति अस्थायी है जबकि जापान निरन्तर शक्तिशाली होकर पूर्वी एशिया मे स्थायी रूप से छा जाने को प्रयत्नशील है, अतः अमेरिका ही सन्तुलन कायम रखकर पूर्वी एशिया सोवियत सघ की उपस्थिति को असम्भव बनाकर, चीन की सैनिक उपस्थिति की सम्भावनाओ को सुदृढ़ कर सकता है। चीन और अमेरिका दोनो इस बात से सहमत हैं कि दक्षिण-पूर्वी एशिया से अमेरिका के हटने के बाद रिक्त स्थान की पूर्ति सोवियत संघ द्वारा नहीं होनी चाहिए।

10. पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के सम्बन्धों मे सुधार रूस को अभीष्ट है, लेकिन वह चीन और अमेरिकी सम्बन्धो मे सुधार को पसन्द नहीं करता।

11. रूस का विचार है कि युद्ध अवश्यम्भावी नहीं है और विध्वसक

आणविक अस्त्रों के निर्माण के कारण यह वांछनीय भी नहीं है, जबकि चीन का मत है कि समाजवाद की तथाकथित सैनिक सर्वोच्चता के कारण सशस्त्र-नीति व्यावहारिक है। चीनी नेतृत्व का यह विश्वास था कि साम्राज्यवादियों को झुकने के लिए विवश किया जा सकता है और यदि ऐसा न हो तो युद्ध द्वारा उनके भाग्य का निर्णय किया जाना चाहिए चाहे उसमें एक तिहाई या आधी मानव-सभ्यता ही नष्ट क्यों न हो जाए। सितम्बर, 1976 में माओ की मृत्यु के बाद भी चीन के दृष्टिकोण में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है तथापि ऐसा आभास अवश्य होने लगा है कि नया नेतृत्व संघर्ष की बजाय सहयोग की राजनीति पर चलने का प्रयत्न करेगा।

12. रूसियों का अपने समाज के सम्बन्ध में तर्क है कि वर्ग-संघर्ष की विजय पूर्ण हो चुकी है और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को सम्पूर्ण जनता के राज्य का रूप दे दिया गया है। चीनी इसको मात्र कुतर्क कहकर अस्वीकार करते हैं। उनके विचार से यह सोवियत सघ के अन्तर्गत प्रचुरता से बढ़े नौकरशाही तत्त्वों पर आवरण डालने की एक योजना है जो सर्वहारा तानाशाही एवं वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी लेनिनवादी विचारधारा के लिए खतरा है।

13. चीनी सोवियत संघ से प्राप्त आर्थिक सहायता से कभी भी सन्तुष्ट नहीं रहे। कोरिया युद्ध के लिए प्राप्त ऋण के दायित्व ने उन्हें और भी अप्रसन्न कर दिया। जब रूस ने चीन की सहायता बन्द कर दी तो चीन ने इसका अर्थ यह लगाया कि रूस उस पर साम्यवादी दल से वार्ता के लिए अधिक दबाव डालना चाहता है। रूसी नेतृत्व को यह विश्वास हो गया कि चीन को आर्थिक सहायता देने का वही अवांछनीय परिणाम होगा जो सैनिक सहायता का हुआ है।

14 अल्बानिया का प्रश्न विदेश-नीति का विषय होते हुए भी दल का प्रश्न बन गया। प्रश्न था कि क्या सोवियत साम्यवादी दल को यह निश्चय करने का अधिकार है कि कौनसा शासक दल साम्यवादी गुट मे है और वास्तविक समाजवादी देश कौनसा है ? सोवियत साम्यवादी दल ने अल्बानिया को एकपक्षीय कार्यवाही द्वारा गुट से निकाल दिया क्योंकि उसने मास्को की अवज्ञा की थी। चीनियो ने रूस की इस कार्यवाही की भर्त्सना की और अल्बानिया चीनी गुट में शामिल हो गया।

15. सोवियत संघ के विरुद्ध चीन के अविश्वास का एक बडा ऐतिहासिक आधार भी है। राजनीतिक विचारकों और इतिहासकारो का तर्क है कि अभी तक इतिहास में चीन की ओर से सोवियत संघ पर कभी कोई आक्रमण नही हुआ जबकि इसके विपरीत क्रान्ति के पूर्व रूसी शासकों ने चीन पर कई बार आक्रमण करके उसके भूभाग को हड़प लिया था। वास्तव मे सोवियत संघ मूलतः यूरोपीय देश है और एशिया मे उसका इतना विस्तार क्रान्ति के पूर्व रूसी शासकों की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का ही फल है।

इस प्रकार सोवियत-चीन वैमनस्य साधार और तथ्यपूर्ण है। सीमा पर दोनों ओर सैनिक जमाव है और जब तब झड़पें हो जाती हैं। विगत कुछ वर्षों से चीनी

नेता आरोप लगाते आ रहे हैं कि सोवियत संघ ने उनकी सीमा पर भारी सैनिक जमाव कर रखा है जिससे चीन की प्रभुसत्ता एवं अखण्डता को काफी खतरा उत्पन्न हो गया है। इस खतरे का मुकाबला करने के लिए चीन तेजी से सामरिक तैयारियाँ कर रहा है। पर यह कहना कठिन है कि सोवियत रूस की ओर से यह तथाकथित खतरा वास्तविक है या काल्पनिक। हाल ही के वर्षों का इतिहास चीनी विस्तारवादी मनोवृत्ति की पुष्टि करता है। चीन ने जिस प्रकार मित्र देश भारत की भूमि हड़पी है, पाकिस्तान द्वारा अनधिकृत रूप से दी गई कश्मीर भूमि को हड़पा है एवं मित्र देशों के साथ घोर विश्वासघात किया है, उसे देखते हुए चीन के पक्ष में कुछ कहना वस्तुतः कठिन है। जो भी हो, सोवियत-चीन संघर्ष आज राजनीतिक और राजनयिक पर्यवेक्षकों के लिए विचारणीय विषय बना हुआ है। जहाँ तक सीमा पर सैनिक जमाव का प्रश्न है, यह एक स्थापित तथ्य है। सोवियत संघ के अनुसार चीन-सोवियत सीमा पर नियमित चीनी सेना बनी हुई है। चीन के वहाँ पर प्रक्षेपास्त्र, तोपें और राइफलें हैं जिनके मुँह उत्तरी पड़ोसियों की ओर हैं। सोवियत संघ की सीमा के साथ लगने वाले सिकियाड़ पर परमाणु प्रशिक्षण चीन करता रहता है। एक रिपोर्ट के अनुसार चीनी सीमा पर 3,65,000 सोवियत सैनिक, 4,000 टैंक तथा 1830 विमान हैं जबकि सोवियत सीमा पर 16,25,000 चीनी सैनिक, 5000 टैंक तथा 2600 विमान तैनात हैं। सोवियत संघ का यह भी आरोप है कि चीन पूंजीपति देशों जैसे अमेरिका, जापान और पश्चिमी यूरोप के देशों से बड़े पैमाने पर हथियारों की खरीद कर रहा है। और तो और चीन के दक्षिणी अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के कुछ देशों से भी सम्बन्ध हैं। चीन सोवियत सीमा पर पश्चिमी जर्मनी के कुछ देशों से भी सम्बन्ध हैं। चीन-सोवियत सीमा पर पश्चिमी जर्मनी के कुछ टैंक भी देखे गये है।

चीन और सोवियत संघ में सीमा सम्बन्धी दर्जनों लिखित और अलिखित सन्धियाँ और समझौते हैं। ये सन्धियाँ और समझौते 1889 और 1915 के बीच हुए थे। इन सन्धियों और समझौतों का समय-समय पर जायजा भी लिया जाता रहा है लेकिन चीनी अधिकारियों की मान्यता है कि बहुत सा इलाका अभी भी विवादास्पद है। चीन के अनुसार उसके 32 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र तक किसी न किसी पड़ोसी देश का अधिकार है। इसमें से 15 लाख वर्ग किलोमीटर सोवियत संघ के अधीन है। चीन के अनुसार जब तक इस विवादास्पद क्षेत्र को सुलझा नहीं लिया जाता है तब तक किसी भी तरह की वार्ता या संवाद बेमतलब और प्रभावहीन साबित होगा। चीन ने यह स्पष्ट तौर पर कहा है कि यदि सोवियत संघ सचमुच शान्ति चाहता है तो दो प्रमुख मुद्दों पर सहमति होनी चाहिए। सीमा पर यथास्थिति बनाये रखने पर सहमति और सशस्त्र सेनाओं को एक दूसरे से दूर रखने का आश्वासन, उसके बाद परस्पर वार्ता द्वारा विवाद को सुलझाने की कोशिश की जानी चाहिए। चीन ने यह भी माँग की कि सोवियत सेनाएँ मंगोलिया से भी हट जायें। 1960 की सोवियत-चीन सीमा को ही वास्तविक सीमा माना जाये। इन्हीं दो प्रस्तावों को चीन अपने ठोस सुझाव बताता है।

कम्युनिस्ट खेमे में चीन लगभग अलग-थलग पड़ गया है। यूरोप में उसका एकमात्र साथी अल्बानिया भी उससे अलग हो गया है। इसलिए सोवियत संघ से बिगाड़ के बाद अल्बानिया से उसे जो थोड़ा बहुत सहयोग और समर्थन मिलता था वह भी अब तकरार मे बदल गया है। एशियाई देशो में भी वियतनाम पर उसका दबदबा नही है और कम्बोड़िया वियतनाम के मुकावले कमजोर है। यही कारण है कि उसका झुकाव पश्चिमी देशों की ओर अधिक होता जा रहा है और पश्चिमी प्राविधिकी की जानकारी प्राप्त करने के लिए चीनी इजीनियर और वैज्ञानिक इन देशों मे देखे जा रहे है। अब इस मसले ने और व्यापक रूप अख्तियार कर लिया है। चीन में नेतृत्व परिवर्तन जरूर हुआ है लेकिन सोवियत संघ की मान्यता है कि अभी भी माओवाद का हौवा चीन पर हावी है और जब तक माओवाद का हौवा रहेगा चीन सोवियत सम्बन्धों मे अधिक सुधार की गुंजाइश नहीं है।

वस्तुतः रूस और चीन के बीच सघर्ष के मूल कारण उतने सैद्धान्तिक नहीं है जितने कि राजनीतिक और सामरिक। साम्यवादी जगत् का नेतृत्व कौन करे— यह झगड़े की जड़ है।

रूस-चीन के समझौते-प्रयास

अपने तीव्र मतभेदो के बावजूद भी रूस और चीन दोनों ही समझते हैं कि वे एक दूसरे के शत्रु नही बने रह सकते, अन्यथा अमेरिका की 'बन्दर बांट' नीति सफल हो जाएगी। पश्चिमी जगत् विशेष कर अमेरिका के निहित स्वार्थों और वास्तविक इरादो से दोनों ही देश अच्छी तरह परिचित हैं, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अपने-अपने वर्चस्व हेतु तथा शक्ति-सन्तुलन को अपने पक्ष मे करने के लिए दोनो ही अमेरिका की मैत्री के आकांक्षी है। वस्तुस्थिति को समझ कर ही रूस और चीन समय-समय पर अपने मतभेदों को सुलझाने के लिए बातचीत करते रहे हैं तथा सन् 1970 से दोनो के बीच सैनिक सघर्ष की सम्भावना बहुत-कुछ कम हुई है। सन् 1970 की 13 जनवरी को दोनों देशो ने सीमा-समस्या के समर्थन के लिए आपस मे जो वार्ता की उससे उनके बीच मतभेद कुछ कम हुए हैं। अक्तूबर, 1970 में हुई सोवियत-चीनी व्यापार-सन्धि दोनों देशो के बीच सम्बन्ध-सुधार की दिशा मे एक कदम था जिसके अनुसार सोवियत रूस ने चीन से अपने व्यापार में सन् 1971–72 में 200 प्रतिशत वृद्धि कर देने का आश्वासन दिया था। सितम्बर, 1973 मे यद्यपि चाऊ-एन-लाई ने ये आरोप लगाये कि रूस चीन के साथ स्थिति सामान्य वनाना नही चाहता, चीन की सीमा पर उसकी दृष्टि है, रूस और अमेरिका को संसार की सम्पत्ति परस्पर बाँट लेने का कोई अधिकार नही है एवं वर्साय-सन्धि संगठन का स्वरूप आक्रामक है, तथापि यह वाक्-युद्ध पहले के समान कठोर रूप लिए हुए नहीं था। वाक्-युद्ध दोनों देशों के बीच अब भी चल रहा है, किन्तु पारस्परिक मतभेद दूर करने के लिए भी दोनो ही उत्सुक हैं। राजनीति की दुनिया मे न कोई स्थायी मित्र हो सकते हैं और न कोई स्थायी शत्रु। भारत-रूसी-मैत्री चीन को खटकती है जबकि वास्तविकता यह है कि भारत-रूसी-मैत्री न तो चीन और भारत के और न र

चीन के सम्बन्धों के सामान्यीकरण में बाधक है। चीन को यह बात बहुत बुरी तरह खटकती है कि रूस भारतीय क्षेत्र पर चीनी अधिकार का पक्ष नहीं लेता। 30 अक्टूबर, 1975 को सोवियत सघ के चीनी मामलो के विशेषज्ञ श्री एन. निसेतोव ने कहा था कि पेकिंग धोखाधड़ी का सहारा लेकर भारत पर अपने सीमा सम्बन्धी विचार थोपने का प्रयत्न कर रहा है। चीनी विस्तारवाद पर लिखे गए अपने लेख मे उन्होने कहा है कि चीन ने भारत के 14 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर आक्रमण कर उस पर कब्जा कर रखा है तथा अभी तक वहाँ जमा हुआ है। प्रेक्षकों के मतानुसार संघ ने उक्त लेख द्वारा पहली बार भारत के इस वैध दावे को स्वीकार किया है कि चीन ने भारतीय क्षेत्र पर कब्जा कर रखा है। अब जबकि अप्रेल, 1976 से भारत और चीन के बीच राजनयिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गए हैं, यह आशा की जानी चाहिए कि दोनो देशों के बीच के विवाद सम्मानजनक ढग से शीघ्र ही निपटा लिए जाएँगे। भारत का दृष्टिकोण सदैव रचनात्मक रहा है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि चीन भी वैसा ही दृष्टिकोण अपनाए।

माओ की मृत्यु के बाद रूस-चीन तनाव में कमी आने की सम्भावना

9 सितम्बर, 1976 को माओ-त्से-तुंग की मृत्यु के उपरान्त राजनीतिक क्षेत्रो मे यह धारणा व्याप्त होने लगी है कि चीनी नेतृत्व अपने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण मे उदार बनेगा और सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध-सुधार के लिए सचेष्ट होगा। माओ के उत्तराधिकारी के रूप मे श्री हुआ केओं फेंग को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और सैनिक परिषद् का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

राजनीतिक क्षेत्रो मे कहा जाता है कि श्री हुआ यद्यपि वर्ग-संघर्ष के माओवादी ढाँचे के अन्तर्गत ही चीन के समाजवादी पुनर्निर्माण का कार्य करेंगे, तो भी उनकी नीतियाँ नरम और उदारवादी होंगी। सोवियत सघ और चीनमे मूलतः साम्यवादी जगत् के नेतृत्व के सम्बन्ध में जो दरार पैदा हो गई है वह भी मिट जाएगी। 27 अक्टूबर, 1976 को प्रकाशित समाचारो के अनुसार सोवियत संघ के साम्यवादी दल के महासचिव ने दल की केन्द्रीय समिति की बैठक में कहा था कि सोवियत सघ चीन के साथ सह-अस्तित्व के आधार पर सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार है। चीनी नेतृत्व ने भी सोवियत संघ की बोल्शेविक क्रान्ति की 59वीं वर्षगाँठ के अवसर पर प्रेषित सन्देशों में सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिए उत्सुक होने का सकेत दिया। चीन की ओर से यह भी कहा गया कि सिद्धान्त के प्रश्नों पर दोनों देशों के विवाद से राज्यीय और प्रशासनिक स्तर पर उनके सम्बन्धों मे कोई बाधा नहीं मानी चाहिए। 1978 के मध्य उच्च स्तरीय रूसी नेताओं ने पीकिंग जाकर समझौता वार्ता चलाई थी, पर कोई नतीजा नहीं निकला।

यदि चीन नरम और उदार बनता है तो आन्तरिक क्षेत्र में सुधार के साथ-साथ वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को भी निश्चित रूप से मधुर बनाने का प्रयास करेगा। पर फरवरी, 1979 में वियतनाम पर उसका नया आक्रमण, भारत के साथ सीमा-विवाद पर उसकी नयी पैंतरेबाजी से अनेक आशंकाएँ हैं। रूस-चीन

सम्बन्ध का 1980 के मध्य तक का विवरण रूसी विदेश नीति वाले अध्याय मे दिया जा चुका है।

चीन और भारत

भारत और चीन के सम्बन्धों पर विस्तार से प्रकाश भारतीय विदेश-नीति के पिछले अध्याय में डाला जा चुका है। लगभग सन् 1960 तक दोनो देशों के सम्बन्ध सामान्य थे, यद्यपि सीमा-विवाद अधिक उग्र हुआ और अक्तूबर, 1962 मे भारत पर चीन के विशाल सुनियोजित आक्रमण के उपरान्त अब तक दोनों देशो के सम्बन्ध कटुतापूर्ण ही हैं। चीन की परराष्ट्र नीति का एक मुख्य तत्त्व यही है कि वह उन सभी राष्ट्रो के माध्यम से भारत की नाकेबन्दी करे जो या तो उसकी नीतियों के समर्थक हैं या प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से उससे सहायता चाहते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में पाकिस्तान चीन का बहुत अच्छा साथी बन गया है और चीनी नेता भारत के विरोध मे हिन्द-महासागर की जल-सीमा का अतिक्रमण करते देखे गए हैं। यह स्थिति भारत के लिए चिन्ताजनक है। सोवियत-भारत-मैत्री सन्धि के बाद तो माओ-त्से-तुंग का यह पूर्ण प्रयास रहा है कि पेकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी का सुदृढ़ निर्माण हो जाए।

सन् 1974 की भारत सरकार की वार्षिक रिपोर्ट मे कहा गया था कि चीन-भारत सम्बन्धों मे कोई सुधार नही हुआ। भारतीय प्रयत्नो का चीन की ओर से अनुकूल उत्तर न मिलना ही निराशा का कारण है। चीन भारत के आन्तरिक मामलों मे भी हस्तक्षेप करने से नही चूकता। इसे बहुत खेदजनक बात माना जाएगा कि सिक्किम के भारत मे विलय पर चीन और पाकिस्तान ने तूफान मचा दिया। 27 जून, 1975 को संयुक्त राष्ट्रसंघ मुख्यालय मे एशियायी गुट की अनौपचारिक बैठक में भी इस बात पर भारत और चीन के प्रतिनिधियों मे झड़प हो गई। चीनी प्रतिनिधि चाऊ ने कहा कि उनकी सरकार पाकिस्तान का समर्थन करेगी और भारत का विरोध करेगी। उसने आरोप लगाया कि भारत एक विस्तारवादी देश है क्योंकि उसने सिक्किम को अपने संघ मे मिला लिया है। भारत के स्थायी प्रतिनिधि श्री हाशमी का उत्तर था कि यह आरोप सर्वथा असगत है।[1]

चीन द्वारा भारत विरोध के मूल उद्देश्यो की ओर 11 मई, 1975 के दिनमान मे प्रकाशित लेख के निम्नांकित उद्धरणो से अच्छा प्रकाश पड़ता है—

"चीनी राजनेता यह सोचते हैं कि भारत तेजी से हथियारों का उत्पादन कर अपनी सैनिक तैयारी मे वृद्धि कर रहा है। सन् 1971 में भारत-पाक युद्ध में भारत की विजय से चीन सशंकित हुआ था। यह नही कि चीन यह सोचता था कि भारत चीन पर आक्रमण कर देगा। चीनी नेता अच्छी तरह जानते हैं कि भारत का न तो कोई ऐसा इरादा है और न ही मौजूदा अर्थ-व्यवस्था में भारत इस तरह की किसी लड़ाई की जोखिम उठा सकता है। चीन का वास्तविक उद्देश्य भारत के शत्रुओं को

1 हिन्दुस्तान, 28 जून, 1975, पृष्ठ 1.

मदद देना और उनका मनोबल ऊँचा रखना है। जब भी चीन भारत के विरुद्ध कुछ कहता है तब उसके लाउडस्पीकर का मुख पाकिस्तान की ओर होता है। वह पाकिस्तानी जनता और सरकार को यह विश्वास दिलाना चाहता है कि भारत का इरादा पाकिस्तान को समाप्त करने का है।"

"इसके अलावा चीन की नाराजगी भारत-रूस मैत्री से भी है, बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि चीन भारत-रूस मैत्री को अपने लिए मुख्य चुनौती मानता है। अब इसमें कोई सन्देह नही रह गया है कि दक्षिणी एशिया में अमेरिका का किला ढहने के बाद सोवियत रूस के प्रभाव-क्षेत्र में विस्तार होगा। सोवियत रूस पहले से ही एशियायी देशों के लिए एक सामूहिक सुरक्षा पद्धति की वकालत करता रहा है। चीन इस बात को समझता है कि सोवियत रूस भारत की सहायता या सहयोग से दक्षिणी एशिया मे चीनी प्रभाव को पूरी तरह समाप्त कर सकता है।"

"चीन को यह सह्य नही है कि दक्षिणी-एशियायी देशो मे सोवियत रूस को वह मान्यता प्राप्त हो जो चीन को अब तक प्राप्त नहीं हो सकी है। चीनी विदेश-नीति के निर्माता इस स्थिति के लिए बहुत हद तक भारत को जिम्मेदार मानते हैं। उनका यह ख्याल है कि भारत की मदद के बिना सोवियत रूस दक्षिणी-एशिया मे अपना प्रभाव नही बढा सकता। सोवियत रूस एक यूरोपीय देश है जबकि भारत एक एशियायी राष्ट्र है। इसके अलावा भारत को एक गुट-निरपेक्ष राष्ट्र के रूप मे एशियायी देशों मे विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त है। चीनी राजनेताओं की मुख्य आशका यह है कि सोवियत रूस एशिया मे जो कुछ स्वय कर सकने मे समर्थ नही है वह भारत की मदद से कर सकता है।"[1]

सितम्बर, 1976 में माओ की मृत्यु के बाद चीन का नया नेतृत्व विश्व राजनीति मे अपने दृष्टिकोण को बदलता दिखाई दे रहा है और भारत के साथ भी चीन के राजनयिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गए है। दोनो देशो के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़ा है। लेकिन फरवरी, 1979 में पीकिंग में भारतीय विदेश मन्त्री की उपस्थिति के समय चुपचाप वियतनाम पर आक्रमण करके चीन ने दोनो देशों के बीच सुधरते सम्बन्धों को पुनः आघात पहुँचाया है। यह आशा की जानी चाहिए कि दोनों देशों के बीच यह खिचाव अस्थाई रहेगा और सम्बन्धों को सामान्य बनाने की प्रक्रिया पुनः गतिमान होगी। फिर भी भारतीय नेतृत्व को यह नहीं भूलना चाहिए कि पिछले 16 वर्षों मे चीन ने एक भी ऐसा कदम नही उठाया है जिससे यह सकेत मिलता हो कि वह सचमुच सीमा-विवाद का हल निकालना चाहता है। 1962 के सीमा संघर्ष के बाद चीन के रुख मे रत्तीभर भी अन्तर नही आया है। चीन ने अक्साई चीन मे जो सड़क बनाई थी वह अभी भी मौजूद है। अक्साई चीन अभिन्न रूप से भारतीय क्षेत्र में है। इतना ही नहीं 1978 में चीन के उप-प्रधान

1 दिनमान, 11 मई, 1975, पृष्ठ 16-17.

मन्त्री ने काराकोरम राजमार्ग का उद्घाटन किया था जो पाकिस्तान को चीन के सिक्यांग प्रान्त से जोड़ता है। कश्मीर के उत्तर-पश्चिम भाग से गुजरने वाली इस सड़क के निर्माण में चीन ने भारत की भावनाओं का कोई ख्याल नहीं रखा। नागा तथा मिजोविद्रोहियों को तो चीन मदद दे ही रहा है, तिब्बत में भी उसकी फौजी तैयारियाँ बढ़ रही हैं। चीन की ये भारत विरोधी गतिविधियाँ जब तक जारी हैं तब तक सामान्य सम्बन्धों की स्थापना के लिए सार्थक वार्ता की कल्पना नहीं की जा सकती है। सीमा-विवाद पर चीन खुले दिमाग से विचार करने के लिए तैयार है, यह कहना या सोचना अभी अपने आपको धोखा देना ही होगा। चीन के विदेश मन्त्री की अक्टूबर, 1980 में जो यात्रा होनी थी उसे चीन ने फिलहाल टाल दिया है। चीनी रुख में बदलाव पर 8 अगस्त, 1980 के हिन्दुस्तान में जो सम्पादकीय टिप्पणी दी गई है, वह इस प्रकार है—

चीन सरकार ने भारत सरकार को सूचित किया है कि उनके विदेश मन्त्री हुआंग हुआ आन्तरिक तथा बाह्य व्यस्तताओं के कारण इस वर्ष भारत यात्रा पर नही आ सकेंगे। अब वह कब आएँगे, यह स्पष्ट नही है क्योंकि इसके लिए भारत को नए सिरे से बातचीत के लिए पीकिंग की पहल की प्रतीक्षा होगी। भारतीय विदेश मन्त्री नरसिन्हा राव ने हुआ के अक्टूबर 1980 में भारत आने का आभास दिया था। यह उल्लेखनीय है कि सेलिसबरी में हुआ हुआंग ने तथा बैलग्रेड मे चीनी प्रधान मन्त्री हुआ कुओफेंग ने इन्दिराजी के साथ भेंट के दौरान दोनों देशों के बीच सम्बन्ध सामान्य करने की प्रक्रिया को तेज करने की इच्छा प्रकट की थी। फलस्वरूप भारतीय विदेश सचिव एरिक गोसाल्वीज ने गत जून में पीकिंग यात्रा के दौरान चीनी विदेश मन्त्री को भारत यात्रा का निमन्त्रण दिया था जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया था।

चीन के इस प्रकार अकस्मात् रुख बदलने का क्या कारण हो सकता है ? यों तो चीन की विदेश-नीति सदा से एक गोरखधन्धा रही है और उसके साथ सम्बन्ध बनाए रखने मे काफी सावधानी की जरूरत है, किन्तु कुछ क्षेत्रों में चीन की वर्तमान नाराजी का कारण भारत सरकार द्वारा कम्पूच्या की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता प्रदान किया जाना बताया जा रहा है। वह खुले रूप मे हमसे कहने का साहस तो नहीं कर सकता है कि हम किस देश और किस सरकार के साथ राजनीतिक सम्बन्ध रखें अथवा किस प्रकार से अपनी विदेश-नीति का संचालन करें, पर अपनी नाराजगी प्रगट करने के दूसरे रूप तो दिखा ही सकता है। पिछले कुछ समय से वह ऐसा ही कर रहा है, पाक विदेश मन्त्री आगाशाही की दिल्ली यात्रा के बाद सदर जिया का इस बारे में निकट भविष्य में पुनः वार्ता की सम्भावना से इन्कार सम्भवतः चीन के इशारे पर ही किया गया था। हाल ही में चीन के एक महत्वपूर्ण अधिकारी वांग विगनान को सहसा इस 'रहस्य' का पता चला कि भारत तथा तिब्बत के बीच सीमा निर्धारित करने वाली मैकमोहन रेखा जाली है।

अब विदेश मन्त्री की यात्रा का स्थगन भी इसी की अगली कड़ी लगती है। उनकी 'व्यस्तता' की बात समझ में न आने वाला बहाना है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि चीन को भारत सरकार के रुख का ज्ञान पहले से था और यदि उसने भारत के साथ सम्बन्ध सामान्य करने की इच्छा प्रकट की थी तो यही सोच-समझकर कि वर्तमान मतभेदों को उनमें बाधक नहीं होने देना चाहिए और न किसी तीसरे देश के साथ सम्बन्धों को उसमें आड़े आने देना चाहिए। अतः भारत द्वारा कम्पूचिया सरकार को मान्यता दिया जाना चीनी रुख के बदलाव का एक ही कारण हो सकता है, एक मात्र कारण नहीं। कुछ विपक्षी नेताओं ने वर्तमान भारत सरकार पर चीन के प्रति स्पष्ट नीति न अपनाने का आरोप लगाया है लेकिन वे भूल जाते हैं कि अस्पष्ट नीति चीन की है, भारत की नहीं। माओ की मृत्यु के बाद से ही चीन मे उत्तराधिकार के लिए शुरू हुआ संघर्ष अब तक जारी है, हालांकि बदनाम चौगुटे को, जिसमें माओ की पत्नी भी शामिल थी, निष्प्रभाव किया जा चुका है। पिछले कुछ दिनों में वहाँ माओ के व्यक्तित्व और नीतियो की भी खुलकर आलोचना हुई है तथा अनेक सार्वजनिक स्थानो से माओ के चित्र हटा दिए गए हैं। ऐसी स्थिति में जब तक उत्तराधिकार का फैसला न हो जाए, चीन की नीति में द्विविधा रहनी स्वाभाविक है। सितम्बर मे दस वर्ष बाद चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की कांग्रेस होने वाली है। उस समय अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए जाने के सकेत हैं और उसके बाद वर्तमान प्रधान मन्त्री के भी पद छोड़ने की अफवाहें हैं। ऐसी स्थिति मे भारत के लिए वहाँ की घटनाओ पर सतर्क नजर रखना ही एकमात्र विकल्प है किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि हाल की घटनाओं से दोनो देशों के सम्बन्ध सामान्य होने की प्रक्रिया में बाधा पड़ी है।

पाकिस्तान और चीन

भारत की स्वाधीनता के प्रथम दशक में और उसके कुछ समय बाद तक भी चीन ने भारत के प्रति मैत्री का स्वांग अच्छी तरह निभाया। इस अवधि में पाक-चीन सम्बन्धों मे कोई 'विशेष प्रेमालाप' नही हुआ, यद्यपि इस दिशा मे प्रयत्न सन् 1956 से ही शुरू हो गए थे। सन् 1956 मे तत्कालीन पाक प्रधान मन्त्री श्री सुहरावर्दी ने चीन की और प्रधान मन्त्री श्री चाऊ ने पाकिस्तान की यात्रा की। इस पारस्परिक दौरे के बाद दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान शुरू हुए। चीन ने पूर्वी पाकिस्तान को अपना कार्यक्षेत्र चुनकर ढाका में एक पाक-चीन सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना की, पर यह क्रम अधिक नहीं चल सका और अक्तूबर, 1958 में पाकिस्तान में सैनिक तानाशाही की स्थापना के साथ ही समाप्त हो गया।

पाकिस्तान की भारत-विरोधी नीति सैनिक तानाशाही के युग में निरन्तर उग्र होती गई। पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध दुनिया के हर देश से सैन्य सामग्री प्राप्त करने की पूरी कोशिश की। भला चीन ऐसे मौके को कब चूकने वाला था। उसने पाकिस्तान को अपने पक्ष में करने के लिए कूटनीतिक पासे फेंके। जब अमेरिकी

राष्ट्रपति कैनेडी ने भारत से सम्बन्ध बढ़ाने के प्रयास शुरू किए तो पाक राजनेताओं ने इसे पसन्द नही किया और चीनी शासकों ने परिस्थितियों का लाभ उठाया। सीमा-विवाद के फलस्वरूप भारत-चीन संघर्ष की आशंका बढ़ने पर अमेरिका ने भारत को अधिक आर्थिक और शस्त्र सहायता देना आरम्भ किया तथा पाकिस्तानी अप्रसन्नता की उपेक्षा कर दी तो पाकिस्तान ने चीन की ओर झुकते हुए पहली बार संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन की सदस्यता के प्रश्न पर अमेरिका ने विरोध मे मतदान दिया।

चीन पाकिस्तान को अपने अंक में समेटने को तैयार ही बैठा था। तत्कालीन राष्ट्रपति अयूब खाँ ने पाक-चीन मैत्री की पृष्ठभूमि तैयार करनी शुरू कर दी। सन् 1964 में सैटो संगठन की बैठक होने से पहले ही अयूब खाँ ने चेतावनी दी कि पाकिस्तान चीन के साथ सीमा समझौता करेगा। सन् 1960 में पाकिस्तान की ओर से इस दिशा में पहल की गई और चीन से उसे हर तरह भड़काकर सन् 1962 में उसके साथ एक सीमा-समझौता सम्पन्न किया। पाकिस्तान इस समझौते के माध्यम से अमेरिका को और चीन सोवियत संघ को चिढ़ाना चाहता था। यह सीमा-सन्धि भारतीय हितो पर कठोर प्रहार थी। इसके अन्तर्गत सिंकियांग और पाक-अधिकृत कश्मीर के बीच सीमा-निर्धारण की व्यवस्था थी। सन्धि द्वारा पाकिस्तान ने अधिकृत कश्मीर का 2050 वर्ग मील क्षेत्र अवैध रूप से चीन को सौंप दिया। समझौते के बहुत गम्भीर परिणाम निकले क्योंकि एक तो चीन की सीमा-प्रतिरक्षा सुदृढ हो गई और दूसरे इस उपमहाद्वीप में प्रवेश करने की सुविधा मिल गई। दोनों देशों ने एक सड़क का भी निर्माण किया जो हिमालयीय दर्रे मे होकर जाती है और सर्दी मे भी खुली रहती है। इस सड़क से दोनों देश जुड़ गए, विशेष लाभ चीन को मिला। चीन इस भारी अप्रत्याशित लाभ के बदले पाकिस्तान को पूर्ण राजनीतिक और सैनिक समर्थन देने लगा।

पिण्डी-पेकिंग धुरी की स्थापना को विश्व के देशों ने प्रारम्भ में अनमेल विवाह की दृष्टि से देखा और उस पर सन्देह किया, लेकिन दोनों देशों के बढ़ते हुए प्रेमालाप ने उनकी आँखें खोल दीं। चीन से विपुल सैनिक सहायता प्राप्त कर पाकिस्तान ने सैटो और सीएटो संगठनों की उपेक्षा शुरू कर दी तथा मनीला मे आयोजित सीएटो की बैठक मे भाग लेने से इन्कार कर दिया। अक्तूबर, 1962 मे भारत-चीन युद्ध के समय पाकिस्तान ने खुले आम अपने 'बड़े आका' चीन का समर्थन किया और भारत को आक्रामक ठहराया। भारत की पराजय पर पाकिस्तान में खुशियाँ मनाई गईं।

'चोर-चोर मौसेरे भाई' की तरह पाक-चीन की दोस्ती बढ़ती गई और दिसम्बर, 1963 मे चीन के विदेश-व्यापार उपमन्त्री श्री नानहान चैन ने अपनी पाक-यात्रा के समय यह आश्वासन दिया कि किसी भी भारत-पाक युद्ध में चीन पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन देगा। सन् 1964 में चीनी प्रधान मन्त्री ने पाक-यात्रा के समय उपर्युक्त आश्वासन की पुष्टि की। पाकिस्तान ने चीन की खुले दिल

सेवाएँ कीं उसके पुरस्कार स्वरूप जुलाई, 1964 में चीन ने पाकिस्तान को 6 करोड़ डॉलर का ब्याज-मुक्त ऋण प्रदान किया। चीन से भारी मात्रा में सैनिक सामग्री भी पाकिस्तान को अनुदान स्वरूप मिलती रही। उधर अमेरिका भी पाकिस्तान को चीन की ओर से विमुख करने हेतु आर्थिक और सैनिक सहायता प्रदान करता रहा, यह समझते हुए भी कि अमेरिकी हथियारों का प्रयोग पाकिस्तान चीन के विरुद्ध नहीं बल्कि भारतीय लोकतन्त्र के विरुद्ध करेगा।

चीन से प्रत्यक्ष प्रोत्साहन पाकर पाकिस्तान ने अप्रेल, 1965 में कच्छ पर आक्रमण कर दिया। इस समय और बाद में भी कुछ माह तक प्रमुख चीनी राजनेता पाकिस्तान में उपस्थित रहे। दोनो देशों मे एक हवाई समझौता भी हुआ जिसके अधीन चीन को पूर्वी पाकिस्तान से होकर बर्मा तथा दक्षिण एशिया तक विमान उडाने की सुविधा प्राप्त हो गई। यह एक ऐसी सुविधा थी जिसका प्रयोग चीन भारत के विरुद्ध आसानी से कर सकता था। तत्पश्चात् नौका-नयन और संचार सम्बन्धो के विषय में भी दोनों देशो के बीच महत्त्वपूर्ण समझौते हुए। चीन को पूरी तरह अपनी पीठ पर पाकर पाकिस्तान ने सितम्बर, 1965 में भारत पर आकस्मिक रूप से भीषण आक्रमण कर दिया। रूसी भय एवं अन्य कतिपय कारणों से तथा भारत की विकसित सैन्य शक्ति का अनुमान लगाकर चीन ने यद्यपि भारत के उत्तरी सीमान्त पर पाकिस्तान के समर्थन मे कोई आक्रमण नही किया, तथापि वहाँ सैनिक गतिविधि तेज करके तथा भारत को तीन दिवसीय अल्टीमेटम देकर पाकिस्तान को 'आश्वस्त' करने की चेष्टा की। कूटनीतिक क्षेत्र मे पाकिस्तान को चीन से पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ। चीनी अल्टीमेटम भी तब दिया गया जब पाक विदेश मन्त्री न्यूयॉर्क में थे। यदि संयुक्त राष्ट्रसघीय प्रयत्नों से 23 सितम्बर को युद्ध-विराम न होता तो सम्भवतः चीन पाकिस्तान को बचाने के लिए सैनिक कार्यवाही कर बैठता।

सन् 1965 से पाक-चीन सम्बन्धों में एक नया चरण शुरू हुआ जिसके अनुसार चीन ने पाकिस्तान को भारी आर्थिक और सामरिक सहायता देने की नीति अपनाई। लगभग इसी वर्ष से पाकिस्तान ने अमेरिका पर पूरी तरह निर्भर रहना छोड़ दिया और मार्च, 1966 में स्पष्ट रूप से घोषित किया कि उसे चीन से भारी मात्रा मे शस्त्रास्त्र, विमान और टैंक मिल रहे हैं। चीन से पाकिस्तान को जो सामरिक सहायता मिली, वह अमेरिकी सैन्य सहायता से कही अधिक थी। पिण्डी-पेकिंग धुरी ने सयुक्त रूप से भारत मे विघटनकारी तत्त्वो को प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया। नागालैण्ड और मिजो क्षेत्र मे विद्रोहियो को भड़काया गया तथा भारत के विरुद्ध उन्हें शस्त्रास्त्र-सहायता तथा सैनिक प्रशिक्षण देने की भरपूर चेष्टा की गई। दोनों देशों के इन कुटिल प्रयासो से भारत को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध के पश्चात् पिण्डी-पेकिंग सम्बन्धों में एक नए चरण का सूत्रपात हुआ। युद्ध काल मे चीन ने पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र-सहायता और राजनीतिक समर्थन देने तक ही अपने को सीमित रखा। चीन

पाकिस्तान की इस आशा को मिटाना चाहता था कि अमेरिका भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को हर प्रकार की सहायता करेगा। पाक-अमेरिकी प्रतिरक्षा-सन्धि के अन्तर्गत अमेरिका ने वचन दिया था कि वह पाकिस्तान की अखण्डता और प्रभुसत्ता की रक्षा करेगा, लेकिन पाकिस्तान का विभाजन हो गया और अमेरिका का वचन कोरा कागजी सिद्ध हुआ। इस प्रकार चीन को पाकिस्तान से यह कहने का अवसर मिल गया कि अमेरिका पर भरोसा नहीं किया जाना चाहिए।

पिण्डी-पेकिंग धुरी अब एक ठोस तथ्य है, अतः भारत को किसी भी सम्भावित संयुक्त खतरे के मुकाबले के लिए पूरी तरह सतर्क और तैयार रहना चाहिए। शिमला-समझौते से पाकिस्तान के साथ शान्ति के आसार बढ़ गए हैं लेकिन पाकिस्तानी नेतृत्व जिस तरह शान्ति और धमकी की दुरंगी नीति पर चल रहा है और दुनिया के हर देश से सैन्य-सामग्री बटोरने में लगा हुआ है वह भारत को चौकाने के लिए काफी है। पाकिस्तान के रक्षा-बजटों में चीन तथा अन्य मित्र-देशों से बिना मूल्य प्राप्त हथियारों और उपकरणों की चर्चा नहीं की जाती। गैर-कम्युनिस्ट देशों में चीन ने पाकिस्तान को जितनी सैनिक सहायता दी है उतनी किसी दूसरे देश को नहीं दी गई है। भारत-सरकार इन सभी गतिविधियों के प्रति सतर्क है। अफगानिस्तान में सोवियत संघ के हस्तक्षेप के बाद 1980 में जिस प्रकार पिण्डी-पेकिंग-वाशिंगटन धुरी में घनिष्ठता आ रही है और नई व्यूह-रचना हो रही है, उससे हमें सतर्क रहना है।

नए परिप्रेक्ष्य में चीन-पाकिस्तान की बढ़ती निकटता : क्या जनरल जिया को वास्तव में सोवियत संघ से डर है?

पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल जिया-उल-हक की चीन यात्रा (2-8 मई, 1980) का विश्लेषण कई दृष्टिकोणों से किया गया है। बेशक प्रमुख दृष्टिकोण अफगानिस्तान में सोवियत संघ के सैनिक हस्तक्षेप से उत्पन्न उनकी सीमा को सम्भावित खतरा है लेकिन देश के भीतर दिनोंदिन उनकी स्थिति जो कमजोर हो रही है उसको 'पहले जैसा बनाने' की भी वह जुगाड़ में है। यद्यपि कई अन्य स्थानों पर भी पाकिस्तान और चीन के नेताओं में बातचीत होने के समाचार (सालसबरी में चीनी विदेश मन्त्री हुआंग हुआ तथा बेलग्राद में प्रधान मन्त्री हुआ कुओ फेंग से) हैं तथापि जनवरी से मई के बीच दोनों देशों में दूसरी बार यह उच्च-स्तरीय वार्ता हुई। जनवरी में विदेश मन्त्री हुआंग हुआ ने पाकिस्तान की पांच दिवसीय यात्रा की थी। [illegible] 1977 में सत्ता में आने के बाद जिया-उल-हक की चीन की यह दूसरी [illegible]

यद्यपि चीन और पाकिस्तान में [illegible] से बेहतर सम्बन्ध हैं [illegible] अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की उपस्थिति ने दोनों देशों को [illegible] दिया है। अफगानिस्तान और पाकिस्तान की सीमा पर [illegible] को न केवल पाकिस्तान ने [illegible] बल्कि उसे सैनिक [illegible] रहा है। इस बात से चीनी [illegible] की उनकी [illegible]

पाकिस्तान को चीन से 1966 से निरन्तर अस्त्र मिलते रहे हैं (अब तक छह अरब डॉलर के अस्त्र मिल चुके है) । अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की उपस्थिति के कारण अस्त्र सप्लाई मे खासी वृद्धि हुई है । ये सभी अस्त्र काराकुर्रम राज-पथ से दिन-रात आते रहते हैं । पिछले दिनो यह भी समाचार था कि काराकुर्रम राजपथ को चौडा करने की योजना है । चीन और पाकिस्तान का मकसद शायद वर्तमान स्थिति के सन्दर्भ में अधिक चौकस रहना है । उन्हें शायद यह डर है कि कहीं सोवियत संघ काराकुर्रम राजपथ में अवरोध पैदा कर या उसे क्षतिग्रस्त कर उनकी सप्लाई रेखा को अस्त-व्यस्त न कर दे । कुछ समाचारो के अनुसार सोवियत संघ की 'इलेक्ट्रॉनिक आंख'—दोनों देशों की गतिविधियों का निरन्तर अवलोकन करती रहती है । चीन द्वारा अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का इस समय परीक्षण जहाँ पाकिस्तान को आश्वस्त करना था वहाँ सोवियत संघ और अमेरिका सहित यूरोपीय देशों को अपनी वैज्ञानिक और सामरिक उपलब्धि से अवगत कराना भी था। अटकलें तो इस बात की भी लगाई जा रही हैं कि पाकिस्तान को परमाणु बम बनाने के लिए चीन उसे यथोचित जानकारी देते जा रहा है (फ्रांस और कैनाडा से इनकारी के बाद) हालांकि इस बात की पुष्टि नही हुई है लेकिन चीन की राजनीतिक पैंतरेबाजी को देखते हुए वर्तमान गोपनीय 'समझौता' कभी भी सार्वजनिक हो सकता है । सीधी बात करने से चीनी सदैव परहेज करते हैं ।

कभी पाकिस्तानी हुक्मरान जनमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए कश्मीर के मसले को उछाला करते थे । उछाला वह अब भी जाता है । पिछले दिनो इस्लामाबाद मे इस्लामी विदेश मन्त्रियो के सम्मेलन में भी इस मुद्दे को उठाया गया लेकिन पीकिंग मे चीनी नेताओं ने इसे तूल नहीं दी । जिया ने अलबत्ता कहा कि शिमला समझौते के अन्तर्गत कश्मीर समस्या का हल ढूँढा जाना चाहिए । यह सम्भवतया पहला अवसर था जबकि पाकिस्तानी राज्याध्यक्ष की चीन यात्रा पर कश्मीर के मसले को नही उठाया गया । कुछ क्षेत्रों मे इसे चीन की भारत के प्रति 'सदाशयता' की भावना करार दिया जा रहा है, क्योंकि हाल ही मे दो अवसरो पर प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी की पहले विदेश मन्त्री हुआङ् हुआ (सालसबरी मे) और उसके बाद बेलग्राद मे मार्शल टीटो की अन्त्येष्टि मे चीनी प्रधान मन्त्री हुआ कुओ फेङ से परस्पर सम्बन्धो को सुधारने की दिशा में जो बातचीत हुई उसी का परिणाम है । (लगभग बीस वर्ष बाद भारत और चीन के प्रधान मन्त्रियो में वार्ता हुई थी ।) कुछ हलकों के अनुसार इसका कारण अफगानिस्तान पर सोवियत सैनिक हस्तक्षेप है । चीन शायद यह नहीं चाहता कि कश्मीर के मसले को एक बार फिर तूल देकर दक्षिण एशिया में पहले से ही व्याप्त अस्थिरता और संशय की भावना को और बढ़ाया जाए । लेकिन सोवियत नेता चीन और पाकिस्तान की दोस्ती को भारत सहित दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के लिए खतरा मानते हैं । उनका तर्क था कि काराकुर्रम की सड़क को चौड़ा करना भारत के प्रति चीन और पाकिस्तान की न तो सदाशयता है और न ही मैत्री भावना का संकेत ।

चीन-अल्बानिया : बदलते रिश्ते

पूर्वी यूरोप के एक छोटे से देश अल्बानिया (कुल जनसंख्या 25 लाख) ने एक धमाका सन् 1961 में किया था। उसने तब साम्यवादी आन्दोलन के एक मात्र मुखिया सोवियत संघ से सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था और उस चीन से नाता जोड़ा था जो सोवियत संघ के नेतृत्व से मुक्ति पाने के लिए कसमसा रहा था और दोनों देशों के बीच छुट-पुट मतभेद उभरने लगे थे। चीन में सोवियत संघ की आलोचना करते हुए तब एक सच्चे और विश्वस्त मित्र के रूप ने अल्बानिया का स्वागत किया था और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की एक और धुरी के निर्माण की सम्भावना उत्पन्न हुई जिसने आगे चल कर अक्तूबर, 1962 मे चीन और सोवियत संघ के बाच सम्बन्ध-विच्छेद के बाद साकार रूप ग्रहण कर लिया।

अल्बानिया ने दूसरा धमाका जुलाई, 1977 में किया। अल्बानियाई कम्युनिस्ट पार्टी के समाचार-पत्र ज़ेरी पापुलित ने अपने सम्पादकीय मे चीन का नाम लिए बिना उसकी विदेश नीति के कई तत्वों की सैद्धान्तिक आधार पर कटु आलोचना की। सम्पादकीय मे 'तीसरी दुनिया' के सिद्धान्त की भी भर्त्सना की गई। स्वर्गीय माओ-त्से-तुंग ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था और अप्रेल, 1974 में संयुक्तराष्ट्र मे चीन के भूतपूर्व उपप्रधान मन्त्री तेङ् सिआओ पिङ् ने उसे प्रथम बार आधिकारिक तौर पर सार्वजनिक रूप से व्यक्त किया था। तब से विकासशील देशों को 'तीसरी दुनिया' के देश कहकर सम्बोधित किया जा रहा है।

सम्पादकीय में 'तीसरी दुनिया' के सिद्धान्त को लेनिनवाद विरोधी कहकर उसके समर्थकों पर यह आरोप लगाया गया कि उन्हें अनेक विकासशील देशों मे वास्तविक साम्राज्यवाद विरोधी, क्रान्तिकारी शक्तियों और साम्राज्यवाद समर्थक, प्रतिक्रियावादी फासी शक्तियों के बीच पहचान की तमीज नहीं है। इस प्रकार समाचार-पत्र ने तीसरी दुनिया के उस मुखिया पर खुला प्रहार किया जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष मे एक प्रमुख शक्ति माना जाता है।

अल्बानिया रातोंरात चीन विरोधी नहीं बन गया है। जब सन् 1974 मे चीन ने 'शत्रु का शत्रु अपना मित्र' का सिद्धान्त अपनाकर अमेरिका से सम्पर्क स्थापित किया तभी से इस विरोध का आभास होने लगा था जिसका संकेत अल्बानियाई कम्युनिस्ट पार्टी के नेता अनवर होक्सा ने अपने यहाँ के कुछ हठवादी साम्यवादियों को दण्डित करके दिया था। इनमें एक प्रतिरक्षामन्त्री बेकिर बालकू भी थे। उससे पूर्व सन् 1971 की पार्टी काँग्रेस में भी श्री होक्सा चीनी नेता माओ द्वारा सोवियत संघ और अमेरिका को भिड़ाने के प्रयासों की यह कहकर आलोचना कर चुके थे कि एक साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिए दूसरे साम्राज्यवाद का प्रयोग करना सम्भव नहीं है।

फिर भी मई, 1976 तक अल्बानिया और चीन मित्र बने रहे। किन्तु अक्तूबर, 1976 में चीन में सत्ता-परिवर्तन के साथ ही दोनों देशों की,

में दरार पड गई जो उत्तरोत्तर चौड़ी होती गई। श्री होक्सा ने तब अपनी पार्टी के 7वें अधिवेशन मे अध्यक्ष हुआ कुओ फेङ् के प्रशासन की प्रशंसा सम्भवतः जानबूझ कर नही की। उससे पूर्व उन्होने माओ के उत्तराधिकारी को एक असाधारण रूप से संक्षिप्त तार भेजकर बधाई अवश्य दी थी। श्रीमती माओ समेत चार नेताओं की गिरफ्तारी को श्री होक्सा ने पसन्द नही किया। उन्हें यह प्रतीत हुआ कि चीन का नया नेतृत्व अन्ततः सोवियत समर्थक सिद्ध होगा। हाल मे चीन ने अफ्रीकी नीति के सन्दर्भ में और अपनी सीमाओं के प्रश्न पर सोवियत संघ की नीतियों पर प्रहार अवश्य किया है फिर भी ऐसा नहीं लगता कि तीसरी महाशक्ति बनने का आकांक्षी चीन अकारण ही सोवियत सघ से वैर मोल लेगा। श्री होक्सा की चीन विषयक आशंका सर्वथा निराधार नही है।

चीन की वैसाखियो के सहारे चलने वाले अल्बानिया के इस विरोध को एक मित्र के प्रति दूसरे मित्र के आक्रोश के रूप में नहीं देखा जा सकता। अल्बानिया को चीन से न केवल अपार आर्थिक सहायता मिली है बल्कि अब तक उसका दो-तिहाई व्यापार भी चीन के साथ ही होता रहा है। ऐसी स्थिति मे चीन के प्रति अल्बानिया के रवैये को एक साधारण घटना नही माना जा सकता। यह अल्बानिया के साम्यवादी आन्दोलन सम्बन्धी सैद्धान्तिक सघर्ष की ही एक कड़ी है। अल्बानिया नही मानता कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के केवल कोई एक या दो केन्द्र-बिन्दु ही हो सकते हैं।

चीन और सोवियत सघ के बीच बिगाड़ पैदा होने से पहले तक सोवियत नेतृत्व स्वय को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन का भाग्य विधाता मानता था। किन्तु चीन ने उसकी इस प्रतिमा को खण्डित कर दिया। कुछ वर्ष पहले तक साम्यवादी आन्दोलन के दो केन्द्र रहे जिनमे सख्या और प्रभाव की दृष्टि से चीन का स्थान निश्चय ही सोवियत संघ के बाद था। पिछले कुछ वर्षों मे साम्यवादी आन्दोलन का एक और केन्द्र उभरा जिसे यूरोपीय केन्द्र की संज्ञा दी गई और जिसके प्रवक्ता पश्चिमी यूरोप के साम्यवादी दल हैं।

रोमानिया ने यूरोपीय साम्यवाद की प्रशंसा की थी। अब अल्बानिया ने चीन के विरोध का मार्ग अपनाकर सम्भवतः यह सकेत दिया है कि वह भी स्वतन्त्र निर्णय के मार्ग को पसन्द करता है। यदि सचमुच अल्बानिया यूरोपीय साम्यवाद की धारणा पसन्द करता है तो उसके इस निर्णय के दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। देर सवेर पूर्वी यूरोप के अन्य साम्यवादी देश भी उसका अनुकरण कर सकते हैं जो सोवियत संघ के नेतृत्व से मुक्ति पाने के लिए एक अर्से से छटपटा रहे हैं। सोवियत सघ यह नही चाहता और इसीलिए वह यूरोपीय साम्यवाद के विचार का भी कट्टर विरोधी है।

चीन-यूगोस्लाविया : रिश्ते में नया मोड़

यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो सितम्बर, 1977 मे चीन की नौ दिन की राजकीय यात्रा के बाद स्वदेश लौट गए। अपने पहले चीन प्रवास के दौरान

मार्शल टीटो को चीनी नेताओं और वहाँ के नागरिकों से जो सम्मान मिला वह सामान्य अतिथि को मिलने वाले सम्मान से कही अधिक था, इसलिए और भी कि अभी हाल तक मार्शल टीटो चीन की दृष्टि में 'संशोधनवादी' थे और चीनी नेताओं को वे फूटी आंख नहीं सुहाते थे। किन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सन्दर्भ मे जो अध्यक्ष हुआ के अनुसार "सभी देशों की जनता के अनुकूल और महाशक्तियों के प्रतिकूल है, स्वयं हुआ ने टीटो को द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान फासी आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने वाले एक प्रमुख नेता, यूगोस्लाविया समाजवादी गणराज्य के संस्थापक, सुविख्यात् राजनीतिज्ञ और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के एक प्रणेता के रूप मे देखा और उनकी यात्रा को चीन यूगोस्लाविया सम्बन्धों की एक महान् घटना बताया।"

निस्सन्देह मार्शल टीटो की चीन-यात्रा चीन-यूगोस्लाविया सम्बन्धों की एक महान् घटना थी, बल्कि कहना चाहिए कि कम्युनिस्ट जगत् की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसे यदि साम्यवाद के बारे में विरोधी विचार वाले साम्यवादी देशो के बीच सम्पर्क के प्रादुर्भाव के रूप मे देखा जाए तो इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

यात्रा की समाप्ति पर किसी संयुक्त विज्ञप्ति का प्रसारित न किया जाना इस बात का संकेत था कि दोनों पक्षो के बीच अनेक विषयों पर मतैक्य नही था। यात्रा का यह कोई अप्रत्याशित परिणाम नहीं था। उनके मतभेद इतने व्यापक रहे हैं कि एक ही वार्ता मे मतैक्य की आशा नही की जा सकती थी। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मतभेदों के बावजूद उन्होने परस्पर सहयोग बढाने का निश्चय किया। अध्यक्ष द्वारा दिए गए प्रीतिभोज मे मार्शल टीटो ने कहा कि मतभेदों को इस सहयोग में बाधक नहीं बनना चाहिए, क्योकि वे (मतभेद) उन भिन्न परिस्थितियों के परिणाम हैं जिनमे हम रहते आए हैं और आज भी रह रहे है। सहयोग का आधार समानता का सिद्धान्त होने पर मतभेद बाधक नही बन सकते, तब और भी नही जबकि हम अपने विचार एक-दूसरे पर लादना न चाहें। इस बारे में चीन के नेताओं की कोई भिन्न राय है ऐसा कोई सकेत उन्होंने मार्शल टीटो से बातचीत के दौरान नही दिया।

वास्तविकता तो यह है कि अध्यक्ष हुआ की राय भी मतभेदों के बीच सहयोग की नीति के बारे में श्री टीटो से भिन्न नहीं रही होगी क्योकि चीन की वर्तमान विदेश-नीति के सन्दर्भ में यह आवश्यक हो गया है कि उसका सम्बन्ध अधिकाधिक साम्यवादी देशों से स्थापित हो ताकि वह साम्यवादी, साम्राज्यवादी और गुट-निरपेक्ष शिविर के उन देशों से निपट सके जिन्हें वह अपनी उस राह का काँटा मानता है जिस पर चलकर वह महाशक्ति बनने का स्वप्न देख रहा है। इसके लिए वह अपनी आवश्यकता के लिए काँटे से काँटा निकालने की नीति का प्रयोग भी कर लेता है। उदाहरणार्थ, जब सोवियत संघ से उसका विवाद जोरों से चल रहा था तो उसने अमेरिका से सम्पर्क स्थापित किया। रिचर्ड निक्सन के समय मे सन् 1971 में

स्थापित यह सम्पर्क फोर्ड के कार्यकाल मे सन् 1975 के अन्त में घनिष्ठ मित्रता में बदल चुका था और दोनों मिल कर सोवियत संघ की निन्दा करते नहीं अघाते थे। उस दौरान चीन ने भारत के विरुद्ध विष-वमन भी बन्द-सा कर रखा था और भारतीय राजनेताओं के मन में यह भ्रम पैदा करने में भी सफल हो चुका था कि वह भारत से मित्रता करना चाहता है। किन्तु जनवरी, 1977 में जिम्मी कार्टर के राष्ट्रपति बनने और मार्च, 1977 मे भारत मे सत्ता परिवर्तन होने के साथ ही चीन ने रंग बदलना शुरू कर दिया। मार्शल टीटो की मृत्यु और चीन के हुआ के त्याग-पत्र के बाद दोनों ही देशों मे नेतृत्व परिवर्तन हो चुका है और देखना यह है कि दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध क्या दिशा लेते हैं।

चीन और अन्य राष्ट्र

साम्यवादी चीन के यूरोप, एशिया और अफ्रीका के अन्य राष्ट्रों के साथ भी सम्बन्ध उतार-चढ़ाव और अधिकांशतः मनमुटाव के रहे हैं। बाह्य मंगोलिया पूर्वी-एशिया का छोटा-सा देश जो यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य है, तथापि व्यवहारतः सोवियत रूस के प्रभाव और नियन्त्रण में है। मंगोलिया पर प्रभुत्व के मामले में चीन रूस का प्रतिद्वन्द्वी है। संसार की छत कहे जाने वाले तिब्बत को चीन ने निगल लिया है। अरब-जगत् में भी चीन अपने पैर फैलाने को प्रयत्नशील है। इस दिशा में अभी उसे कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल सकी है। चीन की दृष्टि हिन्द-महासागर पर भी है। मॉरिशस, तन्जानिया, जाम्बिया आदि को सहायता देने के नाम पर चीन हिन्द महासागर के जल-मार्गों का प्रयोग अपने हित में कर रहा है। पूर्वी यूरोप के साम्यवादी राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करने और उन्हें घनिष्ठ बनाने की दिशा में चीन काफी समय से प्रयत्नशील है। रूमानिया, बल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि देशों से चीन के सम्बन्ध पूर्वापेक्षा कुछ विकसित हुए हैं, लेकिन ये सभी राष्ट्र सोवियत रूस के प्रभाव मे है तथा रूस-विरोधी किसी भी चीनी कार्यवाही के प्रति सचेष्ट हैं। चीन ने हाल में जापान की ओर भी दृष्टिपात किया है। सन् 1972 मे चीनी प्रधान मन्त्री द्वारा जापान के नए प्रधान मन्त्री को पीकिंग आने का निमन्त्रण इस बात का सूचक था कि चीन जापान के साथ अच्छे सम्बन्ध कायम कर, जापानी सैन्यवाद से अपनी सुरक्षा का मार्ग प्रशस्त करना चाहता है। 1978 की चीन-जापान सन्धि दोनों देशों के बढ़ते हुए सम्बन्धों की द्योतक है।

चीन एशियायी देशों मे राजनीतिक पैठ बढ़ाने को उत्सुक है। चीन इस क्षेत्र में बढ़ रहे सोवियत प्रभाव को कम करना चाहता है। इण्डोनेशिया के साथ चीन के सम्बन्धो में जो बिगाड़ हुआ वह अभी तक नहीं सुधर सका है।

दक्षिणपूर्वी एशिया में चीनी महत्वाकांक्षा और रूस विरोधी मोर्चा बनाने का प्रयत्न

दक्षिण-पूर्वी एशिया में बड़ी ताकतों के जो स्वार्थ हैं, चीन की जो महत्त्वाकांक्षा है और वह रूस विरोधी मोर्चा करने मे जिस तरह प्रयत्नशील है—इन महत्वपूर्ण बिन्दुओं

पर जून, 1979 के दिनमान में श्री हरिश्चन्द्र चन्दोला का प्रकाशित निम्नलिखित लेख प्रकाश डालता है—

"रूस की सैन्य शक्ति तथा उसके हमले की आशंका से चीन कितना भयभीत है। इसका अन्दाज लगाना पहले सम्भव नहीं था, लेकिन अब जिस तेजी से चीन ने अमेरिका के साथ सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जोर लगाया उससे पता लगता है कि चीन, हमले की स्थिति में, अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर पाएगा और रूस की भारी सामरिक शक्ति का मुकाबला करने के लिए उसे दूसरी भारी शक्ति अमेरिका की सहायता लेनी पड़ेगी।

चीन के नेताओं ने कई दफा कहा है कि रूस हमारे देश के चारों ओर घेरा डालने की चेष्टा कर रहा है। वे कहते हैं कि चीन के पड़ोसियों को रूस एक चीन विरोधी मोर्चे मे बाँधना चाहता है। इसका प्रमाण, उनके अनुसार, अक्तूबर, 1978 की रूस-वियतनाम सन्धि है। यह चीन विरोधी है, जिसके द्वारा रूस, वियतनाम की सहायता से, चीन को दक्षिण-पूर्वी एशिया से अलग करना चाहता है।

चीनी महत्त्वाकांक्षा—दक्षिण-पूर्वी एशिया, जहाँ करोड़ो चीनी लोग बसे हुए हैं, चीन से प्रभावित प्रदेश समझा जाता रहा है। चीन अपनी भाषा में इसे नानायांग (बादल आच्छादित प्रदेश) कहता है। अपनी प्राचीन घनिष्ठता के कारण चीन यह गवारा नहीं कर सकता कि उसके प्रभाव के इस क्षेत्र का उससे विच्छेद कर दिया जाए। उसको यह भी पसन्द नहीं है कि यह क्षेत्र पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाए। यही कारण है कि जब वियतनाम पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होकर चीन तथा रूस के साथ, अपनी आवश्यकताओं के अनुसार, सामान्य व्यवहार करने लगा तो चीन के नेता अप्रसन्न हो गए। उन्हें आशा थी कि स्वतन्त्र होने पर वियतनाम अपने निकटवर्ती देश चीन के और करीब हो जाएगा और रूस विरोधी संघर्ष मे उसकी सहायता करेगा। लेकिन जब वियतनाम अपनी आर्थिक आवश्यकताओं तथा अन्य कारणों की वजह से रूस से सामीप्य बनाए रहा तो चीन रुष्ट होकर वियतनाम को दक्षिण-पूर्व का क्यूबा या रूस का दक्षिण-पूर्वी एजेन्ट कहने लगा।

गाली-गलौच के अलावा चीन ने यह कोशिश भी की कि अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों का रूस विरोधी एक मोर्चा बनाया जाए। इस प्रयास में चीन के उपप्रधान मन्त्री तेंग सियाओ पिंग थाईलैंण्ड, मलेशिया तथा सिंगापुर की यात्रा पर नवम्बर 5 से 14, 1978 तक निकले थे। तेंग के बारे मे कहा जाता है कि वह जिस तरह से भी हो अपना कार्य सिद्ध करना चाहते हैं और सही गलत उपायों के विवाद या विवेचन में नहीं पड़ना चाहते। उनके कथन 'बिल्ली काली हो या सफेद अगर चूहा पकड़ती है तो अच्छी है' के लिए उनकी माओ-त्से-तुंग के समय भर्त्सना की गयी थी। अब फिर सत्तारूढ़ होने पर वह अपनी पुरानी कार्यनीति पर—जैसे भी हो अपना उद्देश्य हासिल कर लेना चाहिए—वापस लौट आए हैं।

रूस-विरोधी मोर्चाबन्दी—तेंग के अनुसार, अगर रूस विरोधी मोर्चा बनाना

है तो यह आवश्यक है कि रूस की प्रमुख विरोधी शक्ति के साथ सामान्य तथा अच्छे रिश्ते कायम किए जाएँ। यह शक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका है। इसका प्रभाव विश्वव्यापी है। बहुत से देशों को इसने सन्धियों से बाँध रखा है। एशिया के देशों में इसके सैनिक अड्डे विद्यमान हैं। प्रशान्त तथा हिन्द महासागर में इसकी नौसेना गश्त लगाते हुए सदैव सचेत है। इससे रिश्ते कायम करने पर अनेक छोटे-मोटे देशों के साथ, जो इस पर आश्रित हैं, अपने आप सम्बन्ध बन जाते हैं। अमेरिका के पास एक सदैव तैयार रूस विरोधी मोर्चा है। चीन को अगर रूस का विरोध करना है तो उसके लिए एक नया मोर्चा खड़ा करने की जरूरत नहीं है। उसे पहले से स्थित मोर्चे को मान लेना चाहिए। इस मोर्चे को स्वीकार करने का अर्थ यह भी होता है कि इसके नेतृत्व को भी स्वीकार किया जाए। चीन का जल्दी में अमेरिका के साथ सामान्य रिश्ता कायम करना उसका आज की स्थिति में रूस विरोधी मोर्चे की ओर बढ़ने का महत्त्वपूर्ण कदम है।

अमेरिका और चीन बहुत बड़े देश हैं। वे एक दूसरे की सहायता के बिना रह सकते हैं। पिछले तीस साल से वे इसी तरह रहे हैं। इन तीस सालों में वे बीस वर्ष तक एक दूसरे को अपना दुश्मन समझते रहे तथा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में कोरिया, ताइवान तथा वियतनाम में लड़ते रहे।

लेकिन अब चीन के लिए दुश्मन की परिभाषा बदल गई है। उसने घोषित कर दिया है कि सोवियत रूस उसका सबसे बड़ा तथा खूँखार दुश्मन हो गया है। उसको सबसे पहले इस दुश्मन से लड़ने की आवश्यकता मालूम होती है। उसे यह भी मालूम है कि यह लड़ाई वह अकेले नहीं लड़ सकता। यह तो एक मोर्चे के माध्यम से ही लड़ी जा सकती है।

तटस्थ पड़ोसी—इस कार्य के लिए अमेरिका के साथ सामान्य रिश्ते कायम करना काफी नहीं है। अपने मित्र तथा पड़ोसी देशों को रूस विरोधी मोर्चे में शामिल करने की चीन को आवश्यकता महसूस होती है। इसको पूरा करने के लिए वह अब सचेष्ट है। लेकिन चीन के निकटवर्ती देश ऐसे मोर्चे में शामिल नहीं होना चाहते हैं वे चीन रूस के झगड़े में तटस्थ रहना चाहते हैं। रूस से वे दूर रहना चाहते हैं। लेकिन उससे बेवजह दुश्मनी मोल लेना नहीं चाहते। चीन उनका समीपवर्ती देश है और उसकी वे अवहेलना नहीं कर सकते।

चीन के उपप्रधान मन्त्री तेंग सिआओ पिंग ने अपने दक्षिण-पूर्वी एशिया के दौरे के समय थाईदेश, मलेशिया तथा सिंगापुर के प्रधानमन्त्रियों से कहा कि रूस सबसे खतरनाक दुश्मन है और वह वियतनाम के साथ मिलकर दक्षिण-पूर्व एशिया में अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। उसकी साजिशों का मुकाबला करने के लिए एक संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता है। चीन की इस माँग ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के नेताओं को असमंजस में डाल दिया।

उनको इस असमंजस से निकालने के लिए तेंग ने कई लोभ दिखाए। कई सालों से इन देशों का चीन के साथ व्यापार चीन के पक्ष में रहा है। इस समय तेंग

ने कहा कि चीन इन देशों से अब अधिक माल खरीदेगा, ताकि उनका व्यापार सन्तुलित रह सके। यह ही नहीं, तेंग ने कहा कि इन देशों के पास यदि किसी भी वस्तु का अधिक उत्पादन हो जो वे अन्य देशो को नहीं बेच सकें उस बचे उत्पादन को चीन खरीद लेगा तथा उनकी तेल, खाद्य तथा कृषि औजारों के क्षेत्र मे जो भी आवश्यकताएँ हों वह चीन उनको दोस्ती (सस्ते) के दामों पर बेचेगा। इसका प्रमाण देने के लिए 9 नवम्बर, 1978 को चीन ने थाईदेश के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर किए, जिसके अनुसार चीन एक साल के अन्दर थाइदेश से जूट, कपड़ा इत्यादि का तमाम अनबिका माल खरीद लेगा तथा सस्ते दाम पर उसको तेल तथा डीजल बेचेगा। इस तरह का आर्थिक सहयोग दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के लिए *अत्यन्त हितकर होगा।*

लेकिन इस क्षेत्र की राजनीतिक समस्याएँ आर्थिक समस्याओं से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और इन देशों की राजनीतिक समस्याओं के साथ चीन उलझा हुआ है। *दक्षिण-पूर्व एशिया के करीब-करीब सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ क्रान्ति के लिए* सशस्त्र लड़ाइयाँ लड़ रही है। इन सब कम्युनिस्ट पार्टियों का नेतृत्व तथा कइयों की अधिकांश सदस्यता इन देशों मे बसे चीनी जाति के लोगो के हाथ मे है। कइयों में कम्युनिस्ट पार्टी स्थापित करने के लिए चीन ने 1930 में राजनीतिक कार्यकर्ता भेजे थे। इन सब वजहों से इन कम्युनिस्ट पार्टियों का चीन की कम्युनिस्ट पार्टी तथा उसकी स्थापित राज्यसत्ता के साथ अन्तरग सम्बन्ध है।

1949 में कम्युनिस्टों के सत्तारूढ होने पर चीन लगातार दक्षिण-पूर्वी एशिया की कम्युनिस्ट पार्टियो की सहायता हथियारो तथा अन्य रूपों से करता चला आ रहा है। ये सब कम्युनिस्ट पार्टियाँ दक्षिण-पूर्वी एशिया की सत्ताओं से, जिनके साथ चीन अब मित्रता स्थापित करना चाहता है, सशस्त्र टक्करें ले रही हैं।

पेचीदा सवाल—दक्षिण-पूर्व एशिया की सत्ताओं के सामने प्रश्न था कि चीन क्या एक तरफ शस्त्र इत्यादि प्रदान कर इस क्षेत्र की कम्युनिस्ट पार्टियों से घनिष्ठता कायम रखना चाहता है और दूसरी तरफ इसी क्षेत्र की सरकारो से, जिनके उन्मूलन तथा विनाश के लिए यह कम्युनिस्ट पार्टियाँ कटिबद्ध है, वह (चीन) मित्रता कायम करना चाहता है, स्थापित सरकारो तथा कम्युनिस्टो की लड़ाइयों में चीन किसकी विजय के लिए प्रयत्नशील है ?

यह प्रश्न थाइलैण्ड, मलेशिया तथा सिंगापुर के प्रधानमन्त्रियों ने अपने मेहमान तेंग सियाओ पिंग से किया।

तेंग का उत्तर इस प्रकार था—चीनी कम्युनिस्ट पार्टी से दक्षिण-पूर्वी एशिया की कम्युनिस्ट पार्टियों के सम्बन्ध बहुत पुराने है। ये सम्बन्ध उस समय के हैं जब चीन तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के लोग पश्चिमी उपनिवेशवादियो से संघर्ष कर रहे थे। स्वतन्त्र होने पर चीन दक्षिण-पूर्वी एशिया की राज्यसत्ताओं से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। लेकिन इस नई चेष्टा में उसके लिए यह सम्भव नहीं है कि वह इस क्षेत्र की कम्युनिस्ट पार्टियों के साथ अपने रिश्ते एकदम खत्म कर दे।

ये रिश्ते समयानुकूल धीरे-धीरे कम किए जा सकते हैं, लेकिन उनको अचानक खत्म करना सम्भव नहीं है।

दूसरा, अगर चीन इन कम्युनिस्ट पार्टियों को सहायता देना बन्द कर दे तो उससे इन पार्टियों का अन्त नहीं हो जाएगा। तब वे रूस से सहायता माँगने लगेंगी और रूस ऐसी स्थिति के इन्तजार में है।

रूसी सहायता दक्षिण-पूर्वी राज्यसत्ताओं के लिए खतरनाक सिद्ध होगी। इसका उदाहरण तेंग ने रूस द्वारा अफ्रीकी देशों को दी गयी सहायता से दिया। उसने कहा कि जिस पार्टी या शक्ति को रूस ने सहायता दी (इथियोपिया, अंगोला, मोजाम्बिक इत्यादि) वे सब अपने विपक्षियों को नष्ट करके सत्तारूढ़ हो गईं।

तटस्थ पड़ोसी—इस तरह की सामरिक तथा आर्थिक सहायता यदि रूस दक्षिण-पूर्वी एशिया की कम्युनिस्ट पार्टियों को देना आरम्भ करेगा तो निश्चित है कि ये पार्टियाँ अधिक बलवान हो जाएँगी और अपनी मौजूदा सरकारों का अन्त करने में अधिक समर्थ होंगी।

तेंग ने फिर दलील दी कि चीन ने इन पार्टियों को सहायता इतने बड़े पैमाने पर कभी नहीं दी कि वे आज की राज्यसत्ताओं पर विजय पा लें। इसके लिए उसने कहा कि इन पार्टियों का चीन के साथ सम्बन्ध रखना दक्षिण-पूर्वी एशिया की राज्यसत्ताओं के हित में है।

थाईदेश ने तेंग की इस दलील को मान लिया। लेकिन मलेशिया के प्रधान मन्त्री हुसैन ओन ने उसे मानने से इनकार कर दिया।

मलेशिया—हुसैन ओन ने कहा कि कोई भी पूर्णतः स्वतन्त्र देश दूसरे किसी भी देश को अपने अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं दे सकता। यह सिद्धान्त का प्रश्न है। चीन की मलेशिया कम्युनिस्ट पार्टी को दी जा रही सहायता चीन का मलेशिया के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप है, जिसे मलेशिया कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। चीन यदि मलेशिया से पूर्ण मित्रता चाहता है तो उसे मलेशियाई कम्युनिस्टों को दी जा रही सहायता को सर्वथा बन्द करना पड़ेगा।

रूस तब यदि मलेशियाई कम्युनिस्ट को सहायता देना शुरू करेगा तो उसका असर रूस और मलेशिया के रिश्तों पर अवश्य पड़ेगा। मलेशिया रूस या किसी भी देश को अपने अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं देगा। तेंग ने तब अन्य प्रलोभन दिखाये और कहा कि चीन अब मलेशिया से अधिक रबड़ तथा ताड़ तेल (पाम ऑयल) खरीदेगा, ताकि चीन-मलेशिया व्यापार, जो अभी तक चीन के पक्ष में है, संतुलित हो सके।

लेकिन हुसैन ओन ने कहा कि व्यापार की बात राजनीतिक रिश्तों से भिन्न है और व्यापारिक लाभ के लिए मलेशिया अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता कभी नहीं बेचेगा।

हुसैन ओन ने खुले आम कहा कि तेंग की दलील तर्कहीन थी। थाईदेश में

तेंग ने वियतनाम तथा उसके नेताओं को तथा रूस को खुले ग्राम गालियाँ दी और कहा कि वियतनाम रूस का दलाल है और उसकी दक्षिण-पूर्वी एशिया पर प्रभुत्व जमाने की चेष्टाओं में सहयोग दे रहा है। सम्वाददाताओं से तेंग ने कहा कि वियतनाम दक्षिण-पूर्वी एशिया का गुण्डा है।

ऐसे ही कटु शब्द तेंग ने मलेशिया में भी कहने चाहे, लेकिन हुसैन ओन ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि वह अपने किसी अतिथि को अन्य देश पर आरोप लगाने या गालीगलौज करने की स्वतन्त्रता नहीं देगा। इसके फलस्वरूप तेंग को प्रीतिभोज में अपने भाषण को बदलना पड़ा और वियतनाम विरोधी सभी उक्तियाँ निकाल दी गयीं।

सिंगापुर—सिंगापुर की 76 प्रतिशत जनसंख्या चीनी नस्ल की है। सिंगापुर हालाँकि अमेरिका-जापान-चीन गठबन्धन के पक्ष मे है लेकिन वह भी खुले आम रूस विरोधी संयुक्त मोर्चे में शामिल नहीं होना चाहता।

इस प्रकार तेंग का रूस विरोधी मोर्चा बनाने का प्रयास विफल रहा है। अब अमेरिका से सामान्य रिश्ते कायम कर चीन वही कार्य दूसरे रूप मे करना चाहता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में अमेरिका के प्रभाव का इस्तेमाल करके चीन रूस को इस क्षेत्र से दूर रखना चाहता है।

इस नई स्थिति में रूस इस क्षेत्र मे घुसने के लिए और भी अधिक प्रयास करेगा। रूस को बाहर रखने और इस क्षेत्र मे अपने लिए स्थान बनाने तथा सहयोगी खोजने की अब नई चेष्टाएँ करनी होंगी। उन चेष्टाओं मे दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों को फँसाने की कोशिशें की जाएँगी। ये सब कोशिशें इस क्षेत्र के लोगों के हक मे नहीं होंगी और बड़ी ताकतों की खींचातानी बढ़ेगी।

चीन-अमेरिका के नए नए गठबन्धन से दक्षिण-पूर्व एशिया के देश आतंकित तथा घबराए हुए हैं। वे बडी ताकतों के झगड़ो मे तटस्थ रहना चाहते है। यह नया गठबन्धन उनकी तटस्थ रहने की इच्छाओं में व्यवधान बन जाएगा।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के प्रति चीन की बदलती हुई भूमिका : गुट-निरपेक्ष देशों को एक चुनौती

चीन की सैन्यवादी प्रवृत्ति और साम्राज्यवादिता गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के लिए एक जबरदस्त चुनौती है। 1972 में भारत पर और 1979 के प्रारम्भ मे वियतनाम पर आक्रमण करके चीन ने अपनी विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षाओं को स्पष्ट कर दिया है। वह ऊपर से सहयोग और मैत्री का स्वाँग रचता है, लेकिन उसकी वास्तविक इच्छा दूसरे देशों के भू-भागों को हड़पने की है। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के प्रति चीन का वर्तमान रवैया क्या है और इसमें चीन को कहाँ तक सफलता मिलने की सम्भावना है, इस पर अप्रेल, 1979 की 'सोवियत भूमि' में यूरी झुकोव (प्रावदा के राजनीतिक टिप्पणीकार) का एक विचारोत्तेजक लेख प्रकाशित हुआ था, जो इस प्रकार है—

"कुछ दिनों से पीकिंग की यह प्रवृत्ति हो गई है कि वह गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की जिसे बहुत दिन नहीं हुए चीन इस तरह से बुरा-भला कहता था, तारीफों के पुल बाँध रहा है। यही नहीं, पीकिंग के नेताओं ने यह स्पष्ट संकेत भी दिया है कि चीन इस आन्दोलन का अभिभावक और यहाँ तक कि नेता भी बनने के लिए तैयार है।

अगस्त, 1978 में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष और चीन की राज्य परिषद् के प्रधान हुआ कुओ फेंग ने अपनी तेहरान यात्रा के दौरान कहा कि 'चीन तीसरी दुनिया का एक विकासमान देश है।' यही विचार देंग शियाओपिंग की दक्षिण-पूर्वी एशियायी देशों की यात्रा के दौरान उनके भाषणों का मूल आधार था।

जिन लोगों को गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के संस्थापकों पर पीकिंग के हमलों की आज भी याद है, जिन पर चीन, 'पूर्व में एक नई म्यूनिख सौदेबाजी' के षड्यन्त्र में शामिल होने का आरोप लगाता था, वे आश्चर्यचकित हो यह पूछ रहे हैं कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की निन्दा से सहसा एकदम उलट कर उसकी प्रशंसा करने लगने का क्या अर्थ है?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह याद रखना चाहिए कि सैनिक गुटों के मुकाबले में गुट-निरपेक्षता की नीति की घोषणा करने वाले विकासमान देशों के राज्य तथा सरकार के प्रधान किन लक्ष्यों का अनुसरण करते रहे हैं।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का साम्राज्यवाद-विरोधी रुख 17 वर्षों से राष्ट्रीय मुक्ति के लिए जनगण के मोर्चे की एकता और विस्तार में योगदान कर रहा है। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन हथियारों की होड़ के विरुद्ध तथा तनाव-शैथिल्य को आगे बढ़ाने, राज्यों के बीच समान आर्थिक सम्बन्धों और शान्ति के लिए भी निरन्तर कार्य करता रहा है।

अनेक गुट-निरपेक्ष नेताओं ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि अपने लक्ष्यों की सिद्धि के कठिन संघर्ष में वे सदा इस संघर्ष के अपने स्वाभाविक मित्रों-समाजवादी देशों पर भरोसा करते रहे हैं। उधर सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देश समानता एवं सम्प्रभुता के प्रति आदर और आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप के सिद्धान्तों के आधार पर गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के साथ निरन्तर सहयोग करते रहे हैं। निश्चित ही यह सब साम्राज्यवादियों को पसन्द नहीं आता, जो अपने भूतपूर्व उपनिवेशों और पुराने अधीन क्षेत्रों को अब भी अपना सुरक्षित क्षेत्र मानते हैं और जिन्हें वे अपने स्वार्थ के हित में नियन्त्रित करना चाहते हैं। इसीलिए पश्चिमी शक्तियाँ, विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका कुछ विकासमान देशों के प्रतिक्रियावादी हल्कों पर भरोसा करते हुए, गुट-निरपेक्षता आन्दोलन को नष्ट और कमजोर करने की कोशिश में हर सम्भव तरीके का इस्तेमाल करती रही हैं। गुट-निर[illegible] को साम्राज्य-विरोधी संघर्ष में अपने साथियों से अलग करने और यदि

आन्दोलन को सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के विरुद्ध खड़ा कर देने की कोशिशें पिछले कुछ वर्षों से विशेष रूप से स्पष्ट दिखाई दे रही हैं।

यही कारण है कि साम्राज्यवादी अब अपने नए दोस्तों और सोवियत-विरोधी नीति पर चलने वाले पीकिंग के नेताओं की ओर देखने लगे हैं।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की साम्राज्यवाद-विरोधी धार को कुण्ठित करने और उसे एक 'एकल' समाजवाद-विरोधी मोर्चे में समाहित कर लेने की कोशिश में चीन की राज्य परिषद् के उपाध्यक्ष और चीन की जनमुक्ति सेना के प्रधान देंग सिआओ-प्रोपिंग ने माओ के 'तीन विश्वों के सिद्धान्त' को पुनर्जीवित किया है।

समाज के वर्गीय स्वरूप की पूर्ण उपेक्षा करते हुए देंग ने घोषित किया है कि चीन और एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के सभी देश, उनकी सामाजिक व्यवस्था चाहे कुछ भी हो, एक 'तीसरी' दुनिया बनाते हैं जिन्हें 'दूसरी' दुनिया (जिसमें देंग के अनुसार जापान और विकसित पश्चिमी यूरोपीय पूँजीवादी देश हैं) के साथ मिलकर 'पहली' दुनिया के विरुद्ध संघर्ष छेड़ देना चाहिए जिसका प्रतिनिधित्व 'महाशक्तियाँ—सोवियत संघ और अमेरिका करती हैं। लेकिन चूँकि अमेरिका, जैसाकि देंग दावा करते हैं, 'रक्षात्मक स्थिति में है, अतः कोई खतरा नहीं उपस्थित करता, इसलिए 'तीसरी' और 'दूसरी' दुनिया को अमेरिका के साथ 'मुख्य शत्रु' सोवियत संघ का विरोध करने के लिए एक एकल मोर्चा बनाना चाहिए।'

अपनी हाल की अमेरिका यात्रा के दौरान देंग सिआओप्रोपिंग ने वाशिंगटन में खुले तौर पर सोवियत संघ के विरुद्ध एक विश्व मोर्चा गठित करने का आह्वान किया।

यह हम कह सकते हैं, बीजिंग की कुत्सित रणनीति का जो पूरी तरह साम्राज्यवादियों की मंशाओं के अनुरूप है, विचारधारात्मक आधार है। जुलाई, 1978 में इस रणनीति को अमल में लाने के लिए संगठनात्मक कार्य शुरू करने की कोशिश की गई।

पिछली गर्मियों में गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन बेलग्रेड में हुआ। इसका उद्देश्य अगले सितम्बर में हवाना में गुट-निरपेक्ष देशों के नियमित छठे शिखर सम्मेलन की तैयारी करना था। बेलग्रेड में चीन के कठपुतली पोल-पोत शासन और अमेरिका के कुछ मुवक्किल राज्यों के प्रतिनिधियों ने आपस में गठजोड़ कर गुट-निरपेक्षता आंदोलन को तोड़ने और उसकी दिशा बदलने की कोशिश की। प्रसंगवश मुख्य हमला क्यूबा और वियतनाम के विरुद्ध निर्देशित था जो इस आन्दोलन के सक्रिय सहभागी हैं।

लेकिन ये हमले व्यर्थ सिद्ध हुए। गुट-निरपेक्ष देशों के [illegible] ने पुनः पुष्टि की कि पूर्व योजना के अनुसार शिखर सम्मेलन [illegible] और 1979 से 1982 तक की अवधि में क्यूबा इस आन्दोलन [illegible] वियतनामी समाचार-पत्र 'क्वान दोई न्हान दान' ने लिखा :

का छठा शिखर सम्मेलन 1979 में हवाना में करने का निर्णय जो उस देश की राजधानी है, जिसकी जनता समृद्ध क्रान्तिकारी और अन्तर्राष्ट्रीयतावादी भावना से भरी हुई है, इस बात की पुष्टि करता है कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में फूट डालने और उसे नष्ट करने की साम्राज्यवादी और प्रतिक्रियावादी शक्तियों की साजिशें विफल हो गई है। इसके साथ ही यह क्यूबा को प्राप्त अत्यधिक सम्मान का तथा आन्दोलन की बढ़ती हुई एकजुटता का भी प्रमाण है।

वियतनामी समाचार-पत्र ने इसके साथ ही एक सामयिक चेतावनी भी दी। "साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावाद की शक्तियाँ पीछे हटने के लिए मजबूर हुई हैं। फिर भी वे गुट-निरपेक्ष आन्दोलन मे फूट पैदा करने के लिए छलपूर्ण तरीके अपनाना और साजिशें रचना जारी रखेगी।"

और यही उन्होने किया कि सिर्फ 10 दिन बाद पीकिंग के नेता देंग विक्सआओपिंग ने जो समाजवादियों के साथ अधिकाधिक साँठ-गाँठ कर रहे हैं और सोवियत संघ तथा उसके मित्र समाजवादियो के विरुद्ध 'एकल मोर्चे' का सगठनकर्ता होने का दावा करते हैं, दक्षिण-पूर्वी एशियायी देशो का दौरा किया और उन्हे सोवियत-विरोधी नीति के पालन मे अपना अनुगामी बनाने की कोशिश की।

लेकिन यह यात्रा भी विफल रही। इण्डोनेशियायी समाचार-पत्र 'बेरिता बुआनां' ने 26 दिसम्बर, 1978 को कहा कि पीकिंग से आने वाले 'मेहमान' की 'नायकत्ववाद' के विरुद्ध सघर्ष तेज करने की कोशिश जिसका मकसद दक्षिण-पूर्व एशियायी देशो को सोवियत-विरोधी गुट मे खींचना और वियतनाम के साथ उनके सम्बन्धो को खराब करना था, का 'कोई समर्थक नही मिला।' समाचार-पत्र ने जोर देकर कहा कि 'चीनी शिष्टमण्डल के प्रधान को यह स्पष्ट बता दिया गया है कि दक्षिण-पूर्वी एशियायी देश चीनी विदेश नीति का अनुकरण नही करना चाहते और सबसे ऊपर यह कि इण्डोचीन के संघर्ष मे वे पीकिंग का पक्ष नहीं लेंगे।'

जब देंग विक्सआओपिंग ने मलेशिया मे अपने सार्वजनिक भाषणों में सोवियत विदेश नीति पर कीचड़ उछालने की कोशिश की तो वहाँ के प्रधान मन्त्री हुसेन बिन ओन ने साफ शब्दों मे कहा कि उनका देश 'कभी इस बात की अनुमति नहीं देगा कि मलेशिया की जनता को किसी बड़ी शक्ति के विरुद्ध भड़काया जाए।" सिगापुर के प्रधान मन्त्री ली कुआन यू ने देंग विक्सआओपिंग से कहा कि 'सिगापुर की जनता चीन के लिए अपने राष्ट्रीय हितो का बलिदान नही कर सकती।'

प्रसंगवश इन देशो मे देंग विक्सआओपिंग के अनुत्साहपूर्ण स्वागत का कारण जैसा कि दक्षिण-पूर्वी एशियायी देशों की राजधानियों मे बताया गया, मुख्यतः यह तथ्य था कि पीकिंग एक ओर तो अपने आपको एक मित्रवत् और गुट-निरपेक्ष देश के रूप मे पेश करने की कोशिश करता है, वही दूसरी ओर वह उन देशो के आन्तरिक मामलों में खुला हस्तक्षेप करता है और चीनी मूल के लोगों की मदद से वहाँ सरकार विरोधी आन्दोलन का समर्थन करता है। दक्षिण-पूर्व एशियायी देशों में 2 करोड़ से अधिक चीनी मूल के लोग रहते हैं।

स्पष्टत: दक्षिण-पूर्वी एशिया को अगस्त, 1965 में माम्रो का यह उद्धृत वक्तव्य याद है कि चीन को उस विशाल क्षेत्र पर 'हाथ डालना चाहिए' (जी हाँ, उन्होंने यही कहा था) जहाँ विश्व का कुल 70 प्रतिशत टिन, 81 प्रतिशत रबड़, 70 प्रतिशत नारियल की गिरी और तेल, लौह-अयस्क, निकल आदि भी उत्पादित होता है।

यही कारण है कि, उदाहरण के लिए, मलेशिया के प्रधान मन्त्री हुसैन बिन ओन ने दैंग विक्सआओपिंग से सीधे कह दिया कि उनका देश 'किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप, विध्वसक कार्यवाही या उत्तेजना भड़काने के कार्यों से अलग रहना चाहता है।'

फिर भी पीकिंग के नेता बाज आने वाले नहीं हैं। एक बार यदि उनकी चाले दक्षिण-पूर्वी एशिया में विफल रही तो उन्होने तुरन्त ही एक दूसरी चालबाजी शुरू कर दी, इस बार अफ्रीका मे।

दिसम्बर, 1970 मे चीन की राष्ट्रीय जन कांग्रेस की स्थायी समिति के उपाध्यक्ष जी पेंगफेई ने पाँच अफ्रीकी देशो का विस्तृत दौरा किया। उन्होने नाइजर, सैनिक, तोगो, सियेरा लियोने और गाम्बिया की यात्रा की। इसका उद्देश्य वही था जो दैंग विक्सआओपिंग की दक्षिण-पूर्वी एशिया की यात्रा का था, अर्थात् इन देशों को पीकिंग की नीतियों का सहयोगी बनाना।

इसके साथ ही पीकिंग के नेताओं ने गेबोन के राष्ट्रपति ओमार बोंगो को चीन की राजधानी में उनके प्रवास के दौरान हर प्रकार के प्रलोभन दिए। रायटर खबरो के अनुसार उन्होने कई अरब फ्रैंक की सैनिक सहायता (जी हां, यही) देने का वायदा किया यद्यपि वे खुद नाटो देशों से हथियारों की माँग कर रहे हैं।

जी पेंगफेई 30 दिसम्बर को पीकिंग लौटे और एक उच्चपदस्थ अधिकारी ली विसयातियान जो राज्य समिति के उप-प्रधान मन्त्री हैं, 3 जनवरी को अफ्रीका रवाना हो गए। उनके यात्रा-कार्यक्रम मे तन्जानियाँ, मोजाम्बिक, जाम्बिया और जायरे आदि देश थे। और इसका उद्देश्य—आप समझ ही गए होंगे—गुट-निरपेक्ष देशों को पीकिंग की सोवियत-विरोधी नीति का अनुगामी बनाना था।

अफ्रीका से मिलने वाली खबरो से पता चलता है कि दक्षिण-पूर्व एशिया की तरह पीकिंग के दूतो का यहाँ भी ठण्डा स्वागत हुआ। उनके सोवियत विरोधी और क्यूबा विरोधी विषवमन को आशानुकूल समर्थन नही मिला।

चीनी नेता गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के वियतनाम, क्यूबा, अंगोला, इथियोपिया, लाओस, अफगानिस्तान जैसे तथा अन्य सक्रिय सहभागियो का अधिकाधिक खुले तौर पर विरोध कर रहे हैं। यह विशेष रूप से अर्थपूर्ण है कि गत दिसम्बर में तत्कालीन पोल-पोट शासन के विदेश मन्त्री ने जिसकी स्थापना और सरपरस्ती पीकिंग कर रहा था और जो अब उखाड़ फेंका गया है, तमाम गुट-निरपेक्ष देशों के बीच एक पत्रक वितरित किया जिसमे पिछले ग्रीष्म में बेलग्रेड सम्मेलन में अस्वीकृत की जा चुकी हुई यह निर्लज्जतापूर्ण मांग फिर उठाई गई थी कि वियतनाम को गुट-निरपेक्ष

आन्दोलन से निकाल दिया जाए। यह विचित्र बात है कि उसी समाचार संवाद समिति ने तत्काल यह कुतर्कपूर्ण माँग दुनिया भर में प्रचारित कर दी। स्वभावतः इस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

विषाक्त बादल छँट जाएँगे और साम्राज्यवादियों की कुत्सित चालबाजी का जो गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को छिन्न-भिन्न और कमजोर करना चाहते हैं और इसमें उनके सहायक पीकिंग के नेताओं का उनकी समस्त कुरूपता के साथ पर्दाफाश हो जाएगा।

बदलता चीन : क्रिश्चियन साइंस मानिटर की समीक्षा (सितम्बर, 1980)

7 सितम्बर, 1980 को चीन के प्रधान मन्त्री पद से हुआ कुओफेंग ने त्याग-पत्र दे दिया और 10 सितम्बर, 1980 को जाओ जियांग चीन के विधिवत् नए प्रधान मन्त्री नियुक्त किए गए। चीन के इस सत्ता परिवर्तन पर विश्व के सभी देशों में प्रतिक्रिया हुई है। पश्चिमी देशों के समाचार-पत्रों में व्यापक प्रतिक्रिया देखने में आई है। कुछ देशों के समाचार-पत्रों के अनुसार चीन में हाल ही का सत्ता परिवर्तन पूरी कम्युनिस्ट दुनियां में एक बड़े परिवर्तन की संज्ञा दी है। लेकिन अमेरिका के प्रसिद्ध दैनिक क्रिश्चियन साइंस मानिटर के विचार में यह परिवर्तन बहुत नया नहीं है। पत्र ने लिखा है—

"पीकिंग में सत्ता परिवर्तन का समाचार बिल्कुल नया नहीं है। पिछले काफी समय से चीन जनराज्य में मौलिक परिवर्तनों का सिलसिला चल रहा था। लेकिन पाँचवीं राष्ट्रीय जन कांग्रेस के निर्णय ऐसे हैं जिन्हें बहुत ही साहसिक सुधार की संज्ञा दी जा सकती है। इन सुधारों का समूचे चीन पर तो दूरगामी प्रभाव पड़ेगा ही, बाहर की दुनियां पर भी चीन के इस परिवर्तन का गहरा असर होगा।"

"उल्लेखनीय है कि कम्युनिस्ट समाज में पहली बार शान्तिपूर्ण तरीकों से सत्ता परिवर्तन हुआ है। जिन लोगों को सत्ता से हटाया गया वे जीवित भी हैं। उद्देश्य चीन में स्थायी स्थिरता लाना बताया जा रहा है। अभी यह कहना मुश्किल है कि परिवर्तनों के पीछे कौन-सी राजनीतिक शक्ति काम कर रही है लेकिन इतना तो है कि सत्ता संघर्ष उभरे बिना पार्टी के भीतर ही चुपके से परिवर्तन आ गया है। चीन के नए नेता अब यह समझने लगे हैं कि वर्षों की उथल-पुथल के बाद चीन को आधुनिकतम बनाने का मात्र यही रास्ता है कि समूची प्रणाली में लोगों का सहयोग लेने का मार्ग प्रशस्त किया जाए। दूसरे शब्दों में काम करने और उत्पादन बढ़ाने को पूरा-पूरा प्रोत्साहन मिलना चाहिए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि आयोजन करने वाले, चीन में पूंजीवाद ला रहे हैं। लेकिन इतना आवश्यक है कि स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर दिया जा रहा है। किसान और मजदूर अब वहीं जो काम करेंगे उसका उन्हें पुरस्कार मिलेगा, और आगे काम करने के लिए उन्हें प्रेरित किया जाएगा। कम्युनिस्ट सिद्धान्त के अनुसार मजदूरों को केवल साम्यवाद की स्थापना के लिए ही काम करने की बात सिखाई जाती है। पर चीन अब इस रास्ते से थोड़ा हट रहा है। नई प्रणाली में चीन में जनसंख्या वृद्धि को प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा है। दम्पत्ति को केवल एक बच्चे के लिए प्रेरित किया जाएगा। इसे चीन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सुधार माना गया है।"

"चीन की समूची कानूनी प्रणाली को भी बदला जाएगा। कर व्यवस्था भी बदली जा रही है। सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तो यह देखने में आया है कि राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर की संस्थाओं में निर्वाचित प्रतिनिधि लिए जाएंगे जबकि अभी तक इन संस्थाओं के लिए कम्युनिस्ट पार्टी प्रतिनिधि नामजद कर दिया करती थी। इस प्रकार पार्टी अब सर्वोपरि सस्था नहीं रह जाएगी। चीन मे इसे विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया माना जा रहा है। एक प्रकार से यह चीन मे लोकतन्त्र की शुरूआत भी है। विचार अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी परिवर्तन का आभास मिल रहा है। सरकारी समाचार-पत्र देश के नागरिक-सुधारों तथा सरकारी उपायों पर टिप्पणी कर सकेंगे, अभी तक इस तरह की टिप्पणियाँ समाचार-पत्रों में प्रकाशित नहीं की जा सकती थी। धार्मिक क्षेत्र में गिरजाघरों को काम करने की अनुमति दे दी गई है। कुरान का प्रचार भी हो रहा है। सोवियत सघ के मार्क्सवाद और लेनिनवाद के तरीकों को चीन मे अब अस्वीकार कर दिया गया है। चीन अपने ही ढग का साम्यवाद विकसित कर रहा है।"

"चीन जैसे कम्युनिस्ट देश में इस तरह का परिवर्तन सफल होगा या नहीं ? यह तो आगे की बात है। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि चीन ने यह सब करके बहुत बड़े साहस का परिचय दिया है। वास्तव मे चीन अपने यहाँ अब एक और क्रान्ति ला रहा है। चीन मे स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था का समावेश युगोस्लाविया के ढग का नहीं है। यह उससे कुछ अलग है। युगोस्लाविया ने भी कम्युनिस्ट अर्थ-व्यवस्था की रूढ़ियो से हट कर अपने कारखानो में कुछ प्रयोग किए थे। लेकिन नए सुधारों के अन्तर्गत चीन मे जो प्रयोग होने वाले हैं वे बिल्कुल ही नए हैं। पार्टी में ऐसे बहुत से लोग हैं जो इस उदारवाद को माओवाद के विपरीत मानते है। लेकिन वास्तव में चीन पर से माओ का प्रभाव अब समाप्त होता जा रहा है। चीन का युवा वर्ग इस समय काफी भ्रमित है, कुछ तो माओ को चीन के लिए अब भी प्रासगिक मानते हैं और कुछ माओवाद को बीते जमाने की बात मानने लगे है। लोगों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता देने के लिए चीन के सविधान में भी परिवर्तन की सम्भावनाएँ हैं। चीन के वर्तमान नेता इस बात को भी अच्छी तरह समझते और जानते हैं कि चीन पर पश्चिम का प्रभाव इस समय पहले से कही अधिक है। माओ के जमाने से कहीं अधिक चीन के लोग आज स्वतन्त्रता और स्थिरता के लिए उत्सुक हैं। मानवाधिकारों के प्रति भी चीन के लोगों का आकर्षण बढ़ता जा रहा है। जो देश इतने लम्बे समय से कम्युनिस्ट तानाशाही मे रहा हो उसमें इस तरह के परिवर्तन आना दुनियाँ के लिए बहुत ही महत्त्व रखता है निश्चय ही यह परिवर्तन किसी बाहरी प्रभाव का नहीं बल्कि लोगो की अपनी आकांक्षाओं का परिणाम है।"

"नई सरकार बनने के बाद चीन के प्रधान मन्त्री जाओ जियांग ने स्पष्ट कर दिया है कि चीन राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली में परिवर्तन ला रहा है। नए मन्त्रिमण्डल पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए श्री जाओ ने कहा कि राजनीतिक क्षेत्र मे पार्टी की नेतृत्व प्रणाली मे बदला जा रहा है, जिससे कि सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोका जा सके। उनका विचार है कि चीन तथा अन्य देशों के अनुभवों से यह स्पष्ट होता है कि सत्ता के एक जगह केन्द्रित होने से लोकतन्त्र के

लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। श्री जाम्रो ने ये विचार प्रधान मन्त्री पद का कार्यभार सम्भालने के बाद ही व्यक्त किए हैं।"

"इसी प्रसंग मे श्री जाम्रो ने यह भी स्पष्ट किया है कि चीन की बुनियादी नीतियों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। सोवियत संघ के सन्दर्भ में नए प्रधान मन्त्री ने संक्षेप में बस इतना ही कहा है कि रूस अपना सबसे अधिक ध्यान यूरोप की ओर दे रहा है और देता रहेगा। तीसरे युद्ध की सम्भावनाओं का जिक्र करते हुए श्री जाम्रो ने चीन का यह विचार ही दोहराया है कि जब तक दुनिया में बड़ी शक्तियाँ रहेंगी, तीसरे युद्ध की बराबर सम्भावनाएँ रहेंगी। सोवियत संघ और चीन की सीमाओं पर दोनों देशों के वर्तमान तनाव के बारे में नए प्रधान मन्त्री ने स्पष्ट कर दिया है कि इन सीमाओं पर लम्बे समय तक युद्ध करते रहने की हम मे क्षमता है। हम अपनी रक्षा के लिए तत्पर हैं। अगर कोई चीन पर हमला करने की बात सोचता है तो उसे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।"

चीन की विदेश नीति का मूल्यांकन
(Evaluation of China's Foreign Policy)

चीन की विदेश नीति ने चाहे कितने ही रूप बदले हों, पर सिद्धान्तों की आड़ मे उसके सकीर्ण राष्ट्रीय स्वार्थों का घृणित रूप बराबर उजागर होता रहा है। रूस और भारत ने चीन को हर तरह अपना सहयोग और समर्थन दिया, लेकिन चीन ने दोनो को ही शत्रु-राष्ट्रों की श्रेणी मे ला पटका है। दोनो ही देशों के साथ चीन ने मनमाने ढग से सीमा-विवाद उत्पन्न किए हैं और आज भी चीनी विदेश नीति का केन्द्र-विन्दु यही है कि रूस और भारत के प्रभाव को किसी भी उचित-अनुचित उपाय से क्षीण किया जाए। अमेरिका जो चीन का शत्रु नम्बर एक था, आज चीन के निकट है और चीनी नेतृत्व मित्रता अर्जित कर साम्यवादी शिविर का नेतृत्व अपने हाथ में लेने को प्रयत्नशील है। चीन पूर्वी एशिया में अमेरिका की सैनिक उपस्थिति को अस्थायी मानता है और उसको अपना साथी बनाकर जापान तथा रूस की उपस्थिति को पूर्वी एशिया में असम्भव बनाने की चेष्टा मे है। अमेरिका यह सकेत दे चुका है कि वह दक्षिण-पूर्वी एशिया से हटकर वहाँ चीन की उपस्थिति के अधिक पक्ष में है। एशिया में चीन ऐसी भूमिका निभा रहा है, जिससे उसका दबदबा एशिया के साथ-साथ वे सभी देश अनुभव करें जिनकी सीमाएँ चीन से मिलती हैं अथवा जहाँ व्यापारिक क्षेत्र में उसकी धाक है। एशियायी देशों के अतिरिक्त चीन की दृष्टि अफ्रीका के विभिन्न देशों और अरब राष्ट्रों पर भी है। वह इनको अपनी दोस्ती के दायरे मे लाकर भारत को 'अछूत' का स्तर देने के लिए प्रयत्नशील है, किन्तु एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देश चीन को समझ चुके हैं। वे जानते हैं कि चीनी नीति भारत सहित अन्य एशियायी-अफ्रीकी देशो के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की रही है जिससे न केवल एशिया और अफ्रीका में एकता को आघात पहुँचा है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में इन महाद्वीपों के देशों के प्रति महाशक्तियों को मनमाना खेल खेलने का प्रोत्साहन भी मिला है। माओपंथी नेतृत्व यह सोचता रहा

है कि 'उसकी' कथनी और करनी का अन्तर रहस्य ही बना रहेगा और वह एशिया की आँखों में धूल झोंकता रहेगा। मगर 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रपंचपूर्ण राजनीति के इस खेल को जाग्रत एशिया के देश अब अच्छी तरह समझ गए हैं और माओपंथी चीन का सही चेहरा यानी उसका प्रसारवादी स्वरूप उजागर हो गया है।

चीन की विदेश नीति मूलतः शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास नहीं रखती। उसने सोवियत संघ और अमेरिका के बीच राजनीतिक-विग्रह खड़ा करने का जो आन्दोलन काफी समय से शुरू कर रखा है उसमें भी अभी कोई अन्तर नहीं आया है। वह इन दो महाशक्तियों के बीच किसी भी तरह का सद्भाव स्थापित न होने देने के लिए कृत संकल्प है। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद में फूट डालने की नीति का भी चीन ने परित्याग नहीं किया है। इस तरह वह पूरे साम्यवादी जगत् में विघटन की प्रक्रिया का अग्रदूत बना हुआ है।

इन सब विरोधी और विध्वंसक प्रवृत्तियों के बीच आशा की किरण यही है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तेजी से परिवर्तन आ रहा है एवं महाशक्तियाँ सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानने लगी हैं चीनी नेतृत्व अपनी कालिमा को धोने के लिए सोच-विचार करने लगा है। और यह भी समझ गया है कि भारत राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक दृष्टि से निरन्तर शक्तिशाली बनता जा रहा है, अतः उसके प्रति रचनात्मक रवैया अपनाना ही उचित होगा। फिर भी चीन के अभी तक के व्यवहार को देखकर कोई निश्चित भविष्यवाणी करना कठिन है। इस सम्बन्ध में एक राजनीतिक-समीक्षाकार का यह कहना ठीक ही है कि—

"हाल मे चीन ने पड़ौसी देशों से सम्बन्ध सुधारने का जो अभियान आरम्भ किया है उससे यह निष्कर्ष निकालना सम्भवतः ठीक नहीं होगा कि चीन बदल गया है। उसका यह आचरण उस दबाव का परिणाम है जो भारतीय उप-महाद्वीप और हिन्द-चीन में राजनीतिक घटनाओं ने उस पर डाला है। बंगलादेश, भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका में सत्ता परिवर्तन, पड़ौसी देशों से सम्बन्ध सुधारने का भारत का ठोस प्रयास और कम्बोडिया-वियतनाम सीमा-संघर्ष (और फिर वियतनाम-चीन सीमा संघर्ष) ने चीन की उस तन्द्रा को भंग किया है जिसमे रहते वह यह मान कर चल रहा था कि एक बार महाशक्ति बन जाने के बाद उसके समर्थक देशों की जमात आपसे आप जुड़ जाएगी और वह समग्र एशिया के नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो सकेगा। वह जिनका स्वयंभू नेता बनना चाहता है वे देश अब किसी की दादागीरी बर्दाश्त करने के लिए तैयार नही हैं—अमेरिका और सोवियत संघ की भी नही तथा चीन की भी नहीं—समानता का व्यवहार ही उनके बीच सम्बन्ध का सुदृढ़ आधार बन सकता है, राजनीतिक तथा आर्थिक दबाव नहीं।"

Appendix-1

शान्ति, मित्रता और सहयोग सन्धि

(अगस्त, 1971)

"दोनों के बीच वर्तमान सच्ची मित्रता के सम्बन्धों को सुदृढ़ और सुविस्तृत करने की इच्छा रखते हुए,

इस विश्वास से कि मित्रता और सहयोग के अधिक विकास से दोनों राज्यों के मौलिक राष्ट्रीय हित तथा एशिया और सारे संसार में सुदीर्घ शांति को पोषण मिलता है,

विश्व शान्ति और सुरक्षा की दृढ़ता को सर्वधित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के सतत् प्रयास एव उपनिवेशवाद के अवशेषों को पूर्णतया एवं अन्तिम रूप से समाप्त करने के निश्चय से,

विभिन्न राजनीतिक एव सामाजिक प्रणालियों वाले राज्यों के बीच शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व और सहयोग के सिद्धान्तों में अटूट विश्वास रखते हुए,

इस पूर्ण विश्वास के साथ कि ससार की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ सघर्ष द्वारा न सुलझाई जाकर मात्र सहयोग द्वारा ही सुलझाई जा सकती हैं,

संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टर के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के अनुसरण के संकल्प की पुनः पुष्टि करते हुए,

एक ओर भारत गणतन्त्र और दूसरी ओर सोवियत समाजवादी गणतन्त्र संघ ने वर्तमान सन्धि करने का निश्चय किया है, जिसके लिए निम्नांकित पूर्णाधिकारी नियुक्त किए गए हैं—

भारत गणतन्त्र की ओर से श्री सरदार स्वर्णसिंह, विदेश मन्त्री

सोवियत समाजवादी गणतन्त्र की ओर से श्री अ. अ. ग्रोमिको, विदेश मन्त्री

जिन्होने अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किए हैं और जिनको शुद्ध और सही माना गया है, वे निम्न प्रकार से सहमत हुए हैं—

अनुच्छेद एक—महान् सविदाकारी पक्ष निष्ठापूर्वक घोषणा करते हैं कि दोनों देश और उनकी जनता के बीच स्थायी शान्ति और मित्रता स्थापित रहेगी। प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष की स्वतन्त्रता, प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान करेगा तथा दूसरे के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप नही करेगा। महान् सविदाकारी पक्ष सच्ची मित्रता, अच्छी प्रतिवेशिता और व्यापक सहयोग के वर्तमान सम्बन्धो को उपर्युक्त सिद्धान्तों तथा समानता एवं पारस्परिक लाभ के आधार पर विकसित और सुदृढ़ करते रहेंगे।

अनुच्छेद दो—प्रत्येक सम्भव प्रकार से दोनों देशों की जनता के लिए स्थायी शान्ति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने में योगदान की इच्छा से प्रेरित होकर महान्

संविदाकारी पक्ष अपने इस संकल्प की घोषणा करते हैं कि वे एशिया और समूचे संसार में शान्ति स्थापित रखने, शस्त्र-दौड़ को रोकने तथा प्रभावकारी अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अधीन सामान्य एवं सम्पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए, जिनमें आणविक एवं परम्परागत अस्त्र-शस्त्र दोनों शामिल हैं सतत् प्रयास करते रहेंगे।

अनुच्छेद तीन—समस्त राष्ट्र और सभी देशों की जनता की समानता के, चाहे उनका कोई भी धर्म या जाति हो, उच्च आदर्श के प्रति अपनी निष्ठा से प्रेरित होकर महान् संविदाकारी पक्ष उपनिवेशवाद और जातिवाद के सभी रूपों की निन्दा करते हैं और उन्हें पूर्णतया लुप्त कर देने के प्रयास के संकल्प में पुनः आस्था प्रकट करते हैं।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति तथा उपनिवेशवाद एवं जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष करने वाले सभी देशों की जनता की उचित आकांक्षाओं का समर्थन करने के लिए महान् संविदाकारी पक्ष अन्य राज्यों के साथ सहयोग करेंगे।

अनुच्छेद चार—भारत गणतन्त्र सोवियत समाजवादी जनतन्त्र संघ की शान्तिप्रिय नीति का सम्मान करता है जिसका उद्देश्य सभी राष्ट्रों के साथ मित्रता और सहयोग को सुदृढ करना है।

सोवियत समाजवादी जनतन्त्र संघ भारत की गुटमुक्त नीति का सम्मान करता है और इसमें पुनः आस्था प्रकट करता है कि विश्व शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा कायम रखने तथा संसार में तनाव को कम करने में इस नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अनुच्छेद पाँच—विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा को सुनिश्चित करने में गहन अभिरुचि रखते हुए तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग को भारी महत्त्व देते हुए महान् सविदाकारी पक्ष दोनों राज्यों के हितों को प्रभावित करने वाली मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में प्रमुख राजनेताओं के बीच गोष्ठी और विचारों के आदान-प्रदान, दोनो सरकारों के विशेष दूतों तथा सरकारी प्रतिनिधि-मण्डलों की यात्रा एवं राजनयिक माध्यमों के द्वारा बराबर सम्पर्क बनाए रखेंगे।

अनुच्छेद छः—दोनों के बीच आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग को पूरा महत्त्व देते हुए महान् संविदाकारी पक्ष परस्पर लाभकारी एवं व्यापक सहयोग को इन क्षेत्रों मे बराबर सुदृढ़ एवं विस्तृत करते रहेंगे तथा 26 दिसम्बर, 1970 के भारत-सोवियत व्यापार समझौते के अन्तर्गत निकटस्थ देशों के साथ उल्लिखित विशेष व्यवस्था एवं वर्तमान समझौते के अधीन समानता, पारस्परिक लाभ तथा अति अनुगृहीत राष्ट्र के प्रति व्यवहार के आधार पर व्यापार, परिवहन और संचार का विस्तार करेंगे।

अनुच्छेद सात—महान् संविदाकारी पक्ष विज्ञान, कला, साहित्य, शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, पर्यटन और खेल के पारस्परिक सम्बन्ध एवं सम्पर्क और अधिक विकसित करेंगे।

अनुच्छेद आठ—दोनों देशों के बीच विद्यमान परम्परागत मित्रता के अनुसार महान् सविदाकारी पक्षों का प्रत्येक पत्र निष्ठापूर्वक घोषित करता है कि वह किसी भी ऐसे सैनिक संगठन मे, जो दूसरे पक्ष के विरुद्ध हो, न सम्मिलित होगा और न भाग लेगा।

प्रत्येक महान् संविदाकारी पक्ष वचनबद्ध है कि वह एक दूसरे पक्ष पर किसी प्रकार का आक्रमण नही करेगा तथा अपने क्षेत्र में किसी प्रकार के ऐसे कार्य को नहीं होने देगा जिससे दूसरे पक्ष की सैनिक क्षति होने की आशंका हो।

अनुच्छेद नौ—प्रत्येक महान् संविदाकारी पक्ष वचनबद्ध है कि वह किसी तीसरे पक्ष को, महान् सविदाकारी पक्ष के विरुद्ध शस्त्र सघर्ष मे रत हो, किसी प्रकार की सहायता नही देगा। दोनों मे से किसी पक्ष पर आक्रमण होने या आक्रमण का खतरा उपस्थित होने पर महान् सविदाकारी पक्ष शीघ्र ही परस्पर विचार-विमर्श करेगे ताकि ऐसे खतरे को समाप्त किया जाए तथा दोनो देशों की शान्ति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए समुचित प्रभावकारी कदम उठाए जाएँ।

अनुच्छेद दस—प्रत्येक महान् सविदाकारी पक्ष निष्ठापूर्वक घोषित करता है कि वह किसी भी एक या एक से अधिक राज्यो के साथ कोई भी गुप्त या प्रकट दायित्व अपने ऊपर नही लेगा जो इस सन्धि के प्रतिकूल हों। महान् सविदाकारी पक्ष का प्रत्येक पक्ष यह भी घोषित करता है कि उसका किसी राज्य या राज्यो के साथ न कोई ऐसा वर्तमान दायित्व है और न भविष्य मे वह कोई ऐसा दायित्व लेगा जिससे दूसरे पक्ष को किसी प्रकार की हानि हो सकती हो।

अनुच्छेद ग्यारह—यह सन्धि बीस वर्षों की अवधि के लिए की गई है और महान् सविदाकारी पक्षो मे से एक पक्ष सन्धि के समाप्त होने के बारह महीने पूर्व दूसरे पक्ष को नोटिस देकर सन्धि को समाप्त करने की इच्छा घोषित न करे तो प्रत्येक पाँच वर्ष की अवधि के बाद स्वतः इसकी अवधि बढ़ जाएगी। यह सन्धि अनुसमर्थन के अधीन होगी और अनुसमर्थन के दस्तावेज के आदान-प्रदान के दिन से लागू होगी। दस्तावेजों का आदान-प्रदान हस्ताक्षर हो जाने के एक महीने के भीतर मास्को में होगा।

अनुच्छेद बारह—महान् सविदाकारी पक्षों के बीच इस सन्धि के किसी एक या एकाधिक अनुच्छेद की व्याख्या मे किसी प्रकार का अन्तर उत्पन्न होने पर शान्तिपूर्ण उपायो, पारस्परिक सम्मान और सूझबूझ द्वारा द्विपक्षीय ढंग से उसे निपटाया जाएगा।

उपर्युक्त पूर्णाधिकारियों ने वर्तमान सन्धि पर हिन्दी, रूसी और अंग्रेजी मे हस्ताक्षर कर दिए हैं, इन पर उन्होंने अपनी मोहर लगा दी है और इस सन्धि के सभी के सभी पाठ समान रूप से प्राधिकृत हैं।

आज नई दिल्ली मे ईसवी सन् 1971 के अगस्त मास के नवें दिन तदनुसार शक् संवत् 1893 के श्रावण मास के अठारवें दिन यह सन्धि सम्पन्न हुई।"

Appendix–2

नाटो : एक अनिवार्य बुराई

नाटो, सेण्टो, वारसा सन्धि आदि सैन्य संगठन लम्बे अर्से से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को राष्ट्रों कीवि देश-नीतियों से प्रभावित करते रहे है और अनिवार्य बुराई के रूप में विद्यमान है। जनवरी 1979 के दिनमान मे विशेष रूप से नाटो को लेकर एक यथार्थवादी और विचारोत्तेजक लेख लिखा गया है जो इस प्रकार है—

"फ्रांस के नए वर्ष के आरम्भ मे अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन और पश्चिमी जर्मनी के राज्याधिकारियो की जो दो दिवसीय (5–6 जनवरी, 1979) बैठक हुई वह यद्यपि उत्तर अटलान्टिक सैन्य संगठन : नाटो की औपचारिक बैठक नहीं थी तथापि उसमे यूरोपीय सुरक्षा, ईरान का भविष्य और चीन की विश्व राजनीति मे भावी भूमिका जैसे प्रश्नों को जो महत्त्व दिया गया उससे यह स्पष्ट हो गया कि बैठक में किसी न किसी अर्थ मे नाटो के इर्द-गिर्द चर्चा हुई। जिम्मी कार्टर, जेम्स केलेहन, हेल्मूट शिमडट और जिस्कार द एस्तें निश्चय ही प्रीतिभोज पर जमा नही हुए। अमेरिका और सोवियत संघ के बीच निकट भविष्य में ही होने वाले सामरिक अस्त्र परिसीमन समझौते, ईरान की उथल-पुथल, चीन-अमेरिका का दौत्य सम्बन्ध चीन को शस्त्रास्त्र बेचने की कुछ नाटो सदस्यो की उत्सुकता और वारसा सन्धि संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए हाल ही में सोवियत संघ द्वारा उठाए गए कदमो ने पश्चिमी गुट को सारी स्थिति पर पुनर्विचार करने और पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा व्यवस्था का पुनरावलोकन करने के लिए प्रेरित किया और चार बड़ों की बैठक सम्भवतः उसका ही परिणाम थी।

नाटो पिछले तीन दशक से पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा व्यवस्था की एक सुदृढ़ इकाई रहा है। पूर्वी यूरोप में वारसा सन्धि सगठन की उपस्थिति से उसकी अहमियत को कभी कम नही होने दिया। पिछले कुछ वर्षों में यह अहसास अलबत्ता हुआ था कि चूंकि नाटो के कुछ सदस्य देश अपना-अपना राग अलापने लगे हैं (फ्रांस तो एक बार नाटो से पूरी तरह हट भी गया)। अतः उसका कभी भी विघटन

सकता है जब तक कि वारसा सन्धि संगठन बना हुआ है और यही बात वारसा सन्धि पर भी लागू होती है। ये दोनो ही सगठन अपने सदस्य देशों पर भारी आर्थिक बोझ बने हुए हैं और उनमे से कई देश इस बोझ को उतार फेंकना चाहते हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। किन्तु ये दोनो सगठन एक ऐसी बुराई है जिनसे मुक्ति नहीं पाई जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के नए सन्दर्भ मे ये बुराइयाँ और भी अनिवार्य हो उठी हैं।

अमेरिका और सोवियत संघ एकाधिक बार यह घोषणा कर चुके हैं कि सामरिक अस्त्र परिसीमन समझौता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः उनमें अन्य मुद्दों को बाधक नहीं बनने दिया जाएगा। इस घोषणा पर उन्होंने प्रत्यक्षतः अमल भी किया किन्तु परोक्षतः मोर्चाबन्दी भी करते रहे, जिसका दायरा उत्तरोत्तर व्यापक होता गया और नए वर्ष में यूरोप से लेकर अफ्रीका तक उसका विस्तार हो गया। सोवियत सघ तो क्यूबा के माध्यम से एक अर्से से अफ्रीका मे दखल दे रहा था। 1978 में चैड, जेयरे सोमालिया आदि मे फ्रांस और बेल्जियम ने अपनी समर्थक सरकारों की सुरक्षा के लिए न केवल वहाँ अपनी सेनाएँ भेजी बल्कि नाटो से हस्तक्षेप करने का आग्रह भी किया। अमेरिका और पश्चिमी जर्मनी इसके लिए सहमत भी हो गए किन्तु ब्रिटेन तथा अन्य सदस्य देशो ने इसका विरोध किया। फलतः नाटो अफ्रीका मे खुला हस्तक्षेप नही कर पाया।

अब ब्रिटेन ने चीन को हथियार बेचने की इच्छा व्यक्त की है। उसका तर्क है कि चीन के पास आधुनिक शस्त्रास्त्र होने पर सोवियत संघ अपनी पूर्वी सीमा पर सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए पूर्वी यूरोप से अपनी सेना के एक बड़े भाग को हटाने के लिए विवश हो जाएगा और इस प्रकार पश्चिमी यूरोप के लिए खतरा कम होगा और शस्त्रास्त्र बेचने वाले देशो को अपने यहाँ बेरोजगारी पर काबू में सहायता भी मिलेगी। तर्क अपनी जगह पर सही जान पड़ता है परन्तु वास्तविकता यह है कि पश्चिमी यूरोप अपनी बला दक्षिणपूर्वेशिया के माथे मढ़ना चाहता है। इसे नाटो की गतिविधियो के विस्तार का सकेत भी माना जा सकता है। सैण्टो रिक्तता को भरने का उत्तरदायित्व भी अन्ततः नाटो को ही उठाना पड़ेगा। उसका पूर्वी-यूरोप पर जितना अधिक दबाव बना रहेगा, अन्य क्षेत्रो मे पश्चिमी गुट के लिए सोवियत सघ की चुनौती उतनी ही कमजोर होगी। कमोवेश वारसा सन्धि पर भी यही बात लागू होती है। इसीलिए सोवियत सघ उसे उत्तरोतर सुदृढ बनाने मे लगा हुआ है। उसकी नौसेना आधुनिक नौसैनिक बेडे की निर्माण क्षमता मे, विशेषकर परमाणु युद्ध क्षमता मे उल्लेखनीय वृद्धि होगी। नाटो इससे चिन्तित है और वह भी अपनी नौसैनिक शक्ति बढाने को उत्सुक है। वह अपनी राडार व्यवस्था मे सुधार के लिए प्रयत्नशील है ताकि वह पश्चिमी यूरोपीय देशों को युद्ध की चेतावनी और भी शीघ्र दे सके। नाटो के द्वितीय विश्वयुद्ध के समय के पुराने टैंको को भी बदला जा रहा है और अमेरिका अपने नए श्रेष्ठ टैंक विरोधी विमान ए-10 भी नाटो हवाई बेड़े मे शामिल कर रहा है।

ये सब निश्चय ही ऐसे संकेत हैं जिनसे दोनों पक्षों के मन्सूबों का पता चलता है। लगता है कि दोनों ही एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गए हैं जहाँ से वे चाहते हुए भी लौट नहीं पा रहे हैं। किन्तु नाटो और वारसा सन्धि के देश वस्तुतः क्या चाहते हैं यह न पहले कभी स्पष्ट था और न ही अब है। यद्यपि वर्तमान परिस्थितियों में उनके बीच किसी भारी संघर्ष की सम्भावना नहीं है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका अस्तित्व अभी काफी समय तक बना रहेगा। राजनीतिक, कूटनीतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारणों से अभी हथियार दौड़ खत्म होने वाली नहीं है उसकी गति भले ही मन्द पड़ जाए, और इस दौड़ के रहते सैन्य संगठन भी, अनिवार्य बुराई के रूप में ही सही, अस्तित्व में बने रहेंगे।



Appendix-3

यूरोपीय संसद, जून 1979 : यूरोप के एकीकरण की ओर कदम

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से पश्चिमी यूरोप आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रो मे एकीकरण की दिशा मे बढ रहा है। उसका अन्तिम लक्ष्य यूरोप का राजनीतिक एकीकरण है। वह यूरोपीय संसद द्वारा लक्ष्य प्राप्त कर लेना चाहता है। 17 मार्च, 1948 को आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में सयुक्त रूप से कार्य करने के लिए ब्रूसेल्स मे ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैण्डस, बेल्जियम और लक्जमबर्ग के विदेश मन्त्रियों ने 50 वर्ष की एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए थे। 20 दिसम्बर, 1950 को पश्चिमी देशो के रक्षा सगठन को उत्तर अटलान्टिक सन्धि सगठन का रूप दे दिया था। फिर 28 सितम्बर से 3 अक्तूबर, 1954 तक लन्दन मे एक समझौता हुआ था जिसमे बेल्जियम, कनाडा, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, इटली, नीदरलैण्ड, लक्जमबर्ग और ब्रिटेन तथा अमेरिका के प्रतिनिधि मौजूद थे। इस सम्मेलन मे ही तय किया गया कि पश्चिमी देशो के एकीकरण के लिए ब्रूसेल्स सन्धि मे फेडरल जर्मनी और इटली को भी शामिल कर लिया जाए। इस प्रकार यूरोपीय एकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई फिर 1948 मे कांग्रेस ऑफ यूरोप के नाम से एक सम्मेलन भी हुआ जिसमे बड़े-बड़े कोई 26 यूरोपीय देशो ने यूरोपीय असेम्बली सहित एक सयुक्त यूरोप के निर्माण का निश्चय किया। संयुक्त यूरोप की दिशा मे इस समय एक यूरोपीय संसद काम कर रही थी। जिसके दो सौ से अधिक सदस्य थे लेकिन इसके अभी कुछ सीमित अधिकार थे। जून, 1979 मे प्रत्यक्ष चुनावों द्वारा यूरोपीय ससद की विधिवत स्थापना करके यूरोप के एकीकरण की दिशा मे एक ठोस कदम उठाया गया है। इस यूरोपीय संसद का विवेचनात्मक विवरण 27 जून, 1979 के दैनिक हिन्दुस्तान मे 'विशालाक्ष' के एक लेख मे दिया गया है, जो इस प्रकार है—

"आम चुनावों पर आधारित 410 सदस्यीय यूरोपियन ससद की स्थापना विश्व की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इसे विश्व सरकार की ओर एक उल्लेखनीय कदम कहा जा सकता है। कम से कम कभी विश्व ससद बनी तो यूरोपियन संसद उसके लिए नमूने का काम देगी।

पर यहाँ यह भी सही है कि अभी यह संसद केवल बड़ी शक्तियो व एशियाया देशों के मध्य एक शक्ति बनने के लिए बनाई गई है। कुछ दशक पूर्व तक जहाँ रूस व अमेरिका विश्व पर एकछत्र राज कर रहे थे वहाँ पूर्ण विकसित और समर्थ इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि की अविकसित देशो की लूट का अगाध रूप मे उपयोग

करने में समर्थ थे। पर बांडुंग सम्मेलन के बाद बने निर्गुट देशों के गुट या अफ्रीकी एकता संगठन व अरब राष्ट्रों के गुटों के अस्तित्व में आने से इन यूरोपीय देशों के लिए यह सब सम्भव नहीं रहा है। फलतः मुद्रा-स्फीति, बेकारी व असन्तोष के चिह्न उनमें दिखाई देने लगे हैं। इन देशों के 80 लाख बेरोजगार युवक इनका प्रमाण हैं। यूरोपियन संसद का गठन इसी दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है जिससे राजनीतिक, आर्थिक व प्रतिरक्षा की दृष्टि से ये देश एकजुट होकर काम कर सकें एवं विश्व पर छाए रहने में सफल हों।

यूरोपियन संसद में अभी 9 देश शामिल हुए हैं : इगलैण्ड, फ्रांस, पं० जर्मनी, इटली, बेल्जियम, आयरलैंण्ड, डेन्मार्क, हालैण्ड व लक्जमबर्ग। ग्रीस भी अब इसका सदस्य बन रहा है। 7 जून, को हुए इस संसद के आम चुनाव में 20 करोड़ 18 वर्ष से ऊपर के मतदाताओं में 410 सदस्य चुने गए हैं। उनमें 209 दक्षिणपंथी व तटस्थ दलों के हैं, 112 समाजवादी हैं, 44 साम्यवादी हैं, 23 डिगॉलवादी व शेष अन्य छोटे दलों के हैं, चुनाव के 53·2 प्रतिशत लोगों ने मतदान किया। बेल्जियम व लक्जमबर्ग जहाँ मतदान अनिवार्य हैं, में 80 प्रतिशत ने मतदान किया। शेष मे इटली में 80% ने, पं० जर्मनी मे 66·5 प्रतिशत ने, फ्रांस मे 62 प्रतिशत ने, इगलैण्ड में केवल 30 प्रतिशत ने मतदान किया।

यूरोपियन संसद के प्रत्यक्ष चुनाव की परिकल्पना 22 वर्ष पूर्व 1956 में रोम की सन्धि मे की गई थी। पर इसका प्रारम्भ प. यूरोपियन देशों की संसदों के सदस्यो द्वारा 198 सदस्यो के चयन से हुआ। डिगॉल के पतन के बाद फ्रांस के नए राष्ट्रपति पोम्पिदू ने 1971 मे ग्रीष्म के एक दिन विश्व के नक्शे पर हाथ रखते हुए कहा—देखो, कैसा छोटा यह यूरोप दीख रहा है। फिर भी इसके 30 करोड लोगों ने गत 50 वर्षों में मानव का इतिहास बनाया है। इसके पास क्षमताओं का विश्व का अद्वितीय भण्डार है। जहाँ तक आर्थिक शक्ति की बात है, यदि उत्तरी अमेरिका के बराबर नहीं तो भी रूस से तो हमारी शक्ति कही अधिक ही है। हमारे सामने दो ही विकल्प हैं कि हम या तो बड़ी शक्तियों के सामने झुक जाएँ या प० यूरोप के देशो को मिलाकर उनकी सम्भावनाओ व क्षमताओं को एकजुट करें। इन्ही प्रयत्नो को मैंने पूरा करने का निश्चय किया है।" यों पोम्पिदू से भी पूर्व डिगॉल ने भी अटलान्टिक से यूराल तक यूरोपियन शक्ति के निर्माण की बात कही थी। पर पोम्पिदू की बात अधिक व्यावहारिक थी। पोम्पिदू के साथ प० जर्मनी के चाँसलर बिलीब्रांट व ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री एडवर्ड हीथ भी थे। इस तरह पहली बार प० यूरोपियन एकता की नीव पड़ी। लक्जमबर्ग में इसका कार्यालय रखा गया। पर पहले इस ससद के चुनाव प्रत्यक्ष रूप से किए गए थे। जबकि अब प्रत्यक्ष मत से चुने गए है। इस निर्वाचित ससद की बैठक 17 जुलाई को होगी। प. जर्मनी के बिलीब्रांट इसके अध्यक्ष चुने गए।

अधिकार का अभाव

पर यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि चुनी हुई संसद होने पर भी यह विश्व के लिए केवल दर्शनीय बनी रहेगी या एक प्रभावपूर्ण संसद बनकर एकीकृत जनतन्त्र की ओर ढालने में भी समर्थ होगी। अभी तक जो [illegible]

इसके पास कोई विशेष अधिकार नहीं हैं। यह विश्व में अभी तक एकमात्र ऐसी संसद है, जिसको न कानून बनाने का अधिकार है न सरकार बदलने का। यूरोपियन देशों का अभी तक सबसे प्रभावपूर्ण संगठन रोम की सन्धि के बाद बना, 13 सदस्यीय यूरोपियन इकनामिक कमीशन अर्थात् साझा बाजार आयोग है, जिसका गठन 1958 में किया गया था। यह यूरोपियन देशों के व्यापार का सम्मिलित रूप से नियन्त्रण करता है व यूरोपियन देशों के हित देखता है। यूरोपियन संसद को यह अधिकार जरूर दिया है कि वह इसका बजट रद्द कर दे, पर नया बजट बनाने का उसे अधिकार नहीं है। यूरोपियन साझा बाजार आयोग को भी चाहे तो रद्द कर सकती है, पर दो-तिहाई बहुमत से ही। लेकिन इतना बहुमत मिलना कभी भी इसके लिए सम्भव न होगा। फिर इस आयोग को पूर्णत: रद्द करने का अधिकार है पर आयोग के किसी सदस्य को आयोग से हटाने का अधिकार नहीं है। यूरोपियन-साझा-बाजार आयोग की परिषद् के कार्य में भी यूरोपियन संसद कोई बाधा नहीं डाल सकती है। केवल यह सुझाव दे सकती है। यूरोपियन इकनामिक कमीशन के 9 देशों के प्रधानमन्त्री व राष्ट्रपतियों की शिखर समिति पर इसका कोई दखल न होगा।

पुन: यूरोपियन आर्थिक आयोग के साथ ही उससे सम्बद्ध शक्तिशाली संस्थाएँ कोर्ट ऑफ जस्टिस, यूरोपियन आणविक ऊर्जा समुदाय, यूरोपियन कोयला व इस्पात समुदाय व कृषि मूल्य एवं सहायक मूल्यतन्त्र है। इन संगठनों के हाथ में यूरोपियन संसद को विशेष अधिकार न दिए जाएँ व कम से कम बजट बनाने का अधिकार न दिया जाए, तब तक यह दिखावा ही रहेगा।

यूरोपियन संसद की एक समस्या इसके सदस्यों में आपसी मतभेदों के बने रहने का है। जहाँ चार बड़े राष्ट्रों इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली व प० जर्मनी की इस संसद में 80-81 सीटें रखी गई हैं, शेष 5 छोटे राष्ट्रों की 25-25। चार बड़े राष्ट्र इसका नेतृत्व पाने का यत्न कर रहे हैं। उनकी धारणाएँ भी अलग-अलग हैं। चुनाव अभियान में प० जर्मनी के चांसलर श्मिडट ने इसके राष्ट्रीय संसदों से ऊपर उठाने व यूरोपियन एकता बढ़ाने पर जोर दिया तो फ्रांस के राष्ट्रपति गिस्कार्ड ने इसे यूरोपियन जनमत का एकत्रीकरण बताया। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती थैचर ने इसे साझा बाजार में सुधार के लिए उपयुक्त मंच बनने को कहा। इन सात भाषाओं से प्रकट है कि यूरोपियन संसद का सही विकास आसान बात नहीं होगी। सम्प्रति तो यह अमेरिका के संगठन का प्रतिकात्मक विकल्प व रूस-अमेरिका एवं तृतीय विश्व के देशों के बीच शक्तिशाली आर्थिक कड़ी बनाने के प्रयास को ही प्रतिफलित करने पर केन्द्रित रहेगी। यूरोपियन संसद दो वर्षों में यूरोपियन मुद्रा चलाने पर भी विचार कर रही है।

दूरगामी महत्त्व

पर इस सबके बावजूद और स्थानीय स्वार्थों के होते हुए भी इस प्रयत्न के दूरगामी महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। यूरोपियन इकनामिक कमीशन के अध्यक्ष श्री जैंकिन्स के इस प्रत्यक्ष यूरोपियन जनतन्त्र का अभियान कहा है। सम्भव है विश्व जनतन्त्र के अभियान भी ऐसे ही किसी पैटर्न से जन्म ले सकें।

Appendix—4

हिन्द महासागर और बड़ी ताकतें

हिन्द महासागर के आस-पास के देशों ने बड़ी ताकतों से अनेक बार अनुरोध किया है कि वे इस क्षेत्र को अपने षड्यन्त्रों का केन्द्र न बनाएँ और इसे शान्ति-क्षेत्र बना रहने दें। लेकिन ये बड़ी ताकतें अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र बढाने की होड़ मे बार-बार इस अनुरोध को ठुकरा कर अपना उल्लू सीधा करने की कोशिश करती रही हैं। इजरायल और मिस्र की शान्ति सन्धि तथा अरब देशों द्वारा इस सन्धि का विरोध, ईरान में सत्ता परिवर्तन, अफगानिस्तान की क्रान्ति तथा उसे विफल बनाने की अमेरिका, पाकिस्तान और चीन की साजिशों ने इस क्षेत्र को ताकत आजमाइश का क्षेत्र बना लिया है और इस प्रकार इस क्षेत्र की शान्ति को खतरे मे डाल दिया है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि अमेरिका ने हिन्द महासागर के लिए एक नया समुद्री-बेडा तथा सैनिक तैयार करने का निश्चय किया है। सोवियत सघ के सूत्रों के अनुसार अमेरिका ने हिन्द महासागर के क्षेत्र मे जो ताजा गतिविधियाँ आरम्भ की हैं, उनके कारण उसे भी अपने हितों की रक्षा के लिए कदम उठाना आवश्यक हो जाएगा। स्पष्ट है कि सोवियत संघ हिन्द महासागर की मार्फत ही सुदूरपूर्व के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकता है। सोवियत संघ ने इस क्षेत्र में पांचवें अमेरिकी बेडे की स्थापना पर चिन्ता व्यक्त की है और अमेरिका से अपील की है कि वह हिन्द महासागर के बारे मे पुनः बातचीत आरम्भ करे। सोवियत संघ ने यह आशा भी प्रकट की है कि भारत के विदेशमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी अपनी अमेरिका-यात्रा के दौरान इस प्रश्न पर भी बातचीत करेंगे।

दूसरी ओर अमेरिकी प्रतिरक्षा विभाग ने बताया है कि उसका 'कासटीलेशन' नामक विमान वाहक जहाज हिन्द महासागर से चला गया है और उसका स्थान 'मिडवे' नामक जहाज ने ले लिया है। पता चला है कि हिन्द महासागर क्षेत्र मे अमेरिकी युद्धपोतों की संख्या 14 तक पहुँच गई है। अमेरिका के साम्राज्यवादी इरादों के एक कट्टर समर्थक श्री किसिंगर ने जो अब अमेरिकी सरकार से बाहर है, सुझाव दिया था कि हिन्द महासागर के लिए अलग से एक समुद्री-बेड़ा स्थापित किया जाना चाहिये। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिका अपने महत्त्वपूर्ण सामरिक हितों की रक्षा के लिए जहाँ चाहेगा शक्ति का उपयोग करेगा।

सोवियत सघ अमेरिका की इन गतिविधियों के प्रति सतर्क है और उसने भी अमेरिका प्रतिरक्षा विभाग की एक खबर के अनुसार अपने समुद्री बेड़े का एक

विमान वाहक जहाज 'मिन्स्क' जो आधुनिक हथियारों से लैस है और दुनिया का एक सबसे बड़ा युद्धपोत बताया जाता है, हिन्द महासागर को भेज दिया है। इसके साथ तीन अन्य युद्धपोत भी हैं। 'न्यूयॉर्क टाइम्स' की एक खबर के अनुसार सोवियत संघ हिन्द महासागर में अपनी नौ सैनिक व वैमानिक गतिविधियाँ बढ़ा रहा है। सोवियत संघ ने आधुनिक किस्म के विमान भी सर्वेक्षण-कार्य पर लगा दिए हैं। चीन ने भी अमेरिका से अपनी नई दोस्ती निभाते हुए सोवियत संघ पर आरोप लगाया है कि वह अफगानिस्तान को अपना एक गणराज्य बनाना चाहता है और हिन्द महासागर तक पहुँचने के लिए स्थल मार्ग के रूप में उसका उपयोग करना चाहता है।

दूसरी ओर सोवियत संघ के सूत्रों का कहना है कि उसका दुनिया के किसी भाग में कोई सैनिक अड्डा नहीं है और न ही उसके युद्धपोतों ने इस क्षेत्र में किसी देश को डराया धमकाया है। जहाँ तक हिन्द महासागर का सम्बन्ध है, सोवियत संघ की अमेरिका से बराबरी करना उचित नहीं है।

बड़ी ताकतों की इन गतिविधियों को देखते हुए इस क्षेत्र के उन देशों को जो इसे शान्ति क्षेत्र बनाना चाहते हैं, एक बड़ा आन्दोलन छेड़ देना चाहिए जिससे इनकी हिम्मत पस्त हो जाए और इनके नापाक इरादे पूरे न हो सकें। इसके लिए यह भी जरूरी है कि बड़ी ताकतों की राजनीति में पड़े बिना इस क्षेत्र के देशों को भी हर स्थिति का सामना करने के लिए पूरी सैनिक-तैयारी करनी चाहिए तथा इस क्षेत्र को शान्ति-क्षेत्र बनाए रखने के लिए सोवियत संघ व अमेरिका को आपस में बातचीत चलाने के लिए बाध्य करना चाहिए।



Appendix—5

हथियार हम नहीं छोड़ेंगे

निरस्त्रीकरण दुनिया के बड़े देशों के बीच बहुत समय से बातचीत का मुख्य विषय बना हुआ है। संयुक्त राष्ट्र की ओर से भी निरस्त्रीकरण पर काफी जोर दिया जाता है और महासभा का विशेष अधिवेशन भी इस प्रश्न पर हो चुका है। जिनेवा में निरस्त्रीकरण पर अनगिनत सम्मेलन हुए, जिनमें बड़े देशों के प्रतिनिधियो ने सक्रिय भाग लिया है। शस्त्रो और सेनाओं को सीमित करने के बारे में वीयना वार्ता का लक्ष्य भी निरस्त्रीकरण ही है। ईरान और ईराक की आज की लड़ाई के समाचारों के सन्दर्भ मे भी निरस्त्रीकरण वार्ता शीघ्र ही फिर से शुरू करने का समाचार अभी पिछले सप्ताह मिला है। लेकिन इतने सब प्रयत्नों के बावजूद विश्व का कोई भी देश निरस्त्रीकरण के किसी कार्यक्रम पर आज तक सहमत नहीं हो सका। समय-समय पर विश्व के समाचार-पत्रो मे इस असहमति के कारणो की चर्चा भी होती रहती है। लेकिन गांधीजी के सिद्धान्तो पर आधारित ब्रिटेन की लघु पत्रिका 'पीस न्यूज' ने अपने हाल ही के एक संपादकीय मे निरस्त्रीकरण पर कुछ बुनियादी प्रश्न उठाए हैं। पत्र का कहना है—

लगभग सभी अपने आप को निरस्त्रीकरण का हामी बताते है। जिमी कार्टर हो, मार्ग्रेट थेचर हो या श्री ब्रेझनेव, सभी कहते सुने जाते हैं कि अगर दुनिया में निरस्त्रीकरण हो जाए तो कितना अच्छा हो। निरस्त्रीकरण के लिए विश्व मे जगह-जगह आन्दोलन हो रहे हैं। इन आन्दोलनों का परिप्रेक्ष्य राजनीति अथवा राजनीतिज्ञो से बिल्कुल भिन्न है। इन आन्दोलनों के जरिए निरस्त्रीकरण पर क्या बात की जाती है और क्या कुछ होता है इसका लेखा-जोखा करते समय भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि राजनीतिज्ञो की तरह यहाँ भी बस बात ही होती है, इससे अधिक कुछ नही होता। विश्व मे बढ़ते हुए राष्ट्रीय सैन्यवाद को देखें तो यही लगेगा कि वास्तव मे निरस्त्रीकरण की आकांक्षा किसी भी राष्ट्र मे नहीं है।

इस तरह की दलील में बुनियादी बात को एकदम भुला दिया गया है। आखिर परमाणु टेक्नोलॉजी भी संगठित सैन्य शक्ति का रूप ले सकती है। सैन्यवाद का मुकाबला किए बिना टेक्नोलॉजी को सीमित करने या उसे छोड़ देने से निरस्त्रीकरण कभी हो नही सकता। यदि इस तरह निरस्त्रीकरण का प्रयत्न किया जाए तो कुछ समय बाद वह फिर उभर कर सामने आ सकता है। जब तक संगठित सैन्यवाद को सिद्धान्त रूप मे छोड़ नहीं दिया जाता तब तक हम निरस्त्रीकरण का लक्ष्य प्राप्त

नहीं कर सकते। विश्व के देशो की सरकारें भी अच्छी तरह जानती हैं कि सेनाओं और अस्त्र-शस्त्रो को सीमित करने मात्र से वे निरस्त्रीकरण के निकट नहीं पहुंच सकतीं। वास्तव मे सैन्यवाद छोड़े बिना निरस्त्रीकरण हो नहीं सकता।

निरस्त्रीकरण का आन्दोलन करने वाले, किसी एक देश के अपनी तरफ से निरस्त्रीकरण करने अथवा सब देशों के एक साथ निरस्त्रीकरण करने की बात कर रहे हैं। उनकी समस्या है कि दोनों मे से कौन-सा रास्ता बेहतर है। आज परमाणु युद्ध की तो हम कल्पना भी नही कर सकते। परमाणु युद्ध का विरोध करने वाले लोगों का यह भी तर्क है कि परमाणु बम होने की ही वजह से परमाणु युद्ध नही हो रहा है। लेकिन आज हम देखते हैं कि बड़े देशों की सामरिक नीति में छोटे मोटे परमाणु युद्धों की सम्भावनाएँ मौजूद हैं। परमाणु बम होने के डर से युद्ध न होने का तर्क गलत साबित हुआ है। अब इस प्रश्न पर बड़े देशों के बीच समझौते की सम्भावनाएँ भी कम हो गई हैं। सब देशों के एक साथ निरस्त्रीकरण करने की माँग के सन्दर्भ में हम तो यह देख रहे हैं कि अस्त्र-शस्त्रों की होड़ दुनिया में बढ़ती जा रही है, शायद यह अभी और बढ़ेगी। जब भी किसी एक देश के इकतरफा निरस्त्रीकरण की बात कही जाती है तो यही सवाल उठता है कि यदि सब देश निरस्त्रीकरण नही करते तो उस देश के लिए तो खतरा पैदा हो ही सकता है जिसने इकतरफा निरस्त्रीकरण कर लिया है। यही कारण है कि देश निरस्त्रीकरण के बारे में आज तक किसी समझौते पर नहीं पहुँच सके। नतीजा यह है कि राजनैतिक नेता निरस्त्रीकरण की माँग को सत्ता संघर्ष के मैदान मे ले आते हैं।

असैनिकीकरण की बात करते समय इससे उत्पन्न कुछ तात्कालिक समस्याओं का ध्यान तो रखना ही होगा। आज यह तो बराबर कहा जा रहा है कि विश्व, युद्ध के कगार पर खड़ा है भले ही कोई योजना बना कर युद्ध न हो लेकिन संयोग से युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इसलिए हमें भारी खतरे से बचने के लिए कुछ अल्पकालिक उपाय तो अपनाने ही पड़ेंगे। जब तक हम विश्वव्यापी निरस्त्रीकरण नही अपना लेते तब तक शांति के लिए निरन्तर आन्दोलन करने होंगे और जहाँ ऐसे आन्दोलन हो रहे है, उनका समर्थन भी करना होगा। हम निरस्त्रीकरण के लिए ऐसे उपायों का समर्थन नही कर सकते जो बुनियादी सवालों को एक तरफ रख कर किए जा रहे हैं। हम निरस्त्रीकरण आन्दोलन को दो तरह से प्रभावित कर सकते हैं, एक तो निरस्त्रीकरण किस ढंग का हो और दूसरा यह कि अहिंसक ढंग से हम निरस्त्रीकरण के लिए लोकमत तैयार करें।

(दिनमान, 5–11 अक्तूबर, 1980)

Appendix–6

तृतीय विश्वयुद्ध चल रहा है : रिचर्ड निक्सन व रूस की शक्तिशाली विस्तारवादी नीति, अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों को रूसी खतरा और महायुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय शतरंज पर एक महत्त्वपूर्ण लेख

II श्री देवेन्द्र रस्तोगी ने जून, 1980 के साप्ताहिक हिन्दुस्तान में अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति रिचर्ड एम. निक्सन के उस लेख का सारांश प्रस्तुत किया है जिसमें उनका तर्क है कि 'तीसरा विश्वयुद्ध जारी है'। श्री निक्सन की मान्यता है कि वास्तव में तीसर विश्वयुद्ध द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद ही शुरू हो गया था जो निरन्तर चल रहा है और इसका कभी भी वास्तविक विस्फोट हो सकता है। उन्होने यह मान्यता प्रस्थापित की है कि 'प्रत्यक्ष रूप में तीसरा विश्वयुद्ध नहीं लड़ा जा रहा है, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से सोवियत संघ संसार के हर क्षेत्र मे हमसे (अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रो से) युद्ध मे उलझा हुआ है।' श्री रस्तोगी द्वारा प्रस्तुत सारांश इस प्रकार है—

ईरान तथा अफगानिस्तान की मौजुदा स्थिति को देखते हुए आज हर जागरूक प्रेक्षक यह समझने लगा है कि विश्वयुद्ध का खतरा सिर पर मण्डरा रहा है। वह कब शुरू होगा, अभी निश्चयपूर्वक कोई नही कह पा रहा है। बन्धकों की लम्बी नजरबन्दी और अमेरिकी अपमान के कारण अमेरिका में भी युद्धोन्माद की स्थिति पैदा हो गई है। राष्ट्रपति कार्टर, जिनकी कुछ समय पूर्व तक राजनीतिक साख नष्ट हो चुकी थी, आज अमेरिका में लोकप्रिय हो गए हैं। सैनिक अभियान के असफल हो जाने पर भी आज आम अमेरिकी उनका समर्थक है। लोग लड़ने-मरने की बात करने लगे हैं। भूतपूर्व विदेशमन्त्री हेनरी किसिंगर ने तो राष्ट्रपति कार्टर द्वारा सैनिक अभियान के असफल हो जाने के बाद भी किसी तरह का प्रायश्चित करने की बजाय भविष्य में ऐसे अभियान की पुनरावृत्ति की सम्भावना व्यक्त करना, राष्ट्रपति की महत्ता का द्योतक बताया है। उनका कहना है कि हमे संसार को यह दिखा देना चाहिए कि हम सब कुछ कर सकते हैं। कोरिया, वियतनाम, क्यूबा काण्डों के बावजूद अमेरिका आज भी संसार की सबसे बड़ी महाशक्ति है।

हाल ही में अनेक पश्चिमी देशों की पत्र-पत्रिकाओं ने तीसरे विश्वयुद्ध की सम्भावना पर जब अपने पाठकों के विचार माँगे, तब 67 प्रतिशत पाठकों ने तीसरे विश्वयुद्ध को अवश्यम्भावी बताया। इसी सन्दर्भ में आजकल अमेरिका और पश्चिमी देशों में एक पुस्तक की जबर्दस्त चर्चा है। पुस्तक का नाम है 'द रियल वार' और इसके लेखक हैं भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन। जैसा आपको याद ही होगा कि श्री निक्सन ने चीन को मान्यता दी थी, रूस ने दतान्त सन्धि की थी, लेकिन 'वाटरगेट' काण्ड में बदनाम हो गए थे। उनके विदेशमन्त्री हेनरी किसिंगर को आधुनिक चाणक्य की संज्ञा दी जाने लगी थी। उनकी मान्यता थी कि विदेश-नीति स्वार्थ और शक्ति से संचालित होती है। बाद में उनकी मान्यताओं को आदर्शवाद के कारण अनदेखा कर दिया गया। लेकिन ऐसा समझा जाता है कि वर्तमान प्रशासन अब उनकी नीतियों का अनुसरण कर रहा है।

निक्सन साहब का कहना है कि तीसरा विश्वयुद्ध 1945 में, दूसरा विश्व-युद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद शुरू हो गया था। वे लोग मूर्ख हैं जो इस वास्तविकता को नहीं समझते। 1945 में रूस और मित्रराष्ट्रों ने मिलकर युद्ध जीता था, लेकिन उसके बाद दोनों महाशक्तियों—रूस और अमेरिका में जो टक्कर शुरू हुई, उसमें पश्चिमी देशों की अदूरदर्शिता के कारण लगातार सिलसिलेवार रूस की जीत होती आ रही है। पूर्वी यूरोप के अनेक देशों पर उसका पूर्ण आधिपत्य है। हंगरी व चेकोस्लोवाकिया में हुए रूस विरोधी उपद्रव को उसने अमानवीयता से दबा दिया। उसने अपने प्रभाव और प्रयास से चीन में साम्यवादी सरकार का गठन करा दिया। अफगानिस्तान, वियतनाम, कोरिया में उसने अमेरिकी सैनिक शक्ति व विदेश-नीति को करारी मात दी है। तीसरी दुनिया के देशों में वह सफलतापूर्वक तेजी से घुसपैठ करता जा रहा है, विशेषकर अफ्रीकी देशों में उसका प्रभाव चिन्ता की सीमा तक बढ़ चुका है।

श्री निक्सन का कहना है कि मैंने अपने कार्यकाल में यह प्रयास किया कि संसार में शान्ति और स्थायित्व की एक मजबूत इमारत खड़ी हो, लेकिन ऐसी इमारत शक्ति-सन्तुलन पर ही खड़ी हो सकती है। उसमें अमेरिकी व पश्चिमी देशों की मुख्य भूमिका थी लेकिन मेरे कार्यकाल के बाद पश्चिमी देश मेरी नीतियों को त्यागने से रूस के हाथों करारी मात खा गए। रूस की विस्तारवादी नीति को करारा जवाब देने के लिए हमें फिर से उसी रीति-नीति को अपनाना जरूरी है। समय कम है, फिर भी हमें तुरन्त अपने प्रयास में जुट जाना होगा। वर्तमान परिस्थितियों में आम अमेरिकी के सामने दो आशंकाएँ हैं—

1. यदि वास्तव में तीसरा विश्व युद्ध छिड़ गया तो कहीं हम हार न जाएँ।
2. कहीं ऐसा न हो कि बगैर लड़ाई हुए ही हम हार जाएँ।

श्री निक्सन का कहना है—सोवियत विस्तारवाद के विषय में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए उनका लक्ष्य स्पष्ट है। वे जो करना चाहते हैं उसे कर गुजरते जबकि हम सोचते रह जाते हैं, या सन्देह में ही समय व्यतीत कर देते हैं। रूस

कोई भी काम कर जाए, जैसे अफगानिस्तान, क्यूबा, अंगोला तथा अन्य अनेक देशों में उसने न केवल हथियार दिए, बल्कि उसके सैनिक भी वहाँ मौजूद थे, लेकिन उसकी तरफ कोई अंगुली भी नहीं उठाता, जबकि अमेरिका कहीं सहायता के लिए भी जाता है जैसे लेबनान में, हमें गालियाँ दी जाती हैं। 1974 के बाद के दुनिया के नक्शे पर नजर डालें तो स्पष्ट दिखाई देगा कि दक्षिण पूर्व एशिया, अफ्रीका, मध्य एशिया यहाँ तक कि लातीनी अमेरिका के अनेक देशों में उसकी समर्थक सरकारें बैठी हैं। ईरान मे जो वर्तमान अराजकता की स्थिति पैदा हो गई है, परोक्ष रूप से अन्ततः उसके हक में ही जाएगी। ससार के अनेक देशों में यद्यपि साम्यवाद के नाम से घृणा अवश्य हो सकती है, तथापि रूस की अपेक्षा अमेरिका के प्रति अधिक घृणा है। रूस ने साम-दाम-दण्ड-भेद का सहारा लेकर इतनी सरकारें पलटवा दीं, तो पश्चिम ने क्या कर लिया ? हम सघर्ष की स्थिति में हैं, लेकिन अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए अपनी समर्थित सरकारें बनवाने में हमें कहीं सफलता मिली ?

हर मोड़ पर रूस के हाथों मात

श्री निक्सन ने साम्यवादियों की रणनीति के सन्दर्भ में लेनिन का दृष्टिकोण लिखा है। लेनिन ने कहा था— 'संगीन मार कर देखो, यदि दूसरी तरफ कठोरता मिले, इस्पात-सा टन्न बोले, तो पीछे हट जाओ। यदि फूस मिले तो धड़ल्ले से बढ़ते जाओ।' हमें यह देखना या दिखाना है कि रूस पश्चिम को या पश्चिम रूस को फूस या इस्पात, क्या समझता है। हमारा दुर्भाग्य यह रहा कि 1960 के आसपास इस्पाती तेवर के समर्थक, बौद्धिकता के विरोधी दकियानूसी, पोंगापन्थी ठहराए गए। उस समय के अनुसार बात भी सही थी, क्योंकि मैकार्थी आदि का कहना था कि सभी के खिलाफ मुहिम चलाई जाए। पश्चिम के बौद्धिकों ने नीति-रीति में उदारता आदि को लेकर आन्दोलन किए। इसका परिणाम यह हुआ कि देश प्रेम की भावना मूर्खता ठहराई गई, सरकार के खिलाफ आन्दोलन चलाए गए। इस प्रकार बंटाधार हो गया। इन आन्दोलनकारियों की माँग थी कि पश्चिमी देशों को निःशस्त्रीकरण कर शान्ति का मार्ग प्रशस्त करने में पहल करनी चाहिए, तभी दूसरा पक्ष भी उसका अनुसरण करेगा। आज सभी पश्चिमी राष्ट्रों को इसका परिणाम भुगतना पड़ रहा है। हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हर मोड़ पर रूस के हाथों मात खाते जा रहे हैं, क्योंकि यह विचार ही मूर्खतापूर्ण है कि हमारे घर तथा बाहर अर्थात् देश और विदेश में भी अपने आप सब ठीक हो जाएगा। आवश्यक यह है कि हम स्वयं कुछ करने से पहले दूसरों को आंकें, उनकी कूटनीति समझें। यदि हम अब भी नहीं चेते तो इस सदी के समाप्त होते-होते पश्चिमी राष्ट्रों का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। हम आर्थिक, सैनिक व तकनीकी दृष्टि से सम्पन्न हैं, हमारे पास विजय प्राप्त करने के लिए साजो-सामान भी है। इससे हम अपनी आजादी को बचाए रख सकते हैं, बड़ी लड़ाई को टाल सकते हैं, लेकिन इन सब के लिए इच्छा शक्ति, दृढ़ सकल्प की जरूरत है। हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट होना चाहिए। हम मे छापामार युद्ध लड़ने की क्षमता, योग्यता तथा सैन्य बल की आवश्यकता है और यही हमारे पास नहीं है। आज फिर से वही स्थितियाँ पैदा हो गई हैं जो द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व थीं।

एक राष्ट्रीय संकल्प की अपेक्षा

श्री निक्सन का कहना है कि किसी भी काम को करने में राष्ट्रीय संकल्प बड़ी महत्वपूर्ण चीज है। यदि प्रतिद्वन्द्वी पर यह उजागर हो जाए कि उसने कोई गलत काम किया, तो उसके विरुद्ध ऐसा होगा, तब वह कोई काम करने से डरेगा। लेकिन आज पश्चिमी देशों में 'राष्ट्रीय संकल्प' का अभाव है। छोटी-छोटी बातों को तूल देना हमारी आदत बन गई है। फलतः कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। वाटरगेट, वियतनाम में हार इसके उदाहरण हैं। ऐसी बातों से नैतिक बल गिरता जा रहा है।

श्री निक्सन के अनुसार आज क्रान्ति के प्रति संसार में रूमानी भावना व्याप्त है। यद्यपि जहाँ भी क्रान्ति हुई है, वहाँ का आदमी कितना दुखी है यह सभी जानते हैं, फिर भी क्रान्ति की रूमानियत की व्याख्या जोर-शोर से की जा रही है। लिकन स्टीफन नामक एक व्यक्ति ने 1919 में रूसी क्रान्ति को महती घटना बताते हुए कहा था कि उसने संसार का भविष्य देख लिया है। उसके बाद चीन में साम्यवादियों द्वारा सत्ता हथियाने और क्यूबा में सोवियत समर्थक सरकार बनने पर सब ने वाह वाह की, लेकिन किसी ने पूर्वी यूरोप की जनता पर (हंगरी, चेकोस्लोवाकिया) होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध कुछ नहीं कहा। मजे की बात तो यह है कि पश्चिम के खुले वातावरण में साँस लेने वाले लोग सोवियत नीति का प्रचार करते हैं। यदि कोई उन देशों की तानाशाही, देश-प्रेम और अनुशासन की बात करता है, तो उसे दक्षिण पन्थी और दकियानूसी करार दे दिया जाता है। यदि लोकतन्त्र समाप्त हो जाता है, तो बुद्धिजीवी ही कहाँ रहेंगे। अप्रैल, 78 में सोवियत संघ के पहली बार अफगानिस्तान में हस्तक्षेप करने पर 'न्यूयार्क टाइम्स' ने लिखा—'हमें ठण्डे दिमाग से काम लेना चाहिए।' और ठण्डे दिमाग से काम लेने का परिणाम यह निकला कि आज अफगानिस्तान पर रूस का नियन्त्रण है। यदि हमने उसी समय रूस के विरुद्ध कोई कार्यवाही की होती, तो आज परिस्थिति कुछ और ही होती। इस घटना के बाद एक पाकिस्तानी अधिकारी ने अपने अमेरिकी दोस्त से कहा—हम तो हमेशा से यह जानते थे कि दुनिया अमेरीकियों के बस की नहीं रही। रूस हमारे देश के टुकड़े-टुकड़े करने पर लगा है। लेकिन खेल आपकी समझ में ही नहीं आ रहा। आज जो कुछ रूस अफगानिस्तान में कर रहा है, वह जारशाही की विस्तारवादी नीति के अन्तर्गत ही हो रहा है। यह साम्यवादी विचारधारा के अन्तर्गत नहीं है। रूस अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हर हथकण्डा काम में ले सकता है—वह हथियार देता है, सलाहकार देता है, सैनिक देता है, जबकि हम केवल आर्थिक सहायता या थोड़े बहुत हथियार देते हैं। हमारे हथियारों का सारे संसार में डंका पीट दिया जाता है जबकि रूसी कार्यवाही की सूचना तब मिलती है, जब सरकार पलट दी जाती है। रूस और उसके समर्थक इसे जनक्रान्ति ठहराते हैं। यूरोप और एशिया में 21 देश ऐसे हैं, जिनसे रूस और उसके साथी साम्यवादी देशों की सीमाएँ मिलती हैं। उनमें भी साम्यवादी घुसपैठ की कोशिश

कर रहे हैं। और जो तरीका उन्होंने अपनाया है, उससे परमाणु युद्ध की लड़ाई लड़े बगैर वह जीत रहे हैं।

रूस आगे है

श्री निक्सन ने लिखा है, आज स्थिति यह है कि परम्परागत क्षेत्र में—अस्त्र-शस्त्र और सैन्य बल में—सोवियत संघ पश्चिमी देशों से बहुत आगे बढ़ गया है। क्यूबा व लातीनी अमेरिकी देशों जैसे सीमित युद्धों के चलते रहने से सोवियत संघ को बहुत लाभ होता है। यदि पश्चिमी देशों ने विशेषकर अमेरिका ने अपना सैन्य-व्यय नहीं बढ़ाया, तो 1985 तक गैर-परम्परागत क्षेत्र में भी वह हमसे आगे बढ़ जाएगा। हमारी निराशा के लिए यही काफी है। आवश्यकता इस बात की है कि शक्ति के साथ-साथ हम अपनी कमजोरियों की तरफ भी ध्यान दें। जैसे रूस पश्चिमी देशों की कमजोरी का लाभ उठाता है, उसी प्रकार हमें भी रूस की कमजोरियाँ खोज कर उनका फायदा उठाना चाहिए।

अपने इस दृष्टिकोण के प्रमाण में श्री निक्सन ने लिखा है—आज साम्यवादी खेमा विभाजित है। चीन, जो संसार का सबसे बड़ा साम्यवादी देश है, उससे रूस की दुश्मनी है। इन दोनों देशों की एक बहुत बड़ी सीमा मिलती है, जहाँ आए दिन झड़पें होती रहती हैं। विश्व के हर मंच पर चीन रूस का विरोध कर रहा है। चीन के लोग जितने समर्पित (डेडीकेटेड) हैं, उतने संसार में कहीं नहीं। चीन को अपनी अर्थ-व्यवस्था सुधारने के लिए आर्थिक मदद चाहिए। यद्यपि हम यह जानते हैं कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न चीन हमारे लिए खतरा बन सकता है लेकिन हमें उसकी सहायता करनी चाहिए (दुश्मन का दुश्मन, हमारा दोस्त)। इसके अतिरिक्त साम्यवाद की पोल-पट्टी खुल चुकी है। अब सब समझते हैं कि इन देशों में साम्यवाद नहीं बल्कि तानाशाही का विकृत रूप है जहाँ जन-साधारण को बुरी तरह सताया जाता है। हाँ, इतना जरूर है कि उनकी अर्थ-व्यवस्था काम कर रही है। वे आर्थिक रूप से सम्पन्न हो गए हैं। लेकिन जनता असन्तुष्ट है। रूस में भी नई पीढ़ी तानाशाही के विरुद्ध आवाज उठाने लगी है।

श्री निक्सन आगे लिखते हैं—साम्यवादी देशों में लोकतन्त्र नहीं होने से वहाँ के शासक जो चाहें कर लेते हैं। वहाँ सरकार के कार्यकलाप के विरुद्ध आवाज उठाने का किसी को साहस ही नहीं है। यदि कोई ऐसा करता भी है तो उसे यातना शिविरों या सुधार गृहों में भेज दिया जाता है। यह देश यद्यपि जनता की सुख-सुविधा की बहुत बात करते हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि वहाँ जनता के लिए कुछ नहीं किया जाता। इन देशों में सेना पर सर्वाधिक व्यय किया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर हमने समझा, चलो अब शान्ति हो गई है, इसलिए अब सैनिक साज-सामान को नष्ट करो या जो कुछ सैनिक दृष्टिकोण से किया गया है उसे हटा दो। लेकिन स्तालिन उसी पुराने और घिसेपिटे सामान को लेकर आगे की रणनीति के निर्माण में जुट गया। जब तक हम चेते, हमने नाटो, सीटो और सेण्टों जैसे सैनिक गठबन्धनों से उसको घेरना चाहा, उसने पश्चिमी देशों के विरुद्ध प्रचार

अभियान चला दिया। उसने शान्ति परिषदों का गठन कर अपने को शान्ति का मसीहा सिद्ध करने का प्रयास किया। हम लोग बदनाम हो गए। लेकिन जब हमने कठोर रुख अपनाया, रूस की प्रत्येक चाल की काट की, तब कहीं जाकर वह वास्तविक स्थिति को समझ पाया। उसका रुख कुछ नरम हुआ और देतांत सन्धि हो सकी। दतांत कोई प्रेम प्रसंग नहीं था, इसमें खरी-खरी बातें हुई। सभी के समान हित को ध्यान में रख कर वार्तालाप हुआ। परमाणु युद्ध की आशका को दूर रखने में दतांत काफी हद तक सफल रहा है। यह व्यवस्था काम कर सकती है और तभी तक करती रहेगी, जब तक दोनों में से एक पक्ष यह समझता रहे कि परमाणु युद्ध से लाभ की अपेक्षा नुकसान अधिक है।

श्री निक्सन का कहना है कि पूँजीवादी विचारधारा में सब कुछ पैसे में आंका जाता है। किसी काम को करने से पहले उसके आर्थिक पक्ष पर विचार किया जाता है लेकिन साम्यवादी (तानाशाही) या सोवियत विचारधारा मे सभी कुछ सैनिक दृष्टिकोण से देखा जाता है। हम यह समझते हैं कि हम किसी देश को आर्थिक सहायता देकर, उसके उद्योग मे सहायता कर उसको अपनी ओर कर सकते हैं। लेकिन रूस किसी देश मे अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए सरकार का तख्ता पलटवा सकता है, जन-क्रान्ति के नाम पर आन्तरिक विद्रोह करा सकता है। उसने अनेक देशो विशेषकर अफ्रीका मे ऐसा किया भी है। इस प्रकार दिन-प्रतिदिन शक्ति सन्तुलन उसके पक्ष मे होता जा रहा है और इसका वह लाभ उठाएगा ही। पश्चिमी देश हर बात को निजी स्वार्थ से देखते है, इसलिए महत्त्वपूर्ण मसलों पर वे एकमत नहीं हो पाते। और अनिश्चय की इसी स्थिति में सोवियत संघ लाभ उठाता है। जहाँ-जहाँ पश्चिमी देश एकमत नहीं हो सके, वहीं रूस ने एकतरफा और तीव्र गति से काम कर अपने पैर जमा लिए। इसका ताजा उदाहरण अफगानिस्तान है। हमें कोई भी समय न खोते हुए अपनी तैयारियों मे जुट जाना चाहिए। तैयारी करने का मतलब यह नहीं कि हम युद्ध करना चाहते हैं, बल्कि यह कि यदि कोई ऐसा अवसर उत्पन्न हो जाता है कि हमें युद्ध करना पड़े तो हम तैयार हों। ऐसा न हो कि दूसरा पक्ष पूरी तैयारी के साथ युद्ध हम पर थोप दे। हम तैयारी ही करते रह जाएँ और हमारा शत्रु हमें पूरी तरह परास्त कर दे। मध्य एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों में ऐसा हुआ है। जब हम ने कुछ करने का विचार किया तब तक बाजी हमारे हाथ से निकल चुकी थी। स्व० सर विस्टन चर्चिल और डगलस मैकार्थर ने कहा है—हारी हुई लड़ाइयों का इतिहास एक ही वाक्य से शुरू होता है—'विलम्ब से' (बहुत देर से चेते)। पर्ल हार्बर न चेतने का प्रसिद्ध उदाहरण है। डगलस मैकार्थर ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, फिलीपीन से स्पष्ट चेतावनी दी थी कि जापान आक्रमण करने वाला है। लेकिन उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया गया। जब जापान ने आक्रमण कर पर्ल हार्बर में अमेरिका को भारी नुकसान पहुँचाया तब तक देर हो चुकी थी।

समय हम नहीं समझते कि न केवल हम अपने देश का कितना अहित कर रहे हैं, बल्कि शत्रु को तीसरी दुनिया के देशों में हमें बदनाम कर पैर जमाने में सहायता कर रहे हैं।

श्री निक्सन ने लिखा है कि तीसरी दुनिया के देशों पर हमें तुरन्त ध्यान देना होगा। परस्पर संघर्ष में उलझे इन देशों में से जो हमारे साथ हैं, उनकी विजय हमारे हित में है। इसके लिए हमें वह सभी कुछ करना चाहिए जिससे उनमें हमारे प्रति विश्वास उत्पन्न हो। केवल आगामी चुनाव में पुनः सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से विश्व-रणनीति की उपेक्षा उचित नहीं। हमें यह नैतिक हिचक दूर करनी होगी, तभी हम उचित और दृढ़ निर्णय लेने में समर्थ हो सकेंगे। हमारी इसी हिचक ने लोगों या देशों का हम में विश्वास खो दिया है। उसे फिर से बनाना जरूरी है। हमने सोवियत प्रभाव-क्षेत्र मान लिया है, लेकिन उससे आगे बढ़ने से उसे रोकना होगा। उससे स्पष्ट कहना होगा कि हम आपकी सीमा के निकट कार्यवाही करने को उतने ही स्वतन्त्र हैं जितने आप हमारी सीमा के निकट करते रहे। जब तक हम सोवियत शासकों के दिमाग में यह बात अच्छी तरह से नहीं बैठा देते कि हम भी उसके प्रभाव वाले क्षेत्रों में उसके विरुद्ध कार्यवाही कर रहे हैं, तब तक उन्हें हमारे मित्र या तीसरी दुनिया के निष्पक्ष देशों के मामलों में हस्तक्षेप करने से नहीं रोका जा सकता। जिस जगह हम कुछ करना चाहेंगे, करेंगे, उस पर यह जाहिर हो जाना चाहिए। हम और हमारी शासन-व्यवस्था निश्चित रूप से साम्यवादी व्यवस्था से बेहतर है और आगे है। रूस यदि किसी देश को विजय भी करले तब भी वहाँ के लोग उसके विरुद्ध ही होंगे। 1972 में मिस्र में जो कुछ हुआ, उसके बाद सोमालिया, पेरु, चिली में जो भी हुआ, हमने उसे गम्भीरता से नहीं लिया। हमें इन देशों में होने वाले विद्रोह को कठोरता से दबाना चाहिए था।

शासन शक्ति से चलता है

श्री निक्सन का कहना है कि हमें अपनी कमजोरी को प्रकट न करते हुए अड़े रहना चाहिए। चीन को ही देखें—6500 कि.मी. लम्बी अपनी सीमा को उसने किस मुस्तैदी से सुरक्षित कर रखा है। शासन भावुकता से नहीं, शक्ति से चलता है। जब भी कभी ताकत में कमी आएगी, सत्ता व प्रभुसत्ता भी कम होती जाएगी। कमजोर व्यक्ति की बात कोई नहीं मानता। चीन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। हमें हर तरह से उसे अपनी ओर कर लेना चाहिए। यह ठीक है कि कल वह हमारे लिए खतरा बन सकता है, लेकिन आज सोवियत संघ के प्रभाव को सीमित करने के लिए वह हमारे लिए उपयोगी है, फिर सोवियत संघ की जो विचारधारा है उसको काटना भी तो हमारे लिए सम्भव नहीं।

श्री निक्सन ने लिखा है पिछले कुछ वर्षों में हमने भयंकर भूलें की है। जैसे ईरान में अपने अन्यतम समर्थक शाह को हमने त्याग दिया। मान लिया कि शाह अच्छे नहीं थे तो अयातुल्ला खुमैनी क्या अच्छे सिद्ध हुए। वियतनाम में भी हम एक के बाद एक समर्थक शासक को हटाते चले गए। परिणाम यह हुआ कि न

केवल हमें बदनाम होकर वहाँ से हटना पड़ा, बल्कि वह सोवियत प्रभाव-क्षेत्र में चला गया।

श्री निक्सन का कहना है आज भी पश्चिम और हमारे देश में जनसाधारण का मनोबल ऊँचा है। केवल बुद्धिजीवियों को हमें समझाना होगा कि वे रूमानियत में न रहें, वास्तविकता को समझें। हम लड़ाई हारते जा रहे हैं और आगे भी हारते चले जाएँगे यदि हमने अपनी यह रूमानियत नहीं छोड़ी।

रूस से टक्कर लेने के उपाय

श्री निक्सन के अनुसार यदि हम निम्न सिद्धान्त अपनाएँ तो सोवियत संघ का सामना कर सकते हैं—

(1) बात करने के लिए हमेशा तैयार रहो, लेकिन बिना तैयारी के बात न करो।

(2) कभी आक्रामक न बनो, लेकिन अपनी दृढ़ता पर कायम रहो।

(3) बातचीत गुप्त रूप से करो, इसका परिणाम जनसाधारण को बताने से न हिचको।

(4) स्वदेश में अपने प्रचार के लिए न तो कोई ऐसी बात कहो और न कदम उठाओ, जिससे आगे चलकर कष्ट न उठाना पड़े।

(5) बातचीत के दौरान कोई ऐसी चीज देने का वायदा न करो, जिसके एवज में कुछ मिलने की सम्भावना हो।

(6) अपने प्रतिद्वन्द्वी को अपनी शक्ति कम समझने का अवसर न दो, लेकिन घमण्ड में आकर ऐसी बात न कहो, जिसे अवसर पड़ने पर कर न सको।

(7) प्रतिद्वन्द्वी के लिए सदा एक रास्ता खुला छोड़ो।

(8) हमेशा शत्रुओं और मित्रों के बीच अन्तर समझो।

(9) अपने मित्रों की इतनी मदद अवश्य करो, जितनी कि हमारा प्रतिद्वन्द्वी हमारे शत्रुओं के लिए कर रहा है।

(10) आस्था और विश्वास का होना आवश्यक है। जहाँ बिना शक्ति के आस्था बेकार है वहाँ बिना आस्था के शक्ति बन्ध्या है।

श्री निक्सन ने लिखा है, "हमें एकजुट होकर रूस से ठोक-पीट कर सौदेबाजी करनी चाहिए। अनिश्चय व कमजोरी संकट को बढ़ावा देती है, इसलिए सदा दृढ़ निश्चय व शक्ति का प्रदर्शन करना चाहिए।"

श्री निक्सन की पुस्तक काफी दिलचस्प है, लेकिन एक अमेरिकी पत्रकार ने आरोप लगाया है कि इस पुस्तक को लिखकर श्री निक्सन ने यह सिद्ध करना चाहा है कि उनकी नीतियाँ सही थीं और यदि अमेरिकी नागरिक अपने आत्मसम्मान और संसार में अमेरिका की चौधराहट को फिर से स्थापित करना चाहते हैं तो उन्हें श्री निक्सन को फिर से राष्ट्रपति बनाना होगा क्योंकि वही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो इस उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं।

Appendix-7

द० पू० एशिया में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा : प्रशान्त कभी भी अशान्त हो सकता है

महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा एक अर्से से पश्चिमेशिया में तनाव बनाए हुए है और इस तनाव के घातक परिणामों की कल्पना इस क्षेत्र के सभी देशों की चिन्ता का कारण बनी हुई है—अफगानिस्तान मे सोवियत सघ के सैनिक कार्रवाई के बाद यह चिन्ता बढी है और उससे विश्व शान्ति के लिए खतरा और भी बढ़ गया है। ऐसा ही खतरा दक्षिण पूर्वेशिया की तनावग्रस्त स्थिति के कारण भी बना हुआ है। वहाँ दोनो महाशक्तियाँ ही नही, तीसरी महाशक्ति बनने की प्रक्रिया से गुजर रहा चीन भी प्रतिस्पर्द्धा मे है। वह नही चाहता कि दक्षिण चीन सागर के जल मे या हिन्द-चीन की भूमि और आकाश मे किसी महाशक्ति का दखल हो, क्योकि वहाँ महाशक्तियो की उपस्थिति उसके विस्तारवादी इरादो पर पानी फेर देगी।

कम्बुजिया (कम्बोडिया या कम्पुच्या) में वियतनाम की सैनिक कार्रवाई और उसके प्रत्युत्तर में वियतनाम को सबक सिखाने के लिए चीन द्वारा किए गए हमले के बाद महाशक्तियो की यह स्पर्द्धा खुल कर सामने आ गई। वियतनाम से हटने के बाद अमेरिका इस क्षेत्र में अधिक प्रभावी नही रह गया था। दूसरी ओर सोवियत संघ की सक्रियता बढ़ गई। वियतनाम जैसा जुझारू साथी पा कर उसने दक्षिण पूर्वेशिया मे अपना प्रभाव बढ़ाने की भरपूर कोशिश की। कम्बुजिया मे वियतनाम का सैनिक हस्तक्षेप इस कोशिश का ही एक हिस्सा था। चीन तो सोवियत इरादे को पहले ही ताड़ गया था और उसने तत्काल वियतनाम पर आक्रमण करके सोवियत सघ को यह बता दिया कि वह इस क्षेत्र मे उसे अपने पाँव फैलाने नहीं देगा।

माओत्तर चीन का अमेरिका प्रेम भी शायद इसलिए बहुत प्रगाढ़ हो गया है। दक्षिण-पूर्वेशिया मे चीन को वास्तविक खतरा फिलहाल सोवियत सघ की ओर से ही है। उसकी उत्तरी सीमा पर सोवियत संघ ने कोई 20 डिवीजन सेना लगा

रखी है। इसके अलावा उसके सैकड़ों लड़ाकू और बमवर्षक विमान तथा प्रशान्त महासागर स्थित नौसैनिक बेड़ा भी तैनात है। दोनों देशों के बीच सीमा पर मुठभेड़ें भी हो चुकी है। ऐसी हालत मे यदि चीन की दक्षिण सीमा पर भी सोवियत प्रभाव बढता है तो चीन अपने भीतर ही सिमट कर रह जाएगा। पश्चिमेशिया मे चीन की पहले ही कोई दिलचस्पी नही रही—इसलिए भी कि वह क्षेत्र उसकी जमीन से दूर है और इसलिए भी कि वहाँ सोवियत सघ को बाँध रखने के लिए अमेरिका और उसके मित्र पश्चिमी देश प्राणपण से लगे हुए हैं। अफ्रीका मे दखल देने की कोशिश चीन ने अलबत्ता की थी। तानजाम रेलमार्ग इसका प्रमाण है। किन्तु वहाँ वह अपना प्रभाव बनाए रखने में सफल नही हो सका और इसमें शायद भूगोल ही उसके आड़े आया। अफगानिस्तान में सोवियत सेना की उपस्थिति से वह अलबत्ता चिन्तित हुआ है क्योंकि उससे न केवल उसकी अपनी सीमा अरक्षित हो गई है बल्कि उसके एक नए मित्र पाकिस्तान के लिए भी संकट पैदा हुआ है।

सम्भवतः यही कारण है कि इधर दक्षिण-पूर्वेशिया में जापान और आस्ट्रेलिया के माध्यम से अमेरिका ने जो अधिक दिलचस्पी दिखाई है, उसे चीन कम से कम इस समय तो अनदेखा कर ही रहा है। अमेरिका का दखल दक्षिण-पूर्वेशिया मे स्थायी रूप से बना रहे, यह चीन निश्चय ही नही चाहेगा, किन्तु इस क्षेत्र से सोवियत संघ को खदेड़ने के लिए वह तत्पर दिखाई देता है। ताइवान पर उसकी चुप्पी इसका सकेत है। दक्षिण-पूर्वेशिया मे अमेरिका और चीनी हितो मे वस्तुतः कोई बडा टकराव भी नही है। अमेरिका चाहता है कि सोवियत सघ पूर्वेशिया मे चीन से उलझा रहे ताकि पश्चिमी यूरोप पर उसका दबाव न बढ सके और न ही पश्चिमेशिया अफ्रीका लातीनी अमेरिका आदि क्षेत्रो मे वह अपना प्रभाव बढाने के लिए अपने प्रयास सघन कर सके। इसके लिए जापान, आस्ट्रेलिया और दक्षिण-पूर्वेशिया राष्ट्र सघ (एशियान) के देशो—मलेशिया, सिंगापुर, थाईदेश, इण्डोनेशिया और फिलीपीन को सैनिक दृष्टि से सुदृढ बनाने के अलावा चीन की पीठ थपथपाना भी वह जरूरी मानता है।

दक्षिण-पूर्वेशिया राष्ट्र सघ के सदस्य देश इस क्षेत्र मे विदेशी हस्तक्षेप के खतरो को समझते हैं और चाहते हैं कि क्षेत्रीय समस्याओं का समाधान आपस मे बातचीत करके ही किया जाए। गत वर्ष दिसम्बर मे उनके विदेश मन्त्री कम्बुजिया की समस्या पर विचार करने के लिए क्वालालपुर मे एक दिन के लिए मिले थे। इस मुद्दे पर उनमें तब आम सहमति पाई गई। उसी बैठक मे उन्होंने अपनी स्थायी समिति के अध्यक्ष मलेशिया के विदेश मन्त्री अहमद रिताउद्दीन को वियतनाम भेजने का फैसला किया था ताकि दोनों पक्षो के बीच सवाद शुरू हो सके किन्तु बाद की घटनाओं से स्थिति में परिवर्तन हुआ—खास तौर से अफगानिस्तान मे सोवियत संघ की सैनिक कारवाई ने एशियान के सदस्य देशो के कान खड़े कर दिए और वियतनाम तथा कम्बुजिया के प्रति उनका रवैया सख्त हो गया। इसके विपरीत अब वे एक ऐसे

श्री निक्सन ने लिखा है कि आगे क्या होगा ? कहना कठिन है। लेकिन रूस जो भी कदम उठाता है, बहुत सोच-समझ कर ही। जब कभी स्तालिन मित्र राष्ट्रों के साथ बात करने बैठता था, वह सदा भविष्य में उनकी कार्यवाही की टोह लेता रहता था। वह विजित क्षेत्रों की व्यवस्था की बात नहीं सोचता था। जो जिसके पास होगा, उसमें उसी की शासन-व्यवस्था लागू होगी। विश्वयुद्ध के अन्तिम चरण में स्तालिन मित्र राष्ट्रों को जर्मनी के चक्कर में फँसाने में सफल हो गया। मित्र राष्ट्र बर्लिन की नाकाबन्दी में व्यस्त रहे लेकिन स्तालिन ने बर्लिन के साथ-साथ पूर्व यूरोप के सभी देशों पर अधिकार जमा लिया। मित्र राष्ट्र उसका क्या कर सके। आज तक वे सभी देश उसके अधिकार में हैं। अगर आज फ्रांस में साम्यवादी सरकार नहीं है तो इसमें मित्र राष्ट्रों का कोई योगदान नहीं है। वरन् कारण यह है कि सोवियत सेनाएँ उचित समय पर पेरिस तक नहीं पहुँच सकी।

श्री निक्सन का कहना है कि यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में तीसरा विश्वयुद्ध नहीं लड़ा जा रहा है, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से सोवियत संघ संसार के हर क्षेत्र में हमसे युद्ध में उलझा हुआ है। यह अलग बात है कि वह स्वयं आगे नहीं है, लेकिन पीठ पीछे सर्वत्र उसी की मौजूदगी है। पूर्वी यूरोप, चीन, हिन्द-चीन, पश्चिमी मण्डल, लातीनी व मध्य अमेरिका, अफ्रीका आदि देशों में आज भी युद्ध चालू है। पुर्तगाल, स्पेन, इटली तथा अन्य देशों में साम्यवादी दल द्वारा समर्थित सरकारों का गठन सोवियत रीति-नीति की विजय है। यही नहीं, एण्टार्कटिक अन्तरिक्ष, उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव, समुद्र सभी जगह रूस पश्चिमी राष्ट्रों से सतत् युद्ध में उलझा है। यह उसकी कूटनीति और पश्चिमी राष्ट्रों की परस्पर अविश्वास की नीति का ही परिणाम है कि वह लगातार हमें पराजित करता चला जा रहा है। वह समाज को, देश को भीतर ही भीतर खोखला कर अपना उद्देश्य प्राप्त कर लेता है। इसमें वह हर उचित व अनुचित नीति का सहारा लेता है। ऐसी स्थिति में जो दुर्बल है वह मिटेगा ही। हम स्वतन्त्र विचारधारा वाले, बौद्धिक लोग यह समझते हैं कि परमाणु युद्ध जब होगा तभी तीसरा युद्ध होगा। लेकिन रूसी जिस युद्ध को लड़ रहे हैं उसका नाम शान्ति है। इस समय क्या नहीं हो रहा—सरकारें गिर रही हैं, लोग युद्ध के भय से घर छोड़ कर भाग रहे हैं। आन्तरिक विद्रोह को दबाने के नाम पर स्वतन्त्रता आन्दोलनों को पूरे सैन्य बल से कुचला जा रहा है। रूसी इस खेल को पूरी तरह और गम्भीरता से समझ रहे हैं, तभी तो सर्वत्र विजय उनकी ही हो रही है।

II श्री निक्सन ने लिखा है कि रूस योजनाबद्ध तरीके से काम कर रहा है। पश्चिम में रूस समर्थक कहते हैं कि वह अपनी सुरक्षा के लिए काम कर रहा है। मान सकते हैं लेकिन संसार के किसी भाग में घटने वाली कोई भी घटना उसके लिए खतरा क्यों बन जाती है। अफगानिस्तान-ईरान से उसकी सीमा लगती है, उसे अपनी सीमा को शान्त रखना जरूरी है। लेकिन हिन्द-चीन, अफ्रीका, दक्षिण व मध्य अमेरिका तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में होने वाली उथल-पुथल से

उसकी सुरक्षा को किस तरह खतरा पैदा हो सकता है ? इसका एक ही अर्थ लगाया जा सकता है—जब तक संसार में कोई भी देश स्वतन्त्र है, रूस की स्वतन्त्रता को खतरा बना रह सकता है। कम्पूचिया के लोग, जिन्होंने अमेरिका के विरुद्ध रूसी-चीनी सेनाओं का साथ दिया आज प्रशान्त महासागर मे नावो में घूम कर भूखों मर रहे हैं। क्यो ? वे चीनी हैं और चीनी रूस को सहन नहीं।

रूस का उद्देश्य मध्य-एशिया व अफ्रीका को प्रभाव क्षेत्र बनाना

श्री निक्सन ने लिखा है— रूस संसार मे अपनी चौधराहट कायम करना चाहता है। इसमे जो भी रोड़ा बनेगा वह उसका दुश्मन होगा। उसके मुख्य दुश्मन है— अमेरिका, जापान व पश्चिम यूरोप के देश। चौथे दुश्मन हैं—तीसरी दुनिया के वे छोटे-मोटे देश जो अपना भी कोई अस्तित्व समझते हैं, लेकिन आर्थिक व सैनिक रूप से कमजोर हैं। रूस ने अपना अभियान इन्हीं चौथे दुश्मनों मे शुरू किया है। रूसी जानते हैं कि इन्ही छोटे देशो के बलबूते पर, अर्थात् इनका कच्चा माल लेकर और उससे तैयार माल इन्हें बेचकर पश्चिम के देश मालामाल हुए और अपने को संसार की महाशक्ति समझने लगे। पश्चिमी राष्ट्रों मे, अमेरिका को छोड़ कर सभी की अर्थव्यवस्था अफ्रीका की खनिज सम्पदा और खाडी के देशो के तेल पर निर्भर है। यह देश क्योकि वर्षों तक पश्चिमी देशो के गुलाम रहे, इसलिए इन देशो मे पश्चिमी राष्ट्रो के प्रति घृणा होना स्वाभाविक है। यदि इन देशों पर रूसी प्रभाव कायम हो जाए तो इनका कच्चा माल पश्चिम को मिलना बन्द। बस पश्चिम के देश तबाह हो जाएँगे। श्री निक्सन ने लिखा है कि रूस के राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने एक बार सोमालिया के राष्ट्रपति से कहा था—हमारा लक्ष्य है, किसी भी तरह फारस की खाड़ी का तेल और मध्य अफ्रीका व आस्ट्रेलिया की खनिज धातुएँ अपने अधिकार मे करना। यूरोप और जापान खनिज तेल और खनिज धातुओ के लिए इन देशों पर किस सीमा तक निर्भर है इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि जहाँ जापान खनिज तेल के लिए पूर्णतः खाड़ी के देशो पर निर्भर है, वहाँ वह 90% खनिज धातुएँ भी आयात करता है। यूरोप के देश 85% खनिज तेल और 8% धातुओ के लिए इसी क्षेत्र पर निर्भर हैं। यदि इन देशो मे कुछ होने लगता है तो यूरोप और जापान मे शोर-शराबा मचने लगता है। अमेरिका को नम्र रुख अपनाने की शिक्षा दी जाती है।

मनोबल तोड़ना उद्देश्य है

श्री निक्सन ने लिखा है कि रूस पश्चिमी देशो सहित दुनिया के हर देश के आर्थिक ढाँचे को तोडना चाहता है। वह कुछ सीमा तक इसमे सफल भी रहा है। अमेरिकी समाज को अफ्रीका के बारे मे कोई जानकारी नही है जबकि वहाँ से प्राप्त विभिन्न खनिज उसके दैनिक जीवन के लिए अत्यावश्यक है। अमेरिका व पश्चिमी देशों के लोग प्रजातन्त्र को मोजमस्ती का साधन मानते हैं। जबकि सोवियत व्यवस्था

अनुशासनबद्ध है । वहाँ के नेता ही सब निर्णय लेते हैं, स्वयं भी काम करते हैं और लोगों से करवाते भी हैं जबकि पश्चिम मे नेता के आचरण तक को व्यंग्य का निशाना बना कर उसके मनोबल को तोड़ने का हर सम्भव प्रयास किया जाता है ।

श्री निक्सन ने लिखा है कि अफ्रीका में अधिकतर आदिवासी कबीले है। जिन्हें राजनीति से कोई लेना-देना नहीं । कुछ लोग जो पढ़े-लिखे हैं उनमें पहले से ही पश्चिमी देशो के विरुद्ध घृणा है । सोवियत संघ इस घृणा का लाभ उठाता है । इन देशों के नेता व शासक अपरिपक्व हैं । नई-नई आजादी का दुरुपयोग निहित स्वार्थों के लिए करते हैं । प्रजातन्त्र व्यवस्था इसी कारण यहाँ चल नही पाती । ऐसी स्थिति मे जब किसी शासन को अपनी कुर्सी डोलती नजर आती है वह सोवियत संघ की शरण मे जाता है । सोवियत सलाहकार उसकी सत्ता बनाए रखने का आश्वासन देकर विशेषज्ञ, हथियार, सैनिक सभी कुछ उपलब्ध करा देते हैं । जब तक वह शासक रूस की इच्छानुसार काम करता है तब तक उसे रखते है और फिर उखाड़ देते हैं । मजे की बात यह है कि किसी भी शासक की कुर्सी छिनवाने के लिए आन्दोलन भी रूस की प्रेरणा से ही शुरू होता है । अफगानिस्तान प्रत्यक्ष उदाहरण है । रूस पश्चिमी देशो के साम्राज्यवाद के चिथड़े उड़ाने का कोई मौका नहीं छोड़ता जबकि स्वयं वह नया साम्राज्यवाद स्थापित कर रहा है । हम केवल पैसे से सहायता करते है जो किसी शासक को रोक नहीं पाती । हथियार एक तो सार्वजनिक रूप से दिए नही जा सकते । और यदि लुके-छिपे दिए भी गए तो रूसी बावेला मचा देते है । आज अफ्रीका महाद्वीप में विद्यमान 75% अस्त्र-शस्त्र रूस और उसके मित्र देशों द्वारा दिए गए है । संसार में पहली बार ऐसा हुआ कि अंगोला में तीसरे देश के सैनिक लडे । यदि सोवियत सैनिक वहाँ पहुँचते तो पश्चिमी राष्ट्रों को हस्तक्षेप का अवसर मिलता । इसलिए रूस ने अपने मित्र राष्ट्रों के सैनिक वहाँ पहुँचा दिए और स्वयं चौधराहट बनाए रखने के लिए पश्चिमी देशों को धमकाता रहा कि यदि उन्होने अंगोला के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप किया तो वह चुप नही बैठेगा ।

श्री निक्सन ने अपने कथ्य के प्रमाण में लिखा है—

क्रोमियम एक मामूली-सा खनिज है जो रोडेशिया व दक्षिण अफ्रीका में बहुतायत से पाया जाता है । पश्चिमी यूरोप के देश तो अपनी पूरी आवश्यकता पूर्ति के लिए इन दोनो पर निर्भर है ही, अमेरिका भी काफी मात्रा में इसका आयात करता है । अब इसका उपयोग देखिए—कार पर होने वाले रंग-रोगन, मिसाइलों व सूक्ष्ममापी यन्त्रों मे इसका प्रयोग होता है । एक जेट हवाई जहाज के निर्माण मे 1800 किलोग्राम क्रोमियम खर्च होता है । रासायनिक प्रक्रिया, प्लास्टिक के निर्माण व आक्सीकरण मे इसकी आवश्यकता है । इसी प्रकार जायरे में ताम्बा, कोबाल्ट, प्लेटिनम; दक्षिण अफ्रीका में सोना, हीरे आदि मिलते हैं । रूस यदि सारे अफ्रीका पर छा गया तो दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार को गिरवाने में उसे देर नहीं लगेगी । इस कार्य मे उसे सभी एशियाई-अफ्रीकी पूरा सहयोग मिलेगा । लेकिन पश्चिम के लिए इसके कितने भयानक परि

इसका अनुमान अमेरिका या फ्रांस में बैठा आदमी नहीं लगा सकेगा। सबसे पहला तो यह कि पश्चिमी राष्ट्रों को अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक महत्त्वपूर्ण खनिजों की प्राप्ति बन्द हो जाएगी। यदि मिले भी तो रूस अपने हितों के अनुसार उनका मूल्य निर्धारित करेगा। यदि दक्षिण अफ्रीका मे रूस समर्थित शासक बैठ जाते हैं—तो 'केप ऑफ गुड होप' का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का समुद्री मार्ग, जिससे 80% पैट्रोल और 75% सामरिक महत्त्व का सामान आना-जाता है उसके प्रभाव-क्षेत्र मे आ जाएगा। एक अन्य बात यह भी है कि पूरे अफ्रीका महाद्वीप का 40% औद्योगिक व 25% कृषि उत्पादन अकेले दक्षिणी अफ्रीका मे होता है।

अमेरिका को अलग-थलग करने का खेल

श्री निक्सन ने लिखा है—रूसी शतरज के खिलाडी के रूप में मशहूर है। शतरज मे दूसरे पक्ष के अधिक से अधिक मोहरों को पीटना ठीक समझा जाता है। लेकिन उस्ताद खिलाड़ी मोहरे पीटने के बजाय शुरू से ही बादशाह को घेरने का खेल खेलते हैं। सोवियत संघ यही खेल खेल रहा है। वह सभी पश्चिमी देशो का मनोबल तोड़ने मे लगा है। उसका उद्देश्य है अमेरिका को इन देशो से अलग-थलग कर किंकर्तव्यविमूढ़ कर दे। सर रॉवर्ट थाक्पर ने एक समीकरण में कहा है कि राष्ट्रीय शक्ति=काम करने वाले हाथ व प्राकृतिक साधनों का योग=मनोबल। यदि देश का मनोबल ही टूट जाए तो सब कुछ समाप्त हो जाता है। इसलिए वह सदा दो तरह की भाषा का प्रयोग करता है जिससे लोग उसके चक्कर मे आ जाते हैं।

नया रूसी नेतृत्व युद्धोन्मादी

श्री निक्सन ने लिखा है कि रूस मे निकट भविष्य में कोई विशेष परिवर्तन होने वाला नही है। वर्तमान नेतृत्व के बाद आने वाला नेतृत्व क्या अपने राष्ट्रीय हितों को भूलेगा। वर्तमान नेतृत्व तो महायुद्ध की भयावहता को समझता है, क्योंकि उसने युद्ध लड़ा है, लेकिन जाने वाला नेतृत्व, जिसने युद्ध की भयावहता नही देखी, युद्धोन्माद से भरा हो सकता है। आज भी सोवियत समरनीति आक्रामक है, उसका उद्देश्य सुनिश्चित विजय है। यदि पश्चिमी देश भी ऐसी ही नीति अपनाएँ तभी रूसी विस्तारवाद का सामना किया जा सकता है। रूसी उद्देश्य स्पष्ट है—शान्ति या क्रान्ति की आड में अपनी समर्थित सरकार बनवाए, यदि आवश्यक हो तो लड़कर भी। हमे भी यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। हमने अपने सुरक्षा बजट में 5% की वृद्धि की है जो सोवियत संघ की कूटनीति का सामना करने के लिए काफी नही है। ऐसा कर हम केवल सोवियत सघ के बराबर आ पाएँगे। लेकिन आवश्यकता इस बात है कि हम केवल संकल्प न करें, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त कार्यवाही करें। इसके लिए अधिक सैन्य-बल, अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता होगी जो अधिक धन से ही जुटाए जा सकते हैं। हमारे राष्ट्रपति को इतना अधिकार होना चाहिए कि वह जो कुछ करे सारे अमेरिकी राष्ट्र के लिए करे। आज स्थिति इसके विपरीत है। आज हमारे देशवासी सभी राष्ट्रीय नीतियो की कटु आलोचना करते हैं। सी.आई.ए. की गतिविधियों का भण्डाफोड़ खुद हमने ही किया। ऐसा करते

शक्ति सन्तुलन के पक्ष में दिखाई पड़ते है जिसमे सोवियत सघ और वियतनाम की तुलना मे पश्चिमी गुट और चीन का पलडा भारी हो।

इस सन्दर्भ में दक्षिण-पूर्वेशिया सन्धि सगठन (सीएटो) को पुनर्जीवित करने की चर्चा भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। प्रशान्त महासागर मे रिमपैक-80 के नाम से जाने गए नौ-सैनिक अभ्यास को सीएटो को पुन: सक्रिय बनाने की दिशा में एक कदम माना जा रहा है। आस्ट्रेलिया इस अभ्यास मे एक प्रमुख भागीदार है और वह इस क्षेत्र के देशो को पश्चिमी गुट के समर्थन मे खड़ा करने के लिए उल्लेखनीय भूमिका निभा रहा है। इसके लिए वह प्रतिवर्ष 3 करोड़ डॉलर की सैनिक सहायता इन देशो को देता है और उनके लिए हर प्रकार के सैनिक उपकरणो का सम्भरण भी करता है। इसके अलावा एशियान के सदस्य देशो के हजारो छात्र आस्ट्रेलिया के सैनिक विद्यालयों मे सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इनमे 1500 से अधिक मलेशियाई और एक हजार से ऊपर इण्डोनेशियाई छात्र होते हैं। सिगापुर के छात्रों का एक दल भी सैनिक प्रशिक्षण के लिए शीघ्र ही आस्ट्रेलिया जाने वाला है। वास्तव में अमेरिका चाहता है कि एशियान के देश न केवल रिमपैक-80 नौसैनिक अभ्यास मे भाग लें बल्कि इस क्षेत्र मे उसकी अन्य गतिविधियो मे भी भागीदार बनें। इसी दृष्टि से इन देशों को भारी मात्रा में सैनिक सहायता देने के लिए भी तत्पर है। गत वर्ष थाईदेश को दी गई सैनिक सहायता इसका प्रमाण है और इस बात का भी कि वह सीएटो को पुनर्जीवित करने के लिए उत्सुक है। वस्तुतः वह एशियान के सदस्य देशो को एक ऐसे गुट का रूप देना चाहता है जो राजनीतिक और अन्ततः सैनिक दृष्टि से भी साम्यवाद विरोधी हो।

इस दिशा में चीन भी उसका सहायक बनने के लिए तत्पर जान पड़ता है। दक्षिण-पूर्वेशिया के लिए पीकिंग की अपनी एक सुनिश्चित विस्तारवादी नीति है जिसे क्रियान्वित करने के लिए यह जरूरी है कि इस क्षेत्र में सोवियत और अमेरिकी गुटों मे टकराव हो। चीनी नेतृत्व यह मानता है कि ऐसे संघर्ष में इन दोनो ही गुटो की शक्ति क्षीण होगी और वह इस क्षेत्र में अपनी विस्तारवादी नीति को आसानी से क्रियान्वित कर सकेगा। एशियान देश चीन के इस दूरगामी इरादे के प्रति सतर्क दिखाई पड़ते हैं। कम्बुजिया के मामले मे एशियान देशों का समर्थन जुटाने के लिए चीनी विदेश मन्त्री ने हाल मे फिलीपीन, सिगापुर और मलेशिया का दौरा किया जिसके दौरान इन देशों ने उन्हे साफ तौर पर बता दिया कि कोई भी एशियान देश महाशक्तियों के संघर्ष मे भागीदार बनना नही चाहता।

इधर दक्षिण चीन सागर के उथले जल मे तेल मिलने की सम्भावना ने स्थिति को एक नया मोड़ दे दिया है। कई तटवर्ती देशो ने इस सम्भावना को देखते हुए दक्षिण चीन सागर के जल पर बढ़ा-चढा कर अपने-अपने दावे पेश कर दिए हैं। इण्डोनेशिया ने तो 25,000 कि. मी. क्षेत्र मे तेल की खोज के काम तीन अमेरिकी कम्पनियों को दे दिया है और उसने वहाँ नौ-सैनिक अ

है। इस क्षेत्र पर वियतनाम भी अपना दावा जता रहा है। चीन कुछ वर्ष पहले ही बोर्नियो द्वीप से, जिसका कुछ भाग मलेशिया का है और कुछ इण्डोनेशिया का, कुछ मील की दूरी तक के समुद्र पर अपना अधिकार जता चुका है। इण्डोनेशिया दक्षिण चीन सागर में युद्ध की सम्भावना देखते हुए तैयारी कर रहा है।

पारासेल और स्पार्टले द्वीप समूहों पर परस्पर विरोधी दावों से भी इस क्षेत्र मे तनाव बढ़ने की सम्भावना है। चीन ने 1974 में सैनिक कार्रवाई करके पारासेल द्वीप-समूह पर अधिकार कर लिया था। उस समय तक उस पर दक्षिण वियतनाम का कब्जा था और उसकी सेना भी वहाँ थी जिसे चीनी सेना ने खदेड़ दिया। दक्षिण वियतनाम का अब अलग कोई अस्तित्व नही रहा और माना जा सकता है कि वियतनाम की मौजूदा सरकार भी पारासेल को अपना क्षेत्र मानती है, हालांकि उसने अभी उसे चीन से मुक्त कराने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की। किन्तु 1975 मे स्पार्टले द्वीप-समूह मे सेना भेज कर उसने चीन को यह तो बता ही दिया है कि वह भी इन द्वीप-समूहों का दावेदार है। स्पार्टले द्वीप-समूह को चीन भी अपना 'ऐतिहासिक प्रदेश' बता रहा है, क्योकि 57 द्वीपो के इस द्वीप-समूह के एक द्वीप पर ताइवान (राष्ट्रवादी चीन) की सेना है। उधर फिलीपीन भी इस द्वीप-समूह के कुछ द्वीपों पर अपना अधिकार जता रहा है क्योंकि उसके अनुसार ये द्वीप स्पार्टले द्वीप-समूह का हिस्सा न होकर उसके समुद्रतट से सटे रीड बैंक के अंग हैं।

इस स्थिति में यह सम्भावना तो है ही कि दक्षिण-पूर्वेशिया मे व्याप्त तनाव कभी भी उग्र संघर्ष का रूप ले सकता है। चीन और वियतनाम दोनो ने ही फिलीपीन को अलग-अलग यह आश्वासन दे रखा है कि सीमा विवाद को शान्तिपूर्ण ढंग से परस्पर बातचीत के द्वारा ही हल किया जाएगा। अमेरिका और फिलीपीन के बीच परस्पर सुरक्षा सन्धि है। यदि फिलीपीन पर हमला हुआ तो वह अमेरिका से सैनिक सहायता पाने की आशा कर सकता है। इस सन्धि के रहते चीन या वियतनाम आसानी से फिलीपीन को नहीं छेड़ेंगे। किन्तु चीन और वियतनाम के बीच संघर्ष की सम्भावना तो है ही, चीनी नेतृत्व वियतनाम को दूसरा सबक सिखाने के लिए तत्पर जान पड़ता है। चीन किसी भी समय वियतनाम अधिकृत स्पार्टले द्वीपों पर अधिकार जमाने के लिए कार्रवाई कर सकता है। ऐसी हालत मे सोवियत संघ प्रशान्त स्थित अपने सशक्त नौ-सैनिक बेड़े को वियतनाम की सहायता के लिए हरकत में नहीं लाएगा, इसकी कोई गारंटी नही है। सोवियत संघ की कोशिश है कि वियतनाम पूर्वेशिया मे उसके लिए वही भूमिका निभाए जो कि अटलांटिक महासागर में क्यूबा निभा रहा है। अतः भावी चीन-वियतनाम संघर्ष में सोवियत संघ के सक्रिय भाग लेने की सम्भावना तो है ही। यदि ऐसा हुआ तो दक्षिण-पूर्वेशिया में व्यापक संघर्ष छिड़ सकता है।

सच तो यह है कि इस क्षेत्र के सभी देश और उनके मित्र बड़ी शक्तियाँ यह मानकर चल रही हैं कि यहाँ कभी भी युद्ध छिड़ सकता है और इसे ध्यान में रखकर ही वे सभी अपनी-अपनी व्यूह रचना कर रहे हैं।

दक्षिण-पूर्वेशिया में अमेरिका का बहुत कुछ दाव पर लगा है। जहाँ चीन अपने पाँव के नीचे की सोच कर अपनी गोटियाँ बिठा रहा है, अमेरिका की दक्षिण-पूर्वेशियाई नीति उसकी पश्चिमेशिया और यूरोप की नीतियों से जुड़ी है। अमेरिका के वियतनाम से हटने के बाद से पश्चिमेशिया और यूरोप में सोवियत संघ का दबाव अधिक बढ़ गया है, जो अमेरिकी हितों के विरुद्ध है। यह दबाव कम करने के लिए अमेरिका यह जरूरी मानता है कि सोवियत संघ दक्षिण-पूर्वेशिया में उलझे। इस क्षेत्र में युद्ध भड़कने पर सोवियत संघ के विकल्प सीमित हो जाएंगे और अफगानिस्तान में सैनिक कार्रवाई करके उसने जो प्रभाव अर्जित किया है वह भी बहुत कुछ निरस्त हो जाएगा। ऐसी हालत में महाशक्तियाँ निकट भविष्य में ही दक्षिण-पूर्वेशिया में जोर आजमाइश करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी।

(दिनमान–अप्रैल, 1980)



Appendix-8

क्या चीन परमाणविक हथियारों वाली तीसरी महाशक्ति बन गया है ?

मई, 1980 के मध्य चीन द्वारा अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का मध्य प्रशान्त म परीक्षण किए जाने से यह सिद्ध हो गया है कि वह तीसरी महाशक्ति के रूप मे तेजी से उभरता जा रहा है। चीन की परमाणविक शक्ति के विकास का दुनिया की राजनीति पर कुछ न कुछ असर पड़ना स्वाभाविक है। यहाँ हम श्री सुशील कपूर के जून, 1980 के एक लेख के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे हमे परमाणविक शक्ति के रूप में चीन के महत्त्व और अन्तर्राष्ट्रीय जगत पर उसके प्रभाव का कुछ अनुमान लग सकेगा—

प्रशान्त महासागर मे चीनियो ने दो अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र छोड़ कर संसार की परमाणु-आयुद्ध वाली तीसरी शक्ति के रूप में अपनी धाक जमा ली है। आमतौर पर ऐसा समझा जाता है कि उन्होंने बहुत जल्दी यह कामयाबी हासिल कर ली। लेकिन ऐसा कोई चमत्कार नहीं हुआ। वास्तव मे चीनी प्रक्षेपास्त्रों के विकास की कहानी 1955 से ही शुरू होती है, जब डॉ. सिएन (चीनी) अमेरिका से प्रक्षेपास्त्रों की भरपूर जानकारी और अनुभव से लदे-फदे स्वदेश लौटे थे। चीनियो के लिए डॉ. सिएन का महत्त्व उतना ही है जितना हमारे परमाणु-शक्ति के लिए डॉ. होमी जहाँगीर भाभा का रहा। है

1955-56 के करीब सोवियत संघ के साथ चीन की मित्रता दाँत-काटी रोटी थी। उसी उत्साह मे रूसियो ने उन्हें एस. एस.–4 नामक धरती पर मार करने वाले राकेट ही नहीं दिए, बल्कि उसकी सारी टैकनालाजी और सिद्धान्त वगैरह-वगैरह भी उनके हवाले कर दिए। यह एक बहुत बड़ी मदद थी जो आगे चल कर चीनी प्रक्षेपास्त्रों के विकास का मुख्य आधार बनी। 1967 में चीनियो ने दावा किया कि उन्होंने अपने एक राकेट में परमाणु हथियार लगा कर उसका सफल परीक्षण किया है। 1967 में अमेरिका के रक्षा मन्त्री मैकनमारा ने अपने एक भाषण मे इस बात की जोरदार आशंका प्रकट की कि चीनी निकट भविष्य में ही अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र छोड़ने की क्षमता हासिल करने वाले हैं। 24 अप्रेल, 1970 को चीन ने अपना पहला उपग्रह छोड़ कर सिद्ध कर दिया कि प्रक्षेपण की कला उसने सीख ली है और उसका बखूबी इस्तेमाल कर सकता है। इसके बाद 1970 से लेकर 1978

के बीच चीनियों ने कोई 8 उपग्रह छोड़े जिनमे से अन्तिम उपग्रह का वजन 2·7 से लेकर 4·5 टन के बीच था। इसमें एक उल्लेखनीय बात यह है कि चीनियों ने ये सारे के सारे उपग्रह ध्रुवीय कक्षा पर छोड़े थे। इस कक्षा पर घूमने वाला उपग्रह सारी दुनिया को बखूबी देख सकता है। स्पष्टत: उनका उद्देश्य विभिन्न देशों के विरुद्ध जासूसी करना था।

पिछले तीस वर्षों से इस बात की खबरें लगातार मिलती रही है कि चीनी अपने ही इलाके मे अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का परीक्षण सीमित दूरी के लक्ष्य लेकर करते रहे है। चीनी राजनीति की नब्ज पहचानने वालों ने उनके इन प्रयोगो की व्याख्या अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत की है। इन विशेषज्ञों की राय है कि चीन के पास वांछित दूरी तक प्रक्षेपास्त्र छोड़ने की क्षमता तो थी, लेकिन वह राजनीतिक कारणों से कुछ संयम बरत रहे थे। सम्भवत: वे आज से तीन साल पहले ही अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का परीक्षण करके अमेरिका जैसी महाशक्ति को चौकाना नही चाहते थे।

आखिरकार वह समय भी आया जब अन्य परमाणविक शक्तियों की बराबरी करते हुए चीनियो मे प्रशान्त महासागर में अपने राकेटों के सफल प्रयोग किए। ध्यान देने की बात है कि चीन ने इस परीक्षण के लिए हिन्द महासागर नही चुना। इसका एक कारण तो यह भी हो सकता है कि खुद चीनी हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाए रखने की बातें करते रहे है। लेकिन इसके साथ-साथ राजनीतिक पर्यवेक्षकों को यह कारण नजर आता है कि चीन चूंकि भारत के साथ अपने सम्बन्धो को सुधारने के लिए उत्सुक है, इसलिए उसने हिन्द महासागर मे कोई ऐसी भडकाने वाली कार्यवाही करना उचित न समझा होगा।

अब तक प्राप्त समाचारो से ज्ञात हुआ है कि चीनियों ने प्रशान्त महासागर मे दो अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का परीक्षण किया है। यह परीक्षण हर दृष्टि से सफल रहा है। तरल ईंधन के बल पर छोड़े गए ये राकेट कम से कम इतनी क्षमता अवश्य रखते हैं कि चीन के राकेट-केन्द्र से चल कर रूस के यूरोपीय भाग तक मार कर सकें। इससे चीन नि:सन्देह परमाणु आयुध वाली तीसरी शक्ति कहलाने के काबिल हो गया है। लेकिन वह ऐसी परमाणविक शक्ति अभी नही बना जिसमे किसी वास्तविक परमाणविक युद्ध का सामना करने की सामर्थ्य हो। अब तक चीन ने जो कुछ सामर्थ्य अर्जित की है उसे देखते हुए सही ही कहा जा सकता है कि उसके पास परमाणु-युद्ध की स्थिति मे दोबारा हमला करने की क्षमता नहीं है। मतलब यह है कि उसमे अभी इतना दमखम नही है कि किसी वास्तविक परमाणविक हमले को झेल जाए और फिर पलट कर उसके जवाब मे प्रति आक्रमण कर सके। इसके लिए केवल धरती से छोड़े जाने वाले अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का होना भी काफी नही होता जिन्हें कि बड़ी शक्तियाँ आसानी से नाकारा बना सकती हैं। इसके लिए जरूरत होती है पनडुब्बियों और हवाई जहाजों से छोड़े जाने वाले परमाणविक प्रक्षेपास्त्रों की। उनके विकास के लिए अभी चीन को बहुत समय लगेगा।

के बीच चीनियों ने कोई 8 उपग्रह छोड़े जिनमें से अन्तिम उपग्रह का वजन 2·7 से लेकर 4·5 टन के बीच था। इसमे एक उल्लेखनीय बात यह है कि चीनियों ने ये सारे के सारे उपग्रह ध्रुवीय कक्षा पर छोड़े थे। इस कक्षा पर घूमने वाला उपग्रह सारी दुनिया को बखूबी देख सकता है। स्पष्टत: उनका उद्देश्य विभिन्न देशो के विरुद्ध जासूसी करना था।

पिछले तीस वर्षों से इस बात की खबरें लगातार मिलती रही हैं कि चीनी अपने ही इलाके में अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का परीक्षण सीमित दूरी के लक्ष्य लेकर करते रहे है। चीनी राजनीति की नब्ज पहचानने वालो ने उनके इन प्रयोगो की व्याख्या अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत की है। इन विशेषज्ञो की राय है कि चीन के पास वांछित दूरी तक प्रक्षेपास्त्र छोड़ने की क्षमता तो थी, लेकिन वह राजनीतिक कारणों से कुछ संयम बरत रहे थे। सम्भवत: वे आज से तीन साल पहले ही अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का परीक्षण करके अमेरिका जैसी महाशक्ति को चौंकाना नही चाहते थे।

आखिरकार वह समय भी आया जब अन्य परमाणविक शक्तियों की बराबरी करते हुए चीनियों मे प्रशान्त महासागर में अपने राकेटो के सफल प्रयोग किए। ध्यान देने की बात है कि चीन ने इस परीक्षण के लिए हिन्द महासागर नही चुना। इसका एक कारण तो यह भी हो सकता है कि खुद चीनी हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाए रखने की बातें करते रहे है। लेकिन इसके साथ-साथ राजनीतिक पर्यवेक्षकों को यह कारण नजर आता है कि चीन चूंकि भारत के साथ अपने सम्बन्धों को सुधारने के लिए उत्सुक है, इसलिए उसने हिन्द महासागर मे कोई ऐसी भड़काने वाली कार्यवाही करना उचित न समझा होगा।

अब तक प्राप्त समाचारो से ज्ञात हुआ है कि चीनियो ने प्रशान्त महासागर में दो अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का परीक्षण किया है। यह परीक्षण हर दृष्टि से सफल रहा है। तरल ईंधन के बल पर छोड़े गए ये राकेट कम से कम इतनी क्षमता अवश्य रखते है कि चीन के राकेट-केन्द्र से चल कर रूस के यूरोपीय भाग तक मार कर सकें। इससे चीन नि:सन्देह परमाणु आयुध वाली तीसरी शक्ति कहलाने के काबिल हो गया है। लेकिन वह ऐसी परमाणविक शक्ति अभी नही बना जिसमे किसी वास्तविक परमाणविक युद्ध का सामना करने की सामर्थ्य हो। अब तक चीन ने जो कुछ सामर्थ्य अर्जित की है उसे देखते हुए सही ही कहा जा सकता है कि उसके पास परमाणु-युद्ध की स्थिति मे दोबारा हमला करने की क्षमता नही है। मतलब यह है कि उसमे अभी इतना दमखम नही है कि किसी वास्तविक परमाणविक हमले को झेल जाए और फिर पलट कर उसके जवाब मे प्रति आक्रमण कर सके। इसके लिए केवल धरती से छोड़े जाने वाले अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का होना भी काफी नही होता जिन्हें कि बड़ी शक्तियां आसानी से नाकारा बना सकती हैं। इसके लिए जरूरत होती है पनडुब्बियो और हवाई जहाजों से छोड़े जाने वाले परमाणविक प्रक्षेपास्त्रो की। उनके विकास के लिए अभी चीन को बहुत समय लगेगा।

Appendix-8

क्या चीन परमाणविक हथियारों वाली तीसरी महाशक्ति बन गया है ?

मई, 1980 के मध्य चीन द्वारा अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का मध्य प्रशान्त मे परीक्षण किए जाने से यह सिद्ध हो गया है कि वह तीसरी महाशक्ति के रूप मे तेजी से उभरता जा रहा है। चीन की परमाणविक शक्ति के विकास का दुनिया की राजनीति पर कुछ न कुछ असर पड़ना स्वाभाविक है। यहां हम श्री सुशील कपूर के जून, 1980 के एक लेख के कुछ महत्त्वपूर्ण अशो को प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे हमें परमाणविक शक्ति के रूप मे चीन के महत्त्व और अन्तर्राष्ट्रीय जगत पर उसके प्रभाव का कुछ अनुमान लग सकेगा—

प्रशान्त महासागर मे चीनियो ने दो अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र छोड़ कर संसार की परमाणु-आयुद्ध वाली तीसरी शक्ति के रूप मे अपनी धाक जमा ली है। आमतौर पर ऐसा समझा जाता है कि उन्होने बहुत जल्दी यह कामयावी हासिल कर ली। लेकिन ऐसा कोई चमत्कार नही हुआ। वास्तव मे चीनी प्रक्षेपास्त्रो के विकास की कहानी 1955 से ही शुरू होती है, जब डॉ. सिएन (चीनी) अमेरिका से प्रक्षेपास्त्रों की भरपूर जानकारी और अनुभव से लदे-फदे स्वदेश लौटे थे। चीनियो के लिए डॉ. सिएन का महत्त्व उतना ही है जितना हमारे परमाणु-शक्ति के लिए डॉ. होमी जहाँगीर भाभा का रहा। है

1955-56 के करीब सोवियत सघ के साथ चीन की मित्रता दाँत-काटी रोटी थी। उसी उत्साह मे रूसियो ने उन्हे एस. एस.–4 नामक धरती पर मार करने वाले राकेट ही नही दिए, बल्कि उसकी सारी टैक्नालाजी और सिद्धान्त वगैरह-वगैरह भी उनके हवाले कर दिए। यह एक बहुत बड़ी मदद थी जो आगे चल कर चीनी प्रक्षेपास्त्रो के विकास का मुख्य आधार बनी। 1967 मे चीनियो ने दावा किया कि उन्होने अपने एक राकेट मे परमाणु हथियार लगा कर उसका सफल परीक्षण किया है। 1967 मे अमेरिका के रक्षा मन्त्री मैकनमारा ने अपने एक भाषण मे इस बात की जोरदार आशंका प्रकट की कि चीनी निकट भविष्य मे ही अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र छोड़ने की क्षमता हासिल करने वाले हैं। 24 अप्रेल, 1970 को चीन ने अपना पहला उपग्रह छोड़ कर सिद्ध कर दिया कि प्रक्षेपण की कला उसने सीख ली है और उसका बखूबी इस्तेमाल कर सकता है। इसके बाद 1970 से लेकर 1978

के बीच चीनियों ने कोई 8 उपग्रह छोड़े जिनमें से अन्तिम उपग्रह का वजन 2.7 से लेकर 4.5 टन के बीच था। इसमे एक उल्लेखनीय बात यह है कि चीनियों ने ये सारे के सारे उपग्रह ध्रुवीय कक्षा पर छोड़े थे। इस कक्षा पर घूमने वाला उपग्रह सारी दुनिया को बखूबी देख सकता है। स्पष्टतः उनका उद्देश्य विभिन्न देशों के विरुद्ध जासूसी करना था।

पिछले तीस वर्षों से इस बात की खबरें लगातार मिलती रही हैं कि चीनी अपने ही इलाके मे अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का परीक्षण सीमित दूरी के लक्ष्य लेकर करते रहे है। चीनी राजनीति की नब्ज पहचानने वालों ने उनके इन प्रयोगों की व्याख्या अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत की है। इन विशेषज्ञों की राय है कि चीन के पास वांछित दूरी तक प्रक्षेपास्त्र छोड़ने की क्षमता तो थी, लेकिन वह राजनीतिक कारणों से कुछ संयम बरत रहे थे। सम्भवतः वे आज से तीन साल पहले ही अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का परीक्षण करके अमेरिका जैसी महाशक्ति को चौकाना नहीं चाहते थे।

आखिरकार वह समय भी आया जब अन्य परमाणविक शक्तियों की बराबरी करते हुए चीनियों में प्रशान्त महासागर में अपने राकेटों के सफल प्रयोग किए। ध्यान देने की बात है कि चीन ने इस परीक्षण के लिए हिन्द महासागर नही चुना। इसका एक कारण तो यह भी हो सकता है कि खुद चीनी हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाए रखने की बातें करते रहे है। लेकिन इसके साथ-साथ राजनीतिक पर्यवेक्षकों को यह कारण नजर आता है कि चीन चूंकि भारत के साथ अपने सम्बन्धों को सुधारने के लिए उत्सुक है, इसलिए उसने हिन्द महासागर मे कोई ऐसी भड़काने वाली कार्यवाही करना उचित न समझा होगा।

अब तक प्राप्त समाचारो से ज्ञात हुआ है कि चीनियो ने प्रशान्त महासागर मे दो अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का परीक्षण किया है। यह परीक्षण हर दृष्टि से सफल रहा है। तरल ईंधन के बल पर छोड़े गए ये राकेट कम से कम इतनी क्षमता अवश्य रखते हैं कि चीन के राकेट-केन्द्र से चल कर रूस के यूरोपीय भाग तक मार कर सकें। इससे चीन निःसन्देह परमाणु आयुध वाली तीसरी शक्ति कहलाने के काबिल हो गया है। लेकिन वह ऐसी परमाणविक शक्ति अभी नही बना जिसमें किसी वास्तविक परमाणविक युद्ध का सामना करने की सामर्थ्य हो। अब तक चीन ने जो कुछ सामर्थ्य अर्जित की है उसे देखते हुए सही ही कहा जा सकता है कि उसके पास परमाणु-युद्ध की स्थिति में दोबारा हमला करने की क्षमता नही है। मतलब यह है कि उसमे अभी इतना दमखम नही है कि किसी वास्तविक परमाणविक हमले को झेल जाए और फिर पलट कर उसके जवाब में प्रति आक्रमण कर सके। इसके लिए केवल धरती से छोड़े जाने वाले अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का होना भी काफी नहीं होता जिन्हें कि बड़ी शक्तियाँ आसानी से नाकारा बना सकती हैं। इसके लिए जरूरत होती है पनडुब्बियों और हवाई जहाजों से छोड़े जाने वाले परमाणविक प्रक्षेपास्त्रो की। उनके विकास के लिए अभी चीन को बहुत समय लगेगा।

स्वयं चीन मे भी अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र के सफल परीक्षण के बाद कुछ परिवर्तन आने की प्रबल सम्भावनाएँ हैं। अब तक जो भी हथियार चीन के पास रहे हैं, उन सब पर वहाँ की सेना का एकाधिकार रहा है। समझा जाता है कि ये आयुध भी उसी के नियन्त्रण में रहेंगे। ऐसे में स्वय चीन के अन्दर राजनीतिक-सामरिक सम्बन्धों पर इनका गहरा असर पड़ सकता है। इस बात की भी बहुत जरूरत रहेगी कि इन आयुधों पर अत्यन्त केन्द्रीकृत नियन्त्रण रखा जाए ताकि इनका किसी भी प्रकार से अनधिकृत या अनुचित प्रयोग न हो सके। इसके लिए चीन को अपने वर्तमान सैनिक संगठन में कुछ फेर-बदल करने पड़ सकते हैं।

चीन के इन प्रक्षेपास्त्रों के विकास से दुनिया की राजनीति पर भी कुछ न कुछ असर पड़ना लाजमी है। अब यह आसानी से कहा जा सकता है कि रूस के साथ किसी किस्म की सैनिक छेड़खानी बढ़ जाने पर चीन अब अमेरिकी सरक्षण का उतना मोहताज न रहेगा। जहाँ तक चीन के पड़ोसियो का सम्बन्ध है—इस आयुद्ध के विकास को उन्हें कोई गम्भीर खतरा नहीं मानना चाहिए। बात यह है कि एक ओर जहाँ चीन ने इतने आधुनिक हथियारों का विकास कर लिया है वहाँ उसकी बाकी की सेना खासे पुराने और परम्परागत ढर्रे पर ही चल रही है। महाशक्तियों की बात और है। उन्होंने इन आयुधो के विकास के साथ-साथ अत्यन्त आधुनिक किस्म के दूसरे बहुत से हथियार भी बनाए हैं जिनके कारण वे चीन जैसे देशों से सामरिक क्षमता मे बहुत अधिक आगे है। इस बात को यो भी कहा जा सकता है कि चीन के ये प्रक्षेपास्त्र उसके लिए आक्रामक महत्त्व के कम और सुरक्षात्मक महत्त्व के अधिक सिद्ध होगे। हम चाहें तो उन्हें एक 'ढाल' कह सकते हैं। जहाँ तक तलवार का सवाल है, चीन के परम्परागत हथियारों की तलवार अभी काफी कुन्द है—उसकी धार बनाने मे उसे बहुत अधिक समय लगेगा।



Appendix—9

अमेरिकी बन्धकों की रिहाई के लिए ईरान की चार शर्तें और अमेरिकी स्वीकृति

ईरानी मजलिस (संसद) ने 2 नवम्बर, 1980 को यह तय कर दिया कि अमेरिकी बन्धकों को किन शर्तों पर रिहा किया जा सकता है। ईरानी संसद का यह बहु-प्रतीक्षित निर्णय अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनाव से मात्र दो दिन पूर्व तथा ईरान-ईराक के बीच छिड़े युद्ध के 42वें दिन आया। 228 सदस्यीय ईरानी ससद ने चार घण्टे की बहस के बाद 200 डिप्टियों के निर्णायक बहुमत से उन चार शर्तों की पुष्टि की जिनकी सिफारिश इस हेतु स्थापित एक विशेष आयोग ने की थी और जो ईरानी धार्मिक नेता आयतुल्ला खोमैनी द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार थी। संसद मे विशेष आयोग के सदस्य होजातोलेस्लम मुमाबी खोनिहा ने इन शर्तों को पढकर सुनाया और यह भी कहा कि, "यदि सब शर्तों को पूरा करने के लिए अमेरिका को अधिक समय लगता है तो इनमें से एक-एक शर्त पूरी किए जाने पर कुछ बन्धकों की रिहाई की जाती रहेगी।"

ईरानी ससद 'मजलिस' के अधिवेशन द्वारा स्वीकृत चार शर्तें इस प्रकार हैं—

1. अमेरिका ईरान के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने का वचन दे,
2. अमेरिका द्वारा ईरानी सम्पत्ति वापस लौटा दी जाए,
3. ईरान के विरुद्ध अमेरिका अपने सभी आर्थिक दावों को छोड़ दे, एव
4. स्वर्गीय शाह की सम्पत्ति ईरान वापस लाने में सहयोग प्रदान करे।

3 नवम्बर, 1980 को ईरानी प्रधान मन्त्री मोहम्मद अली रजाई तथा अल्जीरिया के राजदूत आपसी बातचीत के बाद इस बात पर सहमत हो गए कि अल्जीरिया 52 अमेरिकी बन्धकों को अपनी देखरेख मे रखे। इससे पूर्व क्रान्तिकारी नेता खोमेनी ने क्रान्तिकारी मुस्लिम छात्रो से कहा कि वे 52 अमेरिकी बन्धकों को ईरान सरकार को सौंप दें जिस पर छात्र सहमत हो गए। उल्लेखनीय है कि अल्जीरिया अमेरिका मे ईरानी हितों का प्रतिनिधित्व करता है जबकि तेहरान मे अमेरिकी हितों का कार्यभार स्विट्जरलैण्ड के पास है।

11 नवम्बर, 1980 के समाचारों के अनुसार अमेरिका ने बन्धकों के रिहाई के सम्बन्ध में ईरान ससद की शर्तों को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लिया तथापि यह सकेत अवश्य दिया है कि ईरान द्वारा की गई वित्तीय मांगों को पूर्ण करना सम्भवतः कठिन होगा।

Appendix—10

अमेरिका के नये राष्ट्रपति : रोनाल्ड रीगन

रिपब्लिकन नेता एवं केलिफोर्निया के भूतपूर्व गवर्नर रोनाल्ड रीगन 4 नवम्बर, 1980 को सम्पन्न हुए राष्ट्रपतीय चुनावों में वर्तमान राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर को हराकर अमेरिका के 40वें राष्ट्रपति चुन लिए गए। 69 वर्षीय रीगन को 51 प्रतिशत मत मिले जबकि जिम्मी कार्टर को 43 प्रतिशत मत ही प्राप्त हुए। रीगन को अमेरिका के 50 में से 31 राज्यों में बहुमत मिला। रीगन के साथ उनके साथी जार्ज बुश उपराष्ट्रपति चुने गए। रीगन तथा बुश 20 जनवरी, 1981 को क्रमशः राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति पद की शपथ लेंगे।

नए राष्ट्रपति अमेरिका की विदेश नीति को क्या नया मोड़ देंगे, यह अभी भविष्य के गर्भ में है, तथापि इस सम्बन्ध में 6 नवम्बर, 1980 के हिन्दुस्तान का सम्पादकीय पठनीय है—

"यदि हम चुनाव परिणामों का विश्लेषण करें तो एक बात स्पष्ट होगी जो रीगन की विजय से अधिक कार्टर की पराजय की द्योतक है। पद पर रहते हुए हारने वाले कार्टर डेमोक्रेटिक पार्टी के पहले उम्मीदवार हैं। जिन राज्यों को डेमोक्रेटिक पार्टी का गढ़ समझा जाता था, और जिन वर्गों को डेमोक्रेटिक पार्टी का कट्टर समर्थक समझा जाता था, उनसे भी रीगन को प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ है। कार्टर की इस अलोकप्रियता का कारण उनकी ढुलमुल तथा अलाभकारी नीतियों को ही समझा जाना चाहिए। उनके शासन काल मे मुद्रा स्फीति मे भारी वृद्धि हुई है, मूल्य बढ़ रहे हैं तथा ऊर्जा संकट के कारण भी आम जनता की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ी हैं। सबसे अधिक, कुछ भावात्मक प्रश्नों ने भी इन चुनावों मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। अमेरिका की आम जनता के मन में यह धारणा बनी हुई है कि शक्ति-सन्तुलन के मामले में अमेरिका रूस से पिछड़ गया है। अफगानिस्तान मे अमेरिकी नीति की विफलता और ईरान मे अमेरिकी बन्धकों के प्रश्न ने भी अमेरिकी जनता के मन को काफी झिंझोड़ा है। बन्धकों के प्रश्न पर ईरानी मजलिस का ताजा निर्णय भी अमेरिकी मतदाता के मन मे यह विश्वास जगा पाने में असफल रहा है कि कार्टर की नीतियों से वे (बन्धक) निकट भविष्य मे रिहा हो पाएँगे। रीगन ने अपने प्रचार मे जनता की इस मानसिक स्थिति का पूरा लाभ उठाया और अमेरिकी सैन्य शक्ति

में वृद्धि पर जोर दिया जिससे सोवियत संघ की महत्त्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगाया जा सके और अमेरिका के मित्र देशों के मन में नया विश्वास जगाया जा सके।

चुनाव अभियान के दौरान रीगन और कार्टर ने विदेश नीति, आर्थिक नीति तथा ऊर्जा नीति के मुद्दों पर जो रुख अपनाए उनसे अमेरिका की वर्तमान नीतियों में कुछ मौलिक परिवर्तन होने के संकेत मिलते हैं। हो सकता है, अमेरिकी रुख में कड़ाई आने से तनाव के कुछ नए क्षेत्र पैदा हों। तीसरे विश्व के लिए भी रीगन ने अपने चुनाव भाषणों में कोई उत्साहजनक बात नहीं कही है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि नए राष्ट्रपति पुरानी सारी नीतियों को उलट देंगे। अब जब उनका चुनाव निश्चित हो गया है (अभी निर्वाचन मण्डल द्वारा उसकी विधिवत् पुष्टि की जानी बाकी है जिसके बाद वह आगामी वर्ष 20 जनवरी को पदभार ग्रहण करेंगे) तब पद की जिम्मेदारियाँ और व्यावहारिक समस्याएँ निश्चय ही उनकी विचारधारा को प्रभावित करेंगी। चुनाव-प्रचार के दौरान बहुत-सी ऐसी बातें कही जाती हैं जिन पर बाद में अमल करना सम्भव नहीं होता। रीगन ने भी ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं, उदाहरणार्थ उन्होंने व्यक्तिगत करों में तीन वर्षों में तीस प्रतिशत की छूट देने का आश्वासन दिया है। अमेरिकी सैन्य शक्ति में भारी वृद्धि की बात कही है, जिस पर विपुल धनराशि खर्च होगी, साथ ही सन्तुलित बजट पेश करने का भी वचन दिया है। ये विरोधी बातें कैसे पूरी होंगी, यह भविष्य ही बताएगा। लेकिन इस बात में सन्देह नहीं कि सारी दुनियाँ की नजरें इस चुनाव पर थीं। अमेरिकी राष्ट्रपति को विश्व का सबसे शक्तिशाली व्यक्ति कहा जाता है और उसके इशारे पर लाखों-करोड़ों लोगों का भविष्य निर्भर है। अमेरिकी जनता ने अपना निर्णय दे दिया है, उसके परिणाम जानने के लिए कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी होगी।"

Appendix—11

जनवरी 1977 से नवम्बर 1980 तक की महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की झलक

7 जनवरी, 1977	:	पाँच अफ्रीकी राष्ट्रपतियों की लुसाका में शिखर-वार्ता।
12 जनवरी, 1977	:	फ्रांस द्वारा अरब-देशों को 200 मिराज देने का निर्णय।
1 फरवरी, 1977	:	अमेरिका द्वारा दक्षिणी कोरिया से धीरे-धीरे हटने का निश्चय।
5 फरवरी, 1977	:	मिस्र और सीरिया द्वारा संयुक्त कमान गठित करने का निर्णय।
18 फरवरी, 1977	:	संयुक्त राष्ट्र अमेरिकी राजदूत एंड्रू यंग द्वारा दक्षिण अफ्रीका में कालों के शासन का समर्थन।
7 मार्च, 1977	:	काहिरा मे अरब-अफ्रीकी देशों के शिखर-सम्मेलन मे 60 देश सम्मिलित।
12 मार्च, 1977	:	ब्राजील द्वारा अमेरिका से प्रतिरक्षा समझौता रद्द।
13 मार्च, 1977	:	ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री जेम्स केलेहन द्वारा हिन्द-महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने का समर्थन।
20 मार्च, 1977	:	तुर्की और सोवियत सघ में मैत्री-समझौता।
24 मार्च, 1977	:	भारत में मोरारजी देसाई जनता पार्टी के नेता निर्वाचित और प्रधान मन्त्री पद की शपथ ग्रहण।
27 मार्च, 1977	:	रूसी राष्ट्रपति पोदगोर्नी द्वारा अफ्रीकी देशों को पूर्ण सहायता का आश्वासन।
7 अप्रेल, 1977	:	अमेरिका द्वारा डियागो-गार्सिया मे सैनिक अड्डे का तेजी से निर्माण।
8 अप्रेल, 1977		इजरायल के प्रधान मन्त्री राबिन का त्याग-पत्र।
14 अप्रेल, 1977	:	जोर्डन द्वारा चीन से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का निर्णय।
21 अप्रेल, 1977	:	जनरल जियाउर्रहमान बंगलादेश के नए राष्ट्रपति।
26 अप्रेल, 1977	:	पश्चिमी जर्मनी द्वारा सोवियत संघ को एक अरब डॉलर का ऋण।

27 अप्रैल, 1977	:	भारत और सोवियत संघ में तीन समझौतों पर नई दिल्ली में हस्ताक्षर।
4 जून, 1977	:	अमेरिका और क्यूबा राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने पर सहमत।
7 जून, 1977	:	प्रधान मन्त्री देसाई और विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी राष्ट्रकुल सम्मेलन में भाग लेने के लिए लन्दन रवाना।
8 जून, 1977	:	लन्दन में राष्ट्रकुल शिखर-सम्मेलन शुरू।
10 जून, 1977	:	रोडेशिया के विरुद्ध केनेथ काउण्डा की योजना का राष्ट्रकुल सम्मेलन में भारत द्वारा समर्थन।
15 जून, 1977	:	लन्दन में राष्ट्रकुल सम्मेलन की समाप्ति पर संयुक्त विज्ञप्ति जारी।
16 जून, 1977	:	लियोनिद ब्रेझनेव सोवियत संघ के राष्ट्रपति निर्वाचित।
19 जून, 1977	:	वाटरगेट काण्ड समाप्त।
21 जून, 1977	:	लिकुड के नेता बेगिन द्वारा इजरायल के प्रधानमन्त्री-पद की शपथ ग्रहण।
27 जून, 1977	:	अफ्रीका स्थित जिबूती को स्वाधीनता प्राप्त।
30 जून, 1977	:	यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों द्वारा फिलिस्तीनियों के लिए पृथक् राज्य का समर्थन।
5 जुलाई, 1977	:	पाकिस्तान में रक्तहीन क्रान्ति। भुट्टो सहित सभी राजनीतिक नेता गिरफ्तार और फौजी कानून लागू। जनरल जिया-उल-हक प्रमुख फौजी प्रशासक।
20 जुलाई, 1977	:	सुरक्षा परिषद् द्वारा वियतनाम को संयुक्तराष्ट्र का सदस्य बनाने का अनुमोदन।
23 जुलाई, 1977	:	श्रीलंका में जयवर्द्धन मन्त्रिमण्डल द्वारा शपथ ग्रहण।
26 जुलाई, 1977	:	अल्बानिया द्वारा चीनी विशेषज्ञों का बहिष्कार।
28 जुलाई, 1977	:	चीन द्वारा उद्जन बम का विस्फोट।
10 अगस्त, 1977	:	पैकिंग में चीन की पार्टी का ग्यारहवाँ अधिवेशन।
14 अगस्त, 1977	:	विश्व के कम्युनिस्टों के भाईचारे की भावना स्थापित करने के लिए मार्शल टीटो की सोवियत संघ और चीन की यात्रा।
15 अगस्त, 1977	:	अरब-इजरायल संघर्ष की समाप्ति के लिए अमेरिका द्वारा आठ सूत्री योजना प्रस्तुत।
1 सितम्बर, 1977	:	रोडेशिया के चुनाव में इयान स्मिथ के रोडेशियाई मोर्चे को भारी बहुमत प्राप्त।

21 सितम्बर, 1977	:	संयुक्त राष्ट्र की महासभा के 32वें अधिवेशन के अवसर पर वियतनामी समाजवादी गणतन्त्र का संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश।
24 सितम्बर, 1977	:	चीन द्वारा तीन अफ्रीकी देश गिनी, नाइजर और मोजाम्बिक के साथ आर्थिक और तकनीकी सहयोग सम्बन्धी समझौते।
1 अक्तूबर, 1977	:	वाशिंगटन में भारत के विदेश मन्त्री द्वारा तब तक परमाणु विस्तार निरोधक सन्धि पर हस्ताक्षर न करने की घोषणा जब तक सभी देश इस प्रकार के अस्त्रों को समाप्त करने की कार्यवाही न करें।
2 अक्तूबर, 1977	:	संयुक्तराष्ट्र में भारत के विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी द्वारा पहली बार हिन्दी में भाषण।
7 अक्तूबर, 1977	:	चीन और सोवियत संघ के बीच पिछले आठ वर्षों में पहली बार नौ-सैनिक समझौता सम्पन्न।
21 अक्तूबर, 1977	:	प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई का मास्को पहुँचने पर भव्य स्वागत।
1 नवम्बर, 1977	:	सुरक्षा परिषद् में दक्षिण अफ्रीका विरोधी प्रस्तावों पर अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा निषेधाज्ञा के अधिकार का प्रयोग।
5 नवम्बर, 1977	:	संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् द्वारा दक्षिण अफ्रीका को अस्त्र देने पर प्रतिबन्ध।
19 नवम्बर, 1977	:	यरूशलम (इजरायल) पहुँचने पर अनवर सादात का भव्य स्वागत। लीबिया द्वारा मिस्र से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद।
20 नवम्बर, 1977	:	सादात का इजरायल संसद् को सम्बोधन।
21 नवम्बर, 1977	:	सादात और बेगिन द्वारा युद्ध न करने का ऐलान।
24 नवम्बर, 1977	:	लीबिया द्वारा मिस्र से सम्बन्ध विच्छेद।
5 दिसम्बर, 1977	:	मिस्र द्वारा लीबिया और सीरिया से राजनयिक सम्बन्ध का निर्णय।
7 दिसम्बर, 1977	:	मिस्र द्वारा सोवियत संघ, पूर्वी जर्मनी, हंगरी आदि के सांस्कृतिक केन्द्रों को बन्द करने के आदेश।
25 दिसम्बर, 1977	:	इजरायली प्रधान मन्त्री श्री बेगिन मिस्री राष्ट्रपति सादात के बीच इस्मायलिया में शिखर-वार्ता।
26 दिसम्बर, 1977	:	सादात-बेगिन की समझौता-वार्ता विफल, मुख्य बाधा फिलिस्तीन समस्या का हल न ढूंढ पाना।
1 जनवरी, 1978	:	अमेरिका के राष्ट्रपति श्री जिम्मी कार्टर का भारत आगमन।

3 जनवरी, 1978	:	भारत-अमेरिका संयुक्त घोषणा—तीन करारों और घोषणाओं पर हस्ताक्षर।
5 जनवरी, 1978	:	ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री जेम्स केलेहन का छः दिन की भारत यात्रा पर दिल्ली आगमन।
11 जनवरी, 1978	:	बेगिन द्वारा पश्चिम एशिया पर पाँच सूत्री प्रस्ताव प्रस्तुत।
28 जनवरी, 1978	:	पश्चिम एशिया की समस्या सुलझाने के लिए राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर और अनवर सादात में वाशिंगटन में 4 फरवरी को वार्ता।
1 फरवरी, 1978	:	30 देशों का निरस्त्रीकरण सम्मेलन जिनेवा में शुरू।
4 फरवरी, 1978	:	कैम्प डेविड (अमेरिका) में मिस्री राष्ट्रपति अनवर सादात की जिम्मी कार्टर से वार्ता।
20 फरवरी, 1978	:	मास्को में सोवियत भारत व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर।
23 फरवरी, 1978	:	मिस्र द्वारा साइप्रस से सम्बन्ध विच्छेद।
4 मार्च, 1978	:	हुआ कुओ फेङ् चीन के पुनः प्रधान मन्त्री निर्वाचित।
8 मार्च, 1978	:	चीन द्वारा नया संविधान प्रकाशित।
11 मई, 1978	:	सीमा पर सोवियत संघ के सैनिकों के हमले का चीन द्वारा विरोध।
14 मई, 1978	:	चीन द्वारा सोवियत संघ को युद्ध की धमकी।
17 मई, 1978	:	हवाना (क्यूबा) में गुट-निरपेक्ष देशों का ब्यूरो सम्मेलन शुरू।
9 जून, 1978	:	प्रधान मन्त्री देसाई द्वारा संयुक्त-राष्ट्र महासभा में पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए चार सूत्री योजना।
12 जून, 1978	:	मेजर जनरल जियाउर्रहमान द्वारा बंगलादेश के राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण। मदद न मिलने पर पाकिस्तान द्वारा सैण्टो छोड़ने की धमकी।
29 जून, 1978	:	संयुक्तराष्ट्र के निरस्त्रीकरण सम्मेलन में मतैक्य का अभाव।
13 जुलाई, 1978	:	अमेरिकी कांग्रेस द्वारा भारत को परमाणु ईंधन देने का प्रस्ताव स्वीकृत।
16 जुलाई, 1978	:	बेलग्रेड सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन व्याख्याएँ और अटल बिहारी वाजपेयी सहायता पर रोक की अपील।
16 अगस्त, 1978	:	चीन द्वारा पाकिस्तान को परमाण का प्रस्ताव।

23 अगस्त, 1978 : *फ्रांस द्वारा पाकिस्तान को परमाणु संयंत्र देने सम्बन्धी समझौता रद्द।*

7 सितम्बर, 1978 : अमेरिका और सोवियत संघ में अस्त्र प्रसार निरोध वार्ता (साल्ट) मास्को में शुरू।

10 सितम्बर, 1978 : चीन-जापान द्वारा सैनिक अधिकारियों के आदान-प्रदान का फैसला।

16 सितम्बर, 1978 : *जिया-उल-हक अब पाकिस्तान के राष्ट्रपति।*

18 सितम्बर, 1978 : कैम्प डेविड वार्ता सफल।

10 अक्तूबर, 1978 : संयुक्त राष्ट्र महासभा में विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा अपने हिन्दी भाषण में निरस्त्रीकरण के लिए छः सूत्री योजना प्रस्तुत।

24 सितम्बर, 1978 : चार अरब देशों द्वारा मिस्र से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद

23 अक्तूबर, 1978 : चीन-जापान शान्ति समझौते का दोनों देशों द्वारा अनुमोदन।

3 नवम्बर, *1978* : *मिस्र तथा इजरायल द्वारा सभी मुद्दों पर सहमति।*

4 नवम्बर, 1978 : मास्को में सोवियत संघ और वियतनाम में एक मैत्री समझौते पर हस्ताक्षर।

29 नवम्बर, 1978 : सोवियत संघ द्वारा परमाणु परीक्षण।

8 दिसम्बर, 1978 : ब्रिटेन द्वारा गिलबर्ट द्वीप समूह को जुलाई, 1979 में स्वाधीन करने सम्बन्धी एक समझौते पर हस्ताक्षर।

1 जनवरी, 1979 : अमेरिका और चीन में राजनयिक सम्बन्ध स्थापित और वुडकाक पीकिंग में प्रथम अमेरिकी राजदूत।

16 जनवरी, 1979 : फ्रांस और चीन द्वारा परमाणु सहयोग सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर।

29 जनवरी, 1979 : चीन के उपप्रधानमन्त्री तेंग सियाओ पिंग का वाशिंगटन पहुँचने पर भव्य स्वागत।

1 फरवरी, *1979* : *निर्वासित धार्मिक नेता अयातुल्ला खुमैनी को पेरिस से तेहरान लौटने पर भव्य स्वागत।*

5 फरवरी, 1979 : अयातुल्ला खुमैनी द्वारा तेल विशेषज्ञ डॉ. मेहदी बजरगन को देश का प्रधान मन्त्री नियुक्त।

12 फरवरी, 1979 : अटल बिहारी वाजपेयी का पीकिंग आगमन।

17 फरवरी, 1979 : चीन का वियतनाम पर हमला।

19 फरवरी, 1979 : बंगलादेश के चुनाव में [illegible] जियाउर्रहमान की [illegible] राष्ट्रीय प[illegible] बहुमत प्राप्त।

26 फरवरी, 1979	:	ग्रमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा पश्चिम एशिया में शान्ति समझौते के लिए एक बार शिखर वार्ता का ग्राग्रह ।
3 मार्च, 1979	:	चीन द्वारा वियतनाम से ग्रपनी सेनाएँ वापस बुलाने का फैसला ।
4 मार्च, 1979	:	ब्रिटेन चीन द्वारा 14 ग्ररब डॉलर व्यापार समझौते पर पीकिंग मे हस्ताक्षर ।
7 मार्च, 1979	:	कार्टर का काहिरा पहुँचने पर भव्य स्वागत ।
10 मार्च, 1979	:	मिस्री नेताग्रों से वार्ता के बाद ग्रमेरिकी राष्ट्रपति का तेल ग्रवीव (इजरायल) ग्रागमन ।
12 मार्च, 1979	:	ईरान ग्रौर पाकिस्तान द्वारा 'सेंटो' से सम्बन्ध विच्छेद
14 मार्च, 1979	:	पश्चिम एशिया वार्ता समाप्ति के बाद कार्टर वाशिंगटन वापस । इजरायली मन्त्रिमण्डल द्वारा शान्ति सन्धि की महत्त्वपूर्ण धाराएँ स्वीकार ।
15 मार्च, 1979	:	तुर्की द्वारा भी केन्द्रीय सन्धि संगठन (सेंटो) से सम्बन्ध विच्छेद ।
21 मार्च, 1979	:	शान्ति सन्धि के बाद इजरायल को ग्रमेरिका द्वारा तीन ग्ररब डॉलर सहायता का ग्राश्वासन ।
22 मार्च, 1979	:	इजरायली कनेस्ट (संसद्) द्वारा मिस्र ग्रौर इजरायल में शान्ति सन्धि का ग्रनुमोदन ।
26 मार्च, 1979	:	वाशिंगटन मे मिस्र के राष्ट्रपति ग्रनवर सादात ग्रौर इजरायल प्रधान मन्त्री मेनाहिम बेगिन द्वारा शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर ।
8 ग्रप्रेल, 1979	:	सीरिया को सोवियत ग्रस्त्र प्राप्त ।
14 ग्रप्रेल, 1979	:	नेपाल में मन्त्रिमण्डल का महाराज वीरेन्द्र द्वारा पुनर्गठन वियतनाम कम्बोडिया मे शान्ति, मैत्री ग्रौर सहयोग की ग्रनुमोदित सन्धि का ग्रादान-प्रदान ।
16 ग्रप्रेल, 1979	:	प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई के ढाका पहुँचने पर भव्य स्वागत ।
20 ग्रप्रेल, 1979		मिस्र द्वारा इजरायल से शान्ति सन्धि तथा संसद् भंग के प्रस्ताव पर जनमत संग्रह मे 99 प्रतिशत से ग्रधिक व्यक्तियो द्वारा ग्रनुमोदन ।
23 ग्रप्रेल, 1979	:	ब्रेझनेव को लेनिन पुरस्कार, मिस्र द्वारा कुवैत से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद ।
25 ग्रप्रेल, 1979	:	मिस्र ग्रौर इजरायल द्वारा शान्ति सम्बन्धी दस्तावेजो का ग्रादान-प्रदान ।

23 अगस्त, 1978	:	फ्रांस द्वारा पाकिस्तान को परमाणु संयंत्र देने सम्बन्धी समझौता रद्द ।
7 सितम्बर, 1978	:	अमेरिका और सोवियत संघ में अस्त्र प्रसार निरोध वार्ता (साल्ट) मास्को में शुरू ।
10 सितम्बर, 1978	:	चीन-जापान द्वारा सैनिक अधिकारियों के आदान-प्रदान का फैसला ।
16 सितम्बर, 1978	:	जिया-उल-हक अब पाकिस्तान के राष्ट्रपति ।
18 सितम्बर, 1978	:	कैम्प डेविड वार्ता सफल ।
10 अक्तूबर, 1978	:	सयुक्त राष्ट्र महासभा में विदेश मन्त्री अटल विहारी वाजपेयी द्वारा अपने हिन्दी भाषण में निरस्त्रीकरण के लिए छः सूत्री योजना प्रस्तुत ।
24 सितम्बर, 1978	:	चार अरब देशों द्वारा मिस्र से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद
23 अक्तूबर, 1978	:	चीन-जापान शान्ति समझौते का दोनो देशों द्वारा अनुमोदन ।
3 नवम्बर, 1978	:	मिस्र तथा इजरायल द्वारा सभी मुद्दों पर सहमति ।
4 नवम्बर, 1978	:	मास्को में सोवियत संघ और वियतनाम में एक मैत्री समझौते पर हस्ताक्षर ।
29 नवम्बर, 1978	:	सोवियत संघ द्वारा परमाणु परीक्षण ।
8 दिसम्बर, 1978	:	ब्रिटेन द्वारा गिलबर्ट द्वीप समूह को जुलाई, 1979 में स्वाधीन करने सम्बन्धी एक समझौते पर हस्ताक्षर ।
1 जनवरी, 1979	:	अमेरिका और चीन मे राजनयिक सम्बन्ध स्थापित और वुडकाक पीकिंग में प्रथम अमेरिकी राजदूत ।
16 जनवरी, 1979	:	फ्रांस और चीन द्वारा परमाणु सहयोग सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर ।
29 जनवरी, 1979	:	चीन के उपप्रधानमन्त्री तेग सिआओ पिंग का वाशिंगटन पहुँचने पर भव्य स्वागत ।
1 फरवरी, 1979	:	निर्वासित धार्मिक नेता अयातुल्ला खुमैनी को पेरिस से तेहरान लौटने पर भव्य स्वागत ।
5 फरवरी, 1979	:	अयातुल्ला खुमैनी द्वारा तेल विशेषज्ञ डॉ. मेंहदी बजरगन को देश का प्रधान मन्त्री नियुक्त ।
12 फरवरी, 1979	:	अटल बिहारी वाजपेयी का पीकिंग आगमन ।
17 फरवरी, 1979	:	चीन का वियतनाम पर हमला ।
19 फरवरी, 1979	:	बंगलादेश के चुनाव में राष्ट्रपति जियाउर्रहमान को बंगलादेश राष्ट्रीय पार्टी को दो तिहाई बहुमत प्राप्त । ईरान द्वारा अन्तिम 67 इजरायली निष्कासित ।

26 फरवरी, 1979	:	अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा पश्चिम एशिया मे शान्ति समझौते के लिए एक बार शिखर वार्ता का आग्रह ।
3 मार्च, 1979	:	चीन द्वारा वियतनाम से अपनी सेनाएँ वापस बुलाने का फैसला ।
4 मार्च, 1979	:	ब्रिटेन चीन द्वारा 14 अरब डॉलर व्यापार समझौते पर पीकिंग मे हस्ताक्षर ।
7 मार्च, 1979	:	कार्टर का काहिरा पहुँचने पर भव्य स्वागत ।
10 मार्च, 1979	:	मिस्री नेताओं से वार्ता के बाद अमेरिकी राष्ट्रपति का तेल अवीव (इजरायल) आगमन ।
12 मार्च, 1979	:	ईरान और पाकिस्तान द्वारा 'सेंटो' से सम्बन्ध विच्छेद
14 मार्च, 1979	:	पश्चिम एशिया वार्ता समाप्ति के बाद कार्टर वाशिंगटन वापस । इजरायली मन्त्रिमण्डल द्वारा शान्ति सन्धि की महत्त्वपूर्ण धाराएँ स्वीकार ।
15 मार्च, 1979	:	तुर्की द्वारा भी केन्द्रीय सन्धि संगठन (सेंटो) से सम्बन्ध विच्छेद ।
21 मार्च, 1979	:	शान्ति सन्धि के बाद इजरायल को अमेरिका द्वारा तीन अरब डॉलर सहायता का आश्वासन ।
22 मार्च, 1979	:	इजरायली कनेस्ट (संसद्) द्वारा मिस्र और इजरायल मे शान्ति सन्धि का अनुमोदन ।
26 मार्च, 1979	:	वाशिंगटन मे मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात और इजरायल प्रधान मन्त्री मेनाहिम बेगिन द्वारा शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर ।
8 अप्रैल, 1979	:	सीरिया को सोवियत अस्त्र प्राप्त ।
14 अप्रैल, 1979	:	नेपाल में मन्त्रिमण्डल का महाराज वीरेन्द्र द्वारा पुनर्गठन वियतनाम कम्बोडिया में शान्ति, मैत्री और सहयोग की अनुमोदित सन्धि का आदान-प्रदान ।
16 अप्रैल, 1979	:	प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई के ढाका पहुँचने पर भव्य स्वागत ।
20 अप्रैल, 1979		मिस्र द्वारा इजरायल से शान्ति सन्धि तथा ससद् भंग के प्रस्ताव पर जनमत संग्रह में 99 प्रतिशत से अधिक व्यक्तियों द्वारा अनुमोदन ।
23 अप्रैल, 1979	:	ब्रेझनेव को लेनिन पुरस्कार, मिस्र द्वारा कुवैत से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद ।
25 अप्रैल, 1979	:	मिस्र और इजरायल द्वारा शान्ति सम्बन्धी दस्तावेजों का आदान-प्रदान ।

27 अप्रेल, 1979	:	मोरक्को द्वारा मिस्र से राजनयिक सम्बन्ध तोड़े जाना।
8 मई, 1979	:	रूस और अमेरिका द्वितीय अस्त्र परिसीमन सन्धि के लिए सहमत।
16 मई, 1979	:	अमेरिकी सेनेट द्वारा सरकार से रोडेशिया के विरुद्ध लगे अवरोधों को दूर करने का प्रस्ताव।
24 मई, 1979	:	लेबनान के कई जिलों पर इजरायल द्वारा भारी गोलाबारी।
25 मई, 1979	:	इजरायल द्वारा सिनाई की राजधानी अल अरिश मिस्र को सौंपा जाना।
27 मई, 1979	:	मिस्र और इजरायल दोनों देशों के बीच खुले आवागमन के लिए सहमत।
29 मई, 1979	:	रोडेशिया में पहले अश्वेत प्रधानमन्त्री बिशप मुजोरेवा द्वारा शपथ ग्रहण।
10 जून, 1979	:	प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई का ताशकन्द आगमन।
18 जून, 1979	:	वीएना में अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर और सोवियत संघ के राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव द्वारा साल्ट–2 समझौतों पर हस्ताक्षर।
28 जून, 1979	:	तेल-उत्पादक देशो द्वारा तेल मूल्यों में भारी बढ़ोत्तरी।
6 जुलाई, 1979	:	हवाना के गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन में मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात को निमन्त्रण।
21 जुलाई, 1979	:	मोनोरोविया में अफ्रीकी एकता संगठन के शिखर सम्मेलन में रोडेशिया की नई सरकार को मान्यता देने से इन्कार।
31 जुलाई, 1979	:	लुसाका में राष्ट्रकुल देशों का शिखर सम्मेलन शुरू।
4 अगस्त, 1979	:	लुसाका शिखर सम्मेलन में ब्रितानी प्रधान मन्त्री टेचर द्वारा रोडेशिया में कालों को बहुमत सरकार के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त।
7 अगस्त, 1979	:	लुसाका शिखर सम्मेलन रोडेशिया पर नई योजना का अनुमोदन कर समाप्त।
25 अगस्त, 1979	:	अमेरिका के उपराष्ट्रपति वाल्टर मांडेल का पीकिंग आगमन।
27 अगस्त, 1979	:	नेपाल के महाराज वीरेन्द्र की पीकिंग में चीनी नेताओं से वार्ता।
28 अगस्त, 1979	;	मिस्र को 18·5 करोड़ डॉलर की अमेरिकी सहायता।
30 अगस्त, 1979	:	पाकिस्तान को गुट-निरपेक्ष सम्मेलन में शामिल करने के बारे में अफगानिस्तान का विरोध।

31 अगस्त, 1979	:	हवाना में गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन द्वारा सात नए देशों को शामिल करने की सिफारिश।
2 सितम्बर, 1979	:	पाकिस्तान द्वारा शान्तिपूर्ण कार्यों के इस्तेमाल के लिए परमाणु ऊर्जा के उत्पादन की स्वीकृति।
3 सितम्बर, 1979	:	गुट-निरपेक्ष आन्दोलन मे 12 और सदस्य शामिल।
5 सितम्बर, 1979	:	हैफा में मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात और इजराइल के प्रधान मन्त्री मेनाहिम बेगिन मे तेल और सिनाई पर समझौता।
8 सितम्बर, 1979	:	चीन द्वारा कई यूरोपीय देशो से भारी मात्रा मे अस्त्रों की खरीद।
10 सितम्बर, 1979	:	रोडेशिया पर लन्दन में सर्वैधानिक सम्मेलन शुरू।
16 सितम्बर, 1979	:	अफगानिस्तान के प्रधान मन्त्री हफाजुल्ला अमीन नूर अहमद तराकी को अपदस्थ कर राष्ट्रपति।
18 सितम्बर, 1979	:	अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन की पीकिंग मे चीनी नेताओं से वार्ता।
19 सितम्बर, 1979	:	सयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा पोलपोत की कंबुजिया सरकार को मान्यता प्रदान।
21 सितम्बर, 1979	:	मध्य अफ्रीका में क्रान्ति और सम्राट बोकासा सत्ताच्युत। जिम्बाब्वे-रोडेशिया द्वारा लन्दन के सर्वैधानिक सम्मेलन मे ब्रितानी प्रस्ताव स्वीकार, सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान की नई सरकार को पूर्ण समर्थन।
22 सितम्बर, 1979	:	चीन द्वारा प्रक्षेपास्त्र परीक्षण।
23 सितम्बर, 1979	:	सोवियत सघ के सम्बन्ध सुधार के लिए चीन के एक प्रतिनिधि मण्डल का मास्को आगमन।
27 सितम्बर, 1979	:	क्यूबा मे सोवियत सैनिकों का उपस्थिति से अमेरिका-रूस सम्बन्धों मे बिगाड़।
28 सितम्बर, 1979	:	बगलादेश द्वारा परमाणु प्रसार विरोधी सन्धि पर हस्ताक्षर।
29 सितम्बर, 1979	:	बर्मा द्वारा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन से सम्बन्ध विच्छेद।
3 अक्तूबर, 1979	:	ब्रिटेन के विदेश मन्त्री लॉर्ड कैरिंग्टन द्वारा रोडेशिया के सविधान का प्रारूप प्रस्तुत।
6 अक्तूबर, 1979	:	मास्को मे चीनी और सोवियत अधिकारियों मे सम्बन्धों को सामान्य करने पर वार्ता, सिनाई में अमेरिकी सैनिकों को नियुक्त करने सम्बन्धी प्रस्ताव मिस्र द्वारा स्वीकार।

12 अक्तूबर, 1979	:	चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष हुआ कुओ फेङ, पहली बार पश्चिम यूरोपीय देशों की यात्रा पर रवाना।
15 अक्तूबर, 1979	:	ईरान में अयातुल्ला खुमैनी को सर्वोच्च शासकीय सत्ता प्रदान।
19 अक्तूबर, 1979	:	ईराक द्वारा तेल के मूल्यों में वृद्धि।
21 अक्तूबर, 1979	:	चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष हुआ कुओ फेङ. का पश्चिम जर्मनी की चार दिन की यात्रा पर बान आगमन।
23 अक्तूबर, 1979	:	हुआ द्वारा जर्मनी के एकीकरण को विश्व शान्ति के लिए हितकर बताना।
25 अक्तूबर, 1979	:	इजराइल द्वारा तेल कीमतों में पुनः वृद्धि।
26 अक्तूबर, 1979	:	सोवियत संघ और दक्षिण यमन में सैनिक समझौते को जारी रखने का फैसला।
27 अक्तूबर, 1979	:	रोडेशिया के प्रधान मन्त्री बिशप मुजोरेवा द्वारा लन्दन प्रस्ताव स्वीकार।
28 अक्तूबर, 1979	:	सेंट विसेंट को स्वाधीनता प्रदान।
29 अक्तूबर, 1979	:	चीनी प्रधान मन्त्री हुआ कुओ फेङ. की लन्दन में ब्रितानी प्रधान मन्त्री मारग्रेट टेचर से बातचीत।
30 अक्तूबर, 1979	:	ब्रिटेन द्वारा रोडेशिया के सवैधानिक प्रारूप पर देशभक्त मोर्चे की आपत्तियाँ अस्वीकार।
2 नवम्बर, 1979	:	लन्दन में ब्रिटेन और चीन में वायु सेवा समझौते पर हस्ताक्षर।
9 नवम्बर, 1979	:	अमेरिका के राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा ईरान को सैनिक कलपुर्जों की सप्लाई बन्द, अमेरिकी सीनेट की विदेशी मामलों सम्बन्धी समिति द्वारा सामरिक अस्त्र परिसीमित सन्धि (साल्ट-2) का अनुमोदन।
11 नवम्बर, 1979	:	जिम्मी कार्टर द्वारा गैर-कानूनी ढंग से अमेरिका में रहने वाले ईरानियों को स्वदेश भेजने की धमकी।
12 नवम्बर, 1979	:	अमेरिका द्वारा ईरान से तेल आयात करने पर प्रतिबन्ध।
14 नवम्बर, 1979	:	कार्टर द्वारा अमेरिकी बैंकों में जमा ईरानी सम्पत्ति की नाकेबन्दी।
15 नवम्बर, 1979	:	इजराइल द्वारा माउन्ट सिनाई का क्षेत्र मिस्र को वापस; रोडेशिया पर देशभक्त मोर्चे द्वारा ब्रितानी प्रारूप स्वीकार।
19 नवम्बर, 1979	:	ईरान द्वारा 13 अमेरिकी बन्धक रिहा।
21 नवम्बर, 1979	:	चीन के विदेश मन्त्री हुआड. हुआ की काठमाण्डु में नेपाल के महाराजा वीरेन्द्र से वार्ता।

22 नवम्बर, 1979	:	ईरान द्वारा पांच और अमेरिकी बन्धक रिहा।
24 नवम्बर, 1979	:	सयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद द्वारा रोडेशिया के जाबिया पर हमले की निन्दा।
26 नवम्बर, 1979	:	ईरान के नेता अयातुल्ला खुमैनी द्वारा अमेरिका के 'पवित्र युद्ध' का आह्वान।
1 दिसम्बर, 1979	:	ईरान के बहिष्कार के बावजूद सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् द्वारा ईरान सकट पर विचार-विमर्श।
2 दिसम्बर, 1979	:	पीकिंग मे सोवियत सघ और चीनी अधिकारियों में सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने पर वार्ता।
4 दिसम्बर, 1979	:	ईरान में जनमत संग्रह के फलस्वरूप अयातुल्ला खुमैनी आजीवन राजनीतिक 'संस्थापक' नियुक्त; बर्मा और बंगलादेश मे सीमा समझौता।
5 दिसम्बर, 1979	:	लन्दन मे रोडेशिया समझौते की घोषणा; जापान के प्रधान मन्त्री मासायोशी ओहिरा का चीन की पांच दिवसीय यात्रा पर पीकिंग आगमन।
8 दिसम्बर, 1979	.	पीकिंग में जापानी प्रधान मन्त्री ओहिरा द्वारा चीन से सम्बन्धों को दृढ बनाने का एलान
11 दिसम्बर, 1979	:	रोडेशिया की ससद् भग।
12 दिसम्बर, 1979	:	रोडेशिया के विरुद्ध ब्रितानी आर्थिक प्रतिबन्ध समाप्त।
13 दिसम्बर, 1979	:	अमेरिका द्वारा 183 ईरानी राजनयिकों को वापिस जाने का आदेश; सऊदी अरब, अरब अमीरात और कतार द्वारा तेल के भाव मे बढोत्तरी की घोषणा; नेटो द्वारा यूरोप मे नए आणविक प्रक्षेपास्त्र तैनात करने का फैसला; सऊदी अरब को अमेरिका शस्त्रो की सहायता।
14 दिसम्बर, 1979	:	ईराक का ईरान पर सशस्त्र आक्रमण।
15 दिसम्बर, 1979	:	अमेरिकी सरकार का सुरक्षा व्यय मे बढ़ोत्तरी करने का फैसला; नेटो द्वारा रूस को शस्त्र नियन्त्रण सम्बन्धी पाँच सूत्रीय प्रस्ताव।
17 दिसम्बर, 1979	:	लीबिया, इण्डोनेशिया, ईरान आदि देशो द्वारा तेल का भाव बढ़ाने की घोषणा; 12 वर्ष बाद रोडेशिया के साथ व्यापार और व्यवसाय पर से अमेरिकी सरकार का प्रतिबन्ध समाप्त।
22 दिसम्बर, 1979	:	संयुक्त राष्ट्र द्वारा रोडेशिया के विरुद्ध 14 वर्षीय प्रतिबन्ध समाप्त।
27 दिसम्बर, 1979	:	अफगानिस्तान में क्रान्ति और राष्ट्रपति हफीजुल्ला अमीन सत्ताच्युत।

29 दिसम्बर, 1979 : अमेरिका के राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा ब्रेझनेव से अफगानिस्तान से सेना हटाने का आग्रह; लीबिया और वेनेजुएला द्वारा तेल मे मूल्य वृद्धि की घोषणा।

30 दिसम्बर, 1979 : अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को दस करोड़ डॉलर की सैनिक सहायता देने का एलान।

1 जनवरी, 1980 : ईरानी नेताओं से बातचीत करने के लिए संयुक्तराष्ट्र महासचिव डा. कुर्त वाल्दहीम का तेहरान आगमन।

2 जनवरी, 1980 : अफगानिस्तान के राष्ट्रपति कारमाल द्वारा सोवियत संघ से और सैनिकों का समर्थन लेने की धमकी।

3 जनवरी, 1980 : अमेरिका द्वारा मिस्र को 35 करोड डॉलर की सहायता।

4 जनवरी, 1980 : अफगानिस्तान पर रूस के हमले के मुद्दे पर 43 देशो द्वारा संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद की बैठक बुलाने का आह्वान।

5 जनवरी, 1980 : सोवियत संघ द्वारा पाकिस्तान में अपना हस्तक्षेप समाप्त करने की धमकी।

8 जनवरी, 1980 : अमेरिका द्वारा 17 रूसी निष्कासित; संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद् द्वारा अफगानिस्तान मे से सोवियत सैनिकों की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पर रूस के वीटों के अधिकार का प्रयोग।

9 जनवरी, 1980 : अमेरिका द्वारा चीन को उपग्रह केन्द्र प्रदान करने का आश्वासन।

13 जनवरी, 1980 : अफगानिस्तान में सोवियत पद्धति के अनुसार सरकार का गठन।

14 जनवरी, 1980 : पाकिस्तान को 40 करोड़ डॉलर की अमेरिकी सहायता; ईरान के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी अमेरिकी प्रस्ताव पर रूस द्वारा अपने वीटों के अधिकार का प्रयोग।

15 जनवरी, 1980 : संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पारित।

16 जनवरी, 1980 : ब्रिटेन के विदेश मन्त्री लॉर्ड कैरिंग्टन की प्रधान मन्त्री श्रीमती गांधी से नई दिल्ली मे वार्ता।
अमेरिकी राजदूत डॉ. रॉबर्ट गोहीन द्वारा श्रीमती गांधी को राष्ट्रपति कार्टर का पत्र प्रस्तुत।

18 जनवरी, 1980 : चीन के विदेश मन्त्री हुआड. हुआ का इस्लामाबाद आगमन।

20 जनवरी, 1980 : चीन द्वारा पाकिस्तान को सैनिक सहयोग का आश्वासन।

27 जनवरी, 1980	:	फ्रांसीसी और भारतीय नेताओं की वार्ता के बाद संयुक्त विज्ञप्ति जारी।
28 जनवरी, 1980	:	सऊदी अरब द्वारा कच्चे तेल के मूल्य में वृद्धि। अमेरिका द्वारा 1,000 अरब डॉलर के प्रतिरक्षा बजट की योजना।
29 जनवरी, 1980	:	इस्लामाबाद में इस्लामी विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन में अफगानिस्तान मे सोवियत कार्रवाई की निंदा।
31 जनवरी, 1980	:	आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री डॉ. ब्रूनो क्राइसकी द्वारा तीसरी दुनिया के विकास के लिए मार्शल योजना जैसी योजना का प्रस्ताव।
1 फरवरी, 1980	:	आस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री माल्कम फ्रेज़र का अमेरिका से अड्डे स्थापित करने का प्रस्ताव।
4 फरवरी, 1980	:	अल्जीरिया द्वारा तेल के मूल्य में वृद्धि की घोषणा।
5 फरवरी, 1980	:	बनीसदर द्वारा ईरान के राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण।
9 फरवरी, 1980	:	मिश्र और जेयरे द्वारा सैनिक समझौते पर हस्ताक्षर।
12 फरवरी, 1980	:	सोवियत विदेश मन्त्री आंद्रे ग्रोमिको की श्रीमती गांधी से वार्ता।
14 फरवरी, 1980	:	अमेरिका द्वारा यूरोपीय क्षेत्रों मे अस्त्र सग्रहीत करने की योजना।
16 फरवरी, 1980	:	ईरान के अपदस्थ शाह के विरुद्ध आरोपों की जाँच के लिए संयुक्तराष्ट्र महासचिव डॉ. कुर्त वाल्दहीम द्वारा पाँच सदस्यीय जाँच आयोग की घोषणा।
25 फरवरी, 1980	:	कार्टर द्वारा विलि ब्रांट से अमेरिका और सोवियत संघ में मध्यस्थता करने का आग्रह।
26 फरवरी, 1980	:	मिस्र और इज्राइल में राजदूतों का आदान-प्रदान।
1 मार्च, 1980	:	फ्रांस द्वारा परमाणु परीक्षण।
6 मार्च, 1980	:	सयुक्तराष्ट्र द्वारा अधिकृत अरब क्षेत्रो में यहूदी बस्तियों की समाप्ति सम्बन्धी प्रस्ताव इजराइली केनेस्ट (संसद) को अस्वीकार।
9 मार्च, 1980	:	सोवियत संघ द्वारा अमेरिका तथा अफगानिस्तान के द्वारा अमेरिका तथा अफगानिस्तान के पड़ोसी देशों से उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की गारटी की मांग।
14 मार्च, 1980	:	पाकिस्तान में चीनी सैनिक प्रतिनिधि-मण्डल का आगमन। 18 अप्रेल को रोडेशिया को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान किए जाने की ब्रितानी गवर्नर लॉर्ड सोमेस द्वारा घोषणा।

22 मार्च, 1980	:	अफगानिस्तान के राष्ट्रपति बबराक कारमाल द्वारा ब्रिटेन की तटस्थीकरण योजना अस्वीकार।
24 मार्च, 1980	:	ईरान के अपदस्थ शाह का काहिरा आगमन और मिस्री राष्ट्रपति अनवर सादात द्वारा उन्हें स्थायी आवास का आश्वासन।
28 मार्च, 1980	:	फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के अध्यक्ष यासिर अराफत का दिल्ली पहुँचने पर भव्य स्वागत।
30 मार्च, 1980	:	अराफत की यात्रा की समाप्ति के बाद संयुक्त विज्ञप्ति जारी। अमेरिका और तुर्की द्वारा नई प्रतिरक्षा संधि पर हस्ताक्षर।
31 मार्च, 1980	:	जेयरे के राष्ट्रपति मोबुतू की नयी दिल्ली मे राष्ट्रपति नीलम सजीव रेड्डी से भेंट।
2 अप्रेल, 1980	:	अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को 40 करोड़ डॉलर की सहायता रद्द।
5 अप्रेल, 1980	:	अफगानिस्तान मे सोवियत सेनाओं के रहने पर सोवियत सघ और अफगानिस्तान के नेताओ मे एक समझौते पर हस्ताक्षर।
अप्रेल, 1980	:	वियतनाम के प्रधान मन्त्री फाम वान डाङ का दिल्ली पहुँचने पर भव्य स्वागत।
9 अप्रेल, 1980	:	चेकास्लोवाकिया के विदेश मन्त्री हुसोस्लाव इन्मेक का भारत आगमन।
10 अप्रेल, 1980	:	स्वर्णसिंह पाकिस्तान अधिकारियो से बातचीत करने के लिए इस्लामाबाद के लिए रवाना। वाशिंगटन मे जिम्मी कार्टर और मिस्र के राष्ट्रपति अनवर उल-सादात मे फिलीस्तीनियों को स्वशासन दिए जाने पर वार्ता।
16 अप्रेल, 1980	:	जिबाब्वे के स्वाधीनता समारोह मे भाग लेने के लिए प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी का दिल्ली से साल्सबरी के लिए प्रस्थान। जांबिया के राष्ट्रपति केनेथ काउण्डा विदा।
18 अप्रेल, 1980	:	जिबाब्वे स्वाधीन और देश भर मे समारोह। साल्सबरी मे प्रधान मन्त्री श्रीमती गांधी की पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया-उल हक और चीन के विदेश मन्त्री हुआङ हुआ से वार्ता। सोवियत संघ द्वारा जिबाब्वे को राजनयिक मान्यता प्रदान।

20 अप्रेल, 1980	:	परमाणु विस्फोट के लिए पाकिस्तान द्वारा बलूचिस्तान का चयन ।
23 अप्रेल, 1980	:	सऊदी अरब द्वारा ब्रिटेन का राजदूत निष्कासित । यूरोपीय आर्थिक समुदाय देश ईरान के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने पर सहमत ।
24 अप्रेल, 1980	:	जापान द्वारा ईरान के विरुद्ध व्यापारिक प्रतिबन्ध ।
25 अप्रेल, 1980	:	दो हेलिकोप्टरों के ईरान मे टकरा जाने से बंधको को छुडाने का अमेरिकी प्रयास विफल । सोवियत सघ द्वारा परमाणु परीक्षण ।
28 अप्रेल, 1980	:	कार्टर की बंधको को छुड़ाने सम्बन्धी कार्रवाई के विरोध मे विदेश मन्त्री साइरस वैंस का इस्तीफा, नेपाल द्वारा फिलीस्तीनी मुक्ति संगठन को मान्यता प्रदान ।
1 मई, 1980	:	नए अमेरिकी विदेश मन्त्री एडमण्ड मस्की द्वारा अमेरिकी हितों की सुरक्षा पर बल । फिलिस्तीनियों के अधिकार सम्बन्धी प्रस्ताव पर अमेरिका द्वारा सुरक्षा परिषद् मे निषेधाज्ञा का प्रयोग ।
4 मई, 1980	:	यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल जोसेफ ब्रोज टीटो का देहान्त ।
7 मई, 1980	:	मार्शल टीटो की अन्त्येष्टि मे शामिल होने के लिए प्रधान मन्त्री श्रीमती गाँधी बेलग्राद रवाना ।
8 मई, 1980	:	प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की बेलग्राद मे सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेजनेव सहित अनेक नेताओ से वार्ता ।
9 मई, 1980	:	चीन द्वारा प्रशान्त मे अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र के परीक्षण की घोषणा ।
15 मई, 1980	:	मिजातोविच यूगोस्लाविया के नए राष्ट्रपति निर्वाचित । इस्लामाबाद मे इस्लामी विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन मे पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया उल हक द्वारा सयक्त प्रतिरक्षा का सुझाव ।
16 मई, 1980	:	जापान की मासायोशी ओहिरा सरकार का पतन और जून मे ससद के नए चुनाव का एलान । चीन को विश्व बैंक की सदस्यता प्राप्त ।
18 मई, 1980	:	यूरोपीय साझा बाजार द्वारा 22 मई से ईरान के विरुद्ध व्यापारिक नाकेबन्दी का एलान । चीन द्वारा अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का मध्य मे परीक्षण ।

22 मई, 1980	:	गुस्ताव हुसाक सर्व सम्मति से चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति निर्वाचित ।
28 मई, 1980	:	दीयागो गार्सिया में अमेरिकी नौसेनिकों को भेजा जाना। यात्जिक शामीर इजराइल के नए प्रतिरक्षा मन्त्री नियुक्त।
29 मई, 1980	:	चीन द्वारा सामरिक अस्त्रों के विकास कार्य को जारी रखने की घोषणा ।
30 मई, 1980	:	पाकिस्तान द्वारा 20 अरब रुपये के हथियार खरीदने का फैसला । आगाशाही अब पाकिस्तान के विदेश मन्त्री ।
3 जून, 1980	:	मास्को में विदेश मन्त्री नरसिंह राव की सोवियत नेताओं से परस्पर सम्बन्धों पर वार्ता । ईरान द्वारा सोवियत जहाजो को बन्दरगाह सुविधाओं के विस्तार की अनुमति ।
4 जून, 1980	:	'साल्ट' वार्ता मे धीमी गति के लिए सोवियत सघ द्वारा पश्चिम को दोषी ठहराना ।
5 जून, 1980	:	पाकिस्तान को दो करोड़ 80 लाख डॉलर का सऊदी अरब से ऋण प्राप्त ।
6 जून, 1980	:	मास्को मे अफगानिस्तान पर सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव से विदेश मन्त्री नरसिंह राव की वार्ता ।
7 जून, 1980		चीन और सोवियत सघ में एक व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर ।
10 जून, 1980	:	मिस्र द्वारा इजरायल से वार्ता जारी रखने के लिए अमेरिकी प्रस्ताव स्वीकार ।
12 जून, 1980	:	जापान के प्रधान मन्त्री मासायाश्रो ओहिरा का टोकियो मे देहान्त ।
15 जून, 1980	:	अयातुल्ला खुमैनी द्वारा सांस्कृतिक क्रान्ति की घोषणा ।
19 जून, 1980	:	अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा तारापुर परमाणु संयत्र के लिए यूरेनियम देने का आदेश ।
21 जून, 1980	:	चीन सरकार द्वारा भारत-चीन सीमा मे वर्तमान नियन्त्रण रेखा को बनाए रखने का सुझाव ।
24 जून, 1980	:	जापान के चुनाव में लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी की भारी जीत ।
25 जून, 1980	:	ईराक द्वारा तेल के मूल्य मे वृद्धि ।
26 जून, 1980	:	पाकिस्तान के प्रतिरक्षा बजट में 53 करोड़ रुपये की बढोत्तरी ।
27 जून, 1980	:	अफगानिस्तान से सोवियत सैनिको को हटाने के बारे मे रूसी सरकार द्वारा अपनी शर्तें प्रस्तुत ।

29 जून, 1980	:	बंगला देश में चार कर्नलों द्वारा क्रान्ति का असफल प्रयास।
1 जुलाई, 1980	:	सुरक्षा परिषद् द्वारा इजरायल के अरब अधिकृत क्षेत्र खाली करने का आदेश।
7 जुलाई, 1980	:	ईरान-ईराक सीमा पर संघर्ष।
8 जुलाई, 1980	:	कम्बुजिया को भारत की राजनयिक मान्यता पर मिश्रित प्रतिक्रिया।
9 जुलाई, 1980	:	टोकियो में दिवंगत प्रधान मन्त्री ग्रोहिरा की याद में आयोजित स्मृति-सभा में अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर और चीन के प्रधान मन्त्री हुआ कुओ फेङ. की वार्ता।
10 जुलाई, 1980	:	टोकियो में अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर और चीन प्रधान मन्त्री हुआ कुओ फेङ. में पहली बार वार्ता।
12 जुलाई, 1980	:	इस्लामाबाद में पाकिस्तान की पाच राजनीतिक पार्टियों द्वारा जिया-उल-हक की सरकार को गिराने की शपथ।
15 जुलाई, 1980	:	दक्षिण अफ्रीका द्वारा एक और परमाणु परीक्षण के समाचार।
	:	पाकिस्तान के विदेश मन्त्री श्री आगाशाही की प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी से नई दिल्ली में वार्ता।
17 जुलाई, 1980	:	पाकिस्तान के विदेश मन्त्री श्री आगाशाही की भारत यात्रा के बाद जारी संयुक्त विज्ञप्ति में दोनों देशों में संवाद स्थापित रखने पर बल।
	:	32 राष्ट्रों द्वारा अफगानिस्तान पर बहस के लिए संयुक्तराष्ट्र महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाए जाने की माँग।
	:	जापान के नए प्रधान मन्त्री जेंको सुजुकी के मन्त्रिमण्डल में कई नए चेहरे।
20 जुलाई, 1980	:	पाकिस्तान द्वारा फ्रांस से 40 मिराज 2000 खरीदने का निश्चय।
22 जुलाई, 1980	:	संयुक्तराष्ट्र में भारतीय विदेश मन्त्री पी. वी. नरसिंह राव द्वारा फिलिस्तीनी मुद्दे पर कार्रवाई की माँग।
24 जुलाई, 1980	:	सोवियत और वियतनामी अन्तरिक्ष यात्रियों सहित सोयूज 37 का छोड़ा जाना।
25 जुलाई, 1980	:	बंगलादेश के राष्ट्रपति जनरल जियाउर्रहमान द्वारा अपनी चीन यात्रा को सफल बताना।
26 जुलाई, 1980	:	नेवादा में अमेरिका द्वारा एक परमाणु परीक्षण।

27 जुलाई, 1980	:	ईरान के अपदस्थ शाह मुहम्मद रजा पहलवी का काहिरा में देहान्त ।
31 जुलाई, 1980	:	यरूशलम को राजधानी बनाए जाने सम्बन्धी इजरायल कानून की मिस्र द्वारा ग्रालोचना ।
3 ग्रगस्त, 1980	:	यरूशलम पर इजरायल कानून लागू करने का निर्णय ग्रमेरिका को ग्रस्वीकार ।
6 ग्रगस्त, 1980	:	राष्ट्रपति कार्टर द्वारा नई परमाणु समरनीति का ग्रनुमोदन ।
8 ग्रगस्त, 1980	:	इस्राइल के विरुद्ध व्यापारिक प्रतिबन्ध की दिशा में ग्रमेरिका ग्रौर ब्रिटेन द्वारा निषेधाज्ञा के ग्रधिकार के उपयोग की धमकी ।
10 ग्रगस्त, 1980	:	चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के ग्रध्यक्ष हुग्रा कुग्रो फेङ द्वारा माग्रो त्से तुङ पर भयंकर गलतियों के ग्रारोप ।
15 ग्रगस्त, 1980	:	ग्रमेरिका, ब्रिटेन ग्रौर पश्चिम जर्मनी में ग्राधुनिक प्रक्षेपास्त्र के विकास पर सहमति ।
18 ग्रगस्त, 1980	:	इजरायल द्वारा मिस्री राष्ट्रपति ग्रनवर सादात का त्रिपक्षीय शिखर वार्ता का प्रस्ताव ग्रस्वीकृत ।
	:	के ग्रार. नारायणन् ग्रमेरिका में भारत के नए राजदूत ।
19 ग्रगस्त, 1980	:	दक्षिण लेबनान स्थित फिलिस्तीनी ठिकानों पर इजरायल का तीखा प्रहार ।
20 ग्रगस्त, 1980	:	चीन की सीमा में गलती से घुसने वाले जवान भारत को वापस ।
21 ग्रगस्त, 1980	:	इजरायल द्वारा पूर्वी यरूशलम पर ग्रपना ग्रधिकार बनाए रखने पर बल ।
25 ग्रगस्त, 1980	:	ईरान के ग्रपदस्थ शाह के पुत्र राजकुमार रेजा द्वारा निर्वासित सरकार गठित करने की घोषणा ।
29 ग्रगस्त, 1980	:	बंगलादेश में परमाणु शक्ति संयंत्र के निर्माण पर पेरिस में फ्रांस ग्रौर बंगलादेश के ग्रधिकारियों में एक समझौते पर हस्ताक्षर ।
2 सितम्बर, 1980	:	सीरिया लीबिया से विलय पर सहमत ।
3 सितम्बर, 1980	:	मिस्र ग्रौर इस्राइल में पुनः वार्ता पर सहमति ।
4 सितम्बर, 1980	:	राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी द्वारा राष्ट्रकुल देशों के दूसरे एशियाई ग्रौर प्रशान्त क्षेत्रीय सम्मेलन का नई दिल्ली में विज्ञान भवन में उद्घाटन ।
	:	पोलैण्ड द्वारा सोवियत संघ से ग्रपने दृढ़ सम्बन्धों की पुनः पुष्टि ।
	:	जिम्बाब्वे द्वारा दक्षिण ग्रफ्रीका से सम्बन्ध विच्छेद ।

7 सितम्बर, 1980	:	हुआ कुओ फेङ द्वारा चीन के प्रधान मन्त्री पद से त्यागपत्र और जाओ जियाङ नए प्रधान मन्त्री बने ।
8 सितम्बर, 1980	:	भारत में राष्ट्रकुल के क्षेत्रीय सम्मेलन की समाप्ति पर सयुक्त विज्ञप्ति जारी ।
9 सितम्बर, 1980	:	कुवैत के अमीर शेख जवर अल-अहमद अल-सवाह का दिल्ली पहुँचने पर भव्य स्वागत ।
10 सितम्बर, 1980		जाओ जियाङ चीन के विधिवत् नए प्रधान मन्त्री नियुक्त ।
11 सितम्बर, 1980	:	ईराक द्वारा ईरान अधिकृत क्षेत्र पर पुन. कब्जा ।
12 सितम्बर, 1980	:	तुर्की में रक्तहीन क्रान्ति से प्रधान मन्त्री सुलेमान दमरियल सत्ताच्युत और जनरल केनान एवरेन सत्तारूढ़ ।
19 सितम्बर, 1980	·	अमेरिकी गुप्तचरों सूत्रों के अनुसार पूर्वी जर्मनी में रूस की सैनिक गतिविधियाँ तेज ।
20 सितम्बर, 1980	:	फैज में इस्लामी सम्मेलन में इजरायल विरोधी जेहाद की तैयारी ।
	:	दलाई लामा द्वारा चीन की यात्रा का प्रस्ताव ।
21 सितम्बर, 1980	·	तेल निर्यातक देशों मे 13 मे से 10 सदस्यो द्वारा तेल उत्पादन मे 10 प्रतिशत कमी की घोषणा ।
23 सितम्बर, 1980	:	पाकिस्तान अगले वर्ष परमाणु बम बनाने की तैयारी में ।
24 सितम्बर, 1980	:	राष्ट्रपति कार्टर द्वारा रूस को ईरान-ईराक संघर्ष मे हस्तक्षेप न करने का अनुरोध; सुरक्षा परिषद् द्वारा युद्ध-विराम की अपील । जोर्डन द्वारा ईराक का समर्थन ।
	:	क्यूबा के राष्ट्रपति फेडल कास्त्रो ईराक-ईरान युद्ध की मध्यस्थता करने को तैयार ।
29 सितम्बर, 1980	:	ईरान द्वारा युद्ध-विराम का प्रस्ताव अस्वीकार ।
	:	पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया-उल-हक 40 देशों के इस्लामी शांति सम्मेलन मे भाग लेने बगदाद पहुँचे ।
3 अक्टूबर, 1980	:	फारस की खाड़ी मे अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और आस्ट्रेलिया के युद्धपोतो के जमाव का भारत द्वारा विरोध ।
5 अक्टूबर, 1980	:	अमेरिका और ताइवान के बीच बढ़ते सम्बन्धों की चीन द्वारा आलोचना ।
8 अक्टूबर, 1980	:	सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव और सीरिया के राष्ट्रपति हफेज असद के बीच मैत्री और सहयोग सन्धि पर हस्ताक्षर ।

12 अक्टूबर, 1980	:	राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी सोवियत संघ और बुल्गारिया की यात्रा पूरी कर स्वदेश लौटे।
21 अक्टूबर, 1980	:	अमेरिका द्वारा जार्डन को सैनिक सहायता जारी रखने का आश्वासन।
	:	युगोस्लाविया के राष्ट्रपति द्वारा गुट निरपेक्ष आन्दोलन को और मजबूत करने का संकल्प।
23 अक्टूबर, 1980	:	सोवियत संघ के प्रधान मन्त्री श्री अलेक्सी कोसीगिन का बीमारी के कारण पद से त्यागपत्र। श्री तिखोनोव नए प्रधान मन्त्री बने।
28 अक्टूबर, 1980	:	ईराक और ईरान में मध्यस्थता के लिए भारत सहित छः निर्गुट देशों की समिति का गठन।
2 नवम्बर, 1980	:	ईरानी मजलिस (संसद्) द्वारा अमेरिकी बन्धकों को रिहा करने की शर्तों का अनुमोदन।
5 नवम्बर, 1980	:	रिपब्लिकन पार्टी के रोनाल्ड रीगन अमेरिका के 40वें राष्ट्रपति निर्वाचित।
8 नवम्बर, 1980	:	पाकिस्तान को चीन से नए लड़ाकू विमान मिलना शुरू।



Appendix–12

प्रश्नावली

(University Questions)

अध्याय 1

1 द्वितीय महायुद्ध के समय हुए मित्र राष्ट्रों के बीच सम्मेलनों का संक्षिप्त सर्वेक्षण कीजिए।

Describe in short the Wartime Conferences of the Allies Nations during the World War II.

2 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(अ) चार स्वतन्त्रताएँ, (आ) अटलांटिक चार्टर,
(इ) मास्को-सम्मेलन, (ई) तेहरान-सम्मेलन,
(उ) याल्टा-सम्मेलन, (ऊ) पोट्सडम-सम्मेलन,
(ए) सान-फ्रांसिसको-सम्मेलन। (1976, 1977)

Write short notes on the following—
(a) Four Freedoms, (b) Atlantic Charter,
(c) Mascow Conference, (d) The Tehran Conference,
(e) The Crimea (Yalta) Conference,
(f) The Berlin (Potsdom) Conference, (g) San-Francisco Conference.

3 द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् हुई शान्ति-सन्धियों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए। (1978)

Critically examine the peace settlement that followed the Second World War.

अथवा

1947 की शान्ति-सन्धियों के मुख्य लक्षणों का विवेचन कीजिए। (1979)

Examine the main features of the peace treaties of 1947.

4 द्वितीय महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को जिन कारकों ने निर्मित किया उनका विवेचन कीजिए। (1978)

Discuss the major factors that shaped the post & Second World War International Politics.

5 1945 में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के परिणामस्वरूप निर्मित युद्धोत्तर ि को राजनीतिक व्यवस्था तथा परिस्थितियों का विश्लेषण कीजिए।

6 द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जर्मनी और बर्लिन का विभाजन क्यों हुआ ? अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आज जर्मनी का एकीकरण महत्त्वपूर्ण समस्या क्यों नही है ? (1976)
Why did the division of Germany and of Berlin take place after the Second World War ? Why is Germany unification no longer an important issue in the international affairs today ?

7 द्वितीय महायुद्ध के बाद शान्ति निर्माण में क्या कठिनाइयाँ थी ? शान्ति स्थापना के लिए क्या प्रयास किए गए ?
What were the hindrances in the establishment of peace after Second World War ? What efforts were made for peace ?

8 1945 के बाद पश्चिमी एशिया में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्त्वो की समीक्षा कीजिए ।
Examine the factors which influenced international politics in West Asia after 1945

9 द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की मुख्य विशेषताओ की विवेचना कीजिए । क्या आप टी. वी. कालिजार्वी के इस कथन से सहमत है कि "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का पुनर्गठन हो रहा है जिसमें पहले की राज्य-व्यवस्था और राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था धीरे-धीरे नवीन राजनीतिक रूपो मे बदलती जा रही है । साम्राज्यो का पतन हो रहा है और उपनिवेश स्वतन्त्रता प्राप्त करते जा रहे है, राष्ट्र राज्य एक बड़े संघ मे विलीन होने जा रहे हैं ।"
Discuss the main features of International relations after the Second World War Do you agree with T. V Kalijarvi that "Contemporary International relations are going through a reorganisation in which the old national state and the old state are being slowly molded into new political forms. Colonies are gaining independence as empires are breaking up, National States are being merged into great federations."

अध्याय 2

10 संयुक्त राष्ट्रसंघ के सगठन और उसके चार्टर के संशोधन के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए ।
Give an account of the organisation and functions of the United Nations Organisation.

11 1945 के उपरान्त सयुक्त राष्ट्रसघ के सगठन तथा कार्य सचालन मे होने वाले मुख्य परिवर्तनों का परीक्षण कीजिए ।
Examine the main changes that have taken place in the organisation an working of the United Nations since 1945.

12 सुरक्षा परिषद् के संगठन एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए । इसमें मतदान प्रणाली की विवेचना कीजिए । वीटो सयुक्त राष्ट्र के कार्य को विरुद्ध रूप से कहाँ तक प्रभावित कर पाया है ?
Describe the composition and powers of the Security Council. Discuss its voting procedure. To what extent has the Veto adversely affected the working of the U. N. ?

13 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संगठन का परीक्षण कीजिए और उसका विश्व शान्ति को स्थिर रखने वाले यन्त्र के रूप मे मूल्यांकन कीजिए। इसका निर्णय किस प्रकार लागू किया जाता है ? (1977)
Examine the composition of the International Court of Justice. Evaluate it is an instrument of maintaining world peace How are its decisions executed ?

14 विश्व समस्याओं को हल करने के साधन के रूप मे सयुक्त राष्ट्र का मूल्यांकन कीजिए।
Evaluate the United Nations as a means of solving world problems.

15 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सयुक्त राष्ट्रसंघ की उपयोगिता की विवेचना कीजिए। (1979)
Describe the utility of U. N. O in international politics.

16 सयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक गतिविधियों मे उसके महासचिव की स्थिति का मूल्यांकन कीजिए।
Assess the role of the Secretary-General in the political activities of the United Nations.

17 क्या आप मानते है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ, राष्ट्रसंघ का सशोधित उन्नत रूप है ? अपने उत्तर की पुष्टि के लिए युक्तियाँ दीजिए। (1975)
Do you consider the United Nations Organisation to be an improvement over the League of Nations ? Give reasons for your answer

18 क्या आपके विचार से संयुक्त राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुए परिप्रेक्ष्य मे अपने आपको ढाल सका है ? अपने उत्तर की पुष्टि के लिए युक्तियाँ दीजिए।
Do you think the United Nations has been able to adapt itself to the changing world political situation ? Give reasons for your answer.

19 "सयुक्त राष्ट्रसघ की रचना तथा कार्यविधि यह दिखाती है कि वह एक कूटनीतिक अखाड़ा है न कि राष्ट्रों की सामूहिक इच्छा।" टिप्पणी कीजिए।
"Composition and working of the United Nations shows that it is a diplomatic arena rather than collective will of nations." Comment. (1978)

20 क्या सयुक्त राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में शान्ति और न्याय स्थापित करने में सफल हो सका है ? अपने उत्तर के पक्ष में युक्तियाँ दीजिए। (1978)
Has the United Nations succeeded in establishing peace and justice in the international community ? Give reasons for your answer.

21 सयुक्त राष्ट्र के चार्टर मे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्वक निपटारा करने के लिए जो अनुच्छेद है, उनका उल्लेख कीजिए। ऐसे कुछ उदाहरण दीजिए जहाँ पर सयुक्त राष्ट्र ने इस पद्धति को अपनाया है।
Explain the provisions in the U. N. Charter concerning pacific settlement of international disputes. Give a few examples where the U. N. have reported to this method.

22 उपनिवेशवाद के उन्मूलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के योगदान का सोदाहरण विवेचन कीजिए। उपनिवेशवाद की पूर्ण समाप्ति के मार्ग में क्या बाधाएँ हैं ?
Discuss the role of the United Nations in the eradication of colonialism, giving concrete examples. What is hindering the process of complete recolonisation ?

23 "जब से कोरियन लड़ाई समाप्त हुई, तभी से सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना से दूर हटा जाता रहा है।" क्या आप संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों से सम्बन्धित कथन से सहमत हैं ? जो स्थिति उत्पन्न हो गई है उसके कारणों पर प्रकाश डालिए और कोई उपाय सुझाइए।
"Since the Korean fighting ended, there has been a retreat from the concept of collective security." Do you agree to this view of working of the United Nations Organisation ? Account for the situation and suggest some solutions.

24 संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक क्षेत्र में उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए। संयुक्त राष्ट्रसंघ की इससे अधिक सफलता के मार्ग में कौन-कौन सी बाधाएँ हैं ?
Estimate the achievements of the United Nations Organisation in the political field What are the obstacles in the way of the greater success of the United Nations Organisation ?

25 संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्य-प्रणाली को अधिक सफल बनाने के लिए आप किन सुधारों को आवश्यक मानते हैं ?
What reforms do you consider necessary to improve the working of the United Nations Organisation ?

26 विश्व शान्ति की स्थापना में संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
Estimate the achievement of the U. N. O. towards the establishing of world peace.

27 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के साधन के रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ के मार्ग में क्या बाधाएँ हैं ? (1976)
What are the hindrances in the way of the United Nations to serve as an instrument of maintaining international peace ?

अध्याय 3

28 एक महाशक्ति के रूप में संयुक्तराज्य अमेरिका के उदय की विवेचना कीजिए।
Discuss the rise of U S A as super-power.

29 एक महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ के उदय की विवेचना कीजिए।
Discuss the rise of Soviet Union as super-power.

30 द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यूरोप में सोवियत संघ के प्रभाव के विस्थापक घटनाक्रम का वर्णन कीजिए।
Narrate the course of events leading to the expansion of influence of the U. S S R. in Europe after the Second World War.

31 "संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के आपसी मतभेद अभी भी विश्व राजनीति में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।" क्या आप इस मत से सहमत हैं ? सकारण व्याख्या कीजिए।

"The antagonism between the two Super Powers, the U. S. A and the U S S. R. it still the dominant factor in international affairs." Do you agree ? Give reasons.

अध्याय 4

32 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
(अ) परमाणु आयुध परिसीमन सन्धि,
(ब) निःशस्त्रीकरण के कार्य मे बाधाएँ,
(स) निःशस्त्रीकरण ।
Write short notes on—
(a) Nuclear Nonpoliteration Treaty,
(b) Hindrances in the way of Disarmament,
(c) Disarmament.

33 निःशस्त्रीकरण से क्या तात्पर्य है ? यह कितने प्रकार का होता है ?
What do you mean by Disarmament ? What are its types ?

34 निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता किन कारणों से हुई ? उसकी सफलता मे क्या कठिनाइयाँ हैं ?
How did the necessity for disarmament arise ? What are the difficulties in its success ?

35 द्वितीय महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण की दिशा में क्या प्रयास किए गए हैं ? वे सफल क्यों नहीं हुए ?
What efforts have been made for disarmament after the Second World War ? Why did they not succeed ?

36 निःशस्त्रीकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। निःशस्त्रीकरण की समस्या के समाधान के लिए 1945 के पश्चात् किए गए प्रयत्नों की प्रगति का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए तथा उनकी असफलता के कारणों का विवेचन कीजिए।
Write a short note on Disarmament. Examine the attempts made after 1945 to tackle the problem of disarmament and also account for their failure.

37 संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण और हथियारो पर नियन्त्रण की समस्याओं को सुलझाने के प्रयासों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए ।
Critically describe the efforts made by the United Nations in solving the problems of Disarmament and Arms control.

अध्याय 5

38 शीत-युद्ध के कारण और प्रकृति का परीक्षण कीजिए।
Examine the causes and nature of cold war.

39 तथाकथित 'शीत-युद्ध' के कारणों की व्याख्या कीजिए। जिन मुख्य बातों को लेकर यह लड़ा जा रहा है और 1946 से जिन मुख्य घटनाओं के दर्शन हमने किए हैं, उनका वर्णन कीजिए ।
Explain the causes of the so-called 'Cold-war'. Indicate main fronts which it is being fought and the main episodes it has witnessed since

40 शीत-युद्ध से आप क्या समझते हैं ? इसकी प्रकृति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके प्रभाव की परीक्षा कीजिए।
What do you understand by 'Cold War' ? Examine its nature and impact on international politics.

41 "शीत-युद्ध किसी भी पक्ष के साथ नत्थी न हो जाए, इस इरादे को छोड़कर असंलग्न राष्ट्रों की परराष्ट्र नीतियों में और कोई भी तत्व समान नहीं है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए और इसका विवेचन कीजिए। (1978)
"Foreign policies of Uncommitted Nations exhibits little in common except a determination to avoid identification with either side in the Cold War." Explain and discuss.

42 द्वितीय विश्व-युद्ध के युग मे शीत-युद्ध की उत्पत्ति के कारण बताइए। किन तत्त्वो ने अब स्थिति को बदल दिया है ?
Account for origin of Cold War in the post Second World War Period. What factors have changed the situation now ?

43 'देतान्त' से आप क्या समझते हैं ? इसके लिए उत्तरदायी कारकों की चीन-रूस मतभेद और चीन-अमेरिका के सम्बन्धों के सन्दर्भ मे समीक्षा कीजिए।
What do you understand by the 'Detente' ? Discuss the factors responsible for it in context of Sino-Soviet differences and Sino-U. S. relations.

अध्याय 6

44 'असलग्नता, उसके तत्त्व और बदलते हुए स्वरूप' पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
Write a critical essay on 'Non-alignment-Its Elements and Changing Patterns.'

45 असलग्नता की नीति के प्रमुख सिद्धान्तो की परीक्षा कीजिए। वर्तमान में वे कहाँ तक उपयुक्त हैं ? भारत के अनुभव के प्रकाश मे विस्तार से विवेचना कीजिए। (1974)
Critically examine the main postulates of the policy of Non-alignment. To what extent are they relevant now ? Discuss in detail by drawing up India's experience.

46 असलग्नता के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं ? एक विदेश-नीति के रूप मे, यह किस हद तक सफल हुई है ? (1978)
What are the chief tenents of non-alignment ? How far has it been successful as a foreign policy during the Cold War Period ?

47 भारत की असलग्नता की नीति की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।
Critically examine India's policy of Non-alignment

48 असलग्नता की नीति से आप क्या समझते हैं ? क्या आपके विचार में यह ठोस नीति है ? सोदाहरण समझाइए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को इसने किस प्रकार प्रभावित किया ? (1977)
What do you understand by the policy of non-alignment ? Do you think that it is a sound policy ? In what ways has it affected international policies ?

49 विश्व राजनीति में असंलग्न राज्यों के गुट के महत्त्व पर एक निबन्ध लिखिए।
Write an essay on the significance of the bloc of non-aligned states in world politics. (1976)

50 मार्च, 1977 के बाद भारत की जनता पार्टी की सरकार की असंलग्नता की नीति की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।
Critically examine the policy of non-alignment followed by the Janta Govt of India after March, 1977.

अध्याय 7

51 एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशवाद के अन्त का वर्णन कीजिए।
Describe 'de-colonization' in Asia and Africa.

52 "एशिया का विद्रोह बीसवीं शताब्दी की बहुत महत्त्वपूर्ण घटना हो सकती है।" इस कथन की विवेचना कीजिए। (1975)
"The revolt of Asia may prove to be the most significant development of the twentieth century" (Palmer and Perkins). Comment on this statement.

53 "एशिया इस समय मुकाबलों का सच्चा कड़ाहा है और भविष्य में भी रहेगा।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए और इस पर टिप्पणी कीजिए।
"Asia is now, and will continue to be, a veritable cauldron of confrontations." Elucidate and comment

54 1945 और 1947 के बीच एशियायी स्वतन्त्रता एवं एकता के लिए राष्ट्रवादी भारत के नेतृत्व ने क्या किया ?
What did the Indian Nationalist leadership do to further Asian freedom and unity between 1945 and 1947.

55 'नव-उपनिवेशवाद' से आप क्या समझते हैं ? नई विश्व-आर्थिक व्यवस्था बनाने के लिए किए जा रहे प्रयासों का वर्णन कीजिए। (1978)
What do you understand by the term 'Neo-colonialism ?' Describe the efforts going on for creating a new economic world order.

56 अफ्रीका में स्वतन्त्र राज्यों के उदय का, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके प्रभाव का विवेचन कीजिए।
Discuss the emergence of independent states in Africa and its effects on International Politics

57 मध्यपूर्व की द्वितीय महायुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
Write a short essay on international politics of the Middle East after World War II.

58 अफ्रीका में महाद्वीपीय एकता के लिए जो विभिन्न आन्दोलन हुए हैं उनके उदय और विकास का वर्णन कीजिए। (1979)
Discuss the growth and development of the movement towards continental unity in Africa.

59 'अफ्रेशियाई एकता' पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए। इस एकता के भविष्य के बारे में आपके क्या विचार हैं ?
Write a critical essay on 'Afro-Asian Unity'. What do you think the prospect of such unity ?

60 एशिया के जागरण तथा विश्व राजनीति पर इसके प्रभाव का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (1979)
Discuss in brief the awakening of Asia and its effect on world politics.

61 महाशक्तियों द्वारा उन पर प्रभाव स्थापित करने के कुचक्रों के समक्ष नवस्वतन्त्र अफ्रीकी राज्यों के मध्य एकता की स्थापना के मार्ग में बाधक तत्व कौन-कौन से हैं ? (1976)
What are the factors that prevent the unity of the newly independent African states in the face of the designs of the Great powers for influence over them.

62 "वियतनाम युद्ध को उपनिवेशवाद का अन्तिम मोर्चा माना जा सकता है।" क्या आप कथन से सहमत हैं ? (1978)
"The Vietnam War can be considered as the last stand of colonialism." Do you agree ?

63 एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों ने अपनी एकता को सुदृढ़ बनाने की दिशा में क्या प्रयास किए हैं ? (1978)

64 अफ्रीकी देशों की स्वतन्त्रता और एकता की प्रक्रिया का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में क्या महत्त्व है ? स्पष्ट कीजिए। (1978)

65 अरब राष्ट्रवाद के उदय के मुख्य कारण स्पष्ट कीजिए।
Discuss the main causes for the rise of Arab Nationalism.

66 अफ्रीकी एकता संगठन पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
Write a short essay on the Organisation of Africa Unity.

67 "एशिया में उपनिवेशवाद की समाप्ति का प्रारम्भ ही बहुमुखी ध्रुवीकरण का प्रारम्भ था।" विवेचना कीजिए।

अध्याय 8

68 "समकालीन विश्व राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता है दो भीमकाय दैत्यों (रूस और अमेरिका) के बीच का संघर्ष।" व्याख्या कीजिए और समझाइए कि क्या यह कथन अभी भी सही है ? (1977)
' the U S S.R. ..." Explain.

69 ?
olitics ?

70 संयुक्त राष्ट्रसंघ के 31वें अधिवेशन में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भारत की क्या भूमिका रही ?
What was the role played by India in 31st United Nations meet ?

71 अफ्रीकी शासनतन्त्र में क्या परिवर्तन आ रहा है ? इसके क्या कारण हैं ?
What changes are taking place in the administrative system of Africa ?

72 जून, 1977 के राष्ट्रकुल सम्मेलन की क्या विशिष्टता थी ? उसके विचार के मुख्य विषय क्या थे ?
What was the special feature of June 1977 Commonwealth Nations Conference ? What were principal subjects discussed in it ?

73 अमेरिकी शस्त्रनीति में क्या परिवर्तन आया है ? इसका भारतीय उपमहाद्वीप पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

What change has come in American Arms Supply Policy ? How has it affected the Indian subcontinent ?

74 अरब इजरायल विवाद मे निहित मुद्दों का विवेचन कीजिए। इस समस्या के स्थायी समाधान के मार्ग में रुकावटों का भी विवेचन कीजिए।

Discuss the issues involved in Arab-Israel conflict. Also discuss the hinderances in the permanent solution of this problem

75 हिन्द महासागर के क्षेत्र में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा की प्रकृति की समीक्षा कीजिए। आपके मतानुसार, भारत के हित में इसका सर्वश्रेष्ठ निदान क्या होगा ? (1978)

Examine the nature of super-power rivalry in the Indian Ocean Areas. What, according to you, would be the ideal solution from the Indian stand point ?

76 "रंगभेद की नीति अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में शोषण का अन्तिम गढ है।" संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्तावों के आधार पर विवेचना कीजिए। (1978)

"The Policy of Aparthied is the last stronghold of exploitation in world affairs." Comment with *reference to the resolutions of the United Nations*

77 अरब-इजरायल संघर्ष के कारण तथा परिस्थितियो का विवेचन कीजिए। पश्चिम एशिया मे स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए अरब राष्ट्रों की क्या मान्यताएँ हैं ? (1978)

78 पश्चिम एशिया के संकट में संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ की भूमिका की विवेचना कीजिए। इस भूमिका के लिए उत्तरदायी कारणों पर प्रकाश डालिए। (1978)

Discuss the nature of the involvement of the U S A and the U S S. R. in the West Asian crisis. Also bring out the reasons for this involvement.

79 अफ्रीका की स्थिति विस्फोटक हो जाने के क्या कारण है ? इसके क्या खतरे हैं ?

What are the causes of explosive situation of Africa ? What are the dangers inherent in it ?

80 लेटिन अमेरिका की राजनीतिक स्थितियों मे स्थिरता क्यों नही है ? इसमें *संयुक्तराज्य अमेरिका का क्या हाथ है ?*

Why is there no stability in Latin America ? How far is U. S. A. responsible for it ?

81 पश्चिमी एशिया की राजनीति में क्या अन्तर आया है ? इसके क्या कारण हैं ?

What change has come in West Asian Politics ? What are its reasons ?

82 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(अ) निःशस्त्रीकरण पर ब्रेझनेव प्रस्ताव,

(ब) शेसेल्स की ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति,

(स) शिखर सम्मेलन, मार्च 1977,

(द) सात बड़ों का सम्मेलन, मई 1977.

Write short notes on—
(a) Braznev's disarmament proposals.
(b) Independence of Shesells from British Empire.
(c) Conference of the Heads of States, March 1977.
(d) Meeting of the Seven Bigs, May 1977.

अध्याय 9

83 'पहले एशिया' अथवा 'पहले यूरोप' के सन्दर्भ मे युद्धोत्तर अमेरिकी विदेश-नीति में क्या-क्या मुख्य परिवर्तन आए हैं ? विश्लेषण कीजिए।
Identify the main shifts in postwar U S Foreign Policy in the context of 'Asia First' or 'Europe First'.

84 शीत-युद्ध के शैथिल्य के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताइए कि क्या इसमें यह परिलक्षित होता है कि अमेरिका और रूस के हित मूलतः एक ही दिशा मे उन्मुख हैं। (1971)
What are the primary reasons for the thaw in the cold war and do you think it represents any basic convergence in U S—Soviet interests

85 राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन के नेतृत्व मे अमेरिका ने सोवियत संघ के साथ जो कुछ समझौते किए ये उनके स्वरूप व सारभूत तत्त्वों का सक्षेप में वर्णन कीजिए। (1975)
Describe, in brief, the nature and content of some of the important agreements that the American Policy-makers under Richard Nixon arrived at with their counterparts in the Soviet Union.

86 आपकी राय में एशिया के प्रति अमेरिकी नीतियों पर वियतनाम-युद्ध का क्या प्रभाव पड़ा है ? (1972)
How has the war in Vietnam affected, in your view, U.S. policies towards Asia ?

87 निक्सन प्रशासन काल की अमेरिकी विदेश नीति पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए। (1973)
Write a critical note on the American Foreign Policy under the Nixon Administration.

88 भारत के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिकी की विदेश नीति का परीक्षण कीजिए। Examine the U. S. foreign policy towards India. (1978)

89 दक्षिण पूर्व एशिया पर अमेरिका की वियतनाम मे विफलता के प्रभाव को विवेचना कीजिए। (1978)
'Discuss the impact of United States' failure in Vietnam on South East Asian Politics.

90 "रूस तथा अमेरिका के सम्बन्धों की वर्तमान स्थिति शान्तिमय प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति है।" टिप्पणी कीजिए।
"Present state of Russo-American relations is of peaceful competition." Comment.

91 अमेरिका की साम्यवादी चीन सम्बन्धी नीतियों में वर्तमान में पाए जाने वाले परिवर्तनों के क्या कारण हैं ? समझाकर लिखिए। (1976)
What are the reasons for the change in the U. S. A. towards Communist China in recent years ?

92 1945 से दक्षिण पूर्व में संयुक्त राज्य अमेरिका की भूमिका का परीक्षण कीजिए। (1977)

Examine the role of the *U. S A* in South-East *Asia since* 1945.

93 1945 से 1964 तक सोवियत संघ के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश-नीति की विवेचना कीजिए। (1977)

Discuss the *foreign* policy of the U. S A. towards the U. S. S. R from 1945 to 1964

94 गत 10 वर्षों में चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य सम्बन्धों का विवेचन कीजिए। (1977)

Discuss the *relations* between China and the *U S A.* during *the last* ten years

95 द्वितीय महायुद्ध के बाद इण्डोचाइना क्षेत्र में, संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्धों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। (1976)

Briefly describe *the involvement* of *U. S A* in the region of *Indo-China* after the Second World War

96 द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका की यूरोप के प्रति नीति को समझाइए।

Discuss the *policy of U S A towards* Europe *after the* Second World *War.* (1976)

97 राष्ट्रपति कार्टर ने अमेरिका की विदेश-नीति को क्या नया मोड़ दिया है? उनके शान्ति प्रयत्नों की परीक्षा कीजिए।

What new turn has Carter *given* to American Foreign Policy ? Examine his peace efforts.

अध्याय 10

98 1953 के बाद से सोवियत संघ की विदेश नीति के विकास की विवेचना कीजिए।

Give a critical account of the Foreign Policy of the Soviet Union after 1953.

99 सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश-नीतियों में कौन-सी बातें समान और परस्पर विरोधी हैं? (1973)

Examine *the points* of *conflict* and convergence in *the foreign* policies of the Soviet Union and the United States.

100 सोवियत विदेश-नीति के भारतीय उप-महाद्वीप में जो उद्देश्य हैं उनकी समीक्षा कीजिए। (1974)

Examine *critically* the foreign *policy* objects of the Soviet *Union in the* Indian Sub-continent.

101 चीन-रूस संघर्ष के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए और बताइए कि मतभेद के मुख्य क्षेत्र क्या हैं? (1971)

Analyse the nature of *the Sino-Soviet* conflict *and discuss* the principal areas of disagreement.

102 चीन और सोवियत रूस की आपसी अनबन के कारणों पर प्रकाश डालिए। आपके विचार में क्या यह अनबन अनिवार्य थी? वर्तमान राजनीति पर इसके प्रभाव की विवेचना कीजिए। (1972, 77)

Discuss the causes of the Sino-Soviet *rift.* Do you think the *rift inevitable* ? Discuss its effect on contemporary *international* politics.

103 1958–1963 के बीच दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रति चीन की नीति का विवेचन कीजिए। (1972)
Discuss China's policy towards South-East Asia during 1958–63.

104 1947 से ग्राज तक के भारत-रूस सम्बन्धो की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।
Discuss briefly the Indo-U. S S R. relations since 1947. (1978)

105 अरब-इजरायल संघर्ष में सोवियत संघ की सन् 1948 से क्या भूमिका रही?
What has been the role of the U S S. R. in the Arab Israel conflict since 1948 (1977)

106 स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत विदेश-नीति की विवेचन कीजिए। इसमें क्या परिवर्तन हुए हैं? (1977)
Discuss the Soviet foreign policy after the death of Stalin in March, 1953. What changes have come into it?

107 द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यूरोप में सोवियत संघ के विस्तारक घटनाक्रम का वर्णन कीजिए। (1976)
Narrate the course of events leading to the expansion of the Soviet-area of influence in Europe after the Second World War

108 ग्राधुनिक वर्षों मे सोवियत रूस की विदेश-नीति मे क्या सुधार हुग्रा है? उत्तर की पुष्टि मे ठोस उदाहरण दीजिए।
In what respect has foreign policy of U S S. R. modified in recent years. Give concrete instances to illustrate answer

109 1977 मे भारत ग्रौर ग्रमेरिका के प्रति सोवियत विदेश-नीति की परीक्षा कीजिए।
Examine the Soviet Foreign Policy towards India and the United States of America during the year 1977.

ग्रध्याय 11

110 भारत की विदेश-नीति के निर्धारक तत्त्व क्या है? 1947 के बाद से उसके विकास के प्रमुख तत्त्वो का विवेचना कीजिए। (1971)
What are the determinants of India's foreign policy? Discuss the salient points of its evolution since 1947.

111 भारत की विदेश नीति की निम्नांकित देशों के सन्दर्भ में समीक्षा कीजिए:—
(i) ग्रमेरिका, (ii) सोवियत रूस, (iii) साम्यवादी चीन।

112 भारत पाक संघर्ष के प्रमुख कारण स्पष्ट कीजिए। भारत ग्रौर पाकिस्तान के संघर्ष ने भारतीय विदेश नीति को किस प्रकार प्रभावित किया है?

113 भारत-चीन संघर्ष के कारणों का विश्लेषण कीजिए ग्रौर 1959-62 के बीच भारत के प्रति चीन के रवैये मे जो परिवर्तन ग्राया उसका निरूपण कीजिए।
Analyse the factors in the India-China conflict and discuss the change in China's attitude towards India during 1959-62. (1971)

114 1947 से ग्राज तक के भारत-पाक सम्बन्धों की विवेचना कीजिए। क्या 1971 के बाद इसमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ग्राया है?
Discuss the Indo-Pak relations since 1947. Has there been a major change since 1971?

115 क्या भारत की विदेश नीति तीव्रता से बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुकूल अपने आपको ढाल सकी है ? अपने उत्तर के समर्थन मे तर्क प्रस्तुत कीजिए ।

Has the Indian Foreign Policy stood the test of a fast changing world order ? Give reasons in support of your answer

116 गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के विकास मे भारत की भूमिका का परीक्षण कीजिए ।

Examine India's role in the development of the Non-alignment movement.

117 पडौसी देशों के प्रति भारत की विदेश नीति का परीक्षण कीजिए । यह किस सीमा तक उप-महाद्वीप मे शान्ति और सोहार्द्र का वातावरण बनाने मे सफल रही है ?

Examine the Indian foreign policy towards neighbouring countries. How far has it succeed in fostering peace and good will in the sub-continent ?

118 महाशक्तियो के आपसी सम्बन्धों में सुधार के बावजूद गुट-निरपेक्षता भारत की मूल विदेश नीति के रूप मे सही है । क्या आप इस विचार से सहमत हैं ? कारण दीजिए ।

Despite detente between the Super Powers, Non-Alignment is relevant as India's basic foreign policy. Do you agree ? Give reasons

119 भारत की अणुशक्ति की नीति की परीक्षा कीजिए । (1978)

Examine India's nuclear policy.

120 भारत-चीन सघर्ष पर प्रकाश डालते हुए पुनर्मेल की सम्भावनाओं का विवेचन कीजिए । (1972)

Analyse the India-China conflict and discuss the possibilities of reapproachment

121 भारत की विदेश नीति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए । (1979)

Critically examine the foreign policy of India.

122 1969 के बाद से 'महाशक्तियो' के प्रति भारत की जो नीति रही है उसकी मुख्य विशेषताओं की विवेचना कीजिए । (1974)

Discuss the main features of India's policy towards the Super Powers since 1969

123 1971 के बगलादेश संकट के सम्बन्ध मे ब्रिटेन और चीन ने जो दृष्टिकोण अपनाए उनका विवेचन कीजिए । इन दोनो देशो के अपने-अपने दृष्टिकोण अपनी-अपनी विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्तो से कहाँ तक मेल खाते थे ?

Analyse the Chinese and *British attitudes to the Bangladesh crisis* of 1971. How far were these attitudes in accordance with the basic principles of the foreign policies of the two countries. (1974)

124 आपके विचार मे वे कौनसे मूलभूत कारण थे, जो कि भारत की असलग्नता की नीति के लिए उत्तरदायी थे ? (1975)

What in your view, were the basic factors which were responsible for India's policy of non-alignment ?

125 "भारत ने जिस असंलग्नता की नीति का पालन किया है, उसे भारत-सोवियत मैत्री सन्धि ने खटाई मे नही डाला, बल्कि इस सन्धि से वह नीति पुष्ट ही हुई है ।" इस कथन की सकारण विवेचना कीजिए । (1975)

"The Indo-Soviet Treaty nowhere contradicts but rather uphold the basic tenets of the policy of non-alignment that India has pursued so far." Do you agree ? Give reasons in support of your answer.

126 सन् 1950 से भारत-चीन सम्बन्धों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
Critically examine the Sino-Indian relations since 1950. (1976, 77)

127 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
(अ) भारत-पाक शिमला समझौता,
(ब) रूस-भारत मैत्री सन्धि, 1971,
(स) भारत और यूरोपीय साझा बाजार। (1977)
Write short notes on—
(a) Indo-Pak Simla Agreement,
(b) Russia-Indian Friendship Treaty,
(c) India and European Common Market

128 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व से आप क्या समझते हैं ? सोवियत संघ और भारत की विदेश-नीतियों के सन्दर्भ में इसकी विवेचना कीजिए।
What do you mean by 'Peaceful Co-existence' ? Discuss in the context of the U. S. S. R and Indian foreign policies.

129 मिस्र, इजरायल और अरब देशों के प्रति भारत की विदेश-नीति को समझाइए। (1976)
Explain India's foreign policy towards Egypt, Israil and the Arab countries.

130 1967 से भारत की विदेश-नीति का मूल्यांकन कीजिए। (1976)
Give an assessment of India's foreign policy since 1967.

अध्याय 12

131 चीन की विदेश-नीति के भारतीय उप-महाद्वीप में जो उद्देश्य हैं उनकी समीक्षा कीजिए। (1973)
Examine critically the foreign policy objectives of China in the Indian Sub-continent.

132 1949 में साम्यवादी चीन के प्रादुर्भाव के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए। (1974)
Discuss critically the impact of the emergence of the Communist China upon international politics since 1949.

133 साम्यवादी चीन के उदय का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में निम्नांकित देशों पर क्या प्रभाव पड़ा है ?
(i) अमेरिका, (ii) सोवियत रूस तथा (iii) भारत (1978)

134 1949 से महाशक्ति के रूप में चीन के उत्थान का सुदूरपूर्व और दक्षिण-पूर्वी एशिया के घटनाक्रम पर क्या प्रभाव पड़ा ? (1977)
What effect did the rise of China as a great power lafter 949 have on the course of events in the Far East and South-East Asia.

135 जनवादी चीन की विदेश-नीति के निर्णायक तत्वों का विश्लेषण कीजिए।
Analyse the factors which determine the foreign policy of Peoples Republic of China. (1976)

136 अफ्रीकी नवस्वतन्त्र राज्यों के प्रति सन् 1950 से जनवादी चीन की नीति का विवरण दीजिए। (1976)

Give an account of the policy of the People's Republic of China towards newly independent States of Africa since 1950.

137 हाल ही के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के संगठन को चीनी गणराज्य के उदय ने किस प्रकार प्रभावित किया है ? (1979)

How has the rise of People's Republic of China affected the alignment of international forces in recent years ?

अध्याय 13

138 स्वेज-पूर्व के प्रति ब्रिटिश नीति का निरूपण कीजिए और बताइए कि क्या टोरी सरकार के सत्तारूढ होने के बाद इस नीति मे कोई स्पष्ट परिवर्तन आया है। (1971)

Discuss the British policy towards East of the Seuz and whether there has been any perceptible change in this policy with the assumption of power by a Tory government

139 यूरोपीय साझा-बाजार के प्रति ब्रिटेन के बदलते हुए दृष्टिकोणों के कारणों की व्याख्या कीजिए। (1973)

Discuss the factors responsible for the changes in Britain's attitudes towards European Common Market.

140 'राष्ट्रमण्डल' से आप क्या समझते है ? ब्रिटेन की विदेश-नीति निर्धारित करने में राष्ट्रमण्डल का जो महत्त्व है उस पर प्रकाश डालिए। (1974)

What is the Commonwealth ? Explain the significance of the Commonwealth as a determining factor in the British Foreign policy.

141 युद्धोत्तर ब्रिटिश विदेश-नीति की परीक्षा कीजिए।

Examine carefully the post-war British foreign policy.

142 युद्धोत्तर फ्रेंच विदेश-नीति की परीक्षा कीजिए।

Examine carefully the post-war French Foreign Policy

143 ब्रिटेन तथा फ्रांस के द्वितीय युद्धोत्तरकालीन सम्बन्धों की समीक्षा कीजिए।

Examine the post-war relations of Britain and France.

144 रोडेशिया की समस्या क्या है ? ब्रिटेन इस समस्या को सुलझाने में सफल क्यों नहीं हो रहा है ?

What is Rhodesia problem ? Why is Britain not to successful in solving it ?

अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न और टिप्पणियाँ

145 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर ऊर्जा संकट के प्रभाव की विवेचना कीजिए। (1978)

Discuss the impact of energy crisis of International Politics.

146 संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान के संशोधन पर एक निबन्ध लिखिए। (1978)

Write an essay on the revision of the U. N. Charter.

147 'देतान्त' से आप क्या समझते है ? इसके कारणों व विश्व-राजनीति पर पड़ने वाले प्रभावों की भी चर्चा कीजिए। (1978)

What do you understand by 'Detente' ? Also give its causes and imp[a]
on World Politics.

148 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' से क्या आशय है ? युद्धोत्तर सोवियत विदेश नीति
इस सिद्धान्त का किस प्रकार समावेश हुआ है ? (197[8]

149 संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन तथा कार्य-प्रणाली पर शीत-युद्ध का क्या प्रभ[ाव]
पड़ा ? विश्लेषण कीजिए। (1978

150 क्या आपके विचार से तनाव शैथिल्य के युग में गुट-निरपेक्षतावाद का को[ई]
महत्त्वपूर्ण स्थान है ? अपने उत्तर की पुष्टि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नवी[न]
घटनाओं के आधार पर कीजिए। (1978)
Do you think non-alignment has any utility in the age of detente ?
Illustrate your answer with new development in world politics.

151 निम्नांकित में से किन्ही दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
(अ) द्वितीय महायुद्ध के बाद जापान से सन्धि,
(ब) चीन-सोवियत संघ विवाद,
(स) 'तेल कूटनीति',
(द) संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र का संशोधन।
Write short notes on any two of the following :—
(a) Treaty with Japan (after the Second World War)
(b) Sino-Soviet Conflict,
(c) 'Oil Diplomacy'
(d) Revision of the U. N Charter.

152 गुट-निरपेक्षतावाद से आपका क्या अभिप्राय है ? भारत की विदेश नीति कहाँ
तक इस पर आधारित रही है ? (*1979*)
What do you mean by Non-alignment ? How far is Indian foreign policy
based on it ?

153 1947 से आज तक के भारत-अमेरिकी सम्बन्धो की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।
Discuss briefly the Indo-U. S relations after 1947. (1979)

154 'तेल तराज्य' के सन्दर्भ मे 1954 के बाद की पश्चिम एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय
राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्त्वों की समीक्षा कीजिए। (*1979*)
Discuss with special reference to oil diplomacy the factors which have
influenced international politics in West Asia since 1954.

